L4

Ambika Datta sharma:

॥ ॐ नमो ब्रह्मणे ॥

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीदेवेश्वराचार्य-
पूज्यपादशिष्यश्रीसर्वज्ञात्ममुनिप्रणीतम्
(पञ्चप्रक्रियासहितम्)

संक्षेपशारीरकम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीसुन्दरदासोदासीन-
पूज्यपादशिष्यश्रीस्वामिरामानन्दकृत-
भावदीपिकाख्यहिन्दीव्याख्योपेतम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिरामानन्दोदासीन-
पूज्यपादशिष्यवेददर्शनाचार्यमहामण्डलेश्वर-
स्वामिगङ्गेश्वरानन्दमहाभागविरचित-
बृहद्भूमिकासनाथम्

स्वामियोगीन्द्रानन्देन टिप्पण्यादिभिः समलङ्कृत्य
सम्पादितम्

प्रकाशकः—
षड्दर्शनप्रकाशनप्रतिष्ठानम् , श्री उदासीन-संस्कृत-महाविद्यालयः
वा रा ण सी

द्वितीयावृत्तिः १०००] अस्य सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकेन स्वायत्तीकृताः [सन् १९८७

प्रकाशकः—
© षड्दर्शन-प्रकाशन-प्रतिष्ठानम्
श्री उदासीन-संस्कृत-महाविद्यालयः
ढुण्ढिराज, वाराणसी ।

◆

प्राप्तिस्थानम्—
(१) श्री उदासीन-संस्कृत-महाविद्यालयः
सी०के० ३६/१९ ढुण्ढिराज, वाराणसी
(२) चौखम्बा विद्याभवन
चौक, वाराणसी ।
(३) चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
जवाहरनगर, बंगलो रोड, नई दिल्ली ।

◆

संस्करणम्—द्वितीयम् १९८७ ई०
मूल्यम्—८८-००

◆

मुद्रकः—
सरिता प्रेस
भैरोंनाथ, वाराणसी ।

वेदान्त-तत्त्व-समीक्षा

हंसाप्तहंसविज्ञानं हंसं हंसविदुत्तमम् ।
हंसमानसहंसं कुमारं वैधसं भजे ॥

यह अध्यात्मविद्या भारतवर्ष की देन है । जब अन्य देश निविड़ अंधकार में डूबे हुए थे तब भारतीय ज्ञान का दिव्य आलोक दिङ्मंडल को देदीप्यमान् कर रहा था । प्रत्येक प्राणी अन्न से अपनी बाह्य क्षुधा मिटा सकता है, पर आन्तरिक क्षुधा के उपयुक्त आहार की खोज सब नहीं कर सकते । मानव में जन्मजात तीन जिज्ञासाएँ पाई जाती हैं—(१) मैं कौन हूँ ? (२) यह जगत् क्या है ? (३) मेरे और जगत् के मध्य कोई अन्य तत्त्व है या नहीं ? पाश्चात्य विपश्चितों ने भी माना है कि इस दिशा में सर्वप्रथम प्रकाश ऋग्वेद[1] ने ही डाला था । इतना ही नहीं , अपितु आज तक भारतीय मस्तिष्क उन्हीं समस्याओं को सुलझाता चला आ रहा है । भारतीय विचारधारा के अनेक तीर्थ[2] हैं । प्रत्येक तैर्थिक[3] अपने अधिकारकक्ष का सुयोग्य रक्षक है । परन्तु वेदांती एक ऐसा कुशल योद्धा है, जिसकी सेना बराबर बढ़ती ही चली जा रही है । वेदांतदर्शन, मानव-विचारों की चरम-सीमा है एवं भारतीय सूक्ष्म मनीषा का ज्वलंत उदाहरण है ।

वेदान्त और उसका परिवार

"वेदान्त" शब्द का मुख्य अर्थ है—वेद का अन्तिम भाग "उपनिषद्" । उपनिषद् के लिए वेदांत[4], श्रुत्यन्त[5], श्रुतिशिखा[6], श्रुतिशिरः[7], श्रुतिमूर्धा[8], श्रुतिमुण्डादि शब्दों का प्रयोग हुआ है । वस्तुतः शरीर में जो उत्तमांग का स्थान है, वही स्थान वेदों में उपनिषदों का है । उपनिषद् के गूढ़ रहस्यों की व्याख्या भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र में की गई है, उन्हें भी वेदान्त कहते हैं । इसीलिए वेदान्त के तीन प्रस्थान माने जाते हैं:—(१) उपनिषद्, (२) भगवद्गीता एवं (३) ब्रह्मसूत्र । इनमें ब्रह्मसूत्र के रणक्षेत्र में वेदान्त के महारथियों ने खूब

१—को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्
कुत आयाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽ-
थ को वेद यत आबभूव ॥ (ऋ० १०.१२९।६)

अर्थात् कौन जानता है ? कौन शिक्षक है ? कहाँ से यह सृष्टि हुई ?

२—घाट=दर्शन । २—तैर्थिक=घाटिया अर्थात् दार्शनिक ।

४—'वेदान्त-विज्ञान-सुनिश्चितार्थाः' (तै० आ० १०।१०।३, मुण्ड० ३।२।६) आदि ।

५—'श्रुत्यन्त-विरोधश्च संसारी चेदिहोच्यते' (बृह० वा० २।१।४५०) आदि ।

६—'श्रुतिशिखोत्थाखण्डधीगोचरः" (अद्वैत० मं०) आदि ।

७—'श्रुतिशिरोवचनेषु' (सं० शा० १।१०३) आदि ।

८—(शां० आ० १४।१) ।

खुलकर हाथ दिखाये हैं। हमारे इस संक्षेपशारीरक का घनिष्ट सम्पर्क भी ब्रह्मसूत्र से ही है, अतः उसके बाह्य तथा आभ्यन्तर कलेवर का निरीक्षण करना परम आवश्यक है।

ब्रह्मसूत्र और उसका व्याख्या-वितान

ब्रह्म-निर्णय के लिए निर्मित इस सूत्र-ग्रन्थ को ब्रह्मसूत्र, व्याससूत्र, वेदान्तसूत्र, शारीरिकसूत्र, उत्तरमीमांसा, ब्रह्ममीमांसा, आदि नामों से पुकारा जाता है। पाणिनिसूत्रों में इसे 'भिक्षुसूत्र'[1] भी कहा गया है। इस सूत्र के रचयिता हैं भगवान् बादरायण व्यास। ये ही वेदों के विभागकर्त्ता तथा अष्टादश पुराणों के प्रणेता हैं, इसमें भारतीय इतिहास साक्षी है। ब्रह्मसूत्रकार तथा पुराण-रचयिता को भिन्न-भिन्न मानना भारतीय विचारधारा के सर्वथा विरुद्ध है।

पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि ब्रह्मसूत्र में बादरायण का उल्लेख तथा उसी के तर्कपाद (ब्र० सू० २।२) में अर्वाचीन मतों का खण्डन स्पष्ट सिद्ध करता है कि दोनों व्यक्ति भिन्न-भिन्न थे। सांख्यमत के निरास-प्रसंग में "पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि" (ब्र० सू० २।२।३) आदि का निर्देश व्यक्त कर रहा है कि ईश्वरकृष्ण (लगभग २०० ई०) के सांख्य-सिद्धान्त को ही पूर्वपक्ष के रूप में रखा गया है, अति प्राचीन पुराणवर्णित सांख्य को नहीं। इसीलिए भाष्यकार श्रीशंकराचार्य ने स्थान-स्थान पर ईश्वरकृष्ण की कारिकाएँ ही उद्धृत की हैं। इसी प्रकार तर्कपाद में निराकृत न्याय-वैशेषिक, बौद्ध, जैन आदि के मत अपेक्षाकृत अर्वाचीन ही हैं। जैसे "प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधप्राप्तिरविच्छेदात्" (ब्र० सू० २।२।२२) में वसुबन्धु (चतुर्थ-शतक) के अभीधर्मकोष के सिद्धान्तों का निर्देश है। अतः चतुर्थ शतक से पूर्व कथित सूत्रकार की स्थिति कभी नहीं मानी जा सकती।

पाश्चात्य विद्वानों का यह पक्ष अत्यन्त भ्रममूलक है। ब्रह्मसूत्र में भेदवाद का निराकरण[2] देकखर यदि कोई कहे कि ब्रह्मसूत्रकार ने आर्यसमाज का खण्डन किया है, वह भ्रांत नहीं तो और क्या कहा जायेगा ? वस्तु-स्थिति यह है कि ब्रह्मसूत्र में पुरातन महर्षियों को छोड़कर किसी अर्वाचीन व्यक्ति का नाम-ग्रहण नहीं किया गया। अर्वाचीन मतों का स्रोत उस समय भी प्रवाहित था। यह बात अवश्य माननी पड़ेगी। बौद्ध जातक-कथाओं के विषय में सभी विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि भारत में प्रचलित अति प्राचीन कथाओं को बुद्ध के जीवन से जोड़ दिया गया है। ठीक उसी प्रकार पूर्व प्रचलित मतों को ही कुछ परिवर्तित एवं परिर्द्धित करके परवर्ती आचार्य मानते चले आये

१—"पाराशर्यशिलालिभ्यां नटसूत्रयोः" (पा० सू० ४।३।११०) तथा "कर्मन्दकृशाश्वादिनिः" (पा० सू० ४।३।१११) इन दो सूत्रों से ज्ञात होता है कि दो भिक्षुसूत्र थे—(१) पाराशर्यप्रणीत तथा (२) कर्मन्दप्रणीत। इनमें पाराशर्य (महर्षि पराशर के पुत्र व्यास) के द्वारा रचित सूत्र ही ब्रह्मसूत्र कहा जाता है और भिक्षुओं का उपयोगी होनें से भिक्षुसूत्र।

२—"प्रतिषेधाच्च" (ब्र० सू० ३।२।३०) में परमात्मा से भिन्न चेतन का प्रतिषेध किया है।

हैं। ब्रह्मसूत्र में निराकृत सिद्धान्त कदापि अर्वाचीन[1] नहीं। भगवद्गीता[2] में ब्रह्मसूत्र का स्पष्ट उल्लेख है; अतः महाभारत-काल के अनन्तर ब्रह्मसूत्र की रचना कदापि नहीं मानी जा सकती। विज्ञानवाद का प्रवर्त्तक मैत्रेय (तृतीय शतक) को एवं शून्यवाद का प्रवर्त्तक नागार्जुन (द्वतीय शतक) को मानना नितान्त असंगत है, क्योंकि उनके बहुत पूर्व लंकावतार सूत्र (प्रथम परिवर्त) में विज्ञानवाद का स्पष्ट पतिपादन मिलता है—

तरङ्गा ह्य ुदधेर्यद्वत् पवनप्रत्येरिताः।
नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते व्युच्छेदश्च न विद्यते ॥ ५६ ॥
आलयोघस्तथा नित्यो विषयपवनेरितः।
चित्रैस्तरङ्गविज्ञानैर्नृत्यमानः प्रवर्तते ॥ ५७ ॥
नास्ति स्कन्धेष्वात्मा न सत्त्वो न च पुद्गलः।
उत्पद्यते च विज्ञानं विज्ञानं च निरुध्यते ॥ ६० ॥

द्वितीय परिवर्त में प्रश्नोत्तररूप में विज्ञान का सुन्दर निरूपण किया गया है—

प्रश्न—कतिविधो भगवन् विज्ञानानामुत्पादस्थितिनिरोधः ?

उत्तर—द्विविधो निरोधः प्रबंधनिरोधो लक्षणनिरोधश्च।
द्विविध उत्पादः प्रबन्धोत्पादो लक्षणोत्पादश्च।
द्विविधा स्थितिः प्रवन्धस्थितिः लक्षणस्थितिश्च।

इसी प्रकार शून्यवाद का भी वर्णन वहाँ मिलता है—

"तत्र महामते संक्षेपेण सप्तविधा शून्यता भवति।"

इतना हीं नहीं, इससे पूर्व के पालि-ग्रन्थों में भी विज्ञानवाद और शून्यवाद का संक्षिप्त रूप पाया जाता है। पालि-ग्रथों में महाभारत का उल्लेख आया है। महाभारत में पंच स्कन्ध आदि सिद्धान्तों का निर्देश हुआ है। इससे यही सिद्ध होता है कि विज्ञानवाद आदि अति प्राचीन काल में भी किसी-न-किसी रूप में प्रचलित थे। उन्हीं का निराकरण ब्रह्मसूत्र में किया गया है।

यदि मान भी लें कि ब्रह्मसूत्र परवर्ती काल में रचा गया, तो भी उसका महत्त्व कुछ कम नहीं होता, क्योंकि उसकी व्याख्या-सम्पत्ति इतनी विपुल एवं गम्भोर है कि प्रत्येक विद्वान् उसके आगे अपना मस्तक झुकाने में गौरव अनुभव करता है। ब्रह्मसूत्र की व्याख्या-सम्पत्ति की चर्चा से पहले हम ब्रह्मसूत्र में उद्धृत पुरातन आचार्यों और उनके मतों पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं, कारण कि इससे यह समझने में सुगमता होगी कि किस प्रकार प्राचीन आचार्यों के मतों को अभिसंस्कृत करके अर्वाचीन आचार्यों ने अपने मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं।

१—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, जैन आदि की जिन मान्यताओं का निराकरण ब्रह्मसूत्र में किया गया है, वे मान्यताएँ बीजरूप से उपनिषदों और पुराणों में पाई जाती हैं।

२—"ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः" (गी० १३।४)

ब्रह्मसूत्र में उल्लिखित ऋषिगण

१—आत्रेय—१. स्वामिनः फलश्रुतेरित्यत्रात्रेयः। ३।४।४४
२—आश्मरथ्य—१. प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमित्याश्मरथ्यः। १।४।२०
३—औडुलोमि—१. आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै परिक्रीयते। ३।४।४५
२. उत्क्रमिष्यत एवंभवादित्यौडुलोमिः। १।४।२१
३. चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः। ४।४।६
४—कार्ष्णाजिनि—१. चरणादितिचेन्नोपलक्षणार्थेतिकार्ष्णाजिनिः। ३।१।९
५—काशकृत्स्न—१. अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः। १।४।२२
६—जैमिनि—१. अन्यार्थन्तु जैमिनिः प्रश्नाख्यानाभ्यामपि चैवमेके। १।१।१८
२. तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः। ३।४।४०
३. धर्मं जैमिनिरित एव। ३।२।४०
४. परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्। ४।३।१२
५. परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि। ३।४।१८
६. ब्राह्मंण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः। ४।४।५
७. मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः। १।३।३१
८. शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्वितिजैमिनिः ३।४।२
९. सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति। १।२।३१
१०. साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः। १।२।२८
११. भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्। ४।४।११
७—वादरायण—१. अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैव तद्दर्शनात्। ३।४।८
२. अनुष्ठेयं वादरायणः साम्यश्रुतेः। ३।४।१९
३. एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं वादरायणः ४।४।७
४. तदुपर्यपि वादरायणः सम्भवात्। १।३।२६
५. द्वादशाहवदुभयं वादरायणोऽतः। ४।४।१२
६. पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः। ३।४।१
७. पूर्वं तु वादरायणो हेतुव्यपदेशात्। ३।२।४१
८. अप्रतीकालम्बनान्नयतीति वादरायणः
उभयथादोषात् तत्क्रतुश्च। ४।३।१५
९. भावं तु वादरायणोऽस्ति हि। १।३।३३
८—वादरि—१. अनुस्मृतेर्वादरिः। १।२।३०
२. अभावं वादरिराह ह्येवम्। ४।४।१०
३. सुकृत-दुष्कृते एवेति तु वादरिः। ३।१।११

इन आचार्यों का मतवाद संक्षेप में इस प्रकार है—

(१) आचार्य आत्रेय

महर्षि जैमिनि ने अपने दो सूत्रों[1] में इनका उल्लेख किया है। दोनों स्थानों

---

[1] द्र० जै० सू० ४।३।१८ तथा ६।१।२६।

पर इनके मत को विशेष आदर[1] दिया है, किन्तु ब्रह्मसूत्र में केवल एक बार इनका मत दिखाकर निराकृत कर दिया गया है। अर्थात् आत्रेय आचार्य का मत है कि अंगाश्रित उपासना-कर्म यजमान को स्वयं करना चाहिए, ऋत्विजों से नहीं करवाना चाहिए, क्योंकि उस उपासना के फल का भोक्ता यजमान ही होता है। इस मत के निराकरण में युक्ति दी गई कि यजमान अपना कार्य सम्पन्न करने के लिए ऋत्विजों को दक्षिणा देकर खरीद लेता है। अतः ऋत्विजों के द्वारा किये गये कर्म का फल भी यजमान को ही मिलता है। इस प्रकार अङ्गाश्रित उपासना-कर्म ऋत्विक्-कर्तृक है, यजमान-कर्तृक नहीं—यह बात सिद्ध हो जाती है। जैमिनि-सूत्रों का समर्थन तथा बादरायण का खंडन, यह स्पष्ट बता रहा है कि आचार्य आत्रेय पूर्वमीमांसक थे।

(२) आचार्य आश्मरथ्य

महर्षि जैमिनि ने (जै० सू० ६।५।१६) में इनका मत पूर्वपक्ष के रूप में दिखाकर (जै० सू० ६।५।१७ में) निराकृत कर दिया है, किन्तु महर्षि बादरायण ने उनका खडन नहीं किया, अपितु उनका मत विशेष दिखाया है कि वे जीव और ब्रह्म का भेदाभेद[2] मानते थे तथा अन्तःकरणरूप प्रदेश में अभिव्यक्त होने के कारण ब्रह्म की प्रादेशिकता[3] का सामंजस्य करते थे। इससे यह निश्चित होता है कि आचार्य आश्मरथ्य वेदान्ती थे।

(३) आचार्य कार्ष्णाजिनि

आचार्य कार्ष्णाजिनि का नाम भी उभय मीमांसा में आता है। ब्रह्मसूत्र में उल्लेख करते हुए बताया गया है कि वे उपनिषद् के "रमणीयचरणा" आदि पदों में चरण शब्द का अर्थ—अनुशय[4] (अदृष्ट) करते हैं और उस आचरण के सौष्ठवासौष्ठव के आधार पर शुभाशुभ योनियों की प्राप्ति मानते हैं। ये भी सम्भवतः वेदान्त के आचार्य थे, क्योंकि ब्रह्मसूत्रकार ने अपने मत के समर्थन में प्रमाणरूप से आचार्य कार्ष्णाजिनि का ग्रहण किया है। इतना ही नहीं महर्षि जैमिनि ने उनके मत का (जै० सू० ४।३।१५ में) उल्लेख करके खण्डन किया है[5] एवं (जै० सू० ६।७।३६ में) उद्धृत करके वहीं (जै० सू० ४।३।१६ में)

---

[1] १—प्रथम (जै० सू० ४।३।१८) सूत्र में कहा गया है कि 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्री रूपयन्ति" इस वाक्य को आत्रेयाचार्य फलविधि मानते हैं और दूसरे (जै० सू० ६।१।२६) सूत्र में आचार्य आत्रेय का यह मत दिखाया गया है। वे श्रौत-कर्मों में तीन (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) वर्णों को ही अधिकार देते हैं, शूद्र को नहीं।

[2] २—देखो, ब्र० सू० (१।४।२०)

[3] ३—देखो. ब्र० सू० (१।२।२९)

[4] ४—ननु "रमणीयचरणाः" (छां० ५।१०।७) इति श्रुतिः चरणात् योन्यापत्तिं दर्शयति, नानुशयात्। अन्यत् चरणम्, अन्योऽनुशयः, इति नानुशयसिद्धिरितिचेत्, न, यतः कार्ष्णाजिनिराचार्य इयं चरणश्रुतिरनुशयोपलक्षणार्थेति मन्यते (शां० भा० ३।१।९)।

[5] ५—"ऋतौ फलार्थवदमङ्गवत् कार्ष्णाजिनिः" (जै० सू० ४।३।१६) अर्थात् "प्रतितिष्ठन्ति ह वै

उसका निराकरण किया है। इसलिए भी यही निश्चित होता है कि ये अवश्य ही वेदान्ती थे।

(४) आचार्य काशकृत्स्न

ये भी अद्वैतवेदान्ती ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनका मत है कि परमेश्वर ही जीवरूप में अवस्थित है, जीव परमेश्वर से भिन्न नहीं। आचार्य शंकर ने (ब्र० सू० १।४।२२ में) स्पष्ट कहा है—"ब्रह्मण एवाविद्याकल्पितभेदेन जीवरूपेणावस्थितः जीवोपक्रमोऽविरुद्ध इति काशकृत्स्न आचार्यः श्रुतितात्पर्यज्ञो मन्यते।" यहाँ 'श्रुतितात्पर्यज्ञ' विशेषण देकर आचार्य काशकृत्स्न पर श्रद्धातिरेक सुव्यक्त किया है। जैमिनिसूत्रों में इनका बिलकुल उल्लेख नहीं। इनकी कोई कृति इस समय यदि विद्यमान होती तो उसे आज के अद्वैत वेदान्त का मुख्य स्रोत माना जाता।

(५) आचार्य जैमिनि

पूर्व की तालिका से स्पष्ट है कि आचार्य जैमिनि का ब्रह्मसूत्र में ग्यारह बार नामोल्लेख हुआ है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि आचार्य जैमिनि भगवान् व्यास के पूर्ववर्ती थे। वस्तुस्थिति यह है—दोनों सम-सामयिक हैं, क्योंकि आचार्य जैमिनि ने अपने पूर्वमीमांसादर्शन में व्यास के मत का कहीं-कहीं पूर्वपक्ष के रूप में तथा कहीं-कहीं अपने मत की महिमा प्रदर्शित करने के लिए उल्लेख किया है। जैसे जै० सू० १।१।५ में उल्लिखित बादरायण के विषय में भाष्यकार शबरस्वामी का कहना है—"बादरायणग्रहणं बादरायणस्येदं मतं कीर्त्यते बादरायणं पूजयितु न आत्मीयं मतं पर्युदसितम्" अर्थात् इस सूत्र में बादरायण का उल्लेख बादरायण का यह मत है—यह दिखाने के लिए तथा उनकी (बादरायण की) पूज्यता प्रदर्शित करने के लिए है, अपने मत का पर्युदास (निरास) करने के लिए नहीं। व्यास और बादरायण की एकता (अभिन्नता) अत्यन्त प्रसिद्ध ही है। पुराणों में तो जैमिनि को व्यासदेव का शिष्य कहा गया है, अतः दोनों का समसामयिक होना ही प्रमाणित होता है। ब्रह्मसूत्र में आचार्य जैमिनि का मीमांसक-मत बहुत स्पष्ट है।

(६) आचार्य बादरि

आचार्य जैमिनि जहाँ अपने मीमांसादर्शन में बादरि के मत का प्रायः

एता रात्रीरुपयन्ति" इस श्रुति को प्रतिष्ठारूप फल की प्रतिपादिका न मानकर आचार्य कार्ष्णाजिनि अर्थवादमात्र मानते हैं। उनके इस मत को पूर्वपक्ष में रखकर "फलमात्रेयो निर्देशाद् अश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात्" (जै० सू० ४।३।१६) में उसका निराकरण किया है कि उक्त श्रुति का फलबोधन में तात्पर्य आचार्य आत्रेय मानते है। इसी प्रकार (जै० सू० ६।७।३६ में) कहा है—"सकुल्यः स्यादिति कार्ष्णाजिनिरेकस्मिन्नसम्भवात्" अर्थात् सहस्र-संवत्सरसाध्य कर्म में किसका अधिकार है ? मनुष्यों का ? या देवताओं का ? मनुष्यों में भी एक ही मनुष्य का ? या कुल-परम्परा का ? आचार्य कार्ष्णाजिनि ने कहा है कि एक मनुष्य का सहस्र वर्ष तक रहना सम्भव नहीं, अतः कुल-परम्परा को अधिकार है। इस मत का (जै० सू० ६।७.३७ में) खण्डन करके एक ही पुरुष का अधिकार स्थापित किया है और संवत्सर को दिनपरक माना है।

निराकरण करते पाये जाते हैं, वहाँ महर्षि व्यास अपने ब्रह्मसूत्र में उनके साक्ष्य पर अपने मत को प्रमाणित करते हैं, अतः आचार्य बादरि का वेदान्ती होना ही विद्वानों ने माना है। उसके मत में परमेश्वर विभु होने पर भी प्रादेशमात्र के हृदयदेश में उपलब्ध होने के कारण प्रादेशमात्र कहलाता है। कर्मानुष्ठान में इन्होंने शूद्र तक को भी अधिकार प्रदान किया है। "रमणीयचरणाः" में चरण का अर्थ इन्होंने कर्मसामान्य माना है। ब्रह्मभावापन्न विद्वान् के शरीर और इन्द्रियों की सत्ता बादरि नहीं मानते, इसकी पुष्टि में उन्होंने तर्क दिया है कि छन्दोग्य (८।१२।५) में कहा है—"मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते" अर्थात् विद्वान् मनरूपी नेत्र से ही देखता है। इससे यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि विद्वान् की इन्द्रियाँ नहीं रहतीं।

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र में अनेक आचार्यों के मतों के खंडन-मंडन से महर्षि बादरायण की अभूतपूर्व अतिमानुष प्रज्ञा का परिचय मिलता है। चिन्ता की प्रखरता, विचार-कौशल का ज्वलंत उदाहरण ब्रह्मसूत्र है। भारतीय आचार्यगणों में इस प्रकार की प्रतिभा और गांभीर्य विरलतर है। इसीलिए आचार्य व्यास को नारायण का अवतार माना गया है। सर्वज्ञात्ममुनि तो भगवान् व्यास को एक महान् सागर मानते हैं—

वाग्विस्तरा यस्य बृहत्तरङ्गा बेलातटं वस्तुनि तत्त्वबोधः।
रत्नानि तर्क-प्रसर-प्रकाराः पुनस्त्वसौ व्यासपयोनिधिर्नः॥

व्यास के परवर्ती तथा शङ्कराचार्य के पूर्ववर्ती आचार्य

भर्तृप्रपंच, भर्तृमित्र, भर्तृहरि, उपवर्ष, बोधायन, ब्रह्मनन्दी, टङ्क, ब्रह्मदत्त, द्रविडाचार्य, सुन्दर पांड्य आदि आचार्य व्यास के परवर्ती तथा शंकराचार्य के पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं। इनका भी संक्षिप्त परिचय कराया जाता है।

भर्तृप्रपंच

शंकराचार्य बृहदारण्यक भाष्य में स्थान-स्थान पर भर्तृप्रपंच को "औपनिषदम्मन्यः" कहते हैं। इससे विदित होता है कि उनका उपनिषदों पर कोई भाष्य अवश्य रहा होगा। उस भाष्य का विद्वानों के हृदय में समादर भी था। शंकराचार्य के साक्षात् शिष्य सुरेश्वराचार्य अपने वार्तिक में "संप्रदायवित्" एवं "ब्रह्मवादी" आदि प्रशस्त पदों से उनका स्मरण करते हैं[1]। भर्तृप्रपंच का मत द्वैताद्वैत, भेदाभेद, अनेकान्तवाद[2] आदि नामों से प्रसिद्ध है। इनके मत में द्वैतभाव भी अद्वैतभाव के समान ही सत्य है, इसलिए कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का समप्रामाण्य है। इस पद्धति

---

[1] १—शंकराचार्य, आनन्दज्ञान के लेखों एवं सुरेश्वर वार्तिक में उद्धृत भर्तृप्रपंच के वाक्यों का संकलन प्रो० हरियन्न (मैसूर) ने १९२४ की तृतीय ओरियण्टल कान्फरेंस में पठित अपने लेख में किया है, जो १९२५ में मद्रास से प्रकाशित हुआ है।

[2] २—शारीरक भाष्य (ब्र० सू० २।१।१४ में) यह मत इस प्रकार वर्णित है—"अनेकात्मकं ब्रह्म, यथानेकशाखो वृक्षः, एवमनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म। अत एकत्वं नानात्वं चोभयमपि सत्यमेव। यथा वृक्ष इत्येकत्वम्, शाखा इति नानात्वम्। यथा च समुद्रात्मनैकत्वम्, फेनतरङ्गा-

से ज्ञानकर्म-समुच्चय का समर्थन किया जाता है। जीव नाना एवं परमेश्वर के एकदेश-मात्र हैं। जैसे ऊषरदेश पृथ्वी का एक देश होता है। अविद्या परमेश्वर से अभिव्यक्त होकर जीव में विकार पैदा करती है। मुमुक्षु जीव पहले हिरण्यगर्भ का स्वरूप लाभ करता है। अनन्तर परममोक्ष की प्राप्ति करता है। अविद्या के सम्बन्ध से परब्रह्म ही हिरण्यगर्भ कहलाता है। हिरण्यगर्भ सर्वव्यापक है, जगदात्मा है, हिरण्यगर्भ में आत्मरूपता मानने से जीव का विकास होता है। जीव ब्रह्म का विकार है, कर्ता, भोक्ता और ज्ञाता है। ज्ञान होते ही अविद्या निवृत्त नहीं होती, अपितु शरीरपात के साथ-साथ होती है, इसलिए परा मुक्ति का लाभ शरीर रहते हुए नहीं होता, केवल अपवर्ग या अपरा मुक्ति ही मिला करती है।

भर्तृमित्र

भर्तृमित्र की चर्चा जयन्तभट्ट की "न्यायमंजरी"[1] तथा यामुनाचार्य की "सिद्धित्रय"[2] में आई है। पूर्वमीमांसा के क्षेत्र में ये अत्यन्त प्रख्यात प्रतीत होते हैं। भट्ट कुमारिल ने अपने श्लोकवार्तिक (१।१।१।१०, १।१।६।१३०–१३१) में भर्तृमित्र पर यह आरोप लगाया है कि इन लोगों ने मीमांसा को लोकायत मार्ग पर ले जाकर खड़ा कर दिया है।

भर्तृहरि

भर्तृहरि भी अद्वैतवादी के रूप में उल्लिखित हुए हैं। इनका "वाक्यपदीय" ग्रन्थ व्याकरण विषय का होता हुआ भी अद्वैतवाद की अत्युन्नत दार्शनिक भूमि का जाज्वल्यमान रत्न है। इनके शब्द-ब्रह्म का अवलंबन कर मंडन मिश्र ने "ब्रह्म-सिद्धि" ग्रंथ का निर्माण किया है। भर्तृहरि "पश्यन्ती" वाक् को ही ब्रह्म मानते हैं। भर्तृहरि ने मृगेन्द्र-संहिता की वृत्ति पर एक टीका लिखी थी। कुछ विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया है कि आचार्य भर्तृहरि अद्वैतवाद के आचार्य थे या नहीं? क्योंकि वे अपने वैराग्यशतक में अपने को शिवभक्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं और मृगेन्द्रसंहिता-वृत्ति की व्याख्या में अद्वैत मत का खंडन किया है। इससे यह अनुमान होता है कि भर्तृहरि अद्वैतवादी नहीं थे। किन्तु जब हम देखते हैं—वाचस्पति जैसे विद्वान् न्याय में अद्वैत का खंडन कर देते हैं और वे वेदान्ती ही माने जाते हैं, तो उक्त सन्देह निराधार हो जाता है। सप्तम शताब्दी का प्रथम भाग इनका समय माना गया है।

उपवर्ष

मीमांसा भाष्यकार शबरस्वामी ने शब्द-तत्त्व-निरूपण के प्रसंग में कहा है—"गकारौकारविसर्जनीया इति भगवान् उपवर्षः।" इन्हीं का "वृत्तिकार" पद

द्यात्मना नानात्वम्। यथा च मृदात्मनैकत्वम्, घट-शरावाद्यात्मना नानात्वम्। तत्रैकत्वेनांशेन ज्ञानाद् मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति, नानात्वांसेन तु कर्मकाण्डाश्रयौ लौकिक-वैदिक-व्यवहारारौ सेत्स्यत इति। एवं मृदादि दृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्ति।

[1] —देखो, न्यायमंजरी पृष्ठ २१३, २२६। [2] —देखो, सिद्धित्रय पृष्ठ ४, ५।

से शंकराचार्य ने भी उल्लेख किया है, अतः ज्ञात होता है कि इनके वृत्ति-ग्रंथ दोनों मीमांसाओं पर थे। इनका समय १०० ई० से २०० तक मानते हैं। महावैयाकरण पाणिनि के आचार्य उपवर्ष गुरु थे।

बोधायन

इनकी भी व्याससूत्र तथा जैमिनिसूत्र पर वृत्ति थी। उसी से रामानुजाचार्य ने अपने भाष्य में कुछ वचन उद्धृत किये हैं। उस वृत्ति का नाम 'कृतकोटि' था—ऐसा 'प्रपंच-हृदय' ग्रंथ से जाना जाता है।

ब्रह्मनन्दी

अद्वैत वेदान्त के आचार्यों में ब्रह्मनन्दी का भी प्रमुख स्थान था। मधुसूदन सरस्वती ने संक्षेपशारीरक की अपनी व्याख्या (सं० ३।२१७) में ब्रह्मनन्दी के मत का उल्लेख किया है। छांदोग्यवाक्यकार के नाम से भी इनकी प्रसिद्धि है। विशिष्टाद्वैत के आचार्य ब्रह्मनन्दी को 'टङ्क' से अभिन्न मानते हैं।

ब्रह्मदत्त

शंकराचार्य के पूर्ववर्ती वेदांतियों में ब्रह्मदत्त भी वरिष्ठ आचार्य थे। 'मणिमंजरी' नामक ग्रंथ में लिखा है कि शंकराचार्य ब्रह्मदत्त से मिले थे; किन्तु यह कहाँ तक प्रामाणिक है, कहा नहीं जा सकता। वेदांत देशिक ने 'तत्त्वमुक्ता-कलाप' की अपनी टीका में ब्रह्मदत्त का मत दिखाया है—"एकं ब्रह्मैव नित्यं तदितरदखिलं तत्र जन्मादिभाक्—इत्यायातम्, तेन जीवोऽपि अचिदिव जनिमान्"—अर्थात् ब्रह्म ही नित्य तत्त्व है, उससे भिन्न सब उत्पत्तिशील हैं; अतः जीव भी जन्म लेता है। जीव तथा जगत् दोनों ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं और अंत में उसी में लीन हो जाते हैं। इनकी दृष्टि में उपनिषदों का तात्पर्य "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" में है, 'तत्त्वमसि' में नहीं; क्योंकि कर्मकांड का हृदय यदि कर्म-विधान में है, तो उपनिषदों का उपासना-विधान[1] में। उपासना उपास्य के स्वरूप-ज्ञान के बिना हो ही नहीं सकती; अतः स्वरूप-समर्पक वाक्यों का भी उपयोग हो जाता है। साधक के लिए कर्मों का त्याग किसी भी अवस्था में सम्भव नहीं हो सकता। इनका मत 'ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद' के नाम से प्रसिद्ध है।

द्रविड़ाचार्य

बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य[2] में शंकाराचार्य ने "आगमवित्' पद से द्रविड़ाचार्य का उल्लेख किया है। प्रायः सभी स्थानों पर द्रविड़ाचार्य का सम्मानपूर्वक स्मरण किया गया है। अतः ये अद्वैती ही प्रतीत होते हैं। छांदोग्य उपनिषद के 'तत्त्वमसि' वाक्य की व्याख्या में द्रविड़ाचार्य ने व्याध-संवर्धित राजपुत्र की आख्यायिका लिखी है।

---

[1] १—सुरेश्वराचार्य ने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' में इनके मत का उल्लेख किया है :—"केचित् स्वसम्प्रदायबलावष्टम्भात् आहुः–यदेतद्वेदान्तवाक्याद् अहं ब्रह्मेतिज्ञ नमुत्पद्यते, तन्नैव स्वोत्पत्तिमात्रेण अज्ञानं निरस्यति, किं तर्हि अहन्यहनि द्राघीयसा कालेन उपासीनस्य सतः भावनोपचयात् निश्शेषमज्ञानमपगच्छति, देवो भूत्वा देवान् अप्येति"–इति श्रुतेः।

[2] २—पूना संस्करण का पृष्ठ २९७ देखो।

सुन्दर पाण्ड्य

'ब्रह्मसूत्र' के किसी प्राचीन भाष्य या वृत्ति ग्रंथ पर आचार्य सुन्दरपाण्ड्य ने श्लोकबद्ध वार्तिक बनाई थी। समन्वयाधिकरण के भाष्य (ब्र० सू० १।१।४) में शंकराचार्य ने उसी वार्तिक के तीन श्लोक उद्धृत किये हैं :—

"गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात्।
तद् ब्रह्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत्॥
अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः।
अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः॥
देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्॥"

सुन्दर पाण्डच का समय ६५० खिष्टाब्द माना जाता है।

गौडपादाचार्य (७८० ई०)

आचार्य गौडपाद शंकराचार्य के परमगुरु थे। शंकराचार्य नें शारीरक भाष्य (ब्र० सू० २।१।९) में—"अनादिमायया" (मां० का० १।१६) श्लोक का परामर्श करके लिखा है—"अत्रोक्तं वेदान्तसम्प्रदायविद्भिराचार्यैः।" ये आचार्य गौडपाद ही हैं। 'मायावाद' का विशेष प्रकाश इन्हीं से माना जाता है। 'मांडूक्यकारिका' गौडपाद की गौरवमयी रचना है। 'अजातवाद' का मुख्य अद्वैत-सिद्धांत गौडपाद की ही देन है।

शंकराचार्य (७८८-८२० ई०)

इनका जन्म ७८८ ई० (सं० ८४५) में तथा विदेह-कैवल्य ८२० ई० में माना जाता है। उस समय वैदिक धर्म का उत्थान करना एक महान् कार्य था। आपके सिंहनाद ने विरोधियों के छक्के छुड़ा दिये। ३२ वर्षों के स्वल्प समय में इतने बड़े मौलिक साहित्य का सर्जन, धर्मप्रतिष्ठापन और समूचे भारत की पद-यात्रा साधारण बात नहीं। इसीलिए आप भगवान् शंकर के अवतार माने जाते हैं। उपनिषद्-भाष्य, ब्रह्मसूत्र-भाष्य गीता-भाष्य, माण्डूक्यकारिका-भाष्य, विष्णुसहस्रनाम-भाष्य, सनत्सुजातीय-भाष्य, सौन्दर्यलहरी, उपदेशसाहस्री, आदि ग्रंथों की रचना आपने की है।

उस समय से लेकर प्रत्येक शताब्दी अद्वैत-सिद्धान्त-क्षेत्र में अनेक विद्वान् देती आई है। उनका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

अष्टम शताब्दी

ईसा की आठवीं शताब्दी ने हमें पद्मपादाचार्य सुरेश्वराचार्य जैसे दिग्गज विद्वान् शास्त्रकार दिये हैं :—

(१) **पद्मपादाचार्य**—शंकराचार्य के प्रथम शिष्य हैं। इनका दूसरा नाम 'सनन्दन' था। इनका जन्म दक्षिण के चोल प्रदेश में हुआ था। इनकी गुरुभक्ति अत्यंत असाधारण थी। प्रज्ञाबल के साथ-साथ शारीरिक बल भी पर्याप्त था। समाधिस्थ शंकराचार्य पर उग्र भैरव नाम का कापालिक खड्ग प्रहार करना ही चाहता था कि तुरंत पद्मपाद पहुँचे और कापालिक को मरोड़कर यमलोक का पथिक बना दिया। शृंगेरी

मठ में रहते समय पद्मपादाचार्य नें ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य पर एक सुन्दर व्याख्या का निर्माण किया था। आचार्य की आज्ञा लेकर तीर्थ-भ्रमण करने के लिए निकले। वह ग्रन्थ साथ लेते गयें। पद्मपाद के मातुल प्रभाकर-मतावलंबी थे। मातुल के घर अपना ग्रन्थ रखकर आप रामेश्वर की यात्रा को चले गये। मातुल नें गृहदाह का बहाना बनाकर आपके सभी ग्रन्थ नष्ट कर डाले। यात्रा से लौटकर आपने वह कांड सुना और आपको उसका अत्यन्त खेद हुआ। वैसा ही दूसरा ग्रन्थ निर्माण करनें का निश्चय किया। यह विदित होते ही नीच मामा ने विष-प्रयोग से आपको पागल-सा बना दिया। अत्यंत दुःखी होकर आप आचार्यजी के चरणों में पहुँचे। आपनें अपना सारा वृत्तांत उन्हें कह सुनाया। आचार्यजी ने कहा कि हमनें कुछ भाग सुना था, वह हमें स्मरण है। हम बोलते जाते हैं और तुम लिखते चले जाओ। पद्मपाद ने वैसा ही किया। वही ग्रन्थ आज 'पंचपादिका' के नाम से प्रसिद्ध है।

पञ्चपादिका

कतिपय विद्वानों की धारणा है, श्रीशंकराचार्य नें पाँच पाद की व्याख्या पद्मपादाचार्य के मुख से सुनी थी। वह उनको कण्ठस्थ थी, उन्होंने उतना भाग फिर से पद्मपादाचार्य को लिखवा दिया, शेष भाष्य की व्याख्या फिर से लिखी ही नहीं गई, अत एव इस ग्रंथ का नाम पञ्चपादिका है।

इस सिद्धान्त की पुष्टि में वे लोग शंकर दिग्विजय के वाक्य को प्रमाणत्वेन उपस्थित करते हैं—तथापि पञ्चपादाः प्रसिद्धयेयुः। अर्थात् भले ही आप सम्पूर्ण भाष्य की व्याख्या लिखें परन्तु इसके पाञ्चपाद ही संसार में प्रसिद्धि लाभ करेंगे। योगिराज आचार्य ने भविष्यग्रंथ-दाह-घटना का ध्यान में रखकर प्रथमतः हो ऐसा कह दिया था।

आजकल के नवीन गवेषकों की धारणा है कि पञ्चपादिका संज्ञा का कारण वेदान्तदर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य पादपञ्चक है। जैसे योगशास्त्र के चार व्यूह हैं—हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय एवं चिकित्सा-शास्त्र के भी मुख्य चार पाद हैं—रोगी, औषध, वैद्य, और परिचारक। ठीक उसी तरह वेदान्तशास्त्र में भी अध्यास, ब्रह्मविचार, लक्षण, प्रमाण, और समन्वय, मुख्य ये पाञ्च पाद हैं। इनका प्रतिपादन चतुःसूत्री से ही हो जाता है, शिष्ट वेदान्त-दर्शन इन्हीं का विस्तारमात्र है।

अतः आचार्यश्री नें पद्मपादाचार्य को अत्यावश्यक समझकर चतुःसूत्रीभाष्य की व्याख्या करनें के लिए आज्ञा दी और उन्होंनें भी उतनें ही भाग पर व्याख्या की। यद्यपि पञ्चपादिका के आरम्भ में 'भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तद्व्याख्यां श्रद्धयारभे' इस वाक्य से कृत्स्न भाष्य की व्याख्या करना प्रतीत होता हैं। तथापि श्लोक के पूर्वार्द्ध से चतुःसूत्री की व्याख्या का ही प्रबल प्रमाण मिल जाता है। श्लोक का पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—"पदादिवृन्तभारेण गरिमाणं बिभर्त्ति यत्" अर्थात् जो भाष्य पदादि-वृन्त के भार से गुरुता को धारण करता है, उस प्रसन्न गम्भीर-भाष्य की श्रद्धा से व्याख्या आरम्भ करता हूँ।

यह श्लोकार्थ दोनों अर्थों के मिलान से निकलता है। भाष्यान्तर की व्यावृत्ति प्रसन्न-गम्भीर-पद से ही हो जाती है। पदादि शब्द का यदि पदच्छेदादि अर्थ किया

जाय तो यह समस्त भाष्यों में रहा ही करता है, इसके द्वारा भाष्य की विशिष्टता प्रमाणित नहीं होती। अतः पद शब्द का अर्थ पाद मान लेना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है "अथवा पादादि" ही पाठ रहा होगा। ऐसी स्थिति में अध्यासादि लक्षण पादादि वृन्त-भार भाष्य की गुरुता का सूचक हो सकता है, क्योंकि अध्यासादि लोकोत्तर पाद-वृन्त का अद्भुत वर्णन शंकर-भाष्य को छोड़कर किसा भी भाष्यान्तर में नहीं, भाष्यपद से कृत्स्न-भाष्य की तरह चतुःसूत्री भाष्य का भी ग्रहण हो सकता है एकदेश में भी भाष्य-शब्द का प्रयोग करना अतिप्राचीन-शैली है। जैसे स्वयं पञ्च-पादिकाकार ने "युष्मदस्मदप्रत्ययगोचरयोरित्यादि नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहार इत्यन्तं भाष्यम्" लिखा है।

(२) सुरेश्वराचार्य (८०० ई०)

माधवकृत शंकर-दिग्विजय के आधार पर मण्डनमिश्र और सुरेश्वराचार्य दोनों अभिन्न व्यक्ति हैं। गृहस्थाश्रम में मंडनमिश्र कुमारिलभट्ट के शिष्य थे। ब्रह्म-सिद्धि, स्फोटसिद्धि, विधिविवेक, भावनाविवेक, विभ्रमविवेक, मीमांसासूत्रानुक्रमणी, आदि ग्रन्थों का प्रणयन मंडनमिश्र ने किया है। सुरेश्वराचार्य ने उपनिषद्-भाष्य पर वार्तिक-ग्रंथों की रचना की। इसीलिए ये वार्तिककार के नाम से प्रख्यात हैं। बृहदारण्यक वार्तिक जैसा विशालकाय, गम्भीर और पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ तथा इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय-भाष्य-वार्तिक, नैष्कर्म्यसिद्धि, दक्षिणामूर्तिस्तोत्र-वार्तिक, मानसोल्लास, पंचीकरणवार्तिक आदि ग्रन्थ इन्हीं की रचनाएँ हैं। कुछ विद्वान् मंडनमिश्र और सुरेश्वराचार्य की अभिन्नता में सन्देह प्रकट करते हैं। उनका कहना है —

१—मंडनमिश्र स्फोटवाद मानते हैं और भर्तृहरि का शब्दाद्वैतवाद, जैसा कि उनकी स्फोटसिद्धि[1] और ब्रह्मसिद्धि[2] से प्रस्फुटित है। किन्तु शंकराचार्य ने भर्तृहरि के शब्दाद्वैत की आलोचना की है। सुरेश्वराचार्य ने स्फोटवाद का स्पर्श तक नहीं किया।

२—मंडनमिश्र ने ब्र० सि० पृष्ठ १३६-१५० पर भट्टपाद की अन्यथाख्याति को मान दिया है। बहुत सम्भव है कि ब्रह्मसिद्धि की व्याख्या 'तत्त्व-समीक्षा' में वाचस्पति-मिश्र ने अन्यथाख्याति का प्रबल शब्दों में समर्थन किया है; तभी वे अन्यथाख्यातिवादी माने जाते हैं। इसीलिए तो विमुक्तात्मा ने अपनी 'इष्ट-सिद्धि' में वाचस्पतिमिश्र को कितने भद्र शब्दों में स्मरण किया है :—"वाचस्पतिस्तु मण्डनपृष्ठसेवी शास्त्रार्थानभिज्ञः।" हाँ, अमलानन्द स्वामी ने 'कल्पतरु' (पृ० २४) में वाचस्पति को अन्यथाख्यातिवादी बतानेवालों को भ्रान्त-सा कहा है :—

"स्वरूपेण मरीच्यम्भो मृषा वाचस्पतेर्मतम्।
अन्यथाख्यातिरिष्टास्येत्यन्यथा जगृहुर्जनाः॥"

---

[1] निरस्तभेदं पदतत्त्वमेतद्-व्यादर्शि युक्त्याऽऽगमसंश्रयेण।
विधूतभेदग्रहमेतथैव, दिशा परं सम्प्रतियन्त्वभेदम्॥ (३६)

[2]. द्र० ब्र० सि० ब्रह्मकाण्ड पृष्ठ १७।

श्री सुरेश्वराचार्य ने मंडनमिश्र से विपरीत अन्यथाख्याति का वार्तिक[1] में खंडन किया है।

३—मंडनमिश्र ने 'अग्रहण' और 'अन्यथाग्रहण' रूप से दो प्रकार की अविद्या मानी है[2]। किन्तु सुरेश्वराचार्य ने (बृ० वा० भाग २ पृष्ठ १०६५ श्लोक १९९ में) अविद्या के उक्त दोनों प्रकारों का निराकरण किया है।

४—मंडनमिश्र अविद्या का आश्रय[3] जीव तथा विषय ब्रह्म मानते हैं। वाचस्पति ने यही दृष्टिकोण अपनाया था, जो वाचस्पति के नाम से ही प्रख्यात है। किन्तु सुरेश्वराचार्य ने अविद्या का आश्रय और विषय-ब्रह्म को ही माना है। संक्षेपशारीरक और विवरण ने इसी मत को अपनाया है।

५—"तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों से मंडनमिश्र परोक्षबोध[4] ही मानते हैं और समाधि में मानस साक्षात्कार। वाचस्पति का यह मत प्रसिद्ध ही है। इसी के पोषण में "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" यह वाक्य (ब्र० सि० १।१५४) रखा गया है। किन्तु सुरेश्वराचार्य ने अपनी 'नैष्कर्म्यसिद्धि' (पृ० ३८ श्लो० १–६७, पृ० १५९–१६२, श्लो० ८८-९३, पृ० १७६–१७७, श्लो० १२३-१२६) और बृहदारण्यवार्तिक (भाग १ पृ० २२५–२३३, श्लो० ८१८-८४९, भाग ३ पृ० १८५२–१८७६, श्लो० ७९६–९६१) में उक्त मत की खूब आलोचना की है। इनकी परम्परा ने महावाक्य से अपरोक्षबोध ही माना है। कल्पतरु (पृ० २१८) में स्पष्ट कह दिया है—

> "अपि संराधने सूत्राच्छास्त्रार्थध्यानजा प्रमा।
> शास्त्रदृष्टिर्मता तां तु वेत्ति वाचस्पतिः परम् ॥"

इतना ही नहीं, बृहदारण्यक-वार्तिक भा० ३, पृ० ३५०–३५२, श्लो० ७९६ में मंडन के मत का उल्लेख किया गया है। आनन्दगिरि ने वहीं वार्तिक-व्याख्या में कह दिया है–"मण्डनादीनां व्याख्यामुत्थापयति"। इस स्थल पर वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्य 'पण्डितम्मन्याः' की उपाधि से मण्डनमिश्र को विभूषित करते हैं। अपने पूर्वाश्रम रूप को इस रूप से कोई कैसे उपस्थित कर सकता है ?

६—ईशावास्य के "विद्यां चाविद्यां च" मन्त्र की व्याख्या में मौलिक अन्तर देखा जाता है एवं कर्म के उपयोग में भी मतभेद पाया जाता है।

७—नैष्कर्म्यसिद्धि में श्रीसुरेश्वराचार्य मण्डनमिश्र के एक वक्तव्य को उद्धृत करते हैं, जो कि ब्रह्मसिद्धि में ज्यों-का-त्यों उपलब्ध होता[5] है।

---

[1] —बृ० वा० भाग २ पृ० ४८४ श्लो० २८५-२८८।

[2] —ब्र० सि० ब्रह्म, पृ० १०।

[3] —नै० सि० पृ० १०५-१०६, बृ० वा० भा० १ पृ० ५५-५८, श्लो० १७५-१८२, भाग २, पृ० ६७८, श्लो० १२१५-१२२७।

[4] —ब्र० सि० ब्रह्म० पृ० ३५, १३४, १५९

[5] —मंडनमिश्र ने ब्र० सि० पृ० ३७ में स्पष्ट लिखा है कि "एषोऽर्थः यज्ञेन दानेनेति श्रवणात् कर्माण्यपेक्ष्यन्ते विद्यायामभ्यासलक्षणायामपि, यथान्तरेणाप्यश्वं ग्रामप्राप्तौ सिद्धयन्त्या शैघ्र्यायाऽक्लेशाय वाऽश्वोऽपेक्ष्यते। एवम् उपसंहृते केचित् स्वसम्प्रदायबलावष्टम्भादाहुः—

नवम शताब्दी

अद्वैतवाद में दूसरा युग लाने वाले विद्वानों ने सर्वज्ञात्ममुनि आचार्य वाचस्पति एवं विज्ञान-भिक्षु का प्राधान्य है।

(१) सर्वज्ञात्ममुनि (९०० ई०)

इनका दूसरा नाम नित्यबोधाचार्य था। शृंगेरीमठ के प्राचीन लेख से जाना जाता है कि ये नवम पीठाधीश थे। 'संक्षेपशारीरक' के अन्त में स्वयं अपनें समय का परिचय दिया है—

श्रीदेवेश्वरपादपङ्कजरजःसम्पर्कपूताशयः
सर्वज्ञात्मगिराङ्कितो मुनिवरः संक्षेपशारीरकम् ।
चक्रे सज्जनबुद्धिवर्धनमिदं राजन्यवंशे नृपे
श्रीमत्यक्षतशासने मनुकुलादित्ये भुवं शासति ।।

अर्थात् श्रीदेवेश्वर के चरण-कमलों के रजःस्पर्श से शुद्धान्तःकरण होकर सर्वज्ञात्ममुनि ने क्षत्रियवंश के नृप अक्षतशासन मनुकुलादित्य के शासनकाल में सज्जनों की बुद्धि को बढ़ाने के लिए संक्षेपशारीरक ग्रन्थ बनाया।

यहाँ यह विचारणीय है कि जिस राजा के समय में संक्षेप शारीरक बना, उसका नाम श्रीमान् था ? या अक्षतशासत ? या मनुकुलादित्य ? श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती बंगला भाषा के अपने 'वेदांतदर्शने र इतिहास' में 'श्रीमान्' नाम मानते हैं और उसका अर्थ करते हैं—"श्री शब्दे लक्ष्मी, लक्ष्मीर पति यिनि तिनिई श्रीमत् अर्थात् नारायण वा श्रीकृष्ण।" इस प्रकार निष्कर्ष निकाला है कि राष्ट्रकूट-वंशीय श्रीकृष्ण नामक राजा का वह समय था। किन्तु म० म० गोपीनाथ कविराज अपनी ब्रह्मसूत्र-भूमिका में लिखते हैं कि "डाक्टर भण्डारकर ने अपने Early History of Deccen में लिखा है—यह मानव-वंश का राजा आदित्य चालुक्य था—ऐसा अनुमान किया जा सकता है……इस वंश में तीन राजे आदित्य नाम से प्रसिद्ध थे। उनमें सबसे प्राचीन आदित्य प्रथम परान्तक के पिता थे। जिनका काल प्रायः दशम शताब्दी के प्रथमार्ध में माना जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वज्ञात्ममुनि नवम शताब्दी के प्रथमांश में ही जीवित थे।"

संक्षेपशारीरक के व्याख्याता

'संक्षेपशारीरक' अत्यन्त प्रसिद्ध व्याख्याताओं के द्वारा व्याख्यात हुआ—नृसिहाश्रम ने 'तत्त्वबोधिनी'[1] पुरुषोत्तम दीक्षित ने 'सुबोधिनी' राघवानन्द ने 'विद्यामृतवर्षिणी' विश्वदेव ने 'सिद्धान्तदीप' कृष्णतीर्थ के शिष्य रामतीर्थ ने 'अन्वयार्थ-प्रकाशिका.'[1] और मधुसूदन सरस्वती ने 'सारसंग्रह' नामक व्याख्या लिखी है। वेदाध्यक्ष भगवत्पाद के

यदेतत् वेदान्तवाक्याद् अहं ब्रह्मात्मीति विज्ञानं समुत्पद्यते तन्नैव स्वोत्पत्तिमात्रेणाज्ञानं निरस्यति, किं तर्हि ? अहन्यहनि द्राघीयसा जालेनोपासीनस्य सतो भावनोपच्चयान्निश्शेषमज्ञानमपगच्छति ।'

[1] सरस्वती भवन, वाराणसी से प्रकाशित।

शिष्य वेदानन्द नें भी 'संक्षेपशारीरक सम्बन्धोक्ति' नामक व्याख्या लिखी है। जिसमें मूल श्लोकों की संगति पर यथेष्ठ प्रकाश डाला है।

सर्वज्ञात्ममुनि ने अपनें गुरु का देवेश्वराचार्य नाम लिखा है। टीकाकार मधुसूदन सरस्वती और रामतीर्थ आदि ने देवेश्वर का अर्थ सुरेश्वर किया है। किन्तु कुछ विद्वानों का कहना है कि देवेश्वराचार्य दूसरे थे, सुरेश्वराचार्य नहीं। यह निश्चित है— ये दक्षिणान्त्य थे।

आचार्य वाचस्पति

सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्रीवाचस्पति मिश्र नवम शताब्दी में मिथिला को सुशोभित करते थे। उन्होंनें अपने 'न्यायसूची-निबन्ध' में उसका रचनाकाल दिया है :—

"न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण 'वस्वङ्कवसुवत्सरे' ॥"

अर्थात् ८९८ संवत् या ८४२ ई० में न्यायसूची-निबन्ध की रचना हुई थी। भामती के अंत में भी अपने समय के राजा का निर्देश किया है :—

"नृपान्तराणां मनसाप्यगम्यां भ्रूक्षेपमात्रेण चकार कीर्तिम्।
कार्तस्वरासारसपूरितार्थ-सार्थः स्वयं शास्त्रविचक्षणश्च ॥
नरेश्वरा यच्चरितानुकारमिच्छन्ति कर्तु न च पारयन्ति।
तस्मिन् महीपे महनीयकीर्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबंधः ॥"

अर्थात् नृगराज महाराज के शासनकाल में भामती लिखी गई। भामती (२।१।३३) में भी लिखा है–"न चाद्यापि न दृश्यन्ते लीलामात्रविनिर्मितानि महाप्रसाद-प्रमोदवनानि श्रीमन्नृगनरेन्द्राणामन्येषां मनसापि दुष्कराणि नरेश्वराणाम्।" यहाँ नृग का धर्मपाल आदि अर्थ करना संगत नहीं बैठता। एक नृग महाराज पुराण-प्रसिद्ध इक्ष्वाकुवंशीय हैं। उनका समय तो बहुत प्राचीन है। उस समय आचार्य वाचस्पति का होना सम्भव नहीं। बौद्ध दार्शनिकों में धर्मकीर्ति का उल्लेख भामती (नि० सा० पृ० ५४९) में तथा 'तात्पर्यपरिशुद्धि' में भी किया है। धर्मकीर्ति षष्ठ शतक में वर्तमान थे। अतः उसके उत्तरकाल की किसी शताब्दी में ही वाचस्पति की स्थिति मानी जा सकती है। इसलिए इनके नृग महाराज कोई दूसरे ही होंगे। ऐतिहासिक विद्वान् अभी तक निश्चय नहीं कर पाये हैं कि ये नृग महाराज कहाँ के थे और कब हुए थे।

वाचस्पति मण्डनमिश्र की ब्रह्मसिद्धि पर 'ब्रह्मतत्त्व-समीक्षा' विधिविवेक पर 'न्यायकणिका' ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका पर 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' व्यास-रचित योग-भाष्य पर 'तत्त्ववैशारदी' उद्योतकर प्रणीत न्यायवार्तिक पर 'तात्पर्य टीका' शंकराचार्य के शारीरक भाष्य पर 'भामती' तथा स्वतन्त्र रूप से 'न्यायसूची निबन्ध' एवं 'तत्त्वबिन्दु' की रचना की है। ब्रह्मसिद्धि की व्याख्या, 'ब्रह्मतत्त्व-समीक्षा' अभी तक उपलब्ध नहीं हुई। शेष सभी ग्रंथ बड़े-बड़े विद्वानों की टीकाओं के साथ मुद्रित हैं। विशेषता यह है कि प्रत्येक दार्शनिक वाचस्पति को अपना ईमानदार कर्णधार मानता है।

दशम शताब्दी

अव्यक्तात्मा के शिष्य विमुक्तात्मा ने दशम शताब्दी में 'इष्टसिद्धि' नामक ग्रंथ का निर्माण किया। इस ग्रंथ में ग्रंथकार ने ख्याति का विचार बहुत ही सुन्दर ढंग से रखा है। ज्ञानोत्तम की व्याख्या के साथ यह ग्रंथ गायकवाड़ ग्रंथमाला में प्रकाशित हुआ है।

एकादश शताब्दी

श्रीकृष्णमिश्र—अत्यन्त क्लिष्ट अद्वैत सिद्धांत को नितांत सरल रीति पर नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करना श्रीकृष्णमिश्र का ही काम था। आपने 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक की रचना की। उसमें विवेक आदि साधनों को पात्र बनाया है, जिनकी सहायता से गन्तव्य पथ का साक्षात्कार-सा हो उठता है।

प्रकाशात्मयति (११०० ई०)

प्रकाशात्मयति—पद्मपादाचार्य की पञ्चपादी पर प्रकाशात्मयति ने "विवरण" नामक ऐसी उत्कृष्ट व्याख्या लिखी कि जिसके नाम से अद्वैतवेदान्त में विवरण प्रस्थान पृथक् ही गिना जाने लगा। प्रकाशात्मयति ने विवरण में भास्कराचार्य (१०म, शतक) के भेदाभेद का विशेष रूप से निरास किया है। आनन्दबोधभट्टारक (१२ शतक) ने अपने 'न्यायमकरन्द' में विवरणकार के मत का अनुवाद किया है। अतः प्रकाशात्मयति को दशम शताब्दी का परवर्ती और बारहवीं शताब्दी का पूर्ववर्ती मानना होगा। इस प्रकार इनका समय एकादश शतक निश्चित हो जाता है। अपने ग्रंथ में इन्होंने अपना कोई देश-काल नहीं बताया है। इनके गुरु का नाम 'अनन्यानुभव' था। स्वयं इन्होंने लिखा है :—

> "वन्दे तमात्म-सम्बद्ध-स्फुरद्-ब्रह्मात्मभावतः।
> अर्थतोऽपि न नाम्नैव योऽनन्यानुभवो गुरुः॥"

इस समय इनके दो ग्रंथ उपलब्ध हैं तथा मुद्रित हैं—(१) 'पंचपादिकाविवरण' तथा (२) 'शाब्दनिर्णय'। विवरण के समान ही 'शाब्दनिर्णय' भी महत्त्व का ग्रंथ है। ७२० श्लोकों के इस छोटे-से ग्रंथ में ग्रंथकार ने आत्मा के शाब्द प्रत्यक्ष का ही ऊहापोह के साथ समर्थन किया है। ग्रंथकार की स्वोपज्ञ वृत्ति के साथ यह ग्रंथ १९१७ ई० में त्रिवेन्द्रम्-ग्रंथमाला में प्रकाशित हो चुका है।

द्वादश शताब्दी

इस शताब्दी ने अद्वैतसिद्धान्त के तीन विद्वन्मणियों का जन्म दिया (१) अद्वैतानन्द, (२) श्रीहर्ष, (३) आनन्दबोधभट्टारक।

अद्वैतानन्द बोधेन्द्र

आचार्य अद्वैतानन्द की जन्मभूमि दक्षिण भारत का कावेरी-तट है। इनके पिता का नाम प्रेमनाथ और माता का नाम पार्वतीदेवी है। इनका पूर्वाश्रमीय नाम सीतापति था। इन्होंने स्वयं अपना परिचय अपने ग्रन्थ में दिया है—

"जय्येशस्य कृपाभरात् समुदभूद् यः पार्वतीगर्भतः ।
प्रेमेशस्य सुतः श्रुतिप्रवचने धीरः स सीतापतिः ॥
आदेशाद् गुरुचन्द्रचूडयमिनः सर्वज्ञपीठाद् विभो-
राधत्ते किल शान्तिवाकनवकव्याख्यां सुखख्यातये ॥"

इन्होंने सप्तदश वर्ष की अवस्था में ही संन्यास ग्रहण किया था। इनके गुरु का नाम भूमानन्द या चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती था। काञ्ची के शारदामठ (में कामकोटिपीठ) के अध्यक्ष थे। गुरु ने अद्वैतानन्द को पीठाधीश नियुक्त करके काशी प्रस्थान किया। आचार्य अद्वैतानन्द का नाम चिद्विलास एवं आनन्दबोधाचार्य भी था। ये श्रीहर्ष के समसामयिक थे। पुण्यश्लोकमंजरी में लिखा है कि इन्होंनें श्रीहर्ष को पराजित कर दिया था :—

"प्रेमेशस्य पिनाकिनीतटभुवः सूनुः स सीतापतिः,
स्नात्वा सप्तदशापराश्रममठात् श्रीचन्द्रचूडान् मुनेः।"

आचार्य अद्वैतानन्द के ग्रन्थों में 'ब्रह्मविद्याभरण' ग्रन्थ समधिक प्रसिद्ध है। यह ग्रंथ शांकर-भाष्य की वृत्ति माना जाता है। भामती के समझने में भी यह ग्रन्थ साहाय्य प्रदान करता है। कुम्भकोणम् की अद्वैतमंजरी ग्रंथमाला में प्रकाशित हुआ है। आरम्भ का मंगल-श्लोक देखा जाता है—

"वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे।
यं नात्वा कृतकृत्याः स्युः तं नमामि गजाननम् ॥"

किन्तु यह श्लोक सायण-माधव का मुद्राङ्कन-सा बना हुआ है। कुछ विद्वानों का कहना है कि सायण-माधव ने यह श्लोक वहीं से लिया था। अन्य विद्वान् इस श्लोक को 'ब्रह्म-विद्याभरण' की पाण्डुलिपि में लेखक-प्रमाद से आया हुआ मानते हैं। इनके दो और ग्रंथ भी प्रसिद्ध हैं—शान्तिविवरण और गुरुदीपिका।

श्रीहर्षमिश्र (११९० ई०)

शङ्कराचार्य और सुरेश्वराचार्य के अनन्तर श्रीहर्षमिश्र नें अद्वैत के रण-प्राङ्गण में अपना अद्भुत कौशल दिखाया था। इनके पिता का नाम श्रीहीर और माता का मामल्लदेवी था। कन्नौज के राजा जयचन्द के दरबार में इनकी खूब प्रतिष्ठा थी। जयचन्द ने ११९३ ई० तक राज्य किया, अतः श्रीहर्ष का समय द्वादश शताब्दी ही निश्चित किया गया है। श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य 'नैषधीयचरित' में अपनी अनेक कृतियों का निर्देश किया है। और कृतियाँ न भी होतीं, तब भी "खण्डनखण्डखाद्य" और "नैषधीयचरित"–ये दो ग्रन्थ ही पण्डित-मण्डली को प्रभावित करने में समर्थ थे। यद्यपि "खण्डन-खण्ड-खाद्य" का भी अभिनव वाचस्पति ने खण्डन किया है, फिर भी "खण्डन-खण्ड-खाद्य" की कीर्ति आजतक अक्षुण्ण चली आ रही है। शङ्करमिश्र ने इसकी व्याख्या के साथ-साथ समालोचना करने की चेष्टा की है, उससे भी मन्द पड़ने के स्थान पर खण्डन की चमक दूनी निखर पड़ी है।

आनन्दबोध भट्टारक

इन्होंने अपने न्याय-मकरन्द ग्रंथ में आचार्य वाचस्पति (नवम शतक) का उल्लेख किया है और विवरणकार श्रीप्रकाशात्मयति (११वीं शतक) के शाब्दनिर्णय पर "दीपिका" नाम की व्याख्या भी लिखी है। श्रीचित्सुखाचार्य (१३ शतक) ने इनके न्याय-मकरन्द पर व्याख्या लिखी है। अतः इनका समय द्वादश शताब्दी ही हो सकता है। इनका "न्याय-मकरन्द" ग्रन्थ चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी से १९०१ में निकला था। इसका सम्पादन सर्वशास्त्र-निष्णात श्रीस्वामी बालराम उदासीन ने किया था। इनके "प्रमाणमाला" तथा "न्याय-दीपावली" नाम के दो छोटे-छोटे ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं।

त्रयोदश शताब्दी

तेरहवीं शताब्दी में आचार्य अमलानन्द और चित्सुखाचार्य दो प्रमुख विद्वान् हुए हैं।

आचार्य अमलानन्द (१२४७-१२६० ई०)

आचार्य अमलानन्द का आविर्भाव दक्षिण भारत में हुआ था। इनके गुरु का नाम अनुभवानन्द था। ये यादववंशीय राजा महादेव और राजा रामचन्द्र के समसामयिक माने जाते हैं। देवगिरि के राजा महादेव ने १२६० ई० से १२७१ ई० तक राज्य किया। उसके अनन्तर उसके भ्राता रामचन्द्र शासनारूढ़ हुए। १२९४ ई० में अलाउद्दीन का दक्षिण भारत पर आक्रमण हुआ। उस समय राजा रामचन्द्र ने आत्म-समर्पण कर दिया था।

आचार्य अमलानन्द ने आचार्य वाचस्पति की भामती व्याख्या पर "वेदान्त-कल्पतरु" नाम की सुन्दर टीका लिखी, जिसका रचना-काल बताया है—

कीर्त्या यादववंशमुन्नयति श्रीजैत्रदेवात्मजे,
'कृष्णक्ष्माभृति भूतलं सह महादेवेन संबिभ्रति।
भोगीन्द्रे परिमुञ्चति क्षितिभरप्रोद्भूतदीर्घश्रमं,
वेदान्तोपवनस्य मण्डनकरं प्रस्तौति कल्पद्रुमम् ॥

राजा रामचन्द्र को ही 'कृष्ण' पद से स्मरण किया गया है। इन्होंने वेदान्त कल्पतरु के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों की व्याख्या 'शास्त्रदर्पण' तथा पञ्चपादिका की व्याख्या 'पञ्चपादिकादर्पण' की रचना की है।

चित्सुखाचार्य

चित्सुखाचार्य के गुरुवर का नाम ज्ञानोत्तमाचार्य था। श्रीहर्ष ने भेदवादियों का मर्दन करते समय जो कमी रख दी थी, उसे श्रीचित्सुखाचार्य ने पूरा किया। अर्थात् श्रीहर्ष ने अन्य मतों का खण्डन ही खण्डन किया, अपने पक्ष का प्रदर्शन और पोषण नहीं किया था। किन्तु चित्सुखाचार्य ने वेदान्त सिद्धान्त का बड़ी ऊहापोह से प्रतिपादन किया। चित्सुखाचार्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी) में भेदवादियों का निर्दलन भी निर्दयता से किया गया है। विशेषतः वैशेषिकों का निरास करने के लिए

इन्होंने अवतार धारण किया था। चित्सुखी के अतिरिक्त इन्होंने खण्डनखण्डखाद्य, शारीरकभाष्य तथा नैष्कर्म्यसिद्धि की व्याख्याओं का प्रणयन किया है। चित्सुखाचार्य नें बहुत थोड़े समय में ही पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। उनके तुरन्त पश्चात् के विद्यारण्य स्वामी नें इन्हें सम्मानित शब्दों में स्मरण किया हैं—"तथा चाचकथच्चित्सुखाचार्यः" (सर्व द० १६।३००)।

चतुर्दश शताब्दी

चौदहवीं शताब्दी में अद्वैतसिद्धान्त के आचार्यों में आचार्य विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ, शङ्करानन्द तथा विद्यारण्य स्वामी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

आचार्य विद्यातीर्थ

विद्यातीर्थ या विद्याशंकर परमात्मतीर्थ के शिष्य थे। यद्यपि इनका कोई विशिष्ट ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, तथापि वेदभाष्यकार श्रीसायण-माधव का गुरु होना ही इनकी असाधारण गुरुता है। प्रत्येक कृति के आरम्भ में सायण-माधव इनको नमस्कार करके ही आगे बढ़े हैं।

भारतीतीर्थ

भारतीतीर्थ भी माधवाचार्य के गुरुगणों में से थे। "वैयासिकन्यायमाला" जैसे कुछ ग्रंथ भारतीतीर्थ तथा माधवाचार्य दोनों के संयुक्त नाम से प्रसिद्ध हैं। भारतीतीर्थ के दो अन्य शिष्य थे—परमानन्दतीर्थ और रामानन्दतीर्थ। परमानन्दतीर्थ की अवधूतगीता पर एक व्याख्या है। रामानन्द ने विष्णुभट्ट के ऋजुविवरण पर 'त्रय्यन्तभावदीपिका' नाम की टीका बनाई थी।

शङ्करानन्द

आचार्य शंकरानन्द भी विद्यारण्यस्वामी के शिक्षागुरु थे। विद्यारण्यस्वामी ने पञ्चदशी तथा विवरण-प्रमेय-संग्रह के आरम्भ में इन्हें भी नमस्कार किया है। भगवद्गीता पर प्रसिद्ध शङ्करानन्दी व्याख्या के रचयिता ये ही हैं। उपनिषदों के आधार पर लिखित विशालकाय ग्रंथ 'आत्मपुराण' भी इनकी कृति है।

आचार्य विद्यारण्य-स्वामी

माधवाचार्य १३३५-३६ ई० में विजयनगर साम्राज्य की स्थापना करके मन्त्री-पद पर प्रतिष्ठित हुए। इनके पौरुष से ही दक्षिण में मुसलमान शासक परास्त हुए थे। एक सौ वर्ष से अधिक इनका जीवनकाल माना जाता है। माधवाचार्य के पिता का नाम मायण और माता का श्रीमती था। वेद-भाष्यकार सायण और भोगनाथ दो इनके सहोदर थे। इनका गोत्र भरद्वाज था, सूत्र बोधायन और वेद यजुर्वेद था। पराशर-माधव के आरम्भ में इन्होंने अपना पूर्ण परिचय दिया है। माधवाचार्य ही संन्यास लेकर विद्यारण्य के नाम से प्रख्यात हुए। शृङ्गेरी मठ के ये अधिष्ठाता थे।

इनके गुरु के विषय में अवश्य कुछ विचारणीय है। इन्होंने विवरणप्रमेयसंग्रह के आरम्भ में शंकरानन्द[1] को नमस्कार किया है और उसी की समाप्ति में

---

[1] १—श्रीशङ्करानन्दपदं हृदब्जे विभ्राजते तद् यतयो विशन्ति।

विद्यातीर्थ[1] को ग्रन्थ समर्पण किया है। सायणाचार्य नें वेद-भाष्य के आरम्भ में विद्यातीर्थ[2] की वन्दना की है। इससे यह प्रतीत होता है कि विद्यातीर्थ सायण और माधव दोनों के गुरु थे। विद्यातीर्थ भारतीतीर्थ के भी गुरु[3] थे। जैमिनीय न्यायमाला के आरम्भ में माधवाचार्य ने भारतीतीर्थ[4] को नमस्कार किया है। इससे यह जाना जाता है कि माधवाचार्य के गुरु भारतीतीर्थ और परम गुरु विद्यातीर्थ थे, अथवा पहले इनके विद्यातीर्थ गुरु होंगे और पश्चात् वेदान्त आदि के गुरु भारतीतीर्थ रहे होंगे। पञ्चदशी के आरम्भ में श्रीशंकरानन्द को प्रणाम करने से सिद्ध होता है कि वे ही विद्यारण्य के दीक्षागुरु थे।

वेदान्त में विद्यारण्य स्वामी के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं:—विवरणप्रमेय-संग्रह, बृहदारण्यकवार्तिकसार, अनुभूतिप्रकाश, पञ्चदशी, जीवन्मुक्तिविवेक तथा ब्रह्मगीता।

विद्यारण्य स्वामी के शिष्य रामकृष्ण ने पंचदशी पर संक्षिप्त व्याख्या लिखी है। विद्यारण्य स्वामी अत्यन्त गम्भीर भावों को नितान्त सरल भाषा में व्यक्त करने के लिए समग्र संस्कृत वाङ्मय में प्रसिद्ध हैं। सिद्धान्तलेशसंग्रह पृष्ठ ३४६ हिन्दी सं० में भारतीतीर्थ के नाम से विवरणोपन्यास की जो चर्चा की है, वह वस्तुतः विवरणप्रमेयसंग्रह है, क्योंकि वह वाक्य विवरणप्रमेयसंग्रह में ज्यों-का-त्यों मिलता है। रामानन्द के विवरणोपन्यास से कोई सम्बन्ध नहीं। विवरणप्रमेयसंग्रह की रचना में भी भारतीतीर्थ की सहायता मिली थी, अतः वह भी दोनों के नामों से प्रसिद्ध है।

पञ्चदश शताब्दी

पन्द्रहवीं शताब्दी में आनन्दगिरि, प्रकाशानन्दयति और अखण्डानन्द-जैसे प्रसिद्ध व्याख्याकार उत्पन्न हुए हैं—

आचार्य आनन्दगिरि

आचार्य आनन्दज्ञान या आनन्दगिरि शांकर-भाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। इनकी न्यायनिर्णय व्याख्या बहुत सुन्दर है। इनके गुरु का नाम शुद्धानन्द था। शंकराचार्य के शिष्य आनन्दगिरि से ये बहुत अर्वाचीन है। इनकी रचनाएँ हैं:—दशोपनिषद्-भाष्य-व्याख्या, गीता-भाष्य की व्याख्या, शारीरक-भाष्य की टीका, तैत्तरीय पर सुरेश्वर-वार्तिक की व्याख्या, बृहदारण्यक वार्तिक की व्याख्या, वेदान्तशतश्लोक की टीका,

---

१—यद्विद्यातीर्थमुखे सुश्रूषाऽन्या न रोचते तस्माद्।
अस्त्वेषा भक्तियुक्ता श्रीविद्यातीर्थपादयोः सेवा॥

२—यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्॥

३—वैयासिकन्यायमाला में लिखा है—
प्रणम्य परमात्मानं श्रीविद्यातीर्थरूपिणम्।
वैयासिकन्यायमाला श्लोकैः संगृह्यते स्फुटम्॥

४—स भव्याद् भारतीतीर्थयतीन्द्रचतुराननाद्।
कृपामव्याहतां लब्ध्वा परार्ध्यप्रतिमोऽभवम्॥

उपदेशसाहस्री दृग्दर्शनविवेक की टीका। क्लिष्ट और गम्भीर ग्रंथों को सरल और बोधगम्य बनाना इनका पवित्र लक्ष्य था।

आचार्य प्रकाशानन्द

वेदान्त के अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रंथ 'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' के रचयिता आचार्य प्रकाशानन्द हैं। इनके गुरु का नाम आचार्य ज्ञानानन्द था। प्रकाशानन्द यति अप्पयदीक्षित के पूर्ववर्ती थे, क्योंकि अप्पयदीक्षित ने सिद्धान्तलेश में इनका मत उद्धृत किया है। प्रकाशानन्द का दृष्टि-सृष्टिवाद पर यह वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावली एकमात्र ग्रंथ माना जाता है। स्वयं ग्रंथकार ने भी यही ध्वनित किया है—

अद्वैतानन्दसन्दोहा सत्यज्ञानादिलक्षणा।
नारायणसमासक्ता श्रिया सापत्न्यदूषिता॥

दृष्टि-सृष्टिवाद और सृष्टि-दृष्टिवाद

शास्त्र-दर्पणकार अमलानन्द स्वामी दृष्टि-सृष्टिवादी हैं, उनके मत में दृष्टि-समसमया[1] विश्वसृष्टि है। प्रकाशानन्द स्वामी भी दृष्टि-सृष्टिवादी हैं, किन्तु अमलानन्द स्वामी के मत से इनके मत का वैलक्षण्य यह है कि ये दृष्टि को ही सृष्टि मानते हैं, क्योंकि दृश्य का दृष्टि से भेद सिद्ध नहीं होता—

ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद् विचक्षणाः।
अर्थस्वरूपं भ्राम्यन्तः पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः॥

अन्य विद्वान् इस दृष्टि-सृष्टिवाद में दोष दिखाते हैं कि इस पक्ष में जाग्रत प्रपंच को प्रातिभासिक मानना पड़ता है, आकाश आदि व्यावहारिक सृष्टि का अपलाप होता है। चक्षुरादि प्रमाणों से जन्य ज्ञान को भी भ्रम मानना पड़ता है। अतः दृष्टि-सृष्टिवाद समीचीन नहीं, सृष्टि-दृष्टिवाद युक्ति-युक्त है। श्रुति-दर्शित क्रम से परमेश्वरसृष्ट विश्व अज्ञातसत्ताक है। तत्तद्विषयक प्रमाणों की प्रवृत्ति होने पर उसकी दृष्टि सिद्ध होती है, इसी का नाम सृष्टि-दृष्टिवाद है। इस वाद में प्रपंच की व्यावहारिक सत्ता मानी जाती है।

---

१. दृष्टि-सृष्टिवाद में कल्पित अर्थ की अज्ञात सत्ता नहीं मानी जाती, अतः जाग्रत-प्रपंच की दृष्टि-समय ही सृष्टि मानी जाती है। जैसे स्वप्न-प्रपञ्च दृष्टि के समय ही सृष्ट है, वैसे ही जाग्रत-प्रपंच भी। इस सृष्टि का कल्पक कौन? इस प्रश्न के उत्तर में कुछ विद्वानों ने कहा है— पूर्व-पूर्व-कल्पित अविद्या से उपहित आत्मा ही उत्तरोत्तर कल्पित अज्ञान का कल्पक है। अविद्या अनादि होने पर भी शुक्ति-रजत न्याय से कल्पितत्त्व सम्भव है। श्रुतियों में प्रतिपादित सृष्टि की उपपत्ति में श्रुतियों का तात्पर्य नहीं, केवल अध्यारोप और अपवाद क्रम से निष्प्रपंच आत्मा का निरूपण अपेक्षित है। शास्त्र-दर्पण में कहा है—

श्रुतीनां सृष्टितात्पर्यं स्वीकृत्येदमिहेरितम्।
ब्रह्मात्मैक्य परत्वाद् तु तासां तन्नैव विद्यते॥

आचार्य अखण्डानन्द

आचार्य अखण्डानन्द स्वामी पन्द्रहवीं शताब्दी में वर्तमान थे। इनके गुरु का नाय आचार्य अखण्डानुभूति था। पञ्चपादिका-विवरण के ऊपर आचार्य अखण्डानन्द ने "तत्त्वदीपन" नाम की व्याख्या लिखी है। इनका मत सिद्धान्तलेशसंग्रह में उद्धृत[1] किया गया है। तत्त्वदीपनकार स्वामी विद्यारण्य के परवर्ती हैं, क्योंकि तत्त्वदीपन में विवरण-प्रमेय-संग्रह का उद्धरण दिया है। नृसिहाश्रम-कृत विवरण-भाव-प्रकाशिका व्याख्या में तत्त्वदीपन का उल्लेख हुआ है। नृसिहाश्रम का समय सोलहवीं शताब्दी माना जाता है, अतः अखण्डानन्द का समय १५वीं शताब्दी ही ठहरता है।

षोडश शताब्दी

सोलहवीं शताब्दी में नृसिंहाश्रम, नारायणाश्रम, रङ्गराजाध्वरीन्द्र, अप्पयदीक्षित नृसिंह सरस्वती तथा मधुसूदन सरस्वती आदि विद्वान् भारत की शोभा बढ़ा रहे थे।

आचार्य नृसिंहाश्रम (१५०० ई०)

नृसिंहाश्रम के गुरु का नाम जगन्नाथाश्रम था। नृसिंहाश्रम रेवा-तट के वासी थे। काशी में आये और यहाँ के ही हो गये। इनके वेदान्ततत्त्व-विवेक की रचना १५४७ में हुई थी। इनके अन्य ग्रंथों में अद्वैतदीपिका, भेदधिक्कार, पञ्चपादिका-टीका, वेदान्त-रत्नकोष, पञ्चपादिका-विवरण-टीका और संक्षेपशारीरक की व्याख्या विशेष उल्लेखनीय हैं। नृसिंह-विज्ञापन भी एक छोटा-सा ग्रन्थ है। भट्टोजिदीक्षित के घर में प्रायः सभी लोग इन्हीं के शिष्य थे। यह किंवदन्ती है कि भट्टोजिदीक्षित नृसिंहाश्रम से प्रभावित होकर ही अद्वैतमतावलम्बी बने थे।

आचार्य नारायणाश्रम

नारायणाश्रम आचार्य नृसिंहाश्रम के शिष्य थे। इन्होंनें अपने गुरु की अद्वैतदीपिका और भेदधिक्कार पर टीकाएँ लिखी हैं। भेदवादियों का निराकरण करने में इन्होंने भी अपना पूर्ण कौशल दिखलाया है।

रङ्गराजाध्वरी

रङ्गराजाध्वरी अप्ययदीक्षित के पिता थे। रङ्गराजा के पिता का नाम आचार्य दीक्षित था। आचार्य दीक्षित भी अद्वैत मत के आचार्य थे। इनकी वास-भूमि काञ्ची नगरी थी। आचार्य दीक्षित का नामान्तर वक्षःस्थलाचार्य था। नामकरण की कथा भी मनोहर है—कृष्णदेवराज १५०० ई० से १५३० ई० पर्यन्त विजयनगर के राजा रहे। इन्हीं कृष्णदेव की सभा में शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य उपस्थित हुए थे। राजा कृष्णदेव अपनी रानी के साथ तीर्थ दर्शनार्थ बाहर गये, जब वरदराज की पूजा कर रहे थे, तब आचार्य दीक्षित ने श्लोक पढ़ा—

काञ्चित् कांचनगौराङ्गीं वीक्ष्य साक्षादिव श्रियम् ।
वरदः संशयापन्नो वक्षःस्थलमवैक्षत ॥

---

[1] द्र० सिद्धान्तलेश अद्वैतमञ्जरी सीरिज, पृष्ठ १४९ ।

अर्थात् भगवान् वरदाज ने देखा कि सामने कोई सुवर्णवर्णा स्त्री खड़ी है, सन्देह हुआ कि हमारे वक्षःस्थल से लक्ष्मी क्या खिसक गई ? इस सन्देह के साथ-साथ अपना वक्षःस्थल टटोलने लगे। इससे प्रसन्न होकर महाराज कृष्णदेव ने आचार्य दीक्षित को वक्षः स्थलाचार्य की उपाधि दे डाली।

रङ्गराजाध्वरी अद्वैतविद्यामुकुर, विवरणदर्पण आदि अद्वैतवाद के ग्रंथों के रचयिता थे। अप्पय दीक्षित में अद्वैत का पूर्ण पाण्डित्य आपकी देन थी। अप्पय दीक्षित ने अपने सिद्धान्तलेशसंग्रह में अद्वैत-विद्याकार पद से अपने पिता का ही परामर्श किया है।

आचार्य अप्पयदीक्षित (१५५०)

१५५० ई० से १६६२ ई० तक अप्पयदीक्षित का समय माना जाता है। सोलहवीं शताब्दी में ही नहीं, उसके आसपास भी ऐसा अपूर्व विद्वान् प्रकट नहीं हुआ। केवल दार्शनिक क्षेत्र में ही नहीं, अलंकार, व्याकरण, काव्य, नाटक आदि क्षेत्रों में भी इन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त था। एक सौ वर्ष के लगभग की दीर्घ आयु में अप्पयदीक्षित ने एक सौ आठ ग्रंथों का निर्माण किया। अपने पिता से ही समस्त शास्त्रों का अध्ययन किया था। केवल पण्डित ही नहीं थे, प्रत्युत उच्चकोटि के साधक भी थे। अमलानन्द के वेदान्तकल्पतरु को 'परिमल' व्याख्या से सुशोभित किया। श्रीकण्ठ-भाष्य पर भी 'शिवार्कमणिदीपिका' नाम की व्याख्या अपना विशिष्ट स्थान रखती है। भगवान् शंकर के अनन्य भक्त थे। फिर भी अद्वैत में आपकी निष्ठा पूर्ण थी। सर्वत्र निर्गुण ब्रह्मवाद का समर्थन किया है। 'शिवार्कमणिदीपिका' के आरम्भ में ही लिखा है कि उपनिषत्, आगम, पुराण, स्मृति और इतिहास सभी शास्त्रों का तात्पर्य एकमात्र अद्वैत में है।

आचार्य सदाशिवेन्द्र ब्रह्मेन्द्र

सदाशिव ब्रह्मेन्द्र स्वामी दाक्षिणात्य थे । काञ्ची-कामकोटिपीठ के पीठाधीश्वर थे। इनके 'गुरुरत्नमालिका' ग्रंथ में ब्रह्मविद्या-भरण का विवरण-सा पाया जाता है। अद्वैतविद्या-विलास, बोधात्म-निर्वेद, ब्रह्मकीर्तन-तरङ्गिणी आदि ग्रन्थ इन्हीं के बनाये हैं।

आचार्य सदानन्द योगीन्द्र

इनकी कीर्ति को अमर बनाये रखने में इनका वेदान्तसार पर्याप्त है। सोलहवीं शताब्दी का प्रथम भाग इनका समय माना जाता है। वेदान्तसार पर कई अच्छे विद्वानों की व्याख्याएँ हैं। इस ग्रंथ की उसी शताब्दी में ही प्रसिद्धि हो गई थी, इसीलिए उसी शताब्दो के नृसिह सरस्वतो आदि विद्वानों ने व्याख्याएँ लिखी थीं।

आचार्य नृसिंह सरस्वती

नृसिह सरस्वती वेदान्तसार के व्याख्याता हैं। इन्होंने अपनी व्याख्या का समय दिया है—

जाते पञ्चदशाधिके दशशते संवत्सराणां पुनः।
संजाते दशवत्सरे प्रभुवरश्रीशक्तिवाहे शके ॥
प्राप्ते दुर्मुखवत्सरे शुभशुचौ मासे नु मत्यां तिथौ।
प्राप्ते भार्गववासरे नरहरिः टीकां चकारोज्वलाम् ॥

अर्थात् १५१८ शकाब्द या १५९६ ई० में सुबोधिनी टीका रची गई, इनका समय सोलवीं शताब्दी का अन्तिम भाग निश्चित होता है।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती

आचार्य मधुसूदन सरस्वती विश्वेश्वर सरस्वती के शिष्य थे। बङ्गप्रान्त के फरीदपुर मण्डलान्तर्गत कोटलीपाड़ा ग्राम इनका जन्मस्थान माना जाता है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है—अद्वैतसिद्धि। अद्वैतसिद्धि में परिमलकार अप्पय दीक्षित (१६ वीं शताब्दी) का बड़े आदर से नामोल्लेख किया है। एवं सोलहवीं शताब्दी के व्यासराज के ग्रन्थ 'नायामृत' का अद्वैतसिद्धि में खण्डन किया है। अतः इनका समय सोलहवीं शताब्दी ही स्थिर होता है। अद्वैतसिद्धान्त में इनकी देन महत्त्व की है। इनके ग्रंथ हैं—सिद्धान्तबिन्दु, संक्षेपशारीरक-व्याख्या, अद्वैतसिद्धि, अद्वैतरत्नरक्षण, वेदान्तकल्पलतिका, गूढार्थ दीपिका (गीता-व्याख्या), प्रस्थानभेद, महिम्नस्तोत्र की व्याख्या, भक्ति-रसायन, हरि-लीलामृत की व्याख्या एवं भागवत पर परमहंसप्रिया व्याख्या।

सत्रहवीं शताब्दी

सत्रहवीं शताब्दी में आनन्दपूर्ण, धर्मराजाध्वरी, रामकृष्णाध्वरी, रामतीर्थ, गोविन्दानन्द, रामानन्द सरस्वती, सदानन्दयति, रङ्गनाथ, ब्रह्मानन्द सरस्वती आदि विद्वान् हुए हैं।

आचार्य आनन्दपूर्ण

आचार्य आनन्दपूर्ण ने खण्डनखण्डखाद्य पर विद्यासागरी, महाविद्याविडम्बन पर व्याख्या, तथा पञ्चपादिका पर टीका लिखी हैं।

आचार्य धर्मराजाध्वरीन्द्र

वेदान्त के अति प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वेदान्तपरिभाषा' के रचयिता हैं-धर्मराजाध्वरीन्द्र। भेदधिक्कार आदि ग्रन्थों के प्रणेता आचार्य नृसिंहाश्रम इनके गुरु थे। नृसिंहाश्रम षोडश शताब्दी में वर्तमान थे। अतः धर्मराजाध्वरीन्द्र का समय सत्रहवीं शताब्दी ही होना चाहिए। न्यायशास्त्र का पाण्डित्य भी इनमें पूर्णरूप से विराजमान था, गंगेशोपाध्याय की न्यायतत्त्वचिन्तामणि पर इन्होंने बहुत सुन्दर व्याख्या लिखी थी, जिसका कुछ अंश गायकवाड़ संस्कृत पुस्तकालय में उपलब्ध हुआ है। वेदान्तपरिभाषा पर ग्रन्थकार के पुत्र रामकृष्णाध्वरी ने "शिखामणि" नाम की टीका लिखी है, उसके आरम्भ में अपने पिता का परिचय दिया है—

आसेतोरासुमेरोरपि भुवि विदितान् धर्मराजाध्वरीन्द्रान्,
वन्देऽहं तर्कचूडामणिमणिजननक्षीरधींस्तातपादान्।
तत्कारुण्यान्मयाऽभूदधिगतमधिकं दुर्ग्रहं सूक्ष्मधीकै-
रप्यात्तं शास्त्रजातं जगति मखकृता रामकृष्णाह्वयेन॥

आचार्य रामतीर्थ

रामतीर्थ के गुरु का नाम कृष्णतीर्थ था। रामतीर्थ की श्रीराम में अधिक भक्ति थी, वेदान्तसार तथा संक्षेपशारीरक की अपनी भूमिका में श्रीरामचन्द्रजी का मंगल किया

है। संक्षेपशारीरक पर इन्होंने 'अन्वयार्थप्रकाशिका' टीका, उपदेशसाहस्री पर 'पद-योजनिका' व्याख्या, वेदान्तसार पर 'विद्वन्मनोरञ्जिनी' टीका तथा मैत्रायणी उपनिषत् की व्याख्या लिखी है।

आचार्य गोविन्दानन्द

गोविन्दानन्द शाङ्कर भाष्य के टीकाकार हैं। 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य-रत्नप्रभा' इनकी अक्षयकीर्ति है। अपनी व्याख्या में 'नृसिंहाश्रम' (१६वीं शताब्दी) का उल्लेख किया है, अतः सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व के ये नहीं हो सकते। इनके गुरु का नाम गोपालसरस्वती था। काशी में ही नियमतः वास करते थे। गोविन्दानन्द और लघुचन्द्रिकाकार दोनों ने श्रीशिवरामाचार्य से ज्ञान प्राप्त किया था। इस प्रकार गोविन्दानन्द को ब्रह्मानन्द का समसामयिक अर्थात् अठारहवीं शताब्दी का मानना होगा—एसा कुछ विद्वानों का कहना है। किन्तु इनके शिष्य रामानन्द सरस्वती १७वीं शताब्दी में ही थे, अतः इन्हें अठारहवीं शताब्दी का कैसे कहा जा सकता है? हाँ, शिवरामाचार्य इतनी दीर्घायु के माने जा सकते हैं कि दोनों के शिक्षक रहे हों।

आचार्य रामानन्द सरस्वती

रामानन्द सरस्वती ने विवरणोपन्यास के मंगल में भाष्य-रत्नप्रभाकार श्रीगोविन्दानन्द का अपने को शिष्य लिखा है। रामानन्द सरस्वती ने विवरणोपन्यास के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र की वृत्ति 'ब्रह्मामृतवर्षिणी' लिखी है। विद्यारण्य स्वामी का 'विवरणप्रमेयसंग्रह' प्रकाशात्मयति-रचित विवरण का संक्षेप तथा इनका 'विवरणोपन्यास' विवरणप्रमेयसंग्रह का भी संक्षेप है।

आचार्य सदानन्दयति (काश्मीरक)

काश्मीरक सदानन्दयति 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' के प्रणेता हैं। अद्वैतब्रह्मसिद्धि अद्वैत मत का प्रामाणिक ग्रंथ है। इनका कहना है—प्रतिबिम्बवादावच्छेदवादानां व्युत्पादने नात्यन्तमाग्रहः, तेषां बालबोधनार्थत्वात्; किन्तु ब्रह्मैवानादिमायावशात् जीवभावमापन्नः सन् विवेकेन मुच्यते ………अयमेव एकजीववादाख्यो मुख्यो वेदान्त-सिद्धान्तः। अर्थात् प्रतिबिम्बवाद आदि केवल बालकों को अगम्य ब्रह्म का बोध कराने के लिए कल्पित हुए हैं। एकजीववाद वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त है।

आचार्य रङ्गनाथ

आचार्य रङ्गनाथ ने ब्रह्मसूत्र-वृत्ति की रचना की है, आरम्भ में लिखा है :—

विद्यारण्यकृतैः श्लोकैः नृसिंहाश्रमसूक्तिभिः।
सन्दृब्धा व्याससूत्राणां वृत्तिर्भाष्यानुसारिणी॥

इन्होंने अपनी वृत्ति में भूतयोनित्वाधिकरण (ब्र० सू० १।२) में "प्रकरणाच्च" यह सूत्र अधिक लिखा है। यह सूत्र भामती आदि में नहीं रखा गया है। इनकी वृत्ति पूना आनन्दाश्रम से प्रकाशित हुई है।

आचार्य ब्रह्मानन्द सरस्वती

ब्रह्मानन्द सरस्वती के गुरुवर का नाम परमानन्द सरस्वती था, नारायणतीर्थ से इन्होंने सब शास्त्रों का अध्ययन किया था। मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि पर इन्होंने

दो व्याख्याएँ लिखी हैं—गुरुचन्द्रिका और लघुचन्द्रिका। दोनों प्रकाशित हैं। लघुचन्द्रिका के लिए लिखा है कि गुरुचन्द्रिका को संक्षिप्त करके लघुचन्द्रिका बनाई गई है, किन्तु लघुचन्द्रिका बहुत स्थलों पर गुरुचन्द्रिका से विस्तृत है। मधुसूदन सरस्वती के सिद्धान्तबिन्दु पर भी इनकी "रत्नावली" व्याख्या प्रकाशित है। लघुचन्द्रिका में ब्रह्मानन्द ने अपनी असाधारण प्रज्ञा का परिचय दिया हैं। इनका समय सत्तरहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग या अठारहवीं का प्रथम अंश माना जाता है।

अष्टादश शताब्दी

इस शताब्दी में अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ, महादेव सरस्वती, सदाशिवेन्द्र सरस्वती आदि विद्वान् हुए हैं।

आचार्य अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ

कृष्णानन्दतीर्थ नें अप्पयदीक्षित के सिद्धान्तलेशसंग्रह पर 'कृष्णालंकार' व्याख्या लिखी है। तैत्तिरीय उपनिषद् के शाङ्कर भाष्य पर भी 'वनमाला' नाम की टीका लिखी है। दोनों व्याख्याएँ प्रकाशित हैं।

आचार्य महादेव सरस्वती

महादेव सरस्वती स्वयंप्रकाशानन्द सरस्वती के शिष्य थे। महादेव सरस्वती ने तत्त्वानुसन्धान[1] नामक प्रकरण ग्रंथ का निर्माण किया और स्वयं उसके ऊपर एक "अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ" नाम की व्याख्या लिखी है। सरल भाषा में वेदांत के आवश्यक तत्त्वों को कह डाला गया है। महादेव सरस्वती कृष्ण के परमभक्त थे, हाँ भक्ति भी आपकी अभेदभक्ति है—

> देहो नाहं श्रोत्रवागादिकानि, नाहं बुद्धिर्नाहमप्यसामूलम्।
> नाहं सत्यानन्दरूपश्चिदात्मा, मायासाक्षी कृष्ण एवाहमस्मि॥

आचार्य सदाशिवेन्द्र सरस्वती

सदाशिवेन्द्र सरस्वती का दूसरा नाम सदाशिवेन्द्र ब्राह्मण था। दक्षिण भारत के 'करूर' नामक नगर के समीप जन्म ग्रहण किया था। वहाँ इनके जीवन की बहुत घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। ये महान् योगी थे। इनकी रचनाओं में ब्रह्मसूत्र-वृत्ति (ब्रह्मतत्त्व प्रकाशिका), द्वादश उपनिषदों की व्याख्या, आत्मविद्याविलास तथा कविताकल्पवल्ली, अद्वैतरसमञ्जरी विशेष उल्लेखनीय हैं। योग-सूत्रों पर भी एक 'योगसुधाकर' नाम की वृत्ति लिखी है।

---

[1] —इसी तत्त्वानुमन्धान का चिद्घनानन्द ने हिन्दी में अनुवाद किया है। उस अनुवाद का अभी गुजराती अनुवाद हुआ है। अनुवाद को ही वहुत-से लोग मूलग्रन्थ समझ बैठे हैं, इसीलिए अनुवाद में आये "महादेव सरस्वती-कृत मङ्गलाचरण"—इस वाक्य का गुजराती में अनुवाद हुआ है—"महादेवे अने सरस्वतीये करेलू मंगलाचरण" अर्थात् महादेव और सरस्वती के प्रति किया गया मंगलाचरण। मूलग्रन्थ का महादेव सरस्वती से सम्बन्ध न रहकर मंगल का महादेव (शंकर) और सरस्वती देवी से सम्बन्ध जोड़ डाला गया है।

उन्नीसवीं शताब्दी

उन्नीसवीं शताब्दी में क्लिष्ट ग्रंथों को सरल भाषा में प्रस्तुत करने की ओर विद्वानों की प्रवृत्ति हुई। प्रान्तीय भाषाओं में वेदान्त के ग्रन्थ बनने लगे। हिन्दी में सबसे अधिक साहित्य का सर्जन हुआ—

१—दादूपन्थ के महात्मा निश्चलदासजी नें 'विचारसागर' और 'वृत्तिप्रभाकर' आदि महत्त्वशाली ग्रन्थों का प्रणयन किया।

२—स्वामी अभिलाषदास उदासीन ने "अभिलाषसागर" बनाया। इसमें वन्दन-विचार, ग्रंथ-विचार, मार्ग-विचार, भजन-विचार, जड़ब्रह्म-विचार, चैतन्यब्रह्म-विचार, निराकारब्रह्म-विचार, मिथ्याब्रह्म-विचार, अहंब्रह्म-विचार, ब्रह्म-विचार आदि विषय वर्णित हैं।

३—भगवानदास निरंजनी नें 'अमृतधारा' नाम का एक वेदांत ग्रंथ बनाया।

४—परमहंस चिद्घनानन्द स्वामी ने 'आत्मपुराण' की रचना की इसमें दश उपनिषदों का सार रखा गया है। महादेवानन्द सरस्वती के 'तत्त्वानुसंधान' का हिन्दी अनुवाद किया।

५—आनन्दगिरि स्वामी ने गीता का तात्पर्य अपनें 'आनन्दामृतवर्षिणी' में दिखाते हुए वेदांत का निर्णीत सिद्धांत रखा है।

६—श्रीगुलाबसिंह ने श्रीकृष्णमिश्र के 'प्रबोधचंद्रोदय' का अनुवाद हिन्दी में किया।

७—परमहंस लक्ष्यानन्द स्वामी नें 'मोक्षगीता' आदि ग्रंथ बनाये।

८—गुलाबराय जी ने 'मोक्षपंथ' की रचना की।

९—स्वामी गोविन्ददास ने 'विचार-माला' में खूब ब्रह्म-विचार किया है।

१०—श्रीपीताम्बरदासजी ने 'विचार-चंद्रोदय' में बड़े मनोरम और सरल ढंग से वेदांततत्त्व का विचार किया है।

११—कविवर केशवदास ने 'विज्ञानगीता' नाम का प्रबन्ध बनाया।

इनके अतिरिक्त 'सुन्दरविलास' 'स्वरूपानुसंधान', 'स्वानुभवप्रकाश' आदि अनन्त ग्रंथों ने हिन्दी में वेदांत-विचार उपस्थित किया है।

बीसवीं शताब्दी

बीसवीं शताब्दी में उदासीन सम्प्रदाय के दो महात्मा अद्वैतनिष्ठ और योगिराज हुए हैं—(१) बड़े अमरदासजी और (२) उनके शिष्य छोटे अमरदासजी। बड़े अमरदासजी वाराणसी के भदैनी मुहल्ले के उसी स्थान में रहते थे, जहाँ इस समय श्रीसाधुबेला आश्रम स्थित है। इन्होंने वेदांतपरिभाषा की 'शिखामणि' व्याख्या पर 'मणिप्रभा' नाम की सुन्दर टीका बनाई है। इस टीका से इनके उभय-मीमांसा-पाण्डित्य पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है।

छोटे अमरदासजी 'सकरकंद गली' वाराणसी में रहते थे। ईशादि आठ उपनिषदों पर इनकी 'मणिप्रभा' नाम की एक सुन्दर व्याख्या है। इसका विपुल प्रचार ही सिद्ध करता है कि इसका जनसाधारण में कितना समादर है।

—:०:—

निबन्धत्रयी

अद्वैत सिद्धान्त में मुख्य तीन निबन्ध हैं–(१) भामती निबन्ध, (२) पञ्चपादिका निबन्ध, और (३) वार्तिक निबन्ध। पञ्चपादिका निबन्ध का ही नामान्तर विवरण निबन्ध है। इसका कारण यह है कि वेदांत के विशाल व्योममण्डल में भामती की प्रोज्ज्वल ज्योत्स्ना के समक्ष पञ्चपादिका की गौरवतारिका तबतक चमकनें न पाई, जबतक प्रकाशात्मयति नें अपने विवरण के प्रकृष्ट-प्रकाश से पञ्चपादिका को प्रकाशित नहीं किया। अतः पंचपादिका के सिद्धान्तों को विवरण निबन्ध के नाम से ही पुकारा जानें लगा।

भामती और विवरण की विशेषताएँ

भामती	विवरण
१. श्रवणादि में विधिका अभाव।	श्रवण में नियम विधि।
२. जीवाश्रित अविद्या का विषय ब्रह्म जगत् का कारण है।	ईश्वर जगत् का कारण है।
३. अवच्छेदवाद।	प्रतिबिम्बवाद।
४. अविद्या का विषय ब्रह्म और आश्रय जीव है।	अविद्या का आश्रय और विषय ब्रह्म।
५. मन इन्द्रिय है।	मन इन्द्रिय नहीं।
६. श्रवणादि-संस्कृत मन से आत्म-साक्षात्कार।	महावाक्य से आत्म-साक्षात्कार।
७. अनेक अविद्याएँ।	एक अविद्या।
८. अनेक जीव।	एक जीव।
९. अनेक ईश्वर।	एक ईश्वर बिम्बस्वरूप।
१०. ईश्वर कल्पित है।	ईश्वर परमार्थ है।
११. विविदिषा के साधन यागादि।	ज्ञान के साधन यागादि।
१२. संन्यास में ज्ञान की अङ्गता अदृष्ट के द्वारा।	संन्यास में ज्ञान की अङ्गता दृष्ट-द्वारा है।

शंका—भामती-पक्ष में शंका होती है कि जीव को अविद्या का आश्रय मानने पर अविद्याऽवच्छिन्न चेतन को ही जीव का स्वरूप मानना होगा, फिर जीव को अविद्या की, अविद्या को जीव की परस्पर अपेक्षा होने से अन्योऽन्याश्रय दोष होता है।

परिहार—अन्योऽन्याश्रय दोष उत्पत्ति में है ? वा ज्ञप्ति में, वा स्थिति में ? दोनों के ही अनादि होने से प्रथम पक्ष का तो उत्थान ही नहीं हो सकता। द्वितीय पक्ष भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि अविद्या को चित्प्रकाश्य होने पर भी चेतन स्वप्रकाश होने से कभी अविद्या-प्रकाश्य नहीं हो सकता। शेष रहा तृतीय पक्ष, वह भी युक्तिसह नहीं, कारण कि यद्यपि अविद्या चेतन के आश्रित है, परन्तु चेतन तो अविद्या के आश्रित नहीं।

एवं अविद्या की स्थिति चेतनाधीन है, न कि चेतन की अविद्याधीन। अतः परस्पराश्रयत्व वा परस्पराधीनस्थितिकत्व-निबन्धन अन्योऽन्याश्रय दोष निरवकाश है।

अन्योऽन्याधीनता की अनुपपत्ति का समाधान भी सुकर है, क्योंकि समकालीन पदार्थों की भी अवच्छेद्याऽवच्छेदक-भावमात्र से अन्योऽन्याधीनता दृष्टचर है। जैसे घट और घटावच्छिन्न आकाश की, प्रमाण और प्रमेय की, इसी सिद्धान्त का पोषक अभियुक्त वचन है।

स्वेनैव कल्पिते देशे व्योम्नि यद्वद् घटादिकम्।
तथा जीवाश्रयाऽविद्यां मन्यन्ते ज्ञानकोविदः॥

वार्तिककार के मत से श्रवण में परिसंख्याविधि है। अविद्या से जीव भावापन्न होकर ब्रह्म जगत् का कारण है। शक्ति-लक्षणादि सम्बन्धों के बिना ही अचिन्त्य-शक्ति के आधार पर केवल शब्द ब्रह्म का बोधक होता है—

दुर्बलत्वादविद्या या आत्मत्वाद्बोधरूपिणः।
शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाद्विद्मस्त मोहहानतः॥
अगृहीत्वैव सम्बन्धमभिधानाभिधेययोः।
हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते सुषुप्ते बाधिताः परैः॥
जाग्रद्वन्न यतः शब्दं सुषुप्तौ वेत्ति कश्चन।
ध्वस्तेऽतो ज्ञानतोऽज्ञाने ब्रह्मास्मीति भवेत्फलम्॥
अविद्याघातिनः शब्दाद्याहं ब्रह्मेति धीर्भवेत्।
नश्यत्यविद्यया सार्धं हत्वा रोगमिवौषधम्॥
(बृ० वा० ३।४।८६०-८६३)

अर्थ—अविद्या दुर्बल है, कारण कि वह अनात्म होनें से मिथ्या है, वृत्यारूढ़ आत्मा ज्ञानस्वरूप है, साथ ही वह आत्मा होने के कारण सत्य है। अतः सत्य आत्म-स्वरूप ज्ञान के समक्ष दुर्बल अविद्या टिक नहीं सकती। जिस साक्षात्कार वृत्ति में आरूढ़ होकर आत्मतत्त्व अविद्या का नाशक है; वह शक्ति लक्षणा अथवा किसी अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा न रखकर शब्द मात्र से पैदा होती है। तब वृत्ति-द्वारा मोह के निवृत्त होने से उस आत्मा को हम साक्षात् करते हैं 'वयं आत्मानं साक्षात्कुर्मः'—ऐसा व्यवहार करते हैं, क्योंकि शब्द अचिन्त्यशक्तिक है। सुप्तोत्थापक वाक्य में सम्बन्ध-निरपेक्ष शब्द से ज्ञान का उदय देखा गया है। सुषुप्ति अवस्था में दूसरों से बोधन किये जाने पर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को न जानकर ही अर्थात् शब्दार्थ-सम्बन्ध-ज्ञान के बिना ही सुषुप्त पुरुष जागते हैं। वहाँ सुषुप्त पुरुष को ज्ञान सम्बन्ध-निरपेक्ष शब्द से ही मानना होगा, जाग्रत् अवस्था की तरह सुषुप्ति में कोई मनुष्य न शब्द को जानता है और न उसके सम्बन्ध को। अर्थात् वहाँ इन्द्रियों के उपरत होने के कारण श्रोत्र इन्द्रिय भी नहीं, ज्ञानाकार वृत्ति का उपादान अन्तःकरण अविद्या में लीन हो चुका होता है।

अतः शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष या अर्थ के साथ गृहीत सम्बन्ध की स्मृति सम्भव ही नहीं, फिर भी यह शब्द की अद्भुत शक्ति की महिमा है कि सुषुप्त पुरुष प्रबुद्ध हो जाता है, अतः शब्द की अचिन्त्य शक्ति से सम्बन्ध-निरपेक्ष महावाक्यों से जन्य 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ज्ञान से अज्ञान के निवृत्त होने पर मुक्ति रूप फल की प्राप्ति हो जाती है। अविद्या के घातक शब्द से 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक जो ब्रह्माकार वृत्ति होगी, वह भी अविद्या के साथ नष्ट हो जाती है। जैसे रोग को नष्ट करके औषधि स्वयं नष्ट हो जाती

है। स्वामी मधुसूदन ने गीता २।२९ श्लोक द्वितीय चरण 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' में यही कहा है—

"अथवा विना शक्ति विना लक्षणां विना सम्बन्धान्तरं सुप्तोत्थापकवाक्यवत् तत्त्वमस्यादिवाक्येन यदात्मतत्त्वप्रतिपादनं तदाश्चर्यवत्, शब्दशक्तेरचिन्त्यत्त्वात्।" ऐसा लिखकर "अयं च भगवदभिप्रायो वार्तिककारैः प्रपञ्चितः" ऐसा अन्त में लिखा है। ऐसा भगवदुक्त गीता के अध्याय २ श्लोक २९ के द्वितीय चरण का अभिप्राय बतलाया है। अतः सम्बन्ध-निरपेक्ष केवल शब्द-विशेष से अखण्ड साक्षात्कार होता है।

वार्तिककार विविदिषा संन्यास में केवल ब्राह्मण का अधिकार नहीं मानते, अपितु तीनों वर्णों का है। वार्तिक निबन्ध की मुख्य विशेषता दो बातों में है—वार्तिककार न तो प्रतिबिम्बवाद मानते हैं और न अवच्छेदवाद। उनके मत में व्याध-संवर्धित कुमार न्याय एवं कौन्तेय-राधेय न्याय से ब्रह्म ही अविद्या से जीवभाव को प्राप्त होता है।

इन तीनों निबन्धों से भिन्न वेदान्तियों की एक चौथी परम्परा है, जो पञ्चपादिका और वार्तिक के मध्य की है। पञ्चपादिका ने चतुःसूत्री भाष्य को नौ वर्णकों में विभक्त किया है। द्वितीय सूत्र का पञ्चम वर्णक, तृतीय सूत्र का षष्ठ सप्तम, चतुर्थ सूत्र का अष्टम नवम वर्णक भाष्य में ही स्पष्ट है। केवल प्रथम सूत्रस्थ भाष्य से वर्णक चतुष्टय की प्रतिपत्ति अवश्य दुष्कर है। पञ्चपादिका का यह स्तुत्य प्रयास है कि उसने प्रथम सूत्र के भाष्य से वर्णक चतुष्टय को ढूँढ़कर सम्यक् विभक्त किया। वर्णक-चतुष्टय-संग्राहक अभियुक्त वचन निम्नलिखित है—

अध्यासोऽन्यागतार्थत्वं, लाभश्चान्याऽधिकारिणः।
ब्रह्मणश्च विचार्यत्वं, चत्वारो वर्णका अमी॥

प्रथम वर्णक में—ब्रह्मात्मैक्यादि विषय प्रयोजनादि अनुबन्ध-चतुष्टय के दिग्दर्शन-पूर्वक अनर्थ-निवृत्ति लक्षण प्रयोजन के उपपादक अध्यास, तत्सम्बद्ध अध्यास की सामग्री, उसका खण्डन, समर्थन, अध्यास-करण, अविद्या उसका आश्रय और विषय ब्रह्म—इत्यादि प्रारम्भिक विषयों का वर्णन किया है।

द्वितीय वर्णक में ब्रह्म-मीमांसा धर्म-मीमांसा से गतार्थ नहीं—यह कहा है।

तृतीय वर्णक में सूत्रस्थ पदों की विस्तृत व्याख्या करते हुए ज्ञान-कर्म-समुच्चय के निराकरण-द्वारा कर्माधिकारी से विलक्षण ब्रह्म-विचार का अधिकारी बताया है।

चतुर्थ वर्णक में सामान्यतो ज्ञात होने पर भी विशेषतोऽज्ञात होने के कारण ब्रह्म की विचारणीयता का उपपादन करते हुए प्रथम वर्णक में संक्षेपतो वर्णित अनुबन्ध-चतुष्टय का विस्तृत वर्णन किया है।

द्वितीय सूत्र-पञ्चम वर्णक में ब्रह्म का तटस्थ-लक्षण और स्वरूप-लक्षण प्रतिपादित है।

तृतीय सूत्र षष्ठ-वर्णक में जगत्कारणता से उपक्षिप्त सर्वज्ञता की उपपत्ति के लिए ब्रह्म को सर्वज्ञ कल्पशास्त्र की कारणता का वर्णन किया है।

सप्तम वर्णक में ब्रह्म में शास्त्र वाक्यों की प्रमाणता का उपन्यास हुआ है।

चतुर्थ सूत्र के अष्टम वर्णक सिद्ध-वाक्य में अर्थ-बोधन का सामर्थ्य मानने पर भी ब्रह्म में शास्त्र प्रमाण नहीं हो सकता, इस आशंका का निराकरण किया गया है।

कतिपय वादियों के मतानुसार वाक्य में कार्यान्वित अर्थ की ही बोधकता है। अतः वेदान्त-वाक्य कर्मकाण्ड के ही अङ्ग हैं, स्वतन्त्र अद्वितीय ब्रह्म में उनका तात्पर्य नहीं—इस पूर्व पक्ष का युक्ति पूर्वक प्रत्याख्यान किया है। कुछ लोगों ने तृतीय सूत्रोक्त सर्वज्ञता के उपपादक सर्वज्ञकल्प शास्त्र की कारणता के वर्णन को पृथक् वर्णक नहीं माना, क्योंकि वह द्वितीय सूत्र प्रतिपादित लक्षण का ही अङ्ग है; अतः कथित द्वितीय तृतीय सूत्र में स्वतन्त्र षष्ठ वर्णक मानकर उससे लक्षणों के पृथक् प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं।

संक्षेप शारीरककार ने पञ्चपादिका की इसी शैली का अपने ग्रंथ में अनुसरण किया है। (देखिये—१ श्लोक २७ से ५७ तक) अतः प्रथम सूत्र में अध्यासादि वर्णक चतुष्टय का निरूपण पञ्चपादिका की देन है।

१. अध्यास तथा तत्सबद्ध सामग्री खण्डन-समर्थनादि का वर्णन किया है, संक्षेप शारीरक अ० १, श्लोक २७ से ५७ तक।

२. ब्रह्म-विचार की कर्तव्यता संक्षेप० अ० १ श्लोक ५८ (मीमांसितव्यमनयैव सद्द्वितीया) अ० १, श्लोक ५९ न च गतार्थमिदं प्रतिभाति नो। १-५६।

३. अधिकारी, उपससाद चतुष्टयसाधनो निशित। संक्षेप० अ० १, श्लोक ६५।

कुछ विचार वार्तिक एवं पञ्चपादिका से लेकर और कुछ अपनी ऊहा से जिस परम्परा को स्थापित किया गया है। इसके प्रस्थापक हैं—सर्वज्ञात्ममुनि, विद्यारण्य स्वामी। इनका विशेष झुकाव वार्तिककार की ओर है—

> वेदानुवचनादीनाम् ऐकात्म्यज्ञानजन्मने।
> तमेतमिति वाक्येन नित्यानां वक्ष्यते विधिः॥ (बृह० वा० सं० ३२१)
> यद्वा विविदिषार्थत्वं काम्यानामपि कर्मणाम्।
> तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः॥ (बृह० वा० ४।४।१०५२)

इन श्लोकों के द्वारा वार्तिककार ने प्रथम पक्ष यह बतलाया है कि विविदिषा में 'तमेतम वेदानुवचनेन' इस श्रुति द्वारा वेदानुवचनादि केवल नित्य कर्मों का विविदिषा में विनियोग है। द्वितीय पक्ष में केवल नित्य कर्मों का विनियोग नहीं, अपितु काम्य कर्म भी विविदिषा में विनियुक्त हैं, कारण कि फलाभिलाषा के परित्याग से वे भी नित्य कर्म के समान ही हो जाते हैं।

संक्षेपशारीरक में उक्त विविदिषा में काम्य कर्म का विनियोग वार्तिकोक्त द्वितीय पक्ष का ही अनुवाद है। विवरणनिबन्ध में वेदानुवचनादि का ज्ञान में विनियोग माना है। उसे महत्त्व न देकर वार्तिककार-मत का प्रदर्शन प्रमाणित करता है कि उनकी अधिक आस्था वार्तिक निबन्ध में ही थी। अन्यथा भामतीकार के विविदिषा-विनियोग पक्ष को वे कभी भी सम्मान न देते।

कतिपय वादों का स्पष्टीकरण

माया-अविद्या-भेदवाद

माया-अविद्या-भेदवाद अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है, क्योंकि विवरण और संक्षेपशारीरक आदि पुरातन ग्रंथों में उसका खण्डन किया गया है। रचनात्मक कार्य

की अपेक्षा विटघनात्मक कार्य सदा सरल रहा है। जिन ऋषियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा में माया-अविद्या का भेद प्रस्फुटित हुआ था, उनका भी वेदान्त-धरातल पर विशिष्ट स्थान है। उनका कहना है कि जीव और ईश्वर का भेद, उनकी उपाधियों के भेद पर ही आधृत है। माया और अविद्या का भेद न होने पर मायावान् (ईश्वर) तथा अविद्यावान् (जीव) का भेद क्योंकर सिद्ध होगा ?

मोक्ष का क्रम भी व्यावहारिक मर्यादा के अनुरूप ही स्थिर किया जाता है। नगर के बाहर जाने के लिए घर का तथा नगर का द्वार खुलना ही चाहिए। घर का द्वार खोलना मनुष्य के अपने हाथ में है, किन्तु नगर-द्वार का खोला जाना राजाज्ञा पर निर्भर है। इस संसार-नगर में प्रत्येक जीव अपने शरीर घर में वास करता है। संसार-द्वार माया के और शरीर-द्वार अविद्या के कपाटों से अवरुद्ध है। या यों कह दिया जाय कि जीव व्यष्टि और समष्टि दो प्रकार के बन्धनों से बँधा हुआ है। अविद्या व्यष्टि बन्धन और माया समष्टि बन्धन है। अपने घर के कपाट खोलने या व्यष्टि बन्धन (अविद्या) को तोड़ने में जीव स्वतन्त्र समझा जाता है, किन्तु नगर-द्वार खोलनें या समष्टि बन्धन (माया) को तोड़ने में परतन्त्र है। गृह-द्वार की कुञ्जी ज्ञान और नगर-द्वार की भक्ति है। आत्मज्ञान के द्वारा जीव अपने व्यष्टि-बन्धन को ही तोड़ सकता है, समष्टि-बन्धन तो ईश्वर-भक्ति से ही टूटेगा। इस प्रकार ज्ञान और भक्ति का समुच्चय मोक्ष का पूर्ण साधन है।

यहाँ यह सन्देह बिना हुए न रहेगा कि ज्ञानी के लिए भक्ति की कर्तव्यता का विधान करना सर्वथा मर्यादा-विरुद्ध है, क्योंकि ज्ञानी पर किसी प्रकार की भी कर्तव्यता लादी नहीं जा सकती। किन्तु थोड़ा-सा ही ध्यान देनें पर यह सन्देह निर्मूल हो जाता है, भगवान् कृष्ण ने कहा है—"तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते" (गी० ७।१७) अर्थात् मेरे भक्तों में ज्ञानी का विशिष्ट स्थान है, बिना किसी प्रकार की प्रेरणा[1] के ही यह मुझे भजता है और एकमात्र मुझमें भक्ति करता है। इससे यह स्पष्ट है कि ज्ञानी पर भक्ति की कर्तव्यता लादने की आवश्यकता ही नहीं रहती; वह अपने आप भक्ति प्रवण हो जाता है।

भगवद्गीता (५।१६) में कहा है—"ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः" यहाँ '-आत्मनः" पद से यह झलका दिया है कि अज्ञान व्यष्टि बन्धन है। आगे चलकर (गी० ७।१४) में कहा है—"दैवी ह्येषा गुणमयी माया"—यहाँ माया को दैवी कहकर माया को समष्टि बन्धन सूचित किया है, नहीं तो माया को जैवी कहना चाहिए था। दैवी नहीं। "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" (गी० ७।१४) यहाँ 'प्रपद्यन्ते' पद बड़े महत्त्व का है, इससे शरणागति का रहस्य ध्वनित होता है। यदि ज्ञान से ही माया की निवृत्ति विवक्षित होती, तब 'प्रपद्यन्ते' के स्थान पर 'प्रपश्यन्ति' दिया जाता। टीकाकारों का यह दृष्टान्त भी इसी सिद्धान्त का पोषक है कि जैसे मछुए के जाल में वे ही मछलियाँ फँसती हैं, जो उसके पैरों की ओर न जाकर विपरीत दिशा में भागती

---

[1] आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥ (श्रीमद्भा० १।७।१०)

हैं। वैसे ही ईश्वर के चरणों में आनेवाले (भगवच्छरणागत) भक्त कभी मायाजाल में नहीं फँसते।

सातवें अध्याय के ही २५वें श्लोक में भगवान् ने कहा है—"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" अर्थात् मैं सभी ऐरे-गैरे जीवों की दृष्टि में इसलिए नहीं आता कि योगमाया से आच्छन्न हूँ। मधुसूदन सरस्वती ने योगमाया का अर्थ किया है—"योगो मम संकल्पस्तद्वशवर्तिनी माया" विवरणकार ने भी पूर्वपक्ष में माया और अविद्या की यही विलक्षणता बताई है कि अविद्या सकल्पाधीन नहीं होती, किन्तु माया मायावी के संकल्पाधीन होती है। अपनी अनन्य भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् जब अपनी माया के लिए यह संकल्प करते हैं कि यह माया इस भक्त की दृष्टि से मुझे न छिपाये। तब भक्त भगवान् का दर्शन पाता है। अतः भगवान् के सत और चित् अंशों में आवरण न रहने पर भी अद्वयानन्द अंश में आवरण रहता है, उसकी निवृत्ति ही ज्ञान का प्रयोजन माना जाता है, अद्वयांश का आवरण पूर्णतया तभी नष्ट होता है, जब कि भक्ति से माया का निराकरण हो जाता है।

अध्यास का लक्षण

भाष्यकार श्रीशंकराचार्य ने अध्यास का अर्थ किया है—"स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः" यहाँ "परत्रावभासः"—यह अध्यास का लक्षण है, शेष पद अध्यास की सामग्री के प्रदर्शक हैं। रत्नप्रभाकार ने 'अवभास' शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ की हैं—(१) 'अवभासनमवभासः', (२) 'अवभास्यते वा'। प्रथम व्युत्पत्ति से शुक्ति-रजतादि-विषयक वृत्ति-ज्ञान का और दूसरी व्युत्पत्ति से शुक्ति-रजतादि का ग्रहण होता है। उक्त वृत्ति-ज्ञान को ज्ञानाध्यास तथा शुक्ति-रजतादि को अर्थाध्यास कहा जाता है। उक्त लक्षण-वाक्य में परत्र का अर्थ होता है–अयोग्य अधिकरण वा भिन्न-सत्ताक अधिष्ठान। इसीलिए कुछ विद्वानों ने अध्यास का लक्षण किया है–"अधिष्ठानविषमसत्ताकोऽवभासः" या "तदभाववति तत्प्रकारकोऽवभासः"। अधिकरणगत अयोग्यता की व्याख्या है—तदभावाधिकरणता और भिन्नसत्ताक का नामान्तर विषमसत्ताक है।

अर्थाध्यास छः प्रकार का होता है—(१) धर्माध्यास[1], (२) धर्म-सहित धर्मी का अध्यास[2], (३) सम्बन्धाध्यास[3], (४) सम्बन्ध-सहित सम्बन्धी का अध्यास[4], (५) अन्यतराध्यास[5], और (६) अन्योन्याध्यास[6]। दूसरे प्रकार से अध्यास के दो भेद किये जाते हैं—(१) स्वरूपाध्यास तथा (२) सम्बन्धाध्यास। सम्बन्धाध्यास का ही नामान्तर संसर्गाध्यास है। उक्त छः भेदों में प्रथम, द्वितीय और पञ्चम स्वरूपाध्यास

---

(१) देह के गौरत्व आदि और इन्द्रियों के बधिरत्व आदि धर्मों का आत्मा में अध्यास धर्माध्यास है।

(२) कर्तृत्व आदि धर्मों-सहित अन्तःकरणरूप धर्मी का आत्मा में अध्यास।

(३) शरीर आदि में आत्मा के तादात्म्यरूप सम्बन्ध का अध्यास।

(४) सम्बन्ध-सहित शरीर आदि अनात्म पदार्थ आत्मा में अध्यस्त होते हैं।

(५) आत्मा में अनात्मपदार्थों के स्वरूप का अध्यास होता है, अनात्मा में आत्मा का नहीं।

(६) लोहा और आग की भांति आत्मा-अनात्मा का परस्पर अध्यास।

के अन्तर्गत हैं। तृतीय संसर्गाध्यास में अन्तर्भुक्त है। चतुर्थ तथा षष्ठ संसर्गाध्यास और स्वरूपाध्यास का सम्मिश्रण है।

अध्यास स्थल पर अध्यस्त के धर्म अधिष्ठान के धर्मों को आवृत कर लिया करते हैं। जैसे आत्मा के चार विशेषण हैं—सत्, चित्, आनन्द और अद्वय। अनात्मा के भी चार विशेषण उसके विपरीत होते हैं—अनृत, जड, दुःख और सद्वय। अन्योन्याध्यास के द्वारा आत्मा के सत् और चित् विशेषणों ने अनात्मा के अनृत और जड विशेषणों को एवं अनात्मा के दुःख और सद्वय विशेषणों ने आत्मा के आनन्द और अद्वय विशेषणों को आवृत कर रखा है। इसी का नाम चिज्जड़-ग्रन्थि कहा करते हैं। यही पञ्चविध भेद भ्रमात्मक संसार का निदान है। पञ्चविध भ्रम और उसके निवारण का प्रकार पुरातन महापुरुषों से यों सुना गया है—

भेदभ्रम कर्तृभ्रम, संगभ्रम औ विकार।
ब्रह्मभिन्न जग सत्यभ्रम, पाँचों भ्रम संसार॥
बिम्ब-प्रतिबिम्ब औ रक्त स्फटिक घटाकाश गुणभार।
कनक कुण्डल दृष्टान्त से पाँचों भ्रान्ति निवार॥

इन्हीं का श्लोकानुवाद है—

भेदकर्तृत्वसंसर्गविकृतिविश्वसत्यता।
विभ्रान्तयो निराकार्या दृष्टान्तैः पञ्चभिः क्रमात्॥
बिम्बकप्रतिबिम्बोऽथ लोहितः स्फटिको मणिः।
घटाकाशश्च विज्ञेयो रज्ज्वहिर्हेमकुण्डलम्।

अर्थात् (१) जीव और ईश्वर दोनों भिन्न हैं—यह भेद भ्रान्ति है। इसकी निवृत्ति बिम्ब-प्रतिबिम्ब दृष्टान्त से हो जाती है। दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब मुख-रूप बिम्ब से भिन्न प्रतीत होता है। किन्तु ध्यान देने पर प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न नहीं ठहरता, क्योंकि दर्पण-जैसे स्वच्छ सघन द्रव्य में नेत्र की वृत्ति समा नहीं पाती, अपितु उससे टकराकर लौट पड़ती है और अपने मुख को ही ग्रहण करती है। उसीमें प्रतिबिम्बपने का भ्रम मात्र होता है। वस्तुतः बिम्ब ही प्रतिबिम्ब कहा जाता है, उनका कुछ भी भेद नहीं होता, इसी प्रकार ईश्वर और जीव का भी कोई भेद नहीं होता।

(२) आत्मा में कर्तृत्व आदि भ्रम की निवृत्ति रक्तस्फटिक दृष्टान्त पर ध्यान देने से हो जाती है। लाल फूल के सम्पर्क में होने मात्र से स्फटिक लाल प्रतीत होता है, वस्तुतः स्फटिक लाल नहीं होता, फूल लाल होता है। इसी प्रकार अन्तःकरण के सन्निधान मात्र से आत्मा में कर्तृत्व प्रतीत होने लग जाता है, वस्तुतः वह कर्तृत्व अन्तःकरण का धर्म है, आत्मा का नहीं।

(३) शरीर आदि में अहन्ता और गृह आदि की ममता आत्मा में प्रतीत होती है, उसके कारण आत्मा में जन्म-मरण प्रतीत होने लगता है, यही संसर्ग-भ्रम या संगभ्रम है। घटाकाश के दृष्टान्त का विश्लेषण करने से यह संगभ्रम दूर हो जाता है। घट के सम्बन्ध से आकाश में उत्पत्ति और नाश की प्रतीति होने लगती है, वस्तुतः आकाश निर्लिप्त है, उत्पत्ति-नाश से रहित है। इसी प्रकार शरीर के सम्बन्ध से आत्मा में अहन्ता-

ममता और जन्म-मरण प्रतीत होते हैं, वस्तुतः आत्मा असंग है, शरीर-सम्बन्धी नहीं और न जन्म-मरणवाला ही है।

(४) जैसे दूध का विकार (परिणाम) दही है, वैसे ही ब्रह्म का विकार यह जगत् है—इस भ्रान्ति का नाम विकारभ्रान्ति है। इसकी निवृत्ति रज्जु-सर्प दृष्टान्त का विभाग करने पर अपने-आप हो जाती है। रज्जूपहित चेतन की आच्छादिका अविद्या (तूलाविद्या) अन्धकार आदि दोषों के कारण विक्षुब्ध होकर सर्प के रूप में परिणत हो जाती है, अतः सर्प आदि अविद्या के विकार हैं, चेतन के नहीं। इसी प्रकार मूलाविद्या का ही विकार यह जगत् है, ब्रह्म का नहीं, ब्रह्म निर्विकार है।

(५) 'जगत् ब्रह्म से भिन्न है, सत्य है'—यह सत्यता-भ्रान्ति है। कनक-कुण्डल दृष्टान्त पर विचार करने से यह भ्रम दूर हो जाता है। सुवर्ण से आभूषणों का कुछ भी भेद नहीं। सुवर्ण से भिन्न न होने पर भी आभूषण भिन्न प्रतीत होते हैं, वैसे ही जगत् की सत्ता ब्रह्म से भिन्न नहीं।

अध्यास की सामग्री

धर्मी का सामान्य ज्ञान, त्रिविध दोष, (प्रमेय-दोष, प्रमातृदोष, प्रमाण-दोष) और आरोप्य-सजातीय वस्तु के संस्कार—ये तीन अध्यास के कारण माने जाते हैं। तार्किक चक्रवर्ती धर्मी के ज्ञान को कारण नहीं मानते, धर्मी के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष, उक्त दोष और संस्कार को ही हेतु मानते हैं। इनके मत में इदमाकार एवं अनिर्वचनीय रजताकार इन्द्रिय-जन्य मनोवृत्ति ही होती है, भ्रमवृत्ति नहीं, अतः भ्रम-स्थल पर अर्थाध्यास ही होता है, ज्ञानाध्यास नहीं।

धर्मिज्ञानवादियों के तीन मत हैं—एक मत इदमाकार वृत्तिरूप अधिष्ठान-ज्ञान मानता है, उससे रजत और रजताकार अविद्या-वृत्ति उत्पन्न होती है। दूसरा मत इदन्ता का द्विधा भान मानता है। इसमें प्रथम मत के समान धर्मिज्ञानरूप इदमाकार-वृत्ति तो है ही, किन्तु रजताकारवृत्ति में शुक्ति की इदन्ता या इदन्ता के संसर्ग का भान होने से भ्रमवृत्ति का "इदं रजतम्"—ऐसा ही आकार होता है। तीसरा मत इदमाकार धर्मिज्ञानरूप वृत्ति ही मानता है। उसी में अभिव्यक्त साक्षि-द्वारा कल्पित सर्प आदि का भान हो जाता है। भ्रमस्थल पर सर्प आदि के आकार की वृत्ति माननी निरर्थक है। यह मत श्री चक्रवर्ती के समान ही अर्थाध्यासमात्र मानता है।

उक्त तीनों मतों में द्वितीय और तृतीय मत युक्तिसंगत प्रतीत नही होते। इदन्ता का द्विधा भान अनुभव-विरुद्ध है। तृतीय मत वृत्ति नहीं मानता, अतः इस मत में संस्कार न बन सकने के कारण भ्रमस्थल में स्मृति कैसे होगी? प्रथम मत में तो रजत और इदं के तादात्म्य की लोक-प्रसिद्ध प्रतीति रजताभासक साक्षी तथा इदंभासक साक्षी के तादात्म्य से ही सम्पन्न हो जाती है, अतः इदन्ता का द्विधा भान मानना अनावश्यक है।

बन्धाध्यास में त्रिविध दोष का उपपादन

प्रमेयदोष—अध्यस्त और अधिष्ठान की सदृशता प्रमेयदोष है। आत्मा और अनात्मा की सदृशता का उपपादन वस्तुत्व और आन्तरत्व धर्मों के द्वारा निभ सकती

है। आत्मा में वास्तविक वस्तुत्व है, किन्तु अनात्मा में कल्पित वस्तुत्व, यह दूसरी बात है, इसी प्रकार देह आदि पञ्चकोषों में सापेक्ष आन्तरत्व और आत्मा में निरपेक्ष आन्तरत्व है।

प्रमातृदोष—अन्तःकरणदेशगत अज्ञान को विक्षेपशक्ति में विद्यमान प्रारब्ध रूप संस्कार प्रमातृदोष माना जाता है।

प्रमाणदोष—अविद्या को प्रमाण का दोष कहा जाता है, क्योंकि आत्मा में दूसरा कोई प्रमाण नहीं, स्वरूप ही प्रमाण है। अतः स्वरूपस्थ अविद्या ही प्रमाणदोष है।

संक्षेपशारीरककार ने प्रमेयगत सादृश्य-ज्ञान, प्रमाणदोष और आरोप्य के संस्कारों को अध्यास में कारण नहीं माना है[1]। उनका कहना है कि आत्मा में ब्राह्मणत्व आदि जातियों का अध्यास होता है, जाति का आत्मा में किसी प्रकार का सादृश्य नहीं बनता, क्योंकि "भूयोऽवयवसामान्ययोग" को सादृश्य पदार्थ माना जाता है। आत्मा और जाति—दोनों निरवयव हैं, इनमें उक्त सादृश्य कैसे बनेगा ? घटादि ज्ञानों में वेद्यत्व का अध्यास होता है। वहाँ करण और विषय में किसी प्रकार का दोष नहीं पाया जाता। हाँ, प्रमातृदोष अवश्य होता है, वह मोह है और मोह को अध्यास में कारण माना ही जाता है। इसी प्रकार शुक्ति और रजत का वैशिष्ट्य पहले अनुभूत नहीं था, अतः उसके संस्कार नहीं थे, फिर भी उसका अध्यास होता है। इसलिए सादृश्य-ज्ञान आदि तीनों अध्यास के हेतु नहीं माने जा सकते, अतः केवल अज्ञान ही अध्यास का हेतु है। प्रौढ़िवाद का सहारा लेकर संक्षेपशारीरककार ने कहा है कि यदि सादृश्य-ज्ञान आदि को अध्यास का कारण मानना आवश्यक ही हो, तब हम उनका उपपादन भी कर सकते हैं[2]। वस्तुतः एकमात्र अज्ञान अपने और समस्त अनात्म जगत् के अध्यास का हेतु होता है। अज्ञान को अपने अध्यास में भी दूसरे अज्ञान की वैसे ही आवश्यकता नहीं, जैसे कि भेद को, घटादि को एवं अपने को भिन्न करने में दूसरे भेद की आवश्यकता नहीं होती[3]।

अध्यास के प्रसिद्ध उदाहरण

वेदान्त-शास्त्रों में अध्यास के ये उदाहरण प्रसिद्ध हैं-(१) प्रतिबिम्ब, (२) स्वप्न, (३) माया, (४) गन्धर्वनगर, (५) शुक्ति-रजत और (६) मनोराज्य।

प्रतिबिम्ब

प्रतिबिम्ब को न तो छाया माना जा सकता है और न स्वतन्त्र द्रव्य। प्रतिबिम्ब विद्यारण्य स्वामी के मत में मिथ्या[4] और प्रकाशात्मयति के मत में सत्य माना जाता है। मिथ्या-पक्ष में आभास का ही नामान्तर प्रतिबिम्ब होता है।

१—सादृश्यधीप्रभृति न त्रितयं निमित्त-मध्यासभूमिषु जगत्यनुगच्छतीदम्।
ब्राह्मण्यजातिपरिकल्पनमात्मनीष्टम्, जात्या न साम्यमुपलब्धमिहास्ति किञ्चित्॥

२—सदृशांश पराग्विषयेषु चेद् भवति दोषवशाज्जगति भ्रमः।
भवतु तत्सकलं वदितुं वयं तदुपचारवशाद् दृशि शक्नुमः॥ (सं० शा० १।३६)

३—भेदं च भेद्यं च भिनत्ति भेदो, यथैव भेदान्तरमन्तरेण।
मोहं च कार्यं च बिभर्ति मोहः, तथैव मोहान्तरमन्तरेण॥ (सं० शा० १।५५)

४—"आभासत्वस्य मिथ्यात्वात्" (पंचदशी० तृप्ति० १४)।

प्रतिबिम्ब का उपादान कारण

प्रकाशात्मयति के मत में मुखावच्छिन्न चैतन्य अधिष्ठान और तद्गत तूला अविद्या प्रतिबिम्ब का उपादान कारण है। विद्यारण्यस्वामी के पक्ष में दर्पणावच्छिन्न चेतन अधिष्ठान तथा तद्गत तूला अविद्या उपादान कारण है।

शंका— जैसे तूला अविद्या के कार्यभूत रजत का शुक्ति के ज्ञान से नाश हो जाता है, वैसे ही मुख के पक्षान्तर में दर्पण के ज्ञान से प्रतिबिम्ब की निवृत्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान— तूला अविद्या की दो शक्तियाँ होती हैं—आवरण और विक्षेप। मुखादि के ज्ञान से आवरण शक्ति नष्ट हो जाती है किन्तु विक्षेप शक्ति बनी रहती है, जिसके आधार पर प्रतिबिम्बाध्यास भी बना रहता है।

शंका—उसी प्रकार शुक्ति-दर्शन के अनन्तर रजत की भी निवृत्ति नहीं होनी चाहिए ? एवं विदेह मुक्ति दशा में भी संसार बना ही रहना चाहिए।

समाधान—सर्वत्र विक्षेप शक्ति का अवशेष नहीं माना जाता। उसकी निवृत्ति में जहाँ कोई प्रतिबन्धक होता है, वहाँ ही उसका अवस्थान माना जाता है। जैसे जीवन्मुक्ति दशा में प्रारब्ध कर्म प्रतिबन्धक है, अतः विक्षेप शक्ति बनी रहती है, जिससे जीवनपर्यन्त संसार की अनुवृत्ति रहती है। विदेह मोक्ष में प्रारब्ध क्षीण हो जाने से विक्षेप शक्ति भी नष्ट हो जाती है, अतः संसार की अनुवृत्ति वहाँ क्योंकर होगी। शुक्ति-रजत स्थल पर विक्षेप शक्ति को ज्ञान से बचानेवाला कोई प्रतिबन्धक नहीं होता, अतः वहाँ शुक्ति के ज्ञान से अज्ञान की आवरण और विक्षेप दोनों शक्तियों का नाश हो जाता है। प्रतिबिम्बाध्यास-स्थल पर दर्पण आदि उपाधियों का सन्निधान प्रतिबन्धक होता है, अतः वहाँ विक्षेप शक्ति का नाश नहीं होने पाता, प्रतिबिम्ब की प्रतीति बनी रहती है।

शंका—जहाँ एक बार दर्पण को सामने से हटा दिया, वहाँ दर्पण को फिर सामने लाने पर उसमें प्रतिबिम्ब नहीं प्रतीत होना चाहिए, क्योंकि एक बार हटा देने से दर्पण का सन्निधान रूप प्रतिबन्धक निवृत्त हो गया, जिससे विक्षेप शक्ति भी समाप्त हो चुकी है।

समाधान—अविद्या में एक ही विक्षेप शक्ति नहीं रहती, अपितु अनेक होती हैं। एक शक्ति का एक बार नाश ही जाने पर भी दूसरी शक्तियों के आधार पर प्रतिबिम्ब का भान होता रहता है। उसी प्रकार एक बार के जागने से एक ही विक्षेप शक्ति का नाश होता है, अन्य विक्षप शक्तियाँ बनी रहती हैं, जिनके कारण स्वप्नाध्यास बार-बार होता रहता है।

प्रतिबिम्ब का कारण मूला अविद्या

मूलाविद्या को भी प्रतिबिम्ब का उपादान माना जा सकता है।

शंका—प्रतिबिम्ब को मूलाविद्या का कार्य मानने पर आकाश आदि के समान व्यावहारिक भी मानना पड़ेगा। फिर तो ब्रह्मज्ञान से पूर्व उसकी भी निवृत्ति नहीं होनी चाहिए।

समाधान—मूलाविद्या का जो कार्य अविद्या-अतिरिक्त किसी अन्य दोष से उत्पन्न होता है, वह प्रातिभासिक ही माना जाता है। आकाश आदि प्रपञ्च किसी अन्य दोष से

उत्पन्न नहीं होता, अतः व्यावहारिक है। किन्तु प्रतिबिम्ब दर्पण आदि के सन्निधानरूप दोषान्तर से जन्य है, अतः प्रातिभासिक है, ब्रह्मज्ञान से पूर्व भी उसकी निवृत्ति हो सकती है।

शंका—मूलाविद्या का कार्य मानने पर प्रतिबिम्ब का अधिष्ठान ब्रह्म ही मानना होगा, क्योंकि ब्रह्माश्रित अविद्या को ही मूलाविद्या कहा जाता है। फिर तो ब्रह्मज्ञान से पूर्व प्रतिबिम्ब की निवृत्ति कैसे होगी ?

समाधान—सर्वत्र अधिष्ठान-साक्षात्कार को ही अध्यास का निवर्त्तक नहीं माना जाता, अपितु कहीं दोष-नाश और विरोधी ज्ञान के हो जाने पर भी अध्यास की निवृत्ति देखी जाती है। जैसे रज्जु-सर्प स्थल पर सर्प-भ्रम का दण्ड-भ्रम से बाध होता है। स्वप्न का निद्रा-दोष के नाश से नाश होता है। एक स्वप्न का दूसरे स्वप्न से भी बाध हो जाता है।

शंका—विरोधि ज्ञान या दोष-नाश से कार्य का संकोच या कारण में लय हो सकता है, बाध तो अधिष्ठान के साक्षात्कार से ही होता है, अतः प्रतिबिम्ब का बाध ब्रह्मज्ञान से पहले कैसे होगा ?

समाधान—बाध का अर्थ होता है—मिथ्यात्व-निश्चय। मिथ्यात्व-निश्चय जैसे अधिष्ठान के साक्षात्कार से होता है, वैसे ही युक्ति और श्रुति से भी होता है। अतः ब्रह्मज्ञान से पूर्व भी प्रतिबिम्ब का बाध हो सकता है।

शंका—दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है, जल में वृक्षों का प्रतिबिम्ब देखा जाता है, किन्तु चेतन का अन्तःकरण आदि में प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं, क्योंकि रूपवान् पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब पड़ सकता है, नीरूप चेतन का नहीं।

समाधान—थाली में जल भरकर खुले आकाश में रखिए। उसमें अनन्त अपार आकाश का प्रतिबिम्ब स्पष्ट परिलक्षित होता है। यदि नहीं, तो उस थाली में सैकड़ों मील की गहराई किसकी है ? नीरूप आकाश के समान नीरूप चेतन का भी प्रतिबिम्ब क्यों न बनेगा ? शीशे में नील-श्वेत आदि रूपों का प्रतिबिम्ब देखा जाता है। रूप में रूप नहीं माना जाता, अतः नीरूप का प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष सिद्ध है। नीरूप ध्वनि का भी प्रतिध्वनि रूप प्रतिबिम्ब आकाश में पड़ता ही है।

प्रतिबिम्बवाद और जीव ईश्वर

कुछ आचार्यों ने शुद्ध चेतन को विम्ब माना है, ईश्वर और जीव दोनों को प्रतिबिम्ब कहा है, अन्तर केवल इतना ही है कि ईश्वर माया-प्रतिबिम्ब है और जीव अन्तःकरण-प्रतिबिम्ब। किन्तु इस मत में ईश्वर माया के दोषों से अछूता नहीं रह सकता, क्योंकि दर्पण आदि उपाधियों का पूर्ण प्रभाव प्रतिबिम्ब पर पड़ता देखा जाता है, दर्पण जैसा टेढ़ा-मेढ़ा, लम्बा-चौड़ा, मोटा-पतला होगा, वैसा ही प्रतिबिम्ब होगा। इस प्रकार ईश्वर में भी अपनी उपाधि माया के दोष अवश्य सम्भावित रहेंगे। इसीलिए अन्य आचार्यों ने ईश्वर को विम्ब और जीव को प्रतिबिम्ब माना है। बिम्ब को उपाधि के दोष कभी छू नहीं सकते। गगनचारी सूर्य जलादि उपाधियों के दोषों से सदैव दूर और बहुत दूर है। इस प्रकार ईश्वर भी नित्य निर्दुष्ट सिद्ध होता है।

संक्षेपशारीरक

स्वयं ग्रंथकार ने सं० शा० १।१० में संक्षेपशारीरक को शांकरभाष्य की वार्तिक माना है। शारीरक भाष्य के समान ही समन्वय, अविरोध, साधन और फलरूप चार अध्यायों में यह ग्रंथ भी विभक्त है। प्रथम अध्याय में ५६३, द्वितीय अध्याय में २४८ तृतीय में ३६६ और चतुर्थ में ६३ श्लोक हैं। संक्षेपशारीरक की इस समय चार टीकाएँ प्रकाशित हैं—(१) मधुसूदन सरस्वती (१६ शतक) की 'सार-संग्रह'[1], रामतीर्थ स्वामी की 'अन्वयार्थ-प्रकाशिका', नृसिंहाश्रम की 'तत्त्वबोधिनी' तथा अग्निचित् पुरुषोत्तम की 'सुबोधिनी'[2]। मधुसूदन सरस्वती की टीका पांडित्यपूर्ण है। अग्निचित् पुरुषोत्तम के नपे-तुले संक्षिप्त शब्दों में ग्रंथ का हृदय पूर्णतया खोल दिया गया है। रामतीर्थ की व्याख्या अन्वयार्थी छात्रों के बहुत काम की चीज है। नृसिंहाश्रम की व्याख्या भी सुन्दर है।

आचार्य शंकर से प्रचारित अद्वैतवाद का परिपोषण एवं परिवर्धन इस ग्रंथ का परम प्रयोजन है। आरम्भ के चार श्लोकों में पूर्ण प्रतिपाद्य विषय कह दिया गया है। 'वेदांतदर्शन' के प्रथम सूत्र में त्वं-पदार्थ रूप अधिकारी का निरूपण है। मुमुक्षु व्यक्ति में कर्तृत्वादि का अध्यास है। अध्यास-निवृत्ति के इच्छुक मुमुक्षु के लिए ब्रह्म-जिज्ञासा व्यर्थ है, यदि मुमुक्षु ब्रह्मस्वरूप नहीं। क्योंकि अन्य के ज्ञान से अन्य के अध्यास की निवृत्ति होगी कैसे ? अतः जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं। द्वितीय सूत्र में ईश्वर की जगत्कारणता के प्रतिपादन के व्याज से तत्पदार्थ का निरूपण हुआ है। तत्पदार्थ है—ब्रह्म; उसका स्वरूप एवं तटस्थ लक्षण दिखाकर जीव और ब्रह्म की एकता-प्रदर्शन द्वितीय सूत्र का तात्पर्य है। चतुर्थ सूत्र में जीव तथा ब्रह्म की ऐकान्तिक एकता प्रतिपादित है। तृतीय सूत्र में प्रमाण का उपन्यास है। इन सूत्रों के प्रतिपाद्य विषय को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) प्रमेय और (२) प्रमाण। प्रमेय भी तीन प्रकार का है—(१) त्वंपदार्थ, (२) तत्पदार्थ, (३) अखण्डार्थ। इन चारों तत्त्वों का प्रतिपादन संक्षेपशारीरक के आरंभिक चार श्लोकों से किया गया है। त्वं-पदार्थ और तत्पदार्थ ही इस ग्रंथ के विषय हैं, क्योंकि त्वं-पदार्थ अन्यथा ज्ञात और तत्पदार्थ विशेषतः अज्ञात है।

अधिकारी के निरूपण-प्रसंग में शम-दम आदि साधन-चतुष्टय का समर्थन किया है। इनके यम-नियम की व्याख्या विलक्षण है—

> "यमस्वरूपा सकला निवृत्तिस्तथा प्रवृत्तिः नियमस्वरूपा।
> निवर्तकादत्र यमप्रवृत्तिः प्रवर्तकात्स्यात् नियमप्रवृत्तिः ॥"

अर्थात् सर्व प्रकार प्राणि-पीड़ा और अनृतादि-वदन से निवृत्ति ही यम है एवं शौचादिरूप प्रवृत्ति ही नियम है। हिंसादि-निवर्तक शास्त्र यम एवं शौचादि-प्रवर्तक शास्त्र नियम हैं। इनके मत से हिंसादि-निवृत्तिपूर्वक शौचादि का अनुष्ठाता ही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है। निवृत्ति दो प्रकार की होती है—(१) बाह्य और (२) आन्तरिक। सर्वेन्द्रिय संयम बाह्य और सर्वदा कूटस्थ चैतन्य में अवस्थान आन्तरिक निवृत्ति है। आत्मस्वरूप में अवस्थिति ही यम-नियम का मुख्य प्रयोजन है। केवल इन्द्रियों और

---

[1] —चौखम्बा आदि कई स्थानों से प्रकाशित। [2] —आनन्दाश्रम, पूना से प्रकाशित।

मन के अवरोध से लाभ नहीं, क्योंकि किसी बाह्य विषय पर भी मन को एकाग्र किया जा सकता है। प्रत्यगात्मक प्रवणता और आत्मरूप में अवस्थिति ही प्रकृत में सार्थक है।

सत्ता—सर्वज्ञात्ममुनि व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ताओं का पार्थक्य मानते हैं। आकाशादिगत सत्यता गौण एवं आत्मगत सत्यता पारमार्थिक । आकाशादि की नित्यता व्यावहारिक एवं आत्मा की नित्यता पारमार्थिक। आकाशादि की शुद्धता व्यावहारिक एवं आत्मा की शुद्धता पारमार्थिक है। आकाशादि की सत्ता व्यावहारिक एवं आत्मा की सत्ता वास्तविक है। सत्य का ज्ञान से, ज्ञान का आनन्द से किसी प्रकार भेद नहीं, अतः जो सत्य है, वही ज्ञान है और वही आनन्द है—यह सिद्ध होता है।

"नित्यः शुद्धो वुद्ध-मुक्त-स्वभावः सत्यः सूक्ष्मः सन् विभुश्चाद्वितीयः।
आनन्दाब्धिर्यः परः सोऽहमस्मि प्रत्यग् धातुर्नात्र संशीतिरस्ति ॥'

विधि—संक्षेपशारीरककार ज्ञान में विधि नहीं मानते। इतना ही नहीं, शंकराचार्य जी से भी एक कदम आगे बढ़कर कुमारिलभट्ट का भी खण्डन करते हुए यह कह दिया है कि जब कर्मकाण्ड वाक्यों में भी सर्वत्र विधिवाक्यों का समर्थन नहीं होता, तो वेदान्तवाक्यों के विषय में कहना ही क्या ?

"अतो न वेदान्तवचःसु विद्यते, विधिर्नियोगो न च शब्दभावना।
न कर्मकाण्डेऽपि नियोगतोऽस्त्यसौ यतो निषेधेषु न विद्यते विधिः॥

अर्थात् विधिवाद का जो मूल क्षेत्र माना जाता है—कर्मकाण्ड। वहाँ भी सर्वत्र विधि नहीं सिद्ध होती फिर भला वेदांतवाक्यों में उसकी सम्भावना कैसे हो सकती है ? सर्वज्ञात्ममुनि के समय भट्टमत प्रबल था, अतः उसका निराकरण करना स्वाभाविक ही था। वेदांतवाक्य अपने ब्रह्मरूप सिद्धार्थ का बोध कराने में सर्वथा समर्थ हैं। अखण्ड, अक्रिय, ब्रह्म का प्रतिपादन करना वेदांतवाक्यों का परम प्रयोजन है :—

शक्नोति सिद्धमवबोधयितुं च वाक्यं—
शक्नोति कार्यरहितं वदितुं च वाक्यम्।
शक्नोत्यखण्डमवबोधयितुं च वाक्यं
शक्नोति मुक्तिफलमर्पयितुं च वाक्यम्॥ (१।५६२)

समस्त वेदांतवाक्य निष्क्रिय निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। यही स्वारसिक सिद्धांत है कि शुद्ध ब्रह्म में ही वेदांत का समन्वय है। यह सब प्रथम अध्याय में वर्णित है।

द्वितीयाध्याय—संक्षेपशारीरक के द्वितीय अध्याय में मत-मतान्तरों का निराकरण करके अद्वैत-तत्त्व का परिपोषण किया है। प्रमाण के विषय में विचार करते हुए कहा है—स्वप्रकाश वस्तु के लिए किसी प्रकार के प्रमाण की आवश्यकता नहीं। इसका स्पष्टीकरण आगे संक्षेपशारीरक की षष्ठी विशेषता में किया जायगा।

बौद्धमत से वैशिष्ट्य—जो लोग आक्षेप किया करते हैं कि अद्वितीय ज्ञानात्मतत्त्व को मान लेने पर विज्ञानवादी बौद्धों से कुछ विशेषता नहीं रह जाती, उन्हें सर्वज्ञात्ममुनि ने मुँह-तोड़ उत्तर दिया है :—

ननु मातृ-मान-विषयावगती-रपरस्परं प्रति विभागवतीः।
उपयन् भदन्तमुनिना सदृशः कथमेष वैदिकमुनिर्भवति॥ (२।२७)

अर्थात् किसी एक अंश की समानतामात्र से पूरे सिद्धान्त की समानता स्थापित नहीं की जा सकती। विज्ञानवादी ग्राह्य, ग्राहक तथा ग्रह को परस्पर संकीर्ण एक तत्त्व मानते हैं, किन्तु हमारे मत में कर्ता, करण, कर्म और क्रिया का परस्पर विरोध होने से अभेद नहीं माना जाता। दूसरी बात यह भी है कि विज्ञानवादियों का विज्ञान हमारा चित्तमात्र है, किन्तु हमारा विज्ञान स्थिर चेतन तत्त्व है। उनके मत का किसी अंश में भी हमारे मत से साम्य नहीं।

विवर्तवाद

आरम्भवादः कणभक्षपक्षः
सङ्घातवादस्तु भदन्तपक्षः।
साङ्ख्यादिपक्षः परिणामवादो
वेदान्तपक्षस्तु विवर्तवादः॥ (सं० शा० २।६२)

आरम्भवाद, परिणामवाद और संघातवाद का निराकरण करके विवर्तवाद की यहाँ स्थापना की गई है। वैशेषिकों के आरम्भवाद का निराकरण करते हुए कहा है कि वैशेषिक लोग कारण के गुणों से कार्यगत गुणों का जन्म मानते हैं। किन्तु जिस ईश्वर से जगत् की रचना मानी जाती है, उसमें रूप-रस आदि कुछ भी नहीं। यदि उपादान कारण या समवायिकारण के गुणों से ही कार्य के गुणों का आरम्भ वशेषिक मानते हैं, तो यह मानना भी संगत नहीं, क्योंकि परमाणुओं में द्वित्व नहीं, महत्त्व नहीं, फिर परमाणुओं से आरब्ध द्व्यणुक में द्वित्व संख्या कहाँ से आ गई? त्र्यणुक में महत्त्व कहाँ से आ गया?

सांख्य आदि का परिणामवाद भी यौक्तिक नहीं, क्योंकि जड़ प्रकृति इस प्रकार के विचित्र विश्व की रचना में सक्षम[1] नहीं। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" इस श्रुति-वाक्य के बल पर विकार मिथ्या और कारण सत्य प्रतीत होता है। परिणामवाद में ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि जैसा कारण, वैसा कार्य परिणामवाद में माना जाता है। बौद्धों का संघातवाद भी संघातयिता पुरुष के न होने से बन नहीं सकता। अतः विवर्तवाद ही निर्दोष सिद्धान्त स्थिर होता है।

दृष्टित्रय

आरोपदृष्टिरपवादकदृष्टिरेवं, व्यामिश्रदृष्टिरिति दृष्टिविभागमेनम्।
संगृह्य सूत्रकृदयं पुरुषं मुमुक्षुं, सम्यक् प्रबोधयितुमुत्सहते क्रमेण॥
आरोपदृष्टिरुदिता परिणामदृष्टिर्द्वैतोपशान्तिरपवादकदृष्टिरन्त्या।
मध्ये विवर्तविषया द्वयमिश्रदृष्टिः, व्यामिश्रदृष्टिरधरोत्तरभूमिभावात्॥
सं० शा० अ० २ श्लोक ८१-८२।

सं० शा० २।५८ में ब्र० सू० २।१।१३ सूत्र द्वारा परिणामवाद के अंगीकार का तात्पर्य वर्णन किया है कि परिणामवाद मन्दबुद्धि पुरुष के मन में शीघ्र घर कर लेता है, क्योंकि उसमें लोक-सिद्ध भेद का निराकरण किये बिना ही कारणाऽद्वैत माना है, अतः वह श्रौताऽद्वैत के प्रत्यासन्न है, परिपक्व बुद्धि के पुरुष का समाधान तो वस्तुतः विवर्तवाद-सूचक २-१-१४ सूत्र द्वारा किया गया है।

---

१. विचित्र रचना समीक्षाकारिता पर निर्भर है, वह चेतन में ही हो सकती है, प्रकृति में नहीं।

परिणामवाद को युक्ति-द्वारा असम्भव समझ लेनें पर स्वतः ही विवर्त-मति का उदय हो जाता है। निष्क्रिय कूटस्थ ब्रह्म का तात्त्विक अन्यथाभाव भला कभी होना सम्भव है ? क्या स्वप्न-द्रष्टा के स्वाप्न दृश्य वास्तविक विकार हो सकते हैं ? केवल श्रौताद्वैत की प्रत्यासत्ति परिणामवाद के स्वीकार करनें का कारण नहीं, अपितु परिणाम दृष्टि के बिना विवर्त-दृष्टि हो ही नहीं सकती। बिना विवर्त-दृष्टि के द्वैतोपशान्ति तथा समस्त द्वैतनिर्वर्तक अखण्डैकरस अद्वय ब्रह्म-दृष्टि का उदय होना सम्भव नहीं, अतः जैसे विद्यार्थी प्रथमा उत्तीर्ण होकर ही मध्यमा में प्रविष्ट होता है, मध्यमा परीक्षा को पास कर शास्त्री परीक्षा में प्रविष्ट हो सकता है। ठीक उसी प्रकार दृष्टि-त्रय का पारस्परिक सम्बन्ध है, क्रम से दृष्टित्रय की सहायता से मुमुक्षु को भली भाँति वास्तविक ब्रह्म-तत्त्व समझाने के लिए सूत्रकार का विशेष प्रयास है। इसी विषय का स्पष्टीकरण किया गया है।

परिणाम-दृष्टि का ही नामान्तर आरोप-दृष्टि है, इससे ब्रह्म में प्रपञ्चात्मकता प्रतीत होती है। द्वैतोपशान्ति, समस्त द्वैत-निर्वर्तिका अखण्ड-ब्रह्म साक्षात्कार रूप अपवादक-दृष्टि अन्तिम उत्तम दृष्टि है। इसको परिपूर्ण दृष्टि भी कहते हैं। आरोप-दृष्टि और अपवादक-दृष्टि की मध्यवर्तिनी विवर्तविषयक-दृष्टि-प्रपञ्च और प्रपञ्चाभाव दोनों से मिश्रित होने के कारण व्यामिश्र-दृष्टि कही जाती है, क्योंकि ब्रह्म में प्रपञ्च प्रतीत होता है, वस्तुतः ब्रह्म का प्रपञ्चात्मना परिवर्तन कथमपि सम्भव नहीं, अतः ब्रह्म का प्रपञ्चरूप अतात्त्विक है। अर्थात् प्रपञ्च मिथ्या है। जिस अधिकरण में जिस पदार्थ की प्रतीति हो रही हो वहाँ उसके त्रयकालिक निषेध का नाम ही मिथ्यात्व है। विवर्तदृष्टि मिथ्यात्वदृष्टि का अपर पर्याय है। अतः विवर्तदृष्टि में प्रपञ्च का संसर्ग और उसके निषेध दोनों का सम्पर्क बना रहता है, निषेध प्रसक्त पदार्थ का ही होता है। किसी अधिकरण में किसी पदार्थ की आपात प्रतीति ही प्रसक्ति है। बस विवर्तदृष्टि के उदय होने पर अपवादक-दृष्टि का प्रादुर्भाव सहज ही हो जाता है। इसमें केवल अखण्डैकरस ब्रह्म-तत्त्व ही भासता है। नाममात्र का भी द्वैत-संसर्ग शेष नहीं रहता। अत एव इसका द्वैतोपशान्ति नाम पड़ा है। इन तीनों दृष्टियों का पारस्परिक अवश्यम्भावि क्रम है, क्योंकि यह तीनों प्रथम मध्यम उत्तम भूमिका-स्वरूप हैं। पूर्व-भूमिका के आरोहणपूर्वक ही उत्तर-भूमिका का आरोहण हो सकता है, परीक्षा के दृष्टान्त से यह बात पहले ही साफ कर चुके हैं।

यहाँ आवश्यक ज्ञातव्य एक बात और है कि विवर्तवाद के दो भेद हैं—सृष्टि-दृष्टि और दृष्टि-सृष्टि। प्रथम पक्ष में त्रिविध सत्ता का अङ्गीकार है—ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता, प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता, शुक्ति-रजतादि एवं स्वाप्न-पदार्थों की प्रातिभासिक सत्ता है। अर्थात् व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक दोनों पदार्थों का वाध होना अनिवार्य है, क्योंकि वे चेतन के विवर्त हैं, अर्थात् आतात्त्विक अन्यथाभूत हैं, मिथ्या हैं। केवल अन्तर इतना ही है कि व्यावहारिक पदार्थ का वाध उसी समय होगा, जव प्रमेय के साथ प्रमाता का भी ब्रह्म-साक्षात्कार से बाध होगा। प्रातिभासिक पदार्थों का वाध प्रमाता के बाध के बिना भी हो सकता है, अतः सति प्रमातरि बाध्यत्व और प्रमात्रा सह वाधितत्त्व अर्थात् प्रमाता के रहते ही वाधित होना और प्रमाता के साथ ही वाधित होना ही क्रमशः प्रातिभासिक और व्यावहारिक पदार्थ का लक्षण है।

'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' ब्र० सू० २।२।२९, इस सूत्र में वैधर्म्य शब्द का यही अभिप्राय है। अर्थात् स्वप्न पदार्थों में प्रमातृ-सद्भाव-समानकालीन बाध्यता है, जाग्रत् पदार्थों में ऐसा नहीं, क्योंकि ब्रह्म-साक्षात्कार से प्रमातृ-प्रमेय-प्रमाणादि समस्त जाग्रत् जगत् का युगपत् बाध होता है। इसी अभिप्राय को संक्षेपशा० २-३३ में कहा है—

न प्रमातरि सति प्रबाध्यते, जागरः स्वप्नदृष्टवस्तुवत् ।
मातृमानविषयोपलब्धिभिः, साकमेव तमसो निराकृतेः ॥

अर्थात्—प्रमातरि सति प्रबाध्यत्व ही जाग्रत् प्रपञ्च का व्यावहारिकत्व है, क्योंकि स्वप्न-दृष्ट वस्तु की तरह उसका प्रमाता के रहते बाध नहीं होता, अपितु ब्रह्म-साक्षात्कार से अविद्या और अविद्या के कार्य प्रमाता प्रमेय प्रमिति का युगपत् ही बाध होता है। अतः कल्पित (मिथ्या) स्वीकार कर लेने पर भी जाग्रत् और स्वप्न प्रपञ्च दोनों के साम्य की शंका निराधार है।

द्वितीय दृष्टि-सृष्टि पक्ष के दो भेद हैं—दृष्टि-सम-समया सृष्टि। प्रतीति के सम काल ही प्रतीति के विषय घटादि का सर्जन होता है, अतः घटादि पदार्थ ज्ञातसत्ताक ही हैं, उनकी अज्ञात सत्ता नहीं—यह कल्पतरुकार का मत है। द्वितीय भेद दृष्टिरेव दृष्टि है अर्थात् दृष्टि-व्यतिरिक्त सृज्यमान पदार्थों की सत्ता ही नहीं होती, केवल दृष्टि ज्ञान-स्वरूप चैतन्य ही है। उससे व्यतिरिक्त जगत् का सर्वथा अभाव है। उसी की जगदाकार प्रतीति योगाभिगत विकल्प वृत्ति, प्रतिभासक शश-शृङ्ग, वन्ध्यापुत्र आदि के समान है।

इसी को अजातवाद कहते हैं। इस पक्ष की मुख्य युक्ति है—कतिपय दार्शनिक कार्य की उत्पत्ति मानते हैं, वह बन नहीं सकती। कार्य की उत्पत्ति किसी कारण से मानोगे या बिना कारण के? यदि कारणान्तर से, तो उसकी भी कारणान्तर से और उसकी भी कारणान्तर से—इस प्रकार निरवधिक अनवस्थिति कारण-परम्परा-कल्पनारूप अनवस्था होगी। बिना कारण के उत्पत्ति मानना अनुभव-विरुद्ध है। यदि ऐसा माना जाय तो कार्य में कादाचित्कता न बन सकेगी, सदा ही कार्य के उत्पाद वा अनुत्पाद की आपत्ति होगी। अतः अपवादक-दृष्टि का उदय विवर्त-दृष्टि के बिना और विवर्त-दृष्टि का उद्भव आरोप-दृष्टि के बिना सम्भव नहीं। अतएव संक्षेपकार ने कहा है—

परिणामबुद्धिमुपमृद्य पुमान् विनिवर्तयत्यथ विवर्तमतिम् ।
उपमृद्य तामपि पदार्थधिया परिपूर्णदृष्टिमुपसर्पति सः ॥ (२-८४)

प्रतिबिम्बवाद

आचार्य सर्वज्ञात्ममुनि प्रतिबिम्बवादी हैं। इनके मत में अविद्या में चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर और अन्तःकरण में चित्प्रतिबिम्ब जीव कहलाता है। इनके मत में अज्ञान एक ही है। जो लोग आपत्ति करते हैं कि जब समस्त जीवों का अज्ञान एक ही है, तो एक जीव के ज्ञानी हो जाने पर सभी जीव ज्ञानी हो जाने चाहिएँ? उन लोगों को उत्तर दिया गया है कि जैसे अनेक अनित्य व्यक्तियों में एक नित्य जाति रहती है, जो-जो व्यक्ति नष्ट होती जाती है उस-उसको छोड़कर जाति अन्य व्यक्तियों के आश्रित टिकी रहती है। वैसे ही अनेक व्यक्तियों में एक अज्ञान रहता है, जो-जो व्यक्ति ज्ञानी होता जाता है,

उस-उसको छोड़कर अन्य व्यक्तियों में अज्ञान बना रहता है। एक के ज्ञानी हो जाने पर भी सभी ज्ञानी नहीं होते[1]।

अनेक अज्ञान और अनेक जीववाद भी (सं० शा० २।१३३ में) दिखाया है। किन्तु अल्पश्रुत व्यक्तियों के इस मत का निराकरण कर दिया है। किसी-किसी मत में अज्ञान एक होने पर भी उसके कार्य अनन्त हैं। कुछ लोगों का कहना है कि जैसे आकाश में पक्षी का भाव और अभाव दोनों रहते हैं। वैसे ही एक शुद्ध ब्रह्म में अज्ञान है भी और नहीं भी। अज्ञान एक होने पर भी सांश है, ज्ञान से उसका एक अंश नष्ट हो जाता है और अंशान्तर शेष रह जाता है, अतः बद्ध-मुक्त व्यवस्था बन जाती है। दूसरा मत है कि ईश्वर बद्ध जीवों के प्रति मायाजाल फैलाता है और मुक्त पुरुषों के प्रति उसे समेट लेता है। माया का संकोच और विकास स्वाभाविक है। परमार्थ-दृष्टि से एक ही अखण्ड वस्तु सत् है, बद्ध-मुक्त-व्यवस्था अविद्या का विलासमात्र है।

अनेक मत-मतान्तरों के प्रदर्शन से यह सुव्यक्त हो जाता है कि आचार्य सर्वज्ञ-मुनि के समय विशिष्टाद्वैत, भेदाभेद और द्वैतवाद का खूब प्रसार था। आचार्य की दृष्टि में परमार्थतः माया की सत्ता नहीं, क्योंकि ज्ञान में अज्ञान टिक नहीं सकता। ज्ञान अपरिच्छिन्न (देश-काल-परिच्छेद शून्य) है। अतः ज्ञान के किसी देश में किसी काल में भी अज्ञान नहीं रह सकता। ब्रह्मस्वरूप में माया का तीनों कालों में अभाव है—यह पारमार्थिक सिद्धान्त है।

अवतारवाद

सर्वज्ञात्ममुनि के मत में अवतार साधारण जीवों से पृथक् होते हैं। जीव कर्मायत्त और अवतार वशीकृतकर्मा होते हैं। भगवान् अपनी इच्छा से शरीर धारण कर अवतीर्ण होते हैं और जीव कर्मों के वशवर्ती होकर शरीर-परिग्रह करते हैं। इस प्रसंग में सर्वज्ञात्ममुनि का सिद्धान्त शंकराचार्यजी के सिद्धान्त के अनुरूप है। अवतारवाद के सम्बन्ध में संक्षेपशारीरक के २।१७९–१८३ श्लोक द्रष्टव्य हैं।

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय में साधन-विषयक[2] विचार प्रस्तुत किया गया है। तत्त्वमस्यादि वाक्यों का विचार अन्तरङ्ग साधन है। इनके मत में यज्ञादि-कर्म चित्तशुद्धि के कारण हैं—

> यज्ञादि-क्षपित-समस्त-कल्मषाणां पुत्रादित्रयगतसङ्गविवर्जितानाम्।
> संशुद्धे पदयुगलार्थतत्त्वमार्गे प्रायेणोद्भवति हि जन्मनीह विद्या॥
> (सं० शा० ३।३४८)

---

[1] —अज्ञानं सकलभ्रमोद्भवनकृत् पिण्डेषु सामान्यवत्
जीवानां प्रतिबिम्ब-कल्प-वपुषां बिम्बोपमे ब्रह्मणि।
विद्वांसं पुरुषं जहाति, भजते विद्याविहीनं नरं
नष्टानष्टमिवात्मपिण्डमधुना जातिस्तथैके जगुः॥ (२।१३३)

[2] —द्र० सं० शा० ३।३

बहिरङ्ग साधन भी ईश्वरार्पित बुद्धि से अनुष्ठित होने पर चित्त-शुद्धि के कारण होते हैं। संन्यास भी ज्ञान के लिए आवश्यक है :—

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ।। (सं० शा० ३।३६३)

अर्थात् ऐसा परिव्राजक ब्राह्मण का और धन नहीं जैसा कि एकता (निस्सहायता) समता, सत्यता, सदाचार, मर्यादापालन, अभयदान, आर्जव और कर्मों से उपरति। वैराग्य-उत्पादन के लिए मार्मिक वचन का उद्धरण दिया है :—

कि ते धनेन किमु बन्धुभिरेव वा ते किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं पितामहस्ते क 'गतः पिता च ।।
(सं० शा० ३।३६५)

चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ अध्याय में फल (मुक्ति) का विचार किया है। सगुण विद्या का फल ब्रह्मलोक-प्राप्ति है। सगुण-विद्या क्रम-मुक्ति का सोपान है। किन्तु अद्वैत आत्मज्ञान हो जाने पर लोकान्तर-प्राप्ति नहीं होती। जीवन्मुक्त[1] अवस्था में स्थित हो जाना ही निर्गुण ब्रह्म-विचार का फल है। क्रियमाण और संचित कर्म ज्ञानोत्पत्ति से विनष्ट हो जाते हैं, केवल प्रारब्ध कर्मवश शरीर रहता है। कैवल्य में ज्ञानी ब्रह्मस्वरूप होकर स्थिर हो जाता है।

संक्षेपशारीरक की कुछ और विशेषताएँ

पहली विशेषता—"आत्मा व अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः" (बृह० २।४।६) यहाँ श्रवण-विधि के पक्ष में संक्षेपशारीरक की अपनी विशेषता यह है कि श्रवण में प्रकटार्थकार अपूर्व विधि और वार्तिककार परिसंख्या विधि मानते हैं। नियम विधि-वादी पाश्च आचार्यों में विवरणकार[2] प्रकाशात्मयति और संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि मुख्य हैं। इनमें भी यह अन्तर है कि विवरणकार आत्म-साक्षात्कार को श्रवण का फल मानते हैं। उनके मत में श्रवणादि-सहकृत महावाक्य से आत्म-साक्षात्कार होता है। परन्तु संक्षेपशारीरककार तो केवल महावाक्य से ही आत्म-साक्षात्कार मानते हैं। श्रवणादि का उपयोग असम्भावना आदि प्रतिबन्धों की निवृत्तिमात्र में होता है। विवरणकार आदि का कहना है कि अपरोक्ष वस्तु में असम्भावना आदि सम्भावित नहीं, किन्तु संक्षेप-

---

१—तस्माज्जीवन्मुक्तरूपेण विद्वान्, आरब्धानां कर्मणां भोगसिद्धये।
स्थित्वा भोगं ध्वान्तगन्धप्रसूतम्, भुक्त्वाऽत्यन्तं याति कैवल्यमन्ते ।।

२—"ननु श्रोतव्य इति विधेर्मोक्षसाधनब्रह्मात्मविज्ञानाय वेदान्तवाक्यविचारं साधनचतुष्टयस्य विधातुं न शक्नोति श्रवणादीनां विषयावगमनं प्रत्यन्वयव्यतिरेकसिद्धिसाधनत्वात्। न चावघातादिवदुभयार्थता संभवति, दृष्टादृष्टप्रकारद्वयसाध्यापूर्ववद् इहादृष्टसाध्यस्याभावात्, आत्मावगमस्य दृष्टोपायमात्रसाध्यत्वात्। नैतत् सारम् आत्मतत्त्वापारोक्ष्यस्य सर्वादृष्टसाध्यत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्, अवघातादिवदुभयार्थतया विधानोपपत्तेः" (विवरण पृ० ४ लाजरस ऐण्ड कं० सं० १८८२)।

शारीरककार ने भच्छु (सं० अ० १, श्लो० १४-१५-१६-१७) मन्त्री का दृष्टान्त देकर यह सिद्ध कर दिया कि अपरोक्ष वस्तु में भी असम्भावना आदि सम्भावित हैं। उनकी निवृत्ति में श्रवणादि का उपयोग होता है[1]।

दूसरी विशेषता—जगत् का उपादान शुद्ध ब्रह्म है ? या ईश्वर ? अथवा जीव ? इन पक्षो में (१) संक्षेपशारीरककार ने प्रथम पक्षक का समर्थन[2] किया है। कहा है कि "आत्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० २।१।१) आदि श्रुतियों में विशिष्ट-वाचक आत्मा आदि शब्दों की शुद्ध ब्रह्म में लक्षणा कर लेनी चाहिए।

(२) विवरणकार ने माया-विशिष्ट चेतन को उपादान कारण माना है। उनका आशय यह है कि संक्षेपशारीरककार ने जो शबल[3] (विशिष्ट चेतन)में जगत् की कारणता का निषेध किया है, वह माया-विशिष्ट (माया-प्रतिबिम्ब) चेतन में उपादानकारणत्व का निरास किया है, बिम्बभूत ईश्वर चेतन में नहीं। इसीलिए संक्षेपशारीरक के प्रथमाध्याय के अन्त (१।५५१) में कहा है—जगदुपादानत्व तत्पदार्थभूत ईश्वर में वृत्ति है।

(३) माया-विद्या-भेदवादियों में कुछ लोग आकाशादि की सृष्टि में ईश्वर को तथा लिङ्गशरीर, उसके धर्मों और सुखादि की रचना में जीव तथा ईश्वर दोनों को उपादान मानते हैं।

(४) दूसरे विद्वान् लिङ्गशरीर तथा अन्तःकरण आदि का उपादान जीव मानते हैं।

(५) माया-विद्या के अभेदवादियों की एक टोली भी अन्तःकरण आदि का जीव के साथ तादात्म्य प्रतीत होने के कारण अन्तःकरण आदि का उपादान जीव को ही कहती है।

(६) कुछ अन्य विद्वानों का कहना है कि सम्पूर्ण व्यावहारिक पदार्थों का उपादान ईश्वर तथा प्रातिभासिक पदार्थों का उपादान जीव है।

(७) ईश्वर-सहित समस्त प्रपञ्च का उपादान कारण एकमात्र एक जीव है, वही अज्ञान-वश स्वप्न द्रष्टा के समान समस्त जगत् की कल्पना अपने में कर लिया करता है—ऐसा भी कुछ आचार्यों का मत है।

तीसरी विशेषता—कारणतावाद में पदार्थ-तत्त्वनिर्णयकार ने चेतन के समान ही माया को प्रपञ्च का उपादान बताया है। उन्होंने युक्ति दी है कि प्रपञ्च में माया की जड़ता अनुस्यूत है, सदैव उपादान का धर्म ही कार्य में अनुस्यूत पाया जाता है, अतः माया

---

[1] १—ऊहापोहात्मिका चित्तक्रियैव श्रवणं विधेः। अपरोक्षं परोक्षं वा नाऽमानस्यास्य तत्फलम् ॥
तस्मात्पुंदोष तात्पर्यभ्रान्तिसंस्कारशान्तये। नियमोऽस्येति सङ्क्षेपशारीरककृतो विदुः ॥
(वेदान्तसूक्तिमञ्जरी १०-११)

[2] २—साभासमेतदुपजीव्य चिदद्वितीया, संसारकारणमिति प्रवदन्ति धीराः।
साभासमेतदिति संसृतिकारणत्वे, द्वारं परं भवति कारणता दृशस्तु ॥ (सं० १।३२३)

[3] ३—शबलताकवलीकृततावशात्, परमचेतनतैव निगद्यते।
शबलमात्मपदेन न कथ्यते, शबलमात्मनि वृत्तिनिबन्धनम् ॥ (सं० शा० १।३२६)

भी प्रपञ्च का उपादान है। संक्षेपशारीरककार ने शुद्ध ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण माना है—

निमित्तं च योनिश्च यत्कारणं तत्, परब्रह्म सर्वस्य जन्मादिभाजः।
इति स्पष्टमाचष्ट एषा श्रुतिर्नः, कथं सिद्धवल्लक्षणं सिद्धिबाह्यम्॥
(सं० शा० १।५३२)

लोक में चेतन किसी कार्य का भी उपादान नहीं देखा जाता, फिर समस्त प्रपञ्च का वह उपादान कैसे होगा? इस आक्षेप का समाधान (सं० शा० १।५४५ में) किया है—

उपादानता चेतनस्यापि दृष्टा, यथा स्वप्नसर्गे विचित्रे प्रतीचः।
यथा चोर्णनाभस्य सूत्रेषु पुंसां, यथा केशलोमादिसृष्टौ च दृष्टा॥

अर्थात् चेतन में भी उपादानता देखी गई है, जैसे स्वप्न-सृष्टि की उपादानता प्रत्यगात्मा में, जाले की उपादानता मकड़ी में, केशलोम आदि की उपादानता पुरुष में देखी जाती है। माया या अज्ञान केवल द्वारमात्र है, उपादान कारण नहीं—

अज्ञानतज्जघटना चिदधिक्रियायां द्वारं परं भवति नाधिकृतत्वमस्याः।
नाचेतनस्य घटतेऽधिकृतिः कदाचित् कर्तृत्वशक्तिविरहादिति वक्ष्यते हि॥

अर्थात् अज्ञान और उसके कार्य (अध्यास) का ब्रह्म की उपादानता के सम्पादन में ही उपयोग है, अचेतन अज्ञान कारण नहीं बन सकता। उनका हृदय यह है कि अज्ञान प्रपञ्च का उपादान नहीं फिर भी अज्ञान की जड़ता का प्रपञ्च में वैसे ही अनुगमन बन जाता है, जैसे मृत्तिका की श्लक्षणता (चिकनाहट) घटादि में अनुस्यूत हो जाती है।

चौथी विशेषता—ईश्वर और जीव का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न का उत्तर भी दार्शनिकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से दिया है। सिद्धान्तलेशसंग्रह में जीव-ईश्वरवाद के आठ पक्ष प्रस्तुत किये हैं:—

(१) ईश्वर के प्रतिबिम्बवादियों में प्रकटार्थकार का कहना है कि अनादि, अनिर्वचनीय, चिन्मात्र-सम्बन्धिनी भूत-प्रकृति को माया कहा जाता है और उसके आवरण-विक्षेप शक्ति-युक्त प्रदेश को अविद्या। माया में प्रतिबिम्ब ईश्वर तथा अविद्यागत प्रतिबिम्ब जीव कहा जाता है।

(२) विद्यारण्य स्वामी ने पञ्चदशी के तत्त्वविवेक प्रकरण में कहा है कि त्रिगुणात्मिका मूलप्रकृति के शुद्ध सत्त्व-प्रधान अंश को माया और मलिन सत्त्व-प्रधान अंश को अविद्या कहते हैं। माया में प्रतिबिम्ब ईश्वर और अविद्या में प्रतिबिम्ब जीव होता है।

(३) कुछ आचार्यों का कहना है कि एक ही मूल प्रकृति विक्षेप अंश की प्रधानता से माया कहलाती है, माया ईश्वर की उपाधि है, वही प्रकृति आवरण अंश की प्रधानता से अविद्या कही जाती है, जो कि जीव की उपाधि है।

(४) संक्षेपशारीरककार का मत है—"कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः" इस श्रुति के अनुरूप अन्तःकरणरूप कार्य में प्रतिबिम्ब जीव तथा अविद्या रूप कारण में प्रतिबिम्ब ईश्वर[1] होता है। सुषुप्ति अवस्था में अन्तःकरण अपने कारण अज्ञान में

---

[1] १—मायोपाधेरद्वयस्येश्वरत्वं कार्योपाधेर्जीवता च प्रतीचः।
मिथ्यैव स्याद् बन्धुजीवप्रसूनसम्पर्कोत्था रक्ततेवाभ्रकादेः॥ (सं० शा० ३।१४८)

विलीन हो जाता है, तब वहाँ जीव की सत्ता क्योंकर मानी जा सकेगी ? इस शंका का निराकरण करते हुए कहा है कि सुषुप्ति में भी अन्तःकरण सर्वथा विलीन नहीं होता, सूक्ष्म रूप में विद्यमान[1] ही रहता। स्थूल अन्तःकरण के समान ही सूक्ष्म भी जीव की उपाधि माना जाता है।

(५) पाँचवाँ पक्ष विद्यारण्य स्वामी ने चित्रदीप में प्रस्तुत किया है कि जलाकाश के समान जीव और मेघाकाश के समान ईश्वर। जैसे मेघस्थ नीहार-कणों में आकाश के प्रतिबिम्ब को मेघाकाश कहते हैं, वैसे ही मायागत अनन्त बुद्धि-वासनाओं में चेतन का प्रतिबिम्ब ईश्वर कहलाता है। इस ईश्वर को आनन्दमय कोश भी कहा जाता है।

कुछ विद्वानों ने इस मत पर कटाक्ष करते हुए कहा है कि बुद्धि-वासनाओं के प्रतिबिम्ब को न तो ईश्वर कहा जा सकता है, और न उसे आनन्दमय कोश, क्योंकि केवल माया एवं केवल बुद्धि-वासनाओं को तो ईश्वर की उपाधि माना नहीं जाता, बुद्धिवासनाओं के सहित माया को ही उपाधि माना जाता है। वहाँ वासनाओं का उपाधिकोटि में प्रवेश निरर्थक है। आशय यह है कि ईश्वर में सर्वज्ञता लाने के लिए ही सर्व वासनाओं को उपाधि-कक्ष में रखा जाता है, किन्तु मायागत सत्त्व अंश की सर्वगोचर वृत्ति से ही सर्वज्ञता सम्पन्न हो जाती है। समस्त वासनाओं में एक प्रतिबिम्ब भी वैसे ही सम्भावित नहीं, जैसे कि मेघस्थ अनेक जल-कणों में एक प्रतिबिम्ब।

यहाँ विचारणीय विषय यह है कि वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य जी ने कहा है–
जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा। अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥
इस प्रकार जीव, ईश्वर और शुद्ध ब्रह्म त्रिविध चेतन माननेवालों का वेदांत में बहुमत है। विद्यारण्य स्वामी ने चित्रदीप में चतुर्विध चेतन और ब्रह्मानन्द प्रकरण में स्थूल आदि समष्टि-व्यष्टि उपाधियों के भेद से छः प्रकार का चेतन कहा है—विश्व, तैजस, प्राज्ञ-त्रिविध जीव तथा विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर त्रिविध ईश्वर। विद्यारण्य स्वामी ने ही चित्रपट के दृष्टान्त से ब्रह्म, ईश्वर, सूत्रात्मा एवं वैराज नामक चतुर्विध मुख्य चेतन तथा पञ्चम चिदाभास जीव माना है। अर्थात् चित्रपट की चार अवस्थाएँ देखी जाती हैं— (१) शुद्ध निर्मल अवस्था, जब कि वह दूध-जैसा स्वच्छ होता है। (२) घट्टित अवस्था जब कि उस पर चावल आदि का माँड़ चढ़ाया जाता है कि वह कड़ा हो जाय। (३) लांछित अवस्था, जब कि घट्टित वस्त्र पर अभीष्ट चित्रों के अनुरूप रेखाएँ खींची जाती हैं, (४) रंजित अवस्था, जब कि खींची रेखाओं के मध्य में रंग भर देने से विविध चित्र प्रस्फुटित हो उठते हैं। ठीक उसी प्रकार चेतन की (१) शुद्ध ब्रह्मावस्था, जब कि वह सहज स्वच्छ होता है, (२) ईश्वरावस्था, जब कि शुद्ध चेतन पर माया का माँड़ चढ़ जाता है, (३) सूत्रावस्था, जब कि प्राणियों की अनन्त बुद्धि-वासनाओं की रेखाएँ उभर आती हैं, (४) वैराजावस्था, जब कि स्थावर-जंगम जगत् सुव्यक्त हो जाता है। जैसे पट पर चित्रित मनुष्यों के वस्त्राभास कल्पित होते हैं, पर्वतादि के नहीं, वैसे ही देव-

---

[1] —अज्ञानमस्ति सकलं च सुषुप्तिकाले तत्र प्रलीनमिति यद्यपि नास्ति पुंसः।
स्पष्टानुभूतिरपवर्गविलक्षणत्वाद् एष्टव्यमेव तु सुषुप्तिभुवस्तथात्वम्॥
(सं० शा० ३।१३३)

मनुष्य आदि प्राणियों में ही चिदाभास की कल्पना होती है, मृत्तिका आदि में नहीं। यद्यपि वस्त्राभासगत नील-पीत आदि वर्णों का आधार वस्त्र के साथ वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं, केवल अज्ञानी व्यक्ति उन वर्णों का आधार वस्त्र में व्यवहार करने लग जाते हैं। वैसे ही चिदाभासगत संसरण का सम्बन्ध अधिष्ठान चेतन के साथ अविवेकी पुरुष करने लगते हैं।

गौड़पादीय कारिका एवं उसकी व्याख्याओं में प्रणवोपासना का प्रकार लय-चिन्तन की पद्धति से मन्द अधिकारी के कल्याणार्थ वर्णित हुआ है। प्रथमतः जीव के तीन भेद–विश्व, तैजस, प्राज्ञ एवं ईश्वर के तीन भेद—विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर किये गये हैं। फिर प्रणव के अकार, उकार एवं मकार अक्षरों के साथ अभेद मानकर उत्तरोत्तर लय बताया गया है—विश्वाभिन्न विराट् स्वरूप अकार प्रथम पाद है, तैजसाभिन्न हिरण्यगर्भ स्वरूप उकार द्वितीय पाद, प्राज्ञाभिन्न ईश्वररूप मकार तृतीय पाद है और तुर्याभिन्न मायातीत ब्रह्म चतुर्थ पाद है। प्रथम पाद का द्वितीय में, द्वितीय का तृतीय में एवं तृतीय का चतुर्थ में लय किया गया है। अवशिष्ट तुर्याभिन्न ब्रह्म मैं हूँ—ऐसा लय-चिन्तन प्रणवोपासना की संक्षिप्त प्रक्रिया है।

इस प्रक्रिया से यह स्पष्ट है कि चतुर्विध जीव और चतुर्विध ईश्वर का संकलन करने पर आठ प्रकार का चेतन बन जाता है। इसीका संक्षिप्त निरूपण वेदान्त-सूक्ति-मंजरी ने किया है—

विराट्सूत्राण्यादौ विभज्य प्रणवाक्षरैः। विलाप्य गौडपादीये तुरीयात्माऽवशेषितः॥

यहाँ आशंका उत्पन्न होती है कि इन सब वर्णन-शैलियों का समन्वय हो सकता है कि नहीं? आपाततः तो इनका विरोध ही है, किन्तु गहराई में जाने पर कोई विरोध नहीं। दृग्दृश्यविवेक में त्रिविध जीव का उल्लेख है—मायावच्छिन्न कूटस्थ में कल्पित चिदाभास व्यावहारिक जीव, निद्रावृत व्यावहारिक जीव में कल्पित चिदाभास प्रातिभासिक जीव और स्वयं कूटस्थ पारमार्थिक जीव है। कूटस्थ का जीव-कोटि में अन्तर्भाव हो जाने पर जीव, ईश्वर और विशुद्ध चेतन—त्रिविध चेतन ही सिद्ध होता है, अतः चतुर्विध चेतन-प्रक्रिया तथा त्रिविध चेतन-प्रक्रिया का कोई विरोध नहीं रह जाता। ब्रह्मानन्द ग्रन्थ में वर्णित छः प्रकार के चेतनों में विश्व आदि तीन का जीव में और विराट् आदि त्रिविध चेतन का ईश्वर में अन्तर्भाव है। माण्डूक्यकारिकोक्त अष्टविध चेतन की कल्पना प्रणवोपासना का मार्ग सरल बनाने के उद्देश्य से की गई है। वह भी त्रिविध चेतन का विस्तारमात्र है। जीव के तीनों पादों का जीव में और ईश्वर के तीनों पादों का ईश्वर में अन्तर्भाव हो जाता है। तुर्य चेतन तो ब्रह्मस्वरूप है ही। शेष रह जाता है—चित्रदीप का चित्रपट के समान चतुर्विध मुख्य चेतन एवं पञ्चम चिदाभास। वहाँ भी अन्तर्यामी, सूत्रात्मा और वैराज का ईश्वर में, चिदाभास का जीवकक्ष में तथा ब्रह्म का शुद्ध चेतन में समावेश हो जाता है। इस प्रकार वार्तिककार के त्रिविध चेतन में सभी दृष्टियों का समन्वय हो जाता है।

आक्षेप—'विराट्' और 'हिरण्यगर्भ' शब्दों का स्पष्टीकरण अवश्य अपेक्षित है। माण्डूक्य की पाद-कल्पना में एवं ब्रह्मानन्द ग्रंथ में 'विराट्' और 'हिरण्यगर्भ' ईश्वर के

अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। उपनिषदों में इन शब्दों का जीव के अर्थ में प्रचुर प्रयोग हुआ है। वहाँ सत्यलोक-वासी, सूक्ष्म सृष्टि का अभिमानी, उत्कृष्ट सुखोपभोक्ता हिरण्यगर्भ तो एक जीव ही है। उस पद की प्राप्ति के लिए उपासना का वर्णन है। एक कल्प का उपासक जीव दूसरे कल्प में हिरण्यगर्भ बना करता है। इसी प्रकार विराट् पद का भी निरूपण हुआ है। पुराणों में विराट् को हिरण्यगर्भ का पुत्र माना है और उसे क्षुधा-पिपासा भी लगती बताई गई है। इससे भी उसका जीवत्व स्पष्ट है। विराट् पद अवश्य हिरण्यगर्भ के पद से अपकृष्ट होता है। ईश्वर का ऐश्वर्य तो सदा उत्कृष्ट ही रहता है, कभी अपकृष्ट नहीं होता। इसलिए माण्डूक्य आदि में ईश्वर के अर्थ में उन शब्दों का प्रयोग अनुचित है।

समाधान—'विराट्' और 'हिरण्यगर्भ' शब्दों की मुख्य शक्ति तो स्थूल एवं सूक्ष्म सृष्टि के अभिमानी जीव में ही है। हाँ, अमुख्य वृत्ति से ईश्वर में भी प्रयोग हो सकता है। जैसे "सिंहो देवदत्तः" में 'सिंह' शब्द का शूरता-क्रूरता आदि गुणों के योग से 'देवदत्त' में गौण प्रयोग होता है, वैसे ही जीवगत स्थूल-सूक्ष्म सृष्टि-सम्बन्धित्वरूप गुण के योग से ईश्वर में विराट् और हिरण्यगर्भ शब्दों का प्रयोग हो जाना अनुचित नहीं। स्थूल-सूक्ष्म सृष्टि में जैसे जीव का स्वाभिमान सम्बन्ध होता है, वैसे ही ईश्वर का भी प्रेर्यत्व सम्बन्ध होता है।

(६) षष्ठ पक्ष बिम्ब-ईश्वरवादी विवरणाचार्य का है। इनके मत में अविद्यागत प्रतिबिम्ब जीव और बिम्ब चैतन्य ईश्वर प्रतिपादित है। इस प्रकार जीव की स्वतन्त्रता और सर्वज्ञता पर किसी प्रकार की आँच नहीं आती। ईश्वर को भी जो लोग प्रतिबिम्ब ही मानते हैं, वे ईश्वर में सर्वज्ञत्व आदि की रक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि उपाधि का प्रभाव सदैव प्रतिबिम्ब पर पड़ा करता है, बिम्ब पर नहीं। इस प्रकार ईश्वर को नित्य निर्दुष्ट भी कैसे कहा जा सकेगा ?

(७) सप्तम पक्ष अवच्छेदवादी आचार्य वाचस्पति मिश्र का है—

घटसंवृतमाकाशं नीयमाने घटे यथा। घटो नीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपमः ॥

(त्रि० ता० उ० १३)

आदि शास्त्रों के आधार पर मायावच्छिन्न चेतन ईश्वर और अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन जीव होता है।

(८) अष्टम पक्ष वार्तिककार आदि आचार्यों का है—

कौन्तेय इव राधेयो जीवः स्वाविद्यया परः। नाऽऽभासो नाप्यवच्छिन्न इत्याहुरपरे बुधाः ॥

(वे० सू० मं० १०४२)

पाँचवीं विशेषता—"इदं रजतम्"—ऐसे स्थलों पर अधिष्ठान के अज्ञान से रजत तथा रजताकार वृत्ति की उत्पत्ति वेदान्तिगण मानते हैं। एवं अधिष्ठान का ज्ञान भी भ्रम-वृत्ति का हेतु माना जाता है। फिर तो यह सन्देह बिना उठे नहीं रह सकता कि अधिष्ठान के ज्ञान से अज्ञान नष्ट हो जाता है, अज्ञान के न रहने पर भ्रम होगा ही कैसे ? इस सन्देह का निराकरण संक्षेपशारीरककार ने बड़े मनोरम ढंग से किया है—

अधिष्ठानमाधारमात्रं यदि स्यात्, प्रसज्येत सत्यं तदा चोद्यमेतत्।
न चैतत् सकार्यस्य मोहस्य वस्तु-न्यधिष्ठानगीर्गोचरे लोकसिद्धा ॥ (सं० शा० १।३२)

अर्थात् यदि अधिष्ठान और आधार दोनों एक ही पदार्थ होते, तब अवश्य उक्त आक्षेप हो सकता था। किन्तु कार्य-सहित अज्ञान की विषयीभूत वस्तु में ही 'अधिष्ठान' शब्द प्रसिद्ध है। आशय यह है कि शुक्ति आदि पदार्थों के दो अंश होते हैं—(१) सामान्य और (२) विशेष। वर्तमान देश-काल-सम्बन्धित्वरूप इदन्ता सामान्य अंश है और नीलपृष्ठत्व आदि विशेष अंश हैं। सामान्य अंश को आधार और विशेष अंश को अधिष्ठान माना जाता है। अध्यास में आधार का ज्ञान हेतु तथा अधिष्ठान का ज्ञान विरोधी होता है। पहले सामान्य-ज्ञान होने पर भी विशेष अंशरूप अधिष्ठान का अज्ञान रहता है, यही अज्ञान रजत एवं रजताकार वृत्ति को जन्म देता है।

पञ्चपादिका में उक्त शंका का और ही समाधान किया है---अधिष्ठान के सामान्य ज्ञान से अज्ञान का केवल आवरण अंश निवृत्त होता है, विक्षेप अंश बना रहता है। वही विक्षेप अंश रजत और रजताकार वृत्ति का उत्पादक होता है।

छठी विशेषता—अद्वैत श्रुति से प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों के विरोध का परिहार भी संक्षेपशारीरककार ने विशिष्ट रीति से किया है—

अज्ञातमर्थमवबोधयदेव मानं, तच्च प्रकाशकरणक्षममित्यभिज्ञाः।
न प्रत्यगात्मविषयाऽपरस्य तच्च, मानस्य सम्भवति कस्य चिदत्र युक्त्या ॥
(सं० शा० २।८)

अज्ञातमर्थमवबोधयितुं न शक्तं, एवं प्रमाणमखिलं जडवस्तुनिष्ठम्।
किन्त्वप्रबुद्धपुरुषं व्यवहारकाले, संश्रित्य संजनयति व्यवहारमात्रम् ॥
(सं० शा० २।२१)

अर्थात् अज्ञान अर्थ के बोधक पदार्थ को ही प्रमाण माना जाता है और उस प्रमाण को वस्तु के प्रकाशकरण में सक्षम माना गया है। उसकी प्रकाश-करण-क्षमता प्रत्यगात्मविषयक प्रमाण को छोड़कर अन्य किसी प्रमाण में सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार जड़विषयक निखिल प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण अज्ञात आत्मा के बोधक नहीं होते, किंतु अज्ञात पुरुष का आश्रयण करके किसी प्रकार व्यवहारमात्र के साधक हो जाते हैं। आशय यह है कि अद्वैत श्रुति के विषय को प्रत्यक्षादि प्रकाशित नहीं करते, अतः वे प्रमाण ही नहीं, क्योंकि सच्चा प्रमाण वही है, जो अज्ञात या आवृत वस्तु का प्रकाश करे। प्रकाशशील वस्तु पर ही आवरण होता है, वही आवृत होती है, जड़ वस्तु नहीं। अतः जड़ वस्तु को अज्ञात या आवृत कहा नहीं जा सकता कि उसके बोधक प्रत्यक्षादि को प्रमाण कहा जा सके। जब प्रत्यक्षादि प्रमाण ही नहीं, तब अद्वैत श्रुति से उनका विरोध ही कैसे होगा ?

सातवीं विशेषता—स्वाप्न पदार्थों का अधिष्ठान अनवच्छिन्न चैतन्य माना जाय ? या अहंकारावच्छिन्न चैतन्य ? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए संक्षेप शारीरककार ने प्रथम पक्ष का समर्थन किया है। इनका कहना है कि स्वतः अपरोक्ष अनवच्छिन्न चैतन्य ही स्वाप्न-प्रपञ्च का अधिष्ठान होता है—

अपरोक्षरूपविषयभ्रमधीरपरोक्षमास्पदमपेक्ष्य भवेत्।
मनसः स्वतो नयनतो वा स्वप्नभ्रमादिषु तथा स्थितेः ॥ (सं० शा० १।४१)

यहाँ संक्षेपशारीरककार ने अध्यास की अपरोक्षता का हेतु त्रिविध अपरोक्षता मानी है—(१) मानस, (२) ऐन्द्रियिक, (३) स्वतः। शुक्ति-रजत स्थल पर ऐन्द्रियिक अपरोक्षता, स्वप्न-स्थल पर अधिष्ठान की स्वतः अपरोक्षता तथा "नीलं नभः" में अधिष्ठान को मानस अपरोक्षता होती है। अन्य आचार्यों से संक्षेपशारीरककार की विशेषता मानस अपरोक्षता के मानने में है। अद्वैत-दीपिकाकार नृसिंहाश्रम ने उक्त स्थल पर गगन में चाक्षुष अपरोक्षता मानी है। उनका अभिप्राय यह है कि यद्यपि आकाश रूपहीन है, अतः इसका चाक्षुष वपरोक्ष सम्भव नहीं। तथापि अन्य द्रव्य के रूप को लेकर बना रूपवान् द्रव्य भी चाक्षुष ज्ञान का विषय होता है। आकाश में अपना रूप न होने पर भी आकाश में फैले विस्तृत तेजोमण्डल के भास्वर रूप से आकाश रूपवान् हो जाता है, अतः उसमें चाक्षुष अपरोक्षता बन जाती है। आशय यह है कि आलोकाकार वृत्ति के द्वारा ही आकाशावच्छिन्न चेतन का प्रमाता से जैसे अभेद स्थापित होता है, वैसे ही आलोकाकार वृत्ति के द्वारा ही आकाशावच्छिन्न चेतन का भी अभेद प्रमाता से हो जाता है, अतः आकाश का चाक्षुष प्रत्यक्ष क्यों न होगा ?

संक्षेपशारीरककार का हृदय यह है कि इन्द्रिय की वृत्ति अन्याकार हो और अन्य वस्तु का प्रत्यक्ष उस इन्द्रिय से हो—यह सम्भव नहीं, अन्यथा घटाकार वृत्ति से घटगत परिमाण आदि प्रत्यक्ष होने लगेगा। अतः आकाश-व्याप्त आलोकाकार चाक्षुषवृत्ति की सहायता से मन आकाश का प्रत्यक्ष करता है।

गहरा विचार करने पर अद्वैतदीपिका का ही मत समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि मानस प्रत्यक्षता में भी आलोकाकार चाक्षुष वृत्ति को सहकारी कारण तो माना ही जाता है। कार्य-कारणभाव में दोनों पक्ष समान हैं, फिर भी मन को बाह्य द्रव्य का प्रत्यक्ष करने में स्वातन्त्र्य-प्रदान करना तान्त्रिक मर्यादा के बाहर प्रतीत होता है। आकाशाकार नेत्र-वृत्ति तो होती नहीं, अतः नेत्र-वृत्ति के बिना ही मन यदि स्वतन्त्ररूप से आकाश का प्रत्यक्ष कर लेता है, तब आँख बन्द होने पर भी आकाश का मानस प्रत्यक्ष होना चाहिए। इसलिए संक्षेपशारीक का आकाश-मानस प्रत्यक्षवाद प्रौढ़ीवाद ही है। अध्यास की सामग्री में द्विविध अपरोक्षता ही रखनी चाहिए।

अन्य विद्वान् अहंकारावच्छिन्न चैतन्य को ही स्वाप्न-भ्रम का अधिष्ठान मानते हैं, हाँ, अवच्छेदकीभूत अहंकार का अधिष्ठान-कोटि में प्रवेश नहीं करते। इसलिए "अहं गजः"—ऐसी प्रतीति की आपत्ति नहीं होती। इस प्रकार 'शुक्ति-रजत' आदि भी वृत्तिमदन्तःकरणगत 'इदम्' अंश से अवच्छिन्न चेतन के प्रतिबिम्ब में अध्यस्त होते हैं। इममंशावच्छिन्न चैतन्य में रजतादि का अध्यास मानने पर सुखादि के समान केवल स्व-वेद्यत्व न निभ सकेगा, क्योंकि बिम्ब-चैतन्य सर्वसाधारण है, उसमें अध्यस्त पदार्थ सबको प्रतीत होगा, किसी एक ही को नहीं।

कुछ विद्वान् बिम्ब-चैतन्य में ही रजतादि का अध्यास मानकर सर्व-वेद्यत्व का परिहार करने के लिए नियम बनाते हैं कि जिस व्यक्ति के अज्ञानरूप उपादन से जो उत्पन्न होता है, वह उसी व्यक्ति के द्वारा वेद्य (अनुभूत) होता है, अन्य के द्वारा नहीं।

आठवीं विशेषता—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन"—यह श्रुति विविदिषा में किन कर्मों का विनियोग करती है ? इस प्रश्न

के उत्तर में कुछ विद्वानों ने कहा है कि उक्त श्रुति में 'वेदानुवचन' पद से ब्रह्मचारी के, "यज्ञेन दानेन" पदों से गृहस्थ के, "तपसाऽनाशकेन" पदों से वानप्रस्थ-आश्रम के समस्त कर्मों का ग्रहण हो जाता है, अतः कथित समस्त कर्मों का विद्यार्जन में उपयोग होता है।

कल्पतरुकार ने कहा है कि केवल तीनों आश्रमों के कर्मों का उपयोग ही नहीं, अपितु आश्रम-रहित विधुर आदि व्यक्तियों के द्वारा सम्पादित कर्मों का भी विद्या में उपयोग होता है। अन्य मनीषियों ने कहा है कि अवश्य आश्रमी एवं अनाश्रमी व्यक्तियों के कर्मों का विद्या में उपयोग है, किन्तु केवल नित्य कर्मों का ही उपयोग होता है।

संक्षेपशारीरककार ने अपने गुरुवर श्री सुरेश्वराचार्य जी के पक्ष का पोषण करते हुए सभी नित्य और अनित्य कर्मों का उपयोग विविदिषा में बताया है—

एकाहाहीनसत्रद्वयविहिततानेककर्मानुभाव–
ध्वस्तस्वान्तोपरोधाः कथमपि पुरुषाश्चिद्दिदृक्षां लभन्ते ।
यज्ञेनेत्यादिवाक्यं शतपथविहितं कर्मवृन्दं गृहीत्वा,
स्वोत्पत्त्यास्नानसिद्धं पुरुषविविदिषामात्रसाध्ये युनक्ति ।। (सं०शा० १।६४)

इतना ही नहीं, ज्ञान में यज्ञादि के उपयोग-मत की आलोचना करते हुए 'विविदिषन्ति' में इच्छा का प्राधान्य सिद्ध किया है—

प्रत्ययार्थविषयं हि कर्मणाम्, उच्यते विविदिषेयुरित्यतः ।
न प्रकृत्यभिहितार्थवेदने वेदवाचि विनियोगशासनम् ।। (सं० शा० ३।३३)

नौवीं विशेषता—'अविद्या-लेश' के स्वरूप पर विचार करते हुए (१) कुछ वेदांतियों ने माया को विक्षेप-शक्ति को कहा है। तत्त्वज्ञान से अज्ञान की केवल आवरण-शक्ति का नाश होता है, विक्षेप-शक्ति का नहीं, क्योंकि प्रारब्ध-कर्म उसे नष्ट होने से बचा लेता है। इसलिए जीवन्मुक्ति और उसके प्रतिपादक शास्त्रों का सामंजस्य हो जाता है। (२) दूसरे विद्वानों ने अविद्या के संस्कारों को अविद्या लेश माना है। (३) अन्य विद्वानों ने जले वस्त्र या जली रज्जु के समान अविद्या को नष्टानुवृत्ति या बाधितानुवृत्ति को अविद्या-लेश कहा है। अर्थात् जैसे अग्नि से जला वस्त्र पहनने-ओढ़ने के काम में नहीं आ सकता, केवल उसका आकार-सा दिखलाई देता है, वैसे ही तत्त्व-ज्ञान से नष्ट या बाधित मूला-अविद्या कुछ समय तक अनुवृत्त (बनी) रहती है, उसे ही अविद्या-लेश कहा जाता है (४) श्रीचित्सुखाचार्य ने इस विषय में अपने गुरुवर से एक नया प्रकाश प्राप्त किया है—

अविद्यालेशशब्देन मोहाकारान्तरोक्तितः । ज्ञानस्य प्रतिबन्धाच्च प्रबलारब्धकर्मभिः ।।
लेशानुवृत्तौ तज्जन्यकमादेरनुवृत्तितः । उत्पन्नात्मावबोधस्य जीवन्मुक्तिः प्रसिध्यति ।।

अर्थात् 'अविद्या-लेश' अविद्या का वह आकारान्तर है, जो प्रबल प्रारब्ध कर्म के द्वारा प्रतिबद्ध तत्त्वज्ञान से निवृत्त न होकर जीवन-पर्यन्त बना ही रहता है। इस प्रकार शरीर-कर्म आदि के बने रहने से तत्त्वज्ञानी की जीवन्मुक्ति निष्पत्यूह सिद्ध हो जाती है।

अभिप्राय यह है कि संसार का कारण मूल अज्ञान तो एक ही है। परन्तु उसके आकार तीन होते हैं– (१) प्रपञ्चगत सत्यत्व भ्रम का हेतु, (२) अर्थक्रिया-समर्थ वस्तु का कल्पक और (३) अपरोक्ष प्रतीति के विषय आकार का कल्पक। अद्वैत-सत्यत्व का दृढ़ निश्चय हो जाने पर अविद्या का प्रथम आकार निवृत्त हो जाता है और तत्त्व-

साक्षात्कार से दूसरा आकार विनष्ट हो जाता है। तीसरा आकार जीवन्मुक्त विद्वान् में भी बना रहता है। केवल समाधि अवस्था में वह आकार तिरोहित होता है, व्युत्थान दशा में वह देहाभास, जगदाभास आदि का कारण बनता है। भोग-द्वारा प्रारब्ध रूप प्रतिबन्धक की समाप्ति हो जाने पर वह आकार नष्ट हो जाता है तथा विद्वान् विदेह कैवल्य का लाभ कर लेता है।

संक्षेपशारीरककार ने तो पहले कहा है कि तत्त्व-साक्षात्कार से निःशेष अज्ञान नष्ट हो जाता है, अज्ञान का कोई भी अंश अवशिष्ट नहीं रहता,[1] विद्वान् सद्योमुक्त हो जाता हैं। सम्भवतः इनका यही पक्ष सिद्धान्त-लेश-संग्रह में उल्लिखित हुआ है–"सर्वज्ञात्मगुरु-वस्तु विरोधिसाक्षात्कारोदये लेशतोऽप्यविद्याऽनुवृत्त्यसम्भवाद् जीवन्मुक्तिशास्त्रं श्रवणादि-विध्यर्थवादमात्रम्।" किन्तु संक्षेपशारीरककार ने आगे चलकर "यद्वा विद्वद्गोचर योजनीयम्" (सं० शा० ४।४०) आदि श्लोकों से जीवन्मुक्ति का समर्थन भी किया है। सं० शा० ४।४६ में अद्धृत "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" (श्वेता० १।१०) इस श्रुति का अर्थ करते हुए श्री मधुसूदन सरस्वती ने माया के तीन आकारों का स्पष्ट उल्लेख किया है—"तस्य हरशब्दोदितब्रह्मण आभिमुख्येनाहं ब्रह्मास्मीत्येवंरूपाद् ध्यानादादरेण निरन्तरं दीर्घकालचिन्तनात् द्वैतसत्यत्वभ्रमहेतुभूतमायालेशो निवर्तते। ततो ध्यानपरिपाकसाक्षात्काराद् योजनाद् द्वैते व्यावहारिकसत्यत्वभ्रमहेतुभूतमायालेशो निवर्तते। भूयश्च तत्त्वभावादनावृतपूर्णब्रह्मात्मत्वरूपस्वभावाद् अन्ते प्रारब्धकर्मणां भोगेन क्षये द्वैते प्रातिभासिकत्वभ्रमहेतुभूतमायालेशस्याऽवशिष्टस्य निवृत्तिरित्येवं विश्वमायानिवृत्तिस्तत्त्वबोधाद्भवतीत्यर्थः।" इससे यह नितान्त स्पष्ट है कि द्वैत से पारमार्थिक सत्यत्व-भ्रम के कारणभूत प्रथम आकार की निवृत्ति अद्वैत-सत्यत्व के दृढ़-निश्चय से हो सकती है। प्रपञ्च में व्यावहारिक सत्यत्व भ्रांति का कारणरूप द्वितीय आकार तत्त्व-साक्षात्कार से निवृत्त होता है और द्वैत में प्रातिभासिक सत्यत्व-भ्रम का आपादक तृतीय आकार, जिसे अविद्या-लेश कहा जाता है, प्रारब्ध-कर्म के नाश से नष्ट होता है। इस प्रकार "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" का यह क्रम स्थिर होता है कि प्रथमतः ज्ञान से भूयो निवृत्ति अर्थात् अविद्या के दो आकारों की निवृत्ति होती है, तदनन्तर अन्ते=प्रारब्ध-कर्मों का अन्त हो जाने पर विश्वमायानिवृत्ति=माया के समस्त आकारों की निवृत्ति होती है।

"मायाभिः पुरुरूपः"—इस श्रुति में भी बहुवचन से माया के तीन आकारों की सूचना मिलती है। पूर्णतया गवेषणा करने पर यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि माया के कथित प्रथम और तृतीय आकार अविद्या है, जो कि जीव का व्यष्टि-बन्धन है, इसकी निवृत्ति ज्ञान से होती है। द्वितीय आकार माया नाम का समष्टि-बन्धन है, इसकी निवृत्ति अभिध्यान या भक्ति से होती है। अतः भक्ति और ज्ञान का समुच्चय ही मोक्ष का मुख्य हेतु सिद्ध होता है।

---

[1] १—सम्यगज्ञानविभावसुः सकलमेवाज्ञानतरुसम्भवं,
सद्यो वस्तुबलप्रवर्त्तनमरुद्व्यापारसंदीपितः।
निर्लेपेन हि दंदहीति न मनागप्यस्य रूपान्तरं,
संसारस्य शिनष्टि तेन विदुषः सद्योविमुक्तिर्ध्रुवा॥ ४।३८॥

दशवीं विशेषता—अविद्या-निवृत्ति का स्वरूप क्या है ? यह प्रश्न भी बड़ा जटिल है, क्योंकि उसे सत् मानने पर द्वैतापत्ति, असत् मानने पर उसमें ज्ञान-साध्यत्व नहीं बनता, सदसत् विरुद्ध उभयरूप मानना सम्भव ही नहीं तथा सदसत् दोनों से विलक्षण मानने पर मोक्षावस्था में अज्ञान की सत्ता माननी पड़ जाती है-- सत् और असत् दोनों से विलक्षण पदार्थ को वेदान्त-सिद्धान्त में अनिर्वचनीय माना जाता है, अनिर्वचनीय जगत् का उपादानकारण अज्ञान है। मोक्षावस्था में कुछ भी अनिर्वचनीय मानने पर उसका उपादानकारण अज्ञान भी वहाँ मानना ही पड़ेगा, क्योंकि उपादान के बिना कार्य की सत्ता कैसे सिद्ध होगी ? किन्तु अज्ञान ही बन्धन है, उसके रहने पर मोक्ष कैसे सम्भव होगा ?

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए कुछ विद्वानों ने वही दृष्टि अपनाई है, जिसका प्रथम स्रोत नासदीय सूक्त है और अन्यान्य दार्शनिकों ने तत्त्व-निरूपण के अवसर पर जिस दृष्टि को अपनाया है। प्रपञ्च का तत्त्व बताते हुए लंकावतार सूत्र में कहा गया है—

‘ न सन्नासन्न सदसद् यदा लोकं प्रपश्यति।”

नागार्जुन ने भी धर्मधातु का निरूपण करते हैं—

“न सन्नासन्न सदसद्धर्मो निर्वर्तते यदा।” (मा० का० १।७)

आर्यदेव भी अपने चतुःशतक में कहते हैं—

“सदसत् सदसच्चेति यस्य पक्षो न विद्यते”।

जहाँ नासदीय सूक्त ने दो कोटियों का निराकरण करके तृतीय कोटि विहित रक्खी थी, वहाँ इन लोगों ने तीन कोटियों का निषेध करके चौथी कोटि कायम की। तीसरा दल आया, उसने इन चारों कक्षाओं को लाँघकर पाँचवीं भूमिका में पैर रखा-

“न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यमनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः।”

लंकावतार सूत्र में भी कहा है—

“यच्च न सन्नासत्, तच्चतुष्कोटिबाह्यम्”

श्रीगौड़पादाचार्य ने भी आत्मतत्त्व या धर्मधातु का निरूपण किया है—

“अस्ति नास्त्यस्तिनास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः॥” (मां० का० ४।८४)

अविद्या-निवृत्ति का स्वरूप बताते हुए संक्षेपशारीरककार नें कहा—

“सदसत्सदसद्विकल्पित–प्रतिपक्षैकवपुर्विनिवर्तनम्।
तमसोऽभ्युपगम्यतेऽन्यथाऽनुपपत्त्यापत्तनैकहेतुतः॥” (सं०शा० ४।१२)

इस विषय में संक्षेपशारीरककार समन्वयात्मक दृष्टि रखते हैं, क्योंकि वे अविद्या-निवृत्ति के इस पञ्चम पक्ष में आग्रह न करके ब्रह्मसिद्धिकार का भी पक्ष मानते हैं—

“अथवा चितिरेव केवला, वचनोत्पादितबुद्धिवर्त्मना।
परमात्मतमोनिवृत्तिगीर्विषयत्वं समुपैत्युपाधिना॥”
(सं० शा० ४।१५)

अनुवाद और अनुवादक

आराध्यपाद श्री १०८ गुरुवर के चरणों में रहकर जब मैं वेदान्त का अध्ययन करता था, उसी समय मैंने गुरुदेव से प्रार्थना की थी कि आप "संक्षेपशारीरक ग्रंथ" का हिन्दी में अवश्य अनुवाद कर दें, क्योंकि यह ग्रंथ अत्युत्तम है और आपकी अध्यापन-शैली भी बहुत मधुर है। विविध छन्दों के मनोहर-कलेवर में जो वेदान्त-रहस्य निहित है, उस पर पूर्ण प्रकाश आप ही डाल सकते हैं। मेरी प्रार्थना मानकर दयार्णव गुरुदेव ने एक वर्ष में ही इसका अनुवाद कर दिया था। सन् १९४३ ई० में गुरुदेव को विदेह-कैवल्य का लाभ हो गया। खेद है कि अपनी कृति का प्रकाशन वे देख न सके। इतना सुन्दर अनुवाद कर पाना श्रीगुरुदेव का ही काम था। छन्दों का ज्ञान भी उन्हें पूर्ण था। सभी छन्दों के नाम और लक्षण दे दिये हैं। उनकी हिन्दी भाषा भी बहुत सुलझी हुई है। सरल-सरस शब्दों में गम्भीर-भावों को वैसे ही कह डाला है, जैसे कोई सुयोग्य वैज्ञानिक विज्ञान की जटिल ग्रंथियाँ खेल-खेल में बच्चों को समझा दे। कहीं-कहीं दीर्घ समासगर्भित श्लोकों की लम्बी-लम्बी पंक्तियाँ फौलादी दीवार-सी अभेद्य प्रतीत होती थीं, गुरुदेव के हिन्दी अनुवाद ने उन्हें अत्यन्त सुगम बना डाला है। इससे जिज्ञासुओं और छात्रों का उपकार तो हुआ ही है, साथ-साथ राष्ट्रभाषा की श्रीवृद्धि भी हुई है।

यह अनुवाद वर्षों तक यों हो पड़ा रहा। लोगों को पता लगा, तो वे छपानें का आग्रह करने लगे। हमारे पुराने साथी, वाराणसेय उदासीन संस्कृत विद्यालय के कुलपति श्री स्वामी कृष्णानन्द जी तथा श्री स्वामी असङ्गानन्द जी वेदान्ताचार्य आदि महानुभावों ने भी प्रबल अनुरोध किया कि इस महान् उपयोगी अनुवाद को शीघ्र प्रकाशित करा देना चाहिए। हमारे पट्ट शिष्य दर्शनरत्न, वेदालंकार सर्वानन्द जी को भी प्रेमियों ने प्रकाशन के लिए विवश किया। ये पूर्णतया तत्पर हो गये।

आर्थिक भार श्रद्धालु भक्तों ने ओट लिया, अब कमी केवल एक सम्पादक की रह गई। सम्पादन-कार्य लिखने से भी कठिन होता है, सम्पादन-कला में निपुण व्यक्ति ही सुन्दर सम्पादन कर सकता है। इस कार्य के लिए मैंने उत्साहमूर्ति श्रीस्वामी योगोन्द्रानन्द, न्यायाचार्य को चुना। इन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। इन्हें विद्यालयोय प्रबन्ध एवं अध्यापन आदि कार्यों में व्यस्त रहना पड़ता है, फिर भी साहसिक व्यक्ति दायित्व-पूर्ण कार्यों का अधिक-से-अधिक भार उठाने में सदैव तत्पर रहते हैं। श्रम-भीरुत्व मानवता का कलङ्क है और श्रम-शूरत्व मानवता का प्राण है। गाढ़ श्रम में निरत महामानव को जो आनन्द मिलता है, वह फूलों की शय्या पर पार्श्व-परिवर्तनशील अकर्मण्य, अलस, प्रमादी व्यक्ति को स्वप्न में भी प्राप्त नहीं हो सकता। स्वामी योगीन्द्रानन्द के अथक परिश्रम का फल है कि गुरुदेव के वर्षों से पड़े अप्रकाशित ग्रंथ का प्रकाशन हो सका। आशा है—वेदान्त-प्रेमी सज्जन इससे लाभ उठायेंगे।

श्रौतमुनि निवास
वृन्दावन (मथुरा)
२४–२–१९५७

विद्वद्वशंवदः
स्वामी गंगेश्वरानन्द

भावदीपिका के निर्माता

श्री स्वामी रामानन्द जी महाराज

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥

जिस महात्मा का चित्त ब्रह्म में लग जाता है उसका कुल पवित्र है, जननी कृतकृत्य हो जाती है, पृथ्वी ऐसे पुरुष से पुण्यवती बनती है और अपार संसार-सागर में वही सुखी और सफल होता है।

संसार की प्रत्येक अवस्था में जिनका जीवन विपत्ति और बाधाओं पर विजय प्राप्त करके आध्यात्मिक उत्थान में तत्पर रहता है, वे ही विश्व में गौरव पाते हैं और उन्हीं के पवित्र जीवनों से इतिहास बनता है।

अपने सुख, स्वार्थ और कल्याण में सभी प्रयत्नशील रहते हैं, परन्तु जिनके मन में पर-हित बस जाता है, लोकोपकार की बुद्धि से जो अपने पवित्र जीवन को जनता-जनार्दन की सेवा में अर्पित कर देते हैं, उन्हें विश्व के वैभव विचलित नहीं कर सकते, दुःखों की चट्टानों पर चढ़ते हुए वे सहज-स्वभाव से कठिनाइयों के ऊँचे-ऊँचे पर्वतों को पार कर जाते हैं। आजीवन बुराइयों के साथ उनका युद्ध चलता है और वे साहस तथा धैर्यपूर्वक अकेले ही लड़ते हुए विजय प्राप्त करते हैं।

विश्व में विजय सभी चाहते हैं, परन्तु विजयी वे होते हैं जो आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक बल संचित करके उस जगत्-नियन्ता विश्वम्भर पर अटल विश्वास रखते हैं। अन्य सब बलों से चरित्रबल का अधिक महत्त्व है, उसी के द्वारा महापुरुष अपने चिर संचित और सुरक्षित ज्ञान-शस्त्रों से कीर्ति-कामना, पद-प्रतिष्ठा, प्रलोभन और पाप के पुञ्जों को काटकर अपना निष्कंटक ब्रह्म-मार्ग बनाते हैं, उस पर चलकर केवल वे ही जीवन के अन्तिम लक्ष्य पर नहीं पहुँचते, बल्कि लक्ष-लक्ष नर-नारी उनके प्रमाणित पथ पर चलकर प्रत्यक्ष ब्रह्म का अनुभव करते हैं। वे सन्त महात्मा और महान् व्यक्ति धन्य हैं जो अपना जीवन उत्सर्ग करके प्राणिमात्र के लिए पुण्य-पथ का निर्माण करते हैं। भर्तृहरि जी के कथनानुसार—

सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगाः।

अर्थ—सन्त पुरुष पर-हित में ही अपना हित समझते हैं।

पर-हित बस जिनके मन माँही। तिन कहँ जग दुर्लभ कछु नाँही ॥

यह विशेषता केवल भारतीय महापुरुषों में ही पायी जाती है कि वे अपनेपन को अपने त्याग और तपस्या में स्वाहा करके ऐसा महायज्ञ करते हैं जिससे राष्ट्र में नव-जीवन का संचार होकर प्रत्येक व्यक्ति में प्राण पड़ जाते हैं। महात्माओं के लक्षण ही विलक्षण होते हैं—

प्रियप्राया वृत्तिः विनयमधुरो वाचि नियमः,
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः।
पुरो वा पश्चाद् वा तदिदमविपर्यासितरसम्,
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते ॥

महापुरुषों का आचरण प्रायः लोक-प्रिय होता है, उनकी वाणी नियमित, संयमित, विनम्र और मीठी होती है, उनकी बुद्धि परोपकार में ही लगी रहती है। आदि से अन्त तक उनका परिचय पवित्रता से ओत-प्रोत होता है और उनके जीवन के गुप्त रहस्य जीवनकाल में ही तथा ब्रह्मलीन हो जानें पर एकरस, निर्मल निर्विकार स्फटिक की भाँति होते हुए संसार के लिए उन्नति का पथ-प्रदर्शन करते हैं।

आज हम पाठकों की सेवा में ऐसे ही महापुरुष का जीवन उपस्थित कर रहे हैं जिन्होंने अनेकों विलक्षण शक्तियों पर अधिकार करके भी अपने आपको लोकेषणा और वित्तेषणा से सुरक्षित रक्खा, यश, मान, प्रसिद्धि पाने की भावना को उन्होंनें कभी अपने पास भी न आने दिया।

परिचय—पूर्वी पंजाब प्रान्त के लुधियाना नगर के समीप सतलुज नदी के दक्षिण तट पर नत्थूमाजरा गाँव है। उसी ग्राम में एक परम तपस्वी यशस्वी विद्वान् सारस्वत ब्राह्मण पं० गोपालदेव शर्मा निवास करते थे। उन्हीं के यहाँ संवत् १९४३ फाल्गुन शुक्ला १३ को प्रातः स्मरणीय श्रीस्वामी रामानन्दजी महाराज का जन्म हुआ। उनका जन्म-नाम वासुदेव शर्मा था। बाल्यकाल में ही आपकी माता श्रीमती दयादेवी का स्वर्ग-वास हो गया। अपने पिताजी की देख-रेख में स्वामीजी का पालन-पोषण होने लगा। लगभग ५ वर्ष की अवस्था में ही आपको संस्कृत के सरल श्लोक याद हो गये थे और जब स्वामी जी मधुर वाणी से उनका शुद्ध उच्चारण करते तो श्रोता मुग्ध हो जाते थे। आपकी स्मरण-शक्ति का चमत्कार देखकर आपके पिताजी को यह विश्वास हो गया था कि आप विश्व की एक दिव्य विभूति होंगे। अभी आप आठ वर्ष के भी न हो पाये थे कि आपके पिताजी भी इस तुच्छ शरीर को छोड़कर परम आत्मा में विलीन हो गये।

माता-पिता का देहावसान हो जानें पर बालक वासुदेव जी अकेले ही रहने लगे और शनैः-शनैः एकान्तवास के परम अभ्यासी बन गये। सुप्त संस्कार जागे, 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' के अनुसार वासुदेव जी को पारिवारिक जीवन का कोई आकर्षण न रहा, स्वतः ही साधना का प्रारम्भ हो गया और वैराग्य के लक्षण प्रकट होने लगे।

दीक्षा-ग्रहण—वासुदेव जी के गाँव के पास ही राजगढ़ में सुप्रसिद्ध तपस्वी महात्मा गोपीराम जी तप क्रिया करते थे। उनके सत्संग में बहुत-से साधक महात्मा पंचाग्नि तपा करते थे बालक वासुदेव भी घर की तरफ से उदास होकर महात्मा गोपी-राम जी की सत्संगति में बैठने लगे। वासुदेव जी की चेष्टाओं से महात्मा गोपीराम जी ने यह जान लिया था कि यह एक होनहार बालक आगे सिद्ध-पुरुष होगा। वे अत्यन्त स्नेह और आदर से वासुदेव को अपने सत्संग में बैठाने लगे।

महात्मा गोपीराम जी के तपस्वी शिष्यों में एक अत्यन्त परोपकारी आयुर्वेद-वनस्पति-विज्ञान के वेत्ता, अत्यन्त तेजस्वी, यशस्वी, मनस्वी, महात्मा सुन्दरदास जी थे। उनका विशेष ध्येय निस्वार्थ और निर्द्वन्द्व होकर परमार्थ-साधन करना था। हिन्दी और संस्कृत के आप अच्छे ज्ञाता थे।

संवत् १९५६ के प्रसिद्ध अकाल के समय ईसाई मिशनरी स्थान-स्थान पर भारतवर्ष की गरीबो का लाभ उठाकर चार-चार पैसे की धर्मार्थ औषधियाँ देकर भारत को ईसाई बनाने के लिए प्रत्यनशील थी। बहुत से भोले-भाले अनजान भारतवासी इनके फेर में पड़ गये। महात्मा सुन्दरदास जी ने हिन्दुओं की यह दुर्दशा देखकर धर्म-प्रचार और आयुर्वेद-प्रचार में विशेष भाग लिया और अपने तप, तथा अथक परिश्रम से स्थान-स्थान पर धर्मार्थ औषधालय खुलवा दिये। बिहार, उत्तर प्रदेश, सिन्ध, पंजाब आदि सभी प्रान्तों में उनके भेजे हुए शिष्यों ने अत्यन्त प्रसिद्ध वैद्य बनकर सेवा कार्य किया। अहमदाबाद कांकरिया तालाब अखण्डानन्द-आश्रम के प्रसिद्ध महन्त स्वामी घनानन्दजी इन्हीं के विद्यार्थियों में से थे।

बालक वासुदेव महात्मा सुन्दरदासजी से विशेष प्रभावित थे और उनमें परम श्रद्धा रखते थे। वयोवृद्ध तपोमूर्ति महात्मा गोपीराम जी की आज्ञा से वासुदेव जी ने महात्मा सुन्दरदास जी से ११ वर्ष की आयु में उदासीन-दीक्षा ले ली। अब वासुदेव जी का नाम रामानन्द रखा गया।

रामानन्द जी ने गुरु जी की सेवा करके उनका आशीर्वाद प्राप्त किया, तत्पश्चात् उनकी आज्ञा लेकर आप काशी पधारे और व्याकरण, साहित्य, न्याय और वेदान्त आदि शास्त्रों का गहरा अध्ययन किया। संस्कृत और हिन्दी दोनों के ही आप प्रकाण्ड विद्वान् समझे जाते थे।

आपने चारों धाम की यात्रा के बहाने देश की दुर्दशा का अध्ययन और निरीक्षण किया। हिन्दुओं के वैदिक संस्कारों को लुप्त होते देखकर आपने भारत की दशा सुधारने का संकल्प किया। चारों ओर घूमते हुए आप श्री द्वारकाधीश जी के दर्शन करके कराची पधारे और वहां हिन्दुओं पर विधर्मियों का पूरा प्रभाव देखकर वहीं से धर्मप्रचार का कार्य प्रारम्भ करने का विचार किया।

करांची से नगर, ठट्टा आदि सिन्ध के सम्पूर्ण नगरों में प्रचार करते हुए आप मुलतान होते हुए पंजाब लौट आये। सिन्ध में तथा अन्य प्रान्तों में धर्म की दुर्दशा देखकर आपने यह निर्णय किया कि कुछ एक व्यक्तियों को योग्य कर्म-कुशल एवं विद्वान् बनाकर समस्त भारत में हिन्दू धर्म का व्यापक प्रचार कराना चाहिए।

महात्माओं के संकल्प सत्य होते हैं, उनके पूरा होने में देर क्यों होगी ? स्वामी रामानन्द जी शीघ्र ही स्थान-स्थान पर विद्यालय, पुस्तकालय और धर्मप्रचार आदि के आयोजन करने में जुट गये।

भगवान् की कृपा-वृष्टि में किसका भाग्य अंकुरित नहीं होता ? वह सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर समय-समय पर कर्तव्य और धर्म का उपदेश देने के लिए योग्य व्यक्तियों को अपनी शक्ति से सम्पन्न करता है और महापुरुषों को महान् आत्माओं से मिलाकर सृष्टि का यथावत् संचालन करता रहता है। इन्हीं दिनों जब कि स्वामी रामानन्द जी को धर्म प्रचार तथा सेवाकार्य की अत्यन्त आवश्यकता का अनुभव हुआ, तब एक होनहार बालक उनके सम्मुख आया। हाव-भाव और चाल-ढाल से प्रत्येक बालक की पहिचान हो जाती है कि उसका भविष्य कैसा होगा ? स्वामी रामानन्द जी ने इस बालक में हिन्दू जाति के

लिए सर्वस्व अर्पण कर देने के गुण देखे और अपने धर्म-प्रचार तथा सेवाकार्य के मनोरथों को पूर्ण करने की प्रतिभा उसमें पाई। श्रीस्वामी जी ने बालक को दीक्षा देकर उसका नाम 'गंगेश्वरानन्द' रखा। यह घटना सन् १६१० के लगभग की है। गुरुवर ने संस्कृत पढ़ने के लिए आदेश दिया। आगे से प्रार्थना की गई—महाराज ! सुना है कि संस्कृत बहुत ही कठिन भाषा है, मैं उसे कैसे पढ़ सकूँगा ? श्री स्वामी जी ने तुरन्त उत्तर दिया—डरते क्यों हो ? पढ़ने का कुछ भी यत्न तो करो, मैंने ऐसा आशीर्वाद दे रखा है कि कुछ ही दिनों में वह काम पूरा कर लोगे, जो अन्य छात्र वर्षों में भी नहीं कर सकते। हुआ भी वैसा ही, श्री स्वामी गंगेश्वरानन्दजी महाराज काशी में मुश्किल से २ वर्ष रहे होंगे, उतने समय में ही आपका इतना बड़ा विशाल अध्ययन सम्पन्न हो गया।

अपने पाण्डित्य, परिश्रम, प्रयत्न और प्रेम से स्वामी जी ने अपने शिष्य को पढ़ा-लिखाकर संस्कृत तथा हिन्दी का प्रकाण्ड पण्डित बना दिया। भारत का धार्मिक जगत् श्री स्वामी रामानन्द जी महाराज की इस महती कृपा का सदैव आभारी रहेगा, जिसके द्वारा उन्होंने भारत को एक यशस्वी मनस्वी वेददर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी गंगेश्वरानन्द जी जैसी अनुपम देन दी है। बीसवीं शताब्दी के धार्मिक इतिहास में यह गुरु-शिष्य-मिलन की घटना चिर-स्मरणीय रहेगी।

शनैः-शनैः श्री गंगेश्वरानन्द जी ने गुरु जी की पूर्ण कृपा प्राप्त कर ली। सर्वश्री गुरुदेव ने भी योग्य शिष्य पाकर अपने तप, विद्या तथा सिद्धियों द्वारा उन्हें पूर्ण बनाने में कुछ उठा नहीं रक्खा। शिक्षा पूर्ण होने पर श्री स्वामीजी ने गंगेश्वरानन्द जी को आशीर्वाद वरदान और आदेश दिया—

'सेवा-सद्भाव और प्रखर-बुद्धि से तुम वेद-वेदाङ्ग और निखिल शास्त्रों में निष्णात होकर मानवीय जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करो। धर्म-प्रचार और सेवा-व्रत लेकर तुम भारत के ग्राम-ग्राम में भ्रमण करो। सर्व-प्रथम सिंध में जाकर हिन्दू-धर्म को जागरित करो।'

महामण्डलेश्वर वेद दर्शनाचार्य श्री १०८ स्वामी गंगेश्वरानन्द जी आज तक अपने गुरुदेव की आज्ञा का पालन करते हुए धर्म-प्रचार में संलग्न हैं और अपने सत्-संकल्पों से तथा गुरुदेव के प्रसाद से उनके प्रयत्न सफल हुए। अहमदाबाद में विशाल वेद-मन्दिर, काशी, में श्री उदासीन संस्कृत विद्यालय, वृन्दावन में श्रौत-मुनि निवास, हरिद्वार और अमृतसर के रामधाम आश्रम उनकी सफलता के प्रमाण में अपना मस्तक ऊँचा उठाये हुए हैं।

श्रीस्वामी रामानन्दजी का जीवन अत्यन्त सरल और सादा था। इकहरा शरीर अन्नत ललाट, तेजपूर्ण नेत्र और शुद्ध हृदय को धारण करके वे ब्रह्म में लीन रहते थे। उत्साह और धैर्य के वे साक्षात् स्वरूप थे। उदासीन सम्प्रदाय में रहकर उन्होंने हिन्दू-जाति के संगठन का सफल प्रयत्न किया। यशोलिप्सा अथवा लोकेषणा वित्तेषणा उनको छू तक नहीं गई थी। अन्तिम समय में श्री स्वामीजी महाराज सब ओर से ध्यान हटाकर योग-युक्त हो गये थे। अधिकांश समय समाधि अवस्था में व्यतीत होता था। शरीर की कुछ सुधि शेष न रह गई थी। उनके शिष्य बहुत कुछ प्रार्थना करते, परन्तु उत्तर यही मिलता कि—

'अब इस शरीर का कार्य पूर्ण हो चुका है। अधिक जीने के मोह से इसे व्यर्थ क्यों घसीटा जाय।'

श्रीस्वामी गंगेश्वरानन्द जी नें एक दिन प्रेम से प्रेरित होकर कहा कि महाराज हम तो आपके आदेशानुसार धर्म-प्रचार में लगे रहे और कुछ सेवा न कर पाये, अब आप हम सबको छोड़कर ब्रह्मलोक-यात्रा की तैयारी कर रहे हैं। स्वामीजी ने उत्तर दिया—पैर दबाना आदि सेवा तो चार पैसे का नौकर भी कर सकता है, किन्तु आप जो काम कर रहे हैं, यह कोई महापुरुष ही कर सकते हैं, मेरी यही सच्ची सेवा है।

स्वामीजी ने फिर प्रश्न किया कि अब हमारा क्या कर्तव्य है? गुरुजी ने कहा—हमनें तुम्हें कर्तव्य निर्णय करने के योग्य बना दिया हैं। गुरु वही है जो शिष्य को स्वयं में समर्थ और पूर्ण बना दे।

श्रीगुरुदेव स्वामी रामानन्दजी की आज्ञानुसार उनके शरीर त्यागने के पाँच दिन पूर्व से ही शुद्ध ब्राह्मणों द्वारा गायत्री-जप और गीता-पाठ होने लगा। आश्चर्य तो यह है कि मौन-प्रेरणा से उनके समस्त प्रेमी तथा अनेक वयोवृद्ध महात्मा उनके शरीर त्यागने से पूर्व अपनें-आप एकत्र हो गये।

एक दिन रात्रि को एक वृद्ध महात्मा को भ्रम हो गया कि स्वामीजी का शरीर शान्त होने जा रहा है, अतः गोदान करा देना चाहिये। स्वामीजी ने बात सुन ली और कहा—

'अभीं गोदान का समय नहीं आया, आप सब विश्राम करें।'

प्रातःकाल चार बजे स्वामीजी नें भूमि-आसन कराया और आज्ञा दी कि गायत्री, गीता आदि उपनिषदों का पाठ पृथक्-पृथक् चलता रहे। सन् १९४३ नवम्बर, मङ्गलवार, मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी, संवत् २०००, प्रातः ६ बजकर २० मिनट पर स्वामीजी अचानक उठकर बैठ गये और पद्मासन लगाकर ओंकार का पवित्र उच्चारण करते हुए इस असार संसार से बिदा हुए।

उनके पवित्र संकल्प, अथक परिश्रम तथा धर्म-प्रचार की भावना से आज भारतवर्ष में उदासीन सम्प्रदाय में अनेक विद्यालय, अन्न-क्षेत्र, औषधालय आदि खुले हुए हैं और अनेक विद्वान्, प्रचारक तथा लेखक उत्पन्न हो गये हैं। यद्यपि सोसाइटियों के रजिस्टरों में उनका नाम अङ्कित नहीं हुआ, बड़ी-बड़ी स्टेजों पर उन्होंने लम्बे-लम्बे व्याख्यान नहीं दिये, अद्भुत करामातें नहीं दिखाईं और अपनें जुलूस नहीं निकलवाये, तथापि उनके जीवन का ठोस कार्य धार्मिक जगत् में एक ऐसी भावना जगा गया है, जिससे स्वामीजी सदा के लिए अमर हो गये हैं। उनकी शिष्य-परम्परा में महामण्डलेश्वर वेद-दर्शनाचार्य स्वामी गंगेश्वरानन्दजी महाराज तथा इनके शिष्य श्रीस्वामी सर्वानन्दजी मण्डलेश्वर दर्शन-रत्न अलौकिक विद्वान् और सुप्रसिद्ध व्याख्याता हैं। हिन्दू-जाति को इनसे बहुत-कुछ प्राप्त हुआ है और बहुत-कुछ प्राप्त होने की आशा है। ऐसे महात्माओं के चरित्र से प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा लेनी चाहिये।

मानव-धर्म, फरवरी १९४५ में दिये गये
श्री स्वामी हंसमुनिजी, राजगृह,
बिहार के लेख से।

द्वितीय आवृत्ति

इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन सन् १९५७ ई० में हुआ था। ३० वर्ष के लम्बे समय में की गई विविध आलोचनाओं और गवेषणाओं का प्रभाव यद्यपि इस ग्रन्थ की अन्तरात्मा पर नगण्य-सा पड़ा है, तथापि बाह्य कलेवर पूर्ण प्रभावित है। आज हमारे ग्रन्थकार श्रीसर्वज्ञात्ममुनि के गुरुवर श्रीदेवेश्वराचार्य को वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्य से सर्वथा भिन्न माना जा रहा है, जैसा कि सन् १९७३ में त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित श्रीसर्वज्ञात्ममुनि के द्वितीय ग्रन्थ "प्रमाणलक्षण" के अन्तिम पृष्ठ ४५ पर मुद्रित है—

> "श्रीश्रेष्ठानन्दपादशिष्याः श्रीदेवानन्दपादाः ।
> श्रीदेवानन्दपादशिष्याः श्रीदेवेश्वरपादाः ।
> श्रीदेवेश्वरपादशिष्याः श्रीसर्वज्ञात्मपादाः ।"

इसके अनुसार ग्रन्थकार के गुरुवर श्रीदेवेश्वराचार्य भगवान् आद्य शङ्कराचार्य के शिष्य न होकर उनसे भिन्न श्रीदेवानन्दाचार्य के शिष्य माने गये हैं। "प्रमाणलक्षण" के भूमिकाकार ने ऐसा ही निर्णय दिया है।

केरल प्रान्त के निवासी श्रीसर्वज्ञात्ममुनि का समय उसी प्रान्त के राजा मनुकुलादित्य का शासन-काल दसवीं शताब्दी का अन्तिम अथवा ग्यारहवीं शती का आरम्भ स्थिर किया गया हैं। इस ग्रन्थ से अतिरिक्त श्रीसर्वज्ञात्ममुनि ने दो अन्य ग्रन्थ भी रचे थे—(१) प्रमाणलक्षण और (२) पञ्चप्रक्रिया। यह द्वितीय ग्रन्थ इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में जोड़कर सर्वसुलभ कराया जा रहा है।

इस ग्रन्थ के संशोधन और परिवर्धन में विद्वद्वर आचार्य पं० सत्यनारायण खण्डूड़ी, साहित्याचार्य ने पूर्ण सहयोग प्रदान किया है, अतः मैं हृदय से आपका आभारी हूँ। सरिता प्रेस के मालिक श्री मोहनलाल यादव ने स्वयं बड़ी तत्परता से अपनी देख-रेख में मुद्रण कार्य सम्पन्न कराया है, अतः इन्हें मैं बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ।

उदासीन सं० विद्यालय
ढुण्ढिराज, वाराणसी
३०-९-१९८७ ई०

स्वामी योगीन्द्रानन्द
न्यायाचार्य, मीमांसातीर्थ

विषय-सूची

क्र० विषय पृष्ठांक

(प्रथम अध्याय)

१. मङ्गलानुष्ठान १
२. विचार-फल-निरूपण १७
३. ग्रन्थारम्भ-समर्थन २२
४. बन्धाध्यास-निरूपण २२
५. अध्यास-कारण-निरूपण २९
६. ब्रह्मविचार की अगतार्थता ५०
७. अधिकारी-निरूपण ५४
८. वाक्यार्थ में विरोध-प्रदर्शन ७३
९. वाक्यार्थ में विरोध-निरास १०१
१०. अखण्डार्थ-बोध-क्रम १२७
११. लक्ष्यार्थ-निरूपण १३०
१२. ब्रह्म की औपनिषदत्व-प्रतिज्ञा १५१
१३. अखण्डार्थ-व्यवस्थापन १६१
१४. अधिकारी के लिए श्रद्धा की अनिवार्यता १६२
१५. वेदान्त की प्रमाणान्तर-निरपेक्षता १६६
१६. अज्ञान-स्वरूप-निरूपण १८६
१७. वेदान्त की कार्यपरता का निराकरण १९८
१८. इष्टसाधनत्वरूप लिङर्थ-निरूपण २०८
१९. शुद्ध पदार्थ में पद-शक्ति-निरास २११
२०. अभिहितान्वय और अन्विताभिधान का अनुपयोग २१५
२१ सिद्ध में साध्यार्थता २१७
२२. निषेध वाक्यों में कार्य-परत्वाभाव २२५
२३. ज्ञान में विधेयत्व का अभाव २४८
२४. सगुण-वाक्यों का निर्गुण में समन्वय २५५
२५. वेदान्त की सिद्धार्थता में जैमिनि के विरोध का परिहार २५९
२६. कार्यत्वहेतु से चेतन-जन्यत्व का अनुमान २७१
२७. जगत् में एकप्रकृतिकत्व का साधन २७३
२८. स्वरूप लक्षण, विशेष लक्षण २८०
२९. गुणभूत पदों में उपलक्षणार्थत्व २८२
३०. लक्षण-प्रयोजन-निरूपण २८५
३१. लक्षण-समय लक्ष्यस्वरूप-निश्चय २८७
३२. अनुवादकता के बल पर चेतन-कारणता के विधान की कल्पना २८९
३३. जन्मादि-वाक्यों में ब्रह्मानुमान का निराकरण २९०
३४. समन्वय का उपसंहार २९५

(द्वितीय अध्याय)

१ समन्वय में प्रत्यक्षादि का विरोध ३०३
२. यमन्वय में प्रत्यक्षादि के विरोध का परिहार ३०६
३. वेदान्त-वाक्यों की एकात्मपरता ३१०
४. अध्यस्त होने पर भी प्रपञ्च में सत्य-मिथ्या-विभाग ३१३
५. विज्ञानवाद के साम्य का खंडन ३१४
६. स्वप्न और जाग्रत की समता का निरास ३१७
७. वेदान्त-मत से भिन्न मतों में सत्य-मिथ्या-विभाग की अनुपपत्ति ३२०
८. अनात्म-प्रत्यक्ष की अतात्त्विकता ३२३

क्र० विषय पृष्ठांक
९. परिणामवाद ३२८
१०. विवर्तवाद ३३३
११. वैशेषिक मत का खण्डन ३३५
१२. आरोपादि त्रिविध दृष्टि का निरूपण ३३८
१३. परभावी वाक्यों से पूर्णभावी वाक्यों की दुर्बलता ३५४
१४. संसार की केवल ज्ञान-निवर्त्यता ३५९
१५. बन्ध-मोक्ष-व्यवस्था ३६१
१६. ब्रह्म ही अज्ञान का आश्रय है ३७८
१७. जीव और ईश्वर का वैलक्षण्य ३८०
१८. बन्ध-मोक्ष-व्यवस्थापक शास्त्रों का प्रामाण्य-रक्षण ३९७
१९. कल्पित शास्त्रों में भी तत्त्व-बोधकता ४०१
२०. वेदान्त-मत में पूर्व काण्ड का प्रामाण्य-व्यवस्थापन ४११

(तृतीय अध्याय)

१ ज्ञान के साधनों का निरूपण ४१३
२. जीव का संसरण-निरूपण ४१६
३. अपवर्ग-साधन-निरूपण ४३८
४. तत्त्वंपदार्थ-शोधन ४४०
५. त्वंपद-लक्ष्यार्थ-प्रदर्शन ४४७
६. तत्पद-लक्ष्य-निरूपण ४७८
७ ऐश्वर्यादि की आत्मरूपता का निरास ४८१
८. 'उत्पत्ति' शब्द का अर्थ ५०१
क्र० विषय पृष्ठांक
९ जगत् की अभिव्यक्ति का खण्डन ५०५
१० मायावाद से अतिरिक्त कार्य-कारणभाव की अनुपपत्ति ४०८
११. जगत् के प्रकाशक की व्यवस्था ५१२
१२. अन्योऽन्याध्यास-निरूपण ५१५
१३ वेद की जन्यता का खण्डन ५१६
१४. तत्त्वंपदार्थ-शोधन ५३०
१५. अवान्तर वाक्यों की इयत्ता ५४३
१६. विधि-निषेध वाक्यों की विलक्षणता ५४७
१७. अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग साधन-निरूपण ५४९
१८. ज्ञात की उत्पत्ति का अनियम ५५७
१९ अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग साधनों की विशेषता ५५८
२०. परिव्राजक को इस जन्म में ही ज्ञान-फल का लाभ ५६१
२१ संन्यास का उपयोग ५६२

(चतुर्थ अध्याय)

१. बोध से फल-निष्पत्ति का प्रकार ५६४
२ ज्ञान-कर्म-समुच्चय का निरास ५६७
३ अविद्या-निवृत्ति का स्वरूप-निरूपण ५६८
४. मोक्ष की कूटस्थ नित्यता ५७५
५. जीवन्मुक्ति का समर्थन ५७९
६. शिष्य का कृतज्ञता-प्रकाश ५८३
७ ईश्वरार्पण ५८७

* * *

॥ श्रीचन्द्राचार्या विजयन्तेतराम् ॥

संक्षेपशारीरकम्

भाषानुवादसहितम्

❀ प्रथमोऽध्यायः ❀

मङ्गलानुष्ठानम्

उदासीनं सुखासीनमुपासीनं रमारमम् ।
औदास्यप्रथमाचार्यं कुमारं वैधसं भजे ॥ १ ॥

पञ्चभूतप्रमोक्षाय, पञ्चदेवान् महौजसः ।
वन्द्यान् वन्दे गणेशेश—श्रीपतिशक्तिभास्वतः ॥ २ ॥

अहं क्षारः सिन्धुर्हृदयमपि मे पङ्कभरितम्,
तथापि श्रीचन्द्रे शरणमुपयातः प्रतिपलम् ।
न शोचाम्यात्मानं मधुरगुणहीनं निपतितम्,
श्रिया पूर्णश्चन्द्रो न सुखयति किं सिन्धुहृदयम् ॥ ३ ॥

किं पञ्चाम्बुसरोवरेऽतिविशदे श्रीचन्द्रबिम्बच्छविः,
किं वा श्रौतमुनीन्द्रहंसवसतिः शीतान्तरं मानसम् ।
किं वा संसृतिशूलविद्धमनसां धन्वन्तरिर्नूतनः,
दिव्योदात्तगुणार्णवो गुरुवरः श्रीसुन्दरः पातु वः ॥ ४ ॥

भगवान् शङ्कराचार्य ने अपने विस्तृत शारीरक भाष्य में ब्रह्मसूत्रों का ग्रन्थि-विश्लेषण विशदरूप से किया। उनके प्रसन्न गम्भीर भव्य भाष्य का भावावबोध कराने के लिए सर्वज्ञात्ममुनि ने इस संक्षेपशारीरक ग्रन्थ को जन्म दिया। यह संक्षिप्त इसलिए है कि इसमें सविशेष ब्रह्म की चर्चा एवं आनुषङ्गिक विचार छोड़ दिये गये हैं। इस ग्रन्थ को शास्त्र[1] भी कहा जाता है, प्रकरण[2] भी और वार्तिक[3] भी। स्वयं ग्रन्थकार ने इसी अध्याय के सत्तावनवें श्लोक में कहा है—

"श्रीमच्छारीरकार्थप्रकटनपटुताशालि शास्त्रं विदध्मः ॥"

दसवें पद्य में बताया है—

"शारीरकार्थविषयावगतिप्रधानम्,
संक्षेपतः प्रकरणं करवाणि हृष्यन् ॥"

ग्यारहवें पद्य में भी—

"विमृशन्त्विदं प्रकरणं मनसा"

एवं उक्तानुक्तादि चिन्तन भी इस ग्रन्थ में पाये जाते हैं, अतः इसे शाङ्करभाष्य का श्लोकवार्तिक[4] कहना भी अनुचित नहीं।

संक्षेपशारीरक के आरम्भ की चतुःश्लोकी उतना ही महत्त्व रखती है, जितना कि ब्रह्मसूत्र की चतुःसूत्री। वेदान्तशास्त्र के प्रमेयों में तीन तत्त्वों का प्राधान्य है—त्वम्पदार्थ, तत्पदार्थ तथा उन दोनों का अभेद (अखण्डार्थ)। इन तीनों का क्रमशः प्रतिपादन प्रथम ("अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"=साधनचतुष्टय-सम्पन्न अधिकारी को मोक्ष-साधनीभूत ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान करने के लिए वेदान्तवाक्यों का विचार करना चाहिए) द्वितीय ("जन्माद्यस्य यतः" = इस जगत् का जन्मादि जिस ब्रह्म से होता है) और चतुर्थ ("तत्तु समन्वयात्"—वह ब्रह्म ही वेदान्त-प्रतिपाद्य है; क्योंकि वेदान्तवाक्यों का ब्रह्म में ही समन्वय होता है) सूत्र में हुआ है। या यों कह दिया जाय कि त्वम्पदार्थविषयक (जीवस्वरूपपरक) वाक्यों का समन्वय प्रथम सूत्र में तथा तत्पदार्थ-विषयक वाक्यों का समन्वय द्वितीय सूत्र में तथा अखंण्डार्थविषयक महावाक्य का समन्वय चतुर्थ सूत्र में किया गया है, जैसा कि ग्रन्थकार ने स्वयं इसी अध्याय के ५६० वें श्लोक में कहा है—

"त्वम्पदार्थविषयं समन्वयं तत्पदार्थविषयं ततः क्रमात्"

उक्त प्रमेय के साधक प्रमाण का निरूपण तृतीय ("शास्त्रयोनित्वात्"=ऋग्वेदादि

---

[1] प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा। पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥
तच्छास्त्रं त्रिविधं प्रोक्तं सात्त्विकादिविभेदतः। सात्त्विकं तत्र वेदान्तं मीमांसा राजतं स्मृतम्।
तामसं न्यायशास्त्रं च हेतुवादाभियंत्रितम् ॥ (देवी भा०)

[2] शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्। आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः ॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण०)

[3] उक्तानुक्तद्विरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रसज्यते। तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः ॥
(पराशरोप० १८)

[4] मीमांसक-मूर्धन्य कुमारिल भट्ट ने शाबर भाष्य पर प्रसिद्ध श्लोकवार्तिक की रचना कर विश्व को एक नया आलोक दिया। उन्हीं की मनोरम शैली के आधार पर धर्मकीर्ति, सुरेश्वराचार्य तथा विद्यानन्दादि आचार्यों ने अपने-अपने श्लोकवार्तिक ग्रंथों को जन्म दिया। ब्रह्मसूत्र के शाङ्कर भाष्य पर कोई श्लोकवार्तिक न हो—यह विद्वानों को कब सह्य होता? अतः इस क्षेत्र में हमारे

शास्त्र प्रमाणक होने से) सूत्र में किया गया है । वहाँ "अहं ब्रह्मास्मि"—इस महावाक्य के अनुसार पदार्थ–निरूपक प्रथम तथा द्वितीय सूत्र का क्रम समुचित होने पर भी वाक्यार्थनिरूपक चतुर्थ सूत्र व्यवहित पड़ जाता है । अर्थात् तृतीय सूत्र में वाक्यार्थ-निरूपण के अनन्तर चतुर्थ सूत्र में प्रमाण-निरूपण उचित था । अतः उस औचिती तथा सौन्दर्य का पूर्णतया ध्यान रखते हुए हमारे ग्रन्थकार श्री सर्वज्ञमुनि ने "तत्त्वमसि" महावाक्य के अनुसार प्रथम श्लोक में तत्पदार्थ, द्वितीय में त्वम्पदार्थ, तृतीय में अखण्डार्थ तथा चतुर्थ में प्रमाण का निरूपण किया है[1]—

अनृतजडविरोधि रूपमन्त-
त्रयमलबन्धनदुःखताविरुद्धम् ।
अतिनिकटमविक्रियं मुरारेः
परमपदं प्रणयादभिष्टवीमि ॥ १ ॥

योजना—अनृतजड़विरोधि रूपम्, अन्तत्रयमलबन्धनदुःखताविरुद्धम्, अतिनिकटम्, अविक्रियम्; मुरारेः परमपदं प्रणयात् अभिष्टवीमि । (पुष्पिताग्रा वृत्तम्[2])

योजितार्थ—मिथ्या तथा जड़ प्रपञ्च के विरोधी (सत्य एवं स्वयं प्रकाश), सर्वरूप, त्रिविध परिच्छेद, मल (राग-द्वेषादि) बन्धन (धर्माधर्मादि) और दुःख से विरुद्ध (अनन्त, शुद्ध, मुक्त एवं सुखरूप), अत्यन्त निकटवर्ती, जन्मादि विकारों से रहित मुरारि के परम पद का पूर्ण श्रद्धा-भक्ति से संस्तवन करता हूँ ।

भावितार्थ—पुराणों में प्रसिद्ध[3] है कि भगवान् कृष्ण ने मुर नामक दैत्य का संहार किया था, अतः वे मुरारि कहलाते हैं । भगवान् कृष्ण हैं – सत्त्वप्रधान माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य । उनका परम पद है–बिम्बचैतन्य, जिसके लिए स्वयं भगवान् कृष्ण ने कहा है–"ततः पदं तत् परिमार्गितव्यम्" (गी० १५।४), "तद्धाम परमं मम" (गी० १५।६) । यदि ईश्वर को [4]बिम्ब माना जाय, तब परम पद का अर्थ होगा–बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से रहित शुद्ध तत्त्व । अथवा वेष्टनार्थक 'मुर' धातु से परिनिष्पन्न 'मुर'

सर्वज्ञात्ममुनि आगे बढ़े और इस संक्षेपशारीरक ग्रन्थ के रूप में ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य को श्लोक-वार्तिक से विभूषित किया ।

[1] किसी-किसी आचार्य ने प्रथम श्लोक में त्वम्पदार्थ तथा द्वितीय में तत्पदार्थ का प्रतिपादन माना है, किन्तु अधिक सम्मत यही है कि प्रथम में तत्पदार्थ तथा द्वितीय में त्वम्पदार्थ का निरूपण है । उक्त निरूपण से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि शोधित तत्त्वम्पदार्थों का अभेद इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है । उसके ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति और परमानन्दरूपता का आविर्भाव परम प्रयोजन है ।

[2] अयुजि नयुगरेफतो यकारो, युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा (वृत्त० ४।१०) अर्थात् जिस १२ अक्षर के छन्द के विषम पादों में क्रमशः दो नगण, रगण तथा यगण हों, सम चरणों में क्रमशः नगण, दो जगण रगण तथा अन्त में एक गुरु वर्ण हो उसे पुष्पिताग्रा कहते हैं ।

[3] मुरः क्लेशे च सन्तापे कर्मयोगे च कर्मिणाम् । दैत्यभेदेऽप्यरिस्तेषां मुरारिस्तेन कीर्तितः ॥

[4] स्वयं ग्रन्थकार ने ईश्वर के विषय में बिम्ब, प्रतिबिम्ब दोनों पक्षों का उल्लेख किया है ।
"बिम्बे तमोनिपतिते प्रतिबिम्बके वा" (सं० शा० २।१७६)

शब्द का अर्थ होता है—स्वरूपावरक अज्ञान। अज्ञान का अरि (निवर्तक) वृत्ति-प्रतिफलित चेतन है। उसका परम पद सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त चेतन है। अथवा "परा मा=मानं यस्य, तत् परमम्'—इस व्युत्पत्ति से 'परम' शब्द का अपरिच्छिन्न अर्थ होता है। वही (अपरिमित चैतन्य) पदनीय=मुक्तोपसृप्य होने के कारण पद कहलाता है। श्रुति कहती है—"तद्विष्णोः परमं पदम्" (कठ० ३।९)। अथवा "मुरोऽबोध अरिः=आच्छादको यस्य"—इस प्रकार शुद्ध चेतन ही मुरारि है। वही परम पद है। इस पक्ष में मुरारि पद के उत्तर षष्ठी विभक्ति का "राहोः शिरः" के समान अभेद अर्थ करना होगा।

"प्रणय" का 'श्रद्धा-भक्ति' अर्थ होता है। 'प्रणय' का अर्थ [1]किसी ने भागत्यागलक्षणा-रूप-प्रकृष्ट नय किया है। वह उचित नहीं, क्योंकि स्तुति करने में उक्त प्रकृष्ट नय का कोई विशेष उपयोग नहीं और अकारण रूढ्यर्थ (श्रद्धा-भक्ति) का त्याग भी करना पड़ता है। "अभिष्टवीमि"—यहाँ अभिपूर्वक 'ष्टूञ्' धातु का अर्थ कुछ[2] विद्वानों ने एकाग्र चित्त से अभेद चिन्तन किया है। दूसरे विद्वानों ने[3] अर्थ किया है—'तत्स्वरूप-निरूपणपरक ग्रंथ का निर्माण'। किन्तु निर्गुण ब्रह्म में वास्तविक गुणों के सम्भव न होने पर भी कल्पित गुणों को मान कर उनका संस्तवन (संकीर्तन) बन जाता है। अतः स्तुति का मुख्य अर्थ (गुणिनिष्ठगुणाभिधानम्) जब निभ सकता है, तब गौण अर्थ (चिन्तन, ग्रन्थ-करणादि) करना न्यायसंगत नहीं। स्तोतव्य निर्विशेष ब्रह्म में सामान्यतः सभी विकारों का निषेध करने के लिए कहा—अविक्रियम्। जगत में जन्मादि[4] षड् भाव विकार होते हैं, जीव में जाग्रदादि और ईश्वर में सृष्टिकर्तृत्वादि—ये सभी विकार उस निर्विशेष चेतन के नहीं होते। श्रुतियाँ कहती हैं—"न जायते म्रियते" (कठ, २।१८), "अविनाशी वाऽरे! अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' (ब्रह्म० ४।५।१४)। निर्विशेष चेतन में विकार क्यों नहीं होते? इस प्रश्न का उत्तर है—अनृतजडविरोधि। मिथ्या तथा जड़ प्रपञ्च का विरोधी (सत्य एवं स्वयं प्रकाश) होने से वह प्रपञ्च रूप से विकृत नहीं हो सकता। अर्थात् परिणामी पदार्थ सदैव सजातीय आकार में ही परिणत होते देखे जाते हैं, विजातीय में नहीं। ब्रह्म और प्रपञ्च में सजातीयता न होने से उनमें विकार-विकारिभाव सम्भव नहीं। जो लोग कहते हैं कि उपलब्धि न होने से चेतन की सत्ता सिद्ध नहीं होती, उन्हें समझाने के लिए कहा—रूपम्। अर्थात् वह तत्त्व सर्वस्वरूप, सर्वाधिष्ठान, सर्वानुस्यूत है, उसकी सत्ता से नकार करना समस्त प्रपञ्च और सर्वानुभव का अपलाप करना है। श्रुतियाँ मुक्तकण्ठ से कहती हैं—"इदं सर्वं यदयमात्मा" (नृ० उ० ५), "ब्रह्मैवेदं सर्वम् (नृ० उ० ७)।

अनृत जड़ प्रपञ्च का विरोधी होने में कारण है—अन्तत्रयविरुद्धम्। देशकृत परिच्छेद (अत्यन्ताभाव), कालकृत परिच्छेद (ध्वंस तथा प्रागभाव), वस्तुकृत परिच्छेद (अन्योऽन्याभाव) से रहित होने के कारण वह परिच्छिन्न, अनित्य और सद्वितीय प्रपञ्च का विरोधी है। प्रपञ्च के जन्मादि विकार उसमें सम्भव नहीं। श्रुतियों ने उसे अनन्त ही प्रमाणित किया है—"तदेतद् ब्रह्मापूर्वमपरमनन्तमबाह्यम्" (बृह० २।५।१९), 'सदेव

---

[1] दे० अग्नि० १।१

[2] दे० सुबो० १।१,

[3] दे० अन्वय० १।१,

[4] 'जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते विनश्यति' (नि०)

सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छां० उ० ६।२।१), 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्' (मुण्ड० १।१।६) । जीवगत जाग्रदादि विकार भी ब्रह्म में इसलिए नहीं हो सकते कि वह है—मलबन्धनदुःखताविरुद्धम् । मल (राग-द्वेषादि), बन्धन (धर्माधर्मादि) एवं दुःखता[1] से विरुद्ध होने के कारण वह शुद्ध, मुक्त तथा परमानन्दरूप है । श्रुतियाँ कहती हैं—'न वर्द्धते कर्मणा' (बृह० ४।४।२३), 'शुद्धमपापविद्धम्' (ईशा० ८), 'एष एव परम आनन्दः' (बृह० ४।३।३३) । अतः राग-द्वेषादि जीव के धर्म उसमें कदापि नहीं हो सकते । ईश्वरगत जगत्सृष्टृत्वादि विकारों का निराकरण करने के लिए कह दिया—अतिनिकटम् । तार्किकादि ईश्वर को परोक्ष मानते हैं । किन्तु वह अतिनिकट=साक्षादपरोक्ष=प्रत्यगात्मस्वरूप है । अतः ईश्वरभाव उसमें सम्भव कैसे होगा ?

ग्रन्थकार ने नगणद्वय-घटित पुष्पिताग्रा छन्द के प्रथम उपन्यास से कविप्रथा से भी मङ्गलानुष्ठान किया । इस पद्य के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध के आरम्भ में अकार के प्रयोग में प्रणव के आद्य अक्षर का स्मरण दिलाया, मङ्गलातिशयता व्यक्त की तथा अपनी पद्य-रचना-चातुरी का पूर्ण परिचय दिया । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २।१।१) श्रुति का अनुसरण करके प्रथम श्लोक में नपुंसक लिङ्ग के पदों का, 'सेयं देवतैक्षत' (छां० ६।३।२) श्रुति के अनुरूप स्त्रीलिंग के पदों का द्वितीय श्लोक में तथा तृतीय श्लोक में 'एष ते आत्मा' (बृह० ३।७।३) का अनुसरण कर पुंलिंग पदों का प्रयोग कर के ब्रह्म-बोधक समस्त पदों की व्याख्या तीन श्लोकों में ही समाप्त-सी कर दी है ॥ १ ॥

तत्पदार्थपरक 'जन्माद्यस्य यतः (ब्र० सू० १।१।२) सूत्र का अर्थ दिखाकर त्वम्पदार्थपरक 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) सूत्र का अर्थ दिखाते हुए पूर्वकथित जगदादिरूपता के अपवाद में अपेक्षित अध्यारोप दिखाते हैं—

स्वाज्ञानकल्पितजगत्परमेश्वरत्व-
जीवत्वभेदकलुषीकृतभूमभावा ।
स्वाभाविकस्वमहिमस्थितिरस्तमोहा,
प्रत्यक्चितिर्विजयते भुवनैकयोनिः ॥ २ ॥

योजना—स्वाज्ञानकल्पितजगत्परमेश्वरत्वजीवत्वभेदकलुषीकृतभूमभावा, स्वाभाविकस्वमहिमस्थितिः, अस्तमोहा, भुवनैकयोनिः प्रत्यक्चितिः विजयते । (वसन्ततिलका वृत्तम्[2])

योजितार्थ—अपने अज्ञान से कल्पित जगत्, परमेश्वरत्व और जीवत्व के द्वारा जिसका भूमभाव (ब्रह्मभाव) कलुषित हो गया है, जिसकी वस्तुतः अपनी स्वाभाविक

---

[1] दुःखमेव दुःखता, स्वार्थे तल्प्रत्ययः ।

[2] 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः'
सिंहोन्नतेति गदिता मुनिकाश्यपेन ॥ (वृत्तरत्नाकरः)

१८ वर्ण वाले जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः एक तगण, एक भगण, दो जगण तथा दो गुरु वर्ण हों, उसे वसन्ततिलका कहते हैं । इसी का नाम काश्यपमुनि ने सिंहोन्नता, सैतवमुनि ने उद्धर्षिणी एवं राम ने मधुमाधवी कहा है ।

महिमा में सदा स्थिति है, जिसका मोह नष्ट हो गया है, वह भुवनत्रय की एकमात्र कारण प्रत्यक्चिति (अहंकारोपलक्षित चेतन) सर्वोत्कृष्ट रूप में विराजमान है।

भावितार्थ—त्वम्पद का वाच्य अर्थ दिखाते हैं—**स्वाज्ञानकल्पितेत्यादि**। प्रत्यक् चेतन में ही अपने अज्ञान से जगत्, ईश्वरत्व और जीवत्व की एवं जगदादि के भेदों (जीव और जगत् का भेद, जीव और ईश्वर का भेद, जीवों का परस्पर भेद, जगत् का परस्पर भेद एवं जगत् और ईश्वर का भेद—इन पाँच भेदों) की कल्पना हो गई। जिसके कारण प्रत्यक् चेतन का भूमभाव (ब्रह्मभाव) तिरोहित हो गया और वह अपने आप को कर्ता भोक्ता समझ कर दुःखी होता है। यहाँ 'भूमन्' शब्द 'भूमा संप्रसादादध्युपदेशात्' (ब्र० सू० १।३।८) के अनुसार अखण्ड ब्रह्म का वाचक है, बहुत्व का नहीं। इस प्रकार 'भूमभाव'—यहाँ भाव शब्द भी सार्थक हो जाता है। त्वंपद का लक्ष्य अर्थ दिखाते हैं—**स्वाभाविकेत्यादि**। ब्रह्मभाव के कलुषीकरण से तात्पर्य परिच्छिन्नत्वारोपमात्र में है, स्वरूप-हानि में नहीं। वास्तविक दृष्टि से प्रत्यक् चेतन की अपने स्वाभाविक (नित्यसिद्ध) पूर्णानन्दस्वरूप (महिमा) में स्थिति है। श्रुति ने यह रहस्य प्रश्नोत्तर के द्वारा उद्घाटित किया है - 'स भगवः ! कस्मिन् प्रतिष्ठितः ? इति स्वमहिम्नि' (छां० ७।२४।१)। अर्थात् जैसे सर्पभाव की कल्पना के समय भी वास्तविक रज्जुभाव निवृत्त नहीं होता, वैसे ही जीवभाव की कल्पना के समय (संसारावस्था में) भी ब्रह्मभाव निवृत्त नहीं होता, केवल अतत्त्वतः अन्यथाभावमात्र (विवर्त्त[1]) होता है। अनादि अज्ञान निवृत्त कैसे होगा ? और प्रत्यक् चेतन को अपने निर्विकारस्वरूप में स्थित कैसे होने देगा ? इस सन्देह को दूर करने के लिए कहा—**अस्तमोहः**। अनादि होने पर भी तार्किकों के प्रागभाव के समान अज्ञान का भी नाश माना जाता है। अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से स्वस्वरूपस्थिति निश्चित है। अस्त का अध्यस्त भी अर्थ हो सकता है। मोह (अज्ञान) केवल अध्यस्त है, वास्तविक नहीं, अतः स्वरूपावस्थिति का रोधक नहीं हो सकता। ऊपर कहा गया कि प्रत्यक् चेतन ही अपने अज्ञान से जगदादि की कल्पना का आधार होता है, वह संगत नहीं; क्योंकि लोक में रजतादि-कल्पना के आधार शुक्त्यादि पदार्थ अज्ञान के आधार नहीं होते—इस शंका का निराकरण करने के लिए कहा—**भुवनैकयोनिः**। सिद्धान्ती का आशय यह है कि दृष्टान्त में रजतादि-कल्पना के आधार शुक्त्यादि नहीं, अपितु शुक्त्यवच्छिन्न चेतन है, वह अज्ञान का आश्रय भी है। अतः प्रत्यक्चेतन अपने अज्ञान का आश्रय भी है और अज्ञान-कार्य जगत् का एकमात्र कारण भी है। वार्तिककार ने कहा है—

स्वाविद्याविभवप्रसूतविपुलद्वैतप्रपञ्चाहित-
स्पष्टभ्रान्तितिरोहितात्ममतयो यं भागशो मन्वते।
निर्भागं सकलाभिधानमननव्यापारदूरस्थितं
वन्दे नन्दितविश्वमव्ययमजं भक्त्या तमेकं विभुम्॥

इस द्वितीय श्लोक के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध के आरंभ में 'स्व' शब्द के प्रयोग से

---

[1] विवर्त—'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' (ब्र० सू० २।१।२८) सूत्र में सूत्रकार भगवान् व्यास ने विवर्तवाद का ही प्रतिपादन किया है। 'अधिष्ठानविपरीतरूपेण वर्तते इति विवर्तः' अर्थात् सत्, चित् और आनन्दस्वरूप ब्रह्माधिष्ठान से विपरीत असत् जड और दुःखस्वरूप होने से संसार को विवर्त कहा जाता है।

त्वम्पदार्थ का प्रतिपादन निश्चित कर दिया है। तत्पदार्थ का प्रतिपादन विवक्षित होने पर समष्टि अज्ञान के लिए केवल 'अज्ञान' पद पर्याप्त था। 'स्व' विशेषण की सार्थकता व्यष्टि अज्ञान के ग्रहण करने में ही प्रतीत होती है॥ २॥

तत्पदार्थ तथा त्वम्पदार्थ रूप विषय का निरूपण गत दो श्लोकों में किया गया। अब वाक्यार्थरूप प्रयोजन का निरूपण किया जाता है—

प्रत्यक्प्रमाणकमसत्यपराक्प्रभेदं
प्रक्षीणकारणविकारविभागमेकम्।
चैतन्यमात्रपरमार्थनिजस्वभावं
प्रत्यञ्चमच्युतमहं प्रणतोऽस्मि नित्यम्॥ ३॥

योजना— प्रत्यक्प्रमाणकम्, असत्यपराक्प्रभेदम्, प्रक्षीणकारणविकारविभागम्, चैतन्यमात्रनिजस्वभावम्, एकं प्रत्यञ्चम्, अच्युतं नित्यं प्रणतोऽस्मि (वसन्ततिलकावृत्तम्)॥

योजितार्थ—प्रत्यक्स्वरूप ही जिसमें प्रमाण है, पराग्रूप बुद्धि-इन्द्रिय-प्रपञ्च का भेद जिसमें सर्वथा असत्य (बाधित) है, जिसमें माया, आकाशादि कारणकार्य-विभाग ज्ञान से बाधित होता है, चैतन्यस्वरूप ही जिसका अपना वास्तविक स्वरूप है, जो एक है; उस प्रत्यगात्माभिन्न अच्युत रूप परम पद को मैं नित्य प्रणाम करता हूँ।

भावितार्थ—प्रत्यञ्चमच्युतमहं प्रणतोऽस्मि नित्यम्। प्रत्यगभिन्न अच्युतात्मा को मैं सदा प्रणाम करता हूँ—यहाँ 'प्रत्यग्'[1] पद से त्वम्पदार्थ, 'अच्युत'[2] पद से तत्पदार्थ का निर्देश किया एवं प्रत्यञ्चम् अच्युतम्—इस प्रकार समान विभक्ति-प्रयोग तथा 'एकम्'—इस विशेषण से दोनों का अभेद व्यक्त कर अखण्ड वाक्यार्थ बताया है। सत्य ज्ञानादि विभिन्न पदों का वाच्य एक कैसे होगा? इस सन्देह को मिटाने के लिए कहा—चैतन्यादि। अर्थात विविध पदों के वाच्य अर्थों में एकता न बनने पर भी उनका लक्ष्यभूत चैतन्यमात्र एक है, अभिन्न है। 'चैतन्यमात्रमेव परमार्थोऽत्यन्ताबाध्यः परमानन्दरूपत्वेन परमप्रयोजनरूपो वा निजोऽनौपाधिकः स्वभावः स्वरूपं यस्य'—इस प्रकार दोनों पदों के लक्ष्यभूत चैतन्यमात्र का स्पष्टीकरण किया गया है। सद्वितीय प्रत्यगात्मा का अद्वितीय ब्रह्म से अभेद कैसे होगा? इस शङ्का की निवृत्ति के लिए कह दिया——असत्येत्यादि। पराक् नाम है—बाह्य दृश्य प्रपञ्च का। यह दृश्य वर्ग जिसका अत्यन्त असत्य (बाधित) है, वह प्रत्यगात्मा वस्तु दृष्टि से सद्वितीय नहीं, अद्वितीय ही है। फिर भी सन्देह होता है कि तत्पदार्थ ईश्वर आकाशादि अनन्त विकारों के रूप में परिनिष्पन्न होने के कारण एक कैसे होगा? इस सन्देह को हटाने के लिए कहा—प्रक्षीणेत्यादि। माया, आकाशादि कारण-कार्य प्रपञ्च संसार दशा में भी वस्तुतः नहीं, अतः वह सदा एकरस और अद्वितीय है। पदार्थद्वय का संशोधन किया गया, अब वाक्यार्थ दिखाया जाता है—एकम्। श्रुति ने स्पष्ट किया है—'एकमेवाद्वितीयम् (छां० ६।२।१)। आशय यह है कि एक रूप वस्तु का

---

[1] प्रातिकूल्येन परप्रकाश्यदेहादिविलक्षणत्वेन प्रकाशते—इस व्युत्पत्ति से प्रत्यक् का अर्थ त्वम्पद-लक्ष्य चैतन्य होता है।

[2] न च्यवते स्वस्वरूपादिति—इस व्युत्पत्ति से अच्युत नाम है सर्वबाधावधि तत्पद-लक्ष्यभूत चैतन्य का।

परिणाम, आरम्भ या संघात सम्भव नहीं, अतः कार्यकारणभावादि से रहित वह अखण्डैकरस चैतन्य सदा कूटस्थ है, उसी में सभी पदों का तात्पर्य है। अतः वही वाक्यार्थ है ॥ २ ॥

तत्पदार्थ, त्वम्पदार्थ तथा महावाक्यार्थरूप त्रिविध प्रमेय बताया गया। अब इस प्रमेय की सिद्धि के लिए अपेक्षित प्रमाण का निरूपण वाग्देवी के रूप में किया जाता है-

औत्पत्तिकी शक्तिरशेषवस्तु-
प्रकाशने कार्यवशेन यस्याः ।
विज्ञायते विश्वविवर्तहेतो-
र्नमामि तां वाचमचिन्त्यशक्तिम् ॥ ४ ॥

योजना—विश्वविवर्तहेतोः यस्याः कार्यवशेन अशेषवस्तुप्रकाशने औत्पत्तिकी शक्तिः विज्ञायते, ताम् अचिन्त्यशक्ति वाचं नमामि। (उपजातिवृत्तम्) ॥

योजितार्थ—जिस विश्वविवर्त-हेतु भूत वाणी की वैदिक प्रमारूप कार्य को देख कर अशेष वस्तुओं का प्रकाशन करनें में स्वाभाविकी शक्ति का पता चलता है, उस अचिन्त्यशक्तिक वाग् देवी को नमस्कार करता हूँ।

भावितार्थ—"शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र० सू० १।१।४) सूत्र के प्रथम वर्णक में ब्रह्म को वेदों का उपादान कारण और द्वितीय वर्णक में वेद को ब्रह्म–प्रमा–जनक (प्रमाण) कहा गया है। वे दोनों सिद्धान्त इसी पद्य में निहित हैं। 'विश्वः (सर्वः प्रपञ्चः) विवर्तो यस्य स (ब्रह्म) हेतुः (उपादानम्) यस्याः सा' इस प्रकार प्रथम सिद्धान्त स्पष्ट होता है। श्रुति कहती है, 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदः' (बृह० २।४।१०), 'एवं सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छां० ३।१४।१), के अनुसरण अशेष स्वरूप वस्तु है ब्रह्म, उस ब्रह्म के प्रकाशन की औत्पत्तिकी ([2]स्वाभाविकी) शक्ति वेदवाक् में है। किन्तु अलौकिक होने से वह शक्ति प्रत्यक्ष नहीं, अपितु ब्रह्मसाक्षात्काररूप कार्य के द्वारा जानी जाती है। इस प्रकार द्वितीय सिद्धान्त व्यक्त किया गया है। अथवा विश्वरूप विवर्त की हेतु वैदिक वाक् है, जैसा कि स्मृतिकारों ने कहा है—

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे। (मनु० १।२१)
अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥ (म० शां० २३१।५६)

इसी लिए अशेष वस्तु के प्रकाशन का सामर्थ्य भी उसी वाक् में विद्यमान है।

---

[1] "अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ।
"स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः" (वृत्त०) के अनुसार जिस छन्द के प्रत्येक पाद में क्रमशः दो तगण, एक जगण तथा दो गुरु वर्ण हों, उसे इन्द्रवज्रा कहते हैं। एवं "उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' (वृत्त०) के अनुसार जिसके प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण, तगण, जगण एवं दो गुरु हों उसे उपेन्द्रवज्रा कहते हैं। इन दोनों छन्दों के पद जिसमें हों, उसे उपजाति कहते हैं। उक्त श्लोक में प्रथम और तृतीय चरण इन्द्रवज्रा एवं द्वितीय और चतुर्थ चरण उपेन्द्रवज्रा का है।

[2] जैमिनि महर्षि ने कहा है—'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेनाभिसम्बन्धः' (जै० सू० १।१।४) शबरस्वामी ने 'औत्पत्तिक' शब्द का अर्थ किया है—औत्पत्तिकमिति नित्यं ब्रूमः। अतः यहाँ भी औत्पत्तिक का अर्थ स्वाभाविक ही करना उचित है।

जिसका ज्ञान वृद्ध-व्यवहाररूप कार्य से होता है। उस वाक् में नमस्करणीयता व्यक्त करने के लिए कहा है—अचिन्त्यशक्तिम्। अर्थात् यद्यपि शक्तिवृति से निखिल शब्दों के अगोचर ब्रह्म का प्रकाशन नहीं हो सकता, जैसा कि श्रुति कहती है "यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह' (तैत्ति० २।४।५)। तथापि षड्विध लिङ्गों से निश्चित होता है कि लक्षणा वृत्ति के द्वारा ब्रह्म का प्रकाशन वैदिक शब्द करते हैं। एतावता प्रत्यगभिन्न ब्रह्मरूप विषय के साथ वेदान्तवाक्यों का प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। वही सम्बन्ध वेदान्त, मीमांसा शास्त्र तथा उसके एकदेशभूत प्रकरण ग्रन्थ का भी होता है ॥ ४ ॥

विषय, प्रयोजग्र तथा सम्बन्ध के सूचक मङ्गलानुष्ठान के अनन्तर विघ्न-शमन के लिए विघ्नेश को प्रसन्न किया जाता है—

प्रारम्भाः फलिनः प्रसन्नहृदयो यश्चेत् तिरश्चामपि,
नो चेद् विश्वसृजोऽप्यलं विफलतामायान्त्युपायोद्यमाः।
विश्वैश्वर्यमतो निरंकुशमभूद् यस्यैव विश्वप्रभोः,
सोऽयं विश्वहिते रतो विजयते विघ्नेश्वरो विश्वकृत् ॥ ५ ॥

योजना—यः चेत् प्रसन्नहृदयः तिरश्चाम् अपि प्रारम्भाः फलिनः, नो चेत् विश्वसृजोऽपि उपायोद्यमाः अलं विफलताम् आयान्ति। अतः यस्यैव विश्वप्रभोः ऐश्वर्यं निरङ्कुशम् अभूत् स विश्वहिते रतः विश्वकृत् विघ्नेश्वरो विजयते। (शार्दूलविक्रीडितम्[1]) ॥

योजितार्थ—जो (विघ्नेश्वर) यदि प्रसन्न हृदय हो जाय, तब तो तिर्यक् योनिगत प्राणियों के भी उपायानुष्ठान सफल होते देखे गये हैं और यदि प्रसन्न न हो, तब विश्व-स्रष्टा ब्रह्मा के भी उपायारम्भ विफल हो जाते हैं। इससे जिस विश्वप्रभु का ऐश्वर्य निरंकुश (सर्वथा स्वतन्त्र) सिद्ध होता है। वह विश्व-हित-रत, विश्वकर्त्ता, भगवान् विघ्नेश्वर (गणेश) सर्वोपरि विराजमान हम सब पर अनुग्रह करे।

भावितार्थ—स विश्वकृत् विघ्नेश्वरो विजयते—वह महागणपति विश्वकर्ता है, अर्थात् विश्वकर्त्ता ब्रह्मादिकों के विघ्नों को दूर करता है। अथवा वह विश्वरचयिता ब्रह्मादि त्रिमूर्तिस्वरूप है। उसके प्रभावातिरेक को व्यक्त करने के लिए कहा—यश्चेदित्यादि। उस देवाधिदेव के प्रसन्न हो जाने पर सुग्रीव हनुमान्, सम्पाति आदि तिर्यक्प्राणियों के भी मनोरथ सिद्ध होते देखे गये हैं, देव मनुष्यों की तो बात ही क्या है? उसकी प्रसन्नता न होने पर साक्षात् ब्रह्मा के सङ्कल्प भी पूरे नहीं होते; जैसे कि भगवान् कृष्ण के बछड़ों का अपहरण करने के लिए ब्रह्मा ने कितना ही यत्न किया, किन्तु सफलता हाथ न लगी। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर सम्पूर्ण विश्व का ऐश्वर्य (निग्रह तथा अनुग्रह का सामर्थ्य) जिस भगवान् में सिद्ध होता है; उसी से हम भी अनुग्रह की प्रार्थना करते हैं। वह सब प्राणियों के लिए समान है। फिर भी उसकी भक्ति-भावना के कारण भक्त

---

[1] 'सूर्याश्वैर्मसजस्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' (वृत्त० ३।९९) अर्थात् जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः एक मगण, एक सगण, एक जगण, एक सगण, दो तगण तथा दो गुरु हों, उसे शार्दूलविक्रीडित कहते हैं। इसके बारह और सात वर्णों पर विराम (यति) होता है।

सफल तथा विद्वेष-वश विद्वेषी विफल होते हैं। इसीलिए उसे अपने भक्तों के विघ्नों का अपहर्त्ता और विद्वेषियों के कार्यों में विघ्नकर्त्ता कह दिया जाता है। इसी भाव से ग्रन्थकार ने 'विश्वहिते रतः' कहा है। ग्रन्थकार को पूर्ण विश्वास है कि विश्वहितानुरक्त भगवान् महागणपति उसके मनोरथों को पूर्ण करेंगे ॥ ५ ॥

देववर्ग की स्तुति के अनन्तर क्रमशः सूत्रकार, भाष्यकार और वार्तिककार की स्तुति करनी है। सर्वप्रथम सूत्रकार भगवान् व्यास की एक रूपक के द्वारा महनीयता, पावनता और गम्भीरता पर प्रकाश डाला जाता है—

वाग्विस्तरा यस्य बृहत्तरङ्गा
वेलातटं वस्तुनि तत्त्वबोधः।
रत्नानि तर्कप्रसरप्रकाराः,
पुनात्वसौ व्यासपयोनिधिर्नः ॥ ६ ॥

योजना—यस्य विस्तरा वाक् बृहत्तरङ्गा, वस्तुनि तत्त्वबोधः वेलातटम्, तर्कप्रसरप्रकाराः रत्नानि, असौ व्यासपयोनिधिः, नः पुनातु। ([1]उपजाति वृत्तम्)।

योजितार्थ—जिसकी उपदेशावली ही बृहत् तरङ्ग हैं, ब्रह्मवस्तु का यथावत् बोध तटप्रान्त है, तथा जिसके तर्कप्रभेद ही रत्न हैं, वह व्यास-महासागर हम सबको पावन करे।

भावितार्थ—व्यासपयोनिधि—महत्ता, पावनता और अगाधता की समानताओं को लेकर भगवान् व्यास को पयोनिधि कहा गया है। इस महासागर में वेदों का स्वच्छतम विशाल विज्ञान ही जलराशि है। उनके सूत्रों और पुराणों का अपार साहित्य विशाल तरङ्गों के स्थान में है। इन तरंगों की गति शिष्यगणगत तत्त्वबोधपर्यन्त है। अर्थात् जिस प्रकार तरंगों में तभी तक गति रहती है, जब तक तट न आ जाय, वैसे ही सूत्रकार का सदुपदेश तब तक बराबर प्रवृत्त रहता है, जब तक शिष्यों को बोध न हो जाय। बोध की सिद्धि होने पर ही वह वाक्प्रवृत्ति उपरत हुआ करती है। अतः यह कहना सर्वथा उचित है—वेलातटं वस्तुनि तत्त्वबोधः। अर्थात् आत्मवस्तुविषयक बोध ही उक्त महासागर का तट है। यह महासागर साधारण नहीं, अपि तु रत्नाकर है। इसमें रत्न हैं—रत्नानि तर्कप्रसरप्रकाराः। जिस प्रकार रत्न दुर्भेद्य उपादेय और प्रकाशक होते हैं, उसी प्रकार तत्त्वम्पदार्थ-शोधन तथा वाक्यार्थ-निर्णयादि के लिए प्रयुक्त भगवान् व्यास के तर्क-प्रयोग-भेद नितान्त दुर्भेद्य हैं, मुमुक्षुजनों के लिए संग्राह्य और प्रकाशप्रद हैं। "असौ व्यासपयोनिधिः पुनातु"—इस प्रकार के भगवान् व्यास हम सब को पवित्र करें। यहाँ ध्वनि यह है कि सागर तो [2]दर्शन से पवित्रता प्रदान करता है, किन्तु भगवान् व्यास स्मरण मात्र से ही। प्रकृत रूपक के द्वारा भगवान् व्यास में अपूर्व मर्यादा, अद्भुत गाम्भीर्य तथा विशदाशयता सुव्यक्त कर दी है, जैसा कि भगवती श्रुति कहती हैं—

अब्धिवद्धृतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः।
नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव ॥ (नारद० उ० ५।१०)

---

[1] इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का संमिश्रण। दे० पृ० ८

[2] दृष्टमात्राः पुनन्त्येते राजा भिक्षुर्महोदधिः।

सूत्रकार की अर्चा के अनन्तर भाष्यकार भगवान् शङ्कराचार्य को प्रणाम करते हैं—

वक्तारमासाद्य यमेव नित्या,
सरस्वती स्वार्थसमन्विताऽऽसीत् ।
निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का
नमामि तं शङ्करमर्चिताङ्घ्रिम् ॥ ७ ॥

योजना—नित्या सरस्वती यमेव वक्तारमासाद्य निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का (सती) स्वार्थसमन्विता आसीत्, तम् अर्चितांघ्रिम्, शंकरं नमामि । (उपजातिछन्दः)

योजितार्थ—वेदरूप नित्य वाणी जिस वक्ता को ही पाकर कुतर्करूपी कलङ्क के कीचड़ से निकल कर स्वार्थ-समन्वित हुई, उस पूज्यचरण भगवान् शङ्कर को नमस्कार करता हूँ ।

भावितार्थ—नित्या[1] सरस्वती । अपौरुषेय वेद का तात्पर्य बताते हुए महर्षि जैमिनि तथा उनके अनुयायी प्रभाकर मिश्रादि आचार्यों ने कार्यार्थ-प्रतिपादक कर्मकाण्ड का ही स्वार्थ में तात्पर्य बताया और ज्ञानकाण्ड (उपनिषद्) का उनके स्वार्थ (अद्वितीय ब्रह्म) में तात्पर्य नहीं माना । दूसरी ओर कुछ अभेदवादी आचार्यों ने कर्मकाण्ड को निरर्थक कह डाला । इस प्रकार लोगों ने अपने-अपने कुतर्करूपी कलंक के पंक (कीचड़) से समस्त वेद को कलंकित कर डाला और उसे अपने स्वार्थ से गिराकर निरर्थक बना डाला । वह नित्य वेदवाणी यमेव वक्तारमासाद्य=जिस अपने एकमात्र व्याख्याता को पाकर निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का=समस्त दुष्ट तर्कों के कलङ्करूपी पङ्क से मुक्त हुई और स्वार्थसमन्विता आसीत्=अपने वास्तविक अर्थ से युक्त हो सार्थक हुई । अर्थात् जिस एकमात्र व्याख्याता ने व्यावहारिक दृष्टि से कर्मकाण्ड का और पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञानकाण्ड का प्रामाण्य सुरक्षित किया, तम् अर्चितांघ्रि शङ्करं नमामि=उस सर्व-पूज्यचरण आचार्य शङ्कर को नमस्कार करता हूँ ॥ ७ ॥

भाष्यकार को प्रणाम कर के वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्य के चरणों का स्मरण करते हैं—

यदीयसम्पर्कमवाप्य केवलं,
वयं कृतार्था निरवद्यकीर्तयः ।
जगत्सु ते तारितशिष्यपंक्तयो
जयन्ति देवेश्वरपादरेणवः ॥ ८ ॥

योजना—केवलम्, यदीयसम्पर्कम् अवाप्य वयं कृतार्थाः जगत्सु निरवद्यकीर्तयः (जाताः) ते तारितशिष्यपंक्तयः देवेश्वरपादरेणवः जयन्ति । ([2]वंशस्थवृत्तम्) ॥

---

[1] टि० "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबंधः" (जै० सू० १।१।४) इस सूत्र में महर्षि जैमिनि ने नित्य वेद वाक् का अपने अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध स्थापित किया है, एवं शब्दाधिकरण में शब्द को सर्वथा नित्य ।

[2] "जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" (वृत्त० ३।४७) अर्थात् जिस पद्य के प्रत्येक पाद में क्रमशः एक जगण, एक तगण, एक जगण तथा एक रगण हो, उसे वंशस्थ कहते हैं । इसके पादांत में यति होती है ।

योजितार्थ—जिस चरण-रजःकणों का केवल सम्पर्क पाकर ही हम (सभी शिष्य) कृतार्थ हुए, जगत् में विमलकीर्तिसमन्वित बने, देवेश्वराचार्य के चरणों के वे शिष्यजनोद्धारक धूलि-कण सर्वोत्कृष्ट हैं।

भावितार्थ—गुरुवर का सामर्थ्य इतना महान् है कि उसका वर्णन शब्दों में नहीं हो सकता। हाँ, उनके चरण-रज के जिन कतिपय कणों के स्पर्शमात्र से हम सब शिष्यगण कृतार्थ (आत्मज्ञानी, मुक्त) लोक-लोकान्तर में महान् यशस्वी हो गये और जिन्होंने संसार सागर से अनन्त शिष्यवर्गों को पार कर दिया वे श्रीदेवेश्वराचार्य के चरण-रजःकण ही महान् उत्कृष्ट हैं। इससे गुरुवर के अपार सामर्थ्य का अनुमान सहज में ही किया जा सकता है॥

गुरुस्तुति के प्रसङ्ग में ऊपर कहा गया कि हम (ग्रन्थकार) कृतार्थ तथा निरवद्यकीर्ति हो गये हैं। इसे कोई ग्रन्थकार का औद्धत्य या अहम्भाव न समझे, अतः कहा है—

गुरुचरणसरोजसन्निधानाद्, अपि वयमस्य गुणैकलेशभाजः।
अपि महति जलार्णवे निमग्नाः, सलिलमुपाददते मितं हि मीनाः॥ ९॥

योजना—गुरुचरणसरोजसन्निधानाद् अपि वयम् अस्य गुणैकलेशभाजः। हि महति जलार्णवे निमग्नाः मीनाः मितं सलिलम् उपाददते॥ (औपच्छन्दसिकम्[1])

योजितार्थ—गुरुवर के चरण-कमल की सन्निधि से हम (शिष्य) इस (गुरुवर) के गुणों का एक लेशमात्र ही पा सके हैं; क्योंकि महासागर में रहनेवाली मछलियाँ बहुत ही थोड़ा जल पिया करती हैं।

भावितार्थ—यद्यपि गुरुवर के चरणकमलों में सौन्दर्य, शैत्य, सौरभादि अनन्त गुण हैं, तथापि हम (शिष्यवर्ग) उनकी सन्निधि में रहकर भी उस गुणराशि के लवमात्र का ही ग्रहण कर सके हैं; क्योंकि महासागर की उस विपुल जलराशि में रहकर भी मछलियाँ जलविन्दु का एक नन्हा-सा कण ही पी पाती हैं। अर्थात् जैसे मछलियों को यह सामर्थ्य नहीं होता कि महासागर की पूर्ण जलराशि का पान कर जायँ, वैसे ही अपने गुरुवर के चरणारविन्दों की छाया में बहुत दिनों तक निवास करते रहने पर भी उनके समग्र गुणों को अपने में भर लेना हमारी शक्ति के बाहर ही रहा। हमारा वैदुष्य गुरुवर का एक करुणकटाक्ष है—इससे ही समझ लेना चाहिये कि वे कितने महान् गुणी और ज्ञानी थे॥ ६॥

ग्रन्थ-निर्माणादि का स्वाभाविक सामर्थ्य न होने पर भी गुरुवर के चरणों में निवास करने से अनायास लिख रहा हूँ—

शक्तो गुरोश्चरणयोर्निकटे निवासात्,
नारायणस्मरणतश्च निरन्तरायः।
शारीरकार्थविषयावगतिप्रधानम्,
संक्षेपतः प्रकरणं करवाणि हृष्यन्॥ १०॥

---

[1] "पर्यन्ते यौं तथैव शेषं त्वौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम्" (वृत्त० २।१३) अर्थात् जिस वैतालीय के विषम और समचरणों के अन्त में क्रमशः रगण और यगण हो अर्थात् जिस छन्द के विषम चरणों में ६ मात्राओं और समचरणों में ८ मात्राओं के अनन्तर एक रगण और एक भगण हो उसे औपच्छन्दसिक कहते हैं।

योजना—गुरोः चरणयोः निकटे निवासात् शक्तः, नारायणस्मरणतः निरन्तरायः च (सन अहं) हृष्यन् शारीरकार्थविषयावगतिप्रधानं प्रकरणं संक्षेपतः करवाणि ।। (वसन्ततिलका छन्दः)

योजितार्थ—गुरु-चरणों के निकट निवास करने से (ग्रन्थ-निर्माण में) समर्थ तथा नारायण-स्मरण से निर्विघ्न (होकर मैं) बड़े हर्ष के साथ शारीरक-भाष्यार्थावगति के उद्देश्य से संक्षेपशारीरक (नाम के) प्रकरण ग्रन्थ का निर्माण करने जा रहा हूँ ।।

भावितार्थ—पूर्व श्लोक में कहा था—'गुरुवर के गुणों का लेशमात्र ही पा सका हूँ' उतने से ही ग्रन्थ-करण का सामर्थ्य कैसे आया—इस सन्देह की निवृत्ति के लिए कहा—शक्तो गुरोश्चरणयोर्निकटे निवासात् । अर्थात् जैसे चन्दन-वृक्ष अपने निकटवर्ती दूसरे वृक्ष में अपनी सुगन्धि सञ्चारित कर देता है, वैसे ही गुरुवर ने ही अपनी शक्ति का सञ्चार अपने चरण-सेवक (ग्रन्थकार) में कर दिया है। शक्ति-सम्पादन कर लेने पर भी विघ्नों पर विजय पाने के लिए भी कुछ किया है ? इस प्रश्न का उत्तर है—'नारायणस्मरणतश्च निरन्तरायः । नारायण-स्मरण से समस्त विघ्न-बाधाएँ दूर हो जाती हैं । श्रुति कहती है—''तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते'' (बृह० उ० १।४।१०) स्मृतियों न भी कहा है—

सर्वदा सर्वकार्येषु नास्ति तेषाममङ्गलम् ।
येषां हृदिस्थो भगवान् मङ्गलायतनं हरि ।।
लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः ।। (पाण्डवगीता)

इस ग्रन्थ के ''संक्षेपशारीरक'' नामकरण का निमित्त बताया जाता है—शारीरकार्थविषयावगतिप्रधानं प्रकरणं संक्षेपतः करवाणि । ''संक्षेपशारीरक'' प्रकरण ग्रन्थ है—इसकी चर्चा पहले(१।१) में ही की जा चुकी है। यह स्थूल और सूक्ष्म शरीर कुत्सित होने से शरीरक कहा गया है । इस शरीरक में होने के कारण जीव का नाम नाम पड़ा - शारीरक । तत्त्वतः शारीरक-बोधक शास्त्र (वेदान्तदर्शन) को भी शारीरक कहा जाता है । अथवा ''शारीरं (जीवं) ब्रह्मतया कायति''—इस व्युत्पत्ति से वेदान्तदर्शन को शारीरक कह सकते हैं । उसका अर्थ (प्रयोजन) और विषय है—ब्रह्मात्मैकता । उसकी अवगति (साक्षात्कार) अथवा शारीरकार्थविषया जो अवगति (निर्गुण-ब्रह्मविद्या), वह प्रधान (उद्देश्य) है जिसका, ऐसे प्रकरण ग्रन्थ का निर्माण करने जारहे हैं । इससे प्रकरणलक्षणान्तर्गत शास्त्रैकदेशसम्बद्धता और शास्त्रकार्यान्तर-स्थिति स्पष्ट कर दी है । अर्थात् वेदान्तदर्शन का मुख्य कार्य है—वेदान्तवाक्यविचार और कार्यान्तर है—अवगति । इस प्रकरण ग्रन्थ ने उस कार्यान्तर अवगति को ही अपना प्रधान विषय बनाया है । ''संक्षेपतः''—इस उक्ति से लक्षणगत शास्त्रैकदेश-सम्बन्ध सूचित कर दिया है । अर्थात् वेदान्तदर्शन के एकदेश निर्गुण ब्रह्मविद्यामात्र के साथ इस प्रकरण ग्रन्थ का सम्बन्ध है । फलतः विस्तृत शारीरक में परपक्ष-निरासादि विचारान्तर करते हुए ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु यहाँ पर केवल ब्रह्मविद्या का ही निरूपण किया गया है । ''हृष्यन्''—इस पद से अपने में शुश्रूषादि सम्पत्ति की सम्पन्नता व्यक्त की है । शुश्रूषादि हैं—

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।
ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ।।

"शक्तो गुरोः"—इत्यादि से इस ग्रन्थ की सम्प्रदायमूलता, "शारीरकेत्यादि" से अगतार्थता ध्वनित होती है, अर्थात् यह ग्रन्थ न स्वकपोलकल्पित है, न निर्मूल और न निष्प्रयोजन ही है ॥ १० ॥

विद्वानों से प्रार्थना की जाती है कि वे अपने वैदुष्य-निकषग्रावा पर चढ़ाकर इस ग्रन्थ के गुण-दोषों की परीक्षा कर लें, आचार्य-रचित न होने मात्र से इसकी उपेक्षा न की जाय—

पदवाक्यमाननिपुणा निपुणम् ,
विमृशन्त्विदं प्रकरणं मनसा ।
गुणदोष-निर्णय-निमित्ततया,
प्रथिता हि पण्डितजना जगति ॥ ११ ॥

योजना—पदवाक्यमाननिपुणाः इदं प्रकरणं मनसा निपुणं विमृशन्तु, हि पण्डितजनाः जगति गुणदोषनिर्णयनिमित्ततया प्रथिताः । (प्रमिताक्षरा छन्दः[1])

योजितार्थ—व्याकरण, मीमांसा और न्याय में निपुण पण्डितगण इस प्रकरण ग्रंथ को ध्यान देकर अच्छी तरह विचारें, क्योंकि पण्डितजन जगत् में गुण-दोष का निर्णय करने के लिए प्रसिद्ध हैं।

भावितार्थ—ऊपर के पद्यों में अपनी आचार्य-परम्परा की स्तुति की । उससे दूसरे विद्वानों में अनादर की भावना झलकती है, वह भावना दूर करने के लिए तथा विद्वानों को मान देने के लिए कहा जाता है—"पदवाक्यमाननिपुणाः इदं प्रकरणं विमृशन्तु ।" पदनिपुण (व्याकरण में प्रवीण) वाक्य-निपुण (मीमांसा में पारंगत) तथा मान-निपुण (प्रमाण में पण्डित तार्किकगण) इस प्रकार ग्रंथ को पद, वाक्य और मान की दृष्टि से खूब विचार लें । 'मनसा' और 'निपुणम्'—इन दो विशेषणो से अनवधानता तथा अन्धविश्वास को हटाया गया है । जब तक किसी रचना को विद्वान् अपनी कसौटी पर कस कर निर्दुष्ट न सिद्ध कर दें, तब तक स्वयं रचयिता को भी विश्वास उस पर नहीं जमता । जैसा कि कहा गया है—

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।
बलवदपि शिक्षितनामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥ (अ० शा० १–२)

आशय यह है कि ग्रन्थकार ग्रन्थशरीर मात्र का निर्माण करता है, उसकी विशुद्धता तो विद्वानों के अधीन ही रहती है ॥ ११ ॥

किसी विद्वान् की सत्य आलोचना पर भी मुझे कष्ट न होगा, यह कहते हैं -

विद्वांसो यदि मम दोषमुद्गिरेयुः-
यद्वा ते गुणगणमेव कीर्तयेयुः ।
तुल्यं तद् बहु मनुते मनो मदीयम् ,
कष्टं तद्वत मनुते यदाह मन्दः ॥ १२ ॥

---

[1] "प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता" (वृत्त० ३।६१) जिस छन्द के प्रत्येक पाद में एक सगण, एक जगण और दो सगण हों उसे प्रमिताक्षरा कहते हैं ।

योजना—विद्वांसो यदि मम दोषम् एवं उद्गिरेयुः यद्वा गुणगणम् एव कीर्तयेयुः, मदीयं मनः तत् तुल्यं बहु मनुते। यत् मन्दः आह, तत् वत कष्टं मनुते॥ ([1]प्रहर्षिणी)

योजितार्थ—विद्वान् चाहे मेरे दोष प्रकट करें या मेरे गुण ही गाते रहें। उसे मेरा मन समान रूप से आदर देता है। किन्तु खेद से कहना पड़ता है कि अल्पश्रुत ईर्ष्यालु व्यक्ति जो कुछ भी कहते हैं, उसे मेरा मन बहुत कष्टप्रद मानता है।

भावितार्थ—मुझसे डाह न करने वाले विद्वान् यदि मेरे ग्रन्थ में दोष प्रकट करते हैं, वह भी मेरे लिए अच्छा है, क्योंकि उन दोषों को निकाल कर मैं अपना ग्रन्थ निर्दुष्ट तथा उपादेय बना सकूंगा और यदि वे मेरे गुण प्रकट करते हैं, तब तो अच्छा है ही; किन्तु अल्पश्रुत ईर्ष्यालु पण्डित चाहे गुण ही प्रकट क्यों न करें, मुझे इससे महान् कष्ट पहुँचता है; क्योंकि उससे मेरा कोई कल्याण नहीं होता।

ध्वनि—इस पद्य से ग्रन्थकार यह ध्वनित करता है कि विद्वान् यथार्थवादी होते हैं, वे कभी भी इस ग्रन्थ में दोष नहीं निकालेंगे और मन्दमति ईर्ष्यालु अवश्य दोष निकालेंगे, किन्तु उनकी मुझे चिन्ता ही नहीं॥ १२॥

दोषाविष्कार से शिष्यवर्ग की आस्था को ठेस न लगे, इसलिए ग्रन्थकार कहता है—

महामहिम्नामपि यश्चिकीर्षति,
स्वभावसंशुद्धतरं तिरो यशः।
स नूनमाच्छादयितुं प्रवर्तते,
विवस्वतो हस्ततलेन मण्डलम्॥ १३॥

योजना—यः महामहिम्नाम् अपि स्वभावसंशुद्धतरं यशः तिरःचिकीर्षति; स नूनं हस्ततलेन विवस्वतः मण्डलम् आच्छादयितुं प्रवर्तते। (वंशस्थछन्दः)

योजितार्थ—जो दुष्ट ईर्ष्यालु महातेजस्वी पुरुषों के सहज शुद्धतर यश को कलङ्कित करना चाहते हैं, वे निश्चित रूप से अपनी छोटी-सी हथेली के द्वारा महान् सूर्यमण्डल को ढकने की व्यर्थ चेष्टा किया करते हैं।

भावितार्थ—जैसे अपनी छोटी-सी हथेली से इतने बड़े सूर्यमण्डल को ढकने की चेष्टा करने वाले लोक में केवल उपहासास्पद ही बना करते हैं, वैसे ही विद्वानों के नितान्त उज्ज्वल यश पर कीचड़ उछालने वालों का लोक में मुख ही काला हुआ करता है। अर्थात् हमारा जगत् उनके कलङ्कारोप का मुँहतोड़ उत्तर देगा ही, हमें उससे खिन्न होने की आवश्यकता नहीं॥ १३॥

ब्रह्मात्मैक्यबोध में प्रमाण है—नित्य निर्दोष वेदवाक्य, अतः यहाँ करण दोष न होने पर भी प्रमाता में असम्भावना और विपरीतभावनादि दोष सम्भावित हैं; जिनकी निवृत्ति के लिए विचार-शास्त्र अपेक्षित है—यह बात चार श्लोकों में दृष्टान्त के द्वारा दिखाई जाती है—

---

[1] "म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्" (वृत्त० ३।७०) अर्थात् जिस छन्द के प्रत्येक पाद में क्रमशः एक मगण, एक नगण, एक जगण, एक रगण तथा एक गुरु वर्ण हो उसे प्रहर्षिणी कहते हैं। इसके तृतीय तथा दशम वर्ण पर यति होती है।

पुरुषापराधमलिना धिषणा,
निरवद्यचक्षुरुदयापि यथा ।
न फलाय [1]भच्छुविषया भवति,
श्रुतिसंभवापि तु तथात्मनिधीः ॥ १४ ॥

योजना—यथा निरवद्यचक्षुरुदयापि पुरुषापराधमलिना भच्छुविषया धिषणा फलाय न; तथा श्रुतिसम्भवापि आत्मनिधीः । (प्रमिताक्षरा छन्दः) ॥

योजितार्थ—जिस प्रकार निर्दुष्ट चक्षु से जन्य भी पुरुषगत दोष से दुष्ट भच्छु-विषयक बुद्धि भच्छु स्वरूपसाक्षात्काररूप फल नहीं दे सकती; उसी प्रकार श्रुति-सम्भूत भी आत्मविषयक बुद्धि आत्म-स्वरूप का निश्चय नहीं करा सकती ॥

भावितार्थ—ग्रन्थकार के देश की प्रसिद्ध एक कथा है—किसी राजा का अत्यन्त प्रिय 'भच्छु' नाम का मन्त्री और पुरोहित था। दूसरे राजकर्मचारी उससे डाह करते थे। अवसर पाकर कर्मचारियों ने भच्छु को विदेश भेजवा दिया। नगर में भच्छु के प्रवेश पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया। राज-दरबार में प्रसिद्ध कर दिया कि भच्छु मर कर ब्रह्मराक्षस बन गया है। इस षड्यन्त्र से भच्छु को संसार से वैराग्य हो गया। शरीर पर विभूति रमा ली। राजा के उपवन में किसी प्रकार आ गया। राजा ने उसे देख कर भी ब्रह्मराक्षस ही समझा। यहाँ राजा को 'भच्छु नहीं रहा' ऐसी असंभावना तथा 'वह ब्रह्मराक्षस बन गया' इस विपरीत भावना के कारण आँख से देखने पर भी भच्छु का निश्चय न हो सका। इसी प्रकार निर्दोष वेदान्त-महावाक्य-जन्य "अहं ब्रह्मास्मि"—इस ज्ञान से ब्रह्मात्मरूपता का निश्चय नहीं हो सकता; क्योंकि "ब्रह्म (असंसारी) और जीव (संसारी) की एकता सम्भव नहीं" इसप्रकार की असम्भावना तथा "मैं ब्रह्म नहीं, जीव हूँ"—इस प्रकार की विपरीत भावना प्रतिबन्धक हैं। १४ ॥

पुरुषापराधविगमे तु पुनः,
प्रतिबन्धकव्युदसनात् सफला ।
मणिमन्त्रयोरपगमे तु यथा,
सति पावकाद् भवति धूमलता ॥ १५ ॥

योजना—पुनः फुरुषापराधविगमे तु प्रतिबन्धकव्युदसनात् सफला (भवति), यथा मणिमन्त्रयोः अपगमे सति तु पावकाद् धूमलता भवति । (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—पुनः पुरुषगत दोषों की निवृत्ति हो जाने पर प्रतिबन्ध-रहित (वह श्रुति-संभूत बुद्धि) अपने कार्यकरण में सफल होती है; जैसे की प्रतिबन्धक मणि या मन्त्र के हट जाने से अग्नि अपने कार्य जलाने तथा धूमादि को पैदा करने में समर्थ होती है ॥

भावितार्थ—ज्ञान के क्षेत्र में तीन प्रकार के दोष होते हैं—(१) प्रमाणगत दोष, (२) प्रमेयगत दोष तथा (३) प्रमातृगत दोष। जैसे आकाश में बहुत दूर उड़ता पक्षी, नहीं दिखाई देता। वहाँ प्रमेय (पक्षी) में दूरत्व दोष है। नेत्रगत अन्धत्वादि दोष

---

[1] भर्त्सु (क० पाठ)

प्रमाण दोष कहे जाते हैं। अन्तःकरणगत भ्रम, विपर्ययादि दोष, प्रमातृदोष माने जाते हैं। प्रकृत में प्रमेय है—जीव और ब्रह्म का अभेद, प्रमाण हैं—उपनिषद्वाक्य और प्रमाता है—अन्तःकरणविशिष्ट चेतन। यहाँ प्रमाण तथा प्रमेय में किसी प्रकार का दोष[1] सम्भावित नहीं, वे स्वतः नित्य निर्दुष्ट हैं। शेष रहा—प्रमाता। प्रमाता के विपरीतभावनादि दोष ही फल के प्रतिबन्धक हैं। शास्त्रीय विचार से उन दोषों के निवृत्त हो जाने पर अप्रामाण्यशङ्का रूप प्रतिबन्धक के हट जाने से निर्दोष वेदवाक्य से सफल प्रमा उत्पन्न होती है। जैसे राजा के सामने यह उपपत्ति रखी गई कि "भर्छु के विदेश जाने पर षड्यन्त्रकारियों ने उड़ा दिया था कि वह मर कर ब्रह्मराक्षस बन गया। वस्तुतः वह जीवित है और उसी को आपने देखा है।" इस उपपत्ति से भर्छु के ज्ञान में अप्रामाण्य शङ्का एवं राजा के विपरीत संस्कार निवृत्त हो जाते हैं। तब 'भर्छुरेवायम्' इस प्रकार की सफल बुद्धि उत्पन्न होती है। अग्नि को मन्त्रादि से बाँध देने पर अग्नि की दाहकता अवरुद्ध हो जाती है। प्रतिबन्धक मन्त्र या चन्द्रकान्त मणि के हटा लेने पर फिर दाह होने लगता है और धूम-रेखा गगन को चूमने लगती है। वैसे ही प्रकृत में समझ लेना चाहिये ॥ १५ ॥

पुरुषापराधविनिवृत्तिफलः
सकलो विचार इति वेदविदः ।
अनपेक्षतामनुपरुध्य गिरः,
फलवद् भवेत् प्रकरणं तदतः ॥ १६ ॥

योजना—सकलः विचारः गिरः अनपेक्षताम् अनुपरुध्य पुरुषापराधविनिवृत्तिफलः इति वेदविदः (आहुः)। अतः तत् प्रकरणं फलवद् भवेत्। (प्रमिताक्षरा)।

योजितार्थ—सकल विचार (धर्ममीमांसा तथा ब्रह्ममीमांसा) वेदवचन की अनपेक्षता का उपरोध (वाध) न कर के ही पुरुषगत दोष-निवृत्ति-फलक है—ऐसा वेदवेत्ताओं ने कहा है। इसलिए यह प्रकरण सफल होता है।

भावितार्थ—धर्म-विचार हो या ब्रह्म-विचार, सकल विचार का फल पुरुष (प्रमाता) के भ्रमादि दोषों को निवृत्त करना मात्र ही है—ऐसा जैमिनि, व्यास, शंबर स्वामी, शङ्कराचार्यादि वेद-मर्मज्ञों ने माना है। "अथातो धर्मजिज्ञासा" (जै० सू० १।१।१) सूत्र में महर्षि जैमिनि ने केवल सूचना ही की, किन्तु उसके भाष्य में शबर स्वामी ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया—"धर्मं प्रति हि विप्रतिपन्ना बहुविदः केचिदन्यं धर्ममाहुः, केचिदन्यम्। सोऽयविचार्य प्रवर्तमानः कंचिदेवोपाददानो विहन्येत, अनर्थं च ऋच्छेत्।" अर्थात् धर्म के प्रति संशयालु तथा विपरीत निश्चयवाले विविध-मार्गानुगामी व्यक्तियों में कतिपय विद्वान् धर्म कुछ और मानते हैं और अन्य लोग कुछ और। ऐसी परिस्थिति में पूर्ण विचार न करके धर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होनेवाला व्यक्ति किसी अविचारित तत्त्व को धर्म मानकर

---

[1] प्रमाणगत दोष का अर्थ है—प्रमाणविषयक दोष; क्योंकि उपनिषिद्वाक्यरूप प्रमाण निसर्गतः निर्दुष्ट हैं, अतः प्रमाणगत का यहाँ प्रमाण-वृत्ति अर्थ नहीं किया जा सकता। 'उपनिषद्वाक्यं प्रमाणं न वा'—इस प्रकार का प्रामाण्य-संशय प्रमाण को विषय करता है, आश्रय नहीं। अथवा उक्त दोष विषयतासम्बन्ध से प्रमाणवृत्ति भी कथञ्चित् कहा जा सकता है।

सत्य मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है और अनर्थ के गर्त में गिर जाता है। इस प्रकार शबर-स्वामी विचार का फल पुरुषगत संशयादि की निवृत्ति ही मानते हैं। उसी प्रकार महर्षि व्यास ने कहा है—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (व्या० सू० १।१।१) वहाँ पर भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य ने शबर स्वामी का ही अनुगमन कियाहै— "एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः तत्राविचार्य यत्किञ्चित् प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात् प्रतिहन्येतानर्थं चेयात् ।" यदि कहा जाय कि शङ्कराचार्य ने विचार का प्रयोजन मोक्ष ही माना है, वे स्पष्ट कहते हैं—"वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते।" इसलिए कहा—अनपेक्षतेत्यादि। आशय यह है कि महर्षि जैमिनि ने अपने "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्" (जै० सू० १।१।५) इस सूत्र में कहा है कि वेद में पद पदार्थ और सम्बन्ध नित्य होने के कारण अपने वाक्यार्थ बोधन में वेद को अन्य विचारादि की अपेक्षा नहीं, अतः वेद स्वतः प्रमाण है। अब यदि विचारादि की अपेक्षा करके वेद अपने अर्थ का प्रतिपादक माना जायगा, तब सापेक्षता आ जाने से अनपेक्षता का बाध हो जायगा। अतः समस्त विचार का प्रतिबन्धनिवृत्ति ही फल मानना उचित है।

शङ्कराचार्य ने जो कहा है—"तस्माद् ब्रह्ममीमांसा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते"—इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि विचार से प्रतिबन्ध-निवृत्ति होती है, उससे तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञान से मोक्ष; क्योंकि वेद को स्वार्थबोधन में प्रतिबन्ध-निवृत्ति की अपेक्षा मानने पर अनपेक्षता का बाध अनिवार्य होगा। अतः उक्त भाष्य का यह आशय है कि स्वतः प्रमाणभूत वेद से तत्त्वज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी अविद्या-निवृत्ति तब तक नहीं होती, जब तक अविद्या-निवृत्ति के प्रतिबन्धक पुरुषगत अपराध निवृत्त नहीं होते। विचार से प्रतिबन्ध-निवृत्त हो जाने से अविद्या निवृत्त हो जाती है। प्रतिबन्ध-निवृत्ति यद्यपि स्वयं पुरुषार्थ नहीं और पुरुषार्थभूत मोक्ष की साधन भी नहीं, तथापि प्रतिबन्ध-रहित साक्षात्कार ही अविद्या का निवर्तक माना जाता है। इस प्रकार प्रतिबन्ध-निवृत्ति भी साक्षात्कार का प्रयोजक है। विचार भी प्रतिबन्ध-निवृत्ति के द्वारा साक्षात्कार प्रयोजक होकर निःश्रेयस का प्रयोजक होता है—यह सब हृदय में रखकर सर्वज्ञात्ममुनि ने कहा है—"अतः प्रकरणं फलवद् भवेत् ?" प्रकरण का अर्थ—"प्रकृष्टं करणं निर्माणं यस्य (विचारशास्त्रस्य) तत्" —इस व्युत्पत्ति से विचार शास्त्रमात्र। अथवा संक्षेपशारीरकरूप प्रकरण ग्रन्थ का बोधक है ।। १६ ।।

पुरुषापराधशतसङ्कुलता,
विनिवर्तते प्रकरणेन गिरः।
स्वयमेव वेदशिरसो वचना-
दथ बुद्धिरुद्भवति मुक्तिफला ।। १७ ।।

योजना—गिरः पुरुषापराधशतशङ्कुलता प्रकरणेन निवर्तते। अथ वेदाशिरसो वचनात् स्वयमेव मुक्तिफला बुद्धिः उद्भवति ।। (प्रमिताक्षरा छन्दः) ।।

भोजितार्थ—वेदवचन पर आरोपित पुरुषनिष्ठ अनन्त दोषों की संक्रान्ति इस प्रकरण-

ग्रन्थ से निवृत्त होती है। उसके अनन्तर वेदान्तवाक्यों से स्वयं ही मुक्तिफलक बुद्धि उत्पन्न होती हैं ॥

भावितार्थ—यद्यपि वेद स्वतः निर्दुष्ट है, तथापि पुरुषगत अप्रामाण्य-शङ्का की विषयता का आरोप वहाँ हो ही जाता है। उस आरोप की निवृत्ति प्रकरण से हो जाती है। हाँ, वेदान्तवाक्य से साक्षात्कार के उत्पन्न करने में प्रतिबन्ध-निवृत्ति या विचार की कोई अपेक्षा नहीं, वेदान्तवाक्य स्वयं उस साक्षात्कारात्मक बुद्धि के उत्पादक होते हैं, जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ १७ ॥

विचार पुरुषापराधरूप प्रतिबन्ध-निवृत्ति का हेतु है, साक्षात्कार का हेतु नहीं—यह सिद्धान्त ऊपर के चार श्लोकों में स्थिर किया गया। वहाँ सन्देह होता है कि अन्वयव्यतिरेक के आधार पर तात्पर्यज्ञान, वाक्यार्थबोध में हेतु ठहरता है और वह तात्पर्यज्ञान विचाराधीन है। अतः विचार भी वाक्यार्थबोध में हेतु क्यों नहीं? इस सन्देह को दूर करने के लिए कहा है—

स्वाध्यायवन्न करणं घटते विचारो,
नाप्यङ्गमस्य परमात्मधियः प्रसूतौ ।
सापेक्षतापतति वेदगिरस्तथात्वे,
ब्रह्मात्मनः प्रमितिजन्मनि तन्न युक्तम् ॥ १८ ॥

योजना—विचारः परमात्मधियः प्रसूतौ करणं न घटते, नापि अस्य अङ्गं (घटते)। तथात्वे ब्रह्मात्मनः प्रमितिजन्मनि वेदगिरः सापेक्षता आपतति, तत् न युक्तम् ॥ (वसन्ततिलकाछन्दः) ॥

योजितार्थ—विचारशास्त्र परमात्म-साक्षात्कार की उत्पत्ति में करण नहीं बन सकता और न इस (करणभूत स्वाध्याय) का अङ्ग ही बन सकता है; क्योंकि उसे करण या अङ्ग मानने पर ब्रह्म-साक्षात्कार की उत्पत्ति के लिए वेदवचन में सापेक्षता आ पड़ती है, जो कि युक्त नहीं ॥

भावितार्थ—विचार ब्रह्मप्रमा में करण माना जाय? या करण का अङ्ग? प्रथम पक्ष का निराकरण किया जाता है—"न करणम्"। अर्थात् ब्रह्म-प्रमा में विचार को तभी करण माना जा सकता था, जब कि वह स्वतंत्र कोई प्रमाण होता; क्योंकि प्रमा का करण ही प्रमाण कहा जाता है। जैसे कि स्वाध्याय (स्वशाखागत वेदवाक्य) अर्थज्ञान में करण माना जाता है, वह शब्द प्रमाण है। विचार कोई प्रमाण नहीं। हाँ, प्रमाणानुग्राहक तर्क अवश्य कहा जा सकता है।

विचार यदि करण नहीं, तो करण का उपकारक होने से अर्थज्ञान के करण का वैसे ही अङ्ग (इतिकर्तव्य) मान लेना चाहिए, जैसे कि स्वाध्याय का अध्ययन संस्कार या आग्नेयादि भाग के प्रयाजादि अङ्ग माने जाते हैं। पूर्वाचार्यों ने कहा भी है—

"धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना ।
इतिकर्त्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति ॥"

इस पक्ष का भी निरास किया जाता है—नाप्यङ्गमित्यादि से। विचार स्वाध्याय का

अङ्ग भी नहीं बन सकता; क्योंकि अङ्गता-बोधक [१]श्रुत्यादि प्रमाणों का यहाँ अभाव है। दूसरी बात यह भी है कि उपकारक अङ्ग तीन प्रकार के होते हैं—उत्पादक, प्रापक तथा संस्कारक। जैसे आधान संस्कार अग्नि का उत्पादक है, वैसे विचार-शास्त्र, स्वाध्याय का उत्पादक नहीं। अध्ययन संस्कार जैसे स्वाध्याय का प्रापक है, वैसे विचार, स्वाध्याय का प्रापक भी नहीं। एवं प्रोक्षणादि जैसे व्रीहिगत अदृष्ट के जनक हैं, वैसे विचार, स्वाध्याय में कोई अदृष्ट भी उत्पन्न नहीं करता। अतः विचार किसी प्रकार भी स्वाध्याय (वेद) का अङ्ग नहीं बन सकता। विचार को करण या अङ्ग मानने से वेद में सापेक्षता दोष तो बैठा ही है, उसी का स्मरण दिलाते हैं—सापेक्षतेत्यादि। तन्न युक्तम् = सापेक्षत्व युक्त नहीं; क्योंकि वेद का स्वतः प्रामाण्य भङ्ग हो जायगा ॥ १८ ॥

यदि शङ्का हो कि अन्वय-व्यतिरेक-बद्ध शक्तिज्ञान (सङ्गति-ग्रहण) की अपेक्षा होने पर भी जैसे सापेक्षता की आपत्ति नहीं होती, उसी प्रकार विचार को वेदानुग्राहक मानने पर सापेक्षता क्यों आयेगी ? उसका समाधान किया जाता है—

---

[१] मीमांसा-दर्शन के तृतीय अध्याय में अङ्गाङ्गिभाव-बोधक छह प्रमाण प्रतिपादित हैं—(१) श्रुति, (२) लिङ्ग, (३) वाक्य, (४) प्रकरण, (५) स्थान तथा (६) समाख्या। (१) साक्षात् अङ्गत्व या अङ्गित्व के बोधक शब्द को श्रुति कहते हैं, जैसे "दध्ना जुहोति" आदि वाक्यों में 'दधि' पद के उत्तर तृतीया एवं "व्रीहीन् प्रोक्षति" आदि वाक्यों में 'व्रीहि' पद के उत्तर द्वितीयादि विभक्तियाँ साक्षात् अङ्गाङ्गिभाव-बोधक होने से श्रुतियाँ कहलाती हैं। (२) सामर्थ्य का नाम लिंग है। सामर्थ्य दो प्रकार का होता है—शब्द-सामर्थ्य और अर्थ-सामर्थ्य। शब्द-सामर्थ्य रूप, लिंग, प्रमाण से "बर्हिर्देवसदनं दामि" आदि मन्त्रों में 'कुशादि-लवन' की अंगता अवगत होती है, क्योंकि उक्त शब्द रूप मन्त्र का सामर्थ्य कुशादि के लवन (छेदन) का प्रकाशक है। अर्थसामर्थ्यरूप लिंगप्रमाण से 'हस्तेनावद्यति', 'स्रुवेणावद्यति' आदि स्थलों पर पुरोडाश-अवदान की अंगता हस्त में, घृतादि-अवदान की अंगता स्रुवादि में स्थिर होती है। (३) एक वाक्य से पठित सामान्य पदार्थों का अङ्गाङ्गिभाव वाक्य प्रमाण से जाना जाता है। जैसे "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति—इस वाक्य में पठित जुहू तथा पर्ण (पलाश) दोनों का अंगांगिभाव एकवाक्यता से निश्चित होता है। (४) प्रकरण दो प्रकार का होता है—अधिकारात्मक तथा आकांक्षात्मक। प्रकृत में आकांक्षात्मक प्रकरण विवक्षित है। उपकारक तथा उपकार्य की आकांक्षाओं से जिन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध होता है, उनमें अङ्गाङ्गिभाव का ज्ञान प्रकरण प्रमाण से माना जाता है। जैसे 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत् स्वर्गकामः—' यहाँ 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्'—इस प्रकार के अन्वयबोध में उपकारक पदार्थ की आकांक्षा होती है—'कथं ताभ्यां स्वर्गं भावयेत् ?' इसी प्रकार 'समिधो यजति' आदि प्रयाज वाक्यों के 'समिद्यागेन भावयेत्' अन्वय बोध में 'किं भावयेत् ?' इस प्रकार उपकार्य पदार्थ की आकांक्षा होती है। नष्टाश्वदग्धरथ-न्याय से उन दोनों का परस्पर अन्वय हो जाता है—'समिधादिभिरुपकृत्य दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्'। यहाँ दशपूर्णमास में अंगिता और 'समिधादि' प्रयाज कर्मों में अंगता का ज्ञान आकांक्षात्मक प्रकरण प्रमाण से होता है। (५) स्थान नाम है सन्निधि का। सन्निहित पठित या सन्निहित अनुष्ठित पदार्थों का अंगांगिभाव स्थान प्रमाण से ज्ञात होता है। जैसे विकृति कर्मों के समीप में पठित अप्राकृत पदार्थों में विकृति की अंगता स्थान प्रमाण से निश्चित होती है। (६) समाख्या का अर्थ यौगिक शक्ति है। 'आध्वर्यवो यजुर्वेदः' यहाँ आध्वर्यव (अध्वर्योरिदम् = अध्वर्यु-सम्बन्धी) इस समाख्या से यजुर्वेदपठित पदार्थों की अंगता (कर्तृता) अध्वर्यु में ठहराई जाती है। अंगत्व-बोधक छह प्रमाणों का यह संक्षिप्ततम स्वरूप है।

व्युत्पन्नस्य हि बुद्धिजन्म सहसा वाक्यश्रुतौ दृश्यते,
वाक्यार्थे न ततोऽस्ति बुद्धिजनने मीमांसनव्यापृतिः ।
तेनाऽर्थात्करणादिभावजनने मीमांसनस्याश्रिते,
वेदार्थप्रमितौ तु वेदवचसः सापेक्षताऽऽयास्यति ॥ १९ ॥

योजना—वाक्यश्रुतौ व्युत्पन्नस्य वाक्यार्थे सहसा बुद्धिजन्म दृश्यते हि, ततः वाक्यार्थे बुद्धिजनने मीमांसनव्यापृतिः नास्ति । तेन वेदार्थप्रमितौ मीमांसनस्य अर्थात् करणादिभावजनने आश्रिते तु वेदवचसः सापेक्षता आयास्यति ॥ ([1]शार्दूलविक्रीडितछन्दः) ॥

योजितार्थ—वाक्य का श्रवण होने पर व्युत्पन्न व्यक्ति (जिसे पद-शक्ति-ग्रह हो गया है) को वाक्यार्थ का बोध सहसा हो जाता है । तब तो वाक्यार्थविषयक बोध के होने में विचार का कोई उपयोग नहीं । अतः वेदार्थविषयक प्रमा की उत्पत्ति में अर्थात् (तात्पर्य ग्रह-द्वारा) विचार को करण या अंग मानने पर वेद-वचन में सापेक्षता की आपत्ति अवश्य होगी ॥

भावितार्थ—यदि तात्पर्यज्ञान नियमतः वाक्यार्थज्ञान के पूर्व में होता, तब उसे वाक्यार्थज्ञान का हेतु माना जा सकता था और उसके द्वारा विचार भी वाक्यार्थज्ञान में कारण हो जाता, किन्तु तात्पर्यज्ञान नियमतः वाक्यार्थज्ञान के पूर्व में सम्भव ही नहीं, क्योंकि 'गामानय' आदि वाक्यों के सुनने पर विशिष्टार्थ-प्रतीति से पूर्व तात्पर्यज्ञान के उत्पन्न होने में कोई लिङ्गादिज्ञान नहीं कि जिससे उसका अनुमान कर लिया जाय। केवल पदसमभिव्याहार तो 'अहो विमलं जलं नद्याः कच्छे महिषश्चरति'—आदि वाक्यों में अनन्वित नदी और कच्छ पदों में भी है । यदि कहा जाय कि एकवाक्यस्थ पदों के समभिव्याहार को तात्पर्यज्ञान का अनुमापक मानेंगे। तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि प्रतारकवाक्यस्थ समभिव्याहार में व्यभिचार है । एकवाक्यता के ज्ञान से ही नियतार्थज्ञान सम्भव है; अतः तात्पर्यज्ञान का उसमें कोई उपयोग भी नहीं । अर्थवादादि वाक्यों में प्रतीयमान अर्थ में तात्पर्यभाव का निश्चय होने पर भी उस वाक्य के पद-सामर्थ्य से विशिष्टार्थ की प्रतीति हो जाती है । सैन्धवादि नानार्थक पदों के प्रयोग में भी सभी पदार्थों का स्मरण एक काल में नहीं होता, अपितु कभी किसी का और कभी किसी का। अतः तत्तत्पदार्थोपस्थिति—योग्यता के अनुरोध से कदाचित् किसी एक अर्थ की प्रतीति बन जाती है ।

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः"—इस वाक्य के द्वारा ज्ञान के उद्देश्य से विचार का स्पष्ट विधान होने पर विचार में ज्ञान की हेतुता क्यों नहीं ? इस सन्देह की निवृत्ति के लिए कहा—तेनेत्यादि । अर्थात् विचार करण या अङ्ग के रूप से वाक्यार्थज्ञान का उपयोगी नहीं बन सकता; इसलिए वेदार्थप्रमिति को उत्पन्न करने के लिए ज्ञानांश की करणता विचार में अर्थात् आयेगी, साक्षात् नहीं। अर्थात् 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'—इस वाक्य में केवल ज्ञान के उद्देश्य से विचार विहित नहीं; अपितु प्रतिवन्ध-रहित आत्म-दर्शन के उद्देश्य से विचार विहित है । फिर तो उद्देश्य के विशेषणांश (प्रतिवन्ध-निवृत्ति) की ही मुख्य

---

[1] "सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' (वृत्त० ३।९९) अर्थात् जिस पद्य के प्रत्येक चरण में क्रमशः एक मगण, एक सगण, एक जगण, एक सगण, दो तगण और एक गुरु हो, उसे शार्दूलविक्रीडित कहते हैं । सात और बारह वर्णों पर यति होती है ।

करणता, विचार में पर्यवसित होती है, ज्ञान में नहीं। अतः विचार में ज्ञान की हेतुता कथमपि नहीं मानी जा सकती ॥ १६ ॥

[बन्धाध्यासनिरूपणम्]

ऊपर शास्त्र का जो विषय बताया गया जीव-ब्रह्म की एकता, जिसके निश्चय में प्रतिबन्ध-निवृत्ति के द्वारा विचार को कारण माना गया है, वह विषय सिद्ध नहीं होता; क्योंकि जीवभाव वास्तविक है, उसका परित्याग नहीं हो सकता, फिर ब्रह्म से उसका अभेद कैसे होगा ? एवं बन्धन के पारमार्थिक होने से ज्ञान से उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती, फिर तो प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता—इस प्रकार के आक्षेपों का निवारण करने के लिए वेदान्तदर्शन के प्रथम अधिकरण के चार [1]वर्णकों में क्रमशः बन्धाध्यास, पूर्वशास्त्र से अगतार्थता, अधिकारिलाभ और विषयादि की सिद्धि सिद्ध की गई है। उसमें प्रथम वर्णक वर्णित बन्धाध्यास का संक्षिप्त वर्णन करते हैं—

आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपं,
जीवेश्वरत्वजगदाकृतिभिर्मृषैव ।
अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगा-
दात्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन ॥ २० ॥

योजना—अज्ञानम् आत्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन संस्फुरद् आवरणविभ्रमशक्तियोगात् आत्मरूपम् आच्छाद्य जीवेश्वरत्वजगदाकृतिभिः[2] मृषैव[3] विक्षिपति[4]। (वसन्ततिलकाछंदः)

योजितार्थ—अज्ञान (मैं नहीं जानता इस रूप से) संस्फुरित होता हुआ आत्मा को विषय और आश्रय बनाकर आवरणशक्ति तथा विक्षेपशक्ति के योग से आत्मा का वास्तविक रूप ढककर जीवत्व, ईश्वरत्व एवं जगत् रूप से मिथ्या विक्षेप पैदा कर देता है।

भावितार्थ—अज्ञान वस्तुतः निर्विभाग आत्मस्वरूप को जीवादि आकारों में प्रकट करता है। जैसा कि श्रुतियाँ कहती हैं—"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" (बृ० २।५।१६), "तदैक्षत बहु स्याम्" (छां० ६।२।३)। अज्ञान यद्यपि एक ही है, फिर भी आवरण और विभ्रम (विक्षेप) शक्ति के योग से आवरण और विक्षेप विविध कार्य करता है। आत्मस्वरूप का आच्छादन हो जाने पर अज्ञान और अज्ञान-कार्य की कैसे सिद्धि होगी ? इस आशङ्का का उत्तर है—"आत्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन संस्फुरत्" आत्मा को विषय और आश्रय करता है, अतः 'मामहं न जानामि'—प्रस्फुरित है। अर्थात् आत्मा के प्रकाश से ही प्रकाशित है। कतिपय व्याख्याताओं ने 'संस्फुरत्' यह आत्मस्वरूप का विशेषण माना है। उनका कहना है कि 'तद् ब्रह्म प्रसिद्धं वा स्यादप्रसिद्धं वा'—इस शङ्काभाष्य का उत्तर

---

[1] वर्णक—एक अधिकरण के विकल्पित व्याख्या प्रकारों को वर्णक कहा जाता है। अर्थात् जहाँ किसी एक अधिकरण में विभिन्न सिद्धान्तों का उद्गम किया जाता है, वहाँ विषय-प्रयोजनादि भिन्न-भिन्न दिखाकर कई प्रकार से अधिकरण सूत्रों को घटाया जाता है। प्रत्येक प्रकार को वर्णक कहा जाता है।

[2] आकृतिभिः—इस पद से बाह्य आकारों का अभ्यास बताकर ज्ञानाकारता-निरासपूर्वक आत्मख्याति का खण्डन किया गया है। [3] 'मृषैव' पद से अनिर्वचनीयख्याति सिद्ध की है। [4] 'विक्षिपति' पद से अर्थाध्यास की सिद्धि करते हुए अन्यथाख्याति तथा असत्ख्याति का खण्डन किया गया है।

देनें के लिए संस्फुरत् कहा। अर्थात् वह ब्रह्म स्वयं प्रकाश होनें के कारण सामान्यतः स्फुरित है, उसी के विशेष अंश का आच्छादन होता है। इस प्रकार जिज्ञास्य (विचारणीय) ब्रह्म का लाभ हो जाता है।

अज्ञान की ज्ञानाभावरूपता का निराकरण करने के लिए कहा है—आवरणेत्यादि। अर्थात् चिदात्मा में ज्ञानाभाव सम्भव नहीं। 'मूढोऽहमस्मि'—इस प्रकार का भावरूप अज्ञान ही अनुभव में आता है। अपरिच्छिन्न आत्मा की आच्छादकता[1] भी अज्ञान में वैसे ही बन जाती है, जैसे सूर्य की आच्छदकता मेघादि में। दोष जिस प्रकार आवरक होते हैं, उसी प्रकार विक्षेपक (कार्यान्तर-जनक) भी होते हैं। जैसे कि वेत के बीजों में दहन केले का उत्पादन कर देता है, भस्मक रोग वहुत अन्न का पाचन करने लग जाता है। विक्षेप मिथ्या होने पर भी भावकार्य है, अतः उसके समान भावरूप ही उसका उपादान होना चाहिए, अतः अज्ञान भावरूप ही है, अभावरूप नहीं। आवरण दो प्रकार का होता है—(१) असत्त्वापादक और (२) अभानापादक। प्रथम से 'ब्रह्म नास्ति' और द्वितीय से 'ब्रह्म न भाति' यह व्यवहार होता हैं। 'अहं कर्त्ता भोक्ता'—आदि भ्रम-जनन-शक्ति को विक्षेप कहते हैं। जगत् यदि अज्ञानोपादानक है, तब ब्रह्म का विवर्त कैसे होगा? यह सन्देह नहीं करना चाहिये, क्योंकि अज्ञात ब्रह्म ही जगत् का उपादान माना जाता है। हाँ, ब्रह्म की अपेक्षा जगत् अतत्त्वतः अन्यथाभाव होने से विवर्त है और अज्ञान की अपेक्षा जगत् तत्त्वतः अन्यथाभाव होने से परिणाम कहा जाता है। जगत् को व्रह्माश्रित अज्ञान का परिणाम कहें या अज्ञात ब्रह्म का विवर्त कहें, एक ही बात है ॥२०॥

आत्मा यदि अज्ञान से आवृत है, तब प्रकाशित नहीं हो सकता, फिर तो अज्ञानादि का उससे भान कैसे? घटावृत्त दीपक से बाह्य पदार्थों का प्रकाश नहीं होता—इस सन्देह का समाधान है—

प्रत्यक्त्वमात्रविषयाश्रयताबलेन
प्रत्यक्स्वरूपमपिधाय पराग्विवर्तैः ।
प्रत्यञ्चमद्वयमशेषविशेषहीनम्
विक्षिप्य तिष्ठति तदग्रहणं मृषैव ॥ २१ ॥

योजना—तदग्रहणं प्रत्यक्त्वमात्रविषयाश्रयताबलेन पराग्विवर्तैः प्रत्यक्स्वरूपम् अपिधाय[2] अशेषविशेषहीनम् अद्वयं प्रत्यञ्चं विक्षिप्य मृषैव तिष्ठति ॥ (वसन्त० छ०)

योजितार्थ—वह अज्ञान प्रत्यक्स्वरूप चेतन मात्र को विषय और आश्रय[3] बनाकर

---

[1] अज्ञान मिथ्या है, फिर आच्छादक कैसे? यह सन्देह उचित नहीं, क्योंकि आच्छादन में सत्यत्व नियामक नहीं; अपितु निद्रादि के समान आवरणशक्तिमत्व, यह तो अज्ञान में है ही।

[2] भागुरि आचार्य के मत से आकार लोप होकर 'पिधाय' शब्द बनता है। उससे नञ् समास करने पर 'अपिधाय' बना है।

[3] यहाँ अज्ञान का आश्रय और विषय एक ही माना गया है। उचित भी यही प्रतीत होता है; क्योंकि अन्धकार जिस कमरे के आश्रित रहता है, उसी को अपना विषय भी बनाता, अर्थात् ढकता है। निरंश चेतन में अभिमत व्यवस्था के लिए सामान्य, विशेष अंशों की कल्पना की गई है। वहाँ सन्देह होता है कि अज्ञान किस अंश को आश्रय करता है? और किस अंश को विषय? सत्ता-

स्वरचित कार्य बाह्य विवर्त प्रपञ्च के द्वारा अपनें आश्रयभूत सामान्य सत्ता अंश को न ढक कर ही अशेष, विशेष-हीन अद्वय, प्रत्यगात्मा पर कुछ मिथ्या आरोप करके स्थित है।

भावितार्थ—घटावृत्त प्रदीप से अवश्य ही बाह्य पदार्थों का प्रकाश नहीं होता, किन्तु घट के उदर का होता ही है। उसी प्रकार आत्मा भी अपनें आच्छादक अज्ञान का प्रकाशक क्यों न होगा ? इसीलिए कहा है—प्रत्यक्स्वरूपमपिधाय पराग्विवर्तैः। अर्थात् अज्ञान अपने उपजीव्य सत्सामान्य अंश को जीवत्वादि बाह्य आरोपों से नहीं ढकता। हाँ, अपने अनुपजीव्य आनन्दादि विशेष अंश को अवश्य अपने कल्पित विशेष अंश से आच्छादित कर देता है। यहाँ प्रत्यक्स्वरूप का अर्थ है चैतन्य। यद्यपि आनन्दादि भी प्रत्यगात्मा का स्वरूप ही है, तथापि चैतन्य के समान सबको स्पष्ट अनुभव-गोचर नहीं होता। जो अज्ञान का साधक साक्षिस्वरूप है, उसे अज्ञान नहीं ढकता और जो अज्ञान का बाधक अनवच्छिन्नानन्दरूप है, उसी को अज्ञान ढकता है। चैतन्य अंश अनावृत्त होने से अज्ञान की प्रतीति बन जाती है। विक्षेप-प्रयोजन अज्ञानगत बल दिखाते हैं–प्रत्यक्त्वमात्रेत्यादि से। स्वयं प्रकाश ब्रह्म वैसे ही अज्ञान का विषय या अप्रकाशमान बन जाता है, जैसे दृष्टि के आवरक मेघादि का आरोप कर लिया जाता है। घटादि स्वयं जड़रूप हैं, अप्रकाशमान हैं, उन पर अज्ञान-विषयत्व मानना व्यर्थ है, अतः अज्ञान-विषय चैतन्यमात्र है। 'अज्ञातोऽयं घटः'—इस अनुभव में भी घटावच्छिन्न चैतन्य ही अज्ञात या अज्ञान का विषय माना जाता है। जिस चेतन के आश्रित अज्ञान है, उसी के आश्रित घटादि भी, अतः समानाश्रयत्व सम्बन्ध से भी घटादि पर अज्ञान का अनुभव वैसे ही बन जाता है, जैसे 'एकं रूपम्, रसात् पृथक्'–यहाँ रूप पर संख्या तथा पृथक्त्वादि गुणों का भान माना जाता है। ब्रह्म में ज्ञान अंश अज्ञान से अनाच्छन्न तथा आनन्दादि अंश आच्छन्न है—यहाँ कल्पित भेद के आधार पर दोनों में प्रकाशमानत्व और अप्रकाशमानत्व विरुद्ध धर्म माने गये हैं; वस्तुतः ब्रह्म निरंश है—यह दिखाते हैं—अशेषविशेषहीनम्। परोक्षत्व-अपरोक्षत्व, किञ्चिज्ज्ञत्व-सर्वज्ञत्वादि समस्त विशेष धर्मों से वह हीन है; क्योंकि वह अद्वय अविकारी, कूटस्थरूप है। कल्पित भेद के आधार पर विरुद्ध धर्मों का समावेश होता हैं–यह दिखाते हैं–'पराग्रूपेण विक्षिप्य तिष्ठति'। 'परस्मिन् ब्रह्मज्ञानानन्तरकाले अञ्चति नश्यति'—इस व्युत्पत्ति से पराक् शब्द जीवभावादि आरोपित भेदों का वाचक होता है। इन्हीं रूपों का विक्षेप पैदा करके अज्ञान ब्रह्म में स्थित है। भेद अनादि होने पर भी अज्ञान के आधीन होने से ही आविद्यिक बन जाता है। भेद यदि अज्ञानजन्य नहीं तो क्या सत्य है ? इस सन्देह को दूर करने के लिए कहा—मृषा। अनिर्वचनीय। अर्थात् अज्ञानजन्य ही पदार्थ मिथ्या होते हैं, यह नियम नहीं, क्योंकि स्वयं अज्ञान किसी से जन्य न होने पर मिथ्या है, अतः मिथ्यात्व का प्रयोजक अनिर्वचनीयत्व है, अज्ञान-जन्यत्व नहीं ॥ २१ ॥

शङ्का होती है कि ब्रह्म में अनाद्यनिर्वचनीय अज्ञान-कल्पना के द्वारा अनिर्वचनीय जगत् की कल्पना करने में निर्मूल कल्पना बाहुल्य है और अनुभव-सिद्ध प्रपञ्च सत्यत्व

सामान्य अंश को आश्रय करने पर उसी को विषय भी करेगा ? फिर तो सामान्य अंश, आच्छन्न हुए बिना न रहेगा। और यदि आनन्दादि अंश को विषय करता है, तब वही आश्रय भी रहेगा, सत् अंश आश्रय न होगा. उपजीव्य न होगा। इस सन्देह का उत्तर यह है कि अज्ञान का आश्रय और विषय, एक ही निर्विभाग चेतन है। इसका स्पष्टीकरण इसी अध्याय के ३१९ वें श्लोक में होगा।

का अपलाप भी होता है। इससे भास्करादि की यह मान्यता न्यायसंगत जँचती है कि प्रपञ्च वास्तविक है और ब्रह्म का परिणाम है। इस शङ्का का समाधान करते हैं—

प्रत्यक्षलिङ्गवचनानि हि दर्शयन्ति
निर्दुःखनित्यसुखविग्रहतां प्रतीचः।
निर्दुःखनित्यसुखविग्रहभूम्नि नास्मिन्
संभाव्यते दृशि पुरोदितमल्परूपम् ॥ २२ ॥

योजना—प्रत्यक्षलिङ्गवचनानि प्रतीचः निर्दुःखनित्यसुखविग्रहतां दर्शयन्ति हि। निर्दुःखनित्यसुखविग्रहभूम्नि अस्मिन् दृशि पुरोरितम् अल्परूपं न सम्भाव्यते ॥ (व०छं०)

योजितार्थ—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण प्रत्यगात्मा को निर्दुःख, नित्य तथा सुखरूप सिद्ध कर रहे हैं, अतः निर्दुःख, नित्य तथा सुखस्वरूप चेतन में पूर्वोक्त परिच्छिन्नरूप (वस्तुतः) सम्भव नहीं ॥

भावितार्थ—वक्ष्यमाण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होता है कि प्रत्यगात्मा दुःख-रहित, नित्य, सुखरूप तथा विभु है। अतः इस दुःख-रहित, नित्य, सुख, विभु आत्मा में पूर्वोक्त जीवभावादि प्रपञ्च वास्तविक सम्भव नहीं हो सकता। आशय यह है कि इस प्रपञ्च के मूल में एक चैतन्य तत्त्व ही स्थित है, यह बात श्रुत्यादि अकाट्य प्रमाणों से प्रमाणित है। उस चैतन्य में वास्तविक जगत् की स्थिति तभी हो सकती थी, जब कि वह विकारी होता। किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाण उसे निर्विकार, कूटस्थ, नित्य बताते हैं। एवं प्रत्यक्षादि प्रमाण यह भी सिद्ध करते हैं कि ब्रह्म परमानन्दस्वरूप है। उस चिदानन्द का विकार जड़, दुःखमय प्रपञ्च कैसे बनेगा? जैसे पृथिवी का विकार घट, अपार्थिव नहीं होता, वैसे सुखरूप चेतन का विकार दुःखमय अचेतन(जड़) नहीं हो सकता। अतः जगत् ब्रह्म का विकार नहीं, अपितु विवर्त है। फिर पारमार्थिक कैसे होगा? ॥२२॥

[आत्मनः सुखरूपत्वोपपादनम्]

आत्मा की सुखरूपता में प्रतिज्ञात प्रत्यक्ष प्रमाण दिखाते हैं—

प्राज्ञे सुखं समनुभूय समुत्थितः सन् ,
सर्वप्रकारविषय-प्रतिपत्ति-शून्ये ।
सुप्तोऽहमत्र सुखमित्यनुसंदधानः,
सर्वोऽपि जन्तुरवगच्छति तस्य सौख्यम् ॥ २३ ॥

योजना—सर्वप्रकारविषयप्रतिपत्तिशून्ये प्राज्ञे सुखं समनुभूय समुत्थितः सन् सर्वोऽपि जन्तुः, अहम् अत्र सुखं सुप्त इत्यनुसन्दधानः तस्य सौख्यम् अवगच्छति। (वसन्ततिलकाछन्दः)।

योजितार्थ—सर्व प्रकार के विषय-ज्ञान से शून्य सुषुप्ति में स्वरूप सुख का साक्षात्कार करके जागने पर प्रत्येक प्राणी 'मैं इस सुषुप्ति के समय सुख से सोया' इस प्रकार का स्मरण करता हुआ उस (प्रत्यगात्मा) की सुखरूपता का ज्ञान कर लेता है।

भावितार्थ—यद्यपि प्रत्यक्षभूत वैषयिक सुख भी आत्मस्वरूप ही है, तथापि

निर्दुःखत्वादि की भी सिद्धि करने के लिए सुषुप्तिकालीन सुख-प्रत्यक्ष का उदाहरण दिया। सुषुप्ति-अवस्थापन्न जीव को प्राज्ञ कहते हैं, किन्तु यहाँ सुषुप्ति को ही प्राज्ञ कहा गया है। क्योंकि सुषुप्ति में विषय-कालुष्य से रहित आत्मसुख का अनुभव किया जाता है (प्रकृष्टम्=विषयकालुष्यरहितम् आ=समन्तात् साक्षिसुखं जानात्यस्मिन्निति प्राज्ञः=स्वापः)। उस अवस्था में आत्माभिन्न सुख का भली प्रकार अनुभव करने के पश्चात् 'सुखमहं सुप्तः' इस प्रकार का स्मरण[1] करता है। इस स्मरण के आधार पर प्रत्येक जीव, प्रत्यगात्मा की सुखरूपता का निश्चय कर लेता है। वह सुख आत्मसुख न मान कर वैषयिक (विषयजन्य) क्यों न माना जाय ? इस शङ्का को दूर करने के लिए कहा है—सर्वप्रकारेत्यादि। चक्षुरादि-जन्य या संस्कार-जन्य सभी प्रकार के विषय-ज्ञान से शून्य सुषुप्ति में वैषयिक सुख सम्भव नहीं हो सकता। क्योंकि वैषयिक सुख विषय-ज्ञान से जन्य होता है; विषय-ज्ञान के बिना कैसे होगा ? अथवा सर्व प्रकार के भावाभावात्मक विषयों की प्रतिपत्ति वहाँ नहीं। सुखम्—यह क्रिया विशेषण है। जागरावस्था का ही वह अनुभव क्यों न माना जाय ? जो कि दुःख-स्मृति के अभाव से अनुमित दुःखानुपलब्धि और दुःखानुपलब्धि से अनुमित दुःखाभाव को विषय करता है—इस सन्देह को दूर करने के लिए कहा—समुत्थितः सन्। अर्थात् जागते ही तुरन्त उसका स्मरण करता है, वहाँ अनुमानपरम्परा अनुभव में नहीं आती। दूसरी बात यह भी है कि जब सुषुप्ति सभी प्रकार के भाव या अभावात्मक विषय के ज्ञान से शून्य है. तब दुःखाभाव-प्रतिपत्ति की वहाँ आशंका भी नहीं हो सकती ॥ २३ ॥

आत्मा की सुखरूपता में प्रत्यक्ष प्रमाण दिखाकर अनुमान प्रमाण दिखाते हैं—

सर्वं यदर्थमिह वस्तु यदस्ति किञ्चित् ,
पारार्थ्यमुज्झति च यन्निजसत्तयैव ।
तद्वर्णयन्ति हि सुखं सुखलक्षणज्ञाः,
तत्प्रत्यगात्मनि समं सुखताऽस्य तस्मात् ॥ २४ ॥

योजना—इह यत् किञ्चद् वस्तु अस्ति, तत्सर्वं यदर्थम्, यच्च निजसत्तयैव पारार्थ्यम् उज्झति, तत् सुखं सुखलक्षणज्ञाः वर्णयन्ति हि। तत् प्रत्यगात्मनि अपि समम्, तस्माद् अस्य सुखता। (वसन्ततिलकाछन्दः) ॥

योजितार्थ—इस संसार में जो कुछ भी वस्तु है, वह जिसके लिए है और जो अपनी सत्तामात्र से परार्थता का त्याग करता है, उसे (सर्वशेषित्वे सति अनन्यशेषि को)

---

[1] 'घटमहमद्राक्षम्' आदि स्मरण तो बन जाते हैं; क्योंकि वहाँ घटाकार वृत्ति नष्ट होकर अपने संस्कार छोड़ जाती है। उन संस्कारों से स्मरण हो सकता है। किन्तु प्रकृत में सौषुप्तिक सुखानुभव साक्षिरूप होने से नित्य है। उसका नाश होगा नहीं, संस्कार उत्पन्न होंगे नहीं। बिना संस्कारों के स्मरण कैसे होगा ?—इस शङ्का के समाधान में विवरणकार ने कहा है कि 'सुखमहमस्वाप्सम्' मूढ आसम्, सुखमन्वभूवम्'—इस प्रकार सुखाकार, अज्ञानाकार, साक्षात्कार, तीन अविद्या वृत्तियाँ होती हैं। उनके नाश से संस्कार होते हैं। वार्तिककार ने कहा है, कि सुषुप्ति में अविद्या के गुण समान होते हैं, अतः वहाँ अविद्या का परिणाम होता नहीं। अन्यथा अविद्या-विक्षेप के कारण वहाँ भी आत्मसुखानुभव नहीं बनता। स्वापावस्थागत अतीतत्व का साक्षि में उपचार करके अतीतत्व का परामर्श होता है।

ही सुख-लक्षण-विचक्षण विद्वान् सुख कहते हैं। वह लक्षण प्रत्यगात्मा में भी घट जाता है, अतः प्रत्यगात्मा सुखरूप है।

भावितार्थ—जगत् में यह व्याप्ति देखी जाती है कि विश्व के समस्त पदार्थ जिसके लिए (जिसके अङ्ग) हैं और जो अन्य किसी के लिए नहीं, अर्थात् जो सर्वतः प्रधान और जिसका और कोई प्रधान नहीं, वह सुख माना जाता है; जैसे स्वर्गादि। हेतु दल प्रत्यगात्मा में भी है, अतः वह सुखरूप है। वेदान्त-सिद्धान्त में अनुमान प्रयोग के तीन ही अवयव माने जाते हैं-उदाहरणादि या उदाहरणान्त। प्रथम पक्ष मूल में दिखाया गया, द्वितीय पक्ष इस प्रकार है—'प्रत्यगात्मा सुखरूपः सर्वाङ्गित्वे सति अनन्याङ्गत्वात् स्वर्गादिवत्।' महर्षि जैमिनि ने अङ्गत्व का अर्थ किया है—पारार्थ्य। वह पारार्थ्य स्वर्ग, पुरुषादि सब कहीं है; क्योंकि स्वर्ग[1] पुरुषार्थ है और पुरुष भी कर्मार्थ है। फिर तो लोक में कोई ऐसा दृष्टान्त नहीं मिल सकता, जिसमें परार्थत्व न हो। दूसरी बात यह भी है कि विषय-सुख भी वस्तुतः आत्म-सुख ही है; क्योंकि किसी अभीष्ट विषय को पाकर अन्तःकरण-वृत्ति एकाग्र हो जाती है। उस एकाग्र वृत्ति में प्रतिफलित आत्मानन्द ही विषय-सुख माना जाता है। ऐसी परिस्थिति में व्यतिरेकी दृष्टान्त घटादि रखना होगा। इसी लिए अग्निचित् पुरुषोत्तम मिश्र ने कहा है—'आत्मा सुखस्वरूपः स्वसत्तया सर्वशेषित्वात् स्वतोऽनन्यार्थत्वाद्वा यन्नैवं तन्नैवं यथा घटादीति व्यतिरेकी; आत्मसुखमेव हि धर्मजन्यसत्त्वपरिणामैर्नानात्वेनाभिव्यज्यमानं विषयसुखं न त्वन्यदिति नान्वयित्वाशङ्का।' असम्भव-वारणार्थ कहा है—निजसत्तया। अर्थात् 'निजसत्तया' पद न होने से असम्भव हो जाता, क्योंकि आनन्दरूप ब्रह्म भी सृष्टि का उपादान होने से अङ्ग ही माना जाता है। 'निजसत्तया' पद देने पर असम्भव नहीं, क्योंकि 'निजसत्तया' का अर्थ स्वरूपसत्ता या साक्षात् है। आनन्दात्मा साक्षात् अङ्ग नहीं।

शङ्का—जैसे 'धनं मे स्यात्, जाया मे स्यात्, पुत्रो जायेत'—आदि कामनाएँ धनादि में आत्मार्थत्व बताती हैं; वैसे ही 'सुखं मे स्यात्'—इस कामना से सुख में भी आत्मार्थत्व प्रतीत होता है, फिर सुख में परार्थत्वाभाव कैसे रहेगा?

समाधान—धनादि से आत्मसुखाभिव्यक्ति होती है, इसलिए धनादि आत्मार्थ हैं। किन्तु सुख से और सुखाभिव्यक्ति होती नहीं; अतः सुख में आत्मार्थत्व नहीं। 'सुखं मे स्यात्' इस अभिलाषा का तात्पर्य 'सुखप्रत्यक्षं मे स्यात्'—इस प्रकार सुख-प्रत्यक्ष में है। अहङ्कार-विशिष्ट आत्मा ममता का अधिकरण है। उससे केवल सुख भिन्न होने के कारण 'सुखं मे स्यात्'—यहाँ पर षष्ठी का प्रयोग भी बन जाता है ॥ २४ ॥

अनुमानान्तर से भी आत्मा में सुखरूपता सिद्ध करते हैं—

प्रेमाऽनुपाधिरसुखात्मनि नोपलब्धः,
स प्रत्यगात्मनि कृमेरपि नित्यसिद्धः।
प्रेयः श्रुतेरपि ततः सुखतानुमानं,
नैयायिकोऽपि न दृगात्मनि निह्नुवीत ॥ २५ ॥

योजना—अनुपाधिः प्रेमा असुखात्मनि नोपलब्धः, स कृमेरपि प्रत्यगात्मनि (अनुभवात्) प्रेयःश्रुतेरपि नित्यसिद्धः; ततः दृगात्मनि सुखतानुमानं नैयायिकोऽपि न निह्नुवीत ॥ (वसन्ततिलकाछन्दः)

---

[1] "फलं पुरुषार्थत्वात्" (जै० सू० ३।१।५) "पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्" (जै० सू० ३।१।६)

योजितार्थ—स्वाभाविक प्रेम सुखातिरिक्त घटादि में नहीं पाया जाता, वह (स्वाभाविक प्रेम) कृमि-कीटादि के भी प्रत्यगात्मा में अनुभव एवं 'तदेतत् प्रेयः पुत्रादपि'—इस श्रुति के बल से भी नित्य सिद्ध है; अतः प्रत्यगात्मा में सुखरूपता के अनुमान से नैयायिकगण भी इनकार नहीं कर सकते।

भावितार्थ—'आत्मा सुखस्वरूपः अनौपाधिकप्रेमगोचरत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा दुःखादि'—इस अनुमान में ग्रन्थकार का तात्पर्य है। श्लोक के प्रथम चरण में व्यतिरेक व्याप्ति दिखाई गई है। सुखभिन्न पुत्रादि में जो प्रेम देखा जाता है, वह औपाधिक है; स्वाभाविक नहीं। द्वितीय चरण में पक्षधर्मता सिद्ध की गई है। अत्यन्त निकृष्ट प्राणी कीट-पतंगों की भी यह अभिलाषा रहती है—मेरा अभाव कभी न हो, सदा बना रहूँ। इसीलिए वे कड़ी धूप से अपनी रक्षा करने के लिए छाया की ओर भागते हैं, वर्षा और शीत से बचने के लिए विवरों एवं कन्दराओं की शरण लेते हैं। इस प्रकार अनुभव के आधार पर आत्मा में स्वाभाविक प्रेम सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, श्रुति भी यही प्रमाणित करती है, यह दिखाते हैं–प्रेयः श्रुतेरपि। 'तदेतत् प्रेयः पुत्रात्' (बृह० १।४।८) यह श्रुति स्पष्ट घोषित कर रही है कि वह आत्मतत्त्व पुत्रादि समस्त प्रिय पदार्थों से प्रियतम है; क्योंकि पुत्रादि में औपाधिक प्रेम है और आत्मा में अनौपाधिक। आश्रयासिद्धि का उद्धार किया जाता है–ततः दृगात्मनि। पूर्वकथित व्याप्त हेतु से दृगात्मा में सुखरूपता के अनुमान को असुखात्म-वादी नैयायिक भी दुष्ट नहीं कर सकता। 'अहं दुःखी'—इस अनुभव से सिद्ध दुःखित्व, उपाधि (अन्तःकरण) रूप दृश्य का धर्म है, द्रष्टा आत्मा का नहीं—यह दिखाने के लिए आत्मा का विशेषण दिया—दृग्॥ २५॥

आत्मा की सुखरूपता में प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण दिखाने के अनन्तर वचन (श्रुति प्रमाण) दिखाते हैं—

आनन्दविग्रहमपास्तसमस्तदुःखम्,
वस्तुस्वभावपरिकल्पितसर्वभेदम्।
आत्मानमध्ययनविध्यनुसारिणस्तम्,
प्रत्यक्षतः श्रुतिशिरःसु समामनन्ति॥ २६॥

योजना—अध्ययनविध्यनुसारिणः श्रुतिशिरस्सु प्रत्यक्षतः तम् आनन्दविग्रहम्, अपास्तसमस्तदुःखं, वस्तुस्वभावपरिवर्जितसर्वभेदं समामनन्ति॥ (वसंततिलकाछन्दः)॥

योजितार्थ—अध्ययन-विधि का अनुसरण करनेवाले वैदिकगण वेदान्त-वाक्यों में स्पष्टतः उस आनन्दस्वरूप, समस्तदुःखातीत, स्वभावतः निखिलभेद-शून्य आत्मा का अध्ययन करते हैं॥

भावितार्थ—"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"—इस अध्ययन विधि में अर्थज्ञानरूप दृष्ट फल के उद्देश्य से अध्ययन का विधान माननेवाले विद्वान् वेदान्तवाक्यों से सिद्धार्थ ब्रह्म का बोध मानते हैं। उन्हें 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० ३।९।२८), 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तै०२।७) 'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति' (तै० २।८), 'एषोऽस्य परमानन्दः' (बृह० ४।३।३२) 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृह० ४।३।३२), यो वै भूमा तत्सुखम्' (छां० ७।२३।१), 'योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति' (बृह० ३।५।१), 'एकमेवाद्वितीयम्' (छां० ६।२।१), 'स एष नेति नेति' (बृह० ३।९।२६)

आदि वाक्यों में वह प्रत्यक्ष तथा अनुमान से सिद्ध आत्मा परमानन्दस्वरूप, समस्त दुःख-रहित, स्वभावतः निखिलभेद-शून्य मिलता है। अर्थात् आत्मा की सुखरूपता में उक्त श्रुतियाँ प्रमाण हैं।

सन्देह होता है कि 'नाल्पे सुखमस्ति'–आदि श्रुतियाँ जीवात्मा में सुख का निषेध कर रही हैं, फिर वह आनन्दरूप कैसे ? इस सन्देह को दूर करने के लिए कहा–वस्तुस्वभावेत्यादि। यद्यपि जीव का स्वरूप दुःखादि-समन्वित प्रतीत होता है। तथापि "यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति" (छां० ७।२४।१) आदि श्रुतियों से सिद्ध ब्रह्म ही उस का वास्तविक रूप है। अतः वह न अल्प है और न उसमें सुख का निषेध हो सकता है। आशय यह है कि स्वयं ग्रन्थकार ने अनृतजडविरोधिरूपम्–इस प्रथम पद्य में आत्मा को जड़ अहङ्कार से विलक्षण ज्ञानरूप कहा है। ज्ञानात्मा नित्य तथा आनन्दरूप है। वृत्तिरूप ज्ञान के अनित्य होने पर भी साक्षिरूप ज्ञान नित्य ही होता है। वही सुख का भासक माना जाता है। इन्द्रिय-जन्य वृत्तिरूप ज्ञान, सुख-भासक नहीं हो सकता; क्योंकि सुखोत्पत्ति-क्षण में हो सुख का ज्ञान होता है, अज्ञात सुख में कोई प्रमाण नहीं। उत्पत्ति-क्षण से पूर्व क्षणों में किसी इन्द्रिय का सन्निकर्ष सुख के साथ हो नहीं सकता कि उत्पत्ति क्षण में उसका इन्द्रिय-जन्य ज्ञान सम्भव होता। यह जो अनुमान किया जाता है कि "सुखादि साक्षात्कारः सकरणकः क्रियात्वात्"। वह उचित नहीं; क्योंकि ईश्वर के सुखज्ञान में हेतु व्यभिचरित है। क्रियात्व हेतु पक्ष में असिद्ध भी है। साक्षाकारत्व की अन्यथानुपपत्ति से सुखसाक्षात्कार में क्रियात्व (जन्यत्व) की सिद्धि नहीं कर सकते; क्योंकि सुख-साक्षात्कारत्व अन्यथा (नित्य साक्षात्कार में) भी उपपन्न है। 'सुख-ज्ञानमुत्पन्नं विनष्टम्'—यह प्रतीति अनुकूल विषय-सन्निकर्ष के उत्पत्ति-विनाश पर आधृत है। अतः सुखानुभव का न तो उत्पादन ही प्रमाणित होता है और न भेद। फिर तो सुखानुभव एक तथा नित्य ही सिद्ध होता है। वही चैत्यन्य स्वरूप है, वही आत्मा है ॥ २६ ॥

[सकारणाध्यासनिरूपणम्]

सन्देह होता है कि उक्त समस्त प्रमाण स्पष्टतया प्रत्यक्ष-बाधित प्रतीत होते हैं, क्योंकि 'अहं दुःखी'–आदि प्रत्यक्षानुभव आत्मा को दुःखी सिद्ध करते हैं। यह दुःखित्वानुभव अहङ्कार में है, आत्मा में नहीं–यह नहीं कह सकते; क्योंकि अहङ्कार ही तो आत्मा है। अहङ्कार अध्यस्त आत्मा है, वास्तविक नहीं–यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि अध्यासस्थल पर 'इदं रजतम्'–इस प्रकार दो तत्त्व स्पष्टतः प्रतीत होते हैं एवं सादृश्यादि ज्ञान, करण-दोष संस्कारादि दोष हुआ करते हैं। प्रकृत में न तो दो तत्त्व ही प्रतीत होते हैं और न सादृश्यज्ञानादि दोष ही सम्भावित हैं। अतः उसकी अध्यस्तता में कोई प्रमाण नहीं, प्रत्युत प्रेम अनुभूत होने से वह वास्तविक आत्मा सिद्ध होता है–इस सन्देह का निराश करते हैं—

अध्यस्तमल्पवपुरस्य न वास्तवं तत् ,
प्रत्यक्पराग्द्वयमिदं हि परस्परस्मिन् ।
अध्यस्ततां प्रति समर्थमबोधमात्र-
मन्योऽन्यरूपमिथुनीकरणे निमित्तम् ॥ २७ ॥

योजना– तत् अल्पवपुः अस्य अध्यस्तं न वास्तवम्। हि प्रत्यक् पराग् इदं द्वयं

परस्परस्मिन् अध्यस्ततां प्रति समर्थम् । अबोधमात्रम् अन्योऽन्यरूपमिथुनीकरणे निमित्तम् ॥ (वसन्ततिलकाछन्दः) ।

योजितार्थ—वह (अहङ्कारादि) परिच्छिन्न दुःखरूप इस (आत्मा) में अध्यस्त है, वास्तव नहीं, क्योंकि प्रत्यक् अंश तथा पराक् अंश यह दोनों पारस्परिक अध्यस्तता में समर्थ हैं। अज्ञानमात्र अन्योऽन्य के अध्यास में निमित्त है ॥

भावितार्थ – अहंकार की अध्यस्तता में हेतु है—अल्पवपुः । परिच्छिन्न होने से ही अध्यस्त मानना होगा । सन्देहवादि-कथित अध्यास स्थल पर दो अंशों को दिखाते हैं—प्रत्यक्पराग्द्वयमिदम् । अर्थात् 'इदं रजतम् के समान ही अहंकारानुभव में भी गहरी दृष्टि से देखने पर दो अंश (प्रत्यक् और पराक्) प्रस्फुरित होते परिलक्षित होते हैं । वे दोनों विरुद्धरूप हैं, अध्यास के बिना तप्तायः पिण्ड के समान एकरूप में प्रतीत नहीं हो सकते । यह जो कहा था कि प्रत्यक् और पराक् का सादृश्य नहीं, विशुद्ध आत्मा में और कोई दोष भी संभावित नहीं, फिर अध्यास कैसे होगा ? उसका उत्तर है—अबोधमात्रम् अन्योन्यमिथुनीकरणे निमित्तम् । अधिष्ठान का अज्ञान ही सर्वत्र अध्यास में कारण होता है, वह आत्मा में अनुभव-सिद्ध है । अज्ञान ही अन्योऽन्याध्यास (अर्थाध्यास) तथा मिथुनीकरण (ज्ञानाध्यास) में निमित्त माना जाता है । अतः प्रत्यगात्मा का अज्ञान ही बुद्ध्यादि तथा उनके ज्ञान के रूप में परिणत होकर 'अहम्'—इस प्रकार साक्षिविषयक माना जाता[1] है ॥ २७ ॥

---

[1] शङ्का—वेदान्त आचार्यों ने कहा है—"अविद्यैव बाह्यदोषापेक्षया रजताकारेण साक्षिचैतन्यस्य रजतावच्छेदकज्ञानाभासाकारेण च परिणममाना स्वकार्येण सह साक्षिविषयत्वमापद्यते ।" अर्थात् दूषित इन्द्रिय का शुक्ति के साथ सन्निकर्ष होने पर 'इदम्' यह प्रमाण वृत्ति उत्पन्न होती है । उसमें प्रतिफलित शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य में रहनेवाला शुक्तित्वाज्ञान राग तथा आरोप्य-संस्कारादि की सहायता से शुक्ति के साथ मिथ्या तादात्म्यापन्न रजत के रूप में परिणत होता है । एवं इदमाकार-वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य-धृत्ति शुक्ति विषयत्वाज्ञान ज्ञान-संस्कार की सहायता से साक्षि-रजत-सम्बन्धापादक रजत ज्ञान के रूप में परिणत होता है । वह (अज्ञान) जड़ होने से स्वविषय-साधन की क्षमता नहीं रखता, अतः सविलास अज्ञान साक्षी का विषय माना जाता है ।

यहाँ कुछ लोग यह शंका किया करते हैं कि रजतज्ञानात्मक अविद्या वृत्ति की क्या आवश्यकता ? उसके विना भी इदमाकार वृत्ति में अभिव्यक्त साक्षी से ही रजत-प्रतिभास बन जाता है । अध्यस्त रजतादि प्रमाण गम्य न होने से आवरण-रहित होते हैं, अतः वहाँ वृत्ति का कोई प्रयोजन नहीं; क्योंकि आवरण का अभिभव करने तथा चिदुपराग स्थापित करने के लिए ही अन्यत्र वृत्ति की आवश्यकता मानी जाती है । इसलिए ज्ञान और सुखादि के आकार की वृत्ति नहीं मानी जाती। वे अनावृत्त चेतन में अध्यस्त होने से ही भासित हो जाते हैं, अन्यथा वृत्ति में अन्य वृत्ति की अपेक्षा होने पर अनवस्था होगी । संस्कार–सम्पत्ति के लिए भी यहाँ वृत्ति की आवश्यकता नहीं; क्योंकि रजत-विशिष्ट चित् के नाश से सुखादि के समान ही संस्कारों की उत्पत्ति हो सकती है, अर्थ-नाश-जन्य संस्कार स्मृति के हेतु नहीं होते । इस नियम के आधार पर भी वृत्ति की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि सुखादि स्थल पर ही अर्थ-नाश-जन्य संस्कारों में स्मृति-हेतुता की कल्पना हो जाती है । वृत्त्यन्तर रूप धर्मी की कल्पना की अपेक्षा उक्त संस्कारों में स्मृति-हेतुत्वरूप धर्म की कल्पना लघु है । ज्ञान के संस्कारों में रजतादि रूप पदार्थ की हेतुता नहीं—यह भी नहीं कह सकते; अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर उसकी कल्पना हो जाती है ।

सादृश्यज्ञानादि में अध्यास की हेतुता नहीं, क्योंकि उनके बिना भी अध्यास देखा जाता है—

सादृश्यधीप्रभृति न त्रितयं निमित्त-
मध्यासभूमिषु जगत्यनुगच्छतीदम् ।
ब्राह्मण्यजातिपरिकल्पनमात्मनीष्टम् ,
जात्या न साम्यमुपलब्धमिहास्ति किञ्चित् ॥ २८ ॥

योजना—(यत्) सादृश्यधीप्रभृति त्रितयं निमित्तम् (कथ्यते), (तद्) इदं जगति अध्यासभूमिषु नानुगच्छति । आत्मनि ब्राह्मण्य-जाति-परिकल्पनम् इष्टम् । इह जात्या किञ्चित् साम्यं नोपलब्धम् अस्ति ।। (वसन्ततिलकाछन्दः) ।।

योजितार्थ—जो सादृश्यज्ञानादि (सादृश्यज्ञान, करणदोष, और संस्कार) तीन निमित्त कहे जाते हैं, वे तीनों ही सर्वत्र अध्यासों में अनुगत नहीं पाये जाते । (जैसे कि) आत्मा में ब्राह्मणत्वादि जाति की कल्पना अभीष्ट है, (किन्तु) इस (आत्मा) में जाति का कोई भी सादृश्य उपलब्ध नहीं होता ।

भावितार्थ—सादृश्यज्ञान, करण दोष एवं संस्कार—ये तीन अन्य जो अध्यास में कारण कहे जाते हैं, वे वस्तुतः अध्यास के कारण ही नहीं, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर कार्य-कारणभाव का निर्णय किया जाता है, किन्तु सादृश्यज्ञानादि का व्यभिचार होने के कारण अध्यास के साथ अन्वयव्यतिरेक सम्भव नहीं । सादृश्यज्ञान का व्यभिचार-स्थल दिखाते हैं—ब्राह्मण्यजातिपरिकल्पनमित्यादि से । आत्मा में ब्राह्मणत्वादि

समाधान—अनावृत चैतन्य में अध्यस्त होने मात्र से जड़ का भान मानने पर अनुमेय वह्न्यादि का भान उपपन्न न होगा; क्योंकि अनुमेय स्थल पर विषयगत आवरण का भङ्ग नहीं माना जाता । अतः अस्वच्छ तामस द्रव्यों के भान का प्रयोजक तदाकार वृत्ति की विषयता को कहना होगा और स्वच्छ अन्तःकरणादि का भान तदाकार वृत्ति के बिना ही चित्प्रतिबिम्बाश्रयत्व को । कहीं तदाकार वृत्ति की विषयता और कहीं चित्प्रतिबिम्बाश्रयत्व विषय-भान का प्रयोजक है । अतः भान-प्रयोजकता अनुगत नहीं—यह नहीं कह सकते; क्योंकि एक ही चैतन्याकारत्व ही सर्वत्र भान-प्रयोजक माना जाता है । चैतन्य यदाकार होता है, उसी का भासक होता है । चैतन्य स्वतः असंग होने पर भी कहीं प्रतिबिम्ब के द्वारा और कहीं तदाकार वृत्ति के सम्बन्ध से तदाकार होता कहा जाता है । अन्तःकरणादि सात्त्विक पदार्थ तथा उनके धर्मों में प्रतिबिम्बित होने से तथा घटादि तामस पदार्थों में तदाकार वृत्ति से सम्बन्ध से चैतन्य भासक माना जाता है । अतः रजताकार वृत्ति के बिना उसका भान कैसे होगा ? अध्यस्त रजत अस्वच्छ तामस होने से चित्प्रतिबिम्ब का आश्रय भी नहीं हो सकता, अतः रजताकार अविद्या वृत्ति अवश्य माननी पड़ती है । रजत का विषयावच्छिन्न साक्षी से भान मानने पर 'अहं रजतज्ञानवान्' । यह प्रतीति होगी कि 'अहं रजतज्ञानवान्' । दूसरी बात यह भी है कि पूर्वपक्षी की बाह्य स्थल पर संस्कारों में स्मृति-हेतुता और ज्ञान-सामग्री में रजतादि रूप पदार्थ की हेतुता कल्पनीय होने से गौरव है । प्रातीतिकत्व का अर्थ होता है—प्रतीतिकालान्यकालासत्त्व, न तु प्रतीतिजन्यत्व, अन्यथा संस्कारादि में प्रातीतिकत्व की आपत्ति होगी । वृत्ति के बिना ही यदि रजतादि का साक्षी से भान मानें तो साक्षी के काल से अन्यकाल सम्भव नहीं होता अतः रजतादि में प्रातीतिकत्व कैसे बनेगा ? इसलिए रजताकार अविद्या-वृत्ति को रजतादि की प्रतीति मानना होगा ।।

जातिं का अध्यास अवश्य करना होता है, अन्यथा 'ब्राह्मणो यजेत्, ब्राह्मणो न हन्तव्यः' आदि विधि-निषेध वाक्यों की व्यवस्था ही न बनेगी । ब्राह्मणत्वादि जाति के साथ आत्मा का कोई सादृश्य नहीं, क्योंकि भूयोऽवयव–सामान्य–योग रूप सादृश्य, सर्वथा अवयवादिशून्य जाति और आत्मा में कैसे बनेगा ? अतः कहना होगा कि रजतादि-अध्यास में सादृश्यज्ञानादि तीनों के प्रसंगतः रहने पर भी सर्वत्र अध्यास में वे कारण नहीं ।। २८ ।।

जाति तथा आत्मा का सादृश्य क्यों नहीं ? यह समझाने के लिए सादृश्य का प्रसिद्ध लक्षण कहते हैं—

भूयस्त्ववत्तनु-गुणावयवक्रियाणां
सामान्य–पूगवपुरुक्तमिहाभियुक्तैः ।
सादृश्यवस्तु न चिदात्मनि किञ्चिदत्र
जात्यादिभिः सह निरीक्षितमस्ति तादृक् ।। २९ ।।

योजना—इह अभियुक्तैः भूयस्त्ववत्तनुगुणावयवक्रियाणां सामान्यपूगवपुः सादृश्यवस्तु उक्तम् । अत्र चिदात्मनि जात्यादिभिः सह तादृक् किञ्चित् (सादृश्यम्) न निरीक्षितमस्ति ।। (वसन्ततिलकाछन्दः) ।।

योजितार्थ—विद्वान् भूयस्त्वयुक्त (अर्थात् बहुत से) तनु-वृत्ति गुण अवयव तथा क्रिया पदार्थों का सामान्य समूहरूप ही सादृश्य वस्तु कहते हैं। इस आत्मा में जात्यादि के साथ वैसा किसी प्रकार का भी सादृश्य नहीं देखा जाता है ।।

भावितार्थ—इस श्लोक में 'भूयस्त्ववत्तनु' और 'भूयस्त्ववन्ननु'–दो पाठ उपलब्ध होते हैं । प्रथम पक्ष में (भूयसां भावो भूयस्त्वम्, तदस्ति अस्मिन्निति) भूयस्त्ववत् गुणादि का विशेषण है । अर्थात् तनुगत बहुत से गुणों या अवयवों या बहुत-सी क्रियाओं के सामान्यों (शुक्लत्वादि लोमवल्लाङ्गूलत्वादि, गमनत्वादि) का समूह ही सादृश्य होता है । 'ननु'–इस द्वितीय पाठ के मानने पर 'भूयस्त्ववत्' यह पृथक् पद मानना होगा एवं 'वति' प्रत्यय स्वार्थपरक । इस प्रकार भूयस्त्व ही सादृश्यपदार्थ होता है । सन्देह होता है कि निर्गुण निरवयव, तथा निष्क्रिय आत्मा का भी सादृश्य 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः'—इस वैदिक प्रयोग के आधार पर अवश्य मानना पड़ेगा । इस सन्देह का समाधान करने के लिए कहा—नेत्यादि । अर्थात् इस आत्मा में वैसा कोई भी सादृश्य नहीं है । 'आकाशवत्'—आदि प्रयोग गौणमात्र हैं । कुछ विद्वानों ने 'सामान्य' पद की मतुबर्थ में लक्षणा करके उक्त सामान्यवत् को सादृश्य पदार्थ कहा है ।। २९ ।।

विषयगत तथा करणगत दोषों का व्यभिचार-स्थल दिखाते हैं—

विषयकरणदोषान्न भ्रमः संविदि स्या-
दपि तु भवति मोहात्केवलादेवमेव ।
भगवति परमात्मन्नद्वितीये विचित्रा-
द्वयमतिरियमस्तु भ्रान्तिरज्ञानहेतुः ।। ३० ।।

योजना—संविदि भ्रमो विषयकरणदोषात् न स्यात्, अपितु केवलात् मोहात्

भवति। एवमेव अद्वितीये भगवति परमात्मनि इयं विचित्रा द्वयमतिः भ्रान्तिः अज्ञानहेतुरस्तु ॥ ([1]मालिनीछन्दः) ॥

योजितार्थ—ज्ञान में (वेद्यत्वादि का) भ्रम विषय-दोष (सादृश्यादि) एवं करण-दोष (कामलत्वादि) से नहीं होता, अपितु केवल अज्ञान से होता है। इसी प्रकार अद्वितीय भगवान् परमात्मा में यह द्वैत-बद्धिरूप भ्रान्ति अध्यास की हेतु है।

भावितार्थ—प्रमाण-फलरूप घटादि-ज्ञान में जो तार्किकों को वेद्यत्वादि का भ्रम होता है, वह विषयगत या करणगत दोष से नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान स्वयं प्रकाश है, अविषय है, करणागोचर है। हाँ, प्रमातृगत-दोष से अवश्य भ्रम माना जा सकता है, किन्तु प्रमातृदोष एकमात्र मोह (अज्ञान) हो सकता है। उसे तो हम भी अध्यास का हेतु मानते ही हैं—'अपि तु भवति मोहात्'। उसी प्रकार प्रकृत में भी केवल मोह से ही अध्यास बन जाता है—'एवं भगवति परमात्मनि'। अद्वितीय परमात्मा में द्वैतबुद्धि भ्रम है, अतः यह अज्ञान की हेतु होती है। अज्ञानजन्यत्व की उपपत्ति के लिए कहा—'विचित्रा'। अर्थात् भिन्नाभिन्नत्व, सदसत्त्वादि रूप से विचारासह होने से अनिर्वचनीय है। भ्रान्तित्वसाधक कहते हैं—'अद्वितीये द्वयमतिः'। 'अतस्मिन् तद्बुद्धिः' होने से भ्रान्ति है। 'इयम्'—इस पद से साक्षिसिद्धत्व व्यक्त किया है। 'भगवति'—इस विशेषण से प्रपञ्च-रचना का महान् सामर्थ्य दिखाया है। 'अस्तु'—यह समर्थन में लोट् है। इसी प्रकार संस्कार भी व्यभिचरित होने से अध्यास के हेतु नहीं बन सकते; क्योंकि शुक्ति-रजतादि-वैशिष्ट्य पूर्व में अनुभूत नहीं, अतः उसके संस्कार न होने पर भी उसका अध्यास होता है। यह नितान्त स्पष्ट होने से ग्रन्थकार ने नहीं कहा ॥

आत्मा तथा अनात्मजगत् का परस्पर अध्यास मानने पर अनात्मा में अध्यस्त होने से आत्मा भी मिथ्या होगा, अतः जगत् का सत्य अधिष्ठान न होने से शून्यवाद की आपत्ति होती हैं—इस प्रकार का कुछ विद्वानों का आक्षेप निराधार सिद्ध करने के लिए कहते हैं—

संसिद्धा सविलासमोहविषये वस्तुन्यधिष्ठानगी-
र्नाऽऽधारेऽध्यसनस्य वस्तुनि ततोऽस्थाने महान् संभ्रमः।
केषांचिन्महतामनूनतमसां [2]निर्बन्धमात्राश्रया-
दन्योन्याध्यसने निरास्पदमिदं शून्यं जगत्स्यादिति ॥ २१ ॥

योजना—सविलासमोहविषये वस्तुनि अधिष्ठानगीः संसिद्धा, नाध्यसनस्य आधारे वस्तुनि। ततः अनूनतमसां केषांचित् महतां निर्बन्धमात्राश्रयात् 'अन्योऽन्याध्यसने इदं निरास्पदं जगत् शून्यं स्यात्'—इति महान् सम्भ्रमः अस्थाने ॥ (शार्दूलविक्रीडितछन्दः) ॥

योजितार्थ—कार्य-सहित अज्ञान के विषयीभूत (अज्ञानावृत) वस्तु की अधिष्ठान संज्ञा प्रसिद्ध हैं, अध्यास के आधारमात्र वस्तु में नहीं। इसलिए कुछ महान् अप्रबुद्ध व्यक्तियों को केवल हठधर्मिता के कारण 'परस्पर अध्यास मानने पर यह निरधिष्ठान जगत् शून्यमात्र हो जायगा'—इस प्रकार का जो भ्रम होता है, वह नितान्त अयुक्त है ॥

---

[1] 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' (वृत्त० ८।३) अर्थात् जिस पद्य के प्रत्येक चरण में क्रमशः दो नगण, एक मगण तथा दो यगण हों, उसे मालिनी कहते हैं। आठ और सात वर्णों पर यति (विराम) होती है। [2] 'पाण्डित्यगर्वाश्रयाद्' इति पाठान्तरम्।

भावितार्थ—'विलसति = व्यक्तीभवति मोहोऽनेन'—इस व्युत्पत्ति से विलास नाम हैं—मिथ्या रजतादि रूप अज्ञानकार्य का। सविलास अज्ञान के विषयीभूत अर्थात् अज्ञानावृत शुक्त्यादि की ही अधिष्ठान संज्ञा प्रसिद्ध है; क्योंकि सकार्य अज्ञान शुक्त्यादि पर ही अधिष्ठित (आश्रित) है। सन्देह होता है कि आरोप्य वस्तु के आधार को ही अधिष्ठान कहा जाता है। उसे आरोप्य में अध्यस्त ही मानना होगा, नहीं तो परस्पराध्यास कैसे बनेगा ? इस सन्देह को दूर करने के लिए कहा—नाधार इति। अर्थात् अध्यस्त का जो इदमंश आधार प्रतीत होता है, वह अधिष्ठान नहीं कहा जाता। आशय यह है कि अधिष्ठान और आधार का महान् अन्तर हैं। शुक्त्यादि विशेष अंश को अधिष्ठान तथा इदमादि सामान्य अंश को आधार माना जाता है। दोनों का सूक्ष्म विश्लेषण बुद्धि में न आने से उक्त सन्देह को अवसर मिल जाता है और वह अन्तर समझ लेने से वैसा सन्देह कथमपि नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

अधिष्ठान तथा आधार का उक्त भेद न मानने पर आपत्ति देते हैं—

अधिष्ठानमाधारमात्रं यदि स्यात्,
प्रसज्येत सत्यं तदा चोद्यमेतत् ।
न चैतत्सकार्यस्य मोहस्य वस्तु-
न्यधिष्ठानगीर्गोचरे लोकसिद्धा ॥ ३२ ॥

योजना—यदि आधारमात्रम् अधिष्ठानं स्यात्, तदा सत्यम् एतत् चोद्यं प्रसज्येत। एतच्च न, सकार्यस्य मोहस्य गोचरे वस्तुनि अधिष्ठानगीः लोकसिद्धा ॥ ([1]भुजङ्गप्रयातं छन्दः)

योजितार्थ—यदि आधारमात्र ही अधिष्ठान होता, तब अवश्य ही यह (पूर्वोक्त) आक्षेप हो सकता था। किन्तु यह नहीं, अपितु सकार्य अज्ञान के विषय (शुक्त्यादि अंश) में 'अधिष्ठान' शब्द लोक-प्रसिद्ध है ॥

भावितार्थ—मिथ्या रजतादि, यन्निष्ठ-प्रतीत होते हैं, वह अधिष्ठान का सामान्य अंश (इदमादि) ही आधार कहा गया है। यदि वही अधिष्ठान माना जाता, तब अवश्य उक्तरीति से शून्यवाद प्राप्त होता। किन्तु यह बात नहीं, अपितु सकार्य अज्ञान के विषय विशेष अंश की ही अधिष्ठान संज्ञा लोक-प्रसिद्ध[2] है। उसके साक्षात्कार से ही भ्रम निवृत्त होता है।

"आश्रयत्वविषयत्वभागिनी" (सं० सा० १।३१९) इस श्लोक में स्वयं ग्रन्थकार ने कहा है कि शुद्ध चैतन्यतत्त्व ही अज्ञान का आश्रय (आधार) तथा विषय (अधिष्ठान) होता है, उसका इस श्लोक से विरोध होता है—इस शङ्का का समाधान यह है कि आभासवाद में ही अधिष्ठान और आधार का उक्त भेद अपेक्षित है, प्रतिबिम्बवाद में नहीं। प्रतिबिम्बवाद को दृष्टि में रखकर ही ग्रन्थकार ने 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी' कहा है।

कतिपय विद्वान् जो ऐसा कहा करते हैं कि यह एक सार्वभौम नियम है कि अध्यास में अध्यस्त का ही मान होता है। अतः भ्रम का विषय 'इदम्' अंश से भिन्न है। वह अविद्यावृत्ति का विषय है, अतः बाध्य होता है, किन्तु शुक्ति का सत्य 'इदम्' अंश प्रमाणवृत्ति का

---

[1] भुजंगप्रयातं भवेद् यैश्चतुर्भिः (वृत्त० ३।५५) अर्थात् जिस पद्य के प्रत्येक चरण में चार यगण हों, उसे भुजंगप्रयात कहते हैं। [2] इस प्रकार अधिष्ठान का लक्षण सिद्ध होता है—'यद्विषयाज्ञानाद् यद्भवति तत् तस्याधिष्ठानम्' और आधार का 'यन्निष्ठतया यत् स्फुरति स तस्याधारः'।

विषयहोता है, अतः अबाध्य है। इन दोनों इदन्ताओं का विवेक भ्रमकाल में नहीं होता; क्योंकि उनका विवेचक शुक्तित्वादि आवृत है। उन दोनों इदन्ताओं का विवेकाग्रह अध्यास में हेतु भी होता है। अविद्या-वृत्ति तथा प्रमाण-वृत्ति—दोनों एक कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकतीं, अतः प्रमाण-वृत्ति के विषयभूत सत्य इदन्ता को अविद्या-वृत्ति विषय नहीं कर सकती।

उनका वैसा कहना संगत नहीं; क्योंकि शुक्तिगत सत्य इदन्ता का संसर्गाध्यास कर लेने से 'इदं रजतम्'—यह अध्याय बन जाता है, मिथ्या इदन्ता की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं, गौरव भी है और अग्रिम श्लोक से विरोध भी। "अध्यस्तस्मेवाध्यासे परिस्फुरति"–इस नियम का तात्पर्य है कि अध्यास में स्वरूपतः अध्यस्त या संसर्गतः अध्यस्त वस्तु का ही भान होता है। प्रमाणवृत्ति तथा अविद्यावृत्ति—दोनों में एक पदार्थ का स्फुरण होने से एक कार्य-प्रवृत्ति भी दोनों की माननी पड़ती है। चित्सुखाचार्य ने भी इदन्तासंसर्ग को ही अध्यस्त माना है, इदन्ता को नहीं॥ ३२॥

अधिष्ठान और आधार का भेद मानने पर भी चेतन का अध्यास अहंकार में मानना ही पड़ेगा। अध्यस्त सदा बाधित होता है, अतः चेतन का बाध हो जाने पर शून्यवाद के पञ्जे से छुटकारा नहीं मिल सकता, इस सन्देह को दूर करते हैं—

किञ्चानृतद्वयमिहाध्यसितव्यमिष्टम्,
स्याच्चेत्तदा भवति चोद्यमिदं त्वदीयम्।
सत्यानृतात्मकमिदं मिथुनं मिथश्चे-
दध्यस्यते किमिति शून्यकथाप्रसङ्गः॥ ३३॥

योजना—किञ्च इह चेत् अनृतद्वयम् अध्यसितव्यम् इष्टं स्यात् तदा त्वदीयमिदं चोद्यं स्यात्। इदं सत्यानृतात्मकं मिथुनं मिथः चेत् अध्यस्यते, किमिति शून्यकथाप्रसङ्गः? (वसन्ततिलकाछन्दः)॥

योजितार्थ—यदि यहाँ दोनों मिथ्या पदार्थ ही परस्पर अध्यसितव्य इष्ट होते, तब आपका यह आपेक्ष सत्य होता। जब कि सत्य तथा मिथ्या दोनों परस्पर अध्यस्त होते हैं, तब यह शून्यवाद-प्रसङ्ग क्यों होगा?

भावितार्थ—अन्योऽन्याध्यास में दोनों अनृत पदार्थों का यदि अध्यास अभीष्ट होता तब अवश्य दोनों ही बाधित होते और शून्यवाद की प्राप्ति होती। किन्तु यहाँ [1]सत्य (प्रत्यगात्मा) तथा अनृत[2] (बुद्ध्यादि बाह्य) पदार्थों का अध्यास माना जाता है। उसमें भी बाह्य पदार्थ का स्वरूपतः और प्रत्यगात्मा का संसर्गतः अध्यास है। इस प्रकार प्रत्यगात्मा बाह्य-संसृष्टत्वरूप से बाधित होने पर भी स्वरूपतः सत्य है; अतः शून्यता-प्रसङ्ग क्यों होगा?॥ ३३॥

अन्योऽन्याध्यास को प्रमाणित करने के लिए प्रसिद्ध स्थल दिखाते हैं—

---

[1] भ्रम के पूर्व आरोप्य की उत्पत्ति के लिए, भ्रमकाल में सत्तास्फूर्ति देने के लिए और भ्रमोत्तर काल में बाधावधित्व को आश्रय देने के लिए जो तत्त्व मानना पड़ता है, वह सत्य होता है।

[2] बाह्य पदार्थ को स्वरूपतः ही अध्यस्त मानना होगा; क्योंकि भ्रम के पूर्व तथा उत्तर काल में उसकी सत्ता प्रमाणित नहीं।

इदमर्थवस्त्वपि भवेद्रजते
परिकल्पितं रजतवस्त्विदमि ।
रजतभ्रमेऽस्य च परिस्फुरणा-
न्न यदि स्फुरेन्न खलु शुक्तिरिव ॥ ३४ ॥

योजना—इदमर्थवस्तु अपि रजते परिकल्पितं भवेत्, रजतवस्तु इदमि। अस्य च रजतभ्रमे परिस्फुरणात्। यदि न (अध्यस्तम् स्यात् तर्हि) शुक्तिरिव न खलु स्फुरेत्॥ (प्रमिताक्षराछन्दः)॥

योजितार्थ—इदम् पदार्थ भी रजत में (वैसे ही) कल्पित है; (जैसे कि) रजतवस्तु इदम् पदार्थ में; क्योंकि यह (इदम्पदार्थ) रजत-भ्रम में परिस्फुरित होता है। इदम् पदार्थ यदि अध्यस्त न होता, तब शुक्ति के समान ही प्रतीत न होता॥

भावितार्थ—रजत पदार्थ, इदम् पदार्थ (शुक्ति) में अध्यस्त है—यह निर्विवाद सिद्ध है। इदम् पदार्थ को भी रजत में अध्यस्त मानना होगा; क्योंकि रजत-भ्रम में वह प्रतीत होता है, जैसे रजत। यदि इदम्पदार्थ अध्यस्त न होता, तब रजत-भ्रम में वैसे ही स्फुरित न होता जैसे शुक्ति। यहाँ यह अनुमान विवक्षित है—"इदं पदार्थो रजतपदार्थे अध्यस्तः, रजतभ्रमे परिस्फुरितत्वात् रजतवत् यन्नैवं तन्नैवं यथा शुक्तिः" इति व्यतिरेकिदृष्टान्तः॥ ३४॥

अर्थाध्यास में अनुमान प्रमाण दिखाकर ज्ञानाध्यास में प्रत्यक्ष प्रमाण दिखाते हैं—

रजतप्रतीतिरिदमि प्रथते
ननु यद्वदेवमिदमित्यपि धीः ।
रजते तथा सति कथं न भवे-
दितरेतराध्यसननिर्णयधीः ॥ ३५ ॥

योजना—यद्वद् रजतप्रतीतिः इदमि प्रथते ननु, एवं इदम् इत्यादि धीः रजते। तथा सति इतरेतराध्यसननिर्णयः कथं न भवेत्॥ (प्रमिताक्षराछन्दः)

योजितार्थ—जैसे रजत-प्रतीति इदम् पदार्थ में होती है, वैसे ही 'इदम्' बुद्धि भी रजत में होती है। ऐसे अनुभवों के रहने पर अन्योन्याध्यास का निश्चय क्यों न होगा ?

भावितार्थ—"इदं रजतम्"–यह एक ही बुद्धि है। इसमें जैसे रजत का इदम् के साथ तादात्म्य प्रतीत होता है, वैसे ही इदम् का भी रजत के साथ तादात्म्य ही। अतः यह प्रत्यक्ष अनुभव भी अन्योऽन्याध्यास में प्रमाण है॥ ३५॥

अन्योन्याध्यास में दिखाये गये अनुमान में अपेक्षित व्याप्ति दिखाते हैं—

अध्यस्तमेव हि परिस्फुरति भ्रमेषु
नान्यत्कथञ्चन परिस्फुरति भ्रमेषु ।
रज्जुत्वशुक्तिशकलत्वमरुक्षितित्व-
चन्द्रैकताप्रभृतिकानुपलम्भनेन ॥ ३६ ॥

योजना—भ्रमेषु अध्यस्तमेव परिस्फुरति, नान्यत् कथंचन परिस्फुरति, भ्रमेषु रज्जुत्वशुक्तिशकलत्वमरुक्षितित्वचन्द्रैकताप्रभृतिकानुपलम्भनेन॥ (वसन्ततिलकाछन्दः)॥

योजितार्थ—सभी भ्रमों में अध्यस्त का ही भान होता है, अन्य (अनध्यस्त) का भान किसी प्रकार भी नहीं हो सकता, क्योंकि (सर्पादि) भ्रमों में रज्जुत्व शुक्तिशकलत्व मरुभूमित्व, चन्द्रैकत्वादि का भान अनुभव-गोचर नहीं होता ।।

भावितार्थ—रज्जु-सर्प-भ्रम में रज्जुत्व का, शुक्ति-रजत-भ्रम में शुक्तित्व का, मरु-मरीचि-भ्रम में मरुभूमित्व का, द्विचन्द्र-भ्रम में चन्द्रगत एकत्व का भान नहीं होता, इससे यही सिद्ध होता है कि सर्वत्र भ्रमों मे अध्यस्त का ही भान होता है, अनध्यस्त का नहीं। आशय यह है कि अध्यास दो प्रकार का होता है—निरुपाधिक और सोपाधिक । जिस वस्तु का याथात्म्य अनवभासित है और जो वस्तु स्वरूपतः प्रतीयमान है, उसमें अन्य वस्तु रूपता की प्रतीति निरुपाधिक अध्यास है, जैसे शुक्त्यादि में रजतादि का अध्यास । जिस वस्तु का याथात्म्य अवभासित भी है किन्तु सन्निहित किसी उपाधि के कारण भेद-विपर्यय का भान होता है, वहाँ सोपाधिक अध्यास माना जाता है, जैसे प्रतिबिम्बविभ्रमादि । प्रकृति में अहङ्कार तथा आत्मा का निरुपाधिक भ्रम माना जाता है, उसके अनुगुण दृष्टान्त है—शुक्तिरजतादि । इस दृष्टान्त से प्रकृत में अन्योऽन्याध्यास सिद्ध होता है।। ३६ ।।

यह जो आक्षेप किया था कि रजतादि भ्रम में दो रूप प्रतीत होते हैं, किन्तु अहङ्काराध्यास में नहीं, अतः यह अध्यास कैसे ? उसका उत्तर देते हैं—

इतरेतराध्यसनमेव तत--
श्चितिचेत्ययोरपि भवेदुचितम् ।
रजतभ्रमादिषु तथावगमा--
न्न हि कल्पना गुरुतरा घटते ।। ३७ ।।

योजना—ततः चितिचेत्ययोः अपि इतरेतराध्यसनमेव उचितं भवेत्, रजतभ्रमादिषु तथाऽवगमात् । गरुतरा कल्पना घटते न हि ।। (प्रमिताक्षराछन्दः)

योजितार्थ—अध्यास होने के कारण अहम्—इस प्रकार चेतनाचेतन का अध्यास भी अन्योऽन्याध्यास ही उचित होगा, क्योंकि रजतादिभ्रमों में वैसा ही अनुभव-सिद्ध है। अन्य प्रकार की गुरुतर कल्पना उचित नहीं जँचती ।

भावितार्थ–चिति (ज्ञान) का चेत्य (विषय) का अध्यास भी अध्यास होने के कारण अन्योऽन्याध्यास ही मानना होगा, जैसे कि रजतादि का अध्यास । अन्यथा दो प्रकार के विलक्षण अध्यासों की अनुचित कल्पना करनी पड़ेगी । पूर्वोक्त व्याप्ति का स्मरण दिलाते हैं—"रजतभ्रमादिषु" । रजतादि भ्रम के ही समान अहम् इस भ्रम में भी विवेचकों को द्विरूपता की प्रतीति होती है, क्योंकि 'चित्रादि' शब्दों के समान ही 'अहम्' शब्द भी मिश्रित तत्त्व का वाचक है, उसके लिए दो शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं ।। ३६।।

उपपादित अन्योऽन्याध्यास का उपसंहार करते हैं—

अनुभूतियुक्त्यनुमितित्रितया--
दितरेतराध्यसनसिद्धिरतः ।
चितिचेत्यवस्तुयुगलस्य न चेत्
त्रितयस्य बाधनमिहापतति ।। ३८ ।।

योजना—अनुभूतियुक्त्यानुमितित्रितयात् चितिचेत्ययुगलस्य, इतरेतराध्यसनसिद्धिः न चेत्, त्रितयस्य इह बाधनम् आपतति ।। (प्रमिताक्षराछन्दः)

योजितार्थ—अनुभव, युक्ति और अनुमिति—इन तीनों से चेतनाचेतन का अन्योऽन्याध्यास सिद्ध होता है, अन्यथा उन तीनों का यहाँ बाध हो जायगा ।।

भावितार्थ—गत १।३५ पद्य-प्रोक्त अनुभूति, १।३४ पद्य में कथित युक्ति और अनुमिति—इन तीनों के आधार पर चिति और चेत्य वस्तु का अन्योऽन्याध्यास मानना ही उचित है, अन्यथा उन तीनों का बाध उपस्थित होगा ।। ३८ ।।

शङ्का होती है कि लोक में सदृश, सावयव और बाह्य शुक्त्यादि पदार्थों में ही अधिष्ठानता देखी जाती है, अतः सादृश्यादि-शून्य, निरवयव प्रत्यगात्मा से अधिष्ठानता कैसे बनेगी ? इस शङ्का का समाधान करते हैं—

सदृशसांशपराग्विषयेषु चेद्,
भवति दोषवशाज्जगति भ्रमः ।
भवतु तत्सकलं वदितुं वयम् ,
तदुपचारवशाद् दृशि शक्नुमः ॥ ३९ ॥

योजना—चेत् जगति सदृशसांशपराग्विषयेषु दोषवशात् भ्रमो भवति; भवतु, तत् सकलं दृशि उपचारवशात् वयं वदितुं शक्नुमः ।। ([1]द्रुतविलम्बितच्छन्दः)

योजितार्थ—यदि लोक में सदृश, सांश तथा बाह्य विषयों में ही दोष-वश भ्रम होता है, तो भले ही हो; वह (सादृश्यादि) सब कुछ चैतन्य में भी गौण रूप से हम कह सकते हैं।

भावितार्थ—लोक-प्रसिद्ध अध्यास की सदृशत्वादि समस्त सामग्री चैतन्य में भी औपचारिक रूप से कही जा सकती है । जैसे—देहादि की अपेक्षा अन्तःकरण में प्रत्यक्त्व, स्वच्छत्व तथा सूक्ष्मत्व है । चेतन में वही सादृश्य बन जाता है । चेतन में सांशत्व भी है, क्योंकि "ममैवांशो जीवलोके"—आदि व्यवहारों के आधार पर आविद्यिक अंशांशिभाव सिद्ध होता है । एवं पराक्त्व (बाह्यत्व) भी चैतन्य में है, क्योंकि साभास अन्तःकरण रूप बाह्य वस्तु से वह अविविक्त है । अतः प्रत्यक्चैतन्य में अध्यासानुपपत्ति नहीं ।। ३९ ।।

उक्त परिहार सम्प्रदाय–सिद्ध भी है यह दिखाते हैं—

अपि च भाष्यकृदेव तदब्रवीद्,
विषयताद्युपचारसमाश्रयात् ।
स्ववचसैव न तावदिति ब्रुवन्,
सकलमात्मनि विभ्रमसिद्धये ॥ ४० ॥

योजना—अपि च भाष्यकृदेव विषयताद्युपचारसमाश्रयात् "न तावदिति" स्ववचसैव ब्रुवन् तत् सकलम् आत्मनि विभ्रमसिद्धये अब्रवीत् ।। (द्रुतविलम्बितछन्दः) ।।

योजितार्थ—स्वयं भाष्यकार ने विषयतादि के उपचार का सहारा लेकर "न तावदिति" इस अपने वाक्य से ही आत्मा में भ्रम सिद्ध करने के लिए वह सब कुछ कहा है ।।

---

[1] "द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ" (वृत्त० ३।५०) अर्थात् जिसके प्रत्येक पाद में क्रमशः एक नगण, दो भगण और एक रगण हो उसे द्रुतविलम्बित कहते हैं ।

भाविवार्थ—हमारा उक्त समाधान केवल स्वकपोल-कल्पित नहीं; अपितु स्वयं भाष्यकार भगवान् शङ्कराचार्य ने कहा है—"न तावदयमेकान्तेनाविषयोऽस्मत्प्रत्ययविषयत्वात् ।" अर्थात् यह आत्मा नितान्त अविषय ही नहीं, अहम्—इस प्रतीति का विषय भी माना जाता है । अस्मत्प्रत्यय (अन्तःकरण) में अभिव्यक्त होकर विषय-जैसा हो जाता है; क्योंकि वह अविद्या में आभास से अविविक्त होकर सूक्ष्म प्रतिबिम्ब के रूप से प्रविष्ट है, अतः अस्पष्ट होने पर भी साभास अन्तःकरण में स्थूल प्रतिबिम्बरूप से प्रविष्ट होकर शीतभानु में स्वर्भानु के समान अभिव्यक्त होता है, अतः स्वप्रकाश होने पर भी स्पष्टीभावमात्र होने के कारण अस्मत्प्रत्यय का विषय कहा जाता है ।। ४० ।।

थोड़ी देर के लिए सादृश्यादि को अध्यास में कारण मानकर आत्मा में सादृश्यादि की उपपत्ति की गई । वस्तु-दृष्टि से अपरोक्षाध्यास में अधिष्ठानापरोक्षत्वमात्र हेतु है, सादृश्यादि नहीं, यह कहते हैं—

अपरोक्षरूपविषयभ्रमधी-
रपरोक्षमास्पदमपेक्ष्य भवेत् ।
मनसः स्वतो नयनतो यदि वा-
स्वपनभ्रमादिषु तथा प्रथितेः ॥ ४१ ॥

योजना—अपरोक्षरूपविषयभ्रमधीः मनसः स्वतो यदि वा नयनतः अपरोक्षरूपम् आस्पदम् अपेक्ष्य भवेत् स्वपनभ्रमादिषु तथा प्रथितेः ।। (प्रमिताक्षराछन्दः)

योजितार्थ—अपरोक्षविषयक भ्रमज्ञान, मन से या स्वतः या नेत्र से होनेंवाले प्रत्यक्षभूत अधिष्ठान की अपेक्षा करता है; क्योंकि स्वप्नादि भ्रमों में वैसा ही देखा जाता है ।।

भावितार्थ—अपरोक्षविषयक भ्रमज्ञान को अपरोक्ष अधिष्ठानमात्र की अपेक्षा होती है, न कि अधिष्ठान और आरोप्य की एकेन्द्रिय-ग्राह्यता तथा सादृश्यादि की। इन्द्रियागोचर आत्मा में अपरोक्षत्व कैसे बनेगा ? इस शङ्का का समाधान है—मनस इति। अर्थात् अधिष्ठान का अपरोक्ष कहीं मन से, कहीं स्वतः और कहीं नयनादि इन्द्रियों से होता है । प्रकृत में प्रत्यगात्मा स्वतः अपरोक्ष है । स्वतः अपरोक्षता मात्र से सिद्ध अध्यास का प्रसिद्ध स्थल दिखाते हैं—स्वपनभ्रमादिषु तथा प्रथितेः । स्वप्नभ्रम में स्वतः अपरोक्ष आत्मा ही अधिष्ठान माना[1] जाता है ।। ४१ ।।

स्वप्न में स्वतः अपरोक्ष अधिष्ठान की उपपत्ति अनुभव के आधार पर करते हैं—

---

[1] स्वप्न में गजादि भ्रम होता है उसका अधिष्ठान क्या कोई बाह्य वस्तु है? या आन्तरिक ? बाह्य वस्तु नहीं कह सकते, क्योंकि अधिष्ठान सदा अपरोक्ष होता है । स्वप्नकाल में बाह्य वस्तु का इन्द्रियों से अपरोक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि इन्द्रियाँ उपरत हो जाती हैं। मन बाह्य विषय का स्वतन्त्र रूप से अपरोक्ष नहीं कर सकता । स्मर्यमाणगजादि में सन्निहितदेशता का अपरोक्ष मान कर भी अपरोक्षत्वानुभव का सम्पादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्मर्यमाण गजादि किसी आरोप के अधिष्ठान नहीं हो सकते । अधिष्ठान अपरोक्ष ही होना चाहिये । फलतः आत्मा को छोड़कर और कोई आन्तरिक वस्तु अधिष्ठान नहीं बन सकती, स्वतः अपरोक्ष आत्मा को ही स्वप्न भ्रम का अधिष्ठान मानना होगा ।

स्वतोऽपरोक्षा चितिरत्र विभ्रम—
स्तथापि रूपाकृतिरेव जायते ।
मनोनिमित्तं स्वपने मुहुर्मुहु—
र्विनापि चक्षुर्विषयं स्वमास्पदम् ॥ ४२ ॥

योजना– अत्र चितिः स्वतोऽपरोक्षा, तथा हि—चक्षुर्विषयं मनोनिमित्तं स्वमास्पदं विनापि स्वप्ने रूपाकृतिः भ्रमः मुहुर्मुहुः जायते ॥ (वंशस्थछन्दः)

योजितार्थ—स्वप्न में आत्मा, स्वतः अपरोक्ष है, क्योंकि वहाँ मन या चक्षुरादि के विषयीभूत रूपी अधिष्ठान के बिना भी विविध रूपाकार भ्रम देखा जाता है ॥

भावितार्थ—स्वप्नावस्था में चिति का और कोई ग्राहक नहीं, उसकी सत्ता में संशयादि भी नहीं हो सकते, अतः आत्मा स्वयं प्रकाश है। एवं 'स्वयं ज्योतिरसौ पुरुषः' (बृह० ३।३।६) "साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म" (बृह० ३।४।२) आदि श्रुतियाँ आत्मा को स्वतः अपरोक्ष बता रही हैं। स्वतोऽपरोक्षता की सिद्धि में ही और युक्ति दिखाते हैं—तथापि इत्यादि। स्वप्न में रूपाद्याकार भ्रम होता है, किन्तु वहाँ कोई रूपी पदार्थ अधिष्ठान नहीं होता, क्योंकि रूपी अधिष्ठान का ज्ञान करने के लिए वहाँ इन्द्रियाँ नहीं रहतीं, उपरत हो जाती हैं। मन रहता है, फिर भी वह रूपी पदार्थ के ग्रहण में स्वतन्त्र निमित्त नहीं होता। अथवा विविध विभ्रम में निमित्त बताने के लिए कहा—मनोनिमित्तम्। अर्थात् मनोगत रूपादि वासनाएँ ही निमित्त हैं।

यहाँ यह विचारणीय है कि क्या ब्रह्मचैतन्य स्वप्नभ्रम का अधिष्ठान होता है या जीवचैतन्य? प्रथम पक्ष मानने पर स्वप्न प्रपञ्च अज्ञात सत्ताक तथा व्यावहारिक मानना पड़ेगा। द्वितीय पक्ष में भी यह सन्देह होता है कि स्वप्नप्रपञ्च का जागरण होने पर बाध होता है? या लय? कुछ विद्वानों का जो यह कहना है कि आत्मा चैतन्य जागरण में स्थूलान्तःकरणोपहित, स्वप्न में वासना-विशिष्ट अन्तःकरण से उपहित तथा सुषुप्ति में सूक्ष्मान्तःकरणोपहित होता है। इनमें जाग्रदवस्थोपहित, चैतन्य स्वप्न भ्रम का अधिष्ठान होता है। जाग्रत अवस्था में "अहं चैत्रः" इस प्रकार अधिष्ठान का साक्षात्कार होने से उसका बाध होता है। इस प्रकार जाग्रतप्रपञ्च की अपेक्षा स्वप्नप्रपञ्च का वक्ष्यमाण वैलक्षण्य (प्रमातृकाले बाध्यत्वरूपम्) बन जाता है। स्वप्न के बाद यदि सुषुप्ति हो तव स्वप्नप्रपञ्च का लय होता है, स्वयं ग्रंथकार ने आगे कहा है—"क्षीणे तु तत्र लयमेति" (सं० शा० ३।११७) "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै० २।६) इस श्रुति से सिद्ध होता है कि अन्तःकरणोपहित जीव, ईश्वर-कल्पित होने से व्यवहारिक है, अतः शुक्त्यादि के समान वह अधिष्ठान भी बन सकता है। जीवगत अज्ञानावस्था स्वप्नभ्रम की उपादान है। उसका 'अहं चैत्र'–इस जाग्रद्बोध से बाध हो जाताहै। जीव को स्वप्न का अधिष्ठान मानने पर 'अहं गजः'—यह आकार होना चाहिए–यह नहीं कह सकते क्योंकि सभी स्वप्न, तादात्म्याध्यास ही नहीं होते, अपितु जाग्रत्संस्कारों के अनुसार तादात्म्याध्यास और किसी का संसर्गाध्यास होता है, अत 'अहं राजा' 'अयं राजा' 'मम क्षेत्रम्'—इस प्रकार के विविध आकार बन जाते हैं।

उन विद्वानों का वह कहना सङ्गत नहीं; क्योंकि स्थूलान्तःकरणोपहित चैतन्य न तो

ईश्वर-कल्पित है, और न स्वप्नकाल में विद्यमान ही है कि स्वप्न-प्रपञ्च का वह अधिष्ठान बन जाता। उसका जाग्रत-बोध स्वप्न का बाधक भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह बोध क्या साक्षिज्ञान है ? या अविद्या-वृत्ति ? या अन्तःकरण-वृत्ति ? प्रथम तथा द्वितीय दोनों पक्ष अयुक्त है, क्योंकि वे दोनों अज्ञान के निवर्तक न होने से बाधक नहीं होते। अन्तिम पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि अन्तःकरण-वृत्ति, अज्ञात पदार्थ की बोधक होती है और अन्तःकरण की अज्ञातसत्ता मानी नहीं जाती। वह वृत्ति स्वयं अपनी प्रकाशक भी हो नहीं सकती। कतिपय विद्वान् अवच्छिन्नानवच्छिन्न साधारण चिन्मात्र को स्वप्न का अधिष्ठान मानते हैं। उनका मानना भी संगत नहीं, क्योंकि अवच्छिन्न और अनवच्छिन्न चैतन्य को छोड़कर कोई तीसरी साधारण कोटि सम्भव ही नहीं। कुछ लोग शरीरावच्छिन्न चैतन्य को ही स्वप्न का अधिष्ठान मानते हैं। वह भी अनुचित है, क्योंकि जाग्रत में शरीर-बोध के बिना स्वप्न की अनिवृत्ति नहीं देखी जाती, अपितु घट-ज्ञान से भी हो जाती है। दूसरे आचार्यों का मत है कि अन्तःकरणोपलक्षित चैतन्य स्वप्नाधिष्ठान है। उनके मत में शुद्ध चैतन्य ही अधिष्ठान होता है, अतः जागने पर भी स्वप्न का बाध नहीं होगा। फिर तो वक्ष्यमाण अन्तर (प्रमातृकाले बाध्यत्वम्) उपपन्न न होगा। इसलिए अनुपहित चैतन्य जाग्रतप्रपञ्च का और उपहित चैतन्य स्वप्न-प्रपञ्च का अधिष्ठान होता है—ऐसा वृद्धगण कहते हैं। इस प्रकार जागने पर जाग्रद्वस्तूपहित चिद्गोचर प्रमाण-वृत्ति से (प्रमाता के रहते ही) स्वप्न-बाध भी उपपन्न हो जाता है। अधिष्ठानतावच्छेदक घटत्वादि ही होते हैं। जाग्रदुपहितत्व तो उपलक्षणमात्र है। अतः जाग्रदनुभूत वस्तु से उपहित ब्रह्मचैतन्य ही इन्द्रियों के उपरत हो जाने पर विशेष रूप से अज्ञान तथा सामान्यतः ज्ञात होकर निद्रारूप दोष जाग्रत्संस्कारों तथा अदृष्टादि-सहकृत अज्ञान के द्वारा सूक्ष्म प्रपञ्च के रूप में विवर्तमान होकर स्वयं भासित होता है। श्रुति कहती है—'अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामुपादाय' (बृह० ४।३।६) अर्थात् स्वापकाल में वह आत्मा ही इस समस्त प्रपञ्च के संस्कारों को लेकर स्वयं स्वप्न-प्रपञ्च का रूप धारण कर स्वयं भासमान होता है। अविद्या से अतिरिक्त निद्रादि दोषों से जन्य होने के कारण स्वप्न को व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता ॥ ४२ ॥

आरोप्य तथा अधिष्ठान की एकेन्द्रिय-ग्राह्यता का अध्यास के साथ व्यभिचार-प्रदर्शन करने के लिए मानस नभ में चाक्षुष अध्यास दिखाते हैं—

मनोऽवगम्येऽप्यपरोक्षताबलात्
तथाम्बरे रूपमुपोल्लिखन् भ्रमः ।
सितादिभेदैर्बहुधा समीक्ष्यते
यथाक्षिगम्ये रजतादिविभ्रमः ॥ ४३ ॥

योजना—यथाक्षिगम्ये रजतादिविभ्रमः तथा मनोऽवगम्ये अम्बरे अपरोक्षताबलात् रूपम् उपोल्लिखन् सितादिभेदैः बहुधा भ्रमः समीक्ष्यते ॥ (वंशस्थछन्दः) ॥

योजितार्थ—जैसे नेत्र-गृहीत (शुक्ति) में रजतादि, विभ्रम होता है, वैसे ही मनोगृहीत आकाश में अपरोक्षता के बल से रूपोल्लेखी शुक्लादिरूप बहुधा भ्रम देखा जाता है।

भावितार्थ—"शुक्लं नभः, नीलं नभः"—आदि बहुधा भ्रम ऐसा देखा जाता है,

जहाँ आरोप्य का चक्षु से और अधिष्ठान (आकाश) का मन से ग्रहण होता है। दोनों एक ही इन्द्रिय से गृहीत हों, ऐसा कोई नियम नहीं। सन्देह होता है कि आकाश मानस नहीं हो सकता, क्योंकि बाह्य द्रव्य हैं और बाह्य द्रव्य के ग्रहण में मन का स्वातन्त्र्य नहीं। किन्तु यह सन्देह उचित नहीं, क्योंकि बाह्य वस्तु प्रमाण-ज्ञातव्य रूप से ही साक्षिवेद्य मानी जाती है। आकाश भी साक्षिवेद्य है, इन्द्रिय का विषय नहीं। यदि मन से भी ज्ञान न हो, तब अज्ञात स्वरूप से ही साक्षिभास्यता की आपत्ति होगी। अतः मनोवेद्यत्व अवश्य मानना पड़ता है। "मनसा ह्येव पश्यति" (मैत्र्युप० ६।३०) आदि श्रुतियाँ कहती हैं कि बाह्य वस्तु के ग्रहण में भी मन स्वतन्त्र है। मन से आकाश का तब तक ग्रहण नहीं हो सकता, जब तक उसपर किसी आकार का आरोप न हो, अतः चक्षु को ही वहाँ आकारसमर्पक मानना होगा। यदि कहें कि नीरूप आकाश में चक्षु की प्रवृत्ति ही नहीं बनती। तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि चक्षु रूप के द्वारा ही द्रव्य में प्रवृत्त होता हैं। वह रूप द्रव्य का अपना हो या आरोपित, इसमें आग्रह नहीं। 'पीतः शङ्खः, रक्तः स्फटिकः' आदि में अन्य के रूप से भी अन्य द्रव्य का चाक्षुष माना ही जाता है। उसी प्रकार प्रकृत में आलोकरूप के द्वारा आकाश में भी चाक्षुषत्व बन सकता है। फिर तो आकाश को चाक्षुष ही मान लेना चाहिये—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि आकाश अरूपी द्रव्य है। अतः आकाश में परकीय रूप के द्वारा प्रवृत्त चक्षु से ही आकारार्पण होता है, फिर उसमें मानसवृत्ति की विषयता होने पर नीलत्वादि का आरोप होता है ॥ ४३ ॥

आशङ्कावादी ने कहा था कि अधिष्ठान का सांश होना अनिवार्य है। आत्मा सांश नहीं, फिर अधिष्ठान कैसे होगा ? उसका समाधान करते हैं—

ज्ञातेऽपि तावति ततोऽनतिरिक्तरूपे-
प्यज्ञानतः स्फुरणमस्फुरणं च दृष्टम् ।
दूरस्थयोर्ननु वनस्पतिवस्तुनोस्त-
द्भेदो न दृष्टिविषयोऽवगते च ते नः ॥ ४४ ॥

योजना—तावति ज्ञातेऽपि ततोऽनतिरिक्तरूपेऽपि अज्ञानतः, दूरस्थयोः वनस्पतिवस्तुनोः स्फुरणम् अस्फुरणं च दृष्टम्। तद्भेदो न दृष्टिविषयः, ते च नः अवगते।।(व०छं०)

योजितार्थ—एक ही वस्तु का ज्ञान होने पर भी उससे अभिन्न रूप में अज्ञान रहता है, अतः (एक ही वस्तु में ज्ञान तथा अज्ञान दोनों बन सकते हैं। जैसे कि) दूरस्थ दो वृक्षों में स्फुरण तथा अस्फुरण—दोनों देखे जाते हैं, क्योंकि उनका भेद (जो वृक्षों से अभिन्न है) गृहीत नहीं होता, किन्तु वे दोनों हमारी आँखों से गृहीत होते हैं ॥

भावितार्थ—दूरस्थ दो वृक्षों में यह भ्रम होता है कि एक ही वृक्ष है। वहाँ भेद को वृक्ष से अभिन्न ही मानना पड़ता है, नहीं तो अनवस्था हो जाती है। वृक्षों का स्फुरण होने पर भी वृक्षाभिन्न भेद का स्फुरण नहीं होता, अतः एक ही वस्तु ज्ञात और अज्ञात दोनों हो सकती है, ज्ञातत्वाज्ञातत्व की उपपत्ति के लिए वस्तु को सांश मानना आवश्यक नहीं। अतः ज्ञात आत्मा भी जब कथंचित् अज्ञात हो सकता है, तब अधिष्ठान क्यों न बनेगा ? "त्वदुक्तमर्थं न जानामि"—आदि स्थलों पर भी ज्ञात अर्थ में ही अज्ञातत्व अनुभूत होता है ॥ ४४ ॥

यदि शङ्का हो कि शुक्त्यादि में तो ज्ञात अंश से भिन्न अज्ञात अंश पाया जाता हैं, क्योंकि इदमाकार ज्ञात तथा शुक्त्याकार अज्ञात है। वैसे ही आत्मा में ज्ञात अंश से भिन्न अज्ञात अंश होना अनिवार्य हैं, नहीं तो अध्यास न बनेगा। उस शङ्का का समाधान करते हैं—

यत्रापि दैवगतितोऽस्त्यतिरिक्तभावो
रूपात् प्रतीतिविषयादितरत्र रूपे ।
तत्राप्यबोधघटनां प्रति नाङ्गभाव-
स्तस्यातिरिक्तवपुषोऽपुनरुक्तरूपात् ॥ ४५ ॥

योजना—यत्रापि प्रतीतिविषयात् रूपात्, इतरत्र रूपे अतिरिक्तभावो दैवगतितः अस्ति। तत्रापि अपुनरुक्तरूपात् अतिरिक्तवपुषः तस्य अबोधघटनां प्रति अङ्गभावो नास्ति ॥ (वसन्ततिलकाछन्दः) ॥

योजितार्थ—जहाँ भी (शुक्त्यादि में) ज्ञात (इदम्) रूप से अज्ञात (शुक्तित्वांश) में दैवात् भेद है, वहाँ भी उस भेद में अज्ञान की अङ्गता नहीं मानी जाती ॥

भावितार्थ—शुक्त्यादि में अवश्य प्रतीयमान इदम् अंश का भेद, अप्रतीयमान शुक्तित्वांश में विद्यमान है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वह भेद शुक्तित्वाज्ञान का प्रयोजक है, अर्थात् शुक्तित्वांश में अज्ञातत्व तभी रह सका, जब कि उसमें इदमंश का भेद था, अन्यथा वहाँ अज्ञातत्व घटता ही नहीं—यह कहना नितान्त असङ्गत है, क्योंकि अभिन्न वस्तु में भी ज्ञातत्व तथा अज्ञातत्व—दोनों बनाये जा चुके हैं। शुक्ति-रजत-स्थल पर शुक्तित्व तथा इदमंश—दोनों के वाचक 'इदम्' और 'शुक्तिः'—दोनों अपुनरुक्त (अपर्याय) शब्दों के रहने के कारण ही ज्ञातत्व और अज्ञातत्व हैं, भेद के कारण नहीं ॥ ४५ ॥

यदि कहा जाय कि 'इदन्त्व' तथा 'शुक्तितत्व'—इन दो धर्मों के भेद को ही ज्ञातत्वाज्ञातत्व का प्रयोजक मानकर अपर्यायशब्द-वाच्यत्व को अन्यथासिद्ध क्यों न माना जाय ? तो इस शङ्का का समाधान करते हैं—

शुक्तीदमंशात्पृथगप्रतीता
त्रिकोणता स्यान्ननु[1] वस्तुवृत्त्या ।
तथापि तत्स्थं न पृथक्त्वमिष्टम्
तदप्रबुद्धत्वनिमित्तभूतम् ॥ ४६ ॥

योजना—अप्रतीता त्रिकोणता शुक्तीदमंशात् वस्तुवृत्त्या पृथक् ननु स्यात्, तथापि तत्स्थं पृथक्त्वं तदप्रबुद्धत्वनिमित्तभूतं नेष्टम् ॥ ([2]उपजातिछन्दः)

योजितार्थ—अज्ञात त्रिकोणता अवश्य ही शुक्ति के 'इदम्' अंश से वस्तुतः भिन्न है, तथापि त्रिकोणतागत भेद, उसके अज्ञातत्व का प्रयोजक नहीं ॥

भावितार्थ—त्रिकोणता उपलक्षण हैं नीलपृष्ठत्वादि विशेष अंश का। अर्थात् यद्यपि

---

[1] १. न तु इति पाठान्तरम् ।

[2] २. प्रथम चरण इन्द्रवज्रा का तथा अवशिष्ट तीन चरण उपेन्द्रवज्रा के हैं।

शुक्ति के विशेष अंश (त्रिकोणत्वादि), जो कि अज्ञात है, अवश्य ही ज्ञात सामान्य (इदन्त्व) अंश से भिन्न है । तथापि वह भिन्नता, उसकी अज्ञातता में निमित्त नहीं ।।४६।।

उक्त भेद, अज्ञातता का प्रयोजक क्यों नहीं ? यह दिखाते हैं—

यतः प्रपश्यन्नपि भेदिनः स्वं
वनस्पते रूपमभिन्नमस्मात् ।
न भेदमस्य प्रतिपद्यतेऽक्ष्णा
वनस्पतेः पार्श्वगतात्परस्मात्[1] ॥ ४७ ॥

योजना—यतः भेदिनः वनस्पतेः स्वं रूपं प्रपश्यन् अपि अस्मात् अभिन्नम् पार्श्वगतात् परस्मात् वनस्पतेः अस्य भेदम् अक्ष्णा न प्रतिपद्यते ।। (उपेन्द्रवज्राछन्दः) ।।

योजितार्थ—(भेद अज्ञातता का प्रयोजक नहीं) क्योंकि भेद के आधारभुत वृक्ष का स्वरूप प्रत्यक्ष होने पर भी उस वृक्ष से अभिन्न, समीपस्थ वृक्षान्तर का भेद आख से नहीं देखा जाता ।।

भावितार्थ—पास-पास के दो वृक्ष बहुधा दूर से एक वृक्ष के रूप में देखे जाते हैं । वृक्षों में रहनेवाला परस्पर का भेद वृक्षों से अभिन्न होने पर भी नहीं दिखता । वृक्ष धर्मी और भेद धर्म है । धर्म-धर्मी का अभेद माना जाता है । इस प्रकार दो अभिन्न पदार्थों में भी एक (वृक्ष) ज्ञात तथा दूसरा (भेद) अज्ञात होता है, अतः धर्मी में अज्ञातत्व रखने के लिए धर्मी का भिन्न होना आवश्यक नहीं ।। ४७ ।।

जो लोग भेद को धर्मी से भिन्न मानते हैं, उनके मत में भी एक ही वस्तु में ज्ञातत्व और अज्ञातत्व विरुद्ध नहीं हैं—

सप्रत्यभिज्ञनयनोत्थधियो घटादेः
स्वाभाविकात्स्ववपुषोऽनतिरिक्तरूपः ।
स्थेमा प्रबोधविषयो विषयत्वमेती—
त्यङ्गीकृतं ननु मितेऽपि घटादिकेऽर्थे ॥ ४८ ॥

योजना—मिते घटादिकेऽर्थेऽपि घटादेः स्वाभाविकात् स्ववपुषेऽनतिरक्तरूपः स्थेमा अप्रबोधविषयः (सन्) सप्रत्यभिज्ञनयनोत्थधियः विषयत्वमेतीत्यङ्गीकृतं ननु ।। (वसन्ततिलकाछन्दः) ।।

योजितार्थ— (प्रत्यक्षादि प्रमाण से) प्रमित घटादि पदार्थों में भी घटादिगत स्थिरता, जोकि सिद्धघटादिरूप होती है, पहले अज्ञात होकर (सोऽयं घटः—इस प्रकार की) प्रत्यभिज्ञावाले पुरुष के चाक्षुप प्रत्यक्ष की विषय हो जाती है—यह सभी मानते हैं ।।

भावितार्थ—घट की स्थिरता को घट से भिन्न पदार्थ नहीं सिद्ध किया जा सकता, अपितु पूर्वापर कालसम्बन्धी घटादि का स्वरूप ही कहना होगा, यह दिखाने के लिए कहा **स्वाभाविकात् स्ववपुषोऽनतिरिक्तरूपः** । अर्थात् घटादि के स्वाभाविक रूप से स्थिरता अभिन्न है । फिर भी घटादि का ग्रहण होने पर स्थिरता का तब तक ग्रहण नहीं होता

---

१. परस्तात् इति पाठान्तरम् ।

जब तक प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष न हो। इसी प्रकार ज्ञात प्रत्यगात्मा में अज्ञातत्व क्यों न बन सकेगा ? ॥ ४८ ॥

दृष्टान्त-सिद्ध सिद्धान्त का समन्वय दार्ष्टान्त में करते हुए प्रकृतार्थ का उपसंहार करते हैं—

एवं स्फुरत्यपि दृगात्मनि तत्स्वरूपे-
णास्फूर्तिभाजि परिकल्पिततोपपन्ना ।
स्वाज्ञानतो जगदिदं परमेश्वरोऽसौ
जीवोऽहमित्यपि विभागवतोऽल्पकस्य ॥ ४९ ॥

योजना— एवं स्फुरति तत्स्वरूपेणास्फूर्तिभाजि दृतात्मन्यपि स्वाज्ञानतः "इदं जगत्, असौ परमेश्वरः, अहं जीवः" इति विभागवतः अल्पकस्य परिकल्पितता उपपन्ना ॥ (वसन्ततिलकाछन्दः) ॥

योजितार्थ—इसी प्रकार प्रत्यगात्मत्वरूप से ज्ञात तथा नित्यमुक्तत्वादि रूप से अज्ञात चिदात्मा में स्वाज्ञान से 'यह जगत् है, यह परमेश्वर है, मैं जीव हूँ'—इस प्रकार के भेद वाले तुच्छ अहङ्कारादि की कल्पना उपपन्न ही है।

भावितार्थ—जिस प्रकार 'इयम्' तथा 'शुक्तिः'—इन दो अपर्याय शब्दों की विषयता रहने के कारण एक ही शुक्ति पदार्थ में ज्ञातत्व तथा अज्ञातत्व रहता है, उसी प्रकार 'त्वं' तथा 'ब्रह्म'—इन दो अपर्याय शब्दों की विषयता रहने के कारण एक चिदात्मा में ज्ञातत्व तथा अज्ञातत्व रह सकता है। अतः सामान्यरूप से ज्ञात तथा विशेष रूप से अज्ञात चिदात्मा में समस्त अल्परूप (गत २७ वें श्लोक में प्रतिपादित अनात्म जगत्) अध्यस्त है। अथवा जैसे स्वरूपेण ज्ञात तथा भिन्नात्वाकारेण अज्ञात वृक्षादि में एकत्व का अध्यारोप होता है, वैसे ही चैतन्य रूप से प्रतीयमान तथा ब्रह्मत्वेन अज्ञात चेतन में यह अल्प रूप जगत् अध्यस्त है। अल्परूप का विशेष परिचय दिया गया है—जगदिदम् आदि से। 'इदं जगन्मम भोग्यम्' 'असौ परमेश्वरः फलदाता', 'अहं जीवः कर्मफलभोक्ता' इस प्रकार का परिच्छिन्न दुःखात्मक जगत् कल्पित है। इस प्रकार की कल्पना में निमित्त बताया—स्वाज्ञानतः। स्वविषयक तथा स्ववृत्ति अज्ञान ही उक्त कल्पना का मूल है। यद्यपि प्रतीयमान चिदात्मा में 'नास्ति' तथा 'न भाति'—इस प्रकार के व्यवहार की योग्यता (आवरण) नहीं बनती, तथापि प्रतीयमान चिदात्मा से अत्यन्त अभिन्न अद्वयानन्दरूप ब्रह्म में अनुभवादि के आधार पर उक्त योग्यता मानी जाती है। यहाँ अज्ञानावृतत्व का अर्थ अज्ञान-वेष्टित्व नहीं कि विरोध हो, अपितु 'नास्ति, न भाति'—इस प्रकार के व्यवहार की योग्यता का नाम ही अज्ञानावृत्तत्व है ॥ ४९ ॥

अध्यास की सिद्धि होने पर आत्मा में बन्धन, बन्धन की अनर्थता, बन्धन का कारण, मुक्ति, मुक्ति की पुरुषार्थता तथा मुक्ति का कारण—ये छः पदार्थ सिद्ध होते हैं—

अल्पं रूपं बन्धनं प्रत्यगात्मा
बद्धोऽनेन स्वच्छचैतन्यमूर्तिः ।
स्वात्माज्ञानं कारणं बन्धनेऽस्य
स्वात्मज्ञानात्तन्निवृत्तिश्च मुक्तिः ॥ ५० ॥

योजना—अल्पं रूपं बन्धनम् , अनेन स्वच्छचैतन्यमूर्तिः प्रत्यगात्मा बद्धः, अस्य बन्धने स्वात्माज्ञानं कारणम् स्वात्मज्ञानात् तन्निवृत्तिश्च मुक्तिः ॥ ([1]शालिनीछन्दः) ॥

योजितार्थ—अल्परूप जगत् ही बन्धन है । इससे ही स्वच्छ चैतन्यरूप प्रत्यगात्मा बंधा है । इसके बन्धन में स्वस्वरूप का अज्ञान ही कारण है । स्वस्वरूप-ज्ञान से ही उस बन्धन की निवृत्ति अर्थात् मुक्ति है ।

भावितार्थ—जो अल्प परिच्छिन्न कर्तृत्वादि रूप है, वही इस आत्मा का बन्धन है । यह बन्धन अनर्थ है, क्योंकि "अनेन स्वच्छचैतन्यमूर्तिः प्रत्यगात्मा बद्धः ।" इस बन्धन में जकड़ा हुआ आत्मा स्वच्छ होने पर भी अस्वच्छ जैसा, विज्ञ होने पर भी अज्ञ जैसा, आनन्दरूप होने पर भी क्षुधादि अनन्त दुःख की ज्वालाओं से जलता हुआ-सा प्रतीत होता है । कूटस्थ असङ्ग चिदात्मा के बन्धन का कारण है—स्वात्माज्ञानम् । स्वाश्रित तथा स्वविषयक अज्ञान ही बन्धन का निमित्त है । इसकी निवृत्ति होती है—स्वात्मज्ञानात् । अपने विशुद्ध अद्वय आनन्दविग्रह के ज्ञान से ही समूल बन्धन निवृत्त होता है । यह निवृत्ति ही परम पुरुषार्थ है, क्योंकि वही मुक्ति है ॥ ५० ॥

सन्देह होता है कि उक्त अज्ञान वास्तविक है ? या काल्पनिक ? वास्तविक मानने पर उसकी निवृत्ति कैसे होगी ? यदि काल्पनिक है, तब उसकी कल्पना का निमित्त क्या ? स्वयं अज्ञान को अज्ञान की कल्पना का निमित्त मानने पर आत्माश्रय दोष होता है तथा उससे भिन्न और कोई निमित्त सम्भव नहीं, इस शङ्का का समाधान है—

अज्ञानमप्यविदुषोऽस्य न तु स्वतोऽस्ति
चैतन्यनिर्विकृतिताद्वयताविरोधात् ।
अज्ञाततताप्यनवबोधनिबन्धनैव
नात्माश्रयत्वमपि चोदयितव्यमत्र ॥ ५१ ॥

योजना—अस्य अविदुषोऽज्ञानमपि स्वतो नास्ति, चैतन्यनिर्विकृतिताद्वयताविरोधात् । अज्ञाततताऽपि अनवबोधनिबन्धनैव । अत्र आत्माश्रयत्वमपि न चोदयितव्यम् । (वसन्ततिलकाछन्दः) ॥

योजितार्थ—इस अविद्वान् का अज्ञान भी स्वतः नहीं है; क्योंकि (स्वतः मानने में) आत्मा की चैतन्यरूपता, निर्विकारता, अद्वितीयता का विरोध होता है । अज्ञातता भी अज्ञाननिमित्तक ही है, यहाँ आत्माश्रय दोष नहीं लगाना चाहिए ॥

भावितार्थ—आत्मा में अज्ञान यदि स्वाभाविक माना जाय, तब तो वह वास्तविक होगा। किन्तु स्वप्रकाश चिदात्मा में वस्तुतः अज्ञान रह नहीं सकता; प्रकाश और तम का परस्पर अत्यन्त विरोध है । इसी प्रकार अज्ञान यदि आत्मा का धर्म है, तब वह अवश्य आत्मा को विकृत करेगा; क्योंकि यह सामान्य नियम है कि "उपयन्नपयन् धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्" अर्थात् अपने उत्पाद तथा विनाश की अवस्था में धर्म अवश्य ही धर्मी को विकृत करता है । एवं अज्ञान को वास्तविक मानने पर द्वैतापत्ति भी होती है । इसलिए

---

[1] 'शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः' (वृत्त० ३।३५) अर्थात् जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः एक मगण, दो तगण तथा दो गुरु हों, उसे शालिनी कहते हैं । इसमें चार तथा सात वर्णों पर यति होती है ।

अज्ञान काल्पनिक ही माना जाता है। हाँ, काल्पनिक मानने पर भी (अज्ञान से ही अज्ञान की कल्पना—इस प्रकार का) आत्माश्रय दोष नहीं होता, क्योंकि अज्ञान अनादि है। पूर्व-पूर्व अध्यास उत्तरोत्तर अध्यास में निमित्त हो सकता है ॥ ५१ ॥

अज्ञान से ही अज्ञान की कल्पना में प्रमाण दिखाते हैं—

द्वारं तमोऽन्वयमपेक्ष्य दृशा हि दृश्यं
संगच्छते सकलमत्र न नो विवादः।
मोहोऽपि दृश्यवपुरत्र च संवदध्वे
तस्मात्तदन्वयनिमित्तमपीह मोहः ॥ ५२ ॥

योजना—सकलं दृश्यं तमोऽन्वयम् अपेक्ष्य हि दृशा संगच्छते—अत्र नो विवादो न। मोहोऽपि दृश्यवपुः—अत्र च संवदध्वे। तस्मात् इह मोहोऽपि तदन्वयनिमित्तम् ॥ (व० छ०)

योजितार्थ—समस्त दृश्य आत्मा में अज्ञान-सम्बन्ध के कारण ही दृगात्मा से सम्बद्ध होता है—इसमें हमें कोई विवाद नहीं। मोह को भी दृश्यस्वरूप आप मानते हैं। इसलिए आत्मा में अज्ञान भी अज्ञान—सम्बन्ध—निमित्तक ही सिद्ध होता है ॥

भावितार्थ—"आत्मनि अज्ञानसम्बन्धः, अज्ञानकृतः दृग्दृश्यसम्बन्धत्वात् घटज्ञान-सम्बन्धवत्"—इस अनुमान से अज्ञान-सम्बन्ध, अज्ञाननिमित्तक ही सिद्ध होता है। उक्त अनुमान में अपेक्षित व्याप्ति दिखाते हैं—द्वारमित्यादि। समस्त गो घटादि दृश्य, अज्ञान-सम्बन्ध को निमित्त बना कर ही आध्यासिक तादात्म्य सम्बन्ध से आत्मा के साथ सम्बद्ध होते हैं। वार्तिककार ने भी कहा है—'आत्मनोऽनात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते' इसलिए कथिता व्याप्ति में विवाद नहीं करना चाहिए। पक्षधर्मता दिखाते हैं—मोहोऽपीति। अर्थात् अज्ञान की दृश्यरूपता में भी कोई विवाद नहीं। अतः अज्ञान-सम्बन्ध भी अज्ञान—निमित्तक[1] सिद्ध होता हैं ॥ ५२ ॥

प्रपञ्च-कल्पना में ही अज्ञान की शक्ति क्षीण हो जाती है, फिर वह अज्ञान का कल्पक कैसे होगा ? इस शङ्का का उत्तर है—

संविद् धुरं वहति तद्विषयोपयुक्ताम्,
स्वात्मन्यपि स्वरसतः स्वकरूपसिद्धेः।
कार्यप्रपञ्चपरिकल्पनमात्ममोहा-
न्मोहप्रकल्पनमपीति तथोपपन्नम् ॥ ५३ ॥

योजना—संविद् तद्विषयोपयुक्तां धुरं वहति स्वात्मन्यपि, स्वरसतः स्वकरूपसिद्धेः। तथा आत्ममोहात् कार्यप्रपञ्चपरिकल्पनं मोहप्रकल्पनमिति उपपन्नम् ॥ (वसन्त० छन्द०)।

---

[1] शङ्का होती है कि अज्ञान-सम्बन्ध में अज्ञाननिमित्तकत्व क्या है ? अज्ञान-जन्यत्व ? या और कुछ ? अज्ञान-जन्यत्व बन नहीं सकता; क्योंकि अज्ञान-सम्बन्ध अनादि माना जाता है, जन्य नहीं एवं अन्यरूपता का भी निरूपक सम्भव नहीं। इस शङ्का का समाधान यह है कि अज्ञान-विरह-प्रयोज्य विरह-प्रतियोगिता ही यहाँ अज्ञान-प्रयुक्तत्व है। अर्थात् अज्ञान के विरह से ही अज्ञान-सम्बन्ध का भी विरह हो जाता है, इसीलिए अज्ञान-सम्बन्ध को अज्ञान-प्रयोज्य माना जाता है। इस प्रकार आत्माश्रयता दोष का भी प्रतीकार हो जाता है।

योजितार्थ—(जैसे) ज्ञान अपने विषय के उपयुक्त दायित्व का निर्वहन करता अर्थात् विषय का प्रकाश करता है और अपने आपका भी प्रकाश करता है, क्योंकि वह स्वभावतः स्वप्रकाश होता है, वैसे ही आत्मा के अज्ञान से कार्यप्रपञ्च की कल्पना तथा अज्ञान की कल्पना सर्वथा उपपन्न है ॥

भावितार्थ—ज्ञान के स्वतः प्रकाश-वादी जिस प्रकार एक ही ज्ञान में विषय के प्रकाश एवं अपनें प्रकाश का सामर्थ्य मानते हैं। उसी प्रकार अज्ञान में भी स्व-पर-निर्वाह का सामर्थ्य क्यों नहीं उपपन्न होगा ? ॥ ५३ ॥

जो ज्ञान को स्वयंप्रकाश नहीं मानते, उनके मत में अनुकूल दृष्टान्त दिखाते हैं—

आत्मा प्रसाधयति वेद्यपदार्थजातं
स्वात्मानमप्यवगतिक्षमशक्तियोगात् ।
स्वाज्ञानमेवमिदमात्मपरप्रक्लृप्तौ
शक्तं भवेदिति न किंचन दौस्थ्यमस्ति ॥ ५४ ॥

योजना—आत्मा अवगतिक्षमशक्तियोगात् वेद्यपदार्थजातं स्वात्मानमपि प्रसाधयति एवम् इदं स्वात्मानमपि आत्मपरप्रक्लृप्तौ शक्तं भवेदिति किञ्चन दौस्थ्यं नास्ति ॥ (वसन्ततिलकाछन्दः) ॥

योजितार्थ— जैसे आत्मा स्वपर-व्यवहारानुकूल शक्ति के योग से निखिल वेद्य-पदार्थ का एवं अपना साधक होता है, वैसे ही यह अज्ञान भी अपनी तथा पर की प्रकल्पना में समर्थ होता है, इसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं ॥

भावितार्थ—जैसे आत्मा विचित्र ज्ञानरूप शक्ति के सम्बन्ध से स्व-पर-प्रकाशक होता है, वैसे ही अज्ञान भी विलक्षण शक्ति के सम्बन्ध से स्व-पर-कल्पक क्यों न होगा ॥५४॥

जो आत्मा को भी नहीं मानते, उनके मत में अनुरूप दृष्टान्त दिखाया जाता है—

भेदं च भेद्यं च भिनत्ति भेदो
यथैव भेदान्तरमन्तरेण ।
मोहं च कार्यं च बिभर्ति मोह-
स्तथैव मोहान्तरमन्तरेण ॥ ५५ ॥

योजना—यथैव भेदः भेदान्तरम् अन्तरेण भेदं भेद्यं च भिनत्ति तथैव मोहः मोहान्तरमन्तरेण मोहं च कार्यं च बिभर्त्ति ॥ (उपजातिछन्दः) ॥

योजितार्थ—जैसे भेद अन्य भेद के बिना ही भेद और भेद्य का भेद करता है, वैसे ही अज्ञान भी अन्य अज्ञान की सहायता के बिना ही अपना तथा कार्य प्रपञ्च का पोषण करता है।

भावितार्थ—जैसे एक ही भेद घट-पटादि का परस्पर भेद तथा घटपटादि से अपना भेद करने में भेदान्तर की अपेक्षा न करके स्वयं करता है, वैसे ही एक अज्ञान अपनी तथा जगत् की कल्पना में अन्य की अपेक्षा न करके स्वयं समर्थ क्यों न होगा ?

अध्यास-भाष्य की विस्तृत व्याख्या की गई। जो लोग भाष्य पर असूत्रित विचारात्मक का आक्षेप करते हैं, उन्हें उत्तर दिया जाता है—

ब्रह्मज्ञानं सूचयन् सूत्रकारो
बन्धोत्पत्तेर्हेतुविध्वंसनाय ।
एतत्सर्वं सूचयामास तस्मादे-
तत्सर्वं भाषते भाष्यकारः ॥ ५६ ॥

योजना—बन्धोत्पत्तेः हेतुविध्वंसनाय ब्रह्मज्ञानं सूचयन् सूत्रकारः एतत् सर्वं सूचयामास, तस्मात् एतत् सर्वं भाष्यकारः भाषते ॥ (शालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—बन्धन के हेतुभूत अज्ञान का ध्वंस करने के लिए ब्रह्मज्ञान की सूचना करते हुए प्रथम सूत्र में भगवान् वादरायण ने यह सब कुछ (अध्यासादि) सूचित कर दिया है। इसीलिए अध्यासादि प्रपञ्च का भाष्यकार ने उपोद्घातरूप से वर्णन किया है ॥

भावितार्थ—यद्यपि सूत्रकार ने अध्यास का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, फिर भी "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र० सू० १।१।१) सूत्र में मुमुक्षु के लिए ब्रह्म-जिज्ञासा का उपदेश करते हुए सूचित कर दिया है कि बन्ध-हेतु अज्ञान का ध्वंस (मोक्ष) ब्रह्मज्ञान से होगा। बन्ध को आध्यासिक न मानकर यदि सत्य माना जाय, तब उसकी निवृत्ति ज्ञानमात्र से न होगी[1]। अतः भाष्यकार ने असूत्रित अर्थ का वर्णन नहीं किया ॥ ५६ ॥

अध्यास-वर्णक का उपसंहार करते हुए दिखाया जाता है कि सूत्रकार तथा भाष्यकार के द्वारा वर्णित अध्यासादि का इस ग्रन्थ के आरम्भ में भी वर्णन यह सूचित करता है कि यह भी एक शास्त्र है—

तस्मादध्यस्तमेतत्सकलमपि दृशौ भ्रमरूपातिरिक्तम्
रूपं स्वाज्ञानमात्रादिति भवति परब्रह्मधीबाध्यमेतत् ।
ईशित्रादिप्रभेदप्रतिहतिफलकज्ञानदौस्थ्यापनुत्त्यै
श्रीमच्छारीरकार्थप्रकटनपटुताशालि शास्त्रम्विदध्मः ॥५७॥

योजना—तस्मात् भ्रमरूपातिरिक्तं एतत् सकलं रूपं दृशौ स्वाज्ञानमात्रात् अध्यस्तमिति एतत् परब्रह्मधीबाध्यं भवति। ईशित्रादिप्रभेदप्रतिहतिफलकज्ञानदौस्थ्यापनुत्यै श्रीमच्छारीरकार्थप्रकटनपटुताशालि शास्त्रं विदध्मः ([2]स्रग्धराच्छन्दः) ॥

---

[1] शङ्का—ज्ञान से सदैव अध्यस्त पदार्थ की ही निवृत्ति होती है—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि पूर्व ज्ञान की उत्तर ज्ञान से, इच्छा की स्वविषयक ज्ञान से, शोक की सुहृद्दर्शन से, पाप की सेतु-दर्शन से, विष की गरुड़-ध्यानादि से निवृत्ति देखी जाती है।

समाधान—प्रकृत में ज्ञानत्वेन निवर्तकता विवक्षित है, ऐसी निवर्तकता तत्त्वज्ञान में अध्यास की ही होती है, पूर्वज्ञानादि की नहीं; क्योंकि पूर्वज्ञानादि की निवर्तकता जो उत्तर ज्ञानादि में होती है, वह ज्ञानत्वेन नहीं, अपितु विरोधिगुणत्वादिना ही होती है। अतः तत्त्वज्ञाननिष्ठ ज्ञानत्वावच्छिन्न निवर्तकता अध्यास की ही होती है—यह नियम अक्षुण्ण है।

[2] "म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्" (वृत्त० ३।१०२) अर्थात् जिस पद्य के प्रत्येक चरण में क्रम से मगण, रगण, भगण और नगण के अनन्तर तीन यगण हों और सात-सात वर्णों पर यति हो, उसे स्रग्धरा कहते हैं।

योजितार्थ—इसलिए ब्रह्म-भिन्न यह समस्त प्रपञ्च चैतन्यवस्तु में अज्ञानमात्र से अध्यस्त है, अतः यह परब्रह्म के ज्ञान से बाध्य है। जीवेशादि भेद की प्रतिहति (नाश) है फल जिसका, ऐसे ज्ञान की अस्थिरता का निराकरण करने के लिए उस शास्त्र का प्रणयन करते हैं, जो कि शारीरिक-भाष्य के अर्थों के प्रकट करने में नितान्त सफल है ।।

भावितार्थ—कर्तृत्वभोक्तृत्वादिरूप यह समस्त प्रत्यक्ष जगत् स्वाज्ञानमात्र दोष के कारण चिदात्मा में अध्यस्त है, क्योंकि 'भूमरूपातिरिक्तम्'। अर्थात् भूमरूप ब्रह्म में यह अल्परूप 'परत्र परावभास' होने से अध्यस्त है। अध्यस्त होने से ही "**परब्रह्मधीबाध्यम्**" ब्रह्मज्ञान से बाध्य है। अतः श्रीमच्छारीरकार्थ (ब्रह्मात्मैकता) के स्फुटीकरण में अत्यन्त समर्थ शास्त्र की रचना कर रहे हैं। चतुर्लक्षणी ब्रह्ममीमांसा के सम्पूर्ण अर्थ का उपदेश इसमें है, अतः यह भी शास्त्र ही है। इस शास्त्र का प्रयोजन बताते हैं—**ईशित्रादि**। जीवेशादिभेदरूप अध्यास की निवृत्ति ही जिसका फल है, ऐसा जो वेदान्तवाक्य-जन्य ज्ञान, उस ज्ञान के असम्भावनादि दोषों का निराकरण करने के लिए इस शास्त्र की रचना की जाती है ।। ५७ ।।

[ब्रह्मविचारस्यागतार्थत्वनिरूपणम्]

शारीरकभाष्यस्थ प्रथमाधिकरण के द्वितीय वर्णक[1] के अनुसार ब्रह्म-विचार की अगतार्थता का साधन किया जाता है—

मीमांसितव्यमनयैव सदद्वितीयम्,
मीमांस्यमेव च सदात्मतयाऽनयैतत् ।
ज्ञातं प्रयोजनमनेन पथेदमस्याः
तन्नान्तरीयकतया च तमोनिवृत्तिः ।। ५८ ।।

योजना—सद् अद्वितीयम् अनयैव मीमांसितव्यम्। तत् सद् आत्मतयैव अनया मीमांस्यम्। अनेन पथा ज्ञातमिदं अस्याः प्रयोजनं तन्नान्तरीयकतया च तमोनिवृत्तिः ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—सद् अद्वितीय (ब्रह्म) इस उत्तर-मीमांसा से ही विचारणीय है। वह ब्रह्म आत्मरूप से ही इस मीमांसा से मीमांस्य है। इस मार्ग से ज्ञात ब्रह्म ही इस मीमांसा का प्रयोजन होता है। उस ब्रह्म-ज्ञान के होने पर अज्ञान-निवृत्ति तो अर्थात् सिद्ध हो जाती है ।।

भावितार्थ—इस ब्रह्म-मीमांसा का विषय तथा प्रयोजन जब तक नियत नहीं होता तब तक इसका आरम्भ-समर्थन नहीं हो सकता, अतः ब्रह्मात्मता रूप विषय की सिद्धि के लिए कहते हैं—**मीमांसितव्यमनयैव सदद्वितीयम्**। इस ब्रह्म-मीमांसा के द्वारा ही सद् अद्वितीय तत्त्व विचारणीय है। धर्म-मीमांसा के द्वारा नहीं, अतः वही इसका विषय है। शङ्का होती है कि ब्रह्म अवश्य इस मीमांसा का विषय माना जा सकता है, किन्तु

---

[1] "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र० सू० १।१।१) इस प्रथम अधिकार में दो वर्णक हैं। प्रथम वर्णक में शास्त्रारम्भ-समर्थनार्थ अधिकारी का वर्णन और द्वितीय में पूर्वमीमांसा से ब्रह्मविचार की अगतार्थता सिद्ध की गई है। द्वितीय वर्णक का आरम्भ करते हुए पञ्चपादिकाकार ने कहा है—"सिद्धैव ननु जिज्ञासा ? 'अथातो धर्मजिज्ञासे'ति सकलवेदार्थविचारस्योदितत्वात् ।"

जीव ब्रह्म की एकता नहीं, क्योंकि जीव ब्रह्म दोनों अभिन्न नहीं—इस शङ्का का उत्तर हैं -मीमांस्यमेव। अर्थात् वह ब्रह्म जीवाभिन्न रूप से ही विचारणीय है, अतः जीव ब्रह्म का अभेद भी इस शास्त्र का विषय है। विषय की उपपत्ति की गई, अब प्रयोजन बताते हैं—"ज्ञातम्" आदि से इस पूर्वोक्त मार्ग से ज्ञात ब्रह्मात्मैकता ही परम प्रयोजन है। मुमुक्षु जो कुछ यत्न करता है, वह ज्ञानमात्र के लिए, अज्ञान-निवृत्ति के लिए नहीं; क्योंकि "तन्नान्तरीयकतया च तमोनिवृत्तिः" ज्ञान के उदय हो जाने मात्र से अज्ञान की निवृत्ति अपने आप सिद्ध हो जाती है[1] ॥ ५८ ॥

यद्यपि इस शास्त्र का अज्ञात ब्रह्म विषय, ज्ञात ब्रह्म प्रयोजन है और तन्नान्तरीयक होने से अज्ञान-निवृत्ति भी प्रयोजन है। तथापि इस शास्त्र का आरम्भ करना उचित नहीं, क्योंकि समस्त वेदार्थ का विचार पूर्वमीमांसा में ही हो चुका है—इस शङ्का को दूर करते हैं—

न च गतार्थमिदं प्रतिभाति नो
न हि विधेः पदमात्मसमीक्षणम्।
न खलु यागददातिजुहोतिवत्
पुरुषतन्त्रमिहात्मनिदर्शनम् ॥ ५९ ॥

योजना—नः इदं गतार्थं न प्रतिभाति, हि आत्मसमीक्षणं विधेः पदं न। इह खलु आत्मनिदर्शनम् यागददातिजुहोतिवत् पुरुषतन्त्रं न ॥ (द्रुतविलम्बितच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—हमें यह (आत्मविचार) पूर्वमीमांसा से गतार्थ नहीं प्रतीत होता; क्योंकि आत्मदर्शन विधि का विषय ही नहीं होता। यहाँ का आत्मदर्शन याग-दानादि क्रियाओं के समान पुरुषाधीन नहीं ॥

भावितार्थ—पूर्वमीमांसा में वेदान्त का एक भी उदाहरण नहीं दिखाई देता। वहाँ तो 'अथातो धर्मजिज्ञासा" (जै० सू० १।१।१) के अनुसार यागादि रूप धर्म के विचार की ही प्रतिज्ञा की गई, एवं 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (जै० सू० १।१।२) आदि से उसी का लक्षणादि से विचार किया गया है। अतः ब्रह्म-विचार पूर्वमीमांसा से ही गतार्थ नहीं हो सकता। यदि शङ्का हो कि पूर्वमीमांसा में विध्यपेक्षित निखिल विचार किया गया है और विधि-रहित अर्थवादादि का विधि के साथ एकवाक्यतापन्न होकर फलवदर्थ-बोधकत्व बताया गया है। वेदान्त-विज्ञान भी विधि का विषय होने से विचारितप्राय ही हो जाता है, अतः ब्रह्म-विचार की गतार्थता क्यों नहीं? उस शङ्का का समाधान है—'न हि विधेः पदमात्मसमीक्षणम्।' वेदान्त-वाक्य-जन्य आत्मसमीक्षण (ब्रह्मज्ञान) किसी विधि का विषय नहीं; क्योंकि विधि-वाक्य सदैव क्रिया में प्रवर्तक होता है। क्रिया ही कृति-साध्य होती है। मनुष्य की प्रवृत्ति सदैव कृति-साध्य पदार्थ में ही हुआ करती है। अतः याग,

---

[1] **शङ्का**—अज्ञान-निवृत्ति को अधिष्ठान स्वरूप ही माना जाता है। अधिष्ठान चैतन्य तो ज्ञान के पूर्व भी है, फिर वह ज्ञान-साध्य कैसे?

समाधान—ज्ञान-साध्यता का अर्थ ज्ञान-जन्यता नहीं, अपितु 'यस्मिन् सति अग्रिमक्षणे यत्सत्त्वम्, यदभावे तदभावः, तत् तस्य साध्यम्"—इस नियम के अनुसार ज्ञान के होने पर अग्रिमक्षण में अज्ञान-निवृत्तिरूप आत्मा की सत्ता होती है और ज्ञान के न होने से अज्ञान-निवृत्ति का अभाव होता है, यही अज्ञान-निवृत्ति में ज्ञानसाध्यत्व है।

दान, होमादि क्रियापदार्थ ही विधि का विषय हो सकता है। ब्रह्म-दर्शन क्रिया नहीं, अपितु ज्ञान है। ज्ञान को भी मानसी क्रिया मान लें, तब भी तत्त्वज्ञान सदैव वस्तु-तन्त्र होता है, पुरुष-तन्त्र नहीं। पुरुष में अग्नि-बुद्धि अवश्य ही पुरुष के अधीन है; किन्तु अग्नि में अग्नि-बुद्धि वस्तु-तन्त्र है, पुरुष-तन्त्र नहीं; यही तत्त्वज्ञान है। इसीलिए भामतीकार ने कहा है—"सत्यं ज्ञानं मानसी क्रिया, नत्वियं ब्रह्मणि फलं जनयितुमर्हति; तस्य स्वयम्प्रकाशतया विदिक्रियाकर्मभावानुपपत्तेरित्युक्तम्" (ब्र० सू० १।१।४)। अर्थात् ज्ञान मानसी क्रिया होने पर भी विधि-विषयीभूत क्रिया से विलक्षण है; क्योंकि सकर्मक क्रिया सदैव अपने कर्म में कुछ फल पैदा करती है। किन्तु ब्रह्म-ज्ञान अपने कर्म (ब्रह्म) में किसी प्रकार का फल नहीं पैदा कर सकता; क्योंकि ब्रह्म स्वयं प्रकाश है, उस पर अन्य प्रकाश पैदा करने की आवश्यकता नहीं ॥ ५९ ॥

वहाँ यह भी जिज्ञासा उठती है कि अज्ञात ब्रह्म के ज्ञान को विधि का विषय माना जाय? या ज्ञात ब्रह्म के ज्ञान को? प्रथम पक्ष में दोष देते हैं—

अपि च रूपितगोचरताविधे-
र्न परमात्मधियोऽस्ति च रूपणम् ।
अविदिते परमात्मनि तद्धियो
न खलु रूपितता घटनान्विता ॥ ६० ॥

योजना—अपि च विधेः रूपितगोचरता, परमात्मधियो रूपणं च नास्ति। अविदिते परमात्मनि, तद्धियो रूपितता घटनान्विता खलु न ॥ (द्रुतविलम्बितच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—दूसरी बात यह भी है कि विधि सदैव ज्ञातार्थ विषयक होती है। परमात्मज्ञान का ज्ञान हो नहीं सकता, क्योंकि परमात्मा के अज्ञात रहने पर परमात्मज्ञान का निरूपण ही नहीं हो सकता ॥

भावितार्थ—अज्ञात विषय में पुरुष को प्रेरित नहीं किया जा सकता। विधि के पूर्व यागादि के समान ब्रह्मज्ञान का भी निरूपण आवश्यक है। किन्तु ब्रह्म का अज्ञान होने पर उसके ज्ञान का निरूपण नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान सदैव विषय-निरूपणीय होता है। अतः ब्रह्मज्ञान विधि का विषय नहीं बन सकता ॥ ६० ॥

द्वितीय (ज्ञात ब्रह्म के ज्ञान) पक्ष में दोष देते हैं—

विदितता परमात्मन इष्यते
यदि वृथा विधिरस्य धियो भवेत् ।
निखिलभेदनिदाननिवृत्तितो
भवति तद्विषयादि च दुर्लभम् ॥ ६१ ॥

योजना—यदि परमात्मनः विदितता इष्यते, तदा अस्य धियो विधिः वृथा भवेत्। निखिलभेदनिदाननिवृत्तितः तद्विषयादि च दुर्लभं भवति ॥ (द्रुतविलम्बितच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—यदि परमात्मा को ज्ञात माना जाय, तब इस (परमात्मा) के ज्ञान का विधान व्यर्थ हो जाता है (परमात्मज्ञान से) समस्त भेद के कारणभूत अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से विधि के विषयादि भी दुर्लभ हो जाते हैं।

भावितार्थ—विधि के पूर्व यदि परमात्मा ज्ञात है; तब तो परमात्मज्ञान का विधान व्यर्थ है, क्योंकि विधि का प्रयोजन पहले ही सम्पन्न हो गया है। विधि होने पर आत्मज्ञान और आत्मज्ञान होने पर विधि—इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष भी होता है। ज्ञान हो जाने पर विधि सर्वथा असम्भव है, क्योंकि विधि के लिए अधिकारी, कर्म, फलादि का भेद होना अनिवार्य है। किन्तु आत्मज्ञान हो जाने पर निखिल भेद का मूल कारण अज्ञान ही निवृत्त हो जाता है, तब भेद कैसे रहेगा ? ॥ ६१ ॥

द्वितीय वर्णकार्थ का उपसंहार करते हैं—

इति न धर्मविशेषसमर्पणं
श्रुतिशिरोवचनैः क्रियते ततः ।
भवति धर्मविचारगतार्थताऽ-
नवसरः परमात्मविचारणे ॥ ६२ ॥

योजना—इति श्रुतिशिरोवचनैः धर्मविशेषसमर्पणं न क्रियते । ततः परमात्मविचारणे धर्मविचारगतार्थतानवसरः भवति ॥ (द्रुतविलम्बितच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—(ब्रह्मज्ञान में विधि सम्भव नहीं) इसलिए वेदान्तवाक्यों में धर्म-विशेष का विधान नहीं । फिर तो परमात्मविचार धर्मविचार से गतार्थ होगा नहीं ॥

भावितार्थ—यदि ब्रह्मज्ञान विधेय हो जाता, तब तो धर्म-विशेष का ही विधान वेदान्त में प्रसक्त होता, फिर तो धर्मविचार, (पूर्वमीमांसा) शास्त्र से ब्रह्मविचार भी गतार्थ हो जाता, ब्रह्मविचार के लिए पृथक् (उत्तर-मीमांस) शास्त्र की आवश्यकता न होती । किन्तु ब्रह्मज्ञान किसी प्रकार भी विधेय न हो सका, अतः ब्रह्मविचार पूर्वमीमांसा से गतार्थ नहीं, इसके लिए उत्तरमीमांसा की आराधना नितान्त अनिवार्य है ॥ ६२ ॥

वेदान्त यदि विधिपरक नहीं, तब वेदान्तगत लिङादि-प्रयोग क्यों ? इसका उत्तर है—

अर्हाद्यर्थे च कृत्यस्मरणमभिमतं पाणिनेः प्रार्थनादौ
लिङ्लोडादेश्च वृत्तिः प्रचुरमभिमता पाणिनेर्जैमिनेश्च ।
तस्माद् वेदान्तवाक्ये पठितमपि लिङाद्यन्यथा योजनीयम्
विध्यर्थासंभवेन स्फुटमुदितनयादेतदन्यागतार्थम् ॥ ६३ ॥

योजना—पाणिनेः अर्हाद्यर्थे च कृत्यस्मरणं अभिमतम् । लिङ्लोडादेश्च प्रार्थनादौ वृत्तिः पाणिनेः जैमिनेश्च प्रचुरमभिमता । तस्मात् स्फुटम् उदितनयाद् विध्यर्थासम्भवेन वेदान्तवाक्ये पठितम् अपि लिङादि अन्यथा योजनीयमिति एतद् अन्यागतार्थम् ॥ (स्रग्धराछन्दः) ॥

योजितार्थ—भगवान् पाणिनि ने कृत्य प्रत्ययों का विधान अर्हादि अनेक अर्थों में किया है । एवं लिङ् लोट्–आदि की प्रार्थनादि अर्थों में भी प्रवृत्ति पाणिनि तथा जैमिनि-दोनों को अभिमत है । इसलिए कथित रीति से विध्यर्थ के असम्भव हो जोने पर वेदान्त-वाक्यों में पठित लिङादि की अन्यथा (अर्हादि अर्थ में) योजना कर लेनी चाहिए । इस प्रकार यह (वेदान्तशास्त्र) अन्य (पूर्वमीमांसा) शास्त्र से गतार्थक नहीं ।

भावितार्थ—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"—आदि वाक्यों में 'तव्य' प्रत्यय विधि में

नहीं, अपितु अर्ह (योग्य) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि महर्षि पाणिनि ने कहा है—'अर्हे कृत्यतृचश्च' (पा. सू. ३।३।१६९) अर्थात् 'अर्ह' अर्थ में 'कृत्य' और 'तृच्' प्रत्यय होते हैं। इस प्रकार उत्त 'द्रष्टव्य' का अर्थ होता है–आत्मा दर्शनार्ह है। एवं 'आत्मेत्युपासीत्'—आदि वाक्यों में 'लिङ्' का प्रयोग विधि में न होकर प्रार्थनादि अर्थ में माना जा सकता है। महर्षि पाणिनि ने लिङादि का प्रयोग प्रार्थनादि अनेक अर्थों में बताया है—'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्' (पा. सू. ३।३।१६१) 'लोट् च' (पा० सू० ३।३।१६२)। महर्षि जैमिनि भी केवल विधि में लिङादि का प्रयोग न मानकर अन्यान्य अर्थों में भी मानते हैं ,जैसे कि 'विष्णुरुपांशु यष्टव्यः' (तै० सं० २।६।६), ''जर्तिलयवाग्वा जुह्यात्'' (द्र० जै० सू० १०।८।७) आदि वाक्यों में विधि की असम्भावना बताकर प्रशंसादि अर्थ में लिङादि का प्रयोग सूचित किया है। अतः अविधिरूप वेदान्तशास्त्र कभी भी विधि-विचारात्मक पूर्वमीमांसा से गतार्थ नहीं हो सकता ॥ ६३ ॥

[अधिकारिनिरूपणम्]

फिर भी शङ्का होती है कि इस शास्त्र का अधिकारी कौन है ? स्वर्गादिकामनावान् ? या मुमुक्षु ? स्वर्गादि की सिद्धि तो अग्निहोत्रादि कर्मों से ही हो जाती है, अतः स्वर्गादि कामनावान् वेदान्त-विचार में प्रवृत्त न होगा। मुमुक्षु की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि भावी सुख की आशाओं से उपस्थित सुख को तिलाञ्जलि कौन देगा ? दूसरी बात यह भी है कि निखिल कर्मों का त्याग सम्भव नहीं, क्योंकि श्रुतियों ने कर्मों का विधान जीवन भर के लिए कर रखा है। इस शङ्का का समाधान किया जाता है—

एकाहाहीनसत्रद्वयविधिविहितानेककर्मानुभाव-
ध्वस्तस्वान्तोपरोधाः कथमपि पुरुषाश्चिद्दिदृक्षां लभन्ते ।
यज्ञेनेत्यादिवाक्यं शतपथविहितं कर्मवृन्दं गृहीत्वा
स्वोत्पत्त्याम्नानसिद्धं पुरुषविविदिषामात्रसाध्ये युनक्ति ॥ ६४ ॥

योजना—एकाहाहीनसत्रद्वयविधिविहितानेककर्मानुभावध्वस्तस्वान्तोपरोधाः पुरुषाः कथमपि चिद्दिदृक्षां लभन्ते। यज्ञेनेत्यादिवाक्यं स्वोत्पत्त्याम्नानसिद्धं शतपथविहितं कर्मवृन्दं गृहीत्वा पुरुषविविदिषामात्रसाध्ये युनक्ति ॥ (स्रग्धराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—[1]एकाह, अहीन, द्विविध सत्रादिकर्मों के विधि वाक्यों से विहित अनेक कर्मों के अनुष्ठान से जिन पुरुषों की अन्तःकरणवर्ती विघ्न-बाधाएँ निवृत्त हो जाती हैं, उनसे ही किसी प्रकार (अनन्तजन्मोपार्जित पुण्य के प्रभाव से) आत्मदर्शन की लालसा उत्पन्न होती है। ''यज्ञेन दानेन'' (बृ० ४।४।२२) यह वाक्य शतपथश्रुतिविहित एकाहादि कर्म-समूह का विविदिषारूप साध्य के उद्देश्य से विधान करता है।

भावितार्थ—पुरुष में विविदिषा उत्पन्न होने का क्रम यह है कि इस अनादि संसार की उत्ताल तरङ्गों पर इस जीव की जीवन नौका बराबर लहराती चली आ रही है। इस लम्बे

---

[1] एकाह—जिस सोमयाग में एक ही सुत्याकाल (अभिषव दिन) होता है, उसे एकाह और जिसमें कई सुत्या दिन होते हैं; उसे अहीन कहा जाता है। सत्र कर्म में ऋत्विक् ही यजमान होते हैं उस याग से जन्य फल के सब समान भोक्ता होते हैं।

जीवन में जीव ने कई बार उचित वर्णश्रम में जन्म ले, जीवन भर वेद-विहित कर्मों का सम्यक् अनुष्ठान भी किया होगा। उससे जिस पुरुष के चित्त-मल दूर हो जाते हैं, उसके नितान्त निर्मल अन्तस्तल पर आत्म-दर्शन की उत्कृष्ट अभिलाषा का उदय होता है। निखिल कर्मों का विनियोग आत्म-दिदृक्षा-प्रतिबन्धक पाप की निवृत्ति में किस वाक्य ने किया? इसका उत्तर है—यज्ञेनेत्यादि। "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' (बृह० ४।४।२२) यह श्रुति समस्त कर्मों का उपयोग विविदिषा (आत्मदर्शन की इच्छा) में बताती है। स्वर्गादि के उद्देश्य से विहित कर्मों का उपयोग विविदिषा में कैसे होगा? इस प्रश्न का उत्तर है—स्वोत्पत्तीत्यादि। अर्थात् प्रत्येक कर्म का उत्पत्ति-वाक्य केवल कर्म-स्वरूप का बोधक होता है। और अधिकार-वाक्य फल-सम्बन्ध बताता है। उत्पत्तिवाक्य से बोधित एक ही कर्म का विनियोग विभिन्न अधिकार-वाक्य विभिन्न फलों के उद्देश्य से कर सकते हैं। इसे ही "संयोग-पृथक्त्व"[1] न्याय कहा जाता है। प्रकृत में उत्पत्ति वाक्य से अवगत यज्ञादि का ही विनियोग 'यज्ञेन'—यह श्रुति अन्तःकरण की शुद्धि में कर रही है, स्वर्गादि में विनियुक्त कर्मों का नहीं कि विनियुक्त विनियोगादि दोष की सम्भावना हो। इस प्रकार इस शास्त्र का मुमुक्षु एक ऐसा अधिकारी मिल जाता है कि जिसके लिए इसका आरम्भ सार्थक हो जाता है॥ ६४॥

अभी तक यह सिद्ध किया गया कि इस ब्रह्मविचार शास्त्र के विषय प्रयोजन सम्भव हैं, पूर्वमीमांसा से गतार्थता भी नहीं और विशिष्ट अधिकारी का लाभ भी हो जाता है, इसलिए इस शास्त्र का आरम्भ करना चाहिये। अब ब्रह्म-विचार के लिए जिज्ञासु का प्रथम कर्तव्य दिखाते हैं—

उपससाद चतुष्टयसाधनो
निशितबुद्धिरशुद्धिपरिक्षयात्।
विविदिषुर्विहितैर्विविधाध्वरैः-
विदितवेद्यतमं विधिवद् गुरुम्॥ ६५॥

योजना—विहितैः विविधाध्वरैः अशुद्धिपरिक्षयात् निशितबुद्धिः चतुष्टयसाधनो विविदिषुः विदितवेद्यतमं गुरु विधिवत् उपससाद॥ (द्रुतविलम्बितच्छन्दः)॥

योजितार्थ—विधि-विहित विविध कर्मों के अनुष्ठान से जिसके अन्तःकरण का जाड्य परिक्षीण हो गया हैं, ऐसा कुशाग्रबुद्धि अधिकारी साधन-चतुष्टय से सम्पन्न मुमुक्षु ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में विधिपूर्वक जाता है॥

भावितार्थ—"तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्" (मुण्ड० २।१२) इस श्रुति की आज्ञा से मुमुक्ष योग्य गुरु के चरणों में उपस्थित होता है। मुमुक्षु शिष्य और आचार्य के विशे-

---

[1] "एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' (जै० सू० ४।३।५) अर्थात् एक ही द्रव्यादि के उभयार्थत्व में अधिकार-वाक्यों का भिन्न-भिन्न होना ही नियामक है। जैसे कि 'दध्ना जुहोति' वाक्य से दधि में क्रत्वर्थता और 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्'—इस वाक्य से दधि में पुरुषार्थत्व का विधान होता है। वैसे ही प्रकृत में 'यजेत स्वर्गकामः' आदि वाक्यों से यागादि में स्वर्गार्थत्व और 'यज्ञेन' इस श्रुति से अन्तःकरण शुद्ध्यर्थत्व का प्रतिपादन होता है।

षणों से व्यक्त कर दिया कि योग्य शिष्य ही योग्य गुरु की शरण में विधिवत् उपस्थित होकर पूर्ण लाभ उठा सकता है ।। ३७ ।।

मुमुक्षु का स्वरूप क्या है? निरतिशय सुखेच्छु ? या निखिल अनर्थ-निवर्तनेच्छु ? निरतिशय सुख अनुभूत न होने से इच्छा का विषय नहीं हो सकता और सकल अनर्थ निवृत्ति में स्वतः कामना होती नहीं । अतः अधिकारी के स्वरूप का निरूपण नहीं हो सकता—इस आक्षेप का समाधान है—

इह जगति हि सर्व एव जन्तुः
निरतिशयं सुखमुत्तमं ममास्तु ।
व्युपरमतु तथोपघातरूपं
विषयजदुःखमिति स्पृहां करोति ॥ ६६ ॥

योजना—इह हि जगति सर्वे एव जन्तुः मम निरतिशयं सुखम् अस्तु तथा उपघातरूपं विषयजदुःखम् उपरमतु इति स्पृहां करोति ।। (औपच्छन्दसिकच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—इस जगत् में सभी जीव "मुझे निरतिशय सुख हो" और "विषय-जन्य सकल दुःख निवृत्त हो"—ऐसी कामना करते हैं ।।

भावितार्थ—'हि' पद प्रसिद्धार्थक है । अर्थात् यह बात समस्त प्राणियों में नितान्त प्रसिद्ध है कि सभी प्राणी परमानन्द का लाभ और अनर्थभूत दुःख की निवृत्ति करना चाहते हैं । जिसमें यह इच्छा पाई जाती है, वह मुमुक्ष है । उसी के लिए इस ब्रह्मविचार-रूप शास्त्र की प्रवृत्ति हुई है ।। ६६ ।।

मुमुक्षु वह है, जिसमें मुमुक्षा पाई जाय । निरतिशय सुख-प्राप्ति तथा अखिलानर्थ-निवृत्ति की इच्छा होने से भी क्या हुआ ? इस शङ्का को दूर करने लिए कहा जाता है–

निरतिशयसुखं च दुःखजात-
व्युपरमणं च वदन्ति मोक्षतत्त्वम् ।
उभयमपि जनोऽभिवाञ्छतीति
स्फुटतरमस्य सदाऽस्ति मोक्षवाञ्छा ॥ ६७ ॥

योजना—निरतिशयसुखं दुःखजातव्युपरमणं च मोक्षतत्त्वं वदति । जनः उभयमपि अभिवाञ्छतीति स्फुटतरम् अस्य सदा मोक्षवाञ्छा अस्ति ।। (औपच्छन्दसिकच्छन्दः) ।

योजितार्थ—निरतिशय सुख और निखिल दुःख की निवृत्ति को ही मोक्षतत्त्व कहते हैं । जीव उन दोनों को चाहता है, अतः स्पष्ट रूप से इसे सदा मोक्ष की इच्छा है ।

भावितार्थ – निरतिशय सुख और निखिल दुःख के अभाव का नाम ही मोक्ष है । उसकी इच्छा ही मुमुक्षा कहलाती है । अतः निरतिशयसुख और निखिल दुःख-निवृत्ति की कामनावाला व्यक्ति मुमुक्षु ही होता है । यहाँ 'जन' शब्द से यह व्यक्त कर दिया कि प्राणिमात्र में जब उक्त इच्छा पाई जाती है, तब विवेक वैराग्यादि साधन-सम्पन्न पुरुष में अवश्य ही होगी ।

यद्यपि मोक्ष अनुभूत नहीं, अतः उसकी इच्छा नहीं हो सकती तथापि अनुभूत पदार्थ की ही इच्छा होती है, ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि अननुभूत स्वर्ग, राज्यादि की इच्छा

होती ही हैं। अतः अनुभूत-जातीय में इच्छा माननी पड़ेगी। फिर तो अनुभूत विषय-जन्य सुख के सजातीय मोक्ष सुख में भी इच्छा का सामञ्जस्य हो जाता है ॥ ६७ ॥

अनुभूत-जातीय की इच्छा होती हैं—यह मान लेनें पर भी मोक्ष में अनुभूत-विषय-जन्य सुख का साजात्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि मोक्ष सुख में कोई प्रमाण नहीं, इस आशङ्का को दूर करते हैं—

उभयमपि परमात्मनः स्वरूपं
विमलचिदेकरसं स्वयंप्रकाशम् ।
इति भवति विना प्रमाणमस्मि-
न्नुदितनयादभिवाञ्छनोपपत्तिः ॥ ६८ ॥

योजना—उभयमपि परमात्मनः विमलचिदेकरसं स्वयं प्रकाशं स्वरूपम् इति प्रमाणं विना अस्मिन् उदितनयाद् अभिवाञ्छनोपपत्तिः भवति ॥ (औपच्छन्दसिकच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—(उक्त सुख तथा दुःख-निवृत्ति) दोनों ही परमेश्वर के विमल चिन्मात्र स्वयं प्रकाश स्वरूप हैं, इसलिए प्रमाण के बिना भी इस (मोक्ष) की उक्त प्रकार से इच्छा उपपन्न हो जाती है।

भावितार्थ—मोक्ष का स्वरूप है–निरतिशय सुख प्राप्ति और निखिल दुःख-निवृत्ति। वे दोनों ही ब्रह्म के स्वरूप ही हैं। तत्त्व-ज्ञान से उस स्वरूप का आविर्भाव होता है। वह स्वरूप स्वयं प्रकाश हैं, उसमें किसी प्रकार के प्रमाण की अपेक्षा ही नहीं। अतः पूर्वोक्त (श्लोक ६६ में कथित) प्रकार से मोक्षविषयणी इच्छा बन जाती हैं ॥ ६८ ॥

यदि कथित सुख और दुःखाभाव की इच्छा का ही नाम मुमुक्षा है। तब तो सभी प्राणी मोक्षोपाय की ही खोज क्यों नहीं करते? क्योंकि वह इच्छा तो स्वभावतः सभी प्राणियों में देखी जाती हैं, इस प्रकार के आक्षेप का समाधान है—

कर्मकाण्डकृतबुद्धिशुद्धित-
स्तर्किते च खलु मोक्षवस्तुनि ।
अर्थिताऽस्य घटते प्रयोजक-
ज्ञाननुन्नमनसो महात्मनः ॥ ६९ ॥

योजना—प्रयोजकज्ञाननुन्नमनसः अस्य महात्मनः कर्मकाण्डकृतबुद्धिशुद्धितः तर्किते मोक्षवस्तुनि अर्थिता घटते च ॥ ([1]रथोद्धताच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—प्रयोजक ज्ञान (श्रवणादि में प्रवर्तक वेदान्तवाक्य-जन्य आपात ज्ञान) से जिस पुरुष के मन में प्रेरणा आ चुकी हैं, ऐसे किसी ही महापुरुष में विविध कर्मों के अनुष्ठान से बुद्धि के शुद्ध हो जाने पर अपने कूते हुए मोक्ष सुख की कामना होती है ॥

भावितार्थ—मोक्ष-मार्ग के सभी अधिकारी नहीं होते, अपितु अनन्तजन्मोपार्जित पुण्य-प्रभाव से किसी ही पुरुष के हृदय में वेदाध्ययन के समय 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः

---

[1] 'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' (वृ० ३।२९) अर्थात् जिस पद्य के प्रत्येक चरण में क्रमशः एक रगण, एक नगण, एक रगण, एक लघु तथा एक गुरु वर्ण हो, उसे रथोद्धता कहते हैं।

श्रोतव्यः (बृह० २।४।५) आदि वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञान प्रेरणा देता है कि आत्म-दर्शन हमारा चरम ध्येय है, उसके लिए यत्न होना चाहिए। इस सूक्ष्म प्रेरणा के लिए वह व्यक्ति विविध कर्मों का अनासक्तभाव से अनुष्ठान करता है। उससे उसकी बुद्धि नितान्त निर्मल और सूक्ष्म हो जाती है। तब वह क्रमशः विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान की सोपान-परम्परा पर चढ़ता हुआ आत्म-तर्कित निरतिशय सुखस्वरूप-मोक्ष की उत्कट कामना का सुपात्र बनता है। ऐसा कोई मुमुक्षु ही मोक्ष-मार्ग में अग्रसर होने का सौभाग्य प्राप्त किया करता है। सभी प्राणियों को यह सौभाग्य कैसे मिल सकता है कि भेड़िया धसान मचाते हुए वहाँ सहसा पिल पड़े ? ।।६९।।

यदि अधिकारी पुरुष में पुण्य-प्रताप से मुमुक्षा अपने आप उत्पन्न होती है, तब आत्मज्ञान भी स्वयं प्रकट हो जायगा। उसके लिए गुरु की शरण में जाने की क्या आवश्यकता ? इस सन्देह को दूर किया जाता है—

धर्मनिर्णयनिमित्तमिष्यते
वेदवित्परिषदेव मानवे ।
तद्वदत्र गुरुणाऽस्य संगति-
स्तेन चास्य घटतेऽर्थिता गुरौ ॥ ७० ॥

योजना—मानवे वेदवित्परिषदेव धर्मनिर्णयनिमित्तमिष्यते, तद्वदत्र अस्य गुरुणा सङ्गतिः, तेन च अस्य गुरौ अर्थिता घटते ।। (रथोद्धताच्छन्दः)

योजितार्थ—(जिस प्रकार) मानव धर्मशास्त्र में वेदज्ञों की परिषत् ही धर्म-निर्णय में प्रमाण मानी गई है, उसी प्रकार यहाँ मुमुक्षु के लिए गुरूपसदन अनिवार्य है, अतः मुमुक्षु में गुरूपसदन की कामना उचित ही है ।।

भावितार्थ—मनुस्मृति में कहा है—

ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरः परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ।। (मनु० १२।११२)

अर्थात् तीन से अधिक वेदवेत्ताओं का समूह एक ऐसी परिषत् है, जिस पर धर्म-संशय का निर्णय करना निर्भर है। उसी प्रकार इस ब्रह्मशास्त्र में भी सन्दिग्ध ब्रह्म का निर्णय गुरु-शरण में ही अधिकारी कर सकेगा। श्रुति स्पष्ट कहती है—'आचार्यवान् पुरुषो वेद' (छां० ६।१४।२) अर्थात् आचार्योपासक मुमुक्षु ही यथावत् ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त किया करता है। ब्रह्मनिर्णय एक नितान्त सूक्ष्म तत्त्व है, जो बहुश्रुत तत्त्वद्रष्टा आचार्य से विचार विनियम के बिना निर्णय नहीं हो सकता ।। ७० ।।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) इस सूत्र से अधिकारी का निरूपण व्यर्थ है, क्योंकि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जै० सू० १।१।१)—इस पूर्वमीमांसा के प्रथम सूत्र से ही उसका लाभ हो जाता है—इस आक्षेप का समाधान है—

यः कर्मकाण्डविषयेऽभिहितोऽधिकारी
सोऽयं प्रवृत्तिषु निवृत्तिषु तुल्यरूपः ।
अत्राभिधित्सितविशेषणपूगयुक्तोऽ-
साधारणस्त्वभिमतः पुरुषो निवृत्तौ ॥ ७१ ॥

योजना—कर्मकाण्डविषये योऽधिकारी अभिहितः सोऽयं प्रवृत्तिषु निवृत्तिषु तुल्यरूपः । अत्र निवृत्तौ तु अभिधित्सितविशेषणपूगयुक्तः असाधारणः पुरुषः अभिमतः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः)

योजितार्थ—कर्मकाण्ड के अनुष्ठान में जो अधिकारी कहा गया है, वह प्रवृत्ति और निवृत्ति में साधारण है । किन्तु इस निवृत्ति शास्त्र में विवक्षित विवेकादि विशेषणों से युक्त पुरुष असाधारण अधिकारी अभिमत है ॥

भावितार्थ—कर्मकाण्ड में जो 'अर्थी विद्वान् समर्थः शास्त्रापर्युदस्तः' अर्थात् स्वर्गादिकामनावान्, वेदवेत्ता, समर्थ और शास्त्र से अनिराकृत व्यक्ति अधिकारी माना गया है, वह अग्निहोत्रादि प्रवृत्तिकर्मों और कलञ्ज-भक्षणादि निषिद्ध पदार्थों की निवृत्ति में तुल्य ही होता है, क्योंकि अग्निहोत्रादि में प्रवृत्त व्यक्ति के कलञ्ज-भक्षण-निवृत्ति का उल्लङ्घन करने पर और कलञ्ज-भक्षण से निवृत्त पुरुष के अग्निहोत्राद्यनुष्ठान का उल्लङ्घन करने पर प्रत्यवाय तुल्य ही होता है । किन्तु ब्रह्मविचार-शास्त्र का अधिकारी विलक्षण है । अर्थात् विवेक, वैराग्यादि साधनों से युक्त पुरुष कर्मानुष्ठान छोड़कर ब्रह्मविद्यामात्र-परायण होता है, जो कि पूर्वोक्त साधारण अधिकारी की अपेक्षा असाधारण है, अतः इस असाधारण अधिकारी का लाभ करने के लिए 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' की आवश्यकता है ॥ ७१ ॥

ब्रह्ममीमांसा शास्त्र में भी दो प्रकार के कर्म देखे जाते हैं--श्रवणादि का अनुष्ठान प्रवृत्ति-कर्म तथा अग्निहोत्रादि-त्याग रूप निवृत्ति-कर्म । दोनों में विवेकादिसाधन-सम्पन्न पुरुष भी साधारण ही है, असाधारण कैसे ? इस शङ्का का समाधान है—

शास्त्रं प्रवृत्तिषु निवृत्तिषु तुल्यरूपं
साधारणस्य पुरुषस्य पुराभ्यधायि ।
अत्रोच्यते सकलकर्मनिवृत्तिभाजः
सर्वं निवृत्तिविषयं श्रवणादिशास्त्रम् ॥ ७२ ॥

योजना—पुरा प्रवृत्तिषु निवृत्तिषु साधारणस्य पुरुषस्य तुल्यरूपं शास्त्रम् अभ्यधायि । सकलकर्मनिवृत्तिभाजोऽस्य सर्वं श्रवणादिशास्त्रम् निवृत्तिविषयम् उच्यते ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः)

योजितार्थ—पहले प्रवृत्ति तथा निवृत्ति में साधारण अधिकारी पुरुष के लिए तुल्यरूप 'यजेत' 'न हिंस्यात्' आदि कर्मकाण्ड-शास्त्र का प्रतिपादन किया और सकलकर्मनिवृत्ति-योग्य साधनचतुष्टय-सम्पन्न अधिकारी के लिए समस्त श्रवणादि ('श्रोतव्यो मन्तव्यः' आदि) शास्त्र निवृत्तिविषयमात्र का प्रतिपादन करने के लिए कहा जाता है ॥

भावितार्थ—पूर्वमीमांसा के आचार्य महर्षि जैमिनि ने प्रवृत्ति तथा निवृत्ति कर्मों में समानरूप से रागवान् को अधिकारी मानकर प्रवृत्ति-निवृत्ति के उपयोगी शास्त्र का उपदेश किया है । किन्तु उत्तरमीमांसा के आचार्य महर्षि बादरायण ने विरक्त अधिकारी के लिए शुद्ध निवृत्ति-विषयक श्रवणादि शास्त्र की रचना की है । अतः धर्ममीमांसा तथा ब्रह्ममीमांसा—दोनों शास्त्र भिन्न हैं, एक नहीं ॥ ७२ ॥

धर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा—दोनों शास्त्रों का भेद विषय-भेद से ही हो जाता है, अधिकारी-भेद सिद्ध करने की क्या आवश्यकता ? इस शङ्का का समाधान है—

शास्त्रद्वैविध्यदृष्टेर्द्विविधमधिकृतेर्भेदमप्याश्रयन्ते
तद्द्वैविध्योपलब्धेः पुरुषमधिकृतं शास्त्रयोर्भिन्नमाहुः ।
शास्त्रार्थद्वित्वहेतोः पुरुषमधिकृतं तद्गतं चाधिकारं
नोचेद्भिन्नं प्रतीयुर्द्विविधमिह वृथा शास्त्रमापाद्यते हि ॥ ७३ ॥

योजना—शास्त्रद्वैविध्यदृष्टेः अधिकृतेः द्विविधं भेदमाहुः। तद्द्वैविध्योपलब्धेः शास्त्रयोः अधिकृतं पुरुषं भिन्नमाहुः। चेत् शास्त्रार्थद्वित्वहेतोः अधिकृतं पुरुषम् तद्गतम् अधिकारं च भिन्नं न प्रतीयुः, इह हि द्विविधं शास्त्रं वृथा आपद्यते ।। (स्रग्धराच्छदः) ।।

योजितार्थ—शास्त्रों में दो भेद देखकर उनके अधिकारों में भी दो भेद किया करते हैं। उनके अधिकारों में दो भेद देखकर दोनों शास्त्रों के अधिकारी पुरुषों में दो भेद किया करते हैं। शास्त्रों के विभिन्न दो विषय देखकर भी अधिकृत (शास्त्र), अधिकारी पुरुष और पुरुषगत अधिकार को यदि भिन्न न माना जाय, तो द्विविध शास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं ।।

भावार्थ—जैसे "चित्रया यजेत् पशुकामः", "कारीर्या वृष्टिकामो यजेत" इन दो विधिवाक्यों को परस्पर भिन्न देखकर उनके प्रतिपाद्य अर्थों के अनुष्ठानार्थ पशुकामनादि अधिकारों का भेद सिद्ध होता है। अधिकार-भेद से अधिकारी पुरुषों का भेद होना अनिवार्य हो जाता है। वैसे ही धर्ममीमांसा तथा ब्रह्ममीमांसा—इन दो भिन्न शास्त्रों को देखकर उनमें प्रवेश पाने के लिए राग और वैराग्यरूप अधिकारों का भेद होता है। अधिकार-भेद से रक्त तथा विरक्त अधिकारियों का भेद होता है। उक्त दोनों शास्त्रों का भेद कैसे है ? इस प्रश्न का उत्तर है 'शास्त्रार्थद्वित्वहेतोः'। अर्थात् दोनों शास्त्रों के धर्म और ब्रह्मरूप विषय भिन्न हैं। अतः उन शास्त्रों का भेद अधिकारियों का भेद तथा अधिकारों का भेद मानना ही होगा। अर्थ-भेद होने पर भी यदि शास्त्र, अधिकारी और अधिकार का भेद न माना जाय, तब तो दोनों शास्त्र पुनरक्तमात्र तथा व्यर्थ हो जायेंगे ।। ७३ ।।

अभी कहा गया कि धर्ममीमांसा ब्रह्ममीमांसा दोनों शास्त्रों का भेद है, क्योंकि एक शास्त्र (धर्ममीमांसा) का विषय प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों हैं और दूसरे (ब्रह्ममीमांसा) का विषय केवल निवृत्ति है। वहाँ सन्देह होता है कि ब्रह्ममीमांसा में भी यम-नियमादिरूप प्रवृत्ति का भी प्रतिपादन किया गया है, केवल निवृत्ति का ही नहीं, इस सन्देह को दूर करते हैं—

यमनियमविधानैर्वाङ्मनःकायचेष्टा-
व्युपरमणविशेषैः कथ्यते न प्रवृत्तिः ।
यदि भवति कदाचित्काचिदस्य प्रवृत्तिः
श्रुतिविहितनिवृत्तेः कर्मणां कत्थनं स्यात् ॥ ७४ ॥

योजना—अशेषैः यमनियमविधानैः वाङ्मन.कायचेष्टाव्युपरमणं कथ्यते, प्रवृत्तिः न। यदि अस्य कदाचित् काचित् प्रवृत्तिः स्यात्; कर्मणां श्रुतिविहितनिवृत्तेः कत्थनं स्यात् ।। (मालिनीछन्दः) ।।

योजितार्थ—यम-नियमादि-विधायक निखिल वाक्यों से कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियों का निषेधमात्र किया जाता है, प्रवृत्ति का विधान नहीं किया जाता। यदि इस (मुमुक्षु) की कदाचित् कोई प्रवृत्ति विहित होगी, तब (मुमुक्षु के किए) निखिल कर्मों की श्रुति-विहित निवृत्ति की वृथा श्लाघा (बाध) हो जायगी ।।

भावितार्थ—यहाँ यम का ग्रहण दृष्टान्त रूप में ग्रहण किया गया है। अर्थात् अहिंसादि यमों के विधायक शास्त्र का जैसे हिंसादि-निवृत्ति में तात्पर्य होता है। वैसे ही स्वाध्यायादि नियम-विधायक "श्रोतव्यः" आदि वाक्यों का भी स्वभाव-सिद्ध बहिर्मुख प्रवृत्ति की निवृत्ति में ही तात्पर्य होता है, किसी प्रकार की प्रवृत्ति में नहीं। अन्यथा 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रब्रजेत् (जाबालोप०४) आदि निखिल कर्म-त्याग-विधायक श्रुतियों के साथ विरोध उपस्थित होगा। मुमुक्ष-विषयक संन्यास-शास्त्र में किसी प्रकार का प्रवृत्ति-विधान सम्भव नहीं। इस श्लोक में 'अस्य' पद का अन्वय 'निवृत्ति' के साथ भी कुछ विद्वान् किया करते हैं। अस्य=इस मुमुक्ष के निखिल कर्मों का श्रुति ने जो त्याग विधान किया है, उसका (कत्थनं) (व्यर्थश्लाघा) बाध या विगर्हण या पीडन होगा ।।७४।।

'श्रोतव्यः' आदि शास्त्र यदि श्रवणादि का विधान न करते, तब ब्रह्म-जिज्ञासु की उसमें प्रवृत्ति कैसे होगी ? अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर श्रवणादि में प्रवृत्ति बिना विधि-वाक्य के नहीं बन सकती। अतः 'श्रोतव्यः' आदि शास्त्र केवल प्रवृत्ति-विषयक ही है—यह कहना असंगत हैं। इस आक्षेप का समाधान है—

औदासीन्यविशेषमेव हि परब्रह्मात्मधीजन्मने
शास्तीदं श्रवणादिशास्त्रममुना त्वाक्षिप्यते व्यापृतिः।
तां तां व्यापृतिमन्तरेण घटते सा सा न शास्त्रार्थधी-
रित्यर्थाल्लशुनादिभक्षणगतौदासीन्यबोधादिव ॥ ७५ ॥

योजना—इदं श्रवणादिशास्त्रं परब्रह्मात्मधीजन्मने औदासीन्यमेव शास्ति। अमुना तु व्यापृतिः आक्षिप्यते। तां तां व्यापृतिमन्तरेण सा सा शास्त्रार्थधीः न घटते, इति अर्थात् (श्रवण-प्रवृत्ति-सिद्धिः) लशुनादिभक्षणगतौदासीन्यबोधात् (भक्षण-विरोधि-सङ्कल्पादि-सिद्धिः) इव ।। (शार्दूलविक्रीडितम्) ।।

योजितार्थ—यह श्रवणादि शास्त्र ब्रह्मसाक्षात्कार की उत्पत्ति के लिए (अनात्म-चिन्तन से) औदासीन्यमात्र का विधान करता है। इस (औदासीन्य) के द्वारा (श्रवणादि व्यापार का आक्षेप किया जाता है, क्योंकि श्रवणादि व्यापार के बिना ब्रह्मात्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता। अतः अर्थापत्ति से श्रवणादि-प्रवृत्ति की सिद्धि वैसे ही हो जाती है, जैसे लशुनादिभक्षण के औदासीन्य-बोध से (भक्षण-विरोधी सङ्कल्पादि व्यापार आक्षिप्त होता है) ।।

भावितार्थ—औदासीन्यविशेष का अर्थ है—अनात्मश्रवणादिरूप का अभाव। इस अभाव या निवृत्ति का ही उपदेश श्रवणादिशास्त्र करते हैं, श्रवणादि-प्रवृत्ति का नहीं। हाँ, इस औदासीन्य के द्वारा आक्षिप्त श्रवणादि में मुमुक्षु की प्रवृत्ति घट जाती है। अर्थापत्ति का स्वरूप दिखाते हैं–'तां ताम्' आदि से। श्रवण, मननादिरूप व्यापार के बिना (शास्त्रार्थधीः) अनात्मचिन्तन-निवृत्तिरूप शास्त्राभिप्रेत अर्थ का ज्ञान नहीं बन सकता। अर्थात् स्वभाव-सिद्ध अनात्म-चिन्तन से तब तक कोई उदासीन नहीं रह सकता, जब तक उसके विरोधी आत्म-चिन्तन को न अपनाये। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृह० २।४।५) यह वाक्य परिसंख्या विधि भी माना जा सकता है, जिसके द्वारा अनात्म-चिन्तन की निवृत्ति का लाभ असंगत नहीं। जैसे 'पञ्चपञ्चनखा भक्ष्याः' आदि विधि-वाक्य भक्षण का विधान नहीं करते; क्योंकि वह रागतः प्राप्त है। किन्तु शशकादिपञ्चाति-

रिक्त वानरादि पञ्चनखों के भक्षण की निवृत्ति का प्रतिपादन करते हैं। 'लशुनं न भक्षयेत्' 'न कलञ्जं भक्षयेत्' आदि वाक्यों का उदाहरण आक्षेपांश में ही दिया गया है। अर्थात् जैसे लशुन-भक्षण से तब तक निवृत्ति (उदासीनता) नहीं हो सकती, जब तक उसमें दोष-दर्शनादि विरोधी व्यापार को न अपनाएँ। वैसे ही प्रकृत में भी ।। ७५ ।।

सन्देह होता है कि श्रवणादि-शास्त्र निवृत्तिमात्र के विधायक हैं ? या तदनुकूल श्रवणादि-प्रवृत्ति के ? प्रथम पक्ष में श्रवणादि शास्त्र व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि निखिल निवृत्ति का विधान, 'यदहरेव विरजेत्'—इस संन्यास-वाक्य से ही विहित है। दूसरे पक्ष में श्रवणादिशास्त्र को भी प्रवृत्तिविषयक मानना पड़ता है। इस सन्देह को दूर करते हैं—

औदासीन्ये बोधिते शास्त्रवृन्दै-
रर्थादस्मात्प्रच्युतस्यास्त्यनर्थः ।
इत्यालोच्य प्रच्युते प्रापकस्य
प्राबल्येऽर्थे प्रातिलोम्यं विधत्ते ॥ ७६ ॥

योजना—शास्त्रवृन्दैः औदासीन्ये बोधिते (सति) अस्माद् अर्थात् प्रच्युतस्य अनर्थः इत्यालोच्य श्रवणादि शास्त्रम् प्रच्युतेः प्रापकस्य प्राबल्येऽर्थे प्रातिलोम्यं विधत्ते ।। (शालिनीच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—संन्यास-विधायक अनेक शास्त्रों से औदासीन्य का विधान हो जाने पर इस (औदासीन्यरूप) अर्थ से स्खलित पुरुष को अनर्थ (पाप) होगा—यह दृष्टि में रखकर (श्रवणादि शास्त्र) स्खलन-प्रापक रागादि की उत्कटता का अभिभवमात्र विधान करता है ।।

भावितार्थ—"यदहरेव विरजेत्" (जाबालो० ४) 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' (कै० ३) आदि संन्यास-विधायक शास्त्रों से संन्यास विहित है। उस संन्यास से मुमुक्षु यदि गिर जाता है, तब महान् अनर्थ (नरकादि) होगा—यह ध्यान में रखकर 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' आदि शास्त्र उस राग की उत्कटता का अभिभव विधान करते हैं, जो राग संन्यास की प्रच्युति (स्खलन) का प्रापक है। उस अभिभव की अन्यथानुपपत्ति से मुमुक्षु श्रवणादि में स्वयं ही प्रवृत्त होता है, श्रवणादि-शास्त्र प्रवृत्ति-बोधक नहीं।

अथवा इस पद्य से ग्रन्थकार पूर्वोक्त दृष्टान्त को स्पष्ट करता है—'लशुनं न भक्षयेत्' आदि शास्त्रों के द्वारा लशुन-भक्षण-गत इष्टसाधनत्त्वाभावरूप औदासीन्य का बोध करा देने पर यह निश्चय हो जाता है कि इस औदासीन्य से गिरे हुए अर्थात् लशुन भक्षण करने वाले का अवश्य नरक-पात होता है। अतः उक्त (प्रच्युतेः प्रापकस्य प्राबल्ये) भक्षण-जनक राग उत्कट न हो जाय इसके लिए मुमुक्षु स्वयं (प्रातिलोम्यं विधत्ते) यत्न करता है। इस प्रकार जैसे लशुनादि-भक्षण में प्रवर्तक, रागादि की निवृत्ति के लिए विधि के विना ही यत्न किया जाता है, वैसे ही अनात्म-श्रवण-प्रयोजक रागादि की निवृत्ति के लिए आत्मश्रवणादि में विधि के विना स्वयं ही प्रवृत्ति होती है ।। ७६ ।।

औदासीन्यरूप सर्व क्रिया निवृत्ति में ही सब विधिवाक्यों का तात्पर्य क्यों माना जाता है ? साक्षात् स्वशक्यार्थ प्रवृत्ति-प्रतिपादन से क्यों नहीं माना जाता ? इस शङ्का का समाधान है—

औदासीन्यं बोधयच्छास्त्रमेत-
न्नित्यं पथ्यं बोधयत्यस्य पुंसः ।
पथ्यादस्मात्प्रच्युतस्यास्त्यपथ्यं
बुद्ध्वापथ्यप्रातिलोम्ये[1] यतेत ॥ ७७ ॥

योजना—एतच्छास्त्रम् औदासीन्यं बोधयत् अस्य पुंसः नित्यं पथ्यं बोधयति। अस्मात् पथ्यात् प्रच्युतस्य अपथ्यम् अस्ति (इति) बुद्ध्वा अपथ्यप्रातिलोम्ये यतेत ॥ (शालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—औदासीन्य का बोध कराता हुआ शास्त्र इस (मुमुक्षु) पुरुष का नित्य ही पथ्य (हित) बताता है। इस पथ्य से विचलित पुरुष का अहित होता है (यह) जानकर अहित का अवरोध करने के लिए पुरुष स्वयं यत्न करेगा।

भावितार्थ—"शास्त्रं हितशासनात्' के अनुरूप 'श्रोतव्यः' आदि शास्त्र अनात्म-विचार-वर्जनरूप उस महान् हित का बोधक है जोकि ज्ञान के द्वारा मोक्ष का साधन होता है। अधिकारी पुरुष को भली प्रकार यह ज्ञान है कि मैं इस औदासीन्य से यदि गिर गया तो संसाररूप अनर्थ परम्परा में पड़ जाऊँगा। इसलिए वह स्वयं ही अपथ्य प्रतिरोध के लिए श्रवणादि में प्रवृत्त हो जाता है। शास्त्र के लिए यह आवश्यक ही नहीं रह जाता कि वह श्रवणादि में प्रवर्तक हो ॥ ७७ ॥

श्रवणादि शास्त्र की निवृत्तिपरक ही व्याख्या करनी होगी, अन्यथा पूर्वमीमांसा से विरोध होगा—

वृत्ता प्रवर्तकनिवर्त्तकशास्त्रसिद्ध्यै
षष्ठे प्रवृत्तिविनिवृत्त्यधिकारिचिन्ता ।
यत्रैकमेव तु निवृत्त्यधिकारमार्ग-
माश्रित्य सूत्रकृदथात इति[2] प्रवृत्तः ॥ ७८ ॥

योजना—षष्ठे प्रवर्तकनिवर्तकशास्त्रसिद्ध्यै प्रवृत्तिनिवृत्त्यधिकारिचिन्ता वृत्ता। अत्र सूत्रकृत् एकमेव निवृत्तिमार्गम् आश्रित्य 'अथातः' इति प्रवृत्तः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः)

योजितार्थ—(पूर्वमीमांसा के) छठे अध्याय में प्रवर्तक और निवर्तक शास्त्रों की सिद्धि के लिए प्रवृत्ति तथा निवृत्ति उभयसाधारण अधिकारी का विचार किया जा चुका है। इस (ब्रह्ममीमांसा) में भगवान् सूत्रकार (वादरायण) एकमात्र निवृत्तिमार्ग का आश्रय लेकर प्रवृत्त हुए हैं—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' आदि से।

भावितार्थ—महर्षि जैमिनि ने पूर्वमीमांसा दर्शन के षष्ठ अध्यायस्थ स्वर्गकामाद्यधि-करण तथा कलञ्जभक्षण-निषेधाधिकरण में प्रवृत्ति-निवृत्ति-साधारण अधिकारी का विचार किया है। उसी अधिकारी का ही विचार यहाँ भी यदि किया जाय, तब यह ब्रह्ममीमांसा शास्त्र पुनरुक्तमात्र तथा व्यर्थ हो जायेगा। अतः यहाँ 'अथातः' शब्दों के द्वारा निवृत्तिमात्र के अधिकारी का निरूपण ही युक्तियुक्त है ॥ ७८ ॥

---

[1] 'बुद्ध्वाऽपथ्यं प्रातिलोम्ये यतेत' ऐसा पाठ मानकर कुछ विद्वानों ने अपथ्य बुद्ध्वा — ऐसा अन्वय किया है।

[2] 'इह' इति पाठान्तरम् ।

ब्रह्ममीमांसा शास्त्र जिस कर्म का निषेध करता है, वह श्रुति-विहित है। श्रुति-विहित पदार्थों का श्रुत्यन्तर से निषेध सम्भव नहीं होता, अतः यह शास्त्र निवृत्तिमात्र-परक कैसे हो सकता है ? इस शङ्का का समाधान है—

औदासीन्यप्रच्युतेः प्रापकौ च
रागद्वेषौ नापरो हेतुरस्ति ।
रागद्वेषप्रातिलोम्ये प्रवृत्ति-
रौदासीन्यप्रापणाच्छास्त्रतोऽर्थात् ॥ ७९ ॥

योजना—औदासीन्यप्रच्युतेः प्रापकौ च रागद्वेषौ, अपरो हेतुः नास्ति । रागद्वेषप्रातिलोम्ये प्रवृत्तिः औदासीन्यप्रापणात् शास्त्रतः अर्थात् (भवति) ।। (शालिनीच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—औदासीन्य-भङ्ग के प्रापक राग और द्वेष दो होते हैं, तीसरा कोई और हेतु नहीं होता। रागद्वेष के प्रतिरोध में प्रवृत्ति तो औदासीन्य-प्रापक शास्त्र से अर्थात् हुआ करती है ।।

भावितार्थ—विधिशास्त्र यदि प्रवर्तक होता, तब अवश्य प्रवृत्ति का निषेध दुर्घट हो जाता। किन्तु न तो शास्त्र प्रवर्तक ही हैं और न प्रवर्तना विध्यर्थ ही है। अपितु इष्टसाधनत्व विध्यर्थ माना जाता है। प्रवृत्ति-जनक सदैव राग-द्वेष ही होते हैं। रागादि-प्राप्त कलञ्ज-भक्षणादि पदार्थों का तो श्रुतियों से अत्यन्त निषेध होता ही है। यद्यपि शास्त्र प्रवृत्ति-जनक नहीं होता, तथापि औदासीन्य-विधायक शास्त्रों के द्वारा श्रवणादि में प्रवृत्ति हो जाती है, जिससे औदासीन्यप्रस्खलन का प्रतिरोध होता है ।। ७९ ।।]

श्रवणादि शास्त्र दृष्टार्थक हैं, अतः उनके निवृत्ति-प्रतिपादन करने पर भी श्रवणादि में अर्थात् प्रवृत्ति बन जाती है। किन्तु अदृष्टार्थक शौचादि शास्त्रों से अर्थात् प्रवृत्ति कैसे होगी ? इस सन्देह का निराकरण करते हैं—

अशुचेः प्रतिषेधशास्त्रतो
न भवत्येव हि वेदचिन्तनम् ।
श्रवणादिनिवृत्तिशास्त्रतः
स्वयमर्थादथ शौचमापतेत् ॥ ८० ॥

योजना—प्रतिषेधशास्त्रतः अशुचेः वेदचिन्तनं न भवत्येव, अथ श्रवणादिनिवृत्ति-शास्त्रतः अर्थात् शौचम् स्वयम् आपतेत् ।। ([1]वैतालीयच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—'नाशुचिर्ब्रह्म कीर्तयेत्' आदि निषेधशास्त्र के आधार पर अशुचि पुरुष को वेद चिन्तन में अधिकार नहीं, अतः श्रवणादि शास्त्रों के द्वारा अर्थात् शौच का स्वयं आक्षेप हो जाता है ।।

भावितार्थ—श्रवणादि, वेद-चिन्तन है। अशुचि पुरुष के लिए वेद-चिन्तन का निषेध किया गया है—'नाशुचिर्ब्रह्म कीर्तयेत्', 'एतस्य यज्ञस्य द्वावनध्यायौ यदात्माऽशुचिर्यद्देशः'।

---

[1] 'षड् विषमेऽष्टौ समे कलाः, ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः। न समादत्र पराश्रिता कला, वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः ॥' (वृत्त० २।१२) अर्थात् जिस छन्द के विषमचरणों में ६ तथा सम में ८ मात्राओं के अनन्तर क्रमशः एक रगण, एक लघु और एक गुरु हो, उसे वैतालीय छन्द कहते हैं।

अतः श्रवणादि शास्त्र के द्वारा ही अर्थात् शौच का आक्षेप हो जाता है, शौचादि-विधान की कोई आवश्यकता हा नहीं ॥ ८० ॥

वेद-श्रवण, वेदोच्चारण के बिना नहीं हो सकता और वेदोच्चारण, शौच के बिना नहीं हो सकता; अतः श्रवण-शास्त्र के द्वारा शौच तक का आक्षेप हो सकता है। किन्तु "यतीनां तु चतुर्गुणम्' इस प्रकार शौचनिष्ठ चातुर्गुण्यादि भी कैसे प्राप्त होंगे? इस प्रश्न का उत्तर है—

अचतुर्गुणशौचवारणात्
स्वयमेवास्य चतुर्गुणं भवेत् ।
अचतुर्ष्वशनस्य वारणात्
स्वयमेवास्य चतुर्षु भोजनम् ॥ ८१ ॥

योजना—अस्य अचतुर्गुणशौचवारणात् स्वयमेव चतुर्गुणं भवेत्। अस्य अचतुर्षु अशनस्य वारणात् स्वयमेव चतुर्षु भोजनम् ॥ (वैतालीयच्छन्दः) ॥

योजितार्थ— इस (विविदिषा-संन्यासी) के लिए चतुर्गुण शौच से भिन्न शौच का निषेध होने से स्वयं ही चतुर्गुण शौच का लाभ हो जाता है। एवं इसके लिए चार वर्णों से अतिरिक्त वर्ण में भिक्षा का जब निषेध है, तब चार वर्णों की भिक्षा अर्थात् सिद्ध है ॥

भावितार्थ— "एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ।
त्रिगुणं च वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥ (मनु० ५।१३७)

अर्थात् यह (लिङ्ग को एक बार गुदा को तीन बार, एक-एक हाथ को पृथक्-पृथक् दश-दश बार और दोनों को सात बार मिट्टी से मलना) शौच गृहस्थों के लिए, इससे द्विगुण ब्रह्मचारियों के लिए, त्रिगुण वानप्रस्थों के लिए और चतुर्गुण शुद्धि यतियों के किए विहित है। इसी प्रकार—'चातुर्वर्ण्यं चरेद्भैक्षम्' आदि वाक्यों में चार वर्णों की भिक्षा ग्रहण करनी विहित है। उक्त सभी विधि-वाक्य परिसंख्या विधिस्वरूप हैं। उनके द्वारा चतुर्गुण शौचातिरिक्त शौच का तथा चतुर्वर्णातिरिक्त वर्ण की भिक्षा का निषेध ही किया जाता है। उससे ही चातुर्गुण्य का तथा चतुर्वर्ण-भिक्षा का आक्षेप हो जाता है ॥ ८१ ॥

सन्तोष, तप और स्वाध्यायादि में भी उक्त न्याय का संचार करते हैं—

इति योजय सर्वमीदृशम्
कथितन्यायवशेन सादरम् ।
विधिहीननिवृत्तिशास्त्रतः
कथितेऽस्मिन्नधिकारवर्त्मनि ॥ ८२ ॥

योजना—इति कथितन्यायवशेन ईदृशं सर्वं सादरं योजय, अस्मिन् कथिते अधिकारवर्त्मनि विधिहीननिवृत्तिशास्त्रतः ॥ (वैतालीयच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इस प्रकार कथित न्याय के आधार पर वैसे सभी वाक्यों की योजना

कर लेनी चाहिये, क्योंकि इस पूर्वोक्त मोक्षमार्गीयाधिकार-मार्ग में सभी शास्त्र विधि-रहित केवल निवृत्तिमात्रपरक ही हैं ।।

भावितार्थ—"असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः" (सुभा० भां० ३।४११) "शारीरं केवलं कर्म" (गी० ४।२१) आदि सन्तोषादि-बोधक शास्त्रों का भी उसी प्रकार निवृत्ति में तात्पर्य बताया जा सकता है, जैसे कि श्रोतव्यादि वाक्यों का सादरम् पद से सूचित किया—परिसंख्या का तीन (स्वार्थ-त्याग, परार्थ-स्वीकार तथा प्राप्त-बाध) दोषों के कारण अनादर नहीं करना चाहिए; क्योंकि इस मोक्षाधिकार में सभी शास्त्रों का निवृत्ति मात्र में ही तात्पर्य होता है ।। ८२ ।।

उक्त मत कतिपय वृद्ध आचार्यों का है-यह दिखाते हुए मतान्तर की चर्चा करते हैं-

इति केचन वर्णयन्ति त-
द्विपरीतं प्रवदन्ति केचन ।
प्रविभज्य तदप्युदीर्यते
निपुणाचार्यपरम्परागतम् ॥ ८३ ॥

योजना—इति केचन वर्णयन्ति । केचन तद्विपरीतं प्रवदन्ति । निपुणाचार्यपरम्परागतं तदपि प्रविभज्य उदीर्यते ।। (वैतालीयच्छन्दः)

योजितार्थ उक्त मत (श्रोतव्यादि शास्त्रों की निवृत्तिपरता) का वर्णन कुछ आचार्य किया करते हैं। अन्य आचार्य उसके विपरीत कहा करते हैं। वह निपुणाचार्य-परम्परा-प्राप्त मत प्रविवेकपूर्वक दिखाया जाता है।

भावितार्थ—अभी तक श्रोतव्यादि शास्त्रों का जो तात्पर्य निवृत्तिमात्र में दिखाया गया, वह कतिपय वृद्ध आचार्यों का मत है। दूसरे आचार्य उसके विपरीत अर्थात् श्रवणादि शास्त्रों का प्रवृत्ति में तात्पर्य है—यह कहते हैं। यह मत भी उपेक्षणीय नहीं, क्योंकि निपुणाचार्य परम्परा से प्राप्त हुआ है; अतः प्रविभागपूर्वक दिखाया जाता है ।।८३।।

प्रतिज्ञात प्रविभाग किया जाता है—

उत्सर्गतः सकलकर्मनिवृत्तिनिष्ठा
संन्यासशास्त्रशतकोटिभिरर्पिताऽस्य ।
अस्ति प्रतिप्रसवशास्त्रमुखात्प्रतीता
चेष्टाऽऽत्मबुद्धिपरिपाकफलापि काचित् ॥ ८४ ॥

योजना—अस्य उत्सर्गतः सकलकर्मनिवृत्तिनिष्ठा संन्यासशास्त्रशतकोटिभिः अर्पिता। प्रतिप्रसवशास्त्रमुखात् प्रतीता आत्मबुद्धिपरिपाकफला काचित् चेष्टा अपि अस्ति ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—इस (मुमुक्षु) के निसर्गतः सकल कर्मों की निवृत्ति के अधिकार का प्रतिपादन संन्यास शास्त्रों में किया गया है। हाँ, प्रतिप्रसव शास्त्रों से प्रतिपादित आत्मज्ञान-दाढर्यप्रद कोई अन्य प्रवृत्ति भी प्रतीत होती है ।।

भावितार्थ—मुमुक्षु के लिए "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' आदि संन्यास-शास्त्रों ने स्वभावतः सकल कर्मों की निवृत्ति का ही प्रतिपादन किया है। किन्तु उस

निवृत्ति का अपवाद तथा प्रतिषिद्ध प्रवृत्ति के समर्थक (श्रोतव्यादि प्रतिप्रसव) शास्त्रों से प्रतिपादित कोई प्रवृत्ति भी माननी पड़ती है। जिसका प्रयोजन आत्मज्ञान को दृढ़ करना है। अर्थात् यद्यपि संन्यास शास्त्र ने मुमुक्षु के लिए सकल प्रवृत्तियों का सामान्यतः निराकरण कर दिया है। तथापि उस सामान्य शास्त्र के बाधक श्रवणादिरूप विशेष शास्त्रों से श्रवणादिरूप प्रवृत्ति का पुनरुज्जीवन किया जाता है, इस प्रकार मुमुक्षु के लिए श्रवणादिप्रवृत्ति भी सिद्ध होती है ॥ ८४ ॥

मोक्षशास्त्र में भी प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों सम्भावित हैं—

यमस्वरूपा सकला निवृत्ति-
स्तथा प्रवृत्तिर्नियमस्वरूपा ।
निवर्तकादत्र यमप्रसिद्धिः
प्रवर्तकात्स्यान्नियमप्रसिद्धिः ॥ ८५ ॥

योजना—सकला यमस्वरूपनिवृत्तिः तथा नियमस्वरूपा प्रवृत्तिः । अत्र निवर्तकात् यमप्रसिद्धिः, प्रवर्तकात् नियमप्रसिद्धिः स्यात् ॥ (उपेन्द्रवज्राच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—सकल यम निवृत्तिरूप तथा नियम प्रवृत्तिरूप होते हैं। निवर्तकशास्त्र से यम तथा प्रवर्तक शास्त्र से नियम का प्रतिपादन होता है।

भावितार्थ—योगसूत्र-प्रतिपादित अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम कहे जाते हैं। तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान नियम कहे जाते हैं। श्रवण मनन भी स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान के अन्तर्गत होते हैं। सभी यम निवृत्तिरूप हैं, क्योंकि वे निवर्तकशास्त्र-वेद्य हैं और सभी नियम प्रवृत्ति रूप हैं, क्योंकि वे प्रवर्तकशास्त्र प्रतिपाद्य हैं ॥ ८५ ॥

निवृत्ति के भी दो विभाग करते हैं—

निवृत्तिरस्ति द्विविधा बहिःस्थिता
शरीरसर्वेन्द्रियसंयमात्मिका ।
तथाऽपराऽभ्यन्तरवस्तुसंश्रया
सदात्मकूटस्थचिदेकविग्रहा ॥ ८६ ॥

योजना—निवृत्तिः द्विविधा अस्ति—बहिःस्थिता शरीरसर्वेन्द्रियसंयमात्मिका, तथा अपरा आभ्यन्तरवस्तुसंश्रया सदात्मकूटस्थचिदेकविग्रहा ॥ (वंशस्थच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—निवृत्ति भी दो प्रकार की होती है। (एक) बाह्य शरीरेन्द्रिय-संयमरूप और दूसरी आभ्यन्तरवस्तु-विषयक सदात्मकूटस्थस्वरूप (प्रपञ्च-निवृत्ति) ॥

भावितार्थ—शरीरेन्द्रिय व्यापारोपरमरूप निवृत्ति बाह्य कहलाती है, क्योंकि उसका आश्रय शरीरादि बाह्य पदार्थ हैं और दूसरी प्रपञ्चोपशमरूप प्रवृत्ति आन्तरिक कहलाती है, क्योंकि उसका आश्रय सत्, चित्, कूटस्थ आत्मा ही है ॥ ८६ ॥

उक्त दोनों निवृत्तियों में कौन निवृत्ति विधेय (अनुष्ठेय) है ? और कौन विधेय नहीं, यह दिखाते हैं—

तयोस्तु बाह्या विधिशास्त्रलभ्या
प्रयत्ननिर्वर्त्त्यतया प्रतीतेः ।
विधानशास्त्रं विरहय्य लभ्या
चितिस्वरूपा त्वितरा निवृत्तिः ॥ ८७ ॥

योजना—तयोः तु बाह्या विधिशास्त्रलभ्या, प्रयत्ननिर्वर्त्त्यतया प्रतीतेः । इतरा चितिस्वरूपा निवृत्तिस्तु विधानशास्त्रं विरहय्य लभ्या ॥ (उपेन्द्रवज्राच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—उन दोनों में बाह्य निवृत्ति विधिशास्त्र से प्राप्त की जाती है; क्योंकि वह प्रयत्न-जन्य प्रतीत होती है । दूसरी चितिस्वरूप निवृत्ति विधिशास्त्र के बिना ही प्राप्त की जाती है ।

भावितार्थ—बाह्य निवृत्ति प्रयत्न-साध्य होने से विधेय है । यद्यपि यह निवृत्ति, प्रवृत्ति-प्रागभावरूप होने से अनादि है, प्रयत्नसाध्य नहीं हो सकती । तथापि प्रवृत्ति की सामग्री से प्रागभाव का नाश जब उपस्थित होता है, तब निवृत्तिशास्त्र निवृत्ति-प्रयत्न के द्वारा प्रवृत्ति-सामग्री का प्रतिरोध करता है । जिससे प्रागभाव कालान्तर सम्बन्धी हो पाता है—यही निवृत्ति में प्रयत्न-साध्यता है । दूसरी प्रपञ्चोपशमरूप निवृत्ति सच्चिदानन्दास्वरूप है, अतः वह विधेय नहीं; अपितु षड्विध लिङ्गोपेत वेदान्त वाक्यजन्य बोध से अज्ञान-निवृत्ति के द्वारा अभिव्यङ्ग्यमात्र होती है ॥ ८७ ॥

दोनों निवृत्तियों में एक साध्य और दूसरी असाध्य है, इसका और हेतु भी है—

मायामयी बाह्यनिवृत्तिरिष्टा
चितिस्वरूपा परमार्थसत्या ।
तयोर्निवृत्त्योश्च निवृत्तिशास्त्रम्
विधायकं बाह्यनिवृत्त्यपेक्षम् ॥ ८८ ॥

योजना—बाह्यनिवृत्तिः मायामयी इष्टा, चितिस्वरूपा परमार्थसत्या । तयोः निवृत्योः बाह्यनिवृत्त्यपेक्षं निवृत्तिशास्त्रं विधायकम् ॥ ([1]उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—बाह्य निवृत्ति मायामयी मानी जाती है, (दूसरी) चितिस्वरूप (निवृत्ति) परमार्थ सत्य है । उन दोनों निवृत्तियों में बाह्य निवृत्ति की अपेक्षा निवृत्तिशास्त्र विधायक होता है ।

भावितार्थ—बाह्य निवृत्ति देहादिनिष्ठ है । देहादि माया के परिणाम हैं । अतः बाह्य निवृत्ति पुरुष-साध्य होने से विधेय है । आत्मरूप आन्तरिक निवृत्ति, परमार्थ-कूटस्थरूप होने से पुरुष-साध्य नहीं, अतः विधेय भी नहीं । इसलिए यह शास्त्र बाह्य निवृत्ति का ही विधान करता है ॥ ८८ ॥

निषेध शास्त्र भी यदि निवृत्ति का विधान करता है, तब तो वह भी विधिशास्त्र हो जाता है । इस प्रकार विधि-निषेध विभाग ही नहीं बनता—इस आशंका का समाधान करते हैं—

---

[1] प्रथम चरण इन्द्रवज्रा का और शेष तीनों उपेन्द्रवज्रा के हैं ।

प्रवृत्तिशास्त्रेण समेऽपि सम्मते
निवृत्तिशास्त्रस्य विधेयबोधने ।
निवृत्त्यनुष्ठाननिबन्धनत्वतो
निवर्तकं शास्त्रमिदं प्रचक्षते ॥ ८९ ॥

योजना—विधेयबोधने निवृत्तिशास्त्रस्य प्रवृत्तिशास्त्रेण समे संमतेऽपि निवृत्त्यनुष्ठाननिबन्धनत्वतः[1] इदं शास्त्रं निवर्तकं प्रचक्षते ॥ (वंशस्थच्छन्दः) ॥

योजितार्थ–(अज्ञातज्ञापनरूप) विधेय-बोधन की दृष्टि से निवृत्तिशास्त्र, प्रवृत्तिशास्त्र के समान माने जाने पर भी निवृत्ति का अनुष्ठापक होनेके कारण निवर्तक कहलाता है ॥

भावितार्थ—विधि तथा निषेध दोनों शास्त्र अज्ञात-ज्ञापक होने से समानरूप से प्रमाण हैं । किन्तु उन दोनों का प्रमेय भिन्न हैं—विधि शास्त्र का प्रवृत्ति और निषेध का निवृत्ति । अतः दोनों में महान् अन्तर है । यह अन्तर यम शास्त्र की दृष्टि में रख कर किया गया है । आशय यह है कि ज्ञानाधिकारी मुमुक्षु का केवल निवृति में ही अधिकार नहीं, नहीं तो श्रवणादि शास्त्रों में त्रिदोष-ग्रस्त परिसंख्या माननी पड़ेगी । किन्तु श्रवणादि रूप प्रवृत्ति में भी मुमुक्षु का अधिकार हैं। श्रवणादि शास्त्र यद्यपि अपूर्व विधि नहीं, क्योंकि साक्षात्कार-हेतुता श्रवणादि में अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर ही ज्ञात है। तथापि श्रवणादि शास्त्र वैसे ही नियमविधिरूप हैं; जैसे कि 'व्रीहीनवहन्ति' (आप०श्रौ० १।७।१०) यह विधि नियमापूर्व के द्वारा ज्ञान-प्रतिबन्ध की निवर्तक होने से सार्थक है ॥८९॥

यदि ज्ञानाधिकारी का भी प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में अधिकार है, तब तो पूर्वमीमांसा के षष्ठ अध्याय में निरूपित अधिकारी से इसका कुछ भी अन्तर नहीं रहा, तब महर्षि वादरायण का 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र०.सू० १।१।१) यह प्रयत्न पिष्टपेषणमात्र ही सिद्ध होता हैं । इस आक्षेप का समाधान करते हैं—

शास्त्रद्वयेन परिदर्शितसाधनेन
साध्यस्पृहापरवशः पुरुषो मुमुक्षुः ।
शुश्रूषते गुरुमथेत्युदितः स चात्र
वेदान्तवाक्यविषयश्रवणाधिकारी ॥ ९० ॥

योजना—शास्त्रद्वयेन परिदर्शितसाधनेन साध्यस्पृहापरवशः मुमुक्षुः पुरुषः गुरुं शुश्रूषते, स च अत्र अथेति वेदान्तवाक्यश्रवणाधिकारी उदितः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—(यमनियमादिविधायक प्रवृति-निवृत्तिरूप) दोनों शास्त्रों में परिदर्शित (प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप) साधनों से साध्य (ब्रह्मज्ञान) की उत्कट इच्छा के परवश हुआ मुमुक्षु पुरुष गुरु की शरण खोजता है । वही यहाँ 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्रस्थ 'अथ' शब्द से वेदान्त-वाक्य श्रवण का अधिकारी कहा गया हैं ॥

भावितार्थ—पूर्वकाण्ड-प्रदर्शित विविदिषार्थ अनुष्ठित यज्ञादि से जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है, यह वेदान्तशास्त्रोक्त विवेक, वैराग्य, शम, दमादि साधनों के अनुष्ठान से

---

[1] निवृत्त्यनुष्ठाने निबन्धनं कारणम्, तस्य भावस्तत्त्वम्, ततः ।

मुमुक्षु बनता है। वह मुमुक्षु पुरुष तत्त्व-साक्षात्कार की लालसा से तत्त्वज्ञ गुरु की सेवा में उपस्थित होता है। उसी पुरुष को महर्षि वादरायण ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र में वेदान्तवाक्य-श्रवणाधिकारी कहा है। इस प्रकार इस अधिकारी का पूर्वमीमांसोक्त अधिकारी से अत्यन्त स्पष्ट भेद दिखा दिया गया; क्योंकि उस अधिकारी ने विवेक वैराग्यादि साधनों का सम्पादन नहीं किया, मुमुक्षु नहीं बना, गुरुकुल से बहुत दूर पड़ा कर्मानुष्ठान में व्यस्त है, किन्तु वेदान्त-श्रवणाधिकारी विवेकादि साधनों से सम्पन्न होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ की शरण में उपस्थित है ॥ ९० ॥

जिज्ञासु अधिकारी का निरूपण करके जिज्ञासा-क्रम बताया जाता है—

स परिपृच्छति कोऽहमसौ च कः
सहजमस्य च तस्य च किं पृथक् ।
उत तयोरभिदेश्वरजीवयो-
रिति च संशयसंकुलमानसः ॥ ९१ ॥

योजना—अहं कः ? असौ च कः ? अस्य च तस्य च सहजम् किम् ? (किम् उभौ) पृथक् ? उत तयोः ईश्वरजीवयोः अभिदा ? इति संशयसंकुलमानसः स परिपृच्छति ॥ (द्रुतविलम्बितच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—मैं कौन हूँ ? और यह (ईश्वर) क्या है ? इस (जीव) का और उस (ईश्वर) का स्वाभाविक रूप क्या है ? (वे दोनों) पृथक् हैं ? या उन दोनों में अभेद है ? इस प्रकार संशयालु होकर वह पूछता है ॥

भावितार्थ—'इति पृच्छति'—यहाँ 'इति' शब्द का समन्वय संशय और प्रश्न—दोनों के साथ अभिप्रेत है; क्योंकि संशय के अनुरूप ही सदा प्रश्न हुआ करता है। पहला प्रश्न 'त्वं' पदार्थ-विषयक है—"कोऽहम्" ? 'अहम्' अनुभव में प्रकाशमान देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्राण तथा साक्षी—इनमें से मैं कौन हूँ ? तत्पदार्थ विषयक प्रश्न है—'असौ च कः ?' 'तत्त्वमसि'—इस वाक्य में जो तत्पदार्थ है, वह क्या है ? क्या वह निर्विशेष है ? या सविशेष हैं ? निरतिशय आनन्दरूप है ? या विपरीत है ? लक्ष्यविषयक प्रश्न है—"सहजमस्य च तस्य च किम् ?" इस जीव और उस परमेश्वर का स्वाभाविक रूप क्या है ? वाक्यार्थविषयक प्रश्न है-'पृथक् ? उत तयोरभिदा ?'। वे दोनों जीव तथा ईश्वर परस्पर भिन्न हैं ? या उन दोनों में अभेद है ? क्योंकि 'द्वा सुपर्णा' आदि वाक्यों से उनका भेद तथा 'तत्त्वमसि'—आदि वाक्यों से अभेद प्रतीत होता है, अतः उक्त संशय का होना स्वाभाविक है ॥ ९१ ॥

उपदेष्टव्य शिष्य की योग्यताएं सूचित की जाती हैं—

तीर्थेन तं विविदिषन्तमनन्यभक्तम्
संसारसागरभयातुरचित्तवृत्तिम् ।
एकं मुमुक्षुमधिकारिणमात्मतत्त्व-
ज्ञाने समीक्ष्य गुरुराह दयाविधेयः ॥ ९२ ॥

योजना—तीर्थेन विविदिषन्तम्, अनन्यभक्तम्, संसारसागरभयातुरचित्तवृत्तिम् तमेकं मुमुक्षुम् आत्मतत्त्वज्ञाने अधिकारिणं समीक्ष्य दयाविधेयः गुरुः आह ॥ (वसन्त० छन्दः)

योजितार्थ—तीर्थ-सेवनादि से शुद्धान्तःकरण, विविदिषायुक्त, अनन्यभक्त, संसार-सागर के भय से जिसकी चित्त-वृत्तियाँ व्याकुल हैं–ऐसे उस प्रधान मुमुक्षु को आत्मतत्त्व-ज्ञान का अधिकारी जानकर दयालु गुरु कहता है।

भावितार्थ—'निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टे जले गुरौ'–इस कोश के अनुसार 'तीर्थ' शब्द शास्त्र और गुरु का भी बोधक है। अतः 'तीर्थेन विविदिषन्तम्' का अर्थ होता है–शास्त्रीय या गुरूपदिष्ट निष्काम यज्ञादि के अनुष्ठान से जिस व्यक्ति में विविदिषा उत्पन्न हो गई है, उसको (गुरु उपदेश देता है)। कुछ विद्वानों का कहना है कि यहाँ 'तीर्थे नतम्' ऐसा अन्वय करके गुरुशरणागत अर्थ सुसङ्गत होता है। विविदिषन्तम्—इस पद से यह स्पष्ट किया कि विविदिषामात्र की प्रेरणा ही ज्ञान-लाभ-योग्य बनाती है, लाभ पूजादि की प्रेरणा नहीं। 'यस्य देवे परा भक्तिः' (श्वे० ६।२२) इस श्रुति के अनुसार देवता, गुरु की भक्ति भी ज्ञान की प्रयोजक है, अतः उसे दिखाते हैं—'अनन्यभक्तम्।' अनन्यभक्त का अर्थ प्रत्यगात्ममात्र-परायण भी किया जाता है। वैराग्य सम्पत्ति दिखाते हैं–'संसारेत्यादि' से। इस प्रकार के अधिकारी की दुर्लभता दिखाने के लिए कहा है–'एकम्।' अथवा एक-जीवाभिप्राय से 'एकम्' कहा गया है। आप्तकाम विद्वान् की उपदेश में प्रवृत्ति का निमित्त बताया—'दयाविधेयः।' से। केवल दया-परवश होकर आचार्य उपदेश देता है॥ ९२ ॥

सच्चे अधिकारी को योग्य गुरु अत्यन्त प्रेम से उपदेश देता है –

वक्ष्यामि वत्स ! तव वाञ्छितमत्यवस्थ-
मत्यन्तमेव च हितं शृणु तन्मनस्कः।
त्वं प्रत्यगव्यवहितं तव सुप्रसिद्धं
ब्रह्माद्वितीयमुदितं च तदस्यजस्रम् ॥ ९३ ॥

योजना—वत्स ! तव अत्यवस्थम् अत्यन्तमेव वाञ्छितं हितं च वक्ष्यामि, तन्मनस्कः शृणु। त्वं तव सुप्रसिद्धम् अव्यवहितम्। प्रत्यग् अद्वितीयं च उदितम्। अजस्रं तदसि॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः)॥

योजितार्थ—हे वत्स ! तेरे अवस्थातीत अत्यन्त वाञ्छित हित का उपदेश करूंगा। दत्तचित होकर सुन। तू अपने अनुभव से सिद्ध अव्यवहित प्रत्यगात्मा है। वह ब्रह्म अद्वितीय है। वही तू है॥

भावितार्थ—निःसङ्कोच हृदय से अपनी शङ्काओं को कहे तथा आचार्योपदेश को अनुद्विग्न मन से सादर ग्रहण करे—इस आशय से शिष्य को 'वत्स' पद से सम्बोधित किया गया है। अवाञ्छनीय वस्तु का उपदेश ग्राह्य नहीं, अतः कहा—'वाञ्छितम्।' उसी का विशेषण है–'अत्यवस्थम्।' अर्थात् जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओं से परे तुरीय तत्त्व। इस तत्त्व की अत्यन्त उपादेयता दिखाने के लिए कहा–'अत्यन्तमेव हितम्।' यह तत्त्व नितान्त सूक्ष्म है, अतः शिष्य को सावधान किया जाता है–'शृणु तन्मनस्कः।' प्रथम 'कोऽहम्' प्रश्न का उत्तर है–'त्वं [1]प्रत्यग्।' तू देहेन्द्रियादि का साक्षी प्रत्यगात्मा है। इसकी अप्रामाणिकता दूर करने के लिए कहा–'अव्यवहितम्।' प्रश्नकर्ता से अत्यन्त अव्यवहित है,

---

[1] प्रतीपं विपरीतमञ्चति गच्छतीति प्रत्यग्। अनृतजडदेहादिप्रातिकूल्येन यः सत्यप्रकाशात्मना प्रकाशते स त्वमित्यर्थः।

अर्थात् उसका अपना स्वरूप है। अपने स्वरूप में और किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। इतना ही नहीं, अपितु वह स्वयं प्रकाश है–'सुप्रसिद्धम् ।' जिसकी प्रसिद्धि (प्रकाश) से ही सकल जगत् प्रसिद्ध (प्रकाशमान) है, वह सुप्रसिद्ध क्यों न होगा ? द्वितीय 'असौ च कः' प्रश्न का उत्तर है 'ब्रह्माद्वितीयम् ।' अर्थात् वह अद्वितीय ([1]सजातीय तथा विजातीय स्वगतभेदों से रहित) ब्रह्म ही तत्पदार्थ है। तत्पदार्थ में प्रमाण सूचित करने के लिए कहा 'उदितम् ।' अर्थात् 'सदेव सौम्य' (छां० ६।२।१) तथा 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरवाह्यम्' (बृह० २।५।१९) आदि वाक्यों में वह तत्त्व स्पष्टतः प्रतिपादित है। तृतीय (भेदाभेद विषयक) प्रश्न का उत्तर है—'तदप्यजस्रम् ।' अर्थात् तू सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप है। उससे भिन्न कदापि नहीं ॥ ९३ ॥

अत्यन्त हित, मित, मेध्य औषध पिलानें पर भी शिष्य का मुख म्लान है। मुख की म्लानि में व्याप्त हृदय-गत-सन्देह की रेखाएँ पहचान कर गुरुवर कहते हैं—

यद्यत्र पश्यसि विरोधमुदीरय त्वं
सद्यस्ततः परिहराणि तमप्रयत्नात् ।
वाक्यं निरस्तसकलप्रतिबन्धकं सत्
त्वां बोधयिष्यति करार्पितबिल्वतुल्यम् ॥ ९४ ॥

योजना - अत्र यदि त्वं विरोधं पश्यति, उदीरय। तं सद्यः अप्रयत्नात् परिहराणि। ततः निरस्तसकलप्रतिबन्धकं सत् वाक्यं त्वां करार्पितबिल्वतुल्यं बधयिष्यति॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इस (पूर्वोक्त वाक्यार्थ) में यदि तुम (कोई) विरोध देखते हो, तो कहो। उसे (विरोध को) यथाशीघ्र बिना विशेष प्रयत्न के मैं दूर कर दूँगा। तब सकल प्रतिबन्धकों से रहित होकर महावाक्य तुम्हें हस्त-निहित बिल्व फल के समान प्रत्यक्ष रूप से आत्मबोध करा देगा॥

भावितार्थ—पूर्वोक्त (तदप्यजस्रम्) कथन में वस्तुतः किसी प्रकार का विरोध नहीं केवल असम्भावना तथा विपरीत भावना के आधार पर पुरुष को विरोध की प्रतीतिमात्र हो जाती है—यह स्पष्ट करने के लिए इस श्लोक में 'यदि' और 'पश्यसि'—इन दो पदों का उपनिबन्धन किया है। 'सद्यः' तथा 'अप्रयत्नात्' इन दो पदों से आचार्य अपनी न्यूनत्व की शङ्का का निराकरण करता है। अर्थात् मैं तुम्हारे (शिष्य) के सन्देहों को शीघ्र तथा विना यत्न के ही दूर कर दूँगा, क्योंकि मैंने अपने गुरुचरणों की उचित सेवा से वह अद्वैत सिद्धान्त ऐसा स्थिर कर लिया है कि किसी प्रकार के सन्देह की सम्भावना ही नहीं रह गई है। ब्रह्मज्ञान में उपायान्तर की शङ्का दूर करने के लिए कहा है–'वाक्यमित्यादि ।' उक्त महावाक्य ही निखिल प्रतिबन्धों से रहित होकर आत्मबोध कराएगा और किसी उपाय से ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ९४ ॥

---

[1] किसी एक वृक्ष में रहनेवाला सजातीय पदार्थों (अन्य वृक्षों) का भेद सजातीय-भेद (सजातीयप्रतियोगिक भेद) है, विजातीय (घटपटादि) पदार्थों का भेद विजातीय-भेद (विजातीय-प्रतियोगिक भेद) कहा जाता है और स्वगत (वृक्षगत शाखादि) पदार्थों का भेद स्वगत-भेद (स्वगत-प्रतियोगिक भेद) माना जाता है। ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद नहीं रहता।

[शिष्यस्य वाक्यार्थे विरोधोद्भावनम्[1]]

शिष्य अपने हृदय के विरोध को प्रकट करता है—

अत्राऽऽह सद्वयमहं मम रूपमीक्षे
तच्चाद्वयं विगणयामि परोक्षमेव ।
पारोक्ष्यसद्वयविभागयुजोर्विरोधात्
वाक्यार्थबोधमतिदुर्लभमेव मन्ये ॥ ९५ ॥

योजना—अत्राह–अहं मम रूपं सद्वयम् ईक्षे । तद् अद्वयं परोक्षमेव च विगणयामि । पारोक्ष्यसद्वयविभागयुजोः विरोधात् वाक्यार्थम् अतिदुर्लभमेव मन्ये ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—(शिष्य बुद्धिस्थ विरोध) कहता है–मैं अपना स्वरूप (सद्वय) सजातीयादि भेद-युक्त अनुभव करता हूँ । तत्पदार्थ को भेद-रहित तथा परोक्ष मानता हूँ । परोक्षत्व-अपरोक्षत्व अद्वयत्व-सद्वयत्व रूप से विभक्त चैतन्यों का स्वाभाविक विरोध होनें के कारण (अभेदरूप) वाक्यार्थ को अति दुर्लभ ही समझता हूँ ॥

भावितार्थ—शिष्य कहता है कि अपने आप (जीव) को मैं सद्वय तथा अपरोक्ष अनुभव करता हूँ और तत्पदार्थ (ब्रह्म) को अद्वय तथा परोक्ष । इसलिए वे दोनों तत्त्व अभिन्न कैसे हो सकते हैं; क्योंकि सद्वय भी अद्वय नहीं हो सकता और अपरोक्ष कभी परोक्ष नहीं हो सकता । कोई भी वाक्य अपने घटक उन्हीं पदार्थों का भेद बता सकता है, जिनका परस्पर विरोध न हो । किन्तु "तत् त्वम् असि"—इस वाक्य के घटक 'तत्' और 'त्वम्' पदों का अर्थ परस्पर विरोधी है, फिर दोनों का अभेद-बोध सम्भव नहीं । उक्त श्लोक में 'सद्वय' पद भाव-प्रधान रखा गया है । इस प्रकार अर्थ निकलता है—पारोक्ष्य तथा सद्वयत्व विरुद्ध धर्म वाले धर्मियों का परस्पर विरोध होने से अभेद नहीं हो सकता । पारोक्ष्य तथा सद्वयत्व का साक्षात् विरोध नहीं, अतः वे विरोधी धर्मों के स्मारकमात्र हैं । अर्थात् पारोक्ष्य तथा अपारोक्ष्य का सद्वयत्व तथा अद्वयत्व का अत्यन्त विरोध है । अतः उनके धर्मी भी भिन्न ही रहेंगे, कभी अभिन्न नहीं होंगे ॥९५॥

उक्त अखण्डवाक्यार्थ की अनुपपत्ति दिखाते हैं—

यद्वस्तु सद्वयतयाऽवगतं स्वशब्दात्
तस्याद्वयत्वमवगन्तुमशक्यमेव ।
यद्वस्तु च व्यवहितं प्रतिपादितं तत्
प्रत्यक्तया न तु जनः प्रतिपत्तुमीशः ॥ ९६ ॥

योजना—स्वशब्दात् यद् वस्तु सद्वयतया अवगतम् , तस्य अद्वयत्वम् अवगन्तुम् अशक्यमेव । यद् वस्तु च व्यवहितं प्रतिपादितम्, तत्तु प्रत्यक्तया प्रतिपत्तुम् जनः न ईशः (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—अपने वाचक शब्द के द्वारा जो वस्तु सद्वय जानी गई है, उसे अद्वय

---

[1] शिष्य का यह सन्देह ९५ वें श्लोक से लेकर १४३ वें श्लोक तक वर्णित है ।

समझना असम्भव है और जो वस्तु व्यवहित (परोक्ष) बताई गई है, उसे प्रत्यक् (अव्यवहित) समझने में मनुष्य असमर्थ हैं।

भावितार्थ—अभेदरूप वाक्यार्थ के बोध में अर्थाबाधरूप योग्यता भी कारण है। प्रकृत में 'तत् त्वम् असि' इस वाक्य से 'तत्त्वमर्थौ' का अभेद-बोधन सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्येक पद की शक्ति अपने पदार्थ में इतरव्यावृत्तरूप से होती है। जैसे 'घट' पद अपने अर्थ का घटत्व (अघट-व्यावृत्त) रूप से वाचक है और 'पट' शब्द अपनें अर्थ का अपट-व्यावृत्त रूप से। वैसे ही प्रकृत में 'तत्' पद भी अपने ईश्वर रूप अर्थ को जीवादि अनीश्वर-व्यावृत्त रूप से तथा 'त्वम्' पद अपने जीव रूप अर्थ को ईश्वरादि अजीव व्यावृत्तरूप से कहता है। अतः अनीश्वर का ईश्वर से और अजीव का जीव से अभेद बाधित है, फिर तो अभेदरूप वाक्यार्थ-बोध सम्भव नहीं ॥ ९६ ॥

'इदं रजतम्' आदि स्थलों पर बाधित अभेदका भी बोध होता है, अतः उक्त योग्यता को शाब्दबोध का हेतु मानना उचित नहीं, फिर तो अभिमत अभेद बोध क्यों न बनेगा? इस शङ्का का सामाधान है—

आकांक्षितं भवति पूरणशक्तियुक्तम्
यत्सन्निधौ [1]पठितमस्य हि संगतिः स्यात्।
नाऽऽकाङ्क्षयैव न तु सन्निधिनैव वा स्यात्
सम्बन्धिता हि विरहय्य पदार्थशक्तिम् ॥ ९७ ॥

योजना—यत्, आकांक्षितं, पूरणशक्तियुक्तं सन्निधौ पठितम् भवति, अस्य हि सङ्गतिः स्यात्। पदार्थशक्ति विरहय्य न आकांक्षयैव, न तु सन्निधिनैव वा सम्बन्धिता स्यात्। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—जो आकांक्षित (आकांक्षा-युक्त), अन्वययोग्यानुकूल-शक्तियुक्त पद पदान्तर की सन्निधि में पठित होता है, उसी पद से ही शाब्द-बोध होता है। योग्यता को छोड़कर न तो केवल आकांक्षा से और न केवल सन्निधि से ही शाब्दबोध होता है।

भावितार्थ—शाब्दबोध के तीन मुख्य कारण हैं—आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि (आसत्ति)। जिस पद के बिना जो पद स्वार्थ का बोधक नहीं होता, उस पद के साथ उस पद की आकांक्षा मानी जाती है। आकांक्षा से युक्त पद आकांक्षित कहा जाता है। आकांक्षा शाब्द-बोध में कारण है—यह 'आकांक्षितम्' पद से सूचित किया हैं। योग्यता की कारणता व्यक्त करने के लिए कहा—'पूरणशक्तियुक्तम्।' अर्थात् पद का अन्वय-योग्य होना आवश्यक है। सन्निधि का उल्लेख करते है—'सन्निधौ पठितम्।' पदार्थशक्ति= योग्यता को छोड़कर केवल आकांक्षा या केवल सन्निधि या आकांक्षा तथा सन्निधि इन दोनों से ही शब्द बोध नहीं हो सकता।

यद्यपि शाब्दबोध मात्र में योग्यता को स्वरूप सत् या ज्ञायमान होकर कारण नहीं कहा जासकता, क्योंकि शुक्ति-रजतादि स्थल पर अयोग्य अर्थ का भी बोध होता प्रतीत होता हैं। तथापि प्रमारूप शाब्दबोध में अवश्य ही योग्यता को हेतु मानना ही होगा, क्योंकि उसके बिना शाब्दप्रमा नहीं होती। अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति तीनों में ही शाब्दबोध की कारणता सिद्ध होती है ॥ ९७ ॥

---

[1] 'पतितम्' इति पाठान्तरम्।

उक्त योग्यता की कमी के कारण ही "तत्त्वमसि" इस वाक्य से शाब्दबोध नहीं होता—

योग्यत्वमत्र न च तत्त्वमसीति वाक्ये
सम्बन्धितां प्रति पदार्थयुगस्य भाति ।
पारोक्ष्यसद्वयविभागविरोधहेतो-
र्गौरश्व इत्यभिहिते तु यथैव वाक्ये ॥ ९८ ॥

योजना—अत्र तत्त्वमसीति वाक्ये पारोक्ष्यसद्वयविभागहेतोः पदार्थयुगस्य सम्बधितां प्रति योग्यत्वम् न भाति, यथैव 'गौरश्वः' इत्यभिहिते वाक्ये ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः)।

योजितार्थ—यहाँ 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में परोक्षत्वसद्वयत्वादि का विरोध होने के कारण (तत् तथा त्वम्) दोनों पदों के अर्थों में (परम्पर) सम्बन्धिता (अन्वय) होने के लिए योग्यता (वैसे ही) नहीं प्रतीत होती, जैसे कि 'गौः अश्वः' इस वाक्य में ॥

भावितार्थ—"तत्त्वमसि" इस वाक्य में 'तत्' तथा 'त्वम्' इन दो पदों के अर्थों में अभेदरूप सम्बन्धिता अपेक्षित है। किन्तु उस अन्वय के अनुकूल यहाँ योग्यता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि परोक्षत्व, परोक्षत्वादिका विरोध (परस्पर बाध) उपस्थित है। जैसे कि "गौरश्वः" इस वाक्य से गौ और अश्व का अभेद-बोध नहीं हो सकता, क्योंकि उनका अभेद बाधित है। वैसे ही प्रकृत में तत्त्वमर्थों का अभेद बाधित होने से अभिमत शाब्दबोध नहीं हो सकता[1] ॥ ९८ ॥

तत्, त्वम्—दोनों पदों के वाच्यार्थों का अभेद बाधित होने पर भी लक्ष्यार्थों का अभेद सम्भव होगा—यह सम्भावना नहीं—

सोऽयं गिरोरिव न लक्षणयापि वृत्ति-
र्मानान्तराधिगतिहीनतयाऽऽत्मनि स्यात् ।
मानान्तराधिगतगोचर एव दृष्टः
शब्दप्रयोग इह लाक्षणिकस्तु लोके ॥ ९९ ॥

योजना—मानान्तराधिगतिहीनतया आत्मनि सोऽयं गिरोरिव (तत्त्वंपदयोः) लक्षणया अपि वृत्तिः न स्यात्। इह लोके लाक्षणिकस्तु शब्दप्रयोगः मानान्तराधिगतगोचरे एव दृष्टः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—प्रमाणान्तर से ज्ञात न होने के कारण आत्मा में "सोऽयं देवदत्तः"—आदि के समान तत् और त्वम् पदों की लक्षणावृत्ति से भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, (क्योंकि) इस लोक में लाक्षणिक शब्द-प्रयोग प्रमाणान्तर-ज्ञात पदार्थ में ही देखा गया है ॥

भावितार्थ—जैसे "सोऽयं देवदत्तः"—इस वाक्य के 'तत्' तथा 'इदम्' दोनों पदों की लक्षणा केवल देवदत्त में होती है, वैसे "तत्त्वमसि"—इस वाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' पदों की लक्षणा आत्मा में नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मा किसी अन्य प्रमाण से ज्ञात नहीं। किन्तु लोक में "गंगायां घोषः" आदि लाक्षणिक शब्द-प्रयोग सदैव प्रत्यक्षादि

---

[1] समानविभक्तिक पदों के द्वारा उपस्थापित योग्य पदार्थों का ही अभेदान्वय होता है। प्रकृत में 'तत्' और 'त्वम्' दोनों समानविभक्ति पदों से प्रतिपादित पदार्थों में योग्यता (अर्थाबाध) नहीं, अतः अभेदान्वय नहीं हो सकता।

प्रमाणान्तर से अधिगत तीरादि में ही देखे जाते हैं। आशय यह है कि शब्दप्रमाण से अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा (गङ्गापद-वाक्य) प्रवाह-सम्बन्धी तीर का ग्रहण हो जाने पर ही 'गङ्गा' पद की लक्षणा तीर में होती है। अन्यथा लक्ष्य स्वरूप का निश्चय न होने पर किसमें लक्षणा होगी ? प्रकृत में आत्मा शब्द-प्रमाण से अन्य प्रमाण का विषय है नहीं, अतः उसमें किसी पद को भी लक्षणा नहीं हो सकती ॥ ९९ ॥

इस प्रकार ब्रह्म में मुख्य तथा लक्षणा वृत्ति के सम्भव न होने से वाक्य का प्रामाण्य अखण्डार्थ में कदापि नहीं हो सकता—

तस्मादखण्डविषया न वचःप्रवृत्तिः
संसर्गबोधनमपास्तमयोग्यभावात् ।
एवं न वाक्यगतशब्दसमन्वयोऽपि
दूरे प्रमान्तरविरोधनिराससिद्धिः ॥ १०० ॥

योजना—तस्मात् अखण्डविषया वचः प्रवृत्तिः न, संसर्गबोधनम् अयोग्यभावाद् अपास्तम्। एवं वाक्यगतशब्दसमन्वयोऽपि नास्ति, प्रमान्तरविरोधनिराससिद्धिः दूरे ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इसलिए (मुख्य तथा लक्षणावृत्ति सम्भव न होने के कारण तत् तथा त्वम् आदि) पदों की प्रवृत्ति अखण्डार्थ-बोधन में नहीं हो सकती। यहाँ संसर्ग का बोधन तो अयोग्य होने के कारण ही निरस्त हो जाता है। इस प्रकार उक्त वाक्य के तत्त्वमादि पदों का समन्वय हीं नहीं होता, प्रमाणान्तर-विरोध का निवारण तो दूर रहा ॥

भावितार्थ—एकार्थ बोधक अनेक पद-घटित वाक्य दो प्रकार के देखे जाते है—(१) विरुद्धांश-त्याग-पूर्वक लक्षणा से एकार्थ के बोधक। जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' यह वाक्य देशकालादि–विरुद्ध अंशों का त्याग करके केवल देवदत्त के स्वरूप मात्र का बोधक है। (२) दूसरा तादात्म्यरूप संसर्ग का बोधक। जैसे–"मृद् घटः", "नीलोत्पलम्"–आदि। ब्रह्म में लक्षणा भी सम्भव न होने के कारण "तत्त्वमसि" आदि वाक्य उक्त दोनों प्रकारों में किसी प्रकार से भी प्रवृत्त नहीं हो सकते। भेद-ग्राही प्रत्यक्षादि प्रमाणों का निरास कर देने पर श्रुतिवाक्य अभेद-बोधन क्यों न कर सकेगा ? इस शङ्का का समाधान है—"एवम्"—इत्यादि से। अर्थात् श्रुति-घटक पदों का जब समन्वय ही ब्रह्म में नहीं होता, तब उक्त श्रुति ब्रह्म में प्रमाण नहीं हो सकती। उससे विरोधी प्रमाणों का निराकरण हो ही नहीं सकता ॥ १०० ॥

ब्रह्म सिद्धार्थ है, इसलिए भी वेदान्त-वाक्य उसमें प्रमाण नहीं हो सकते—

किं च प्रमान्तरमपेक्ष्य गिरः प्रवृत्तिः
सिद्धेषु वस्तुषु जगत्युपलब्धपूर्वा ।
ब्रह्मात्मवस्तुनि तथा वचसः प्रवृत्तिः
युक्तात्मनस्तु फलवत्परिनिष्ठितत्वात् ॥ १०१ ॥

योजना—किञ्च जगति सिद्धेषु वस्तुषु प्रमान्तरम् अपेक्ष्य गिरः प्रवृत्तिः उपलब्धपूर्वा। तथा ब्रह्मात्मवस्तुनि वचसः प्रवृत्तिः न युक्ता, आत्मनः फलवत् परिनिष्ठितत्वात् (व०छ०)।

योजितार्थ—दूसरी बात यह भी है कि लौकिक-सिद्ध पदार्थों में प्रमाणान्तर की अपेक्षा करके ही शब्द की प्रवृत्ति उपलब्ध होती हैं। अतः ब्रह्मात्म वस्तु में शब्द की प्रवृत्ति युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि "नद्यास्तीरे फलानि सन्ति"—यहाँ पर फल के समान ब्रह्म भी परिनिष्ठित (सिद्ध वस्तु) है।

भावितार्थ—शब्द का शक्ति-ग्रह सदैव कार्य (क्रिया रूप कृति-साध्य) अर्थ में हो होता है; द्रव्यादि सिद्ध (कृति-साध्य रूप कार्य से भिन्न) पदार्थों में नहीं। ब्रह्म सिद्ध पदार्थ है, कार्य नहीं। अतः शक्तिग्रह न हो सकने के कारण किसी शब्द की ब्रह्म के बोधन में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अर्थात् जिस अर्थ को शब्द के द्वारा कहा ही नहीं जा सकता, उस अर्थ का बोध कराने के लिए किसी शब्द का प्रयोग भी नहीं हो सकता और न उस शब्द से श्रोता को कोई बोध हो सकता है ॥ १०१ ॥

ऊपर के श्लोक में जो "फलवत्" दृष्टान्त दिया था, उसे स्पष्ट करते हुए दार्ष्टान्त में समन्वय करते हैं—

नद्यास्तीरे फलमितिगिरः सिद्धवस्तुप्रवृत्तेः
दृष्टा स्वार्थप्रमितिजनने स्वान्यमानव्यपेक्षा ।
तद्वद् ब्रह्मण्यपि तु वचसो वैदिकस्याभ्युपेया
तस्मादस्मिन्न खलु घटते मानभावः श्रुतीनाम् ॥ १०२ ॥

योजना—सिद्धवस्तुप्रवृत्तेः 'नद्यास्तीरे फलम्' इति गिरः स्वार्थप्रमितिजनने स्वान्यमानव्यपेक्षा दृष्टा। तद्वत् वैदिकस्यापि वचसः ब्रह्मणि (प्रवृत्तिः) अभ्युपेया। तस्मात् अस्मिन् खलु श्रुतीनां मानभावो न घटते ॥ ([1]मन्दाक्रान्ताच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—सिद्धवस्तु के बोधन में प्रयुक्त 'नद्याः तीरे फलम्'—इस वाक्य को स्वार्थबोध कराने में अपने से भिन्न (प्रत्यक्षादि) प्रमाण की अपेक्षा देखी गई है। उसी प्रकार "तत्त्वमसि" आदि वैदिक वाक्यों की (प्रवृत्ति भी अन्यमान-सापेक्ष) माननी होगी। अतः इस (ब्रह्मरूप अर्थ) में श्रुतियों की प्रमाणता नहीं घटती ॥

भावितार्थ—सिद्ध वस्तु के बोधन में प्रवृत्ति है जिसकी, ऐसे शब्द ("नद्याः तीरे फलम् अस्ति"—इस प्रकार के वाक्य) के समान ही "तत्त्वमसि"—यह वाक्य भी है। अतः यहाँ जिज्ञासा होती है कि वेदान्त-प्रतिपाद्य 'ब्रह्म' वस्तु में कोई अन्य प्रमाण है? या नहीं? यदि है, तब उस प्रमाण से प्रकाशित वस्तु का ही प्रकाशमात्र करनेवाले वेदान्त-वाक्य अनुवादक ही होते हैं, प्रमाण नहीं। यदि कोई प्रमाण नहीं, तब भी वेदान्त-वाक्य प्रमाण नहीं हो सकते; क्योंकि उसी सिद्ध वस्तु का शब्द बोधक होता है, जो प्रमाणान्तर से अधिगत हो। प्रथम पक्ष में अधिगत-गन्तृत्वरूप तथा द्वितीय पक्ष में अबोधकत्वरूप अप्रामाण्य वेदान्त-वाक्यों में आता है ॥ १०२ ॥

पहले "सोऽयं देवदत्तः"—इस वाक्य को अखण्डार्थक मानकर उसके दृष्टान्त से वेदान्तवाक्य को अप्रमाण बताया, अब यह दिखाते हैं कि "सोऽयं देवदत्तः"—इस वाक्य में अखण्डार्थकत्व सम्भव नहीं, अतः वेदान्त-वाक्यों में भी अखण्डार्थत्व कैसे सम्भव होगा—

---

१. 'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भौं नतौ ताद्गुरू चेत्' (वृत्त० ३।९५) अर्थात् जिस पद्य के प्रत्येक पाद में क्रमशः एक मगण, एक भगण, एक नगण, दो तगण तथा दो गुरु वर्ण हों, उसे मन्दाक्रान्ता कहते हैं। चार, छह और सात वर्णों पर यति होती है।

नाखण्डवस्तुविषया वचसः प्रवृत्तिः
लोकेऽपि दृष्टिपथमापतिता कदाचित् ।
नानापदार्थघटनाविषयत्वहेतोः
दूरेत्यता श्रुतिशिरोवचनेषु तस्याः ॥ १०३ ॥

योजना—नानापदार्थघटनाविषयत्वहेतोः लोकेऽपि वचसः प्रवृत्तिः अखण्डवस्तुविषया दृष्टिपथं कदाचित् नापतिता । श्रुतिशिरोवचनेषु तस्याः दूरेत्यता ॥ (व० छ०)

योजितार्थ—नाना पदार्थों के (पारस्परिक) संसर्ग को विषय करने के कारण लोक में भी (सोऽयं देवदत्तः-आदि) वाक्यों की प्रवृत्ति अखण्ड (असंसृष्ट) वस्तु विषयक कभी नहीं देखी गई (तब तो) वेदान्तवाक्यों में वह (अखण्डार्थ-बोधन-प्रवृत्ति) बहुत दूर रही ॥

भावितार्थ—''सोऽयं देवदत्तः'' आदि वाक्य भी अखण्डार्थक नहीं, क्योंकि अनेक अपर्याय शब्दों से उपस्थापित अर्थों की घटना (संसर्ग) को विषय करते हैं । इसी प्रकार वेदान्त वाक्य भी अखण्डार्थक नहीं हो सकते । शंका होती है कि जैसे प्रभाकर-मत में लौकिक लिङादि नियोग के बोधक नहीं, किन्तु वैदिक लिङादि होते हैं । वैसे ही लौकिक वाक्यों के अखण्डार्थक न होने पर भी वैदिक ''तत्त्वमसि''—आदिवाक्य अखण्डार्थक क्यों न होंगे ? इस शंका का समाधान है—'दूरेत्यता' । ''दूरादेत्यः'' (का० वा० ४।३) के अनुसार दूर शब्द से 'एत्य' प्रत्यय करने पर दूरेत्य शब्द बनता है । उससे भावार्थक 'तल्' प्रत्यय करने पर 'दूरेत्यता' शब्द निष्पन्न होता है । जिसका अर्थ है—दूरंगतता । अर्थात् वक्ष्यमाण दोष तथा प्रभाकर-मत-सिद्ध दृष्टान्त असिद्ध होने के कारण वैदिक वाक्यों में अखण्डार्थकत्व की कल्पना नितान्त असम्भव है ॥ १०३ ॥

अखण्डार्थत्व की कल्पना किसी प्रकार भी युक्त नहीं—

आदाय मुख्यगुणलाक्षणिकप्रवृत्ती-
रर्थं समर्पयति शब्द इति प्रसिद्धम् ।
आस्वेव नान्यतमयाऽपि वदत्यखण्डम्
शब्दान्तरात्तविषयादधिकार्थवृत्तेः ॥ १०४ ॥

योजना—शब्दः मुख्यगुणलाक्षणिकप्रवृत्तीः आदाय अर्थं समर्पयतीति प्रसिद्धम् । आसु अन्यतमयाऽपि अखण्डं न वदति; शब्दान्तरात्तविषयाद् अधिकार्थवृत्तेः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—यह लोक-प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि (कोई भी) शब्द मुख्य वृत्ति, गौण वृत्ति या लक्षणा वृत्ति से किसी अर्थ का समर्पण किया करता है—इन वृत्तियों में से किसी भी वृत्ति के द्वारा (शब्द) अखण्ड अर्थ को नहीं कहता; क्योंकि एक शब्द अपने पड़ोसी शब्द के अर्थ से भिन्न अर्थ को कहने में ही प्रवृत्त होता है ॥

भावितार्थ—एकार्थ बोधक अनेक पदों का (घटो घटो घटः आदि का) उच्चारण करने पर कोई वाक्य नहीं बना करता; क्योंकि वाक्य वही माना जाता है, जिसका प्रत्येक पद अपने पड़ोसी पद के अर्थ से भिन्न साकांक्ष अर्थ को कहता हो । लोक में यह शब्द-मर्यादा प्रसिद्ध है कि शब्द अपने-अपने अर्थों को मुख्य या गौण या लक्षणा वृत्ति से कहा

करते हैं; किन्तु अखण्ड (एक ही) अर्थ को किसी भी वृत्ति से नहीं कहते। अतः "तत्त्वमसि" आदि वाक्य के सभी पदों का तात्पर्य अखण्डार्थ में कदापि नहीं हो सकता ।। १०४ ।।

यदि किसी वाक्य के सभी पद एक ही अर्थ को कहें, तब तो वह वाक्य ही नहीं—

आधिक्यमुत्सृजति शब्दगणो निजेऽर्थे
शब्दान्तरात्तविषयादिति मन्यमानाः ।
वाक्यत्वमेव पदजातगतं विहन्यु-
र्न ह्यस्ति हस्तकरशब्दगतं तदेषाम् ॥ १०५ ॥

योजना—शब्दगणः निजे अर्थे शब्दान्तरात्तविषयाद् आधिक्यम् उत्सृजतीति मन्यमानाः पदजातगतं वाक्यत्वमेव विहन्युः, नहि एषां हस्तकरशब्दगतं तद् अस्ति ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—(कोई भी एक वाक्य घटक) पद-समूह अपने प्रतिपाद्य अर्थ की पदान्तर-प्रतिपाद्य अर्थ से अधिकता का त्याग नहीं किया करता—ऐसा माननेवाले तदादि पदसमूह-गत वाक्यत्व का ही बाध कर बैठेंगे; क्योंकि इनलोगों के मत से "हस्तः करः" आदि पर्याय-शब्दों में वह (वाक्यत्व) नहीं रहता[1] ।।

भावितार्थ—जो लोग अपर्याय पद-समूह को ही वाक्य मानते हैं, पर्याय पद-समूह को नहीं, उनके मत से "सोऽयं देवदत्तः" को वाक्य ही नहीं माना जा सकेगा; यदि वह अखण्डार्थक या पर्याय पदों का समूह मात्र है । अतः "सोऽयं देवदत्तः"—आदि में वाक्यत्व का रक्षण करने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि उन्हें अखण्डार्थक न माना जाय । इस प्रकार "तत्त्वमसि"—इस वाक्य को भी अखण्डार्थ नहीं कहा जा सकता ।। १०५ ।।

अभी तक शब्द-मर्यादा की समालोचना से अखण्डार्थत्व का निरास किया गया, अब अभिमत अर्थ की मर्यादा को दृष्टि में रखकर अखण्डार्थत्व का निराकरण किया जाता है—

किञ्च स्वयंप्रभमलुप्तचिदेकरूपं
सर्वं प्रमाणविषयाद्बहिरभ्युपेत्य ।
आत्मानमात्मनि च शास्त्रमुदाहरन्तः
सिद्धान्तमभ्युपगतं परिपीडयन्ति ॥ १०६ ॥

योजना—किञ्च स्वयंप्रभम् अलुप्तचिदेकरूपम् आत्मानं सर्वप्रमाणविषयाद् बहिरभ्युपेत्य आत्मनि च शास्त्रमुदाहरन्तः अभ्युपगतं सिद्धान्तं परिपीडयन्ति ।। (व० छ०) ।।

योजितार्थ—दूसरी बात यह भी है कि स्वयं प्रकाश नित्य चिदेकरूप आत्मा को सर्व प्रमाणों के विषय से बाहर (प्रमाणातीत) मानकर भी आत्मा के विषय में शास्त्र-प्रमाण की दुहाई देनेवाले अपने स्वीकृत सिद्धान्त का हनन कर रहे हैं ।।

भावितार्थ—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्ति० २।४।१), 'एतदप्र-

---

[1] महर्षि जैमिनि ने वाक्य का लक्षण किया है—"अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्" (जै० सू० २।१।४६) अर्थात् वाक्य वही है, जिसके सभी पदों का तात्पर्य एक अर्थ में हो और किसी पद को हटा देने पर दूसरे पद साकाङ्क्ष रह जाते हों । "घटो घटः" में एक पद के हट जाने पर दूसरा साकाङ्क्ष नहीं होता; अतः यह वाक्य नहीं; ऐसे ही प्रकृत में भी ।

मेयं ध्रुवम्' (बृह० ४।४।२०), 'नेति नेति' (बृह० २।३।६) आदि श्रुतियों के आधार पर जिस आत्मा को सर्वप्रमाणातीत मान लिया, उसमें शास्त्र-प्रमाण दिखाना अत्यन्त विरुद्ध है। इसलिए भी 'तत्त्वमसि'—आदि वाक्यों में अखण्डात्म-बोधकत्व नहीं माना जा सकता। जो स्वयंप्रभ (स्वयंप्रकाश) है, उसे अपने प्रकाश में किसी भी प्रमाण की अपेक्षा[1] ही नहीं। अतः वह किसी प्रमाण का विषय ही नहीं बन सकता ।। १०६ ।।

चिदात्मा में वाक्य प्रमाण का फल सम्भव न होने के कारण भी उसमें वेदान्त-वाक्य की प्रमाणता नहीं बनती—

सर्वत्र वस्तुषु जडेष्वजडप्रकाशं
कुर्वत्प्रमाणमिति सम्प्रतिपन्नमेतत् ।
ब्रह्मात्मवस्त्वजडबोधवपुः कुतोऽस्मिन्
वेदान्तवाक्यजनिताऽजडसंविदन्या ।। १०७ ।।

योजना—सर्वत्र जडेषु वस्तुषु अजडप्रकाशं कुर्वत् (चक्षुरादि) प्रमाणम् इत्येतत् सम्प्रतिपन्नम् । ब्रह्मात्मवस्तु अजडबोधवपुः; अस्मिन् वाक्यजनिता अन्या अजडसंवित् कुतः ? (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—सर्वत्र जड़ पदार्थों पर ही अजड़प्रकाश उत्पन्न करते हुए चक्षुरादि, प्रमाण होते हैं यह निश्चित है। (किन्तु) ब्रह्मात्मवस्तु अजड़ बोधरूप है, अतः उस पर वाक्य-जनित कोई अन्य अजड़संवित क्यों (अपेक्षित होगी ?) ।।

भावितार्थ—घटादि जड़ पदार्थ अपने-आप प्रकाशित नहीं हो सकते, इसलिए चक्षुरादि प्रमाण घटादि का प्रकाश करने के लिए घटादि विषयक ज्ञान को जन्म देते हैं। वह ज्ञान स्वयंप्रकाश है। यद्यपि नैयायिकादि उसे स्वयंप्रकाश नहीं मानते, तथापि उन्हें भी अनवस्थादि के भय से स्वयंप्रकाश ही मानना होगा। उस स्वयंप्रकाश ज्ञान से घटादि प्रकाशित होते हैं। किन्तु ब्रह्मवस्तु तो स्वयंप्रकाश ज्ञानरूप ही हैं, उसे प्रकाशित करने के लिए अन्य स्वयंप्रकाश ज्ञान की अपेक्षा ही नहीं; जिसकी उत्पत्ति के लिए वेदान्तवाक्यरूप प्रमाण की आवश्यकता होती। अतः वेदान्तवाक्य ब्रह्म में कैसे प्रमाण हो सकते हैं, जबकि ब्रह्म पर प्रमाण-फल ही सम्भावित नहीं ।। १०७ ।।

स्वयंप्रकाश ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सभी प्रमाण प्रमावृत्तिरूप अस्वयंप्रकाश ज्ञान के ही उत्पादक होते हैं—यह मान लेने पर भी ब्रह्म-विषयक प्रमा-वृत्ति उत्पन्न करने के लिए वाक्य प्रमाण की अपेक्षा होती है। किन्तु 'तत्त्वमसि'—आदि वेदान्त-पद-समूह वाक्य नहीं कहला सकते—

किं च क्रियापदमपेक्ष्य पदानि वाक्य-
भावेन सम्यगिह संगतिमाप्नुवन्ति ।
नात्र क्रियापदमपेक्षितमामनन्ति
वाक्यं कुतो भवति वेदशिरस्तदानीम् ।। १०८ ।।

---

[1] इस सिद्धान्त को शैवाचार्यों ने कितने मनोरम शब्दों में व्यक्त किया है—
प्रकाशो नाम यश्चायं सर्वत्रैव हि प्रकाशते । अनपह्नवनीयत्वात् किं तस्मिन् मानकल्पनैः ।। (आत्मनयः)

योजना—किञ्च इह पदानि क्रियापदमपेक्ष्य वाक्यभावेन सम्यक् संगतिमाप्नुवन्ति । अत्र क्रियापदम् अपेक्षितं न आमनन्ति, तदानीं वेदशिरः कुतो वाक्यं भवति ? (व० छ०) ॥

योजितार्थ—दूसरी बात यह भी है कि लोक में कतिपय पद, क्रिया पद की अपेक्षा करके वाक्यरूप में आकर पारस्परिक अन्वय का लाभ किया करते हैं। (किन्तु) यहाँ (वेदान्त में) क्रियापद अपेक्षित ही नहीं कहा जाता, तब तो 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त-पदों के समूह वाक्य क्योंकर होंगे ?

भावितार्थ—क्रिया-कारक परस्पर सापेक्ष होनें के कारण कारक-पद क्रिया-पद से जुड़कर वाक्य-रूप में आते हैं। वह वाक्य किसी अर्थ में प्रमाण होता है—यह है लौकिक शब्द-मर्यादा। ब्रह्म-प्रमा को जन्म देनें के लिए 'तत्त्वमसि' को वाक्य का रूप देना होगा। किन्तु यह सम्भव नहीं, क्योंकि वेदान्तिगण 'तत्त्वमसि' के तीनों पदों का एक ही अखण्ड अर्थ मानते हैं, 'असि' पद पृथक् क्रिया-वाचक नहीं। फिर तो क्रिया पद के बिना 'तत्त्वमसि' यह वाक्य नहीं कहा जा सकता ॥ १०८ ॥

वाक्यभाव की प्राप्ति न करके भी पद-समूह किसी अर्थ का बोधक क्यों नहीं हो सकता ? इस शंका का समाधान है—

नापूर्वमर्थमुपलम्भयितुं पदानां
सामर्थ्यमस्ति परिहृत्य तु वाक्यभावम् ।
स्वार्थस्मृतिं हि जनयन्ति पदानि लोके
विज्ञातसंगतितया न तु कार्यमन्यत् ॥ १०९ ॥

योजना—वाक्यभावं परिहृत्य पदानाम् अपूर्वम् अर्थम् उपलम्भयितुं सामर्थ्यं न [1]तु अस्ति, लोके हि पदानि विज्ञातसंगतितया स्वार्थस्मृतिं जनयन्ति; न तु अन्यत् कार्यम् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—वाक्यभाव से वञ्चित पदों में किसी अपूर्व अर्थ के बोधन की शक्ति नहीं होती, क्योंकि वृद्ध-व्यवहार में ज्ञातसंगतिक पद स्वार्थ की स्मृतिमात्र उत्पन्न किया करते हैं, न कि कोई अन्य (अपूर्वानुभव) उनका कार्य होता है ॥

भावितार्थ—क्रियापद-रहित नाम पदों में आकांक्षादि का अभाव होने से वाक्यत्व नहीं रहता। वाक्यत्व के न होनें से उनमें अपूर्व (मानान्तरानधिगत) संसर्ग-बोधन की शक्ति नहीं मानी जाती। 'पूषा प्रपिष्टभागः'—आदि पद समूह में भी भागपद के सामर्थ्य से क्रिया-पद का अध्याहार करके ही बोधकत्व माना जाता है। क्यों शक्ति नहीं मानी जाती ? इसका उत्तर है—'स्वार्थेति।' आशय यह है कि 'देवदत्त ! दण्डेन गामानय' इस वाक्य से देवदत्तकर्तृक दण्डकरणक गोकर्मक आनयन प्रतीत होता है। वह आनयन प्रमाणान्तर से नहीं जाना जा सकता, क्योंकि वाक्यश्रवण-काल में वह आनयन होता नहीं, अतः प्रत्यक्षादि से उसका ग्रहण नहीं हो सकता। प्रत्येक पद से भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक पद का सामर्थ्य स्वार्थ-स्मरण मात्र में ही माना जाता है। वह आनयन पूर्व में उपस्थित नहीं था, अतः उसके साथ पद का संगतिग्रह नहीं हो

---

[1] तुरवधारणे नैवास्तीत्यर्थः ।

सकता। संगति-ग्रह के बिना पद उस अर्थ का बोधक नहीं हो सकता। इसलिए वाक्य-भाव में आकर ही पद वाक्यार्थ के बोधक हो सकते हैं, अन्यथा नहीं ॥ १०९ ॥

यदि उक्त वेदान्त-वाक्यों में वाक्यत्व बनता नहीं और प्रत्येक पद वाक्यार्थ का बोधक नहीं हो सकता, तब केवल वर्णों को ही वाक्यार्थ का बोधक क्यों न मान लिया जाय ? इस शङ्का का समाधान है—

हित्वा न वाक्यपदते प्रतिपत्तिहेतु-
र्वेदो भवेदिति कथंचन वक्तुमीशः ।
कश्चित्कदाचिदपि तत्र कुतः श्रुतीनां
प्रामाण्यमात्मनि भवेदिति वर्णयन्ति ॥ ११० ॥

योजना—वेदो वाक्यपदते हित्वा प्रतिपत्तिहेतुः भवेद् इति कश्चित् कदाचित् कथंचनापि न वक्तुमीशः। तत्र आत्मनि श्रुतीनां कुतः प्रामाण्यं भवेदिति वर्णयन्ति ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ– वेद वाक्यत्व तथा पदत्व को छोड़कर ही वाक्यार्थ-बोध का हेतु हो जाय, इस प्रकार कोई कभी कथंचिदपि नहीं कह सकता। वेदों में वाक्यत्वादि न मानने पर आत्मा में श्रुतियों का प्रामाण्य कैसे हो सकेगा ? ऐसा साम्प्रदायिक कहा करते हैं ॥

भावितार्थ—पद या वाक्य के रूप में न आकर वर्ण ही यदि वाक्यार्थ के प्रतिपादक मानें जाँय, तब 'जरा' 'राजा' आदि पदों का एक ही अर्थ होना चाहिये। किन्तु होता नहीं, अतः वर्ण अपने क्रम-विशेष से विशेष पदों का रूप धारण करते हैं, पद वाक्य का; तब कहीं वाक्यार्थ बोध होता है। यद्यपि वर्ण विभु तथा नित्य माने जाते हैं, तथापि अभिव्यक्ति-क्रम ही वर्णों का क्रम माना जा सकता है। अतः वैदिक वर्ण पद-वाक्य-रूप में आकर ही अर्थ-बोधक हो सकते हैं। वाक्य-रूपता का असम्भव दिखाया जा चुका है। इसलिए उक्त श्रुतियाँ आत्मा में प्रमाण नहीं हो सकतीं ॥ ११० ॥

ब्रह्म यदि मानान्तर-सिद्ध है, तब वेदान्तवाक्य अनुवादक मात्र ही ठहरते हैं। यदि ब्रह्म मानान्तर-सिद्ध नहीं, तब सदादि पदों का शक्ति-ग्रह उसमें कैसे सम्भव होगा ? इस प्रकार की उभयतः पाशा रज्जु दिखाते हैं—

किं च प्रमान्तरमिहाभ्युपयन्प्रतीचि
वेदान्तवाक्यमनुवादकमभ्युपेयात् ।
मानान्तरं यदि च नेच्छति शब्दशक्ते-
स्तत्र ग्रहः कथमिति प्रतिपादनीयम् ॥ १११ ॥

योजना—किंच इह प्रतीचि प्रमान्तरम् अभ्युपयन् वेदान्तवाक्यम् अनुवादकम् अभ्युपेयात्। यदि मानान्तरं नेच्छति, तत्र शब्दशक्तेः ग्रहः कथमिति प्रतिपादनीयम् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः)

योजितार्थ—दूसरी बात यह भी है कि प्रत्यगात्मा में प्रमाणान्तर माननेवाले को वेदान्त-वाक्य अनुवादक मानने पड़ेंगे। यदि (ब्रह्म में) प्रमाणान्तर नहीं मानते, तब उसमें सदादि शब्दों का शक्ति-ग्रह कैसे होगा ? यह बताना चाहिए।

भावितार्थ—वेदान्त-वाक्यस्थ सत्यादि पदों का शक्ति-ग्रह ही आत्मा में नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा प्रमाणान्तर से गृहीत नहीं। यदि है, तब तो वेदान्तवाक्य अनुवादकमात्र रह जाते हैं, प्रमाण नहीं हो सकते ॥ १११ ॥

अध्ययन-विधि से गृहीत होने के कारण समस्त वेद संप्रयोजन अर्थ का बोधक हैं; केवल अर्थमात्र का नहीं। प्रयोजन सदैव प्रवृत्ति और निवृत्ति से ही साध्य होता है। अतः प्रवृत्ति-निवृत्ति के अविषय भूत ब्रह्म मे वेदान्त कैसे प्रमाण होंगे ? यह दिखाते हैं—

किंच प्रवृत्तिविनिवृत्तिविहीनवस्तु
तत्त्वप्रतीतिजननान्न च किंचिदस्ति ।

पुंसः प्रयोजनमतोऽपि न तत्र मानं
वेदान्तवाक्यमिति युक्तिमदुच्यमानम् ॥ ११२ ॥

योजना—किं च प्रवृत्तिनिवृत्तिविहीनवस्तुतत्त्वप्रतीतिजनकात् पुंसः किञ्चित् प्रयोजनं नास्ति; अतोऽपि वेदान्तवाक्यं तत्र मानं न, इत्युच्यमानं युक्तिमत् ॥ (व० छ०)।

योजितार्थ—प्रवृत्ति-निवृत्ति से रहित केवल वस्तुतत्त्व के प्रतिपादन से पुरुष का कोई प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता; इसलिए भी वेदान्त-वाक्य ब्रह्म में प्रमाण नहीं—ऐसा कहना युक्ति-युक्त ही है।

भावितार्थ—कलञ्ज-भक्षणादि रूप हेय और अग्निहोत्रादि रूप उपादेय के ज्ञान से कलञ्ज-भक्षण से निवृत्ति और अग्निहोत्रादि में प्रवृत्ति के सम्भव होने से 'न कलञ्जं भक्षयेत्' (आप० श्रौ० सू०), 'अग्निहोत्रं जुहोति' (तै० सं १।५।९।१) आदि वाक्य सप्रयोजन अर्थ के बोधक होकर प्रमाण होते हैं। किन्तु आत्मवस्तु नित्य सिद्ध है, न हेय है और न उपादेय। अतः उसके ज्ञान से प्रवृत्ति-निवृत्ति सम्भव नहीं, फिर तो आत्मबोधक वाक्य सप्रयोजन अर्थ के बोधक न होने से प्रमाण कैसे होंगे ? ॥ ११२ ॥

अज्ञातार्थ-बोधक मान ही मेयगत अज्ञान का निवर्तक होने से प्रमाण माना जाता है; किन्तु स्वयंप्रकाश आत्मा में कथमपि अज्ञान सम्भावित नहीं, कि जिसका अपनय किसी प्रमाण से करना हो। इसलिए भी वेदान्तवाक्य आत्मा में प्रमाण नहीं—

अज्ञातमर्थमवबोधयतः प्रमायां
हेतुत्वमभ्युपगतं ननु वेदविद्भिः ।

अज्ञातता च परमात्मनि दुर्निरूपा
विज्ञानमात्रवपुषीति न मानकृत्यम् ॥ ११३ ॥

योजना—वेदविद्भिः अज्ञातमर्थम् अवबोधयतः (चक्षुरादेः) प्रमायां हेतुत्वम् अभ्युपगतं ननु। विज्ञानमात्रवपुषि परमात्मनि च अज्ञातता दुर्निरूपा इति मानकृत्यं न ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः)।

योजितार्थ—जैमिनि आदि वेदवेत्ताओं ने अज्ञातार्थ के बोधक (चक्षुरादि) में ही प्रमा की हेतुता (प्रमाणता) निश्चित रूप से मानी है। विज्ञानमात्र स्वरूप परमात्मा में अज्ञातता दुर्निरूपणीय है, अतः यहाँ प्रमाण का कोई प्रयोजन (अज्ञान-निवृत्ति) ही नहीं ॥

भावितार्थ—महर्षि जैमिनि ने कहा है—'अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणम्' (जै० सू० १।१।५) अर्थात् अज्ञात अर्थ के बोधक शब्दादि प्रमाण होते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि

अज्ञात अर्थ की अज्ञातता को दूर करना ही प्रमाण का मुख्य कार्य है। किन्तु स्वयंप्रकाश बोधरूप आत्मा अज्ञात नहीं हैं। अतः वहाँ प्रमाण का कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता, फिर वेदान्तवाक्यों को ब्रह्म में क्यों [1]प्रमाण माना जाय ? ॥ ११३ ॥

'अहमज्ञ'—इस अनुभव के आधार पर आत्मा में अज्ञातता सिद्ध क्यों नहीं होती ? इस शंका का निराकरण करते है—

बोधस्वभावकमबुद्धमनुष्णमुष्णं
शीतस्वभावकमशीतमितीदृशानि ।
कः श्रद्दधीत पुरुषो वचनानि तस्माद्
ब्रह्माप्रबुद्धमिति वाक्यमयुक्तमाहुः ॥ ११४ ॥

योजना—बोधस्वभावकम् अबुद्धम् अनुष्णम् उष्णम्, शीतस्वभावकम् अशीतम्—इतीदृशानि वचनानि कः श्रद्दधीत ? तस्मात् 'ब्रह्म अप्रबुद्धम्' इति वाक्यमयुक्तमाहुः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः)।

योजितार्थ—'ज्ञानात्मक वस्तु अज्ञात है', उष्ण (अग्नि) अनुष्ण है, 'शीतस्वरूप (जल) अशीत है—इस प्रकार के विरुद्धार्थक वचनों पर कौन विश्वास करेगा ? इसलिए 'बोधरूप ब्रह्म अज्ञात है'—इस वाक्य को अयुक्त ही कहा करते हैं।

भावितार्थ—स्वयंप्रकाश ज्ञानरूप आत्मा में अज्ञातता मानना सूर्य में अन्धकार मानने के समान नितान्त असंगत है तथा विरुद्ध है। अतः 'अहमज्ञः'—यह वाक्य वैसे ही अप्रमाण हैं, जैसे कि 'उष्णोऽनुष्णः' आदि वाक्य। उक्त वाक्य के आधार पर आत्मा में अज्ञातता कदापि सिद्ध नहीं हो सकती ॥ ११४ ॥

'अज्ञातं प्रमेयं भवति'—यहाँ अज्ञान को विशेषण माना जाता है ? या उपलक्षण ? या उपाधि ? प्रथम पक्ष मानने पर अज्ञान भी प्रमाण का प्रमेय हो जाता है। अतः उसकी प्रमाण से निवृत्ति न होगी। द्वितीय पक्ष में ज्ञात प्रमेय मानना होगा, क्योंकि वह भी तो प्रमाण-प्रवृत्ति के पहले अज्ञात ही था। तृतीय पक्ष भी सम्भव नहीं—यह दिखाते हैं—

उपाध्यभावे न भवेदुपाधिमत्
तटस्थमज्ञानमुपाधिरिष्यते ।
प्रमाणबुद्धेर्न तदात्मवस्तुनि
स्वयंप्रकाशे न ततोऽत्र मानधीः ॥ ११५ ॥

योजना—उपाध्यभावे उपाधिमत् न भवेत्। तटस्थम् अज्ञानं प्रमाणबुद्धेः उपाधिरिष्यते, तत् स्वयंप्रकाशे आत्मवस्तुनि न, ततोऽत्र मानधीः न ॥ (वंशस्थच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—उपाधि के न होने पर उपाधिमान् का भी अभाव होता है। तटस्थ अज्ञान ही प्रमाण-बुद्धि की उपाधि माना जाता है। वह (अज्ञान) स्वयंप्रकाश आत्म-वस्तु में है नहीं। इसलिए आत्मा में प्रमाण-बुद्धि भी नहीं हो सकती ॥

---

[1] वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य ने भी कहा है—

स्वयं ज्योतिः स्वभावत्वान्निरुद्धस्वान्तवासनः ।
प्रमान्तरनिरपेक्षोऽपि स्वयमात्मा प्रकाशते ॥ (सम्बन्धवा० ५४५)

भावितार्थ—औपाधिक धर्म का यह नियम है कि उपाधि के न रहने से औपाधिक नहीं रहता। जैसे श्रोत्रत्व की उपाधि है-कर्णशष्कुली। कर्णशष्कुली के न होने से सामान्य आकाश में श्रोत्रत्व नहीं रहता। वेदान्त-मत से आत्मा में कर्तृत्वादि की उपाधि अज्ञान है। अज्ञान के न रहने से विद्वान् में कर्तृत्वादि नहीं रहता। 'अज्ञाते वस्तुनि प्रमाण-बुद्धिर्भवति'—यहाँ पर भी प्रमाण-जन्य बुद्धि की उपाधि है—अज्ञान; क्योंकि वह तटस्थ है, प्रमाण-जन्य बुद्धि की विषयता से बाहर है। अज्ञानरूप उपाधि की असम्भावना स्वयंप्रकाश चैतन्य में दिखाई जा चकी है, अतः वहाँ प्रमाण-जन्य बुद्धि भी नहीं हो सकती, फिर तो ब्रह्म किसी प्रमाण का प्रमेय भी नहीं हो सकता॥ ११५॥

अद्वैत ब्रह्मवादियों से यह भी पूछना चाहिए कि वे प्रमाता, प्रमाणादि द्वैत को मानते हैं? या नहीं? मानने पर अद्वैत-व्याघात और न मानने पर प्रमेय-सिद्धि न होगी—

अद्वैतमात्मपदमाहुरनन्यमानं
द्वैतं प्रमाणमिह च प्रतिपादयन्ति।
वाक्ये निजे पदविरोधमनीक्षमाणाः
पाण्डित्यमप्रतिहतं प्रतिलभ्य धीराः॥ ११६॥

योजना—निजे वाक्ये पदविरोधम् अनीक्षमाणाः धीराः अप्रतिहतं पाण्डित्यं प्रतिलभ्य आत्मपदम् अनन्यमानम् अद्वैतम् आहुः। इह च द्वैतं प्रमाणं प्रतिपादयन्ति। (वसन्ततिलकाच्छन्दः)॥

योजितार्थ—अपने वाक्य में पद-विरोध को न देखनेवाले साहसी व्यक्ति अप्रतिहत पाण्डित्य पाकर आत्मा को अद्वैत तथा प्रमाणातीत कहते हैं और द्वैत प्रमाण दिखाते भी जाते हैं॥

भावितार्थ—अद्वैत आत्मा मानकर प्रमाणादि द्वैत मानना एवं आत्मा को प्रमाणातीत कह कर उसमें प्रमाण दिखाना अत्यन्त हास्यास्पद है॥ ११६॥

प्रमातृप्रमाणादि ब्रह्म से भिन्न नहीं, अपितु ब्रह्म के कार्य हैं, ब्रह्म से अभिन्न हैं—ऐसी शङ्का होने पर कहा है—

मातृप्रमाणमितिमेयविभागभिन्नं
ब्रह्मैव चेद्भवति तत्र च वर्णयामः।
कूटस्थतापहतिरेकरसत्वहानिः
शाक्यैश्च सन्धिरिति दूषणमन्यदत्र॥ ११७॥

योजना—चेद् ब्रह्मैव मातृप्रमाणमिति मेयविभागभिन्नं भवति, तत्र च वर्णयामः—कूटस्थतापहतिः, एकरसत्वहानिश्च। अत्र शाक्यैः सन्धिरिति अन्यद् दूषणम्॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः)

योजितार्थ—यदि ब्रह्म ही प्रमाता, प्रमाण, प्रमिति, प्रमेय आदि विभागों के रूप में आकर भिन्न हो जाता है—(यह माना जाय), तब वहाँ हम दोष दिखाते हैं—कूटस्थत्व-हानि और एकरसत्व-क्षति। तथा बौद्धों के साथ हाथ मिलाना—यह दूसरा भी दोष है॥

भावितार्थ—प्रमातादि रूप से ब्रह्म का परिणाम मानने पर श्रुति-सिद्ध ब्रह्मगत

कूटस्थता की हानि एवं प्रमातादि अनेक रूप में ब्रह्म का विभाग मानने पर ब्रह्म की एकरसता समाप्त हो जाती है। इन दो दोषों के अतिरिक्त एक तीसरा दोष भी अद्वैतवाद में आता है—सौगत-सन्धि। अर्थात् विज्ञानरूप ब्रह्म से अतिरिक्त बाह्य प्रपंच का अपलाप करने पर बौद्ध मत से कोई भी भेद नहीं रह जाता, क्योंकि विज्ञानवादी बौद्ध भी विज्ञान से भिन्न बाह्य प्रपंच नहीं मानते[1] ॥ ११७ ॥

यदि कहें कि प्रमातादि केवल अज्ञान-कल्पित अनिर्वचनीय माने जाते हैं, ब्रह्म के परिणाम नहीं, जिससे कूटस्थता और एकरसता की हानि हो, इस पर भी दोष देते हैं—

अज्ञानकल्पितमनिर्वचनीयमिष्टं
मात्रादिमानफलपर्यवसानमेतत् ।
इत्युच्यते यदि तदा परमात्मनोऽपि
मेयत्वतो भवति कल्पितताप्रसङ्गः ॥ ११८ ॥

योजना—एतत् मात्रादिमानफलपर्यवसानम् अज्ञानकल्पितम् अनिर्वचनीयमिष्टम्—इति यद्युच्यते, तदा मेयत्वतः परमात्मनोऽपि कल्पितताप्रसंगो भवति। (वसन्ततिलकाच्छंदः)

योजितार्थ—यह प्रमातादि मान-फल-पर्यन्त प्रपञ्च, अज्ञान-कल्पित अनिर्वचनीय माना जाता है—ऐसा यदि कहा जाय, तब तो प्रमेय होने के कारण परमात्मा में भी कल्पितत्वापत्ति होगी ॥

भावितार्थ—प्रमाता से लेकर मान-फल (प्रमिति) पर्यन्त समस्त प्रपञ्च ब्रह्म में अज्ञान-कल्पित अनिर्वचनीय माना जाता है परमार्थ नहीं—ऐसा कहने पर यद्यपि कूटस्थ और एकरसत्व की हानि नहीं होती और न बौद्ध-मत-प्रवेश ही होता है, क्योंकि बौद्ध-प्रपञ्च को असत् मानते हैं और हम असत् से विलक्षण एवं ब्रह्म को भी कूटस्थ विज्ञानरूप मानते हैं। तथापि ब्रह्म भी वेदान्त-प्रतिपाद्य होने से प्रमेय है, अतः वह भी कल्पित ही मानना पड़ेगा। फिर तो विज्ञानवाद से बढ़कर शून्यवाद का प्रसङ्ग होता है ॥ ११८ ॥

ब्रह्म को प्रमेय मानने पर अवश्य कल्पित मानना पड़ेगा। किन्तु हम उसे प्रमेय नहीं मानते, जैसा कि श्रुति कहती है—"अप्रमेयं ध्रुवम्" (बृह० ४।४।२०)। इस आशङ्का का भी प्रतीकार करते हैं—

ब्रह्म प्रमेयमथ नेष्टमिह प्रमाणं
वेदान्तवाक्यमिति पक्षपराहतिर्वः ।
न ह्यप्रमेयमवबोधयदस्ति मानं
नादाह्यदाहक इति प्रथितः कृशानुः ॥ ११९ ॥

योजना—अथ ब्रह्म प्रमेयं नेष्टम् वेदान्तवाक्यम् प्रमाणमिति वः पक्षपराहतिः।

---

[1] विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में वसुबन्धु ने कहा है—

आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रदर्श्यंते ।
विज्ञानपरिणामोऽसौ परिणामः स च त्रिधा ॥ (त्रिंशि० १)

अर्थात् आत्मा (जीव) तथा धर्म (अनात्म पदार्थ) का विविध उपचार (अध्यास) जो देखा जाता है, वह सब विज्ञान का ही परिणाम है। वह परिणाम तीन प्रकार का होता है।

हि अप्रमेयम् अवबोधयत् मानं नास्ति। अदाह्यदाहकः कृशानुरिति न प्रथितः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—यदि ब्रह्म प्रमेय नहीं माना जाता (तब) 'वेदान्तवाक्य प्रमाण है'—यह आपका सिद्धान्त भंग हो जाता है। क्योंकि अप्रमेय के अवबोधक वैसे ही प्रमाण (नहीं होता,) जैसे कि अदाह्य का दाहक अग्नि (नहीं होती) ॥

भावितार्थ—अप्रमेय ब्रह्म में वेदान्त-वाक्य प्रमाण हैं, यह कहना वैसा ही विरुद्ध है, जैसा कि अदाह्य (गगन) का दाहक अग्नि है–ऐसा कहना। जैसे अग्नि, किसी दाह्य वस्तु का ही दहन कर सकती है, वैसे ही प्रमाण भी किसी प्रमेय का ही प्रमापक हो सकता है, अप्रमेय का नहीं। अतः ब्रह्म यदि अप्रमेय है, तब उसमें प्रमाणोपन्यास सम्भव नहीं ॥ ११९ ॥

गत (११८ वें) श्लोक में 'जो प्रमातादि को अनिर्वचनीय (सदसद्विलक्षण) बताया, उसके अनिर्वचनीयत्व का खण्डन करते हैं –

किंचाप्रसिद्धमिदमत्र जगत्त्रयेऽपि
स्वाज्ञानकल्पितमनिर्वचनीयमेकम् ।
निःशेषतीर्थदृगुदीरिततन्त्रमार्गे
सिद्धे यतः सदसती सकलेऽपि तन्त्रे ॥ १२० ॥

योजना—किञ्च अत्र जगत्त्रयेऽपि इदमप्रसिद्धम् स्वाज्ञानकल्पितम् अनिर्वचनीयम् एकम् (अपि वस्तु) यतः निःशेषतीर्थदृगुदीरिततंत्रमार्गे सकलेऽपि तंत्रे सदसती प्रसिद्धे ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः)

योजितार्थ—इस त्रिलोकी में यह बात अत्यन्त अप्रसिद्ध है कि कोई भी वस्तु स्वाज्ञान-कल्पित अनिर्वचनीय (सदसद्विलक्षण) है; क्योंकि निखिलशास्त्रकार-प्रणीत सकल दर्शनों में सत् तथा असत् दो ही भेद प्रसिद्ध हैं, (सदसद्विलक्षण नहीं) ॥

भावितार्थ—प्रत्येक दार्शनिक अपना सिद्धान्त स्थिर करते समय लोक-दृष्टि का अपलाप नहीं किया करता। जब कि समस्त लोक में पदार्थ के सत् तथा असत् दो ही भेद प्रसिद्ध है; तब वेदान्तिगण एक तीसरा सदसद्विलक्षण (अनिर्वचनीय) पदार्थ कहाँ से लाते हैं ? जो सत् नहीं, वह असत् और जो असत् नहीं, वह सत् होता है। तृतीय कोटि सर्वथा अप्रसिद्ध, अमान्य है। अतः प्रमातादि-विभाग अनिर्वचनीय नहीं कहा जा सकता, किन्तु सत् ही है। इस रूप से ब्रह्म का परिणाम मानने पर उक्त कूटस्थत्व-भंग होगा ही ॥

यह जो कहा गया कि यह द्वैत-प्रपञ्च, अज्ञान-कल्पित है। वह भी असंगत है—

अज्ञानमप्यसदभावतया प्रसिद्धे-
द्वैतप्रसूतिकृदतो न तदभ्युपेयम् ।
नासत्कदाचिदपि सज्जनने समर्थं
बन्ध्यासुता न खलु पुत्रशतं प्रसूते ॥ १२१ ॥

योजना—अज्ञानमपि असद्, अभावतया प्रसिद्धः। अतः तत् द्वैतप्रसूतिकृत् नाभ्युपेयम्। असत् कदाचिदपि सज्जनने समर्थं न; बन्ध्यासुता पुत्रशतं न खलु प्रसूते (व० छ०)

योजितार्थ—अज्ञान भी असत् (पदार्थ) है; क्योंकि वह अभाव (न ज्ञानम्-अज्ञा-

नम्) रूप से प्रसिद्ध है । अतः उस (अज्ञान) को द्वैत का जनक नहीं मानना चाहिए; क्योंकि असत् पदार्थ कभी भी सत् पदार्थ को जन्म देने में समर्थ नहीं होता; बन्ध्यासुता सौ पुत्रों को कभी जन्म नहीं देती ।।

भावितार्थ – 'न ज्ञानम्-अज्ञानम्'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार अज्ञान नाम होता है ज्ञानाभाव का । ज्ञानाभाव एक असत् पदार्थ है, सत् नहीं; क्योंकि उसमें 'सत्ता' जाति नहीं रहती । असत् अज्ञान सद्रूपद्वैत का उपादान कदापि नहीं हो सकता ।। १२१ ।।

शब्द का सहज स्वभाव है–परोक्ष-बोधकत्व । अपरोक्ष ब्रह्म में वह प्रमाण नहीं—

वाक्यप्रसूतमतिरिन्द्रियजन्यधीवत्
नार्थापरोक्ष्यजननी भवितुं समर्था ।
तेनास्तु वाक्यजनितात्मपरोक्षबुद्धि-
र्भ्रान्तिः सदाऽजडतयाऽनुभवेऽपरोक्षे ॥ १२२ ॥

योजना—वाक्यप्रसूतमतिः इन्द्रियजन्मधीवत् आपरोक्ष्यजननी भवितुं समर्था न । तेन सदा अजडतया अपरोक्षेऽनुभवे वाक्यजनितात्मपरोक्षबुद्धिः भ्रान्तिः अस्तु (व० छ०) ।

योजितार्थ—वाक्य-जन्य बुद्धि, इन्द्रिय-जन्य बुद्धि के समान अपरोक्षता की जननी नहीं हो सकती । इसलिए सदा प्रकाशमान अपरोक्षानुभवरूप आत्मा में वाक्यजनित परोक्ष बुद्धि को भ्रान्ति ही मानना होगा ।।

भावितार्थ—जिज्ञासा होती है कि वेदान्त-वाक्य ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करते हैं ? या परोक्ष ? प्रथम पक्ष का खण्डन करने के लिए कहा–'इन्द्रियेति ।' जैसे इन्द्रिय-जन्य ज्ञान विषयगत अपरोक्षता का उत्पादक होता है, वैसे वाक्य-जन्य ज्ञान नहीं हो सकता । अतः द्वितीय पक्ष शेष रहता है–यह कहते हैं–'तेनेति ।' इस पक्ष में दोष दिखाते हैं–'भ्रान्तिरिति ।' सदा अपरोक्ष ब्रह्म को परोक्ष बताने वाले वाक्यज ज्ञान को भ्रान्ति ही कहना होगा । अतः भ्रान्ति-जनक वेदान्तवाक्य ब्रह्म में प्रमाण नहीं ही सकते ।। १२२ ।।

'ब्रह्मरूप अपरोक्ष वस्तु के अनुरोध से वेदान्तवाक्य ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान क्यों न उत्पन्न करेंगे ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

नित्यापरोक्षमपि वस्तु परोक्षरूपं
वेदान्तवाक्यमवबोधयति स्वभावात् ।
प्रामाण्यमत्र कथमस्य वदोपपन्नं
न ह्यन्यदन्यदिति बोधयतः प्रमात्वम् ॥ १२३ ॥

योजना—वेदान्त-वाक्यं स्वभावात् नित्यापरोक्षम् वस्तु अपि परोक्षरूपम् अवबोधयति । वद अस्य अत्र कथं प्रामाण्यमुपपन्नम् ? हि अन्यद् अन्यद् बोधयतः प्रमात्वं न ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।

योजितार्थ—वेदान्तवाक्य स्वभावतः नित्यापरोक्ष वस्तु का भी परोक्ष-बोधन करता है फिर बताइए कि इस (वेदान्तवाक्य) का यहाँ (ब्रह्म में) कैसे प्रामाण्य उपपन्न होगा ? क्योंकि कुछ को कुछ बतानेवाला प्रमाण नहीं होता ।।

भावितार्थ—घटादि-गोचर लौकिक शब्द एवं अग्निहोत्रादि-गोचर वैदिक शब्द परोक्ष ज्ञान ही उत्पन्न करता है । अतः शब्द का परोक्ष ज्ञान-जनकत्व स्वभाव निश्चित

होता हैं। फिर नित्यापरोक्ष आत्मा का वेदान्तवाक्य परोक्ष ज्ञान ही उत्पन्न करेंगे। अपरोक्ष को परोक्ष बतानेवाला प्रमाण कैसे कहा जायेगा ? ॥ १२३ ॥

'दशमस्त्वमसि' के समान वेदान्तवाक्य अपरोक्ष ज्ञान के जनक क्यों न माने जाँय ? इस शंका का समाधान करने के लिए दृष्टान्त की असिद्धि दिखाते हैं—

वस्त्वस्तु नित्यमपरोक्षमिदं तु वाक्यं
तद्वस्तु वक्तुमपरोक्षमशक्तमेव ।
न ह्यस्ति शब्दजनिताऽत्र जगत्त्रयेऽपि
बुद्धिः करोति खलु या विषयापरोक्ष्यम् ॥ १२४ ॥

योजना—वस्तु नित्यमपरोक्षम् अस्तु, इदं वाक्यं तु तद्वस्तु अपरोक्षं वक्तुम् अशक्तमेव। अत्र जगत्त्रयेऽपि शब्द जनिता (सा) बुद्धिः नास्ति, या खलु विषयापरोक्ष्यं करोति॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—आत्मवस्तु भले ही नित्यापरोक्ष रहे, यह वाक्य तो उस वस्तु को अपरोक्ष बताने में अशक्त ही है। इस त्रिलोकी में भी शब्द-जन्य कोई ऐसी बुद्धि नहीं हैं, जो विषयगत अपरोक्षता बताती हो ॥

भावितार्थ—'दशमस्त्वमसि यह वाक्य भी परोक्ष ज्ञान का ही उत्पादक है, अपरोक्ष का नहीं। हाँ, वहाँ भ्रान्ति की निवृत्ति इन्द्रिय-जन्य अपरोक्ष ज्ञान से ही हुआ करती है। अतः लोक में कोई ऐसा शब्द दृष्टान्त नहीं कि जिसके आधार पर वेदान्तवाक्य में अपरोक्षज्ञान-जनकता सिद्ध की जाय ॥ १२४ ॥

गत (१०७ वें) पद्य में जो कहा गया कि स्वयंप्रकाश ब्रह्म में प्रमाण-प्रयोजन ही नहीं। वहाँ प्रयोजन की शंका की जाती है —

अत्राऽऽह यद्यपि किमप्युपनेयमत्र
चैतन्यवस्तुनि न सम्भवति प्रमाणैः ।
अस्त्येव तत्र [1]भवभीतिनिदानभूत-
मज्ञानमात्रमपनेयमनन्यमाने ॥ १२५ ॥

योजना—अत्राह—यद्यपि अत्र चैतन्यवस्तुनि प्रमाणैः किमपि उपनेयं न सम्भवति। (तथापि) तत्र अनन्यमाने भवभीतिनिदानभूतम् अज्ञानम् अपनेयम् अस्त्येव ॥ (व० छ०)

योजितार्थ—कोई शंका करता है कि यद्यपि इस चैतन्य वस्तु में प्रमाणों के द्वारा कुछ आधेय नहीं, (तथापि) उस स्वयंभात चेतन से संसार-भय का कारण-अज्ञान अपनेतव्य अवश्य है ॥

भावितार्थ—यद्यपि स्वयंप्रकाश वस्तु पर प्रमाणों के द्वारा कोई अन्य प्रकाश उत्पन्न नहीं किया जा सकता, तथापि संसार-भय के एकमात्र कारण अज्ञान का आत्मा से हटाना अवश्य प्रमाणों का काम है। अतः प्रमाण निष्प्रयोजन नहीं, अपितु सफल हैं ॥ १२५ ॥

उक्त शंका का निराकरण करते हैं—

---

[1] 'भवतीति' इति पाठान्तरम्।

नैतत्प्रमाणमपनेतृ सतो न तावत्
नैतन्नियोज्यमसतोऽप्युपघातसिद्ध्यै ।
नाप्यन्यदस्ति सदसद्यदनेन हेयं
तस्मात्प्रमाणमपनेतृ न कस्यचिद्वः ॥ १२६ ॥

योजना—नैतत्, प्रमाणं तावत् सतो नापनेतृ । असतोऽपि उपघातसिद्ध्यै एतत् नियोज्यं न । नापि अन्यत् सदसत्, यद् अनेन हेयम् । तस्मात् वः प्रमाणम् कस्यचिद् अपनेतृ न ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—उक्त आशंका उचित नहीं (क्योंकि) उक्त प्रमाण सत् (अज्ञात) का निवर्तक नहीं हो सकता, असत् (अज्ञान) की निवृत्ति के लिए भी वह प्रमाण नियोज्य नहीं । और न अन्य कोई सदसत् (अज्ञान) है, जो इस प्रमाण से अपनेय होता । इसलिए आपका प्रमाण किसी पदार्थ का निवर्तक नहीं ॥

भावितार्थ—आप (वेदान्ती) अपने प्रमाण से निवर्तनीय अज्ञान को सत् मानते हैं ? या असत् ? या सदसत् ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं, क्योंकि सत् की निवृत्ति नहीं हो सकती । द्वितीय पक्ष भी असंगत है, क्योंकि असत् की भी निवृत्ति सम्भव नहीं । तृतीय पक्ष तो सदसत् वस्तु के प्रसिद्ध न होने से ही खण्डित हो जाता है । अतः आपका प्रमाण किसी वस्तु का निवर्तक सिद्ध नहीं हो सकता ॥ १२६ ॥

अकारक होने के कारण भी प्रमाण अज्ञान का निवर्तक नहीं हो सकता—

मानं न कारकमिति प्रथितं पृथिव्यां
स्याच्चेत्क्रियावदिदमुज्झितमानभावम् ।
जन्यं न मानफलमित्यपि युष्मदीयाः
संविद्रते न खलु जातु चिदक्षरेऽस्मिन् ॥ १२७ ॥

योजना—मानं कारकं नेति पृथिव्यां प्रथितम् । चेत् स्यात्, क्रियावत् मानभावम् उज्झति । मानफलं जन्यं नेत्यपि युष्मदीयाः संविद्रते[1] । अस्मिन् चिदक्षरे खलु न जात (मानफलम्) ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः)

योजितार्थ—कोई भी प्रमाण उत्पादक नहीं होता—यह लोक में प्रसिद्ध है । यदि (वह उत्पादक) हो, तब क्रिया के समान ही प्रमाणभाव से वञ्चित रहेगा । प्रमाण का फल (कहीं भी) जन्य नहीं होता—यह भी आपके वेदान्तिगण भली भाँति जानते हैं । इस चिदात्मा में तो किसी प्रकार भी प्रमाण-फल नहीं हो सकता ॥

भावितार्थ—अजड़ अजन्य चैतन्यानुभव की अभिव्यक्ति ही सर्वत्र प्रमाण का फल मानी जाती है, क्योंकि चैतन्यानुभव ही अज्ञात (अज्ञान का विषय) होता है । और प्रमाण को अज्ञात-ज्ञापक ही माना जाता है, अनुत्पन्न का उत्पादक[2] नहीं । प्रमाण को

---

[1] १. "वेत्तेर्विभाषा" (पा० सू० ७।१।७) इस सूत्र के अनुसार 'विद' ज्ञाने, धातु से आदेश अत् को रुडागम होकर यह संविद्रते शब्द बनता है ।

[2] २. वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य ने भी कहा है—
"सिद्धस्य व्यञ्जकं मानं न मानं कारकं भवेत् ।" (बृह० वा० सम्बन्धवा० १०३३)

यदि अपनेता माना जायगा, तब वह अग्निहोत्रादि क्रिया के समान प्रमाणत्व-रहित हो जायगा। घट-पटादि पर भी प्रमाण, ज्ञान का जनक नहीं माना जाता, अपितु नित्यज्ञान का अभिव्यञ्जकमात्र। फिर भला चिदात्मा में प्रमाण का जन्य फल कैसे होगा?।१२७।

अज्ञान अनिर्वचनीय माना जाता है। उसकी निवृत्ति करने से प्रमाण में कारकत्वापत्ति नहीं होती, क्योंकि उक्त अज्ञान की निवृत्ति नित्य चैतन्य स्वरूप है, अतः अज्ञान-निवृत्ति के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति में प्रमाण पर्यवसित होता है, इस शङ्का को दूर करते हैं—

नाद्यापि वेद्म्यहमनिर्वचनीयभाषां
सर्वप्रवादिहृदयान्यपि गाहमानः।
तात्पर्यतो न च तथाविधमस्ति किञ्चित्
लोके प्रसिद्धमपि यद्विषयेयमिष्टा ॥ १२८ ॥

योजना—सर्वप्रवादिहृदयानि तात्पर्यतः गाहमानोऽपि अहम् अद्यापि अनिर्वचनीयभाषां न वेद्मि। तथाविधं किञ्चित् नास्ति, यद्विषया इयम् इष्टा ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—समस्त दर्शनों का हृदय भली भाँति टटोल लेने पर भी मैं आज तक इस अनिर्वचनीय-भाषा को न समझ सका। वैसा कोई पदार्थ (लोक में) प्रसिद्ध नहीं, जिस पदार्थ का प्रतिपादन यह (अनिवर्चनीय भाषा) करती ।।

भावितार्थ—सर्वतान्त्रिकों के विविध मतों का तात्पर्य सम्यक् अवगाहन कर लेने पर भी अभी तक मैं वेदान्तियों की यह अनिर्वचनीय भाषा न समझ पाया। एवं लोक में भी कोई ऐसा निराला (सदसत् से भिन्न) पदार्थ उपलब्ध नहीं होता, जिसे अनिर्वचनीय शब्द से कहा जाय ।। १२८ ।।

इस प्रकार सापेक्षत्व, फलापर्यवसायित्व, प्रमाणफलासंभावनादि दोषों के कारण वेदान्त-वाक्य ब्रह्म में प्रमाण नहीं—इस पक्ष का उपसंहार करते हैं—

तस्मात्प्रमाणफलमत्र निरूप्यमाणं
ब्रह्मात्मवस्तुनि न सम्भवतीह किञ्चित्।
कृत्यं विना न च निरूपयितुं प्रमाणं
वेदान्तवाक्यमिह शक्यमनर्थकत्वात् ॥ १२९ ॥

योजना—तस्माद् अत्र निरूप्यमाणं किञ्चिदपि ब्रह्मात्मवस्तुनि प्रमाणफलं न सम्भवति। कृत्यं विना वेदान्तवाक्यं प्रमाणं निरूपयितुं न च शक्यम्, अनर्थकत्वात् (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इसलिए इस ब्रह्मात्मवस्तु में (ज्ञान तथा अविद्यानिवृत्ति में कोई भी निरूप्यमाण) प्रमाण-फल नहीं हो सकता। फल के बिना वेदान्तवाक्यरूप प्रमाण का निरूपण नहीं हो सकता, क्योंकि वह व्यर्थ है ॥

भावितार्थ—उक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया कि ब्रह्म में ज्ञान की उत्पत्ति या अज्ञान-निवृत्ति—इन दोनों में कोई भी प्रमाण का प्रयोजन न बन सका। निष्प्रयोजन प्रमाणों का उपन्यास व्यर्थ है। अतः वेदान्त वाक्यों का समन्वय (प्रामाण्य) ब्रह्म में है—यह कहना सर्वथा असम्भव है ॥ १२९ ॥

समस्त वेद कार्य-परक हैं, इसलिए भी वेदान्त-वाक्य सिद्धरूप ब्रह्म के प्रमाण नहीं—

कार्यान्वयान्वयिनि वस्तुनि शब्दशक्तिं
श्रोतुः प्रवर्त्तकधियं परिकल्प्य बालः ।
चेष्टावशात् पुनरपि प्रविभज्य भागं
भागस्य वाचकमिति स्वयमेव वेत्ति ॥ १३० ॥

योजना— बालः श्रोतुः चेष्टावशात् प्रवर्तकधियं परिकल्प्य कार्यान्वयान्वयिनि वस्तुनि शब्दशक्तिं (वेत्ति) पुनरपि प्रविभज्य भागं भागस्य वाचकमिति स्वयमेव वेत्ति ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—बालक श्रोता (मध्यम वृद्ध) की चेष्टा (प्रवृत्ति-निवृत्ति) के द्वारा उसके प्रवर्तक ज्ञान का अनुमान करके कार्यान्वयान्वयी पदार्थ में पूरे वाक्य की शक्ति का (निश्चय करता है)। पुनः (विभिन्न प्रवृत्तियाँ देखकर) वाक्य का उचित विभाग करके अमुक भाग अमुक अर्थ का वाचक है, ऐसा स्वयं ही समझ लेता है ॥

भावितार्थ— शब्द-सामर्थ्य के वेत्ता पुरुषों के आदान-प्रदान व्यवहार को देखकर ही एक अनभिज्ञ बालक शब्दन्सामर्थ्य का निश्चय करता है। प्रथम वह बालक आज्ञा देने वाले पुरुष का 'गामानय' वाक्य सुनता है और देखता है कि आज्ञाकारी श्रोता पुरुष गौ ले आता है। गौ लाने में श्रोता की प्रवृत्ति देखकर उसके प्रवर्तक ज्ञान का अनुमान (विमता प्रवृत्तिः एतत्कार्यज्ञानपूर्विका प्रवृत्तित्वात् मदीयप्रवृत्तिवत्) कर लेता है। श्रोता को गवानयनरूप कार्य का ज्ञान किस कारण से हुआ ? इस प्रकार कारण की चिन्ता में वक्ता के उस (गामानय) शब्द को ही अन्वय-व्यतिरेक से कारण ठहराता है। कोई भी शब्द उसी पदार्थ के ज्ञान का जनक होता है, जिस पदार्थ में उसका सामर्थ्य होता है। अतः प्रथमतः वह बालक यही निश्चिय करता है कि 'गामानय'—इस पूरे वाक्य का सामर्थ्य गवानयनरूप कार्य में है। पुनः 'गां नय', 'अश्वमानय' आदि विविध आज्ञाओं को सुन और आज्ञाकारी की गोनयन, अश्वानयनरूप विविध प्रवृत्तियों को देखकर उक्त वाक्य का उचित विभाग करके प्रत्येक वाक्य के भागरूप 'गाम्' आदि पदों का सामर्थ्य आनयनान्वित गवादिरूप अर्थ में करता जाता है। आनयन रूप कार्य यद्यपि कार्यान्तर से अन्वित नहीं, फिर भी उसमें 'आनयन' पद का शक्ति-ग्रह कर लेता है। प्रत्येक शब्द का सामर्थ्य कार्य के अन्वय (सम्बन्ध) से अन्वयी (सम्बद्ध) अर्थ में होता है। 'आनयन + सम्बन्ध + गो'—यहाँ मध्यपाती सम्बन्ध से दोनों (आनयन तथा गो) जुड़े हुए हैं, अतः दोनों को कार्यान्वयान्वयी कहा जा सकता है। उन दोनों में उक्त दोनों पदों का सामर्थ्य निश्चित होता है ॥ १३० ॥

कार्यान्वयान्वयी की अपेक्षा लघुभूत अन्वित में शक्ति मानना उचित है—

त्यक्तः कार्यान्वितार्थं वदितुमलमयं शब्द इत्येष पक्षो
नोक्तो योग्येतरार्थान्वितमिति तु पुनः पूर्वमप्येष पक्षः ।
किन्तु स्यादस्य शक्तिर्निजसहजवशादन्वितार्थाभिधाने
योग्यत्वादेस्तु पश्चात् स्वयमुपनिपतत्यस्य[1] कार्यैदमर्थ्यम् ॥१३१॥

---

१. 'निपतेदस्य' इति पाठान्तरम् ।

योजना—'अयं शब्दः कार्यान्वितार्थं वदितुमलम्' इत्येष पक्षः त्यक्तः । 'योग्येतरार्थान्वितम्' इत्येष पक्षस्तु पुनः पूर्वमपि नोक्तः । किन्तु निजसहजवशाद् अस्य अन्वितार्थाभिधाने शक्तिः । पश्चाद् योग्यत्वादेः (वशात्) अस्य कार्यैदमर्थ्यं स्वयम् उपनिपतति ।। (स्रग्धराच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—'यह शब्द कार्यान्वित अर्थ को कहने में समर्थ है'—इस पक्ष को छोड़ दिया । 'योग्य इतरार्थ से अन्वित (स्वार्थ को शब्द कहते हैं')—यह पक्ष तो पहले भी नहीं कहा गया । किन्तु अपने सहज-स्वभाव-वश इस (शब्द) की केवल अन्वितार्थ के शभिधान में शक्ति (मानन उचित है) । पश्चात् योग्यतादि के आधार पर इस (शब्द) में कार्यार्थ-परता स्वयं आ जाती है ।।

भावितार्थ—पूर्व कथित (कार्यान्वयान्वयी अर्थ में शक्ति) पक्ष गौरव-ग्रस्त होने के कारण त्याज्य है । 'योग्य इतरार्थ से अन्वित स्वार्थ में शक्ति'—यह पक्ष तो इतना सदोष है कि इसका पहले भी ग्रहण नहीं किया गया । किन्तु केवल अन्वित अर्थ में ही शब्द का सामर्थ्य मानना युक्ति-युक्त है, क्योंकि सहज स्वभावतः शब्द का इसी (अन्वित) अर्थ के अभिधान में तात्पर्य निश्चित होता है । हाँ, एक सिद्ध से अन्वित अन्य सिद्ध अर्थ में शक्ति की आपत्ति नहीं होती, क्योंकि योग्यतादि नियामक होते हैं । सिद्ध में सिद्धान्वय की योग्यता ही नहीं होती, अपितु कार्य तथा सिद्ध अर्थ का अन्वय ही योग्य माना जाता है । अतः शब्द में कार्यपरता अर्थात् स्थिर हो जाती है ।। १३१ ।।

वह कार्य पदार्थ क्या है, जिसमें समस्त वेद का तात्पर्य माना जाता है ? इस आकांक्षा को शान्त करते हैं—

प्रवृत्त्यभावस्य विरोधि कार्यं
कालत्रयानन्वितमाहुरेके ।
स्वगोचरस्येप्सितसाधनत्वं
विज्ञापयत् प्रेरकमाहुरन्ये ।। १३२ ।।

योजना—एके कालत्रयानन्वितं प्रवृत्त्यभावस्य विरोधि कार्यम् आहुः । अन्ये स्वगोचरस्येप्सितसाधनत्वं विज्ञापयत् प्रेरकं (कार्यम्) आहुः ।। (उपजातिच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—गुरुमत के कतिपय आचार्य त्रिकालासम्बन्धी जो उदासीनता (प्रवृत्त्यभाव) का विरोधी पदार्थ (नियोग) है, उसे कार्य कहते हैं । दूसरे आचार्य जो अपने विषयीभूत (यागादि) पदार्थों में इष्ट-साधनता का ज्ञापक होकर प्रेरक हो, उसे कार्य कहते हैं ।।

भावितार्थ—'प्रवृत्त्यभावविरोधित्वे सति कालान्विततयाऽप्रतीयमानत्वम्'—यह कार्य का लक्षण गुरुमत के एकदेशी आचार्य करते हैं । घटादि पदार्थों से अतिव्याप्ति हटाने के लिए प्रथम दल (प्रवृत्त्यभावविरोधित्वम्) और लट् आदि प्रत्ययों के कृति आदि अर्थों से अतिव्याप्ति निवृत्त करने के लिए द्वितीय दल है । लट्-आदि प्रत्ययार्थ सदा वर्तमानादिकाल से अन्वित ही प्रतीत होते हैं । किन्तु लिङ् का अर्थ (नियोग) स्वरूपतः भविष्यत् काल-सम्बन्धी होने पर भी किसी काल से अन्वित होकर प्रतीत नहीं होता और प्रवृत्त्यभाव (उदासीनभाव) का विरोधी भी है, अतः नियोग में उक्त लक्षण घट जाता है ।

गुरु-मत के अन्य आचार्य कार्य का लक्षण करते हैं—'स्वविषयनिष्ठेष्टसाधनत्वज्ञा-

पकत्वे सति प्रेरकत्वम्' । लिङर्थ नियोग (कार्य) अपने विषयीभूत यागादि धात्वर्थ में इष्ट-साधनत्व का ज्ञापक तथा अधिकारी का प्रेरक है; अतः उसमें लक्षण समन्वित हो जाता है । रागादि (प्रवर्तक) पदार्थों से अतिप्रसङ्ग हटाने के लिए प्रथम दल तथा इष्ट-साधनत्वबोधक प्रमाण से अतिव्याप्ति हटाने के लिए द्वितीय दल है । यह कार्य धात्वर्थ-रूप कार्य से भिन्न है, क्योंकि काम्यमान स्वर्ग-साधन को ही स्वर्ग-कामी अपना मुख्य कार्य समझता है। धात्वर्थ (यागादि) स्वर्ग-साधन बन नहीं सकता, वह स्वर्गोत्पत्ति से बहुत पूर्व ही नष्ट हो चुकता है । अतः यह कार्य (नियोग) ही स्वर्ग का साधन है । लिङादि प्रत्यय-प्रतिपाद्य कार्य में दो (कस्य कार्यम् ? किं विषयम् ?) आकांक्षाएँ होती हैं । अर्थात् उस कार्य का आश्रय कौन है ? एवं विषय क्या है ? इस प्रकार किसी भी कार्य के दो मुख्य (आश्रय और विषय) निरूपक हुआ करते हैं, अतः उन दोनों की अपेक्षा यहाँ भी होती है । स्वर्गकामनावान् पुरुष उक्त कार्य को अपना कृति-साध्य मानता है, इसलिए वही (स्वर्गकामनावान्) नियोज्य है, नियोग (कार्य) का आश्रय होता है । उसकी कृति, यागादि धात्वर्थ की सिद्धि के द्वारा ही नियोग को सिद्ध किया करती है, अतः यागादि ही उक्त कार्य के विषय माने जाते हैं । तदुभय-विशिष्ट कार्य (नियोग) 'स्वर्ग-कामो यजेत्'—इस वाक्य का अर्थ होता है । फलतः कार्य (नियोग) स्वयं कृति-साध्य बनने के लिए अपने विषयभूत यागादि में कृति-साध्यता का आक्षेपक (ज्ञापक) माना जाता है । अतः यह कार्य अपने विषय में अपने नियोज्य का प्रवर्तक भी हो जाता है ॥ १३२ ॥

कार्य के दो तटस्थ लक्षण करके स्वरूप लक्षण करते हैं—

या नान्यमुद्दिश्य कृतिः प्रवृत्ता
तयैव यद्व्याप्यतया प्रतीतम् ।
तदेव कार्यं कथयन्ति केचित्
विचक्षणाः कार्यनिरूपणायाम् ॥ १३३ ॥

योजना—या कृतिः अन्यमुद्दिश्य न प्रवृत्ता, तयैव यद् व्याप्यतया प्रतीतम्; तदेव कार्यम् (इति) केचित् कार्यनिरूपणायां विचक्षणाः कथयन्ति ॥ (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ— जो कृति अन्य के उद्देश्य से प्रवृत्त न हो, उसका जो व्याप्य (साध्य) प्रतीत हो; वही कार्य है—ऐसा कतिपय कार्यनिरूपण में दक्ष विद्वान् कहते हैं ॥

भावितार्थ—कुछ प्राभाकराचार्यों का कहना है कि स्वर्गादि-जनक नियोग (कार्य) ही साक्षात् कृति-साध्य होता है । उसके सिद्ध हो जाने पर स्वर्गादिफल अपने-आप प्राप्त हो जाते हैं । अतः उक्त नियोग के उद्देश्य से ही पुरुष की कृति (यत्न) प्रवृत्त हुआ करती है, अन्य के उद्देश्य से नहीं । इस प्रकार नियोग के उद्देश्य से प्रवृत्त जो कृति, उस कृति का व्याप्य (साध्य) जो (नियोग) होता है, उसे ही कार्य कहा जाता[1] है ॥ १३३ ॥

उक्त लक्षण की राग से अतिव्याप्ति हटाने के लिए कहते हैं—

---

[1] प्रकरणपञ्चिका में आचार्य शालिकनाथ ने कहा है—
"कृतिसाध्यं प्रधानं यत् तत्कार्यमवसीयते ।" (प्र० पं० वाक्य०) अर्थात् जो कृति-साध्य हो और उस कृति के प्रति प्रधान हो; उसे ही कार्य कहा जाता है ।

भूत्वा रागः कारणं पुंस्प्रवृत्तेः
नैवं कार्यं कार्यरूपं विहाय ।
रूपेणान्येनेष्यते[१]ऽस्या निमित्तं
भिन्दन्त्येवं रागकार्ये बहुज्ञाः ॥ १३४ ॥

योजना—रागः भूत्वा पुंस्प्रवृत्तेः कारणं भवति, एवं कार्यं कार्यरूपं विहाय अन्येन रूपेण यस्याः निमित्तम् न इष्यते । एवं बहुज्ञाः रागकार्ये भिन्दन्ति ।। (शालिनीच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—राग (सिद्ध) होकर पुरुष-प्रवृत्ति का कारण होता है, इस प्रकार कार्य (नियोग) कार्यरूपता को छोड़कर अन्य (सिद्ध) रूप से इस (पुरुष-प्रवृत्ति) का कारण नहीं माना जाता । इस प्रकार बहुज्ञ पण्डितगण राग तथा कार्य (नियोग) को भिन्न सिद्ध करते हैं ।।

भावितार्थ—राग सदैव सिद्ध (निष्पन्न) होकर ही पुरुष-प्रवृति का हेतु हुआ करता है, साध्यरूप से नहीं । किन्तु कार्य (नियोग) उसके विपरीत असिद्ध (साध्य) होकर ही प्रवृत्ति का निमित्त हुआ करता है, सिद्ध हो या नहीं । कथित कार्य-लक्षण में साध्यत्वाकार से प्रवर्त्तकत्व विवक्षित है, अतः राग में उक्त लक्षण अतिव्याप्त नहीं । यद्यपि राग तथा नियोग दोनों ही प्रवर्त्तक होते हैं, तथापि प्रवर्त्तकतावच्छेदक (साध्यत्व-असाध्यत्व) धर्म के भेद से दोनों का भेद हो जाता है । अतः उक्त कार्यलक्षण, राग में अतिप्रसक्त नहीं होता ।। १३४ ।।

कार्यस्वरूप का निरूपण करके प्रतिज्ञात कार्यान्वित पदार्थ में गवादि-पदों की शक्ति का उपपादन करते हैं—

आवापोद्वापहेतोः पदमिदममुकस्याभिधाने समर्थं
स्वोत्पत्त्यैवेति शक्तिप्रतिनियममिमं पार्श्ववर्त्ती तटस्थः ।
जानात्यालोच्य भूयो नयनिपुणमतिर्भागशः कार्ययुक्ते
वस्तुन्येतस्य हेतोरुपनिषदखिला कार्यशेषे प्रमाणम् ॥ १३५ ॥

योजना—नयनिपुणमतिः पार्श्वस्थः तटस्थः भूय आलोच्य आवापोद्वापहेतोः इदं पदम् अमुकस्याभिधाने स्वोत्पत्त्यैव समर्थम्, इति विभागशः कार्ययुक्ते वस्तुनि शक्तिप्रतिनियमं जानाति । एतस्य हेतोः अखिला उपनिषत् कार्यशेषे प्रमाणम् ।। (स्रग्धराच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—अन्वय-व्यतिरेकादि न्यायों में निपुण, पार्श्वस्थ (पास में बैठा) बालक वार-वार (प्रयोजक वृद्ध के शब्द-प्रयोगों और प्रयोज्य वृद्ध की प्रवृत्तियों की) आलोचना करके आवाप (पदान्तर-प्रक्षेप) तथा उद्वाप (प्रयुक्तपद-परित्याग) के द्वारा 'यह पद अमुक अर्थ के अभिधान में स्वभावतः समर्थ है'—इस प्रकार प्रत्येक पद की कार्यान्वित अर्थ में शक्ति-व्यवस्था कर लेता है। इसलिए अखिल उपनिषत् शास्त्र कार्याङ्गभूत अर्थ में ही प्रमाण हैं ।।

भावितार्थ—पार्श्ववर्ती बालक (जिसे किसी पद का शक्ति-ज्ञान नहीं) 'गामानय'—इस प्रकार के प्रयोजक वृद्ध-वचन को सुनता है । तदनन्तर गौ (गवानयन) लाने में प्रयोज्य वृद्ध की प्रवृत्ति देखकर पूरे वाक्य की शक्ति गवानयनरूप अर्थ में प्रथमतः निश्चित करता

---

[१] 'अन्येनाप्यते' इति पाठान्तरम् ।

है। पश्चात् 'अश्वमानय'—आदि वाक्यों को सुन और अश्वानयन-आदि प्रवृत्तियों को देखकर वह सोचता है कि 'गामानय'—इस वाक्य के 'गाम्' पद का उद्वाप (त्याग) तथा 'अश्वम्' पद के आवाप (प्रक्षेप) से 'अश्वमानय' वाक्य बना है एवं गो लाने के वजाय अश्व को लाया गया है; अतः 'गो' पद आनयनान्वित गोत्व और 'अश्व' पद अनयनान्वित अश्वत्व का बोधक है। इस प्रकार वह प्रत्येक पद का शक्तिग्रह कार्यान्वित अर्थ में ही होता है। इसलिए निखिल उपनिषद् ग्रन्थ भी कार्यान्वित अर्थ में ही प्रमाण हो सकते हैं, कार्यानन्वित ब्रह्म में नहीं ॥ १३५ ॥

जो कार्य (नियोग) किसी प्रमाणान्तर (प्रत्यक्षादि) का विषय नहीं, उसमें शक्ति-ग्रह कैसे होगा ? इस शंका का समाधान प्रभाकर-मत के एकदेशी की दृष्टि से किया जाता है—

आज्ञादिभेदेऽप्यनुवर्तमाने
प्रवृत्त्यभावस्य विरोधिमात्रे ।
लिङादिशब्दस्य स वेत्ति शक्तिं
प्रवर्त्तकाख्याविषयत्वयोग्ये ॥ १३६ ॥

योजना—स आज्ञादिभेदेषु अनुवर्तमाने प्रवर्तकाख्याविषयत्वयोग्ये प्रवृत्त्यभावस्य विरोधिमात्रे लिङादिशब्दस्य शक्तिं वेत्ति ॥ (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—वह (बालक) आज्ञादि पदार्थों में अनुस्यूत प्रवर्तकशब्द-वाच्य, प्रवृत्यभाव-विरोधी पदार्थ में लिङादि शब्दों की शक्ति जान लेता है ॥

भावितार्थ—वृद्ध प्राभाकराचार्यों का कहना है कि लोक में आज्ञादि, प्रवर्तक देखे जाते हैं और वेद में नियोग। उन सबमें अनुगत प्रवर्तकत्वरूप सामान्य में लिङादि का शक्ति-ग्रह होता है। प्रवर्तक शब्द से लोक में आज्ञादि और वेद में नियोग योग्यता के बल पर बोधित होते हैं। अतः नियोग लोक-प्रसिद्ध न होने पर भी लिङादि का वाच्य बन जाता है ॥ १३६ ॥

दूसरे प्राभाकर आचार्यों का कहना है कि नियोग लोक-प्रसिद्ध भी है। हाँ, लोक में सोपाधिक और वेद में निरुपाधिक (स्वतन्त्र) प्रतीत होता है। उनका मत दिखाते हैं—

अन्यें वदन्ति निरुपाधि नियोगरूपं
वेदे भवत्यपुरुषप्रभवे स्वतन्त्रम् ।
लोके पुनः पुरुषधीरचितेषु कार्यं
सोपाधिकं तदिति कारणतो वचःसु ॥ १३७ ॥

योजना—अन्ये वेदे नियोगरूपं निरुपाधि; अपुरुषप्रभवे स्वतन्त्रं भवति। लोके पुनः पुरुषधीरचितेषु वचःसु तत् कारणतः सोपाधिकमिति वदन्ति ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—अन्य आचार्य वेद में नियोग निरुपाधि है, पुरुष-जन्य न होने से स्वतन्त्र होता है और लोक में पुरुष-बुद्धिरचित-वाक्यों में वह (कार्य) सकारण होने से सोपाधिक होता है—ऐसा कहते हैं ॥

भावितार्थ—लौकिक शब्द पौरुषेय है और वैदिक अपौरुषेय। अतः लोक में वक्ष्य-

माण आज्ञादि उपाधिवाला कार्य है और वेद में निरुपाधि है, स्वतन्त्र है। लोक-प्रसिद्ध क्रिया-विषयक नियोग में लिङादि का शक्तिग्रह नियोगत्वरूप से ही होता है, अतः वैदिक लिङादि का शक्तिग्रह नियोग में क्यों न होगा ? ।। १३७ ।।

लौकिक नियोग की उपाधि क्या है ? अनौपाधिक रूप लोक-प्रसिद्ध न होने के कारण उसमें शक्तिग्रह क्योंकर होगा ? इन प्रश्नों का उत्तर है—

आज्ञायाश्चाद्युपाधिप्रणिपतितवपुः साधनेहानुबद्धं
विज्ञातोपायभावं विषयमनुसरत्पौरुषेयीषु वाक्षु ।
वेदे कर्तृस्थरागाद्युपधिविरहितं कर्तृशून्ये ततोऽस्मिन्
सर्वत्रैकस्वभावस्थितवपुषि भवेल्लब्धशक्तिर्लिङादिः ॥ १३८ ॥

योजना—पौरुषेयीषु वाक्षु (कार्यम्) आज्ञायाश्चाद्युपाधिप्रणिपतितवपुः साधनेहानुबद्धम्, विज्ञातोपायभावं विषयम अनुसरत् (भवति)। कर्तृशून्ये वेदे कर्तृस्थरागाद्युपधिविरहितं (भवति) ततः सर्वत्रैकस्वभावस्थितवपुषि अस्मिन् लिङादिः लब्धशक्तिः भवति ।। (स्रग्धराच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—पौरुषेय शब्दों में (नियोग) आज्ञादि उपाधियों से व्यंग्य, साधनेहा (चिकीर्षा) से विशिष्ट तथा ज्ञात है उपायभाव (इष्टसाधनता) जिसमें, ऐसे धात्वर्थरूप विषय का अनुसरण करनेवाला होता है। कर्तृशून्य (अपौरुषेय) वेद में कर्तृगत रागादि उपाधियों से रहित होता है। अतः सर्वत्र एक (नियोगत्व) रूप से स्थित इस (कार्य) में लिङादि का शक्तिग्रह हो जाता है ।।

भावितार्थ—आचार्य की आज्ञा से ही शिष्य गवानयनादि में प्रवृत्त होता है। अतः आज्ञादि उपाधियाँ उस नियोग की व्यञ्जिकाएं हैं, जो शिष्य का प्रवर्तक होता है। साधनेहा (चिकीर्षा) के न होने पर आज्ञा पाकर भी शिष्य प्रवृत्त नहीं होता; अतः चिकीर्षा भी नियोग का विशेषण है। एवं नियोग ऐसे धात्वर्थ (यागादि) को विषय करता है, जिसमें उपायता (साधनता) का निश्चय पहले ही हो जाता है। अपौरुषेय वेद में जो नियोग होता है, वह न तो आज्ञादि से उपरक्त होता है और न चिकीर्षा से विशिष्ट होता है; अतः वह स्वतन्त्र कहलाता है। उक्त लौकिक-वैदिक दोनों नियोगों में एक नियोगत्वरूप से ही लिङादि की शक्ति गृहीत होती है ।। १३८ ।।

विविध कार्यवादी प्राभाकर मत दिखाते हैं—

अन्ये भिन्नस्वभावं विविधमभिदधत्यानुरूप्येण कार्यं
लोके धात्वर्थरूपं श्रुतिवचसि पुनस्तन्नियोगाख्यमेव ।
संमुग्धे तत्र शक्तिं शिशुरयमवगम्याऽऽदितो न्यायचक्षुः
पश्चाद्वेदैकवेद्यं वदति लिङिति च प्रेक्षते निश्चयेन ॥ १३९ ॥

योजना—अन्ये आनुरूप्येण भिन्नस्वभावं विविधं कार्यम् अभिदधति, लोके धात्वर्थरूपम्, श्रुतिवचसि पुनः तत् नियोगाख्यमेव। तत्र अयं शिशुः आदितः संमुग्धे शक्तिमवगम्य पश्चात् च न्यायचक्षुः (सन्) लिङ् वेदैकवेद्यं वदतीति निश्चयेन प्रेक्षते ।। (स्रग्धराच्छन्द) ।।

योजितार्थ—अन्य आचार्य यथायोग्य भिन्न स्वभाव के द्विविध कार्य कहते हैं—लोक में (वह कार्य) धात्वर्थ रूप और श्रुति-वाक्यों में (वह) नियोग पद वाच्य होता है। वहाँ यह (व्युत्पित्सु) बालक प्रथमतः सम्मुग्ध (अस्पष्ट) कार्य में शक्तिग्रह करता है। पश्चात् न्याय (शक्ति-ग्रह) में निपुण होकर (वह) 'लिङ्' एकमात्र वेद से बोध्य (अर्थ) को कहता है, ऐसा निश्चय कर लेता है॥

भावितार्थ—कतिपय प्रभाकरमतावलम्बियों का कहना है कि लोक वेद में एकरूप का ही कार्य नहीं होता है, अपि तु विरूप होता है-लोक में धात्वर्थ को ही कार्य कहा जाता है और वेद में नियोग को। हाँ, लौकिक कार्य शक्ति-ग्रह के समय वह विशेषता स्फुट नहीं होती, अपितु संमुग्ध कार्यत्वरूप मात्र से ही शक्ति-ग्रह होता है। पश्चात् जब यह देखा जाता है कि वेद में धात्वर्थमात्र ही कार्य नहीं; क्योंकि यागादिरूप धात्वर्थ क्षणिक होने से कालान्तरभावी स्वर्गादि का साधन नहीं बन सकता, अतः अपूर्व (नियोग) को ही कार्य मानना पड़ता है। प्रथमतः लिङादि का शक्ति-ग्रह धात्वर्थरूप लौकिक कार्य में ही होता है। हाँ, उस समय तक कौन कार्य मुख्य है ? कौन अमुख्य ? यह विवेक नहीं होता, अतः संमोहविषयीभूत धात्वर्थरूप कार्य में ही सामान्यतः (कार्यत्वरूप से) शक्ति-ग्रह होता है। पश्चात् विचार-दृष्टि से यह निश्चय कर लिया जाता है कि 'वैदिक लिङ्' वैदिक कार्य (नियोग) को ही मुख्यरूप से कहता है। अनेक कार्यों में शक्ति मानना उचित नहीं अतः एक (वैदिक) कार्य को मुख्य कार्य और दूसरे (लौकिक कार्य) को गौण कार्य मानना न्याय-संगत है॥ १३९॥

लौकिक कार्य को मुख्य और वैदिक कार्य को गौण क्यों न माना जाय ? इस आक्षेप का समाधान है—

धात्वर्थाख्यानशक्तो यदि भवति गुणाद्वर्तितुं वैदिकेऽयं
संबंधाज्ञानहेतोरनलमथ पुनर्वैदिके शक्तिमान् स्यात् ।
तत्संबंधात्क्रियामप्यभिवदितुमलं लक्षणावृत्तितोऽयं
लिङ्शब्दस्तेन कार्ये श्रुतिवचनगते शक्त इत्यध्यवस्येत् ॥ १४० ॥

योजना—यदि अयं धात्वर्थाख्यानशक्तो भवति, (तदा) सम्बन्धाज्ञानहेतोः वैदिके गुणाद् वर्तितुं नालम्। अथ पुनः वैदिके शक्तिमान् स्यात् (तदा) तत्संबन्धात् लक्षणवृत्तितः क्रियाम् अभिवदितुम् अलम्। तेन अयं लिङ्शब्दः श्रुतिवचनगते शक्त इत्यध्यवस्येत्॥ (स्रग्धराच्छन्दः)॥

योजितार्थ—यदि यह (लिङ्) यागादिरूप धात्वर्थ को ही (मुख्य वृत्ति से) कहेगा, (तब) सम्बन्ध-ज्ञान न होने के कारण वैदिक (नियोग) में गौणी वृत्ति से प्रवृत्त न हो सकेगा। यदि वैदिक (नियोग) में शक्त माना जाय, (तब) उसके सम्बन्ध से लक्षणा वृत्ति का सहारा लेकर (लौकिक) क्रिया को कहने में समर्थ हो जाता है, अतः यह लिङ् शब्द वैदिक (नियोग) में ही (मुख्यरूप से) शक्त है, ऐसा निश्चय बालक कर लेगा॥

भावितार्थ—यदि धात्वर्थ में लिङादि पद शक्त माना जाय, तब लक्षणा-वृत्ति से वैदिक कार्य को वह न कह सकेगा, क्योंकि सम्बन्ध-ज्ञान नहीं होता। आशय यह है कि शक्य-सम्बन्धी रूप से मानान्तराधिगत तीरादि में गङ्गापद की लक्षणा देखी जाती है।

प्रकृत में धात्वर्थ-सम्बन्धीरूप से वैदिक कार्य प्रमाणान्तर से अधिगत होता नहीं; क्योंकि अपूर्वरूप वैदिक कार्य किसी अन्य प्रमाण का विषय नहीं माना जाता।

इसके विपरीत यदि लिङ् वैदिक-कार्य में शक्त है; तब उस (मुख्य अपूर्व रूप अर्थ) के सम्बन्ध से धात्वर्थ रूप क्रिया को भी कह सकता है। अर्थात् लिङादि वैदिक नियोग को धात्वर्थरूप विषय के सम्बन्धी रूप से ही कहता है। वहाँ शक्य-सम्बंधितया ज्ञात धात्वर्थ[1] में लक्षणा सुकर है। अतः लिङादि मुख्य वृत्ति से वैदिक कार्य तथा लक्षणावृत्ति से लौकिक कार्य को कहते हैं ॥ १४० ॥

लिङादि-युक्त पदों में कार्यार्थत्व मान लेने पर भी लिङादि-वियुक्त "प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि पिबति मधुकरः" आदि स्थलों पर प्रसिद्ध पद के समभिव्याहार से मधुकरादि पदों का मधुकरादि सिद्धार्थ में शक्ति-ग्रह हो जाता है; अतः सभी पदों में कार्यान्वितार्थकत्व क्यों माना जाय ? इस शङ्का का समाधान है—

एवं शब्दांतराणां नयनिपुणमतिः शक्तिवित्सन् क्रमेण
प्रक्षेपोद्धारदर्शी भवति कतिपयैर्वासरैस्तत्र तत्र।
तस्मात्कार्यान्वितार्थे सकलमपि पदं शक्तिमद् बुध्यमानो
भूताद्यर्थप्रतीतिं प्रति विमुखमनाः शास्त्रतः स्यान्मनुष्यः ॥ १४१ ॥

योजना—एवं क्रमेण नयनिपुणमतिः तत्र तत्र शब्दान्तराणां प्रक्षेपोद्धारदर्शी सन् कतिपयैः वासरैः शक्तिवित् भवति। तस्मात् सकलमपि पदं कार्यान्वितार्थे शक्तिमत् बुध्यमानो मनुष्यः शास्त्रतः भूताद्यर्थप्रतीतिं प्रति विमुखमनाः स्यात् ॥ (स्रग्धराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इस (पूर्वकथित) प्रकार से शक्ति-ग्रहण नीति में निपुण व्यक्ति विभिन्न व्यवहारों में अन्यान्य शब्दों का प्रक्षेप (निवेश) तथा उद्धार (परित्याग) देख-देख कर कतिपय दिनों में शक्ति (शब्द-सामर्थ्य) का वेत्ता हो जाता है। इसलिए सकल पदों की कार्यान्वित अर्थ में शक्ति निश्चित कर के मनुष्य शास्त्र से सिद्धार्थ-प्रतीति के प्रति विमुख हो जायेगा ॥

भावितार्थ—आदान-प्रदान रूप विविध कार्यों को देखकर ही बालक को प्रथमतः शब्द-शक्ति-ग्रहण होता है। उस समय वह "मधूनि समानय"—आदि पूरे वाक्य की ही मधुः समानयन रूप कार्य में शक्ति निश्चित करता है। पश्चात् "मधूनि नय", "कमलमानय"—आदि वाक्यों में नये पदों का प्रयोग और प्रयुक्त पदों का त्याग सुनता तथा तदनुसार प्रवृत्ति में अन्तर समझता हुआ कुछ दिनों में प्रत्येक पद का सामर्थ्य कार्यान्वित अर्थ में सुस्थिर कर लेता है। तदनन्तर कार्य-वाचक पद न होने पर भी उसका आक्षेप करके पदों का सामर्थ्य समझ लेता है। अतः "मधूनि मधुकरः पिबति"—आदि वाक्यों में भी अध्याहृत कार्यार्थ से अन्वित अर्थ में ही मधुकरादि पदों की शक्ति स्थापित करता है; सिद्ध अर्थ में नहीं। इस प्रकार वह किसी पद से सिद्धार्थ-बोध की आशा नहीं रखता ॥ १४१ ॥

प्रवर्तक वाक्य से ही शक्ति-ग्रह होता है; "पुत्रस्ते जातः"—आदि अप्रवर्तक वाक्यों से नहीं, यह दिखाते हैं—

---

[1] यद्यपि लौकिक क्रिया में अपूर्व-सम्बन्ध नहीं, तथापि अपूर्व-सम्बन्धी क्रिया सजातीय लौकिकी क्रिया होती है।

वाक्याद् भूतार्थनिष्ठाद्भवति न तु नृणां शब्दशक्तिप्रतीतिः
लिङ्गं श्रोतृस्थबुद्धेर्न हि किमपि भवेदत्र बालोपलभ्यम् ।
न ह्येतत्पुत्रजन्माद्यवगतिनियतं नित्यवन्निश्चितं नो
यद्वक्त्रादिप्रसादक्षितितललुठनादीक्ष्यते श्रोतृदेहे ॥ १४२ ॥

योजना—भूतार्थनिष्ठाद् वाक्यात् नृणां शब्दशक्तिप्रतीतिस्तु न भवति । अत्र हि श्रोतृस्थबुद्धेः किमपि बालोपलभ्यं लिङ्गं न भवेत् । यत् श्रोतृदेहे वक्त्रादिप्रसादक्षितितललुठनादि ईक्ष्यते, तत् पुत्रजन्माद्यवतिनियतं नित्यवत् नो निश्चितं न हि ॥ (स्रग्धराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—("पुत्रस्ते जातः, पुत्रस्ते मृतः"—आदि) सिद्धार्थपरक वाक्यों से मनुष्यों को शब्द-शक्ति-प्रतीति नहीं होती; क्योंकि वहाँ श्रोतृगत ज्ञान का (अनुमापक) कोई लिङ्ग बालक को उपलब्ध नहीं होता । श्रोता की देह में जो मुख-विकास या पृथिवी पर लोटनादि (हर्ष-शोक-चिह्न) देखा जाता है; वह पुत्र-जन्मादि के ज्ञान सें अव्यभिचरित रूप से स्थिर नहीं हुआ होता ॥

भावितार्थ—"पुत्रस्ते जातः", पुत्रस्ते मृतः"—आदि सिद्धार्थ-बोधक वाक्यों से बालक को शक्ति-ग्रह नहीं हो सकता; क्योंकि उक्त वाक्य-श्रवण से जो श्रोता को ज्ञान हुआ है; उसका अनुमापक कोई हेतु वहाँ बालक को उपलब्ध नहीं होता । श्रोता के मुख पर जो प्रसन्नता या रोदनादि (हर्ष-शोक) के चिह्न देखे जाते हैं, वे नियमतः उक्त वाक्यों के श्रवण से पैदा हुए अर्थ-बोध के अनन्तर ही नहीं देखे जाते; अपितु धन के लाभ-हानिज्ञान से भी होते देखे जाते हैं । अतः "पुत्रस्ते जातः"—इस वाक्य से श्रोता को हर्ष का तथा "पुत्रस्ते मृतः"—इस वाक्य से शोक का जनक ज्ञान होता है—ऐसा अनुमान नहीं कर सकते । फिर ऐसे वाक्यों के द्वारा बालक को शक्तिग्रह कैसे होगा ? ॥ १४२ ॥

शक्ति-ग्रह सम्भव न होने से सिद्धार्थ में वेदान्त वाक्य प्रमाण नहीं हो सकते—

तस्मादाध्वं[1] निराशाः श्रुतिशिरसि न तस्यास्ति निष्पन्नरूपे
प्रामाण्यं कार्यशून्ये कथमपि च परब्रह्मणि स्वप्रधाने ।
भूतं भव्यप्रधानं भवति न हि पुनः स्वप्रधानं कदाचित्
शास्त्रस्थाः शब्दशक्तिस्थितिनिपुणधियो विस्तरादेवमाहुः ॥१४३॥

योजना— तस्मात् श्रुतिशिरसि निराशाः आध्वम् (तिष्ठत) तस्य निष्पन्नरूपे कार्यशून्ये स्वप्रधाने परब्रह्मणि कथमपि प्रामाण्यं नास्ति । "भूतं हि भव्यप्रधानं भवति; न पुनः कदाचित् स्वप्रधानं भवति"—एवं शास्त्रस्थाः शब्दशक्तिस्थितिनिपुणधियो विस्तराद् आहुः ॥ (स्रग्धराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इसलिए वेदान्तवाक्यों से (सिद्धार्थ-प्रामाण्य के प्रति) निराश होकर बैठ जाइए । उस (वेदान्त) का सिद्धरूप, कार्यानन्वित स्वप्रधान परब्रह्म(के बोधन) में कदापि प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता । 'सिद्ध पदार्थ' सदैव साध्य का अङ्ग रहा करता हैं; स्वयं प्रधान कदापि नहीं'—ऐसा मीमांसा-निष्णात, शब्द-शक्ति-ग्रहण में निपुण, आचार्यों ने विस्तार से कहा है ॥

---

[1] 'आस् उपवेशने' धातोः लोटि मध्यमपुरुषबहुवचनम् ।

भावितार्थ—उक्त रीति से वेदान्तवाक्य सिद्धार्थ में प्रमाण नहीं हो सकते, अपितु साध्यार्थ में ही प्रमाण होते हैं। 'स्वर्गकामो यजेत'—आदि वाक्य स्वर्गादिरूप सिद्धार्थ का बोध अवश्य कराते हैं; किन्तु प्रधानतया नहीं; अपितु यागापूर्वादि साध्याङ्गतया। मीमांसाचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' (शा० भा०जै० सू० ३।४।४०) सिद्ध पदार्थों का उपदेश सदैव साध्य के लिए ही किया जाता है। अर्थात् सिद्धार्थ का प्रधानतया प्रतिवादन नहीं होता; अपितु साध्याङ्गतया। इस प्रकार उपासनापूर्वादि साध्यार्थ के अङ्ग रूप से ही ब्रह्म का प्रतिपादन उपनिषद्वाक्यों से हो सकता है; प्रधानतया नहीं ॥१४३॥

शिष्य अपनी (गत ९५ वें श्लोक से चली आ रही) शङ्का का उपसंहार करता है—

तस्मादसंगतमिदं प्रतिभाति यन्मे
वाक्यप्रमाणकमुदीरितमद्वयत्वम् ।
इत्येवमेष मम बुद्धिपथं विरोधः
प्राप्तः प्रभो परिहरैनमनुग्रहाय ॥ १४४ ॥

योजना—तस्माद् मे इदम् असङ्गतं प्रतिभाति, यत् अद्वयत्वम् वाक्यप्रमाणकम् उदीरितम्—इत्येवम् एष विरोधः मम बुद्धिपथं प्राप्तः। प्रभो! अनुग्रहाय एनं परिहर॥ (वसन्ततिलकाच्छन्द)॥

योजितार्थ—इसलिए मुझे यह असंगत प्रतीत होता है—कि जो यह अद्वयतत्त्व वाक्यप्रमाणक कहा गया है। इस प्रकार यह (उक्त) विरोध मेरी बुद्धि में आया है। गुरो! मुझपर कृपा करने के लिए इसका परिहार कीजिए॥

भावितार्थ—शिष्य का कहना है कि आप (गुरुवर) ने जो कहा है (गत ९३ वें श्लोक में) जीव-ब्रह्म का अभेद तथा (गत ९४ में) वेदान्तवाक्य ब्रह्म-बोधक हैं—वे दोनों कथन मुझे विरुद्ध जँचते हैं; क्योंकि जीव और ब्रह्म का भेद प्रतीत होता है, तथा वेदान्तवाक्यों में ब्रह्म रूप सिद्धार्थ-बोधकता नहीं बनती। यहाँ 'बुद्धिपथम्' से दिखाया कि शिष्य-बुद्धि का ही दोष है, आचार्य-कथन में नहीं। एवं 'प्रभो' इस सम्बोधन से आचार्य में शङ्का परिहार का सामर्थ्य दिखाया गया है॥ १४४॥

[गुरोः वाक्यार्थे विरोधपरिहारः]

गत ९४ वें तथा ९५ वें श्लोकों में कथित विरोध को उचित बताया जाता है—

सत्यं यदाह गुरुमान्यदिवाक्यगम्यम्
संसर्गरूपमिह वेदशिरःस्वभीष्टम् ।
अस्त्येव तत्र पदयोरुभयोर्विरोधः
पारोक्ष्यसद्वयविरोधकृतस्तदानीम् ॥ १४५ ॥

योजना—गुरुमान् यदाह (तत्) सत्यम्—यदि इह वेदशिरःसु वाक्यगम्यं संसर्गरूपम् अभीष्टम्; तदानीं तत्र पदयोः पारोक्ष्यसद्वयकृतः विरोधः अस्त्येव॥ (व० छ०)॥

योजितार्थ—गुरुभक्त (शिष्य) ने जो कहा, (वह) सत्य है। यदि यहाँ वेदान्तवाक्य (तत्त्वमसि) में संसर्गरूप वाक्यार्थ अभीष्ट हो, तब उन (तत् और त्वम्) पदों का परोक्षत्वादि विरुद्धार्थ प्रतिपादक होनें से विरोध है ही; (किन्तु वह अभीष्ट नहीं)॥

भावितार्थ—आपने जो यह कहा कि जीव अपरोक्ष तथा ब्रह्म परोक्ष है, अतः उनका भेद रूप वाक्यार्थ सम्भव नहीं, वह ठीक ही कहा। यदि यहाँ संसर्गरूप वाक्यार्थ विवक्षित होता, तब उक्त पदार्थों का परस्पर विरोध होने के कारण अवश्य ही वाक्यार्थ अनुपपन्न होता। किन्तु यहाँ संसर्गरूप वाक्यार्थ विवक्षित नहीं, अपितु अखण्डार्थ-बोध विवक्षित है। वह लक्ष्यार्थ है, वाच्य नहीं; अतः विरोध निवृत्त हो जाता है ।। १४५ ।।

पूर्वमीमांसा में पदार्थों के संसर्ग या संसृष्ट पदार्थों को ही वाक्यार्थ माना गया है। ब्रह्म न तो संसर्ग ही है, और न संसृष्ट पदार्थ ही, अतः वह वाक्यार्थ कैसे ? इस सन्देह का समाधान है—

यत्कर्मकाण्डनिपुणैरुदितं पुरस्तात्
वाक्यार्थलक्षणमदः पुनरत्र नेष्टम् ।
भेदादिवर्जितमखण्डमुशन्ति यस्मात्
श्रीवादरायणमतानुगता महान्तः ॥ १४६ ॥

योजना—कर्मकाण्डनिपुणैः पुरस्तात् यत् वाक्यार्थलक्षणम् उदितम्। अत्र पुनः अदः इष्टम् न, यस्मात् श्रीवादरायणमतानुगताः महान्तः भेदादिवर्जितम् अखण्डं (वाक्यार्थम्) उशन्ति ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—कर्मकाण्ड-प्रवीण (पूर्वमीमांसा-निष्णात) आचार्यों ने पहले (पूर्व-मीमांसा में) जो वाक्यार्थ का लक्षण किया है, यहाँ वह (लक्षण) अभीष्ट नहीं; क्योंकि श्रीवादरायण-मत के आचार्य भेदादि-रहित अखण्ड (वाक्यार्थ) चाहते हैं।।

भावितार्थ—पूर्वमीमांसा में द्वितीय अध्यायस्थ प्रथम पाद के चौदहवें अधिकरण में "भेदः संसर्गो वा वाक्यार्थः"—इस शाबर भाष्य की व्याख्या करते हुए वार्तिककार ने वाक्यार्थ का जो लक्षण किया है कि व्यक्ति-पदार्थ-पक्ष में संसर्ग भी पदार्थ के अन्तर्गत आ जाता है, अतः "शुक्लो गौः" यहाँ पर कृष्ण तथा अश्वादि की व्यावृत्तिमात्र ही वाक्यार्थ होता है। जातिपदार्थ-पक्ष में स्वरूपतः अभिहित शुक्लत्व तथा गोत्व का परस्पर संसर्ग ही वाक्यार्थ है। वह यहाँ (उत्तरमीमांसा में) विवक्षित नहीं, क्योंकि यहाँ अखण्ड अद्वितीय तत्त्व में भेद (व्यावृत्ति) तथा संसर्ग सम्भव नहीं; अतः भाष्यकारादि (श्रीशङ्कराचार्यादि) भेद और संसर्ग से शून्य एक अखण्ड वस्तु को वाक्यार्थ मानते हैं। अर्थात् भगवान् वादरायण ने "तत्तु समन्वयात्" (ब्र० सू० १।१।३) सूत्र में अखण्डैकरस ब्रह्म में वेदान्त वाक्यों का प्रामाण्य स्थापित किया है। इसके अनुसार ही भाष्यकारादि ने "तत्त्वमसि" आदि विशेष वाक्यार्थ का लक्षण पसन्द किया है। सामान्य वाक्यार्थ का लक्षण भी "वाक्यप्रतिपाद्यत्व" है, पूर्व मीमांसोक्त नहीं ।। १४६ ।।

दोनों काण्डों में वाक्यों के समान होने पर भी वाक्यार्थ में वैलक्षण्य क्यों ? यह दिखाते हैं—

भेदादिरूपमवबोधयितुं समर्थं
यद्वाक्यमस्ति तदखण्डविलक्षणार्थम् ।
तल्लौकिकं भवतु वैदिकमेव वाऽस्तु
नास्माकमत्र विपये विमतिः कदाचित् ॥१४७॥

योजना—यद् वाक्यं भेदादिरूपम् अवबोधयितुं समर्थम् तद् अखण्डविलक्षणार्थम् अस्ति। तद् लौकिकं भवतु वैदिकमेव वा अस्तु —अत्र विषये अस्माकं कदाचित् विमतिः न ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—जो वाक्य भेदादिरूप (अर्थ) का अवबोधन कराने में समर्थ है, वह अखण्ड विलक्षणार्थक ही है। वह (वाक्य) लौकिक हो ? या कि वैदिक ? इस विषय में हमारा कोई मतभेद नहीं ।।

भावितार्थ—यह हमारा आग्रह नहीं कि विश्व के सभी वाक्य अखण्डार्थ ही होते हैं। किन्तु जो भी 'गामानयादि' लौकिक या 'अग्निहोत्रं जुहोति' आदि वैदिकवाक्य भिन्नार्थ या संसृष्टार्थ का बोधक हो सकता है, उसे तदर्थक मानते हैं ।। १४७ ।।

किन्तु वेदान्तवाक्य को अखण्डार्थ ही मानना पड़ता है—

यद्वाक्यजातमथ वेदशिरोनिविष्टं
यद्वापि लौकिकमखण्डमपास्य नान्यत् ।
शक्नोति वस्तु वदितुं तदशेषमेव
ब्रूयादखण्डमिति तु प्रतिपादयामः ॥१४८॥

योजना—अथ वेदशिरोनिविष्टं यद्वा लौकिकम् यद् वाक्यजातम् अखण्डम् अपास्य अन्यद् वस्तु वदितुं न शक्नोति; तदशेषम् अखण्डमेव ब्रूयादिति तु प्रतिपादयामः। (व०)।

योजितार्थ—और वेदान्तगत (तत्त्वमस्यादि) अथवा लौकिक (सोऽयं देवदत्तः आदि) जो वाक्य अखण्डार्थ को छोड़कर अन्य (संसर्गादि) वस्तु नहीं कह सकते; वे सभी (वाक्य) अखण्डार्थ का ही कथन करते हैं—यह हम कहते हैं ।।

भावितार्थ—'अथ' शब्द से पक्षान्तर का आरम्भ सूचित किया है। लौकिक या वैदिक जो भी वाक्य भेद या संसर्ग का प्रतिपादन नहीं कर सकता; वह अखण्डार्थक होता है—यह हमारा सिद्धान्त है ।। १४८ ।।

वैसा (अखण्डार्थक) लौकिक वाक्य दिखाया जाता है—

सोऽयं पुमानिति हि मुख्यपदार्थयुक्त-
वाक्यार्थबुद्धिजननस्य न वाक्यमेतत् ।
ईशीत वाच्यशबलस्थपदद्वयेन
संसृष्टबुद्धिजनने पदयोर्विरोधात् ॥ १४९ ॥

योजना—'सोऽयं पुमान्'—इत्येतत् हि वाक्यं मुख्यार्थयुक्तवाक्यार्थबुद्धिजननस्य न ईशीत, वाच्यशबलस्थपदद्वयेन संसृष्टबुद्धिजनने पदयोः विरोधात्।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः)

योजितार्थ—'सोऽयं पुमान्' यह वाक्य (विरुद्धदेशकाल-विशिष्टरूप) मुख्य पदार्थ घटित वाक्यार्थ बुद्धि को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं; क्योंकि (विरुद्धदेशकालादि रूप) शबल (विशिष्ट) अर्थों के वाचक दोनों पदों से संसृष्टबुद्धि के उत्पादन में दोनों पदों का विरोध है ।।

भावितार्थ—'सोऽयं देवदत्तः'—इस वाक्य में 'तत्' शब्द का मुख्य अर्थ है—तद्देश-काल-विशिष्ट देवदत्त और 'अयम्' शब्द का मुख्य अर्थ है—एतद्देशकाल-विशिष्ट देवदत्त।

इन दोनों अर्थों का संसर्ग बन ही नहीं सकता; क्योंकि दोनों अर्थों का अत्यन्त विरोध है। विरुद्धार्थक पदों से रचित वाक्य भी यदि संसृष्टार्थ या संसर्ग-बोधक हो; तब 'पयः पावकः' आदि वाक्यों से भी संसृष्टार्थ का बोध होनें लगेगा। अतः उक्त वाक्य से संसृष्टार्थ का बोध होना कथमपि सम्भव नहीं ॥ १४९ ॥

इसलिए उक्त वाक्य को अखण्डार्थक ही कहना होगा—

एतद्धि सोऽयमिति वाक्यमखण्डनिष्ठं
वक्तव्यमत्र गतिरस्ति न काचिदन्या ।
तद्देशकालमनुकृष्य स इत्यनेन
नायं पदार्थमुपढौकयते हि नैतत् ॥ १५० ॥

योजना—'सोऽयम्'—इत्येतद् वाक्यम् हि अखण्डनिष्ठ वक्तव्यम्, अत्र हि काचिद् अन्या गतिः न अस्ति। (सोऽयमिति वाक्यं) हि स इत्यनेन तद्देशकालम्[1] अनुकृष्य 'अयं' पदार्थ न उपढौकयते, नैतत् ॥

योजितार्थ—'सोऽयं पुमान्'—इस वाक्य को अखण्डार्थ-बोधक ही कहना होगा; क्योंकि यहाँ और कोई गति नहीं (अर्थात् 'सोऽयं पुमान्'—यह वाक्य) 'सः'—इस पद से अतीत काल और परोक्ष देश से विशिष्ट वस्तु का ग्रहण करके अयम्पदार्थ (वर्तमान काल तथा अपरोक्ष देश से विशिष्ट वस्तु) के साथ सम्बन्ध नहीं करा सकता और 'न एतत्' (वर्तमानकाल तथा अपरोक्ष देश से विशिष्ट पदार्थ को 'अयम्'—इस पद से ग्रहण कर तत्पदार्थ के साथ जोड़ सकता है) ॥

भावितार्थ—'नीलमुत्पलम्' के समान 'सोऽयं देवदत्तः' में विशेषण-विशेष्यभाव भी नहीं बन सकता और न वाच्याभेद ही। 'सः' पद का वाच्यार्थ है—परोक्षदेशकाल-विशिष्ट देवदत्त और 'अयम्' पद का अर्थ है—अपरोक्षदेशकाल-विशिष्ट देवदत्त। उक्त वाक्य अपने घटक दोनों पदों के विरुद्ध वाच्यार्थों का संसर्ग नहीं करा सकता; अतः दोनों पदों का लक्षणावृत्ति से शुद्ध देवदत्त में तात्पर्य मानना होगा। एक पदार्थ के वाच्यार्थ में दूसरे पद की लक्षणा से भी काम नहीं चल सकता; विनिगमक न होने से किसके वाच्य में किसकी लक्षणा करेंगे—इसका निर्णय नहीं हो सकता—यह १६३ वें श्लोक में कहने वाले हैं। दूसरी बात यह भी है कि प्रकृत में 'यह देवदत्त, वही है ? या भिन्न ?' इस प्रकार का संशय हुआ था। उसकी निवृत्ति के लिए 'सोऽयं देवदत्तः'—यह वाक्य प्रयुक्त हुआ है, अतः इसका अर्थ वही हो सकता है, जिससे उक्त संशय की निवृत्ति हो। यदि केवल एक पद की लक्षणा दूसरे के वाच्यार्थ में करते हैं, तब 'वह देवदत्त है' या 'यह देवदत्त है' इस प्रकार का अर्थ निकलता है। इससे उक्त संशय निवृत्त नहीं होता। एक पद की लक्षणा शुद्ध देवदत्त में करके दूसरे पद के वाच्य अर्थ से भी अभेद नहीं बताया जा सकता; क्योंकि विशिष्ट और शुद्ध भिन्न होते हैं। अतः अगत्या दोनों पदों की भाग-त्याग लक्षणा से अभिन्न देवदत्त रूप अर्थ का लाभ करना होगा, जिससे उक्त संशय की निवृत्ति होगी। इस प्रकार 'सोऽयं देवदत्तः' यह वाक्य अखण्डार्थक ही सिद्ध होता है ।। १०५ ।।

---

[1] तौ (परोक्षौ) देशकालौ यस्य स तमित्यर्थः ।

उक्त दृष्टान्त के बल पर 'तत्त्वमसि'—आदि वेदान्तवाक्यों में भी अखण्डार्थकत्व सिद्ध होता है—

एवं सतीदमपि तत्त्वमसीति वाक्य-
माश्रित्य लाक्षणिकवृत्तिमखण्डनिष्ठम् ।
सोऽयं पुमानिति यथा वचनं तथाऽस्तु
नो चेत्समं हि तदलाबुनिमज्जनोक्त्या ॥ १५१ ॥

योजना—एवं सति यथा 'सोऽयं पुमान्'—इति वचनम् तथा इदं 'तत्त्वमसि'—इति वाक्यम् अपि लाक्षणिकवृत्तिम् आश्रित्य अखण्डनिष्ठम् अस्तु । नो चेत् अलाबुनिमज्जनोक्त्या तत् समम् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इस प्रकार (समस्त वाक्यों में संसर्गार्थकत्व है—इस नियम के व्यभिचरित हो जाने पर) जैसे 'सोऽयं पुमान्'—यह वाक्य अखण्डार्थक है; वैसे ही यह 'तत्त्वमसि'—वाक्य भी लाक्षणिक वृत्ति का सहारा लेकर अखण्डार्थक होता है। नहीं तो 'अतिशुष्कमच्छिद्रं केवलमलाबु निमज्जति'—इस वाक्य के ही समान वह (अप्रमाण) हो जायगा ॥

भावितार्थ—'सोऽयं देवदत्तः'—आदि लौकिक वाक्यों के समान ही 'तत्त्वमसि'—आदि वेदान्तवाक्यों को भी उभय पद-लक्षण-द्वारा अखण्डार्थनिष्ठ ही मानना होगा। नहीं तो जैसे ('अतिशुष्कं निश्छिद्रं केवलमलाबु निमिज्जति') 'अतिशुष्क, निश्छिद्र, अकेली लौकी डूब रही है'—इस प्रकार के विरुद्धार्थक वाक्य प्रमाण माने जाते हैं; वैसे ही उक्त वाक्य भी अप्रमाण हो जायगा ॥ १५१ ॥

यह जो (१।९९ श्लोक में) शङ्का की थी कि प्रमाणान्तर से अनधिगत ब्रह्म में लक्षणा कैसे होगी ? उसका समाधान है—

मानान्तराधिगतगोचरगामिनी स्यात्
शब्दस्य लाक्षणिकवृत्तिरिति प्रलापः ।
सिद्धत्वमात्रमिति लाक्षणिकप्रवृत्ते-
र्निर्वाहकारणमनङ्गमतोऽन्यदस्याः ॥ १५२ ॥

योजना—शब्दस्य लाक्षणिकवृत्तिः मानान्तराधिगतगोचरा स्यात्—इति प्रलापः । इह सिद्धत्वमात्रं लाक्षणिप्रवृत्तेः निर्वाहकारणम् अतोऽन्यद् अस्याः अनङ्गम् ॥ (व०छ०) ॥

योजितार्थ—शब्द की लक्षणा वृत्ति प्रमाणान्तराधिगत-विषयिणी ही होती है—यह प्रलापमात्र है। यहाँ सिद्धत्वमात्र ही लक्षणावृत्ति के निर्वाह का कारण है, इससे भिन्न इस लक्षणावृत्ति का और कोई अङ्ग नहीं ॥

भावितार्थ—सिद्धत्वमात्र ही लक्षणा का नियामक है, मानान्तर सिद्धत्व नहीं; क्योंकि गौरव है। किसी सिद्ध पदार्थ में प्रमाणान्तर न होने पर लक्षणा वृत्ति में विलम्ब नहीं देखा जाता कि प्रमाणान्तर को भी नियामक-कोटि में स्थान मिल जाता। सिद्धत्वमात्र तो स्वयंप्रकाश ब्रह्म में स्वतः सिद्ध है, अतः उसमें लक्षणा सुलभ हो जाती है ॥ १५२ ॥

मानान्तराधिगतता को कहीं-कहीं समन्वित देख लेने मात्र से सर्वत्र लक्षणा का प्रयोजक नहीं माना जा सकता—

मानान्तराधिगतता हि न लक्षणायां
किञ्चित्करी भवति पिङ्गलतावदग्नेः ।
धूमस्य जन्मनि हि पिङ्गलता न हेतुः
यद्यप्यवस्थितवती हुतभुक्शरीरे ॥ १५३ ॥

योजना—अग्नेः पिङ्गलतावत् मानान्तराधिगतता लक्षणायां किञ्चित्करी न हि भवति । यद्यपि हुतभुक्शरीरे पिङ्गलता अवस्थिवती, (तथापि सा) धूमस्य जन्मनि हेतुः न ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—अग्निगत पिङ्गलता के समान प्रमाणान्तराधिगतता लक्षणा में कुछ काम देनेवाली नहीं होती । यद्यपि अग्नि के शरीर में पिङ्गलता स्थित होती है (तथापि वह) धूम की उत्पत्ति में हेतु नहीं होती ॥

भावितार्थ—दोनों 'हि' पद-प्रसिद्धार्थक हैं । जैसे अग्नि में कहीं पिङ्गलता विद्यमान होने पर भी धूमोत्पत्ति की नियामक नहीं, अपितु केवल अग्नित्व ही नियामक है । वैसे ही 'गङ्गायां घोषः' आदि स्थलों पर तीरादि पदार्थों में प्रमाणान्तराधिगतता रहने पर भी लक्षणा की प्रयोजक नहीं मानी जाती, अपितु सिद्धत्वमात्र प्रयोजक माना जाता है; क्योंकि 'व्रीहीनवहन्ति'—आदि वैदिक वाक्यों में वेद-भिन्न प्रमाण से अनधिगत अपूर्व-साधनत्व[1] में लक्षणा की जाती है । अतः मानान्तराधिगतता व्यभिचरित होने से लक्षणा की प्रयोजक नहीं ॥ १५३ ॥

अखण्डार्थत्व-सिद्धि के अनुरूप लक्षणा का लाभ करने के लिए लक्षणा के भेद दिखाते हैं—

शब्दस्य लाक्षणिकवृत्तिरपि त्रिधैषा
काचिज्जहाति न जहाति च वाच्यमन्या ।
भागं जहाति न जहाति च भागमन्या
सोऽयं त्रिधा भवति लाक्षणिकप्रकारः ॥ १५४ ॥

योजना—एषा शब्दस्य लाक्षणिकवृत्तिः अपि त्रिधा—काचित् वाच्यं जहाति; अन्या च न जहाति, अन्या च भागं जहाति भागं न जहाति । सोऽयं लाक्षणिकप्रकारः त्रिधा भवति ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—यह शब्द की लाक्षणिक वृत्ति भी तीन प्रकार की होती है—(१) कोई वाच्यार्थ का त्याग करती है, (२) दूसरी (वाच्यार्थ का) त्याग नहीं करती और (३) तीसरी एक भाग का त्याग करती है तथा अन्य भाग का त्याग नहीं करती । इस प्रकार लाक्षणिक वृत्ति-भेद तीन प्रकार का होता है ॥

---

[1] भट्टपाद ने कहा है कि—

श्रेयः साधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते ।
ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मात् नेन्द्रियगोचरः ॥ (श्लो० वा० २.१४)

भावितार्थ—लक्षणा के तीन भेद हैं—(१) जहल्लक्षणा, (२) अजहल्लक्षणा तथा (३) जहदजहल्लक्षणा या भागत्यागलक्षणा। पहली अपने वाच्य अर्थ का सर्वथा परित्याग करके वाच्य-सम्बन्धी अर्थान्तर में प्रवृत्त होती है। दूसरी अपने वाच्यार्थ का किञ्चिदपि त्याग न करके ही अर्थान्तर का बोध कराती है और तीसरी अपने वाच्य के एक अंश का त्याग तथा अन्य अंश का त्याग नहीं करती ॥ १५४ ॥

जहल्लक्षणा और अजहल्लक्षणा के लौकिक उदाहरण दिखाते हैं—

गङ्गापदं हि निजमर्थमपास्य तीरे
यद्वर्त्तते भवति सा जहती प्रसिद्धा ।
शोणः स्थितो बहिरितीह तु लक्षणाया-
मादाय शोणिमगुणं तुरगे प्रवृत्तिः ॥ १५५ ॥

योजना—यत् गङ्गापदं निजमर्थम् अपास्य तीरे वर्तते; तत् जहती प्रसिद्धा। "शोणो बहिः स्थितः"—इतीह लक्षणायां तु शोणिमगुणम् आदाय तुरगे प्रवृत्तिः॥ (वसन्ततिलकाच्छन्द) ॥

योजितार्थ—जो 'गङ्गा' पद अपने (प्रवाहरूप) अर्थ को छोड़कर तीर अर्थ में प्रवृत्त होता है; वह जहती लक्षणा प्रसिद्ध है। "शोणो बहिः स्थितः'—यहाँ की अजहतो लक्षणा में शोणत्वगुण का ग्रहण (परित्याग न) करके ही अश्व में प्रवृत्ति मानी जाती है।

भावितार्थ—"गङ्गायां घोषः"—यह आप्त-वाक्य है। यहाँ 'गङ्गा' पद अपने वाच्य (प्रवाह) अर्थ की उपस्थिति नहीं करा सकता, क्योंकि उसमें घोष (ग्राम) का अन्वय बाधित है। आप्तोच्चरित होने से 'गङ्गा' पद निरर्थक भी नहीं। अतः वह अपनें वाच्य (प्रवाह) अर्थ को छोड़कर (प्रवाह-सम्बन्धी) तीर अर्थ की उपस्थिति कराता है। उसमें घोष का अन्वय हो जाता है। यहाँ गङ्गा पद की जो तीरमें वृत्ति है, वह जहती लक्षणा के नाम से प्रसिद्ध है। 'शोणो बहिः स्थितः'—यहाँ 'शोण' शब्द का वाच्य अर्थ होता है—रक्तवर्ण, रक्तवर्ण में बहिःस्थिति का अन्वय बाधित है, क्योंकि रक्तवर्ण गुण है और स्थिति क्रिया। गुण में क्रिया का साक्षात् अन्वय होता नहीं[1]। अतः यहाँ 'शोण' शब्द अपने वाच्यार्थ का त्याग न करके ही शोणगुण-विशिष्ट अश्व के बोधन में प्रवृत्त है। इस वृत्ति का नाम है—अजहती लक्षणा। यहाँ अश्व सामान्य विवक्षित नहीं, अपि तु अश्वविशेष (शोणवर्ण-विशिष्ट अश्व) विवक्षित है; अतः वाच्चार्थ का त्याग न करके ही अश्व का बोधन किया जाता है ॥ १५५ ॥

जहदजहल्लक्षणा का लौकिक उदाहरण देते हैं—

सोऽयं पुमानिति वचस्युभयप्रकारा
देशादिभागपरिवर्जनतः प्रसिद्धा ।
पुंसश्च केवलमुपात्ततया पदाभ्या-
मेवं त्रिधा भवति लाक्षणिकी प्रवृत्तिः ॥१५६॥

योजना—"सोऽयं पुमान्"—इति वचसि पदाभ्यां देशादिभागपरिवर्जनतः केवलं

---

[1] गुणादि निर्गुणक्रियः—इस वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार गुण कर्मादि में गुणादि नहीं रहा करते।

पुंसः उपात्ततया च उभयप्रकारा लाक्षणिकी प्रवृत्तिः प्रसिद्धा । एवं (लाक्षणिकी प्रवृत्तिः) त्रिधा भवति ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—"सोऽयं पुमान्"—इस वाक्य में दोनों पदों के द्वारा (विरोधी) देशादि भाग का त्याग तथा केवल पुरुष का ग्रहण होने से उभयविध (जहती, अजहती उभयरूप) लक्षणा-वृत्ति प्रसिद्ध है । इस प्रकार लक्षणा-वृत्ति तीन प्रकार की होती है ॥

भावितार्थ—"सोऽयं पुरुषः"—यहाँ पर 'तत्' तथा इदम्' – इन दोनों के द्वारा उपस्थापित देशकाल-वैशिष्टय अंश का त्याग तथा केवल पुरुष का उपादान करके शुद्ध पुरुष का बोध होता है । इस वृत्ति को जहदजहल्लक्षणा कहते हैं, क्योंकि यहाँ पदों के वाच्य में एक भाग का त्याग और भागान्तर का ग्रहण किया जाता है । इसीलिए इसे भाग-त्याग-लक्षणा भी कहते हैं ॥ १५६ ॥

उक्त तीन लक्षणाओं के वैदिक उदाहरण दिखाते हैं –

वेदेऽपि लाक्षणिकवृत्तिरियं त्रिधेष्टा
यज्ञायुधीति वचने तु जहत्प्रवृत्तिः ।
वैश्वानरादिवचनेष्वजहत्प्रवृत्तिः
तत्त्वङ्गिरोरुभयरूपतया प्रवृत्तिः ॥१५७॥

योजना—इयं लाक्षणिकवृत्तिः वेदेऽपि त्रिधा इष्टा "यज्ञायुधी"—इति वचने तु जहत्प्रवृत्तिः, वैश्वानरादिवचनेषु अजहत्प्रवृत्तिः, तत्त्वंगिरोः उभयरूपतया प्रवृत्तिः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—यह लक्षणावृत्ति वेद में भी तीन प्रकार की मानी गई है—"स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति" (श० ब्रा० १२।५।२।८) इस वाक्य में जहल्लक्षणा, "वैश्वानरमुपासते" (छान्दो० ५।१८।२)-आदि वाक्यों में अजहल्लक्षणा तथा "तत्त्वमसि"—(इस वाक्य के) तत्, त्वम्–दोनों पदों में जहदजल्लक्षणा होती है ॥

भावितार्थ—'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति' (वह यह यज्ञ-पात्रधारी यजमान भली भाँति स्वर्गलोक को जाता है) यह वाक्य अग्निहोत्री की अन्त्येष्टि के समय उसके शरीर पर जुह्वादि यज्ञीय पात्रों को रखकर बोला जाता है । यहाँ यज्ञायुध (यज्ञ साधन-पात्र) से युक्त स्थूल शरीर होता है । उसका ही यदि 'यज्ञायुधी' पद से ग्रहण करें, तब उसका स्वर्ग में जाना बाधित है, क्योंकि वह चिता पर ही भस्मसात् हो जाता है । अतः 'यज्ञायुधी' शब्द अपने वाच्य अर्थ को छोड़कर यजमान के आत्मा में प्रवृत्त होता है । इसलिए यह जहल्लक्षणा है ।

"वैश्वानरमुपास्ते" (छां० ५।१८।२) यह उदाहरण अजहल्लक्षणा का है, क्योंकि 'वैश्वानर शब्द का वाच्य अर्थ होता है–जाठराग्नि । वहाँ जठराग्नि से उपहित परमात्मा की उपासना विवक्षित है । अतः वैश्वानर शब्द स्वार्थ का त्याग न करके ही परमात्मा में प्रवृत्त हुआ है । आदि पद से 'सृष्टीरुपदधाति' (तै० सं० ५।३।४) आदि वाक्य इस उदाहरण में रखे जा सकते हैं ।

जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण है– "तत्त्वमसि" आदि वाक्य । यहाँ दोनों पदों के अर्थों में से विरोधी विशेषण अंश का परित्याग करके अविरुद्ध विशेष्य[1] अपरोक्ष

---

[1] कुछ आचार्यों का आग्रह है कि अपरोक्ष ज्ञान सदा इन्द्रियों से ही उत्पन्न होता है, अर्थात्

(चैतन्यमात्र) बोध कराने के लिए दोनों पद प्रवृत्त हुए हैं। अतः यहाँ भागत्याग-लक्षणा मानी जाती है ।। १५७ ।।

"तत्त्वमसि" (छां० ६।८।७), 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डू० २) आदि वाक्यों में भागत्याग लक्षणा बताई गई है। वहाँ त्याज्य और उपादेय भागों को दिखाने के लिए 'तत्' पद या 'ब्रह्म' पद का वाच्यार्थ दिखाते हैं—

ब्रह्माज्ञाने ह्यद्वितीयत्वमेकं
ब्रह्मण्यन्यच्चाद्वितीयत्वमस्ति ।
तत्संपर्कात्तत्र चाद्वैतताऽन्या
व्युत्पन्नोऽयं ब्रह्मशब्दस्तु तत्र ॥ १५८ ॥

योजना—ब्रह्माज्ञाने हि एकम् अद्वतीयत्वम्। ब्रह्मणि अन्यद् अद्वितीयत्वम् अस्ति। तत्सम्पर्कात् तत्र च अन्या अद्वैतता। अयं 'ब्रह्म' शब्दस्तु तत्र व्युत्पन्नः।। (शालिनीच्छन्दः)।।

योजितार्थ—ब्रह्मगत अज्ञान में एक अद्वैतता है। ब्रह्म में दूसरी अद्वैतता है। उन दोनों (ब्रह्म और अज्ञान) के सम्पर्क से विशिष्ट में अन्य अद्वैतता हैं। यह 'ब्रह्म' शब्द तो उस (विशिष्ट) अर्थ में रूढ़ है।

भावितार्थ—"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" आदि वाक्यों से स्पष्ट है कि अद्वितीय तत्त्व को ब्रह्म शब्द से कहा जाता है। अद्वितीयत्व तीन प्रकार का है—(१) एक (कल्पित) अज्ञानवृत्ति अद्वितीयत्व है, क्योंकि अज्ञान-प्रयुक्त निखिल प्रपञ्च अज्ञान से भिन्न नहीं, अतः अज्ञान अद्वितीय है (१) दूसरी (पारमार्थिक) अद्वैतता ब्रह्म में है, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न वस्तुतः कुछ है ही नहीं, ब्रह्म ही एक अद्वितीय तत्त्व है। (३) तीसरी (अनिर्वचनीय) अद्वैतता अज्ञान-विशिष्ट ब्रह्म में है; क्योंकि अध्यस्त तथा अधिष्ठान का भेद नहीं होता। प्रथम (अनृत) और द्वितीय (सत्य) अद्वैतताओं से जो विशिष्ट अर्थ है, उसी अर्थ में यह ब्रह्म शब्द रूढ़ है। अतः विशिष्ट अर्थ ही 'ब्रह्म' शब्द का वाच्यार्थ होता है। अर्थात् "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र० सू० १।१।२) आदि सूत्रों में जगज्जन्मादि-कारणत्व जिस ब्रह्म का लक्षण किया गया है, वह माया-विशिष्ट चेतनरूप विवक्षित हैं ।। १५८ ।।

आत्म पद का वाच्यार्थ दिखाते हैं—

विषय के साथ सन्निकृष्ट होकर इन्द्रिय ही अपरोक्ष ज्ञान को जन्म दिया करते हैं, इन्द्रिय-भिन्न शब्दादि प्रमाणों से अपरोक्ष ज्ञान कभी उत्पन्न नहीं होता। उनका वह आग्रह सर्वथा अयुक्त है; क्योंकि "इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यज्ञान" को ही यदि अपरोक्षज्ञान माना जाय, तब ईश्वर का ज्ञान इन्द्रिय-जन्य न होने से अपरोक्ष नहीं कहला सकेगा। 'ज्ञानाकरणकज्ञानं प्रत्यक्षम्'—यह लक्षण भी संशयोत्तर भावी प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) ज्ञान में अव्याप्त है; क्योंकि इस अपरोक्ष ज्ञान में भी विशेष-दर्शन रूप ज्ञान को करण ही माना जाता है। इसलिए प्रमाणों पर ज्ञान को निर्भर न रखकर प्रमेय पर अवलम्बित करना होगा। अर्थात् प्रमाता से अव्यवहित प्रमेय के ज्ञान को अपरोक्ष और व्यवहित प्रमेय के ज्ञान को परोक्ष कहना होगा। प्रकृत में चैतन्य वस्तु प्रमाता से अत्यन्त अव्यवहित है, अतः चैतन्य के ज्ञान को अपरोक्ष ही मानना युक्ति-संगत है।

प्रत्यग्भावस्तावदेकोऽस्ति बुद्धौ
प्रत्यग्भावः कश्चिदन्यः प्रतीचि ।
प्रत्यग्भावस्तत्कृतस्तत्र चान्यो
व्युत्पन्नोऽयं तत्र चाऽऽत्मेति शब्दः ॥ १५९ ॥

योजना—बुद्धौ तावत् एको प्रत्यग्भावः । प्रतीचि कश्चित् अन्यः प्रत्यग्भावः । तत्र तत्कृतः चान्यः प्रत्यग्भावः । तत्र 'आत्मा'-इत्ययं शब्दों व्युत्पन्नः । (शा० छ०) ॥

अन्तःकरण में एक (अपारमार्थिक) प्रत्यग्रूपता (प्रसिद्ध है,) प्रत्यगात्मा में दूसरी (पारमार्थिक) प्रत्यग्रूपता हैं। उस (विशिष्ट अर्थ) में अध्यास-कृत अन्य ही प्रत्यग्रूपता है (उस विशिष्ट अर्थ में) यह 'आत्मा' शब्द रूढ है ॥

भावितार्थ—स्थूल शरीर तथा बाह्य करण की अपेक्षा से अन्तःकरण आन्तरिक (प्रत्यग्) है, अतः अन्तःकरण में (कल्पित) प्रत्यग्रूपता हैं। अन्तःकरण की अपेक्षा भी आत्मा आन्तर (प्रत्यग्) है, अतः आत्मा में प्रत्यग्रूपता अन्य (पारमार्थिकी) हैं। अन्तः-करण-विशिष्ट आत्मा में अन्योऽन्याध्यास-प्रयुक्त प्रत्यग्रूपता अन्य (उभयः विलक्षण) है। यह 'आत्मा' शब्द उसी विशष्टार्थ का वाचक है ॥ १५६ ॥

उक्त वाच्यार्थों में से हेय तथा उपादेय भाग दिखाते हुए वाक्यार्थ दिखाते हैं—

तच्छब्दवाच्यगतमद्वयभागमेकं
प्रत्यक्त्वमात्रमविरोधमपेक्षमाणः ।
त्वंशब्दवाच्यशबलस्थमुपाददानो
वाक्यादखण्डमथ तत्त्वमसीति विद्यात् ॥ १६० ॥

योजना—तच्छब्दवाच्यगतम् एकम् अद्वयभागं (तत्पदेन) (तथा) त्वंशब्द-वाच्यशबलस्थं प्रत्यक्त्वमात्रं (त्वपदेन) उपाददानाअविरोधम् अपेक्षमाणः 'तत्त्वमसि'—इति वाक्यात् अखण्डं विद्यात् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—'तत्' शब्द के वाच्यार्थ में से एक अद्वय भाग को (तत्पद से तथा) 'त्वम्' शब्द के वाच्य विशिष्टार्थ में से प्रत्यक्त्वमात्र को ('त्वम्' पद से) ग्रहण कर और (दोनों के अन्वय में) अविरोध देखकर "तत्त्वमसि" इस वाक्य से अखण्डार्थ का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए ॥

भावितार्थ—'तत्' तथा 'त्वम्' शब्दों में अन्वय-योग्यता लाने के लिए अविरोध अपेक्षित है। अतः सद्वयत्व और परोक्षत्व रूप विरुद्ध भागों को छोड़ अविरुद्ध ('तत्') शब्द वाच्यगत अद्वयत्व तथा 'त्वं' शब्द वाच्यगत प्रत्यक्त्व को ग्रहण कर "प्रत्यगेवाद्वयम्' इस प्रकार लक्षणा के द्वारा तत्त्वमस्यादि वाक्यों का अखण्ड अर्थ के बोधन में तात्पर्य निश्चित हो जाता है ॥ १६० ॥

शङ्का होती हैं कि उक्त लक्ष्यार्थों का कुछ भेद है ? या नहीं ? यदि है, तब अखण्डार्थत्व कैसे ? और यदि भेद नहीं, तब पुनरुक्ति होती है—इस शङ्का का समाधान करते हैं—

आदेयांशे नाणुमात्रोऽपि भेदो
यद्यप्येवं भिन्नमादाय शब्दौ ।
वर्तेते त्वय्यद्वयात्मप्रकाशे[1]
बाह्यं हेतुं जामिता नास्ति तस्मात् ॥ १६१ ॥

योजना—यद्यपि आदेयांशे अणुमात्रोऽपि भेदो नास्ति, (तथापि) शब्दौ बाह्यं भिन्नं हेतुम् आदाय अद्वयस्वप्रकाशे त्वयि वर्तेते । तस्मात् जामिता नास्ति ।। (शा०छ०) ।।

योजितार्थ—यद्यपि उपादेय (अद्वयत्व तथा प्रत्यक्त्व) अंशों में लेशमात्र भी भेद नहीं, (तथापि) तत् तथा त्वम्— दोनों शब्द बाह्य (वाक्यार्थाप्रविष्ट) भिन्न हेतु (प्रवृत्ति-निमित्त) को लेकर प्रवृत्त होते हैं, अतः पुनरुक्ति दोष भी नहीं ।।

भावितार्थ—'तत्' तथा 'त्वम्' दोनों पदों के लक्ष्यांशों में किसी प्रकार का भेद नहीं, अतः अखण्डार्थत्व की उपपत्ति हो जाती है । एवं दोनों पदों के लक्ष्य एक होने पर भी वाच्य (वशिष्ट) अर्थों का भेद है, इसलिए पर्यायिता या पुनरुक्ति नहीं होती ।। १६१ ।।

यदि जीव तथा ब्रह्म का अत्यन्त अभेद है, तब दोनों के बोधक 'तत् त्वं' पदों का 'घटः, कलशः' के समान समानाधिकरण्य कैसे होगा ? क्योंकि 'नीलमुत्पलम्' आदि वाक्यों में पदों का किंचत् भेद रहने पर ही सामानाधिकरण्य देखा जाता है । इस का उत्तर है—

अद्वैतेऽर्थे प्रत्यगर्थोऽस्ति तद्वत्
प्रत्यक्तत्त्वे चाद्वयस्यापि भावः ।
यद्यप्येवं नातिरेकावकाशः
पूर्णे तत्त्वे तत्त्वमर्थोपपत्तेः ॥ १६२ ॥

योजना—अद्वैते अर्थे प्रत्यगर्थो अस्ति, तद्वत् प्रत्यक्तत्त्वे च अद्वयस्य भावोऽपि । यद्यपि एवं (तथापि) अतिरेकावकाशो न, पूर्णे तत्त्वे तत्त्वमर्थोपपत्तेः ।। (शालिनीच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—अद्वैत अर्थ में प्रत्यगर्थ (अभेदरूप से) है, वैसे ही प्रत्यगर्थ में अद्वयरूपता भी (अभेदरूप से) रहती है । यद्यपि (एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न निरूपकों से निरूपित अद्वयत्व और प्रत्यक्त्व दो धर्म हैं, तथापि) उनका भेद नहीं, क्योंकि एक ही पूर्ण तत्त्व में 'तत्' तथा 'त्वम्' दोनों पदों की लक्ष्यता बन जाती है ।।

भावितार्थ—जैसे एक ही दण्ड में ह्रस्वत्व और दीर्घत्व दोनों रहते हैं—दीर्घ दण्ड की अपेक्षा ह्रस्वत्व और ह्रस्व दण्ड की अपेक्षा दीर्घत्व । उस एक दण्ड के लिए 'ह्रस्वो दीर्घः'—इस प्रकार का सामानाधिकारण्य व्यवहार देखा जाता है । ठीक वैसे ही एक ही अखण्ड चेतन में 'माया' उपाधि की अपेक्षा तत्पदार्थत्व और 'अन्तःकरण' उपाधि की अपेक्षा से त्वम्पदार्थत्व रह जाता है । इस प्रकार 'तत् त्वमसि'—यह सामनाधिकारण्य निर्देश बन जाता है । इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि तत्पदार्थत्व (अद्वयत्वादि) तथा त्वम्पदार्थत्व (प्रत्यक्त्व) का अत्यन्त भेद है । दोनों पदों का लक्ष्य एक अखण्ड वस्तु ही है, उसी में दोनों धर्म रह सकते हैं, अतः अखण्डार्थकत्व की रक्षा हो जाती है ।।५६२।।

---

[1] अत्र पाठान्तरे—द्वयस्वप्रकाशे, द्वितीयप्रकाशे, इति ।

'तत्' तथा 'त्वम्' दोनों पदों में से एक के वाच्यार्थ में दूसरे पद की लक्षणा करके संसर्गरूप वाक्यार्थ क्यों न माना जाय ? इस शङ्का का समाधान है—

न च विनिगमनायां कारणं किञ्चिदस्ति
स्फुटमुभयपदस्था लक्षणा शस्यतेऽतः ।
न हि विनिगमनायां हेत्वभावे कदाचित्
क्वचिदियमुपलब्धा सोऽयमित्यादिवाक्ये ॥ १६३ ॥

योजना—विनिगमनायां किञ्चत् स्फुटं कारणं च न अस्ति, अतः उभयपदस्था लक्षणा शस्यते। विनिगमनायां हेत्वभावे सोऽयमित्यादिवाक्ये क्वचिद् (अपि) इयं कदाचित् नोपलब्धा ॥ (मालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—विनिगमना (एकपद-लक्षणा) में कोई स्पष्ट कारण नहीं, अतः उभय पद लक्षणा मानी जाती है, क्योंकि विनिगमना में हेतु न होने क कारण 'सोऽयं पुमान्' आदि वाक्यों में कहीं भी यह (एक पद-लक्षणा) कभी नहीं पाई जाती ॥

भावितार्थ—'किसी एक पद की लक्षणा की जाय' इसमें कोई भी विनिगमक नहीं। इसलिए दोनों पदों की लक्षणा अपनाई जाती है। अर्थात् श्रोताओं की इच्छादि को विनिगमक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि श्रोता अनन्त हैं और उनकी इच्छाएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। कोई श्रोता कहेगा कि प्रथम पद की तथा दूसरा कहेगा कि द्वितीय पद की लक्षणा की जाय। ऐसी परिस्थिति में किसी एक पद की लक्षणा करनी कैसे उचित होगी ? इसीलिए 'सोऽयम् पुमान्' आदि वाक्यों में कहीं भी एक-पद-लक्षणा नहीं देखी जाती, अपितु उभयपद-लक्षणा ही उपलब्ध होती है। प्रकृत में भी उभयपद-लक्षणा ही उचित है ॥ १६३ ॥

"प्रत्येक वाक्य का प्रथम पद (असंजात विरोधी होने के कारण) स्वार्थ-परक और अन्तिम पद लाक्षणिक माना जाय" यह भी नियम नहीं चल सकता—

प्रथमचरमभावो निर्णये कारणं चेद्
अयमपि नियमो न ह्यन्यथाऽप्यस्य दृष्टेः ।
प्रथमपठितमासीत्तत्पदं सामवेदे
चरमपठितमेतद् दृष्टमध्वर्युवेदे ॥ १६४ ॥

योजना—चेत् प्रथमचरमभावो निर्णये कारणम्, अयं नियमोऽपि नहि, अस्य अन्यथाऽपि दृष्टेः। तत् पदं सामवेदे प्रथम पठितम् आसीत्, एतत् अध्वर्युवेदे चरम-पठितम् ॥ (मालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—यदि कहें कि प्रथम तथा अन्तिम पाठ को निर्णय में कारण मान लिया जाय, तो यह नियम भी नहीं वनता, क्योंकि इसका भी विपर्यय देखा जाता है (जैसे कि) 'तत्' पदसामवेद (छान्दोग्योपनिषत्) में प्रथम पठित है और वह यजुर्वेद (बृहदारण्य-कस्थ 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य) में अन्त में पठित है ॥

भावितार्थ—पाठ-क्रम में प्रथमता को स्वार्थ-बोधकता का और अन्तिमता को लाक्षणिक बोध का निर्णायक नहीं माना जा सकता; क्योंकि तत् त्वमसि' (छां० ६।८।७)

में 'तत्' पद का प्रथम पाठ है और 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृह० १।४।१०) में त्वमर्थक 'अहम्' पद का। अतः एक-पद-लक्षणा सम्भव नहीं ॥ १६४ ॥

प्रथम-चरमभाव लौकिक वाक्य में भी निर्णायक नहीं, यह दिखाते हैं—

सोऽयं पुमानयमसाविति पौरुषेये
वाक्ये तथा व्यतिहृतेऽत्र विशेषहेतुः।
पूर्वापरत्वमिति शक्यमिदं न वक्तुम्।
मुख्यत्वलाक्षणिकते प्रति शब्दवृत्त्योः ॥ १६५ ॥

योजना—'सोऽयं पुमान्'—'अयम् असौ'—इति तथा व्यतिहृते अत्र पौरुषेये वाक्ये शब्दवृत्त्योः मुख्यत्वलाक्षणिकते प्रति इदं पूर्वापरत्वम् विशेषहेतुरिति न वक्तुं शक्यम् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—'सोऽयं पुमान्', 'अयम् असौ'—इस प्रकार वैसे (विपरीत) पढ़े इन लौकिक वाक्यों में शब्द-वृत्ति के मुख्यत्व तथा लाक्षणिकत्व के प्रति यह पूर्वापरभाव विशेष निर्णायक नहीं कहा जा सकता ॥

भावितार्थ—'सोऽयं पुमान्'—इस वाक्य में 'तत्' शब्द पूर्व तथा 'अयम्' शब्द पश्चात् पठित है। 'अयम् असौ'-इस वाक्य में उनका विपरीत प्रयोग देखा जाता है। प्रयोक्ताओं में कोई पौर्वापर्य का नियम नहीं देखा जाता। कोई वक्ता किसी पद का प्रयोग पहले तथा दूसरा वक्ता पश्चात् किया करता है; अतः पूर्वापरत्व शब्द-वृत्तियों का कदापि निर्णायक नहीं हो सकता ॥ १६५ ॥

तात्पर्यानुपपत्ति तथा विनिगमकाभाव के कारण अखण्ड ब्रह्म में 'तत्', 'त्वम्'—दोनों पदों की लक्षणा बताई गई। अब मुख्यार्थों की अन्वयानुपपत्ति से भी उभय-पद-लक्षणा कही जाती है—

न च भवति विरोधस्योत्थितस्यापनीतिः
पदयुगलनिविष्टां लक्षणामन्तरेण।
न हि भवति कदाचित्सद्वयस्याद्वयत्वं
न च भवति परोक्षः प्रत्यगर्थोऽपि तद्वत् ॥ १६६ ॥

योजना—पदयुगलनिविष्टां लक्षणाम् अन्तरेण उत्थितस्य विरोधस्य अपनीतिश्च न भवति, न हि सद्वयत्वम् कदाचित् अद्वयत्वम् भवति, न च परोक्षः तद्वत् प्रत्यगर्थोऽपि भवति ॥ (मालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—उभयपद-लक्षणा के बिना उठे विरोध की निवृत्ति भी नहीं होती; क्योंकि न तो सद्वयत्व कदाचित् अद्वयत्व ही हो सकता है और न परोक्ष वस्तु कदाचित् प्रत्यग्रूप ही हो सकती है ॥

भावितार्थ—'तत्' पद का मुख्यार्थ अद्वय परोक्ष चेतन तथा 'त्वम्' पद का सद्वय अपरोक्ष चेतन होता है। दोनों अर्थ परस्पर विरुद्ध हैं, अतः उनका अभेदान्वय उभयपद-लक्षणा के बिना नहीं बन सकता। फलतः उभयपद-लक्षणा अनिवार्य हो जाती है ॥ १६६ ॥

विशेषणों में भेद होने पर भी विशिष्ट का अभेद देखा जाता है, अतः अद्वयत्व सद्वयत्वादि विशेषणों का विरोध होने पर भी विशिष्ट का अभेद लक्षणा के बिना ही हो

जायगा—इस सन्देह का समाधान है—

अविरुद्धविशेषणद्वय-
प्रभवत्वेऽपि विशिष्टयोर्द्वयोः ।
घटते न यदैकदा तदा
नितरां तद्विपरीतरूपयोः ॥ १६७ ॥

योजना—यदा अविरुद्ध-विशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि द्वयोः विशिष्टयोः एकता न घटते, तदा तद्विपरीतरूपयोः नितराम् ॥ (सुन्दरीच्छन्दः[1]) ॥

योजितार्थ—जब कि दो अविरुद्ध विशेषणवाले दो विशिष्ट पदार्थों की एकता नहीं घटती, तब तो विरुद्ध विशेषणवाले दो विशिष्टों की सुतराम् (एकता नहीं हो सकती) ॥

भावितार्थ—'दण्डी कुण्डली चैत्रः'—यहाँ दण्ड और कुण्डल दोनों विशेषण यद्यपि अविरुद्ध (एक ही पुरुष में अन्वयी) हैं, तथापि दण्ड-विशिष्ट और कुण्डल-विषिष्ट का अभेद नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विशिष्ट का अभेद मानने पर विशेषणों का भी अभेद मानना पड़ेगा। इस प्रकार अविरुद्ध विशेपणों से विशिष्ट पदार्थों को जब अभिन्न नहीं कहा जा सकता, तब परोक्षत्व अपरोक्षत्वादि-विरुद्ध विशेषणों से विशिष्ट पदार्थों की एकता कभी हो ही नहीं सकती ॥ १६७ ॥

विशेषण के भेद से विशिष्ट पदार्थों का भेद माना जाय, तब विशेष्य के अभेद से उनमें अभेद क्यों नहीं माना जा सकता ? इस शङ्का का उत्तर है—

अथ केनचिदात्मनैकता
वचनेन प्रतिपाद्यते तयोः ।
तदसुन्दरमस्तमेति हि
स्फुटमेवं त्रिविधाऽपि लक्षणा ॥ १६८ ॥

योजना—अथ वचनेन तयोः केनचिदात्मना एकता प्रतिपाद्यते तद् असुन्दरम्, एवं हि त्रिविधा अपि लक्षणा स्फुटम् अस्तमेति ॥ (सुन्दरीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—यदि वाक्य के द्वारा उन दोनों की किञ्चिद्रूप से एकता का प्रतिपादन किया जाय, तो वह उचित न होगा; क्योंकि इस प्रकार तो तीनों प्रकार की भी लक्षणा विस्पष्टरूप से उच्छिन्न हो जाती है ॥

भावितार्थ—यदि तत्त्वम् पदों के द्वारा यथाकथञ्चित् (चैतन्यादि) रूप से जीव-ब्रह्म का अभेद कहा जायगा; तब "गंगायां घोषः" आदि स्थलों पर भी गंगादि पदों से समीपार्थक सप्तमी मानकर तीरादि अर्थों को भी कहा जा सकेगा। फिर तो कथित त्रिविध लक्षणा का उच्छेद ही हो जायगा ॥ १६८ ॥

जहदजहल्लक्षणा के द्वारा जो अखण्डार्थ का लाभ बताया गया; वह केवल जहल्लक्षणा से भी सिद्ध हो सकता है, यह दिखाते हैं -

---

[1] "अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः, सभराल्गा यदि सुन्दरी तदा ॥" (वृत्त० ४।१३) अर्थात् जिस पद्य के विषम चरणों में क्रमशः दो सगण, एक जगण तथा एक गुरु हो एवं समचरणों में एक सगण, एक भगण, एक रगण, एक लघु और एक गुरु हो, उसे सुन्दरी छन्द कहते हैं।

साभासाज्ञानवाची यदि भवति पुनर्ब्रह्मशब्दस्तथाहम्
शब्दोऽहंकारवाची भवति तु जहती लक्षणा तत्र पक्षे ।
नौरेषा रौति लोहं दहति विषधरो रज्जुरग्रे तवासा-
वित्यत्रेवाऽऽत्मवस्तुन्यपि भवतु जहल्लक्षणा को विरोधः ॥१६९॥

योजना—यदि पुनः ब्रह्मशब्दः साभासाज्ञानवाची भवति, तथा अहंशब्दो अहङ्कारवाची; तत्र पक्षे तु जहती लक्षणा भवति। "एषा नौः रौति" "लोहं दहति" "तवाग्रे असौ विषधरो रज्जुः"—इत्यत्रेव आत्मवस्तुन्यपि जहल्लक्षणा भवतु:, को विरोधः ? ॥ (स्रग्धराच्छन्दः)

योजितार्थ—यदि 'ब्रह्म' शब्द साभास अज्ञान का वाचक हो और 'अहम्' शब्द अहङ्कार का, उस पक्ष में तो जहती लक्षणा होती है। 'यह नौका रोती है', 'लोह-पिण्ड जलाता है', 'आपके सामने यह सर्प रज्जु है' इत्यादि स्थलों के समान ही आत्मवस्तु में भी जहल्लक्षणा हो, विरोध क्या ?

भावितार्थ—सर्व-व्यवहारातीत ब्रह्म में किसी शब्द की वाच्यता बन नहीं सकती, अतः 'ब्रह्म' पद का वाच्य आभास-विशिष्ट अज्ञान तथा 'अहम्' पदका वाच्य अहङ्कार होता है—इस पक्ष में जहल्लक्षणा होती है; क्योंकि ब्रह्म पद अपने वाच्य (साभास अज्ञान) को सर्वथा छोड़ कर उसके अधिष्ठान शुद्ध चेतन का बोधक तथा 'अहम्' शब्द भी अहङ्कार को छोड़ उसके अधिष्ठान शुद्ध चेतन का बोधक वैसे ही माना जाता है; जैसे कि 'नौः रौति'—में 'नौः' शब्द अपने वाच्य नौका रूप अर्थ को छोड़ कर नौकास्थ पुरुषों का बोधक होता है। 'लोहं दहति'—यहाँ 'लोह' शब्द अपने लोह अर्थ को छोड़ कर अग्नि में प्रवृत्त हुआ है एवं 'विषधरो रज्जुः'—यहाँ 'विषधर' पद अपने वाच्य (सर्प) अर्थ को छोड़ कर रज्जु में प्रयुक्त हुआ है। इस श्लोक के 'यदि' और 'पक्ष' पदों से ग्रन्थकार ने सूचित कर दिया है कि यह वेदान्त का मुख्य पक्ष नहीं। मुख्य पक्ष में जहदजहल्लक्षणा हो मान्य है ॥१६९॥

गौणी वृत्ति का सहारा लेकर भी अखण्डार्थता बन सकती है—

प्रत्यक्त्वादिगुणान्वयेन यदि वा गौण्यस्तु वृत्तिस्तयो-
र्ब्रह्माहम्पदयोः परेतरदृशोर्मुख्ये विरोधो यतः ।
मुख्यार्थानुपपत्तिहेतुकतया गौण्यस्ति वृत्तिर्यतो
लोके माणवको विभावसुरसौ सिंहः पुमानित्यपि ॥ १७० ॥

योजना—यदि वा यतः परेतरदृशोः ब्रह्माहम्पदयोः मुख्ये विरोधः, अतः तयोः प्रत्यक्त्वादिगुणान्वयेन गौणी वृत्तिरस्तु। यतः लोके 'विभावसुः माणवकः', 'सिंहः पुमान्'—इत्यादि मुख्यार्थानुपपत्तिकतया गौणी वृत्तिरस्ति ॥ (शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः)

योजितार्थ—अथवा परापर चैतन्य-ज्ञान-जनक 'ब्रह्म' पद तथा 'अहम्' पद के मुख्यार्थभेद में विरोध है; अतः उक्त दोनों पदों की प्रत्यक्त्वादि गुणान्वयन के द्वारा गौणी वृत्ति होती है; क्योंकि लोक में भी 'अग्निर्माणवकः', 'सिंहः पुमान्'—आदि स्थलों पर मुख्यार्थानुपपत्ति के कारण ही गौणी वृत्ति मानी जाती है ॥

भावितार्थ—निर्गुण में कोई भी गुण नहीं, फिर भी प्रौढिवाद का सहारा लेकर ग्रन्थकार ने गौणी वृत्ति का समर्थन किया है। जैसे लोक में 'अग्निर्माणवकः'—आदि

प्रयोगों में गौणी वृत्ति मानी जाती हैं; क्योंकि 'अग्नि' पद स्ववाच्य-वृत्ति तेजस्वित्वादि गुणों के सम्बन्ध से माणवक में प्रवृत्त होता है; वैसे ही 'अहं ब्रह्मास्मि'—आदि वैदिक प्रयोगों में भी 'अहम्' पद तथा 'ब्रह्म' पद स्ववाच्य-वृत्ति चेतनत्वादि गुण के सम्बन्ध से शुद्ध चेतन के बोधक होते हैं ॥ १७० ॥

लक्षणा वृत्ति तथा गौणी वृत्ति का अन्तर दिखाते हैं—

परशब्दवृत्तिरपरत्र भवेदिति
यद्यपीदमुभयोः सदृशम् ॥
अनयोस्तथाऽपि तु विभागकरं
स्फुटमस्ति लक्षणमवान्तरकम् ॥ १७१ ॥

योजना—'परशब्दवृत्तिः अपरत्र भवेद्'—इति यद्यपि उभयोः सदृशम्, तथापि अनयोः विभागकरं स्फुटम् अवान्तरलक्षणम् अस्ति ॥ (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—'अन्यार्थ-वाचक शब्द की अन्य अर्थ में वृत्ति'—यह लक्षण यद्यपि दोनों (लक्षणा और गौणी) में समान है, तथापि इन दोनों का भेदक अतिस्पष्ट अवान्तर लक्षण होता है ॥

भावितार्थ—'गङ्गायां घोषः'— यहाँ 'गङ्गा' पद स्वार्थ से भिन्न तीरार्थ में तथा 'अग्निर्माणवकः'—में 'अग्नि' पद स्वार्थ से भिन्न माणवकार्थ में प्रवृत्त होता है । इस प्रकार 'परशब्द की परार्थ में प्रवृत्ति'—इतना मात्र तो दोनों (लक्षणा और गौणी) में समान ही है । किन्तु उनके अवान्तर लक्षणों से उनका भेद नितान्त स्पष्ट हो जाता है ॥१७१॥

उनके भेदक अवान्तर लक्षण ही दिखाते हैं—

गुणतो गुणवृत्तिरिष्यते
ह्यपरा लाक्षणिकी तु संगतेः ।
इति भेदकमस्ति लक्षणा
गुणवृत्त्योरिति वेदवादिनः ॥ १७२ ॥

योजना—गुणतः हि गुणवृत्तिः इष्यते, संगतेस्तु अपरा लाक्षणिकी—इति लक्षणांगुणवृत्त्योः भेदकम् अस्तीति वेदवादिनः (सुन्दरीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—गुण योग से गुणवृत्ति मानी जाती है, और सम्बन्धमात्र से दूसरी लक्षणावृत्ति—यह लक्षणावृत्ति और गुणवृत्ति का भेदक है, ऐसा वेदवादी कहते हैं ।

भावितार्थ—[1]मीमांसकों ने कहा है कि लक्ष्यमाण गुण के योग से अन्यार्थक शब्द की अन्यत्र वृत्ति का नाम गौणी वृत्ति और स्वार्थ-सम्बन्धमात्र को लेकर अन्यार्थक शब्द की अन्यंत्र वृत्ति का नाम लक्षणा वृत्ति है । जैसे कि गंगादि लाक्षणिक पद स्वार्थान्वय की अनुपपत्ति के कारण स्वार्थ (प्रवाह) को छोड़ कर तत्सम्बन्धी तीर के बोधक होते हैं ।

---

१. कुमारिल भट्ट ने कहा है—

"अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥" (तं० वा०)

तत्र यथैवाऽऽकृतिवचनः किं तर्हि""(तं० वा० पृ० ३५४)

यहाँ गुण-योग की अपेक्षा नहीं, क्योंकि तीरार्थ में गंगा का कोई सादृश्य प्रतीत नहीं होता। "सिंहो माणवकः"—यहाँ पर सिंहादि गौण शब्द स्वार्थसम्बन्धी माणवक के बोधन में शौर्यादि गुणों के योग से प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार उक्त दोनों वृत्तियों का स्पष्ट अन्तर परिलक्षित होता है ।। १७२ ।।

भागत्याग-लक्षणा, जहल्लक्षणा और गौणीवृत्ति-इन तीनों से जिस अखण्डार्थ में महावाक्य का तात्पर्य बताया गया, उस अखण्डार्थ को अवान्तरवाक्यों के अनुसार अनुभवारूढ़ करते हैं—

नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः
सत्यः सूक्ष्मः सन् विभुश्चाद्वितीयः।
आनन्दाब्धिर्यः परः सोऽहमस्मि
प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीतिरस्ति ॥ १७३ ॥

योजना—यः नित्यः शुद्धः बुद्धमुक्तस्वभावः, सत्यः, सूक्ष्मः, सन् विभुः, अद्वितीयः, आनन्दाब्धिः परः, अहं प्रत्यग्धातुः सोऽस्मि, अत्र संशीतिः नास्ति।। (इन्द्रवज्राच्छन्दः)।।

योजितार्थ—जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप, सत्य, सूक्ष्म, सत्, अद्वितीय, परमानन्दरूप परमात्मा है; मैं प्रत्यगात्मा वही हूँ—इसमें कोई संशय नहीं ।।

भावितार्थ— 'नित्यादि' पदों से तत्पद-लक्ष्य 'प्रत्यग्धातु' पद से त्वम्पद-लक्ष्य और 'अस्मि' पद से अभेद बताया है। नित्य=कालत्रयापरिच्छेद्य, शुद्ध=अविद्या कलङ्क-रहित, बुद्ध=स्वप्रकाशबोधस्वरूप, मुक्त=रागादि बन्ध-रहित, सत्य=त्रिकालाबाध्य, सूक्ष्म=दुर्विज्ञेय, सन्=भावस्वभाव, विभु=देशापरिच्छिन्न, अद्वितीय=वस्त्वन्तर-रहित, आनन्दाब्धि=निरतिशयानन्द स्वरूप, पर=परमात्मा। प्रत्यग्धातु=अहङ्कार-साक्षिस्वरूप। इन दोनों का अभेद प्रमाण और युक्तियों के बल पर कहा जा चुका है एवं आगे भी कहा जायगा; अतः इसमें संशय की कोई गुञ्जाइश नहीं ।। १७३ ।।

नित्यत्वादि धर्म ब्रह्मस्वरूप हैं ? या नहीं ? इसमें मतभेद दिखाते हैं—

सच्चित्सुखाद्वयवपुः कथयन्ति केचित्
सच्चित्सुखात्मकमिति प्रथयन्ति केचित्।
ब्रह्मेतराणि किल नास्य वपूंषि तेषाम्
बुद्धौ स्फुरन्त्यपररूपनिवृत्तिभावात् ॥ १७४ ॥

योजना—सच्चित्सुखाद्वयवपुः (ब्रह्मेति) केचित् कथयन्ति। सच्चित्सुखात्मकम् ब्रह्मेति केचित् प्रथयन्ति। तेषाम् इतराणि किल अस्य वपूंषि बुद्धौ न परिस्फुरन्ति; अपररूपनिवृत्तिभावात् ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—सत् , चित् और अद्वयादि सभी ब्रह्म के स्वरूप हैं—ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं। सत् , चित् और सुख ही ब्रह्म के स्वरूप हैं—ऐसा अन्य आचार्य कहते हैं। इनके मत से अन्य (अद्वयादि) ब्रह्म के स्वरूप नहीं प्रतीत होते; क्योंकि वे (अद्वयादि) केवल अन्य (द्वयादि) रूपों की निवृत्ति-स्वरूप होते हैं ।।

भावितार्थ—कुछ आचार्य सच्चित्सुखाद्वयरूपता ब्रह्म का स्वरूप मानते हैं और दूसरे

आचार्य अद्वयत्व को छोड़कर सच्चित्सुखरूपता को ही ब्रह्म का स्वरूप मानते हैं। इनके मतों में नित्यत्वादि को ब्रह्मस्वरूप नहीं माना जाता; क्योंकि नित्यत्वादि, अनित्यत्वाभाव होने से अभावरूप हैं और अभाव कभी भावस्वरूप ब्रह्म का विशेषण बन नहीं सकता। अतः नित्यत्वादि ब्रह्म के धर्म हैं; स्वरूप नहीं। उक्त दोनों मतों में ग्रन्थकार ने अपना अविश्वास प्रकट करने के लिए दो 'केचित्' पद रक्खे हैं। अविश्वास का कारण यह है कि जैसे सच्चिदादि शब्द लक्षणा के द्वारा ब्रह्म स्वरूप के ही समर्पक माने जाते हैं, वैसे नित्यत्वादि शब्द भी ब्रह्म-स्वरूप-समर्पक माने जा सकते हैं। इसीलिए ब्रह्म नित्यत्वादि-स्वरूप कहा जाता है। इस प्रकार न तो ब्रह्म में अभावरूपता ही प्राप्त होती है और न अभावरूप नित्यत्वादि धर्मों की आश्रयता ॥ १७४ ॥

ब्रह्म की कथित सच्चिदादिरूपता का बोध 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इस अवान्तरवाक्य से सम्भव नहीं हो सकता; क्योंकि सत्यादि पद समप्रधान होने से परस्पर अन्वयी नहीं हो सकते। एवं 'प्राणा वै सत्यम्' (बृ० २।१।२०) आदि में 'सत्य' पद प्राणादि में प्रयुक्त हुआ है, अतः वह ब्रह्मार्थक हो भी कैसे सकेगा? इस शङ्का का यह समाधान है—

ब्रह्मेति शेषिपदमत्र हि लक्ष्यमेकम्
शेषाणि लक्षणसमर्पणमस्य कुर्युः ।
लक्ष्यार्पणेन सह लक्षणवाचि सर्वं
संगच्छतेऽरुणपदं क्रयवाचिनैव ॥ १७५ ॥

योजना—अत्र हि ब्रह्मेत्येकं पदं शेषि लक्ष्यम्, शेषाणि अस्य लक्षणसमर्पणं कुर्युः। क्रयवाचिना अरुणपदं सर्वं लक्षणवाचि लक्ष्यार्पणेन सह सङ्गच्छते ॥ (व० छ०) ॥

योजितार्थ—इस ('सत्यं ज्ञानमनन्तम्' वाक्य) में 'ब्रह्म'–यह एक पद प्रधान लक्ष्यार्थक है, शेष (सत्यादिपद) उस लक्ष्य का लक्षण-समर्पण करते हैं। जैसे ('अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहान्या सोमं क्रीणाति' इस वाक्य में) क्रयण-वाचक (क्रीणाति) पद के साथ अरुणादि (पद अन्वयी होते हैं), वैसे ही सब लक्षण-वाचक (सत्यादि) पद लक्ष्यार्थक (ब्रह्म) पद के साथ अन्वयी होते हैं ॥

भावितार्थ—सभी अङ्ग अपने प्रधान के साथ अन्वयी हुआ करते हैं। जैसे कि 'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति' (अर्थात् अरुणा पिङ्गलाक्षी, एक वर्ष की गौ देकर सोम-क्रयण करता है) यहाँ सभी अरुणादि पदों का प्राथमिक अन्वय-बोध में एक साथ अपने प्रधान 'क्रीणाति' के साथ ('अरुणया क्रीणाति, पिङ्गाक्ष्या क्रीणाति, एकहायन्या क्रीणाति'–इस प्रकार) अन्वय होता है। वैसे ही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'– इस वाक्य में ब्रह्मरूप लक्ष्य का समर्पक 'ब्रह्म' पद प्रधान तथा लक्षण-समर्पक सत्यादि पद अङ्ग हैं। अतः सभी सत्यादि पदों का एक ब्रह्म के साथ अन्वय हो जाने पर सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म का लाभ हो जाता है ॥ १७५ ॥

यदि सत्यादि पदों का परस्पर अन्वय न होकर एक ब्रह्म के साथ ही अन्वय होगा, तब विभिन्न सत्यादि पदार्थों का वाक्यार्थ में भान होने से अखण्डैकरस का भान कैसे होगा? इस सन्देह को दूर करते हैं—

पृष्ठात् परस्परयुजा प्रतिपत्तिरेषा-
मेवंविधत्वमुपपादयितुं समर्था ।
लक्ष्यस्य तस्य महतः क्रयवस्तुवत्स्यात्
सर्वस्य कारकपदस्य परस्परेण ॥ १७६ ॥

योजना—एषां पश्चात् परस्परयुजा प्रतिपत्तिः लक्ष्यस्य तस्य महतः एवं विधत्वम् उपपादयितुं सर्वस्य कारकपदस्य परस्परेण क्रयवस्तुवत् समर्था ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः)

योजितार्थ—इन (सत्यादि) पदों के पाश्चिक पारस्परिक अन्वय से लक्ष्यभूत उस महान् ब्रह्म की तद्रूपता (अखण्डैकरसता) का उपपादन सभी (अरुणादि) कारक पदों के परस्पर अन्वित होने में क्रयवस्तु-प्रतिपादन के समान ही हो सकता है ॥

भावितार्थ—पदार्थों का अन्वय दो प्रकार का होता है—प्राथमिक और पाश्चात्य । प्रथमतः सभी अङ्ग पदार्थों का एक प्रधान पदार्थ से और पश्चात् अङ्ग पदार्थों का परस्पर यथायोग्य अन्वय होता है । जैसे 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति'—इस वाक्य में आरुण्यादि अङ्ग पदार्थों का पहले क्रयण रूप प्रधान पदार्थ के साथ (अरुणया क्रीणाति, पिङ्गाक्ष्या क्रीणाति, एकहायन्या क्रीणाति—इस प्रकार) अन्वय होता है । पश्चात् अरुणादि कारक पदार्थों का परस्पर अन्वय (यया सोमं क्रीणाति, सा अरुणा, पिङ्गाक्षी, एकहायनी—इस प्रकार) होता है । प्रकृत में भी 'सत्यं ब्रह्म, ज्ञानं ब्रह्म, अनन्तं ब्रह्म'—इस प्रकार प्राथमिक अन्वय हो जाने के पश्चात् 'यत् सत्यम्, तज्ज्ञानम्' 'यज्ज्ञानम्, तदनन्तम्'—इस प्रकार परस्पर अन्वय होता है । फलतः अखण्डैकरसता का लाभ हो जाता है ॥

सत्यादि पदों का वाच्य अर्थ भिन्न-भिन्न है; अतः वे परस्परान्वयी होकर भी एक अर्थ के बोधक कैसे होंगे ? इस शङ्का का उत्तर है –

तत्त्वं पदार्थविषयो नय एव योज्यः
सत्यादिवस्तुषु न तत्र विशेषकल्पः ।
सत्यादिशब्दविषयाः शबलास्तदर्थ-
भागेषु लाक्षणिकवृत्तिरपीह तुल्या ॥ १७७ ॥

योजना—सत्यादिवस्तुषु तत्त्वं पदार्थविषयो नय एव योज्यः, तत्र विशेषकल्पो न । सत्यादिशब्दविषयाः शबलाः तदर्थभोगेषु लाक्षणिकवृत्तिरपि इह तुल्या ॥ (वसन्त० छन्दः)

योजितार्थ—सत्यादि पदार्थों में भी तत्त्वम्पदार्थ विषयक न्याय ही लगा लेना चाहिए, अन्य कोई प्रकार (सत्यादि पदों के अन्वयबोध में) नहीं ।। सत्यादि शब्दों के वाच्यार्थ शबल (विशिष्ट) हैं और (उनकी) अपने वाच्यार्थ के एकदेश में लक्षणावृत्ति भी (तत्त्वं पद के) समान ही होती है ॥

भावितार्थ— सत्यादि पदों के वाचयार्थ अवश्य ही भिन्न-भिन्न हैं; तथापि भागत्याग-लक्षणा के द्वारा सभी पद अखण्डैकरस वस्तु के लक्षक माने जाते हैं । यहाँ भी तत्त्वम् पदों के समान ही भागत्याग लक्षणा का पूरा प्रकार अपना लेना चाहिए । उसी मार्ग से यहाँ भी अखण्डैकरस तत्त्व का लाभ होता है ॥ १७७ ॥

सत्यादि पदों के विशिष्टरूप वाच्यार्थ दिखाते है –

आकाशादौ सत्यता तावदेका
प्रत्यङ्मात्रे सत्यता काचिदन्या ।
तत्सम्पर्कात्सत्यता तत्र चान्या
व्युत्पन्नोऽयं सत्यशब्दस्तु तत्र ॥ १७८ ॥

योजना—आकाशादौ तावत् एका सत्यता, प्रत्यङ्मात्रे काचिद् अन्या सत्यता। तत्सम्पर्कात् तत्र च अन्या सत्यता। अयं सत्यशब्दस्तु तत्र व्युत्पन्नः ॥(शालिनीच्छन्दः)॥

योजितार्थ—आकाशादि में तो एक (व्यावहारिकी) सत्यता है, प्रत्यगात्मा में कोई अन्य (पारमार्थिकी) सत्यता है। उन दोनों (सत्यों) के सम्पर्क (परस्पर तादात्म्य) से निष्पन्न (विशिष्ट) में अन्य (समुदायरूपा) सत्यता है। यह 'सत्य' शब्द, उसी (समुदाय) सत्यता में व्युत्पन्न है ॥

भावितार्थ—आकाशादि पदार्थ व्यवहार-काल में अबाध्य हैं, अतः इनमें व्यावहारिकी सत्यता है। शुद्ध चेतन में सर्वथाऽबाध्यत्वरूप पारमार्थिक सत्यत्व है। आकाशादि तथा चेतन के परस्पर अध्यास से निष्पन्न विशिष्ट पदार्थ में सत्यादि शब्दों की वाच्यता गृहीत होती है ॥ १७८ ॥

'ज्ञान' पद का वाच्यार्थ कहते हैं—

बुद्धेर्वृत्तौ ज्ञानता तावदेका
प्रत्यग्बोधे ज्ञानता काचिदन्या ।
तत्सम्पर्काज्ज्ञानता तत्र चान्या
व्युत्पन्नोऽयं ज्ञानशब्दस्तु तत्र ॥ १७९ ॥

योजना—बुद्धेर्वृत्तौ तावद् एका ज्ञानता, प्रत्यग्बोधे काचिद् अन्या ज्ञानता। तत्सम्पर्कात् तत्र चान्या ज्ञानता। अयं ज्ञानशब्दस्तु तत्र व्युत्पन्नः ॥ (शालिनीच्छन्दः)

योजितार्थ—बुद्धि की वृत्ति में एक (व्यावहारिकी) ज्ञानरूपता और प्रत्यग्बोध में कोई अन्य (तात्त्विक) ज्ञानता है। उनके तादात्म्याध्यास से निष्पन्न विशिष्टार्थ में अन्य (समुदायरूप) ज्ञानता है। यह 'ज्ञान' शब्द उस (विशिष्ट) अर्थ में गृहीतशक्तिक है ॥

भावितार्थ—घटाद्याकार बुद्धि-वृत्ति में ज्ञानता चैतन्याभिव्यञ्जकरूप (व्यावहारिकी) ज्ञानता तथा प्रत्यक्चैतन्य में स्वप्रकाशज्ञानतारूप (पारमार्थिकी) ज्ञानता है। उन दोनों के तादात्म्याध्यास से निष्पन्न विशिष्टतत्त्व का 'ज्ञान' पद वाचक होता है ॥ १७९ ॥

'आनन्द' पद का वाच्यार्थ दिखाते हैं—

बुद्धेर्वृत्तौ तावदानन्दतैका
प्रत्यङ्मात्रे काचिदानन्दतान्या ।
तत्सम्पर्कात्तत्र चाऽऽनन्दताऽन्या
व्युत्पन्नोऽयं तत्र चाऽऽनन्दशब्दः ॥ १८० ॥

योजना—बुद्धेः वृत्तौ तावत् एका आनन्दता, प्रत्यङ्मात्रे काचित् अन्या आनन्दता। तत्सम्पर्कात् तत्र च अन्या आनन्दता। अयम् 'आनन्द' शब्दः तत्र व्युत्पन्नः ॥ (शा० छ०)

योजितार्थ—बुद्धि की (सुख-व्यञ्जक) वृत्ति में एक (व्यावहारिकी) आनन्दता तथा प्रत्यक्चैतन्य में अन्य (परमप्रेमास्पदत्वरूप पारमार्थिकी) आनन्दता है। उन दोनों की तादात्म्यापत्ति से परिनिष्पन्न वस्तु इस 'आनन्द' पद का वाच्य है ॥ १८० ॥

'नित्य' पद-वाच्यार्थ—

आकाशादौ नित्यता तावदेका
प्रत्यङ्मात्रे नित्यता काचिदन्या।
तत्सम्पर्कान्नित्यता तत्र चान्या
व्युत्पन्नोऽयं नित्यशब्दस्तु तत्र ॥ १८१ ॥

योजना—आकाशादौ तावद् एका नित्यता, प्रत्यङ्मात्रे काचिद् अन्या नित्यता। तत्सम्पर्कात् तत्र च अन्या नित्यता, अयं नित्यशब्दस्तु तत्र व्युत्पन्नः ॥ (शा० छ०)

योजितार्थ—आकाशादि में एक (कल्पस्थायित्वरूप व्यावहारिकी) नित्यता एवं शुद्ध चेतन में अन्य (त्रिकालापरिच्छेद्यत्वरूप पारमार्थिकी) नित्यता है। उन दोनों के सम्पर्क से परिनिष्पन्न उस (विशिष्ट) तत्त्व में यह नित्य शब्द शक्त है ॥ १८१ ॥

'शुद्ध' पद वाच्यार्थ—

आकाशादौ शुद्धता तावदेका
प्रत्यङ्मात्रे शुद्धता काचिदन्या।
तत्सम्पर्काच्छुद्धता तत्र चान्या
व्युत्पन्नोऽयं शुद्धशब्दस्तु तत्र ॥ १८२ ॥

योजना—आकाशादौ तावद् एका शुद्धता, प्रत्यङ्मात्रे च काचिद् अन्या शुद्धता। तत्सम्पर्कात् तत्र चान्या शुद्धता, अयं शुद्धशब्दस्तु तत्र व्युत्पन्नः ॥ (शालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—आकाशादि में एक (मलादि-लेप-रहितत्वरूप व्यावहारिक) शुद्धता है, शुद्ध चैतन्य में अन्य (असङ्गत्वरूप पारमार्थिक) शुद्धता है। उन दोनों की तादात्म्यापत्ति से बने विशिष्ट पदार्थ में यह शुद्ध शब्द गृहीतशक्तिक है ॥ १८२ ॥

'मुक्त' पद-वाच्यार्थ—

गोवत्सादौ मुक्तता तावदेका
प्रत्यङ्मात्रे मुक्तता काचिदन्या।
तत्सम्पर्कान्मुक्तता तत्र चान्या
व्युत्पन्नोऽयं मुक्तशब्दस्तु तत्र ॥ १८३ ॥

योजना—आकाशादौ तावत् एका मुक्तता, प्रत्यङ्मात्रे च काचिदन्या मुक्तता। तत्सम्पर्कात् तत्र च अन्या मुक्तता, अयं मुक्तशब्दस्तु तत्र व्युत्पन्नः ॥ (शा० छ०) ॥

योजितार्थ—आकाशादि में एक (बन्ध-रहिततारूप व्यावहारिक) मुक्तता, शुद्ध चैतन्य में कोई अन्य (संसार-रहितत्वरूप पारमार्थिक) मुक्तता है। उन दोनों के तादात्म्याध्यास से निष्पन्न विशिष्ट अर्थ में यह 'मुक्त' शब्द गृहीतसामर्थ्यक है ॥ १८३ ॥

'सत्' शब्द का वाच्यार्थ—

आकाशादावस्तिता तावदेका
प्रत्यक्तत्त्वे चास्तिता काचिदन्या ।
तत्सम्पर्कादस्तिता तत्र चान्या
व्युत्पन्नोऽयं तत्र चास्तीति शब्दः ॥ १८४ ॥

योजना—आकाशादौ तावद् एका अस्तिता, प्रत्यक्तत्त्वे काचिद् अन्या अस्तिता । तत्सम्पर्कात् तत्र चान्या अस्तिता, तत्र अयं अस्तीति शब्दः व्युत्पन्नोऽस्ति ॥ (शा०छ०) ॥

योजितार्थ—आकाशादि में एक (व्यावहारिकसत्तारूप) अस्तिता, शुद्ध चेतन तत्त्व में कोई अन्य (पारमार्थिक सत्तारूप) अस्तिता है । उन दोनों के सम्पर्क से परिनिष्पन्न विशिष्ट तत्त्व में अन्य अस्तिता है । यह 'अस्ति' शब्द उस विशिष्ट अर्थ में शक्त है ॥ १८४ ॥

सत्यादि शब्दों के विशिष्टरूप वाच्यार्थ में से चैतन्य भाग का त्याग करके आकाशादि भाग में लक्षणा क्यों न मानी जाय ? इस शङ्का का समाधान है—

यो यः शब्दो यत्कृतेऽर्थे निरूढः
तत्रैवार्थे लक्षणा वृत्तिरस्य ।
वक्तव्या स्यात्पण्डितैरेवमेतत्
प्रत्यक्पूर्णं ब्रह्म वेदान्तवेद्यम् ॥ १८५ ॥

योजना—यो यः शब्दः यत्कृते अर्थे निरूढः, तत्रैवार्थेऽस्य लक्षणा वृत्तिः पण्डितैः वक्तव्या स्यात् । एवम् एतत् प्रत्यक्पूर्णं ब्रह्म वेदान्दवेद्यम् ॥ (शालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—जो-जो शब्द जिस निमित्त को लेकर किसी अर्थ का वाचक होता है, उस (निमित्तभूत) अर्थ में उस पद की लक्षणा वृत्ति पण्डितगण मानते हैं । इस प्रकार यह प्रत्यक्पूर्ण ब्रह्म वेदान्त-वेद्य होता है ।

भावितार्थ—भाग-त्याग लक्षणा का यह स्वभाव है कि जिस निमित्त को लेकर कोई शब्द विशिष्टार्थ में प्रयुक्त होता है; उस निमित्तभूत अर्थ में ही उस शब्द की लक्षणा होती है, भागान्तर में नहीं । जैसे "सोऽयं देवदत्तः" में शुद्ध देवदत्त को निमित्त मानकर ही तद्देश-विशिष्ट देवदत्त में 'तत्' पद प्रयुक्त हुआ है, अतः देवदत्त भाग में ही उसकी भागत्याग लक्षणा हो सकती है, देशादि भाग में नहीं । वैसे ही सत्यादि शब्द चेतन-निमित्तक ही आकाशादि-विशिष्ट चेतन के वाचक होते हैं । अर्थात् चैतन्य की सत्यता से ही आकाशादि सत्य है, स्वतः नहीं । शतः सत्यादि शब्दों की लक्षणा चैतन्य भाग में ही होगी, आकाशादि भाग में नहीं ॥ १७५ ॥

जिज्ञासा होती है कि सत्यादि पदों के लक्ष्यार्थ परस्पर भिन्न हैं ? या अभिन्न ? भिन्न मानने पर ब्रह्म में अनेकाकारता प्राप्त होगी, अखण्डैकरसता भंग हो जायगी । अभिन्न मानने पर पुनरुक्ति दोष होता है । इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए कहा गया है—

सत्येऽप्यस्ति ज्ञानता ज्ञानतायां
सत्यत्वं च स्पष्टमस्त्येव तद्वत् ।
सत्यप्येवं नातिरेकावकाशः
पूर्णे तत्त्वे ज्ञानसत्योपपत्तेः ॥ १८६ ॥

योजना— सत्येऽपि ज्ञानता अस्ति, तद्वत् ज्ञानतायां सत्यत्वं स्पष्टमस्त्येव । एवं सत्यपि अतिरेकावकाशो न, पूर्णे तत्त्वे ज्ञानसत्योपपत्तेः । (शालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—सत्य में भी ज्ञानता है, उसी प्रकार ज्ञानता में भी सत्यत्व स्पष्ट है । इस प्रकार (औपाधिक धर्म भेद होने पर) भी (लक्ष्यार्थ में) भेद का अवकाश कभी नहीं, क्योंकि पूर्ण तत्त्व में ज्ञानत्व और सत्यत्व—दोनों रह सकते हैं ॥

भावितार्थ—सत्यत्वादि रूप से लक्ष्य का अभेद ही है । इस पक्ष में पुनरुक्ति के कारण पदान्तर का प्रयोग निरर्थक इसलिए नहीं होता कि सत्यादि पदों का व्यावर्त्य भिन्न-भिन्न है । 'सत्य' पद से अनृतत्व की एवं ज्ञानादि पदों से जड़तादि की व्यावृत्ति विवक्षित है । इसलिए लक्ष्यार्थ में किसी प्रकार के भेद को अवकाश नहीं । एक ही अखण्ड चेतनरूप लक्ष्य में अनृतत्वादि-व्यावृत्ति के रूप में सत्यत्वादि-धर्मों का सामञ्जस्य हो जाता है ॥ १८६ ॥

'आनन्द' और 'ज्ञान' पदों में भी वैसा ही लक्ष्याभेद होता है—

आनन्दत्वे ज्ञानता ज्ञानताया-
मानन्दत्वं विद्यते निर्विशङ्कम् ।
सत्यप्येवं नातिरेकावकाशः
पूर्णे तत्त्वे ज्ञानसौख्योपपत्तेः ॥ १८७ ॥

योजना—आनन्दत्वे ज्ञानता ज्ञानतायाम् आनन्दत्वं निर्विशङ्कं विद्यते । एवं सत्यपि अतिरेकावकाशो न; पूर्णे तत्त्वे ज्ञानसौख्योपपत्तेः ॥ (शालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—आनन्दत्व में (अभिन्नरूप से) ज्ञानता एवं ज्ञानता में आनन्दत्व भी निःसन्दिग्धरूप से विद्यमान है । इस प्रकार (औपाधिक भेद होनेपर भी) लक्ष्यार्थ में भेद को कोई भी अवकाश नहीं ॥ १८७ ॥

'सत्य' तथा 'आनन्द' शब्द में भी वही न्याय है—

आनन्दत्वे सत्यता सत्यताया-
मानन्दत्वं निर्विवादं प्रसिद्धम् ।
सत्यप्येवं नातिरेकावकाशः
पूर्णे तत्त्वे सत्यसौख्योपपत्तेः ॥ १८८ ॥

योजना—आनन्दत्वे सत्यता, सत्यतायाम् आनन्दत्वं निर्विवादं प्रसिद्धम् । एवं सत्यपि अतिरेकावकाशो न; पूर्णे तत्त्वे सत्यसौख्योपपत्तेः ॥ (शालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—आनन्दत्व में सत्यता और सत्यता में आनन्दत्व निर्विवाद रूप से प्रसिद्ध है । ऐसा (औपाधिक धर्मों का भेद) होने पर भी (लक्ष्य-स्वरूप में) भेद की सम्भावना नहीं, क्योंकि पूर्ण तत्त्व में सत्यत्व तथा सौख्य (आनन्दत्व) दोनों उपपन्न हैं ॥ १८८ ॥

उक्त न्याय शेष धर्मों में भी समान रूप से लागू होता है—

शेषेऽप्यूह्यं न्यायसाम्यादशेष-
मन्योन्यस्मिन्नस्तिता पूर्णता च ।
अन्योऽन्यस्याजामिता शब्दशक्ते-
रेवं सुस्थं सर्वमुक्तोपपत्तेः ॥ १८९ ॥

योजना—शेषेऽपि न्यायसाम्यात् अशेषम् ऊह्यम्—अन्योऽन्यस्य अन्योऽन्यस्मिन् अस्तिता पूर्णता, शब्दशक्तेः अजामिता च । एवम् उक्तोपपत्तेः सर्वं सुस्थम् । (शा०छ०) ।

योजितार्थ—शेषभूत नित्यत्वादि धर्मों में भी उक्त न्याय की समानता के कारण अशेष (अभेदादि) पदार्थों की ऊहा (कल्पना) कर लेनी चाहिए, जैसे कि—धर्मों का परस्पर एक दूसरे में रहना, (लक्ष्य की) पूर्णता तथा शब्द-शक्ति की अपुनरुक्तता । इस प्रकार उक्त मार्ग से सर्वोपपत्ति हो जाने पर समस्त सिद्धान्त सुस्थिर हो जाता है ॥

भावितार्थ—सत्यता, ज्ञानता, आनन्दता—इन तीन पदार्थों में योजित न्याय की संघटना शेष (नित्यत्व, शुद्धत्व, सूक्ष्मत्व, बुद्धत्व, मुक्तत्व, सत्यत्व, विभुत्व और अद्वितीयत्व, इन आठ) पदार्थों में भी कर लेनी चाहिए । इस प्रकार सब मिलाकर ग्यारह पदार्थों के परस्पर अभिन्न होने के कारण अखण्डैकरसरूप वाक्यार्थ सिद्ध हो जाता है ॥१७६॥

ब्रह्मादि पदों की विशिष्टार्थ-वाचकता में प्रमाण देने के लिए नैष्कर्म्यसिद्धि-वचन का अर्थतः अनुवाद करते हैं—

बोधात्मत्वे निर्निमित्ते प्रतीचो
बोधात्मत्वे तन्निमित्ते च बुद्धेः ।
बोधात्मत्वे बुद्धिधर्मौ च बुद्धे-
रुक्ते साक्षाद्वेदसिद्धान्तविद्भिः ॥ १९० ॥

योजना—वेदसिद्धान्तविद्भिः प्रतीचः निर्निमित्ते बोधात्मत्वे, बुद्धेस्तु तन्निमित्ते बोधात्मत्वे साक्षात् उक्ते, बुद्धेः बोधात्मत्वे बुद्धिधर्मौ एव ॥ (शालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—वेदान्त-सिद्धान्त-वेत्ता आचार्यों ने प्रत्यगात्मा में स्वाभाविक बोधत्व तथा आत्मत्व कहा है और बुद्धि में बोधत्व एवं आत्मत्व तन्निमित्तक (आत्मनिमित्तक) कहा है । बुद्धिगत बोधत्व और आत्मत्व- दोनों बुद्धि के धर्म ही हैं, स्वरूप नहीं ॥

भावितार्थ—नैष्कर्म्यसिद्धि में श्रीसुरेश्वराचार्य ने कहा है—

कूटस्थबोधः प्रत्यक्त्वमनिमित्तं सदात्मनः ।
बोद्धृताऽहन्तयोर्हेतुस्ताभ्यां तेनोपलक्ष्यते ॥

अर्थात् चिदात्मा के स्वाभाविक नित्यबोधत्व और प्रत्यक्त्व (सर्वान्तरत्व) दोनों बुद्धिवृत्ति बोधत्व तथा अहन्ता (आत्मत्व) के हेतु होते हैं, अतः बुद्धिगत बोध और अहन्ता से चिदात्मा उपलक्षित होता है । इस प्रकार आचार्यों के कथन से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि बोधत्वादि तीन (तात्त्विक, व्यावहारिक तथा सामूहिक) प्रकार के होते हैं और उक्त शब्दों की वाच्यता विशिष्ट में ही रहती है ॥ १९० ॥

तत्त्वम्पदों के समान ही सत्यादि पदों में जहल्लक्षणा तथा गौणी वृत्ति भी होती है—

जहतीह च लक्षणा मता
गुणवृत्तिश्च तथाऽभ्युपेयते ।
न विशेषविनिर्णयक्षमम्
किमपीहास्ति विशेषकारणम् ॥ १९१ ॥

योजना—इह जहती लक्षणा च मता, तथा गुणवृत्तिश्च अभ्युपेयते, इह विशेषनिर्णयक्षमं किमपि विशेषकारणं नास्ति ॥ (सुन्दरीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—यहाँ (सत्यादि पदों में) जहती लक्षणा भी मानी गई है तथा गौणी वृत्ति भी स्वीकार की जाती है; क्योंकि इन (सत्यादि पदों में तत्त्वम्पदों से) विशेषता का निर्णायक कोई विशेष हेतु नहीं ॥

भावितार्थ- महावाक्य के समान ही अवान्तर वाक्यों में भी शाब्दबोध का समान ही प्रकार है । जैसे महावाक्यों में जहदजहल्लक्षणा, जहल्लक्षणा तथा गौणी वृत्ति का आश्रयण किया गया है; वैसे ही यहाँ सत्यादि पदों में भी मानते हैं । सत्यादि पदों में जहदजहल्लक्षणा ही होगी, जहल्लक्षणादि नहीं; इस बात का निर्णायक कोई कारण नहीं ॥ १९१ ॥

ऐश्वर्य पद में उक्त न्याय का अपवाद दिखाने की प्रतिज्ञा करते हैं—

ऐश्वर्यमप्यनुभवादिवदात्मरूपं
तस्मादबोधगतमस्य च तानि कस्मात् ।
नेष्टानि पूर्ववदिति ब्रुवतो मुखस्य
सद्यः पिधानमनुसृत्य वचांसि कुर्मः ॥ १९२ ॥

योजना—अनुभवादिवत् ऐश्वर्यमपि आत्मगतम्, तस्मात् अबोधगतम्, अस्य च । तानि पूर्ववत् कस्मात् नेष्टानीति ब्रुवतो मुखस्य सद्यः पिधानमनुसृत्य वचांसि कुर्मः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—ज्ञानादि के समान ही ऐश्वर्य भी (एक) आत्मगत, उससे (प्रयुक्त) अज्ञानगत (दूसरा) तथा उस (विशिष्ट) में तीसरा—इस प्रकार पूर्ववत् (तीन ऐश्वर्य) क्यों नहीं माने जाते—इस प्रकार कहनेवाले व्यक्ति का तुरन्त मुख बन्द करने के लिए हम (विशेषता) कहते हैं ॥ १९२ ॥

ज्ञानादि से ऐश्वर्य की विशेषता दिखाते हैं—

ऐश्वर्यवर्णनमतिस्फुटमेव कृत्वा
नेतीत्यवादि बहुशः श्रुतिभिः प्रयत्नात् ।
सत्यादिवस्तुनि पुनर्न तथाऽस्ति पूर्व-
मुक्त्वा निषेधनमितीह विशेषयुक्तिः ॥ १९३ ॥

योजना—अतिस्फुटमेव ऐश्वर्यवर्णनम् कृत्वा श्रुतिभिः बहुशः प्रयत्नात् नेतीति अवादि । सत्यादिवस्तुनि पुनः तथा पूर्वम् उक्त्वा निषेधनं नास्ति—इति इह विशेषयुक्तिः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—अत्यन्त स्पष्ट ऐश्वर्य वर्णन करके बहुत श्रुतियों ने बहुशः दृढता से

"नेति, नेति" कहा है। (किन्तु) सत्यादि पदार्थों में वैसा (पूर्व वर्णन करके निषेध) नहीं किया है—यही यहाँ विशेषता है ।।

भावितार्थ—"सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" (सबको वश में रखनेवाला सबका शासक—४।४।२२) आदि श्रुतियों में ऐश्वर्य का खूब वर्णन किया। तथा 'नेति-नेति' (बृह० २।३।६) आदि श्रुतियों नें उसका निषेध कर दिया। इस प्रकार प्रतिपन्नोपाधि में निषिध्यमान ऐश्वर्य कल्पित ही है, सत्यादि के समान स्वरूपान्तर्गत नहीं—यह व्यक्त हो जाता है; क्योंकि सत्यादि पदार्थों में ऐसा नहीं किया गया कि उनका वर्णन करके कहीं खण्डन किया गया हो, अतः इस विशेषता के कारण सत्यादिस्थलीय न्याय ऐश्वर्य में नहीं लग सकता ।। १९३ ।।

यदि सभी पद लाक्षणिक हैं, तब किसी भी शब्द का वाच्य न होने से ब्रह्म में श्रुतिसिद्ध शाब्दत्व (औपनिषदत्व) कैसे बनेगा ? इस शङ्का का समाधान है—

शब्दस्य लाक्षणिकमुख्यविभागभिन्ना
वृत्तिर्हि लौकिकवचस्युपलब्धपूर्वा ।
यस्मादतो न घटते यदि मुख्यवृत्ति-
राश्रीयतामिह गिरश्चरमापि वृत्तिः ॥ १९४ ॥

योजना—यस्मात् लौकिकवचसि हि शब्दस्य लाक्षणिकमुख्यविभागभिन्ना वृत्तिः उपलब्धपूर्वा, अतः यदि इह गिरः मुख्यवृत्तिः न घटते, चरमा वृत्तिरपि आश्रीयताम् ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—लौकिक वचनों में शब्द की मुख्य (अभिधा) तथा लक्षणा वृत्ति के भेद से दो प्रकार की वृत्ति पाई जाती है, अतः यदि यहाँ शब्द की मुख्य वृत्ति नहीं घटती, (तब) अन्तिम (लक्षणा) वृत्ति का सहारा लेना चाहिए ।।

भावितार्थ—लोक में शब्द की दो वृत्तियाँ प्रसिद्ध हैं-एक मुख्य या अभिधा वृत्ति और दूसरी लक्षणा वृत्ति। इन दोनों वृत्तियों से जो पदार्थ उपस्थित होता है, उसे शाब्द ही माना जाता है, अतः लक्षणा वृत्ति से उपस्थित होने पर भी ब्रह्म, शाब्द माना जा सकता है उसके लिए 'औपनिषद' पद का प्रयोग सर्वथा संगत है ।। १९४ ।।

वेदान्त-वाक्यों में अखण्डार्थत्व का उपसंहार करते हैं—

तस्मादखंडमवबोधयितुं समर्थो
वेदान्तभूमिगतशब्दसमन्वयोऽतः ।
संसर्गलक्षणमपास्य विरोधहेतोः
वाक्यार्थमद्वयमखंडमिहाऽऽश्रयस्व ॥ १६५ ॥

योजना—तस्माद् वेदान्तभूमिगतशब्दसमन्वयः अखण्डम् अवबोधयितुं समर्थः, अतः इह विरोधहेतोः संसर्गलक्षणम् वाक्यार्थम् अपास्य अद्वयम् अखण्डम् आश्रयस्व ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—इसलिए (हे शिष्य !) वेदान्त-भूमि के शब्द-समन्वय (वाक्य)

अखण्डार्थ का बोध कराने में समर्थ है, अतः यहाँ (वाच्यार्थ को लेकर) विरोध होने के कारण संसर्गस्वरूप वाक्यार्थ छोड़कर अद्वय अखण्डरूप (वाक्यार्थ) का आश्रयण कर।

भावितार्थ—''तत्त्वमसि''—आदि वेदान्त-वाक्यगत पदों के वाच्यार्थ परस्पर विरुद्ध होनें के कारण लाक्षणिक अर्थों के द्वारा अखण्ड वाक्यार्थ का सम्पादन करना ही उचिततम है। वाच्यार्थों का विरोध होने से परस्पर अन्वय नहीं हो सकता और लक्ष्यार्थ का भेद न होनें से संसर्गरूप (अन्वयरूप) वाक्यार्थ कथमपि सम्भावित नहीं ।। १९५ ।।

यहाँ अखण्डार्थ-बोध में अपेक्षित तीन सम्बन्धों का उपस्थित-क्रम बताते हैं—

सामानाधिकरण्यमत्र भवति प्राथम्यभागन्वयः
पश्चादेष विशेषणेतरतया पश्चाद्विरोधोद्भवः।
उत्पन्ने च विरोध एकरसके वस्तुन्यखण्डात्मके
वृत्तिर्लक्षणया भवत्ययमिह ज्ञेयः क्रमः सूरिभिः ॥ १९६ ॥

योजना—अत्र सामानाधिकरण्यम् अन्वयः प्राथम्यभाक् भवति, पश्चात् विशेषणेतरतया एव, पश्चात् विरोधोद्भवः। विरोधे उत्पन्ने च अखण्डात्मके एकरसे वस्तुनि लक्षणया वृत्तिः भवति—अयम् क्रमः इह सूरिभिः ज्ञेयः ।। (शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः ।।

योजितार्थ—प्रकृत में सामानाधिकरण्यरूप अन्वय प्रथम होता है, पश्चात् विशेषण-विशेष्यभाव अन्वय, तदनन्तर विरोध का उद्भव होता हैं। विरोध के उपस्थित होने पर अखण्डैकरस वस्तु में लक्षणा वृत्ति होती है—इस प्रकार का क्रम यहाँ विद्वानों को समझना चाहिए ।।

भावितार्थ—एकवाक्यस्थ पदों की युगपत् विशिष्टार्थ-बोधन में प्रवृत्ति ही अन्वय है। वह अन्वय, एकार्थ-विषयक होने से सामानाधिकरण्य और अनेकार्थविषयक होने से वैयधिकरण्य कहलाता है। ''नीलमुत्पलम्'' के समान ही प्रथमान्त ''तत और त्वम्'' का पहले एकार्थ बोधकत्वरूप सामानाधिकरण्य प्रतीत होता है। पश्चात् नीलगुण और उत्पलत्व के समान तत्त्वम्पदार्थों का विशेषणविशेष्यभाव, अनन्तर नीलगुण और उत्पलत्व जाति के संसर्ग के समान तत्त्वमर्थों के संसर्ग में विरोध-बुद्धि होती है। अतः नीलपद की द्रव्यार्थ में लक्षणा वृत्ति के समान प्रकृत में एक पद की लक्षणा वृत्ति मानने पर भी जब विरोध दूर होता नहीं दिखाई देता, तब उभयपद-लक्षणा के द्वारा अखण्डैकरस वस्तु उपस्थित की जाती है—यह यहाँ का साम्प्रदायिक क्रम है ।। १९६ ।।

उक्त तीनों सम्बन्ध पदों के हैं ? या अर्थों के ? इस जिज्ञासा का उपशमन करते हैं—

सामानाधिकरण्यमत्र पदयोर्ज्ञेयस्तदीयार्थयोः
सम्बन्धस्तु विशेषणेतरतया ताभ्यां सहास्यात्मनः।
सम्बन्धोऽप्यथ लक्ष्यलक्षणतया विज्ञेय एवं बुधैः
एतान्यर्थपदानि बुद्धिपदवीमारोहणीयानि तु ॥ १९७ ॥

योजना—अत्र सामानाधिकरण्यं पदयोः, विशेषणेतरतया तु सम्बन्धः तदीयार्थयोः, अथ ताभ्यां सह अस्य आत्मनः लक्ष्यलक्षणतया अपि सम्बन्धो विज्ञेयः। एवम् एतानि अर्थपदानि बुधैः बुद्धिपदवीम् आरोहणीयानि तु ।। (शार्दूलविक्रीड़ितच्छन्दः)।।

योजितार्थ—यहाँ सामानाधिकरण्य (सम्बन्ध) उन पदों के अर्थों का तथा उन (विशेषण और विशेष्य) के साथ इस आत्मा का लक्ष्य-लक्षणता सम्बन्ध होता है। इस प्रकार से इन अर्थपदों की विद्वानों को अपनी बुद्धि में अवश्य स्थापना कर लेनी चाहिए॥

भावितार्थ—"पदयोः"—यह द्विवचन "तत्त्वमसि"—इस वाक्य को ध्यान में रखकर दिया गया है। सत्यादि अनेक पदों का भी सामानाधिकरण्य विवक्षित है। अपर्याय पदों की एक ही अर्थ में वृत्तिता ही सामानाधिकरण्यसंज्ञक अन्वय (सम्बन्ध) है। अर्थात् तत्, त्वम्—दोनों पद एकार्थनिष्ठ होने से परस्पर समानाधिकरण हैं, अतः उनमें सामानाधिकरण्य सम्बन्ध होता है। उन दोनों के अर्थों का विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध तथा उनके वाच्यार्थों का लक्ष्यभूत आत्मा के साथ लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध होता है। शुद्ध आत्मा लक्ष्य और वाच्यार्थ उसका लक्षण माना जाता है। नैष्कर्म्यसिद्धिकार ने भी कहा है—

सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्॥

पदार्थ-लक्षणा-पक्ष में वाच्यार्थ को लक्षक और शुद्धात्मा को लक्ष्य माना जाता है॥१९७॥

यदि आत्मगत सत्यत्वादि को निमित्त मानकर ही विशिष्टार्थ में सत्यादि पदों की प्रवृत्ति होती है, तब केवल आत्मगत सत्यत्व में ही सत्यादि पदों की शक्ति क्यों न मानी जाय? विशिष्ट में शक्ति मानने की क्या आवश्यकता? इस शङ्का का समाधान है—

निःसन्धिबन्धनमिदं चिदचित्स्वरूपं
संकीर्णमन्तरपरिस्फुरणेन शून्यम्।
आचित्तशुद्धिफलतः स्फुरितोपपत्तेः
शब्दार्थसंगतिमिहैव तु गृह्णतेऽज्ञाः॥ १९८॥

योजना—आचित्तशुद्धिफलतः स्फुरितोपपत्तेः इदं चिदचित्स्वरूपं निःसन्धिबन्धनम् सङ्कीर्णम्, अन्तरपरिस्फुरणेन शून्यम्। अज्ञाः इहैव शब्दार्थसंगतिं गृह्णते। (व० छ०)॥

योजितार्थ—चित्त-शुद्धि-फलभूत स्फुरणोपपत्ति से पूर्व यह चिदचित्स्वरूप सन्धि-रहित बन्धन में जकड़ा हुआ, सम्मिश्रित, भेद-भाव-शून्य (होता है)। (इसलिए) इस विशिष्ट अर्थ में ही शब्दार्थ-संगति का अज्ञानिजन ग्रहण किया करते हैं॥

भावितार्थ—यहाँ "आङ्" मर्यादार्थक है। शक्ति-ग्रह सदैव ज्ञात अर्थ में होता है। जब तक अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता, उसमें शुद्धांश-परिस्फुरण की योग्यता नहीं आती; तब तक चिदचिद्रूप विशिष्ट अर्थ का ही ज्ञान होता है; शुद्धांश का नहीं। अतः उस अवस्था में विशिष्ट में ही अज्ञानी व्यक्ति शक्ति-ग्रह कर सकेगा। चिदचिद्रूप विशिष्ट वस्तु का विश्लेषण अत्यन्त दुष्कर बताने के लिए तीन विशेषण दिये हैं—निःसन्धिबन्धनम्, संकीर्णम्, अन्तरपरिस्फुरणेन शून्यम्। किसी बन्धन का विश्लेषण करने के लिए उसका सन्धि-स्थान दिखाना परम आवश्यक है, किन्तु दिव्य चक्षु के अभाव में साधारण व्यक्ति उस सन्धि-स्थान को नहीं देख सकता; अतः वह अलक्षितसन्धिक बन्धन का विश्लेषण नहीं कर सकता। नीर-क्षीर की भाँति सम्मिश्रित तत्त्व का विवेचन-कार्य हंसप्रज्ञ ही कर सकते हैं। एवं जिन पदार्थों का अन्तर (भेद) गृहीत न हो; फिर भला उनका विविक्त रूप से ग्रहण ही कैसे होगा? अज्ञानी व्यक्ति परस्पराध्यास-युक्त विशिष्ट वस्तु का ही ज्ञान कर पाता है, अतः उसीमें शब्द-संगति का ग्रहण कर सकेगा; शुद्ध भाग में नहीं॥१९८॥

विवेक-ग्रह के अनन्तर ही शक्ति-ग्रह क्यों न माना जाय ? इस सन्देह को मिटानें के लिए विवेक-ग्रह के पूर्व भी शक्ति-ग्रह की आवश्यकता दिखाते हैं—

शब्दार्थसंगतिविदामथ सत्त्वशुद्धे-
रुत्पन्नतर्कदृढलोहशलाकया तु ।
दृश्यं दृशं च निपुणं द्वयमंतरेण
निक्षिप्तया दृगदृशोः क्रियते विभागः ॥ १९९ ॥

योजना—शब्दार्थसंगतिविदाम् अथ सत्त्वशुद्धेः उत्पन्नतर्कदृढलोहशलाकया दृश्यं दृशं च द्वयमन्तरेण निपुणं निक्षिप्तया तु दृगदृशोः विभागः क्रियते ॥ (व० छ०) ॥

योजितार्थ—शब्दार्थ-संगति-वेत्ता पुरुषों के शुद्धान्तःकरण में उत्पन्न तर्करूप लोह की दृढ़ शलाका; जो कि दृश्य और दृक्—इन दोनों की सन्धि में सावधानी से निक्षिप्त (प्रवेशित) की गई है, के द्वारा ही दृग् और (अदृक्) दृश्य का विभाग किया जाता है ॥

भावितार्थ—अहमादि शब्दार्थों का ग्रहण प्रथम हो जाता है, पश्चात् अन्तःकरण-शुद्धि के प्रभाव से ऐसी एक तर्कबुद्धि का उदय होता है, जिससे दृग्—दृश्य-ग्रन्थि का भेदन होता है। यह तर्क उसी व्यक्ति के शुद्ध अन्तःकरण में उत्पन्न होता है, जिसको शब्दसंगति-ग्रह हो चुका हो; अतः संगति-ग्रह प्रथम ही अपेक्षित है। उस समय अविविक्त अर्थ में ही शक्ति-ग्राही पुरुष को विवेक होता है, विवेकी पुरुष को शक्ति-ग्रह नहीं होता ॥ १९९ ॥

अज्ञानावस्था में शबल (विशिष्ट) वस्तु का भी निश्चय नहीं होता; उसमें शक्ति-ग्रह होता है—इसका निर्णय क्योंकर होगा ? इस सन्देह को दूर करने के लिए कहते हैं—

शुद्ध्युत्थतर्कजनितं चिदचिद्विभागं
प्राप्य स्थिताः पुनरिमां गिरमुद्गिरन्ति ।
सत्यादिशब्दगण एष तु तत्र तत्र
व्युत्पत्तिमाञ्छबलवस्तुनि नो दृशीति ॥ २०० ॥

योजना—शुद्ध्युत्थतर्कजनितं चिदचिद्विभागं प्राप्य स्थिताः पुनः इमां गिरम् उद्गिरन्ति—एष सत्यादिशब्दगणस्तु तत्र तत्र शबलवस्तुनि व्युत्पत्तिमान्, नो दृशीति ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—अन्तःकरण-शुद्धि-जन्य तर्क से किये गये चिदचिद्विभाग को प्राप्त कर स्थित पुरुषों के ये उद्गार हैं—यह सत्यादि शब्द-समूह तत्-तत् विशिष्ट वस्तु में ही शक्तिमान् होता है; केवल दृगात्मा में नहीं ॥

भावितार्थ—यद्यपि अज्ञान अवस्था में यह ज्ञान नहीं होता कि अहमादि शब्दों के वाच्य पदार्थ विशिष्टरूप हैं, तथापि पश्चात् विवेकावस्था में पहुँचे महापुरुष यह निश्चय करके कहा करते हैं कि सत्यादि शब्द विशिष्ट अर्थ में ही संगत समझे जाते हैं, केवल चैतन्य भाग में नहीं ॥ २०० ॥

इस प्रकार अनेक शक्ति-कल्पना की आपत्ति भी नहीं होती—

एकत्र शक्तिग्रहणोपपत्ता-
वनेकक्लृप्तिः क्रियते किमर्थम् ।
इत्येतदेवं सति नास्ति चोद्यं
पुराऽस्य पुंसः परमाविवेकात् ॥ २०१ ॥

योजना—एवं सति एकत्र शक्तिग्रहणोपपत्तौ अनेकक्लृप्तिः किमर्थं क्रियते ?—इत्येतत् चोद्यं नास्ति; अस्य पुंसः पुरा परमाविवेकात् ॥ (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इस प्रकार "एक भाग में शक्ति-ग्रहण की उपपत्ति हो जाने पर अनेकांशों में शक्ति की कल्पना क्यों की जाती है ?"—यह आक्षेप नहीं उठता; क्योंकि इस पुरुष को इससे पूर्व परम अविवेक था ॥

भावितार्थ—विवेकोदय के पूर्व पुरुष को अत्यन्त अविवेक के कारण चिदचित् दोनों एक रूप से प्रतीत होते हैं; अतः उस समय सन्देह नहीं किया जा सकता कि केवल दृग् या दृश्य में शक्ति-ग्रहण से ही वाक्यार्थ-बोध सम्पन्न हो जाता है; शबल (विशिष्ट) में शक्ति-कल्पना की क्या आवश्यकता ? ॥ २०१ ॥

[लक्ष्यार्थविषये शिष्यस्याक्षेपः]

विशिष्ट अर्थ में अभिधावृत्ति मान लेने पर भी शुद्ध आत्मा में लक्षणावृत्ति क्योंकर होगी ?

अत्राऽऽह वाच्यशबलान्वितवस्तुनीयं
तद्वर्त्मना भवति लाक्षणिकी प्रवृत्तिः ।
किं वा तदन्वितविलक्षणवस्तुनि स्यात्
शब्दस्य नोभयमपि प्रतिभाति युक्तम् ॥ २०२ ॥

योजना—अत्राह—वाच्यशबलान्वितवस्तुनि तद्वर्त्मना इयं लाक्षणिकी वृत्तिः भवति ? किं वा तदन्वितविलक्षणवस्तुनि शब्दस्य (वृत्तिः) स्यात् ? उभयमपि युक्तं न प्रतिभाति ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—शिष्य कहता है—वाच्यभूत विशिष्टार्थ से अन्वित वस्तु में वाच्यद्वारा यह लक्षणा वृत्ति होती है ? अथवा वाच्य से अनन्वित शुद्ध आत्मा में शब्द की वृत्ति होगी ? दोनों (पक्ष) भी युक्त नहीं प्रतीत होते ॥

भावितार्थ—शिष्य का सन्देह लक्ष्य के विषय में है कि वाच्यार्थ-सम्बद्ध-आत्मा लक्ष्य है ? या वाच्यार्थ से असम्बद्ध शुद्ध आत्मा । दोनों पक्ष उचित प्रतीत नहीं होते ॥२०२॥

दोनों पक्षों में दोष दिखाते हैं—

सम्बन्धिरूपं यदि वस्तु लक्ष्य-
मखण्डवाक्यार्थमतिः कुतस्त्या ।
अनन्वितं वस्तु पदार्थलक्ष्यं
न लक्ष्यते कुत्रचिदत्र लोके ॥ २०२ ॥

योजना—यदि सम्बन्धिरूपं वस्तु लक्ष्यम्, (तदा) अखण्डवाक्यार्थमतिः कुतस्त्या ? अनन्वितं पदार्थलक्ष्यं अत्र लोके कुत्रचित् न लक्ष्यते ॥ (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—यदि वाच्यार्थ से सम्बद्ध वस्तु लक्ष्य होगी, (तब) अखण्ड वाच्यार्थ बोध कैसे होगा ? वाच्यार्थानन्वित वस्तु तो इस लोक में कहीं भी लक्षित (लक्षणा का विषय) नहीं पाई जाती ।।

भावितार्थ–लोक में गङ्गादि-पदों की शक्य-सम्बन्धित रूप से ही तीरादि में लक्षणा की जाती है, वैसे ही प्रकृत में वाक्य-जन्य-ज्ञान वाच्यार्थान्वित ब्रह्म को विषय करेगा, तब उसमें अखण्डार्थता कैसे बनेगी ? द्वितीय पक्ष में यह दोष तो नहीं, किन्तु वाच्यार्थाऽसम्बद्ध अर्थ में कहीं लक्षणा नहीं देखी जाती । अन्यथा 'गङ्गा' पद की गङ्गा-तीर में ही लक्षणा क्यों होगी ? समुद्र-तीरादि में क्यों न होगी ? ।। २०३ ।।

[लक्ष्यार्थविषये गुरोः समाधानम्]

उक्त दोनों दोषों का निराकरण किया जाता है—

पूर्वक्षणे भवति वाच्यपदार्थभाग-
भागित्वसंगतिरिहाऽऽत्मनि निर्विभागे ।
मोहोपदर्शितवपुर्घटते ततोऽस्मिन्
शब्दस्य लाक्षणिकवृत्तिरदोषदुष्टा ।। २०४ ।।

योजना—इह निर्विभागे आत्मनि पूर्वक्षणे मोहोपदर्शितवपुः वाच्यपदार्थभागभागित्वसंगतिः भवति । ततः शब्दस्य अस्मिन् अदोषदुष्टा लाक्षणिकवृत्तिः ।। (व० छ०) ।।

योजितार्थ–इस निरंश आत्मा में वाक्यार्थ-बोध से पूर्व वाच्यार्थ के साथ आविद्यिक अंशांशिभाव सम्बन्ध होता है । अतः शब्द की आत्मा में निर्दुष्ट लक्षणा वृत्ति हो जाती है।।

भावितार्थ—निरंश आत्मा के साथ यद्यपि वाच्यार्थ का वास्तविक अंशांशिभाव सम्बन्ध नहीं, तथापि वाक्यार्थ-ज्ञान के पूर्व क्षण में अविद्या-प्रयुक्त उक्त सम्बन्ध वैसे ही मान लिया जाता है, जैसे शुक्ति के साथ मिथ्या रजत-सम्बन्ध । वह सम्बन्ध अतात्त्विक होने से वाक्यार्थ-ज्ञान का विषय नहीं होता, अतः अखण्डार्थत्व की क्षति भी नहीं होती ।। २०४ ।।

उक्त सम्बन्ध कल्पित हो ? या वास्तविक ? सर्वथा वाच्यार्थ-सम्बन्धी होकर ही लक्ष्यार्थ प्रतीत होगा । एवं पूर्व क्षण के समान उत्तर क्षण में भी सम्बन्ध अवस्थित रहेगा । अतः अखण्डार्थत्व की सिद्धि नहीं होती, इस शङ्का का समाधान है—

सम्बन्धिता भवति लाक्षणिकप्रवृत्तेः
सर्वत्र कारणमितीदमभीष्टमेव ।
सम्बन्धिताकरणमेव तु लाक्षणिक्याः
बुद्धेरनिष्टमिह तद्व्यभिचारदृष्टेः ।। २०५ ।।

योजना—'सर्वत्र लाक्षणिकवृत्तेः सम्बन्धिता कारणं भवति' इदम् अभीष्टमेव । इह लाक्षणिक्याः बुद्धेः सम्बन्धिताकरणमेव अनिष्टम्, तद्व्यभिचारदृष्टेः ।। (व० छ०) ।।

योजितार्थ—सर्वत्र लक्षणा वृत्ति में सम्बन्धिता कारण है—यह मानना अभीष्ट ही है। (किन्तु) यहाँ लाक्षणिक बुद्धि में सम्बन्धिता-करण इष्ट नहीं, क्योंकि उसका व्यभिचार देखा गया है ।।

भावितार्थ—लोक और वेद में सर्वत्र लक्ष्य के साथ वाच्यार्थ की सम्बन्धिता का ज्ञान लक्षणा वृत्ति का कारण अवश्य माना जाता है। किन्तु 'लक्षणा-जन्य बोध में सर्वत्र सम्बन्धित्वाकार प्रतिभासित होता है'—यह नियम अभीष्ट नहीं, क्योंकि 'गङ्गायां घोषः'—आदि स्थलों पर लक्षणा-जन्य बोध में शुद्ध तीरादि का भान होता है, गङ्गा-सम्बन्धी तीर का नहीं। अतः सम्बन्धित्वाकार व्यभिचरित होने से सर्वत्र उसका भान होना अनिवार्य नहीं। प्रकृत में वाक्यार्थ-ज्ञान के समय कल्पक अज्ञान के नष्ट हो जाने से संबंधित्वाकार भी नष्ट हो जाता है, फिर तो अखण्डार्थत्व की क्षति क्यों होगी?॥२०५॥

उक्त व्यभिचार का स्थानान्तर दिखाते हैं—

यत्रैष काक इदमेव तु देवदत्त-
वेश्मेति लाक्षणिकवृत्तिरिहाभ्युपेता।
काकास्पदत्वमवधीर्य तथापि वेश्म-
मात्राकृतिर्भवति लाक्षणिकी तु बुद्धिः॥ २०६॥

योजना—इह 'यत्रैष काकः इदमेव तु देवदत्तवेश्म'—इति लक्षणावृत्तिः अभ्युपेता। तथापि लाक्षणिकी बुद्धिस्तु काकास्पदत्वम् अवधीर्य वेश्ममात्राकृतिः भवति॥ (व०छ०)॥

योजितार्थ—लोक में 'जिस पर कौआ बैठा है, यही तो देवदत्त का घर है'—आदि स्थलों पर लक्षणा वृत्ति मानी जाती है। वहाँ भी लक्षणा-जन्य बुद्धि काक-सम्बन्धित्व को छोड़कर केवल वेश्म को ही विषय करती है॥

भावितार्थ—कोई पूछता है कि देवदत्त का घर कौन है? उसे कोई उत्तर देता है—"यत्रैष काकस्तिष्ठति, इदमेव देवदत्तस्य वेश्म।" वहाँ काकाधिकरणत्व-विशिष्ट गृह, वाक्यार्थ नहीं होता; अपितु काकाधिकरणत्वोपलक्षित गृह ही होता है, क्योंकि वहाँ से काक के उड़ जाने पर भी वह ज्ञान होता है॥ २०६॥

"वाच्य-सम्बन्धित्वरूप से ही लक्ष्य का लाक्षणिक बुद्धि में भान होता है"—इस नियम का व्यभिचार जहल्लक्षणा स्थल पर दिखाकर जहदजहल्लक्षणास्थल पर भी दिखाते हैं—

सोऽयमित्यपि पदार्थरूपकम्
लक्षणं यदुपलक्षणं हि तत्।
अंशिता यदि पदार्थलक्ष्ययोः
गृह्यते ननु पुनर्विरोधिता॥ २०७॥

योजना—सोऽयमित्यपि यत् पदार्थरूपकं लक्षणम्, तदपि हि उपलक्षणम्। यदि पदार्थलक्ष्ययोः अंशिता गृह्यते, पुनर्विरोधिता ननु॥ (रथोद्धताच्छन्दः)॥

योजितार्थ—"सोऽयं देवदत्तः"—यहाँ पर भी जो (विशिष्ट) पदार्थस्वरूप लक्षक है, वह भी उपलक्षण ही है। यदि वाच्य तथा लक्ष्य में अंशांशिभाव का ग्रहण होगा, तब तो विरोधिता बनी ही रहेगी॥

भावितार्थ—"सोऽयं देवदत्तः"—यहाँ पर जो तत्तेदन्ता-विशिष्ट वाच्यार्थ, शुद्ध देवदत्त का लक्षक है, वह भी काकाधिकरणत्व के ही समान उपलक्षण ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि काकाधिकरणत्व अपने से भिन्न गृह का उपलक्षक है, किन्तु प्रकृत में

विशिष्टार्थ, स्वरूपान्तर्गत देवदत्तरूप शुद्धार्थ का। यदि लाक्षणिक बुद्धि में भी अंशांशिभाव का भान माना जायगा, तब वाच्यार्थों के समान ही लक्ष्यार्थों में विरोध बना ही रहेगा ॥ २०७ ॥

उभयपद-लक्षणा के द्वारा साधित अखण्डार्थ का उपसंहार करते हुए उभयपद-लक्षणा के बिना भी अखण्डार्थ-साधन की प्रतिज्ञा करते हैं—

एवं तावल्लक्षणावृत्तिहतो-
रानीतैषाऽखंडवाक्यार्थबुद्धिः ।
मुक्त्वाऽपीमां लक्षणावृत्तिमेषा
वक्तुं शक्येत्युच्यतेऽनन्तरेण ॥ २०८ ॥

योजना—एवं तावत् लक्षणावृत्तिहेतोः एषा अखण्डार्थबुद्धिःआनीता । इमां लक्षणावृत्ति मुक्त्वापि एषा वक्तुं शक्या —इत्यनन्तरेण उच्यते ॥ (शालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ— इस प्रकार लक्षणावृत्तिरूप हेतु से यह अखण्डार्थ बुद्धि सिद्ध की गई। इस लक्षणा वृत्ति को छोड़कर भी यह (अखण्डार्थ-बुद्धि) सिद्ध की जा सकती है-यह अनन्तर के श्लोक में कहा जाता है ॥ २०८ ॥

वही (लक्षणावृत्ति को छोड़कर अखण्डार्थ बुद्धि) दिखाते हैं—

भिन्नाभिन्नरवौ घटादिवचसा साकं समुच्चारिता-
वन्यूनानधिके घटादिविषये तावत्प्रवृत्तौ तव ।
नो चेद्विश्वसृजोऽपि दुष्परिहरा भेदादिमालाऽऽगता
भेदादेरपि तत्र वाच्यमपरं भेदादिकं स्यादिति ॥ २०९ ॥

योजना—घटादिवचसा साकं समुच्चारितौ भिन्नाभिन्नरवौ तव अन्यूनानधिके घटादिविषये तावत् प्रवृत्तौ । नो चेद् तत्र भेदादेरपि अपरं भेदादिकं वाच्यं स्यादिति विश्वसृजोऽपि दुष्परिहरा भेदादि-माला आगता ॥ (शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः) ॥

योजितार्थ— घटादि-पद के साथ समुच्चारित भिन्न तथा अभिन्न शब्द आपके मत से न्यूनाधिक-रहित घटादिमात्र को ही कहने में प्रवृत्त हैं। नहीं तो वहाँ भेद का भेद; तथा उसका भी भेद मानना होगा, तब तो ब्रह्मा भी जिसे नहीं टाल सकता, ऐसी भेद-माला (अनवस्था) प्राप्त होगी ॥

भावितार्थ—"भिन्नो घटः"—इस प्रकार 'घट' पद के साथ उच्चरित 'भिन्न' पद घट से न्यून या अधिक अर्थ को नहीं कह सकता। यद्यपि 'घट' पद से प्रतीयमान द्रव्य-मात्र है और 'भिन्न' शब्द से भेद-विशिष्ट द्रव्य। इस प्रकार भेदरूप अधिक अर्थ का प्रतिभान होता है, तथापि भेद को घटस्वरूप ही मानना होगा, अतिरिक्त नहीं। अतिरिक्त मानने पर अनवस्था हो जायगी। इसी प्रकार "अभिन्नो घटः"—में भी अभेद को घट से अभिन्न ही मानना होगा। फलतः यहाँ किसी प्रकार की लक्षणा के बिना ही 'भिन्न' तथा 'घट'—दोनों पदों की एक अखण्ड अर्थ में शक्ति माननी पड़ती है ॥ २०९ ॥

'भिन्न' और 'घट' दोनों शब्द यदि एक ही अर्थ को कहते हैं, तब पुनरुक्ति क्यों नहीं ? इस सन्देह का निराकरण करते हैं—

परस्पराभावमुपाददानो
निमित्तमर्थेषु हि भिन्नशब्दः ।
प्रवर्त्ततेऽन्ये तु घटादिशब्दाः
निजं निजं वाच्यमुपाददानाः ॥ २१० ॥

योजना— भिन्नशब्दो हि परस्पराभावं निमितम् उपाददानः अर्थेषु प्रवर्तते । अन्ये घटादि शब्दाः तु निजं निजं वाच्यम् उपाददानाः (अर्थेषु प्रवर्तन्ते) ॥ (उपेन्द्र० छ०) ॥

योजितार्थ—'भिन्न' शब्द अन्योऽन्याभाव रूप निमित्त को लेकर (घटादि) पदार्थों में प्रवृत्त होता है । किन्तु अन्य घटादि शब्द अपने-अपने वाच्य (जात्यादि निमित्तों) को लेकर (घटादि अर्थों में प्रवृत्त होते हैं) ॥

भावितार्थ—"भिन्न" शब्द पटादि से वैशिष्टय (भेद) दिखाता हुआ घटादि अर्थों में प्रवृत्त होता है । किन्तु घटादि शब्द अपने घटत्वादि प्रवृत्ति-निमित्त को लेकर घटादि अर्थों को कहा करते हैं । इस प्रकार दोनों शब्द घटादि एक ही अर्थ को कहते हैं, तथापि भिन्न शब्द पटादि के अभेद का और 'घट' शब्द पटत्वादि का व्यावर्तक, अतः दोनों में पर्यायतापत्ति नहीं होती ॥ २१० ॥

'अभिन्न' शब्द को निमित्त दिखाते हैं—

परस्पराभावविहीनभावा-
दभिन्नशब्दस्य घटे प्रवृत्तिः ।
घटस्वरूपैकनिबन्धना तु
घटादिशब्दस्य घटे प्रवृत्तिः ॥ २११ ॥

योजना—अभिन्नशब्दस्य परस्पराभावविहीनभावाद् घटे प्रवृत्तिः । घटादिशब्दस्य तु घटस्वरूपैकनिबन्धना घटे प्रवृत्तिः ॥ (उपेन्द्रवज्राच्छन्दः) ॥

योजितार्थ —'अभिन्न' शब्द की अन्योऽन्याभाव-शून्यत्वरूप निमित्त से घट में प्रवृत्ति होती है । किन्तु घटादि शब्द की घटत्व-प्रयुक्त घट में प्रवृत्ति होती है ॥

भावितार्थ—'अभिन्न' शब्द का प्रवृति-निमित्त होता है - अन्योऽन्याभाव का अभाव और 'घट' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त घट-स्वरूप या घटत्व । अतः दोनों में पर्यायता या पुनरुक्ति नहीं होती ॥ २११ ॥

एक पद-लक्षणा के द्वारा भी अखण्डार्थत्व सम्भव है—

अबोधनाशश्चितिरित्यमुष्मिन्
पदद्वये त्वेकरसात्मनिष्ठे ।
अगौणमेकं पदमन्यदत्र
द्वितीयवृत्तीतरसंगमाय ॥ २१२ ॥

योजना—"अबोधनाशः चितिः"—इत्यमुष्मिन् एकरसात्मनिष्ठे पदद्वये तु एकं पदम् अगौणम्, अत्र अन्यत् पदम् इतरसंगमाय द्वितीयवृत्ति ॥ (उपेन्द्रवज्राच्छन्दः) ॥

योजितार्थ —"अज्ञाननाशः चितिः" इस वाक्य के एकरसात्मपरक दोनों पदों में

एक पद मुख्य वृत्तिवाला और दूसरा पद इतरार्थ-सम्बन्ध (की योग्यता सम्पादन करने) के लिए द्वितीय (लक्षणा) वृत्तिवाला होता है ।।

भावितार्थ—"अज्ञाननाशः चितिः"—यहाँ अज्ञान का नाश चैतन्यमात्ररूप है, वही चिति पद का भी अर्थ है। अतः यहाँ केवल एक पद की लक्षणा से ही अखण्डार्थत्व का लाभ हो जाता है ।। २१२ ।।

उक्त वाक्य में कौन पद मुख्य ? कौन लाक्षणिक है ? यह बताते हैं—

अज्ञाननाशपदमत्र हि मुख्यमिष्टम्
विद्यानिबंधननिवृत्तिसमर्पकत्वात्[1] ।
तेनान्वयाय चितिवाचिपदं स्ववाच्ये
[2]सौवं समुज्झति मतेः परिणामरूपम् ।। २१३ ।।

योजना—अत्र हि अज्ञाननाशपदं मुख्यम् इष्टम्, विद्यानिबन्धननिवृत्तिसमर्पकत्वात्। तेनान्वयाय चितिवाचिपदं स्ववाच्ये सौवं मतेः परिणामरूपं समुज्झति ।। (व० छ०) ।।

योजितार्थ—उक्त वाक्य में केवल 'अज्ञाननाश' पद मुख्य माना जाता है; क्योंकि वह विद्या-प्रयुक्त अविद्या-निवृत्ति को कहता है, जो कि आत्मस्वरूप है। उसके साथ अभिप्रेत सम्बन्ध का लाभ करने के लिए 'चिति' पद अपने वृत्ति-विशष्ट चैतन्यरूप वाच्य अर्थ में से मति-परिणाम (वृत्ति भाग) का भागत्यागलक्षणा-द्वारा त्याग करता है ।।

भावितार्थ—अन्तःकरण का ब्रह्माकार परिणाम ही विद्या है, उससे जन्य अज्ञानः निवृत्ति को अधिष्ठान (चिन्मात्र) रूप मानते हैं। ऐसी अज्ञान-निवृत्ति का बोधक होने से 'अज्ञाननाश' पद मुख्य है। उक्त (अधिष्ठान-स्वरूप अज्ञान-निवृति) अर्थ के साथ सामानाधिकरण्य की उपपत्ति करने के लिए बुद्धि-वृत्ति-विशिष्ट चैतन्य का वाचक 'चिति' पद स्ववाच्यगत बुद्धि-वृत्तिरूप अंश का परित्याग कर देता है। इस प्रकार केवल एक पद की लक्षणा से ही अखण्डार्थत्व की सम्पत्ति हो जाती है ।। २१३ ।।

विधिमुख (भावार्थक चिति) पद को लाक्षणिक तथा अज्ञान-नाशरूप अभावार्थक पद को मुख्य मानना न्याय-संगत नहीं; क्योंकि जैसे घट-निवृत्ति को कोई भूतल रूप नहीं मानता, अतः घट-निवृत्ति का मुख्य (वाच्य) अर्थ भूतल नहीं हो सकता, वैसे 'अज्ञाननाश' पद का मुख्य अर्थ चैतन्य कैसे होगा ? इस शङ्का का समाधान है—

विधिपदानि हि भागसमर्पणाद्
अपरभागनिराकरणादपि ।
अविषयात्ममतिं जनयन्ति नो
न तु मृषार्थनिवृत्तिगिरस्तथा ।। २१४ ।।

योजना—विधिपदानि हि भागसमर्पणात् अपरभागनिराकरणादपि नः अविषयात्ममतिं जनयन्ति; न तु मृषार्थनिवृत्तिगिरः तथा ।। (द्रुतविलम्बितच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—(मिश्रितार्थक) विधि पद ही (अपने तात्त्विक) भाग का बोधन

---

१. समर्पणत्वादिति पाठान्तरम् ।

२, स्वस्येदं सौवम् ।

तथा अपर (अतात्त्विक) भाग का परित्याग करके ही हमारे मत में अवाच्य आत्मा का बोध उत्पन्न करते हैं; अतात्त्विकार्थ-निवृत्तिपरक पद वैसा नहीं करते ॥

भावितार्थ—विशिष्टार्थक विधि पद मुख्यवृत्ति से केवल चैतन्य को नहीं कह सकते, अतः अपने वाच्य में से अतात्त्विक भाग को भागत्याग-लक्षणा से छोड़कर तात्त्विकांश का बोध कराते हैं। किन्तु अज्ञानादि अतात्त्विकार्थ की निवृत्ति के वाचक (अज्ञाननाशादि) शब्द अधिष्ठान रूप उक्त निवृत्ति को मुख्यवृत्ति से ही बोधित कर देते हैं। अज्ञान-निवृत्ति रूप से वाच्य होने पर भी स्वरूपतः वाच्य न होने से "यतो वाचो निवर्तन्ते"—आदि श्रुतियों का भी विरोध नहीं होता ॥ २१४ ॥

लक्षणा के विना ही अखण्डार्थत्व का उदाहरणान्तर दिखाते हैं—

भेदो भिन्नश्चातिरेकोऽतिरिक्तो
भेदोऽभिन्नः संविदः स्वप्रकाशाः ।
इत्येतस्मिन्विद्यते नार्थभेदो
वेदान्तानामप्यखण्डस्तथाऽर्थः ॥ २१५ ॥

योजना—"भेदो भिन्नः", "अतिरेकोऽतिरिक्तः", "भेदोऽभिन्नः", "संविदः स्वप्रकाशाः"—इत्येतस्मिन् अर्थभेदो न विद्यते; तथा वेदान्तानाम् अखण्डः अर्थः ॥ (शालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—"भेदो भिन्नः" "अतिरेकः अतिरिक्तः", "भेदः अभिन्नः", "संविदः स्वप्रकाशाः"–आदि स्थलों पर अर्थ-भेद नहीं, (अपितु एक अखण्डार्थ है); वैसे ही वेदान्त वाक्यों का अखण्डार्थ होता है ॥

भावितार्थ—"भेदो भिन्नः"—इस वाक्य में 'भिन्न' पद का भेदाश्रयत्व अर्थ करने पर "भेदो भेदाश्रयः" यह अर्थ होगा। यहाँ प्रथम भेद जिस द्वितीय भेद का आश्रय है, वह भेद प्रथम भेद से भिन्न है ? या अभिन्न ? यदि भिन्न (भेदाश्रय) है, तब तो अनवस्थादि-दोष होते हैं और यदि भेद, प्रथम भेद से अभिन्न है, तब आत्माश्रय दोष होता है। अतः यहाँ यह कहना होगा कि भेदात्मक स्वरूप ही 'भिन्न' शब्द का अर्थ है। इस प्रकार इस वाक्य का अखण्डार्थ ही होता है। एवं "अतिरेकोऽतिरिक्तः" आदि वाक्यों में भी जैसे अखण्डार्थत्व है; वैसे वेदान्त-वाक्यों का भी लक्षणा के बिना ही अखण्ड अर्थ माना जा सकता है ॥ २१५ ॥

एवं तावदखण्डवस्तुविषये शब्दान्वयो दर्शितो
लोके दृष्टनयेन पाणिनिवचोऽप्यस्यैव संसूचकम् ।
येनायं स्मरति प्रकृत्यभिहिते वृक्षादिके केवले
तन्मात्रे प्रथमेति सूत्रवचसैवाऽऽद्यां विभक्तिं मुनिः ॥ २१६ ॥

योजना—एवं लोके दृष्टनयेन तावद् अखण्डवस्तुविषये शब्दान्वयो दर्शितः। पाणिन्यादिवचोऽपि अस्यैव संसूचकम्; येन अयं मुनिः "तन्मात्रे प्रथमा"–इति सूत्रवचसा प्रकृत्यभिहिते केवले वृक्षादिके आद्यां विभक्ति स्मरति ॥ (शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इस प्रकार लौकिक न्याय के बल पर अखण्ड वस्तु में शब्दान्वय दिखाया गया। पाणिनि आदि के वचन भी इसके संसूचक हैं; क्योंकि यह महामुनि "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" (पा० सू० २।३।४६) सूत्र के द्वारा प्रकृत्यर्थभूत केवल वृक्षादि अर्थों में प्रथमा विभक्ति का विधान करता है ॥

भावितार्थ—महामुनि पाणिनि ने 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा'—इस सूत्र के द्वारा 'वृक्षः' आदि में प्रातिपदिकार्थमात्र को कहने के लिए 'प्रथमा' विभक्ति का विधान किया। अर्थात् 'वृक्ष' पद और प्रथमा विभक्ति दोनों एक ही वृक्ष रूप अर्थ को कहते हैं। इसी का नाम अखण्डार्थता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि भगवान् पाणिनि ने अखण्डार्थता प्रमाणित कर दी है ॥ २१६ ॥

ब्रह्मसूत्र-प्रणेता महर्षि वादरायण के अभिप्राय से भी अखण्डार्थत्व सिद्ध होता है—

सामानाधिकरण्यमन्वयगिरा हेतुं वदत्यादरात्
तस्यैवाथ विशेषणं समिति च व्यावृत्तये गृह्यते ।
गौणान्मुख्यमयं भिनत्ति भगवान् व्यावर्त्तकेनामुना
नीलेनोत्पलवस्तुवत्स्फुटतरं द्वैविध्यसद्भावतः ॥ २१७ ॥

योजना—अयं भगवान् अन्वयगिरा सामानाधिकरण्यं हेतुं वदति। तस्यैव व्यावृत्तये आदरात् 'सम्' इति विशेषणं च गृह्यते। द्वैविध्यसद्भावतः नीलेन उत्पलवस्तुवत् गौणात् मुख्यम् अनेन व्यावर्तकेन स्फुटं भिनत्ति ॥ (शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—हमारे भगवान् वादरायण ने ('तत्तु समन्वयात्'—इस सूत्र में) 'अन्वय' शब्द से सामानाधिकरण्य को (ब्रह्म की वेदान्त-गम्यता में) हेतु बताया है। उस (सामानाधिकरण्य) की व्यावृत्ति करने के लिए आदरार्थक 'सम्' उपसर्ग (अन्वय का) विशेषण रखा है। (गौण-मुख्य भेद से) दो प्रकार का अन्वय होने से 'नील के द्वारा उत्पल' के समान गौण (अन्वय) से मुख्य (अन्वय) को (सम्) व्यावर्तक के द्वारा स्पष्टतया व्यावृत्त किया ॥

भावितार्थ—"तत्तु समन्वयात्" (ब्र० स० १।१।४) इस सूत्र में भगवान् वादरायण 'तु' शब्द से पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करके 'तत्' शब्द से प्रतिज्ञा करते हैं—'ब्रह्म वेदान्त-गम्यम्"। इस प्रतिज्ञा में तत्त्वमादि पदों का सामानाधिकरण्यरूप अन्वय हेतु बताया है। सामानाधिकरण्य दो प्रकार का होता है—गौण और मुख्य। गौण सामानाधिकरण्य की व्यावृत्ति करने के लिए 'सम्' उपसर्ग लगाया। जिससे नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वमादि पदों का मुख्य सामानाधिकरण्य ब्रह्म में होने से तत्त्वमादि अखण्डार्थक हैं ॥२१७॥

सामानाधिकरण्य के दो भेद दिखाते हैं—

तद्धि द्विधैकाधिकरण्यमुक्तम्
गौणं च मुख्यं च विविच्य सद्भिः ।
संसर्गरूपार्थनिवेशि गौणम्
मुख्यं त्वखंडार्थनिविष्टमाहुः ॥ २१८ ॥

योजना—ऐकाधिकरण्यं गौणं च मुख्यं च विविच्य सद्भिः द्विधा उक्तम् । संसर्गरूपार्थनिवेशि गौणम्, अखण्डार्थनिविष्टं तु मुख्यम् आहुः ।। (इन्द्रवज्राच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—वह सामानाधिकरण्य गौण और मुख्य भेद से विद्वानों ने दो प्रकार का कहा है। संसर्गरूप अर्थ-विषयक (सामानाधिकरण्य) को गौण, अखण्डार्थक को मुख्य कहा है ।।

भावितार्थ—भेद-घटित तादात्म्य का नाम यहाँ संसर्ग है। "नीलमुत्पलम्"—यहाँ गुण-गुणी का तादात्म्य संसर्ग ही वाक्यार्थ है। इस संसर्ग-विषयक सामानाधिकरण्य को गौण और अखण्डार्थ-विषयक सामानाधिकरण्य को मुख्य कहा करते हैं ।। २१८ ।।

जिस सामानाधिकरण्य के गौण और मुख्य दो भेद बताये गये, उस सामानाधिकरण्य का यहाँ क्या स्वरूप है ? इस जिज्ञासा को शान्त करते हैं—

आदाय नानाविधकारणानि
गिरामथैकत्र तु या प्रवृत्तिः ।
तामाहुरैकाधिकरण्यनाम्ना
विपश्चितो वेदशिरःसु विप्राः ।। २१९ ।।

योजना—नानाविधकारणानि आदाय गिरां या तु एकत्र प्रवृत्तिः, तां वेदशिरःसु विपश्चितः विप्राः सामानाधिकरण्यनाम्ना आहुः (उपजातिच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—अनेक कारण (प्रवृत्ति-निमित्तों को) लेकर (प्रवृत्त होनेवाले) शब्दों की जो एक ही अर्थ में प्रवृत्ति है, उसी को वेदान्त-वेत्ता आचार्य सामानाधिकरण्य नाम दिया करते हैं ।।

भावितार्थ—यहाँ सामानाधिकरण्य का लक्षण है—'भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां पदानामेकत्रार्थे वृत्तिः'। पर्याय पदों की निवृत्ति के लिए 'भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानाम्' कहा है। अर्थात् नीलत्व और उत्पलत्वादि विभिन्न प्रवृत्ति-निमित्तक नील तथा उत्पलादि अनेक पदों की जो एक उत्पलरूप अर्थ में वृत्ति है, उसे ही सामानाधिकरण्य कहा जाता है। "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों का अखण्डार्थ-निरूपण उक्त सामानाधिकरण्य पर अधिक निर्भर है, अतः वेदान्तिजनों को उसका निरूपण अवश्य करना है—यह सूचित करने के लिए "वेदशिरःसु विपश्चितः" कहा है ।। २१९ ।।

गौण मुख्य सामानाधिकरण्य का क्रमशः उदाहरण देते हैं—

नीलं सुगन्धि महदुत्पलमंबुशायी-
त्येवंप्रकारमिह गौणमुशन्ति संतः ।
सोऽयं पुमानुदशरावगतो विवस्वान्
आकाशगो रविरसाविति मुख्यमाहुः ।। २२० ।।

योजना—"नीलं सुगन्धि महदुत्पलम् अम्बुशायि"—इत्येवं प्रकारम् इह सन्तः गौणम् उशन्ति। 'सोऽयं पुमान्' 'उदशरावगतो विवस्वान् आकाशगो रविः'—इति मुख्यमाहुः ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—"नीलं सुगन्धि महदुत्पलम् अम्बुशायि" इस प्रकार के सामानाधिकरण्य

को यहाँ विद्वान् गौण मानते हैं और 'सोऽयं पुमान्, 'उदशरावगतो विवस्वान् आकाशगो रविः'—इसे मुख्य ॥

भावितार्थ— 'नीलं सुगन्धि महदुत्पलम्—यहाँ उत्पल पद के साथ नीलादि पदों का सामानाधिकरण्य गौण माना जाता है, क्योंकि यहाँ वाच्यतावच्छेदक (नीलत्वादि) धर्म परस्पर भिन्न है। "सोऽयं पुमान्"—आदि वाक्यों में 'तत्' तथा 'इदम्' का मुख्य सामानाधिकरण्य कहा जाता है, क्योंकि यहाँ अत्यन्तैकरस पुरुषादि-स्वरूपमात्र में दोनों का तात्पर्य होता है ॥ २२० ॥

दोनों सामानाधिकरण्यों में एकार्थ-वृत्तित्व समान होने पर भी एक को गौण तथा दूसरे को मुख्य क्यों माना जाता है ? इस सन्देह का उतर देते हैं—

एकत्र वृत्तिरिति लक्षणमत्र मुख्यं
संसर्गवस्तुनि पुनर्न हि तद् घटेत ।
नानारसे हि विषये वचसां प्रवृत्ति-
र्नीलं सुगन्धि महदुत्पलमित्यमीषाम् ॥ २२१ ॥

योजना—एकत्र वृत्तिरिति लक्षणम् अत्र मुख्यम । संसर्गवस्तुनि पुनः तत् न हि घटेत, "नीलं सुगन्धि महदुत्पलम्"—इत्यमीषां वचसां हि नानारसे विषये प्रवृत्तिः॥ (व० छ०)॥

योजितार्थ—"एकत्रार्थे वृत्तिः"—यह लक्षण यहाँ (सोऽयं पुमान्—आदि वाक्यों में) मुख्य है। संसर्गवस्तु में वह मुख्यतया नहीं घटता, क्योंकि "नीलं सुगन्धि महदुत्पलम्"—आदि वाक्यस्थ पदों की (एकरस वस्तु में प्रवृत्ति नहीं होती, अपितु) नानारस (भिन्न) वस्तु (अर्थात् नाना विशेषणों से युक्त सखण्डवस्तु) में प्रवृति होती है ॥

भावितार्थ— सामानाधिकरण्य-लक्षण-घटक 'भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां पदानाम्'—यह भाग उक्त दोनों स्थलों पर समान है। किन्तु 'एकत्र वृत्तिः'—यह शेष भाग 'सोऽयम् पुमान्'—आदि अखण्डैकरस वस्तु-परक पदों में ही मुख्यरूप से घटता है, क्योंकि एक रस वस्तु में ही पदों की वृत्ति होती है। किन्तु 'नीलं सुगन्धि महदुत्पलम्'—यहाँ पर किसी शब्द की गुण में और किसी की गुणी में वृत्ति है, एक ही वस्तु में नहीं। गुण और गुणी का कथञ्चित् अभेद मान कर ही उपचार से 'एकत्र वृत्तिः'—यह भाग घटाया जाता है ॥ २२२ ॥

'एकत्र वृत्ति' का व्यावर्त्य वैयधिकरण्य दिखाते है —

नानाविधैर्बहुभिरेव निमित्तभेदैः
भिन्नेषु वस्तुषु गिरामथ या प्रवृत्तिः ।
सर्वत्र वैयधिकरण्यमिति प्रसिद्धा
सा शब्दवृत्तिकुशलव्यवहारभूमौ ॥ २२२ ॥

योजना—अथ नानाविधैः बहुभिरेव निमित्तभेदैः भिन्नेषु वस्तुषु या गिरां प्रवृत्तिः, सा शब्दवृत्तिकुशलव्यवहारभूमौ सर्वत्र वैयधिकरण्यमिति प्रसिद्धा ॥ (व० छ०) ॥

योजितार्थ—विविध अनेक निमित्तों को लेकर विभिन्न पदार्थों में जो पदों की वृत्ति है, वह शब्द-वृत्ति के पण्डितगण की व्यवहार-भूमि में सर्वत्र वैयधिकरण्य नाम से प्रसिद्ध है॥

भावितार्थ—'भिन्न प्रवृत्ति-निमित्तक पदों की भिन्न-भिन्न अर्थों में वृत्ति' का नाम वैयधिकरण्य है। इस लक्षण की सामानाधिकरण्य में अतिव्याप्ति हटाने के लिए भिन्न-भिन्न अर्थों में वृत्ति कही। एकार्थ में वृत्ति को सामानाधिकरण्य कहा जा चुका हैं। नाना व्यक्तिनिष्ठ अनेक पर्याय पदों की वृत्ति में अतिव्याप्ति न हो, इसलिए भिन्न प्रवृत्ति-निमित्तक पदों की वृत्ति कही है ॥ २२२ ॥

गत (२१९ वें) पद्य में प्रोक्त "नानाविधकारणानि" पद का व्यावर्त्य पर्याय-स्वरूप कहते हैं—

अभिन्नहेतुर्विषये समाने
विभिन्नवाचामथ या प्रवृत्तिः ।
पर्यायनाम्नाऽभिवदन्ति धीराः
प्रवृत्तिमेनां वचसां बहूनाम् ॥ २२३ ॥

योजना—अथ विभिन्नवाचां समाने विषये या अभिन्नहेतुः प्रवृत्तिः, एतां बहूनां वचसां प्रवृत्तिं पर्यायनाम्ना धीराः अभिवदन्ति ॥ (उपेन्द्रवज्राच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—विभिन्न पदों की एक ही अर्थ में जो एक प्रवृत्ति-निमित्तक वृत्ति है, इस बहुत पदों की प्रवृत्ति को पर्याय नाम से विद्वान् पुकारा करते हैं ॥ २२३ ॥

व्यधिकरण तथा पर्याय के क्रमशः उदाहरण दिखाते हैं —

कुड्यं गृहस्य सरसोऽम्बुजमस्य वस्त्र-
मित्यत्र वैयधिकरण्यमिति प्रसिद्धम् ।
एवं मुखं वदनमाननमित्यमीषां
पर्यायताऽपि विदितैव पुरोक्तहेतोः ॥ २२४ ॥

योजना—'गृहस्य कुडचम्' 'सरसोऽम्बुजम्', 'अस्य वस्त्रम्'—इत्यत्र वैयधिकरण्यमिति प्रसिद्धम्। एवं 'मुखं वदनम् आननम्' इत्यमीषां पूर्वोक्तहेतोः पर्यायताऽपि विदितैव ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—'गृहस्य कुडचम्' (घर की दीवार), 'सरसोऽम्बुजम् (तालाब का कमल), 'अस्य वस्त्रम्' (इसका वस्त्र) आदि स्थलों पर (गृह, कुडचादि पदों का) वैयधिकरण्य अन्वय प्रसिद्ध है। एवं "मुखं वदनम् आननम्" (मुख, वदन, आनन) आदि पदों में पूर्वोक्त हेतु (अभिन्न हेतु) से पर्यायता भी विदित ही है ॥ २२४ ॥

"तत्त्वमसि" आदि वाक्यों में अन्वयान्तर सम्भव नहीं, अतः मुख्य सामानाधिकरण्य ही मानना होगा—

पर्यायता न खलु तत्त्वमसीति वाक्ये
नापीह संभवति भेदकभेद्यभावः ।
तत्त्वम्पदार्थगतमेकरसैकभागं
तत्त्वम्पदे समुपलक्षयतो विरोधात् ॥ २२५ ॥

योजना – तत्त्वमसीति वाक्ये न खलु पर्यायता सम्भवति, नापि इह भेदकभेद्यभावः, तत्त्वम्पदे तत्त्वम्पदार्थगतम् एकरसम् उपलक्षयतो विरोधात् ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ – 'तत्त्वमसि'–इस वाक्य में न तो पर्यायता सम्भव है और न वहाँ विशेष्य-विशेषणभाव (वैयधिकरण्य) ही, क्योंकि तत् और त्वम् इन पदों की अखण्डार्थकत्व में लक्षणा मानने वाले की दृष्टि से विरोध होता है ।।

भावितार्थ—'तत्त्वमसि'–यहाँ प्रवृत्ति-निमित्त का भेद होने से पर्यायता सम्भव नहीं, पर्यायता मानने पर सहप्रयोग सम्भव न होता । 'गृहस्य कुड्यम्' के समान वैयधिकरण्य अन्वय भी वहाँ बाधित है । अर्थात् तत्-त्वम् के वाच्यार्थ विरुद्ध हैं और विरुद्ध पदार्थों का विशेष्य-विशेषणभाव बाधित है । अतः परिशेषतः मुख्य सामानाधिकरण्य अन्वय ही यहाँ मानना होगा ।। २२५ ।।

'सोऽयं देवदत्तः'—इस लौकिक वाक्य के दृष्टान्त से 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में अखण्डार्थता का उपपादन किया गया । अब 'सत्यं ज्ञानम्'—आदि अवान्तर वाक्यों में अखण्डार्थतासिद्धि के अनुगुण दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं –

प्रकृष्टप्रकाशध्वनी व्यक्तिमेकाम्
यथा लक्षणावर्त्मनोपक्षिपेताम् ।
शशाङ्कादिशब्दार्थसंकीर्तने सत्-
चिदानन्दशब्दाः परं ब्रह्म तद्वत् ।। २२६ ।।

योजना—यथा शशाङ्कादिशब्दार्थसंकीर्तने प्रकृष्टप्रकाशध्वनी लक्षणावर्त्मना एकां व्यक्तिम् उपक्षिपेताम्, तद्वत् सच्चिदानन्दशब्दाः परब्रह्म ।। (भुजङ्गप्रयातम्) ।।

योजितार्थ— जैसे शशाङ्करूप अर्थ के प्रतिपादन में 'प्रकृष्ट और प्रकाश' दोनों शब्द लक्षणा के द्वारा एक (चन्द्र) व्यक्ति का प्रतिपादन करते हैं, वैसे ही सत् चित् आनन्द आदि शब्द भी एक परब्रह्म के बोधक होते हैं ।।

भावितार्थ—जैसे 'इह ज्योतिश्चक्रे कश्चन्द्रः ?'—इस प्रश्न के उत्तर में कोई कहता है —'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' प्रश्नकर्ता को केवल चन्द्र के स्वरूप की ही जिज्ञासा है, तद्गत प्रकृष्टत्व और प्रकाशत्व की नहीं, अतः उत्तर वाक्य के सभी पदों से चन्द्र-स्वरूपमात्र का प्रतिपादन करना होगा । इसलिए 'प्रकृष्ट' और 'प्रकाश'— ये दोनों शब्द अपने (प्रकृष्टत्व एवं प्रकाशत्व रूप) अर्थ को छोड़कर अप्रकृष्टाप्रकाश-व्यावृत्त चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्र का लक्षणा-द्वारा प्रतिपादन करते हैं, वैसे ही 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' आदि वाक्यों के सत्यादि पद भी भाग-त्याग लक्षणा से ब्रह्म-स्वरूपमात्र का समर्पण करते हैं ।।२२६।।

प्रकृष्ट प्रकाशादि वाक्यों से नीलमुत्पलम्-आदि वाक्यों की विशेषता दिखाते हैं–

न नीलोत्पलाद्या गिरो व्यक्तिनिष्ठाः
स्ववाच्यार्थसंसर्गमात्राभिधानात् ।
विरोधे हि वाच्यच्युतिर्नाविरोधे
गिरां लक्षणाऽत्रापि चेदस्तु साम्यम् ।। २२७ ।।

योजना— नीलोत्पलाद्याः गिरः व्यक्तिनिष्ठाः न, स्ववाच्यार्थ-संसर्गमात्राभिधानात् गिरां विरोधे हि वाच्यच्युतिः, नाविरोधे । चेत् अत्रापि लक्षणा, साम्यम् अस्तु ॥ (भु०छ०)

योजितार्थ—'नीलमुत्पलम्'—आदि (वाक्यस्थ नीलादि) पद किसी एक व्यक्ति का बोध कराने में प्रवृत्त नहीं, क्योंकि अपने वाच्य अर्थों के संसर्ग मात्र का अभिधान करते हैं। पदों (के वाक्यार्थों) में विरोध होने पर ही उनके वाक्यार्थ का परित्याग होता है, अविरोध अवस्था में नहीं । यदि यहाँ भी लक्षणा अभीष्ट है, तब तो प्रकृष्ट प्रकाशादि वाक्यों का साम्य ही यहाँ माना जा सकता है ॥

भावितार्थ—'नीलमुत्पलम्'-आदि संसर्गार्थिक वाक्यों में लक्षणा नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वाच्यार्थों का संसर्ग बाधित नहीं। यदि यहाँ भी लक्षणा ही अभीष्ट है, तब प्रकृष्ट प्रकाशादि वाक्यों के समान यहाँ भी अखण्डार्थत्व ही माना जा सकता है ॥२२७॥

'नीलमुत्पलम्' में अखण्डार्थत्व का प्रकार दिखाते हैं—

न नीलत्वजात्याश्रयव्यक्तितः स्याद्
विभिन्नोत्पलत्वाश्रयव्यक्तिरेषा ।
तथैवोत्पलत्वाश्रयव्यक्तितः स्यात्
न नीलत्वजात्याश्रयव्यक्तिरन्या ॥ २२८ ॥

योजना—नीलत्वजात्याश्रयव्यक्तितः एषा उत्पलत्वाश्रयव्यक्तिः विभिन्ना न, तथैव उत्पलत्वाश्रयव्यक्तितः नीलत्वजात्याश्रयव्यक्तिः अन्या न ॥ (भुजङ्गप्रयातच्छन्दः) ॥

योजितार्थ – नीलत्व जाति की आश्रयभूत व्यक्ति से यह उत्पलत्व जाति की आश्रय व्यक्ति भिन्न नहीं, वैसे ही उत्पलत्वजाति-आश्रय व्यक्ति से नीलत्वाश्रय व्यक्ति भी अन्य नहीं ।

भावितार्थ—'नील' पद का वाच्यार्थ मीमांसक मत में 'नीलत्व' जाति है और नैयायिक मत में नीलत्व-विशिष्ट व्यक्ति । इसी प्रकार 'उत्पल' पद भी 'उत्पलत्व' जाति या उत्पलत्वविशिष्ट व्यक्ति का वाचक है। मीमांसक मत से जाति या जहल्लक्षणा द्वारा एवं न्याय-मत से जहल्लक्षणा के द्वारा नील और उत्पल—दोनों पद नीलत्वादि जाति की आश्रयीभूत व्यक्ति के लक्षक होते हैं। वह लक्षित व्यक्ति एक है, अखण्ड है । इस प्रकार यह वाक्य भी अखण्डार्थक सिद्ध होता है ॥ २२८ ॥

वस्तुतः उक्त वाक्य में न तो लक्षणा ही मानी जाती है, और न अखण्डार्थता —

न नीलोत्पलादिप्रदेशेषु किञ्चिद्
गिरां लक्षणाकारणं तेन तत्र ।
न नीलोत्पलत्वादिकव्यक्तिनिष्ठा
गिरस्ता भवेयुः प्रमाणादृते नः ॥ २२९ ॥

योजना—नीलोत्पलादिप्रदेशेषु गिरां लक्षणाकारणं किञ्चित् न, तेन प्रमाणात् ऋते गिरः नीलोत्पलत्वादिकव्यक्तिनिष्ठाः नः न भवेयुः ॥ (भुजङ्गप्रयातम्) ॥

योजितार्थ— नीलोत्पलादि वाक्य के नीलादि पदों में लक्षणा का कोई निमित्त नहीं, बिना किसी प्रमाण (निमित्त) के नीलादि पद नीलत्वादि जाति की आश्रयीभूत व्यक्ति के बोधक नहीं हो सकते ॥

भावितार्थ—नीलोत्पलादि स्थल पर मुख्यार्थों के अन्वय में भी कोई बाधक (अनुपपत्ति) नहीं, अतः वहाँ लक्षणा की प्रवृत्ति ही नहीं होती। बिना निमित्त[1] के लक्षणा का आश्रयण उचित नहीं होता; अतः उक्त वाक्य संसर्ग-बोधक ही माना जाता है ॥२२९॥

लक्षणा करने पर भी उक्त वाक्य में अखण्डार्थता नहीं बन सकती—

इदमुपेत्य किमप्युदितं मया
न तु तयोरभिदा परमार्थतः ।
गुणगुणित्वकृतोऽतिशयस्तयो।
भवति लक्षणयाऽपि गृहीतयोः ॥ २३० ॥

योजना—इदमुपेत्य किमपि मया उदितम्, परमार्थतः तु तयोः अभिदा न, लक्षणया गृहीतयोः तयोः अपि गुणगुणित्वकृतः अतिशयः भवति ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—(थोड़ी देर के लिए) मानकर यह कुछ (अनभिमत भी) मैंने कह दिया है। वस्तुतः उन दोनों नील और उत्पल व्यक्तियों का अभेद नहीं; क्योंकि लक्षणा के द्वारा प्राप्त उन (नील और उत्पल व्यक्तियों) का गुण-गुणित्व-प्रयुक्त कुछ भेद होता ही है ॥

भावितार्थ—नील तथा उत्पल में गुण-गुणिभाव का व्यवहार सिद्ध करने के लिए दोनों का कुछ भेद भी मानना होगा, क्योंकि अत्यन्त अभिन्न पदार्थों में गुण-गुणिभाव नहीं बन सकता। अतः लक्षणा वृत्ति से भी प्राप्त व्यक्तियों का अत्यन्त अभेद नहीं कह सकते। गुण-गुणिपदार्थों में तादात्म्य सम्बन्ध अवश्य होता है, किन्तु वह भेद-सहिष्णु तादात्म्य होता है। अतः उक्त दोनों पदों की लक्ष्यभूत व्यक्तियों का भी अत्यन्त अभेद न होने से अखण्डार्थता वस्तु दृष्टि से सम्भव नहीं ॥ २३० ॥

इस प्रकार तो 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'—इस वाक्य में भी अखण्डार्थता सिद्ध न होगी—ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं—

प्रकृष्टप्रकाशत्वजाती हि लोके
प्रकृष्टप्रकाशाभिधानाभिधेये ।
तयोरन्वये कीर्त्यमाने तु ताभ्यां
शशाङ्काभिधानाभिधेयं न लभ्यम् ॥ २३१ ॥

योजना— लोके ही प्रकृष्टप्रकाशत्वजाती प्रकृष्टप्रकाशाभिधानाभिधेये। तयोरन्वये कीर्त्यमाने तु ताभ्यां शशाङ्काभिधानाभिधेयं न लभ्यम् ॥ (भुजङ्गप्रयातम्) ॥

योजितार्थ— लोक में प्रकृष्टत्व और प्रकाशत्व जातियाँ ही प्रकृष्ट और प्रकाश पदों की वाच्य हैं। उनका अन्वय करने पर प्रकृष्ट और प्रकाश पदों के द्वारा शशाङ्क पद-वाच्य (व्यक्ति) का लाभ न हो सकेगा ॥ २३१ ॥

प्रकृष्ट और प्रकाश पदों से शशाङ्क पद-वाच्य का लाभ न होने से क्षति दिखाते हैं—

---

[1] लक्षणा के दो ही निमित्त प्रसिद्ध हैं—(१) अन्वयानुपपत्ति और (२) तात्पर्यानुपपत्ति। यहाँ दोनों सम्भावित नहीं; क्योंकि 'नील' और 'उत्पल' पदार्थों का न तो अन्वय ही अनुपपन्न है और किसी प्रकार की तात्पर्यानुपपत्ति ही है। गुण-गुणिभाव संसर्ग ही अभिप्रेत है; वह बन ही जाता है।

शशाङ्काभिधानाभिधेयं हि पृष्टे
तदेवोत्तरेणापि निर्णेयमत्र ।
प्रकृष्टप्रकाशत्वजात्यन्वयोऽयं
तदाक्षिप्ततद्व्यञ्जकव्यक्तिनिष्ठः ॥ २३२ ॥

योजना—शशाङ्काभिधानाभिधेये पृष्टे हि उत्तरेणादि तदेव अत्र निर्णयम् । अयं प्रकृष्टप्रकाशत्वजात्यन्वयः तदाक्षिप्ततद्व्यञ्जकव्यक्तिनिष्ठः ।। (भुजङ्गप्रयातम्)

योजितार्थ—शशाङ्क पद-वाच्य के पूछे जाने पर उत्तर वाक्य से भी उसी का निर्णय करना होगा । यह प्रकृष्टत्व और प्रकाशत्व जातियों का अन्वय उक्त दोनों पदों से आक्षिप्त (जातियों की) व्यञ्जक व्यक्तियों में पर्यवसित होता है ॥

भावितार्थ—केवल चन्द्र प्रातिपदिकार्थ मात्र की जिज्ञासा होने पर उत्तर दिया गया है– "प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः" । इस उत्तर वाक्य से चन्द्रप्रातिपदिकार्थ का ही लाभ करना होगा । किन्तु प्रकृष्ट पद-वाच्य प्रकृष्टत्व जाति तथा प्रकाश पद-वाच्य प्रकाशत्व जातियों का अन्वय अनुपपन्न होने पर उक्त पदों के द्वारा आक्षिप्त उक्त जातियों के आश्रयीभूत उन व्यक्तियों का ही अन्वय करना होगा, केवल चन्द्रव्यक्ति का लाभ नहीं हो सकता ॥ २३२ ॥

प्रकृष्ट प्रकाश पदों से आक्षिप्त प्रकृष्ट प्रकाश व्यक्तियों के अन्वय को चन्द्र प्रातिपदिकार्थ नहीं कह सकते –

शशाङ्काभिधानाभिधेयो न चेष्टः
शशाङ्कस्य तेजोविशेषत्वहेतोः ।
ततश्चोपपन्ना जहल्लक्षणातः
पुरोक्ता पदाभ्यामखण्डार्थसिद्धिः ॥ २३३ ॥

योजना–(अयम्) शशाङ्काभिधानाभिधेयः न चेष्टः, शशाङ्कस्य तेजोविशेषत्वहेतोः । ततश्च जहल्लक्षणा उपपन्ना । अतः पदाभ्यां पुरोक्ता अखण्डार्थसिद्धिः ।। (भुजङ्गप्रयातम्) ।।

योजितार्थ– (उक्त व्यक्तियों का अन्वय) शशाङ्क पद-वाच्य नहीं हो सकता, क्योंकि शशाङ्क तेजोविशेषस्वरूप होता है, अन्वयस्वरूप नहीं । अतः जहल्लक्षणा माननी होगी । इसलिए उक्त पदों के द्वारा पूर्वोक्त अखण्डार्थ-सिद्धि हो जाती है ।।

भावितार्थ—प्रकृष्ट और प्रकाश—इन दोनों पदों के द्वारा आक्षिप्त जातिद्वय-शिष्ट व्यक्तियों के या उनके अन्वय को चन्द्रप्रातिपदिकार्थ नहीं मान सकते; क्योंकि चन्द्रप्रातिपदिकार्थ एक तेजोविशेष ही होता है । अतः जिज्ञासितार्थ का लाभ करने के लिए यहाँ जहल्लक्षणा माननी होगी । दोनों पद अपने-अपने वाक्यार्थ का परित्याग करके केवल चन्द्रव्यक्ति का बोध कराते हैं । इस प्रकार उक्त स्थल पर पूर्वोक्त अखण्डार्थत्व की सिद्धि हो जाती है ।। २३३ ।।

फिर भी अखण्डार्थत्व की सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि प्रकर्ष और प्रकाश रूप धर्मों का परस्पर तथा चन्द्रव्यक्ति से भेद है । इस सन्देह को दूर करते हैं –

प्रकर्षः प्रकाशातिरिक्तो न चात्र
प्रकाशः प्रकर्षातिरिक्तो न चात्र ।
वहिश्चन्द्रमस्ति स्वरूपातिरेकः
तयोश्चन्द्रमस्येकतैवातिमात्रम् ॥ २३४ ॥

योजना–न च अत्र प्रकर्षः प्रकाशातिरिक्तः। न च अत्र प्रकाशः प्रकर्षातिरिक्तः, तयोः वहिश्चन्द्रं स्वरूपातिरेकोऽस्ति, चन्द्रमसि अतिमात्रम् एकतैव ॥ (भुजङ्गप्रयातम्) ॥

योजितार्थ—न तो यहाँ प्रकर्ष, प्रकाश से अतिरिक्त है और न यहाँ प्रकाश, प्रकर्ष से अतिरिक्त, उन (प्रकर्ष और प्रकाश) दोनों का चन्द्रमा से बाहर (अन्धकार तथा खद्योतादि में) भेद होने पर भी चन्द्र व्यक्ति में अत्यन्त अभेद है ॥

भावितार्थ—चन्द्रमा के बाहर अन्धकारादिगत प्रकर्ष तथा खद्योतादिगत प्रकाश व्यक्तियों का परस्पर एवं चन्द्रव्यक्ति से भेद होने पर भी चन्द्रगत प्रकर्ष और प्रकाश का न तो परस्पर ही कोई भेद होता है और न चन्द्र व्यक्ति से ही । अतः तीनों के एक अखण्डरूप होने से अखण्डार्थत्व सिद्ध हो जाता है ॥ ३३४ ॥

उक्तार्थ में अनुभव प्रमाण दिखाते हैं—

न चन्द्रप्रकाशप्रकर्षं प्रकाशात्
तदीयात् पृथक्कश्चिदुत्पश्यतीह ।
तथाऽस्य प्रकर्षप्रकाशं प्रकर्षात्
ततो नानयोरस्ति भेदे प्रमाणम् ॥ २३५ ॥

योजना—कश्चित् इह चन्द्रप्रकाशप्रकर्षं तदीयात् प्रकाशात् तथा प्रकर्षप्रकाशं प्रकर्षात् पृथक् नोत्पश्यति । ततोऽनयोः भेदे प्रमाणं नास्ति ॥ (भुजङ्गप्रयातच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—कोई भी व्यक्ति यहाँ चन्द्रगत प्रकाश के प्रकर्ष को चन्द्र के प्रकाश से तथा प्रकर्ष-प्रकाश को प्रकर्ष से पृथक् नहीं देखता, अतः इन (प्रकर्ष और प्रकाश) दोनों के भेद में कोई प्रमाण नहीं ।

भावितार्थ—चन्द्र का प्रकर्ष प्रकाश से भिन्न एवं प्रकाश प्रकर्ष से भिन्न नहीं प्रतीत होता है । अतः उन दोनों को एक रूप ही मानना होगा । वे दोनों चन्द्र से भिन्न नहीं प्रतीत होते, इसलिए तीनों नितान्त अभिन्न हैं ॥ २३५ ॥

अवान्तरवाक्यों में अखण्डार्थत्व की सिद्धि की गई । अब अवान्तरवाक्य को दृष्टान्त बनाकर महावाक्य में अखण्डार्थत्व-साधन करते हैं –

यथा सच्चिदानन्दशब्दास्तदर्थम्
तथा तत्त्वमावात्मनो ब्रह्मभावम् ।
विरोधान्मिथो लक्षणावर्त्मनेमौ
किमर्थं न संभूय वक्तुं समर्थौ ॥ २३६ ॥

योजना—यथा सच्चिदानन्दशब्दाः तदर्थं (लक्षणया बोधयन्ति), तथा इमौ तत्त्वमौ

मिथो विरोधात् लक्षणावर्त्मना संभूय आत्मनः ब्रह्मभावम् वक्तुं किमर्थं न समर्थौ ? (भुजङ्गप्रयातच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—जैसे सत्, चिद्, आनन्दादि शब्द तत्पद-लक्ष्य का (लक्षणाद्वारा बोध कराते हैं), वैसे ही ये 'तत् त्वम्' पद (वाच्यार्थों में) परस्पर विरोध होने के कारण लक्षणा-मार्ग के द्वारा मिलकर आत्मा को ब्रह्मरूप कहने में समर्थ क्यों न होंगे ?

भावितार्थ—'तत्त्वमस्यादिवाक्यं विशिष्टार्थं वाक्यत्वात्, ज्योतिष्टोमादि वाक्यवत्'—इस अनुमान का प्रकृष्ट प्रकाशादि लौकिक तथा सच्चिदादि वैदिक वाक्यों में व्यभिचार दिखाकर 'तत्त्वमस्यादिवाक्यम् अखण्डार्थम्, ब्रह्मपरवाक्यत्वात्, सच्चिदानन्दवाक्यवत्'—यह निर्दुष्ट अनुमान यहाँ दिखाया गया । 'मिथो विरोधात्'—इस पद से लक्षणा का निमित्त दिखाया गया है ।।

ऊपर के कथन से भ्रम हो सकता है कि तत्त्वम्पद लक्षक हैं । किन्तु पहले (गत १४७ वें पद्य में) पदार्थ को लक्षक कह आये हैं, उससे इस कथन का विरोध होता है । अतः इस भ्रम को दूर कर कहते हैं—

प्रत्यक्तत्त्वं लक्षयेत्त्वम्पदार्थः
तच्छब्दार्थो लक्षयेदद्वितीयम् ।
एवं पूर्णं प्रत्यगात्मानमेतौ
शब्दौ ब्रूतो लक्षणावर्त्मनैव ।। २३७ ।।

योजना—त्वम्पदार्थः प्रत्यक्तत्त्वं लक्षयेत्, तच्छब्दार्थः अद्वितीयं लक्षयेत् । एवम् एतौ शब्दौ लक्षणावर्त्मना एव पूर्णं प्रत्यगात्मानं ब्रूतः ।। (शालिनीच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—त्वम्पदार्थ की प्रत्यगात्मा (जीव-साक्षी) में लक्षणा तथा तत्पदार्थ की अद्वितीय (ईश्वर-साक्षी) में लक्षणा होती है । इस प्रकार ये दोनों शब्द लक्षणा द्वारा ही पूर्ण प्रत्यगात्मा को कहते हैं ।

भावितार्थ—त्वम्पद-वाच्य (अपरोक्षत्वादि-विशिष्ट चैतन्य) अपनें विशेष्य भाग शुद्ध चैतन्य का लक्षक एवं तत्पद-वाच्य (परोक्षत्वादि-विशिष्ट चैतन्य) अपनें विशेष्य भाग शुद्ध चैतन्य का लक्षक होता है । दोनों लक्ष्यार्थों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं, अतः दोनों पदों के द्वारा अद्वय ब्रह्म का लाभ हो जाता है ।। १३७ ।।

जैसे 'सोऽयं देवदत्तः'—में लक्ष्यभूत देवदत्त-स्वरूप का ज्ञान होनें पर भी तत्तद्देशकालादि-वैशिष्ट्य की निवृत्ति नहीं होती, वैसे "तत्त्वमसि" में लक्ष्यभूत ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर भी परोक्षत्व दुःखित्वादि की निवृत्ति नहीं होती । फिर ऐसे ब्रह्मज्ञान से लाभ क्या ? इस शङ्का का समाधान है—

पारोक्ष्यं च ब्रह्मणि प्रत्यगर्थे
दुःखित्वं च ध्वान्तसंभूतमाहुः ।
सम्यग्ज्ञानध्वस्तमोहस्य पुंसः
प्रध्वंसेते हेत्वभावेऽफलत्वात् ।। २३८ ।।

योजना—ब्रह्मणि च पारोक्ष्यम् प्रत्यगर्थे च दुःखित्वं ध्वान्तसम्भूतम् आहुः। सम्यग्ज्ञानध्वस्तमोहस्य पुंसः (ते) प्रध्वंसेते; हेत्वभावे अफलत्वात्॥ (शालिनीच्छन्दः)॥

योजितार्थ—ब्रह्म में परोक्षत्व और प्रत्यगात्मा में दुःखित्व को अज्ञानजन्य कहते हैं। सम्यक् ज्ञान के द्वारा जिस पुरुष का अज्ञान नष्ट हो गया है, उसके (परोक्षत्व और दुःखित्व) दोनों नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि कारण के न रहने पर कार्य नहीं रहा करता॥

भावितार्थ—'सोऽयं देवदत्तः'—यहाँ पर देवदत्त के स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर भी उसके देशकालादि-वैशिष्टच की निवृत्ति नहीं होती, इसका कारण यह है कि वह अज्ञान से कल्पित[1] नहीं। किन्तु ब्रह्म में परोक्षत्वादि ध्वान्त-सम्भूत माने जाते हैं, अतः तत्त्वज्ञान के उदय हो जाने पर उनका टिक सकना सम्भव नहीं। इसलिए तत्त्वज्ञान से दुःखित्वादि बन्धन-समूह की निवृत्ति हो जाती है। इससे बढ़कर और लाभ क्या होगा ?॥ २३८॥

यदि वेदान्त-वाक्य अद्वितीय ब्रह्म का बोधमात्र कराने के लिए प्रवृत्त हुए हैं, तब तो शक्ति वृत्ति से उसे क्यों नहीं कहा जाता ? इस सन्देह की निवृत्त करते हैं—

षष्ठीजातिगुणक्रियादिरहिते सर्वस्य विज्ञातरि
प्रत्यक्षे परिवर्जिताखिलजगद्द्वैतप्रपञ्चे दृशौ।
संत्यक्तव्यवधानके परमके विष्णोः पदे शाश्वते
त्वय्यज्ञानविनिर्मिता[2] न हि गिरो मुख्यप्रवृत्तिक्षमाः ॥२३९॥

योजना—षष्ठीजातिगुणक्रियादिरहिते, सर्वस्य विज्ञातरि, प्रत्यक्षे, परिवर्जिताखिलजगद्द्वैतप्रपञ्चे, दृशौ, संत्यक्तव्यवधानके, विष्णोः परमके पदे, शाश्वते त्वयि अज्ञानविनिर्मिताः गिरः मुख्यप्रवृत्तिक्षमाः न हि॥ (शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः)॥

योजितार्थ—(हे शिष्य !) सम्बन्ध, जाति, गुण और क्रियादि से रहित, सर्वसाक्षी अपरोक्ष, निखिल द्वैत-प्रपञ्च-शून्य, चैतन्यस्वरूप, व्यवधान-रहित, विष्णु के परम पद, नित्यस्वरूप तुझ में अज्ञान-निर्मित ये शब्द प्रवृत्तिक्षम नहीं हैं॥

भावितार्थ—हे शिष्य ! अज्ञान-विनिर्मित ये समस्त शब्द हैं। तेरे निर्विशेष स्वरूप को मुख्यरूप से कहने में कथमपि समर्थ नहीं, अतः लक्षणा वृत्ति से ही शुद्ध स्वरूप का बोध करा सकते हैं। शुद्ध ब्रह्म में मुख्य वृत्ति से शब्दों की प्रवृत्ति क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए ही ब्रह्म का विशेषण देते है—षष्ठीजातिगुणक्रियादिरहिते। 'षष्ठी' पद से यहाँ 'सम्बन्ध' अर्थ विवक्षित है। कोई भी शब्द सम्बन्ध, जाति, गुण और क्रियादि को निमित्त मान कर ही कहीं मुख्य वृत्ति से प्रवृत्त होता है। जैसे समस्त तद्धितान्तादि शब्द सम्बन्धाधीन, गवादि शब्द गोत्वादि जाति के निमित्त से, शुक्लादि शब्द गुण के निमित्त से, पाचकादि शब्द क्रिया के निमित्त से, डित्थादि शब्द मूर्त स्वरूप के निमित्त से प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् सम्बन्ध, जाति आदि के योग से ही मुख्य वृत्ति के द्वारा शब्द

---

[1] आशय यह है कि जैसे ब्रह्मगत परोक्षत्वादि ब्रह्म के अज्ञान से कल्पित हैं; वैसे देवदत्तगत तद्देशादि-वैशिष्टच देवदत्त के अज्ञान से कल्पित नहीं। इसीलिए ब्रह्मज्ञान से परोक्षत्वादि की निवृत्ति हो जाती है; किन्तु देवदत्त के स्वरूप-ज्ञान से देशादि-वैशिष्टच की निवृत्ति नहीं होती।

[2] 'विजृम्भिताः' इति पाठान्तरम्।

किसी अर्थ को कह सकते हैं। किन्तु शुद्ध ब्रह्म में इन सभी निमित्तों का अभाव है, अतः कोई शब्द मुख्य वृत्ति से उसे कैसे कह सकेगा ? सम्बन्धादि की शून्यता में हेतु है—सर्वस्य-विज्ञातरि। वह अशेष वस्तु का अधिष्ठान होकर भासक है। उससे भिन्न कुछ है ही नहीं, फिर सम्बन्धादि कैसे बनेंगे ? यदि उसे किसी शब्द से नहीं कहा जा सकता, तब उसका अभाव क्यों न मान लिया जाय ? इस आक्षेप का उत्तर :है—प्रत्यक्षे। वह सर्व-प्रत्यक्ष है, उसका अपलाप कैसे हो सकेगा ? प्रत्यक्षता में हेतु है—दृशौ। चित्स्वरूप आत्मा का भान न होने पर जगत् का भान ही कैसे होगा ? परोक्ष भान का निराकरण करनें के लिए कहा—संत्यक्तव्यवधानके। व्यवधान न होने से वह परोक्ष क्यों होगा ? अहङ्कारादि रूपता की व्यावृत्ति के लिए कहा—विष्णोः परमके पदे। विष्णुपद से वैकुण्ठलोक की भ्रान्ति न हो, इसलिए कहा—शाश्वते। शाश्वत का अर्थ है—सदैकरूप। वैकुण्ठ वैसा नहीं। उसका भेदाभाव दिखाने के लिए कहा—त्वयि। शब्द का विशेषण 'अज्ञानविनिर्मिता' देकर सूचित किया कि मायामय शब्दों का कभी भी मायातीत ब्रह्म में सीधा सम्बन्ध नहीं बन सकता॥ २३९॥

शुद्ध ब्रह्म केवल शब्द का ही अविषय नहीं; अपितु किसी भी प्रमाण का वह विषय नहीं; क्योंकि जो मन का भी विषय नहीं, वह किसी बाह्य प्रमाण का विषय कैसे होगा ? फिर उसमें किसी शब्द का शक्ति-ग्रह हो ही नहीं सकता——

आस्तामत्र वचः प्रवृत्तिविरहः प्रत्यक्त्वहेतोर्दृशि
व्यापाराय मनोऽपि न प्रभवति भ्राम्यत्पराग्भूमिषु।
एवं चेदखिलप्रमाणपदवीः षोढा विभिन्ना भवान्
उल्लङ्घ्य व्यवतिष्ठते त्वयि गिरः स्यान्मुख्यवृत्तिः कथम्॥२४०॥

योजना——अत्र वचःप्रवृत्तिविरहः आस्ताम्! पराग्भूमिषु भ्राम्यत् मनोऽपि दृशि व्यापाराय न प्रभवति; प्रत्यक्त्वहेतोः। एवं चेत्, षोढा विभिन्ना अखिलप्रमाणपदवीः उल्लङ्घ्य भवान् व्यवतिष्ठते। त्वयि गिरः मुख्यवृत्तिः कथम्? (शा० छ०)॥

योजितार्थ—इस (शुद्ध ब्रह्म) में शब्द-प्रवृत्ति तो दूर रही, बाह्य जगत् में घूमनें-वाला मन भी दृगात्मा में प्रवेश नहीं पा सकता; क्योंकि वह प्रत्यगात्मा है। ऐसी परि-स्थिति में छःह भेदों में विभक्त प्रमाणों की कक्षा को पार कर आप विराजमान हैं। तुम्हारे स्वरूप में शब्दों की मुख्य (अभिधा) वृत्ति हो ही कैसे सकती हैं ?

भावितार्थ—मन भी जिस ज्ञाता की सहायता से बाह्य जगत् का ज्ञान कराता है, उस ज्ञाता का ज्ञान कैसे करा सकता है ? श्रुति स्पष्ट कहती है—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृह० २।४।१४)। शब्द और मन की भी पहुँच से जो बहुत दूर है, उस पर शब्दातिरिक्त शेष प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि—इन पाँचों प्रमाणों का भी जादू नहीं चल सकता। फिर तो वहाँ किसी शब्द का शक्ति-ग्रहण ही कैसे होगा ?॥ २४०॥

यदि किसी प्रकार की विषयता उसमें नहीं है, तब शब्द की लक्षणा वृत्ति भी उसमें कैसे होगी ? इस सन्देह को दूर करते हैं——

आत्मानं न तु कर्मतामुपनयञ्छब्दो वदेल्लक्षणा-
मार्गेणापि यतः पराग्विषयवन्नास्येष्यते कर्मता ।
प्रत्यक्ता हि विरुद्ध्यते यदि भवेदस्याऽऽत्मनः कर्मता
यद्यत्कर्म न तस्य तस्य भवति प्रत्यक्त्वभावो यतः ॥ २४१ ॥

योजना—शब्दो लक्षणामार्गेणापि आत्मानं कर्मताम् उपनयन् न तु वदेत्, यतः पराग्विषयवत् अस्य कर्मता न इष्यते । यदि अस्य आत्मनः कर्मता भवेत्, तदा प्रत्यक्ता विरुध्यते, यतः यद् यत् कर्म भवति, तस्य तस्य प्रत्यक्त्वभावो न भवति ।। (शार्दू०छ०) ।।

योजितार्थ—शब्द लक्षणा के द्वारा भी आत्मा को कर्म बनाकर नहीं कहता, क्योंकि बाह्य विषय के समान इस आत्मा में कर्मता नहीं मानी जाती । यदि इस आत्मा में कर्मता होगी, तब आत्मगत प्रत्यग्रूपता का विरोध होगा । इसका कारण यह है कि जो-जो कर्म होता है, वह प्रत्यक्स्वरूप नहीं होता ।।

भावितार्थ—लोक में यह नियम है कि 'अर्थं बुद्ध्वा वाक्यरचना भवति' अर्थात् कोई भी पुरुष स्वतन्त्र रूप से किसी भी शब्द का उच्चारण करने से पहले उसके अर्थ को जान लेता है । जान लेने का अर्थ होता है—ज्ञान का कर्म बना लेना । 'घटं जानाति' यहाँ घट अपने ज्ञान का कर्म माना जाता है । ज्ञान दो प्रकार का होता है—वृत्तिरूप तथा वृत्ति में प्रतिफलित (अभिव्यक्त) चैतन्यरूप । वृत्ति को गौण-ज्ञान और चैतन्य को मुख्य-ज्ञान कहा करते हैं । घटादि बाह्य विषयों पर दोनों की कर्मता रहती है । वृत्तिकर्मता को वृत्ति-व्याप्यता या वृत्ति-विषयता कहा जाता है और वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्य की कर्मता को फल-व्याप्यता, क्योंकि वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्य ही फल कहलाता है । शब्द-प्रयोग में अर्थ-निष्ठ-व्याप्यता से ही काम चल जाता है, फल-व्याप्यता रूप कर्मता की अपेक्षा नहीं । अतः ब्रह्म में प्रमाणाधीन फल की विषयता न होने से प्रमाणागम्यता और वृत्ति-विषयता होने से शब्द-प्रयोग बन जाता है । यदि शब्द-प्रयोग में फलव्याप्यता अपेक्षित होती, तो उसे ब्रह्म में भी मानना पड़ता । ब्रह्म में फल-व्याप्यता बन नहीं सकती, क्योंकि वह प्रत्यग्रूप है, सर्वसाक्षी है, स्वयंप्रकाश है, उसे प्रकाशान्तर से प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं । पर-प्रकाशित जड़ वर्ग का प्रकाश करने के लिए ही फल-व्याप्यता अनिवार्य होती है । अतः प्रमाणागम्यता रहने पर भी ब्रह्म में शब्दविषयता का सामञ्जस्य हो जाता है ।।

'मनःशब्दौ न साक्षाद् आत्मविषयौ, करणत्वात्, चक्षुरादिवत्'—इस अनुमान के द्वारा भी आत्मा में अकर्मता सिद्ध करते हैं—

वागादेः खलु बाह्यवस्तुविषयो नात्मा यतो नाऽऽत्मनि
व्यापारं करणस्य कस्यचिदपि प्रेक्षामहे न्यायतः ।
यत्किञ्चित्करणं जगत्त्रयगतं तत्प्रत्यगात्मेक्षितं
बाह्ये वस्तुनि वर्ततेऽनुभवनं तत्र प्रमाणं मतम् ॥ २४२ ॥

योजना—वागादेः खलु बाह्यवस्तु विषयः, न आत्मा, यतः आत्मनि कस्य चिदपि करणस्य व्यापारं न्यायतः न प्रेक्षामहे । जगत्त्रयगतं यत्किञ्चित्करणम्, तत् प्रत्यगात्मेक्षितम् । बाह्ये वस्तुनि अनुभवनं वर्तते, तत्र प्रमाणं मतम् ।। (शार्दू० छ०) ।।

योजितार्थ—वागादि की निश्चित रूप से बाह्य वस्तु ही विषय होती है, आत्मा विषय नहीं होता, क्योंकि आत्मा में किसी भी करण का व्यापार न्यायतः देखने में नहीं आता। इस त्रिलोकी में जो कुछ भी करण है, वह प्रत्यगात्मा से अधिष्ठित हो बाह्य वस्तु का ही अनुभव कराता है, अतः उसी में प्रमाण भी माना जाता है ॥ २४२ ॥

प्रत्यगात्मा में शब्द की अविषयता का उपसंहार करते हैं—

प्रत्यग्रूपमतो न शब्दविषयो बुद्धेरवेद्यं यतो
बुद्धिर्यत्र हि विद्यते स विषयः शब्दस्य नाऽऽत्मन्यसौ ।
तेनाऽऽत्मानमसौ न गोचरयितुं शब्दः क्षमो मुख्यया
वृत्या वेतरयाऽपि तेन न तया तस्याऽऽत्मनः कर्मता ॥२४३॥

योजना—अतः प्रत्यग्रूपं शब्दविषयो न, यतः बुद्धेः अवेद्यम्। यत्र हि बुद्धिः वर्तते, स शब्दस्य विषयः, असौ आत्मनि न। तेन असौ शब्दः मुख्यया वृत्या आत्मानं गोचरयितुं न क्षमः। तेन इतरया अपि तया तस्य आत्मनः कर्मता नैव (शा० छ०) ॥

योजितार्थ—इसलिए प्रत्यगात्मा शब्द का विषय नहीं; क्योंकि बुद्धि का अविषय है। जिसकी बुद्धि होती है, वही शब्द का विषय होता है। आत्मा को वह (बुद्धि) विषय नहीं करती। अतः यह शब्द मुख्य वृत्ति से आत्मा को विषय करने में समर्थ नहीं। इसीलिए अन्य (लक्षणा) वृत्ति से भी (शब्द) आत्मा को कर्म नहीं बना सकता ॥

भावितार्थ—बुद्धि विषयता न होने से आत्मा में शक्ति-ग्रह नहीं हो सकता। अतः किसी शब्द की अभिधा वृत्ति की विषयता आत्मा में नहीं। लक्षणा वृत्ति के द्वारा भी आत्मा में कर्मता नहीं रह सकती, क्योंकि फल-व्याप्यता का उसमें सर्वथा अभाव है ॥ २४३ ॥

[शिष्यस्य आत्मनि औपनिषदत्वप्रतिज्ञायाः विरोधाशंकनम्]

शिष्य शङ्का करता है कि ब्रह्म में फल-व्याप्यता न होने पर शास्त्र-जन्य ज्ञान की विषयता भी न होगी, फिर तो 'तं त्वौपनिषदं पुरुषम्'–यह वैदिक प्रतिज्ञा तथा 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।४) यह सौत्र प्रतिज्ञा भंग हो जाती है—

नन्वज्ञेयमिदं भवेद्यदि मम प्रत्यक्स्वरूपं ततः
प्रामाण्यं कथमस्य वेदशिरसस्तत्र प्रतिज्ञायते ।
यन्मेयं न भवेत्कदाचिदपि तद्वेदान्तवेद्यं भवेत्
इत्येतद्वचनं पराहतपदं वक्तुं न युक्तं बुधैः ॥ २४४ ॥

योजना—ननु यदि मम प्रत्यक्स्वरूपं अज्ञेयं भवेत्, ततः तत्र अस्य वेदशिरसः प्रामाण्यं कथं प्रतिज्ञायते ? यत् कदाचिदपि मेयं न भवेत्, तद् वेदान्तवेद्यं भवेत्–इत्येतत् [1]पराहतपदं वचनं बुधैः वक्तुं न युक्तम् ॥ (शार्दूलविक्रीडितम्) ॥

योजितार्थ—सन्देह होता है कि यदि मेरा प्रत्यक्स्वरूप अज्ञेय होता, तब उसमें इस वेदान्त वचन के प्रामाण्य की प्रतिज्ञा कैसे होती ? जो कभी भी ज्ञेय नहीं, वह वेदान्तवेद्य होता है–ऐसा विरुद्ध वचन कहना विद्वानों के लिए शोभा नहीं देता ॥

---

१. पराहतानि मिथो विरुद्धानि पदानि यस्मिन् तत् ।

भावितार्थ—शब्द-विषयता की विषयता सामान्य व्यापक होती है। व्यापक के न होने से व्याप्य का रहना भी असम्भव हो जाता है। अतः ब्रह्म में यदि विषयतासामान्य का अभाव है, तब शब्द-विषयता भी न रह सकेगी। ऐसी अवस्था में शब्द-विषयता की प्रतिज्ञा करना 'प्रतिज्ञाविरोध' नामक निग्रहस्थान को आमन्त्रण देना है; जो कि एक विद्वान् के लिए महान् लज्जा का स्थान है ॥ २४४ ॥

[गुरोः औपनिषदत्वप्रतिज्ञासमर्थनम्]

ब्रह्म में अवेद्यता रहने पर भी वाक्य-प्रामाण्य विरुद्ध नहीं—

नैतद्वस्तुनि कल्पितस्य जगतो वाक्यप्रसूतप्रमा-
बुद्धिर्मूलधगिष्यते तव निजस्वाकारमात्रग्रहात् ।
कर्मत्वं न करोति वाक्यजनिता बुद्धिः स्वरूपे तव
स्वाकारग्रहणेन केवलमियं संसारमूलं दहेत् ॥ २४५ ॥

योजना—एतत् न, वाक्यप्रसूतप्रमाबुद्धिः वस्तुनि कल्पितस्य जगतः मूलधक् इष्यते। वाक्यजनिता बुद्धिः निजस्वाकारमात्रग्रहात् तव कर्मत्वं न करोति। इयं तव स्वरूपे स्वाकारग्रहणेन केवलं संसारमूलं दहेत् ॥ (शा० छ०) ॥

योजितार्थ—(शिष्य ! तेरी) यह शङ्का उचित नहीं, (क्योंकि) वेदान्त-वाक्य-जन्य प्रमा वृत्ति आत्मवस्तु में कल्पित जगत् के मूल (अज्ञान) की दाहक मानी जाती है। वाक्यजन्य वृत्ति अपने स्वाकारमात्र का ग्रहण करने से तेरे (शुद्ध स्वरूप) को कर्म नहीं बनाती। यह (वाक्य-जन्य प्रमा) तेरे स्वरूप में स्वाकार-ग्रहण के द्वारा केवल संसार-मूल को भस्म कर देती है ॥

भावितार्थ—वेदान्त-वाक्य-जन्य ब्रह्माकार अन्तःकरणवृत्ति यदि अपने विषयभूत ब्रह्म का प्रकाश करने के लिए चैतन्याभिव्यक्ति रूप फल को जन्म देती, तब अवश्य ही उस फल की व्याप्यता रह जाने से ब्रह्म में कर्मता माननी पड़ती ! किन्तु वह वृत्ति केवल ब्रह्माकारता मात्र को ग्रहण कर लेने से मूलाज्ञान का नाश कर देती है, ब्रह्म का प्रकाश करने की अपेक्षा नहीं; क्योंकि वह स्वयं प्रकाश है। अतः फल-व्याप्यता न रहने से ब्रह्म को सर्वप्रमाणावेद्य और वाक्य-जन्य वृत्ति को विषयता रहने के कारण ब्रह्म को औपनषद (उपनिषत्प्रमाण-गम्य) और शास्त्रप्रमाणक कहा गया है। किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता ॥ २४५ ॥

पूर्वमीमांसक भी स्वयंप्रकाश ज्ञान के बोधक वचन को प्रमाण मानते हैं—

संविद्व्युत्पादकं यद्वचनमभिमतं कर्ममीमांसकानां
तत्कर्मत्वं न तावत् क्षिपति घटपटाद्यर्थसंवित्स्वरूपे ।
किंत्वज्ञानापनुत्या फलवदभिमतं तत्र शिष्यस्य तद्वत्
सर्वं वेदान्तवाक्यं फलवदिदमपि प्रत्यगात्मस्वरूपे ॥ २४६ ॥

योजना—कर्ममीमांसकानां यत् संविद्व्युत्पादकं वचनम् अभिमतम्, तत् तावत् घटपटाद्यर्थसंवित्स्वरूपे कर्मत्वं न क्षिपति। किन्तु शिष्यस्य अज्ञानापनुत्या तत्र फलवद अभिमतम्, तद्वत् इदं सर्वं वेदान्तवाक्यम् अपि प्रत्यगात्मस्वरूपे फलवत् ॥(स्र० छ०)॥

योजितार्थ—कर्म-मीमांसकों को जो ज्ञानस्वरूप-बोधक, 'ज्ञानं स्वयंप्रकाशम्'—यह वचन अभिमत है, वह भी घटादि विषयक ज्ञान में कर्मत्व नहीं रखता। किन्तु शिष्य का अज्ञान हटाने के कारण ही वहाँ प्रमाण माना जाता है। उसी प्रकार ये समस्त वेदान्त-वाक्य भी प्रत्यगात्मा के स्वरूप में प्रमाण होते हैं ॥

भावितार्थ—प्रभाकर के मत में ज्ञान स्वयंप्रकाश है। वहाँ जिज्ञासा होती है कि स्वयंप्रकाश ज्ञान का बोधक वचन ज्ञान का प्रकाश करता है? या नहीं? यदि करता है, तब ज्ञान को स्वयंप्रकाश नहीं कह सकते; क्योंकि वह अपने से भिन्न शब्द से प्रकाशित होता है। द्वितीय पक्ष में ज्ञान-बोधक वचन अप्रमाण हो जायगा; क्योंकि वह अपने प्रतिपाद्य का बोधक नहीं। यदि कहा जाय कि वह वचन स्वयंप्रकाशित ज्ञान का प्रकाश करता है। तब भी वह प्रमाण न बन सकेगा; क्योंकि अप्रकाशितार्थ का प्रकाश करना ही प्रामाण्य माना जाता है। इस समस्या को सुलझाने के लिए कहा जाता है कि वह वचन ज्ञान का प्रकाश नहीं करता। या यों कहा जाय कि वह वचन ज्ञानकर्मक प्रकाश को उत्पन्न नहीं करता, अपितु ज्ञानविषयक शिष्य के अज्ञान को दूर कर देने मात्र से ज्ञान में प्रमाण कहा जाता है। वैसे ही समस्त वेदान्त-वाक्य ब्रह्म का प्रकाश नहीं करते; अपितु ब्रह्मविषयक अज्ञान की निवृत्तिमात्र करते हैं। एतावता ही वे ब्रह्म में प्रमाण माने जाते हैं ॥ २४६ ॥

अनुकूल लौकिक दृष्टान्त दिखाते हैं—

अकार्यस्वरूपस्य कार्यत्वमिष्टं
यथा कारकैर्मूर्त्तमुत्सारयद्भिः ।
तथैवाप्रमेयस्य मेयत्वमिष्टं
प्रमाणैस्तमस्तज्जमुत्सारयद्भिः ॥ २४७ ॥

योजना—यथा मूर्तम् उत्सारयद्भिः कारकैः अकार्यस्वरूपस्य कार्यत्वम् इष्टम्; तथैव तमः तज्जं उत्सारयद्भिः प्रमाणैः अप्रमेयस्य मेयत्वम् इष्टम् ॥ (भुजङ्गप्रयातम्) ॥

योजितार्थ—जैसे (पाषाणादि) मूर्त द्रव्य को बाहर फेंक देने मात्र से (कूपादि के) खनक (कूपाकाशादि) अकार्य वस्तु को भी कार्य (वृत्ति-साध्य) बनाया करते हैं; वैसे ही अज्ञान तथा अज्ञान-कार्य की निवृत्ति मात्र करने से शब्दादि प्रमाण अप्रमेय स्वरूप ब्रह्म को भी प्रमेय बनाया करते हैं ॥

भावितार्थ—कूपादि के स्वरूप पर विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि भूमिगत उस आकाश-विशेष को ही कूप कहा जाता है, जिसमें नीचे जल होता है। भूमिगत आकाश (या कूप) का निर्माण, भूमि में भरे पत्थर-मिट्टी को बाहर फेंके देने मात्र से किया जाता है। वहाँ आकाश को बनाया नहीं जाता; क्योंकि वह कोई बनने वाला (कृतिसाध्य) पदार्थ नहीं। उसी प्रकार ब्रह्म-जैसी अप्रमेय वस्तु पर प्रमा की उत्पत्ति करके प्रमेय करना सम्भव नहीं; क्योंकि स्वयंप्रकाश तत्त्व पर प्रकाश या प्रमा की उत्पत्ति होती ही नहीं। केवल ब्रह्म के अज्ञान को हटा देने मात्र से वेदान्त-वाक्यों को प्रमाण और ब्रह्म को प्रमेय कहा जाता है ॥ २४७ ॥

यदि वेदान्त-वाक्य-श्रवण मात्र से उत्पन्न वृत्ति ही मूलाज्ञान को भस्म कर देती है,

तब इसके लिए शमादि बहिरङ्ग तथा निदिध्यासनादि-अन्तरङ्ग साधनों की क्या आवश्यकता ? इस शङ्का का समाधान है—

वाक्योत्थापितबुद्धिवृत्तिरमला यज्ञादिभिर्निश्चला
वेदान्तश्रवणादिभिः स्फटिकवत्स्वच्छा सती तावकम् ।
रूपं दर्पणवद्विभर्ति परमं विष्णोः पदं सन्निधेः
एतस्मादिह कारणादथ भवेत्संसारबीजक्षयः ॥ २४८ ॥

योजना—वाक्योत्थापितबुद्धिवृत्तिः यज्ञादिभिः अमला, वेदान्तश्रवणादिभिः निश्चला स्फटिकवत् स्वच्छा सती तावकं रूपं विष्णोः परमं पदं सन्निधेः बिभर्ति । एतस्मात् कारणात् इह संसारबीजक्षयः भवेत् ।। (शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः) ।।

योजितार्थ— वाक्य-जन्य बुद्धि-वृत्ति यज्ञाद्यनुष्ठान से निर्मल, वेदान्त-श्रवणादि से निश्चल (तथा) स्फटिकवत् स्वच्छ होकर (हे शिष्य !) तेरे रूप (विष्णु के परमपद) को सन्निधिमात्र से धारण कर लेती हैं । इस कारण से इस (आत्मा) में संसार-बीज (अज्ञान) का क्षय होता है ।।

भावितार्थ— वाक्य-जन्य बुद्धि-वृत्तिमात्र से कोई कृतकृत्य नहीं होता, अपितु वह वृत्ति यज्ञादि निष्काम कर्मानुष्ठान से निर्मल होती है, वेदान्त-श्रवणादि से [1]असम्भावनादि के निवृत्त हो जाने पर स्थिर तथा अत्यन्त स्वच्छ हो जाती है। उस स्वच्छ वृत्ति में अपने वास्तविक स्वरूप का आविर्भाव होता है । तब कहीं मूल अज्ञान का नाश होता है। अतः बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग अङ्गों की सम्पत्ति के बिना वृत्तिमात्र से कुछ नहीं होता ।।२४८।।

शास्त्रयोनित्व-प्रतिज्ञा तथा समन्वयत्वरूप हेतु के कथित अविरोध का उपसंहार करते हैं—

---

१. आशय यह है कि तत्त्व-ज्ञान के प्रतिबन्धक जब तक निवृत्त नहीं होते, तब तक साधनानुष्ठान से भी तत्त्व-ज्ञान उत्पन्न नहीं होता । वार्तिककार ने कहा है—

कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत् तद्धि बन्धपरिक्षयात् ।
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्तते़ऽथवा ।।
अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते ।
हिरण्यनिधिदृष्टान्तादिदमेव च दर्शितम् ।। (वृह० सं० वा० २६४, २६५)

अर्थात् प्रतिबन्ध-क्षय का होना भी कार्योत्पत्ति के लिए अनिवार्य है। वह प्रतिबन्ध तीन प्रकार का होता है—(१) अतीत, (२) वर्तमान और (३) भावी । पञ्चदशीकार ने तीनों के क्रमशः उदाहरण दिये हैं—(१) कोई भिक्षु अपनी घर की भैंस में बहुत राग रखता था, उसका अतीत राग उसके ज्ञान का प्रतिवन्धक हो गया था । (२) वर्तमान प्रतिवन्ध होते हैं —विषयासक्ति, प्रज्ञा की मन्दता, कुतर्क तथा विपर्यय में दुराग्रह । शमादि बहिरङ्गों एवं श्रवणादि अन्तरङ्गों के उचितानुष्ठान से इनकी निवृत्ति होती है । (३) भावी प्रतिबन्ध महर्षि वामदेव के जीवन में देखा गया है । उनका भावी जन्म ही प्रतिवन्धक था, जन्म लेते ही उन्हें ज्ञान हो गया—'गर्भे नु सन् अन्वेषामवेदमहं वेदानां जनिमानि विश्वा (ऐत० ४।५) ।

एवं वेदशिरः प्रमाणमुदितं प्रत्यक्स्वरूपे तव
कर्मत्वं विरहय्य तत्र न हि नो बाधः प्रतिज्ञागिरः ।
कर्मत्वं न करोति बोधयति च स्पष्टं वचो वैदिकम्
रूपं तावकमेवमस्य भवति प्रामाण्यमत्राऽऽत्मनि ॥ २४९ ॥

योजना—एवं कर्मत्वं विरहय्य तव प्रत्यक्स्वरूपे वेदशिरः प्रमाणम् उदितम् । तत्र नः प्रतिज्ञागिरः बाधो न । वैदिकं वचः कर्मत्वं न करोति, स्पष्टं च तावकं रूपं बोधयति च । एवम् अत्र आत्मनि अस्य प्रामाण्यं भवति (शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इस प्रकार कर्मत्वापेक्षा के बिना ही तेरे प्रत्यक्स्वरूप में वेदान्त-वाक्य प्रमाण कहे गये । इससे हमारे प्रतिज्ञा-वाक्य का बाध नहीं होता । वैदिक वचन कर्मत्व का आधान नहीं करता और तेरे स्वरूप का स्पष्ट बोध कराता है । इस रीति से इस आत्मा में इस (वेदान्त) की प्रमाणता होती है ॥

भावितार्थ—वेदान्तशास्त्र ब्रह्म में कर्मत्वाधान के बिना ही प्रमाण है, अतः पूर्वोक्त (शास्त्रप्रमाणकत्व) प्रतिज्ञा का बाध नहीं होता और कर्मत्व के बिना ही वेदान्तवाक्य ब्रह्म का बोध कराता है । अतः समन्वयत्वरूप हेतु का भी विरोध नहीं होता ॥१४६॥

ब्रह्म में विधि-वाक्यों का प्रामाण्य-प्रकार कहा गया । अब निषेध वाक्यों का प्रामाण्य कहने के लिए मण्डन मिश्र का मत दिखाते हैं—

पृष्ठेन पूर्णवपुषा क्रियते प्रतीतिः
नेतीति वाक्यजनिता जगतो निषेद्ध्री ।
प्राधान्यमस्तु विधिना सममेव तस्मात्
तस्याथवा भवतु तद्वचनं प्रधानम्[1] ॥ २५० ॥

योजना—नेतीति वाक्यजनिता जगतो निषेद्ध्री प्रतीतिः पृष्ठेन पूर्णवपुषा[2] क्रियते । तस्मात् विधिना सममेव तस्य प्राधान्यम् अस्तु । अथवा तद्वचनं प्रधानं भवतु ॥(व०छ०)॥

योजितार्थ—'नेति-नेति' इस वाक्य से जन्य, जगत् का निषेध करनेवाली प्रतीति पश्चात् पूर्णब्रह्माकार बनाई जाती है । इसलिए विधिवाक्यों के समान ही उस (निषेध वाक्य) का भी प्राधान्य ही है । अथवा वह (निषेध) वचन ही प्रधान माना जाय ॥

भावितार्थ—इतर का निषेध करना भी इतर का विधान करना ही है । 'नेति नेति'—आदि निषेध वाक्य निखिल अनात्म-जगत् का निषेध करते हैं । निषेध की भी कोई अवधि होनी चाहिए । जो सर्वबाधावधि पूर्ण ब्रह्म है, उसी में इन निषेध-वाक्यों का भी पश्चात् पर्यवसान होता है, अतः निषेधवाक्य भी विधिवाक्यों के समान ही समझे जाते हैं । अथवा इतर-निषेध-द्वारा निष्कल ब्रह्म में निषेधवाक्यों का प्राथमिक तात्पर्य ही माना जा सकता है; किन्तु विधिवाक्यों का प्राथमिक तात्पर्य विशिष्टार्थ में होता है । इस प्रकार विधिवाक्यों की अपेक्षा निषेधवाक्यों का ही प्राधान्य ठहराया जा सकता है ॥ २५० ॥

---

[1] 'प्रमाणमिति' पाठान्तरम् ।

[2] पूर्णं ब्रह्माहमित्येवमाकारा ।

कथित पक्षद्वय में क्रमशः हेतु दिखाते हैं—

[1]अद्वैताकरणं निषेधवचनादुत्पन्नबुद्धेरपि
तुल्यं तत्त्वमसीति वाक्यजनितप्रत्यक्प्रतीत्या सह ।
आर्थं शाब्दमथापि वा भवतु तत्किं तेन यद्वा विधिः
नाकर्तुं शबलार्थगोचरतया निर्भेदमर्थं क्षमः ॥ २५१ ॥

योजना—निषेधवचनात् उत्पन्नबुद्धेरपि अद्वैताकरणम् तत्त्वमसीतिवाक्यजनितप्रत्यक्प्रतीत्या सह तुल्यम् । तत् आर्थं भवतु, अथापि वा शाब्दम् , किं तेन ? यद्वा विधिः शबलार्थगोचरतया निर्भेदम् अर्थम् आकर्तुं न क्षमः ।। (शा० वि० छ०) ।।

योजितार्थ—निषेध-वाक्य-जन्य बुद्धि की अद्वैताकारता, तत्त्वमसि आदि विधिवाक्यजन्य प्रत्यगात्मविषयक प्रतीति के समान ही है । वह (अद्वताकारत्व) आर्थिक हो, या शाब्द, उससे क्या ? अथवा विधिवाक्यजन्य प्रतीति विशिष्टार्थविषयक होने के कारण अद्वैततत्त्व को अपना आकार नहीं बना सकती ।।

भावितार्थ—जैसे विधिवाक्य-जन्य बुद्धि में अद्वैताकारता तथा अज्ञान-निवर्तकता होती है, वैसे ही निषेध-जन्य बुद्धि में भी । अतः दोनों प्रकार से समप्रधानता मानी जाती है । हाँ, निषेधवाक्य-जन्य बुद्धि में अद्वैताकारता आर्थिक है और विधिवाक्य-जन्य बुद्धि में शाब्दिक । इससे उक्त साम्य में कोई न्यूनता नहीं आती ।

अथवा विधिवाक्य-जन्य पद विशिष्टार्थ के ही वाचक हैं, शुद्ध के नहीं । अतः मुख्यरूप से अखण्डार्थ का बोधन नहीं कर सकते । उसके बिना अज्ञान की निवृत्ति ही न होगी । किन्तु निषेधवाक्य साक्षात् अज्ञान के निवर्तक शुद्ध-बोध को जन्म देते हैं, अतः मुख्य हैं ।। २५१ ।।

यदि कहा जाय कि भागत्यागलक्षणक के द्वारा विधि वाक्यों में अखण्डार्थविषयक बुद्धि की जनकता कही जा चुकी है, तो इस पर भी कहते हैं—

सम्बन्धजातविरहान्न च लक्षणाऽस्मिन्
संभाव्यते परिहृताखिलदृश्यराशौ ।
ब्रह्मात्मवस्तुनि ततः प्रतिषेधवाक्य-
शेषत्वमेतु विधिरित्यपि केचिदन्ये ॥ २५२ ॥

योजना—अस्मिन् परिहृताखिलदृश्यराशौ ब्रह्मात्मवस्तुनि लक्षणा न च संभाव्यते; संवन्धजातविरहात् । ततः विधिः प्रतिषेधवाक्यशेषत्वम् एतु—इत्यपि केचित् अन्ये ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—इस निखिल दृश्य-वर्ग से रहित ब्रह्म वस्तु में लक्षणा भी संभावित नहीं, क्योंकि उसमें समस्त सम्बन्धों का अभाव है । अतः विधिवाक्य को निषेधवाक्य का अङ्ग मानना चाहिए—ऐसा भी कुछ अन्य आचार्य कहते हैं ।।

भावितार्थ—'तदादि पदों की या पदार्थों की लक्षणा शुद्ध ब्रह्म में हो नहीं सकती; क्योंकि शक्य-संबंधी पदार्थ में ही लक्षशा हुआ करती है । किन्तु शुद्ध ब्रह्म अखिल संबंध-

---

[1] अद्वैतीकरणमिति पाठांतरम् ।

रहित है। अतः मुख्यरूप से निषेधवाक्य ही उसका बोध कराते हैं और विधिवाक्यों को निषेधवाक्यों का सहायकमात्र माना जा सकता है। इस प्रकार विधिवाक्यों की अपेक्षा निषेधवाक्यों का ही प्राधान्य सिद्ध होता है। यह सिद्धान्त आचार्य मण्डन मिश्र का है॥ २५२ ॥

उक्त सिद्धान्त का निराकरण करते हैं—

वाक्यं मुक्तिफलां धियं जनयति स्पष्टं विधिव्यापृतं
साक्षादेव तव स्वरूपकथनान्नैवं निषेधात्मकम् ।
अध्यारोपितरूपभेदविलयव्यापारनिष्ठं तव
स्वाकारग्रहणक्षमां न हि धियं कर्त्तुं समर्थं यतः ॥ २५३ ॥

योजना—विधिव्यापृतं वाक्यं मुक्तिफलां धियं स्पष्टं जनयति; साक्षादेव तव स्वरूपकथनात्। एवं अध्यारोपितरूपभेदविलयव्यापारनिष्ठं निषेधवाक्यं न; यतः तव स्वाकारग्रहणक्षमां धियं कर्त्तुं समर्थनम् न हि ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—भावार्थक विधिवाक्य मुक्तिप्रधानभूत ज्ञान को जन्म देता है—यह नितान्त स्पष्ट है; क्योंकि वह साक्षात् ही तेरे स्वरूप का कथन करता है। कल्पित पदार्थ-विशेष के निषेध में संलग्न निषेध-वाक्य ऐसा नहीं कर सकता; क्योंकि वह तेरी स्वरूपाकार-ग्रहण-समर्थ बुद्धि को उत्पन्न करने में समर्थ ही नहीं ॥

भावितार्थ—शुद्ध ब्रह्म में वास्तविक सम्बन्धों का अभाव रहने पर भी काल्पनिक सम्बन्धों को लेकर लक्षणा की प्रवृत्ति हो सकती है। विधिवाक्य साक्षात् ब्रह्माकार ज्ञान को उत्पन्न करते हैं - यह अनुभव-सिद्ध है। किन्तु निषेधवाक्य प्रतियोगिवर्ग का निषेध करके अनुयोगी की ओर संकेतमात्र करते हैं, उसका साक्षात् बोध नहीं करा सकते। अतः विधिवाक्यों का ही प्राधान्य मानना होगा॥ २५३ ॥

विधिवाक्य में अद्वयाकार ज्ञान की जनकता सिद्ध की, निषेध वाक्यों में उसकी असम्भावना दिखाते हैं—

अस्थूलादिवचःसमुत्थितमतिर्नाऽऽकारमादास्यते
साक्षादद्वयवस्तुनस्तव विभोरज्ञान-विच्छेदिनः ।
अज्ञातस्य हि वस्तुनो न हि धिया स्वाकारसंवेदनम्
मुक्त्वा तद्विषयस्य विभ्रमकृतो ध्वान्तस्य विध्वंसनम् ॥२५४॥

योजना—अस्थूलादिवचः समुत्थितमतिः साक्षादद्वयवस्तुनः अज्ञानविच्छेदिनः विभोः तव आकारम् न आदास्यते; अज्ञातस्य वस्तुनः स्वाकारसंवेदनं मुक्त्वा धिया तद्विषयस्य विभ्रमकृतः ध्वान्तस्य विध्वंसनं न हि ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ— 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्'—आदि निषेधवाक्यों से जन्य बुद्धि साक्षात् अद्वयरूप, अज्ञान-नाशक, विभु-स्वरूप तेरे आकार का ग्रहण नहीं कर सकेगी और अज्ञात आत्मवस्तु के अद्वैताकार का ग्रहण किये विना ज्ञान तद्विषयक विभ्रम-जनक अज्ञान का विध्वंसन नहीं कर सकता॥

भावितार्थ—अज्ञान का अपने समानाकारक ज्ञान से ही नाश हुआ करता है। अद्वैत-

विषयक अज्ञान की निवृत्ति अद्वैताकार ज्ञान से ही हो सकती है। अद्वैताकारक ज्ञान जनक वे ही वाक्य हो सकते हैं, जो अद्वैत-प्रतिपादक हों। 'तत्त्वमसि'—आदि विधि-वाक्य ही अद्वैत प्रतिपादक माने जाते हैं, 'अस्थूलम्'—आदि निषेधवाक्य नहीं। अतः विधिवाक्य ही मुख्य होते हैं, निषेधवाक्य नहीं ॥ २५४ ॥

अधिष्ठान-तत्त्वज्ञान के बिना निषेधमात्र से अज्ञान की निवृत्ति सम्भव नहीं—इस पक्ष में अनुकूल दृष्टान्त देकर दार्ष्टान्त में समन्वय करते हैं—

रज्ज्वज्ञानविजृम्भितस्य फणिनो रज्जुप्रकाशक्षमम्
विज्ञानं विरहय्य न प्रशमनं दृष्टं निषेधे कृते ।
तद्वत्प्रत्यगविद्यया विरचितं संसारदुःखं न तत्
संवित्तिं विरहय्य शाम्यति धिया नेतीति शब्दोत्थया ॥२५५॥

योजना—रज्ज्वज्ञानविजृम्भितस्य फणिनः प्रशमनं रज्जुप्रकाशक्षमं ज्ञानं विरहय्य निषेधे कृते न दृष्टम् । तद्वत् प्रत्यगविद्यया विरचितं संसारदुःखं तत्संवित्तिं विरहय्य नेतीति शब्दोत्थया धिया न शाम्यति ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—रज्ज्वज्ञान-जन्य सर्प की निवृत्ति रज्जु-प्रकाशक ज्ञान के बिना सर्प-निषेध-मात्र से नहीं होती, वैसे ही ब्रह्म के ज्ञान से रचित संसाररूपी दुःख, ब्रह्मज्ञान को छोड़कर 'नेति नेति' आदि निषेधवाक्य-जन्य बुद्धि से शान्त नहीं होता ॥

भावितार्थ—अज्ञान-कार्य सर्पादि का 'नायं सर्पः'—इस प्रकार सैकड़ों बार निषेध करने पर भी नाश तब तक नहीं होता, जब तक रज्जुरूप अधिष्ठान का ज्ञान न हो जाय। इसी प्रकार मूलाज्ञान-रचित संसार-दुःख का नाश तब तक न होगा, जब तक अधिष्ठान (ब्रह्म) का साक्षात्कार न होगा ॥ २५५ ॥

तब निषेधवाक्य क्या व्यर्थ ही हैं ? इस प्रश्न का उत्तर है—

अस्थूलादिवचो निषेधकतया भेदस्य संशोधनात्
वाक्यार्थान्वयसिद्धये तु घटते वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोः ।
एवं तत्त्वमसीति वाक्यगतयोस्तत्त्वम्पदोक्तार्थयोः
संशुद्ध्यैव तु नेति नेति वचनं मोक्षाय साक्षान्न तु ॥ २५६ ॥

योजना—अस्थूलादिवचस्तु भेदस्य निषेधकतया वाक्यार्थलक्ष्यार्थयोः संशोधनात् वाक्यार्थान्वयसिद्धये तु घटते। एवं तत्त्वमसीतिवाक्यगतयोः तत्त्वम्पदोक्तार्थयोः संशुद्ध्या एव तु नेति नेति वचनम् , साक्षात् मोक्षाय तु न ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—अस्थूलादि निषेध वाक्य भेद (द्वैत) का निषेधक होने से वाक्यार्थ और लक्ष्यार्थ को संशोधन करते हुए अखण्डार्थ-सिद्धि में उपयोगी होता है। इस प्रकार 'तत्त्वमसि'–इस वाक्य के घटक 'तत्त्वम्' पदार्थ-शोधन के द्वारा ही 'नेति नेति'–वाक्य का उपयोगी होता है, साक्षात् मोक्ष में नहीं ॥

भावितार्थ—निषेध वाक्य भी व्यर्थ नहीं हैं। उनका भी तत्त्वम्पदार्थों के संशोधन में उपयोग होता है। संशोधन का अर्थ है--चैतन्यानन्दैकरस का निश्चय। वाच्यार्थ में वाक्य

का तात्पर्य नहीं, अपितु लक्ष्यमात्र में—यह निश्चय ही यहाँ अर्थों का संशोधन है। फलतः निषेधवाक्य विधिवाक्यों के सहायक ही होते हैं। वे न तो विरोधी ही होते हैं और न प्रधान ही, अपितु प्रयाजादि अङ्गवाक्यों के समान प्रधान के उपयोगी होते हैं।।२५६।।

निषेध-वाक्यों का सार्थक्य मतान्तर से भी दिखाते हैं—

अन्ये पुनर्विधिवचोजनितात्मबुद्धि-
सामर्थ्यसिद्धमनुवक्ति निषेधवाक्यम् ।
द्वैतोपमर्दमिति शासति शिष्यवर्गम्
तच्च प्रशस्तमनवद्यमभीष्टमेव ॥ २५७ ॥

योजना—अन्ये पुनः विधिवचोजनितात्मबुद्धिसामर्थ्यसिद्धम् द्वैतोपमर्दं 'निषेधवाक्यम् अनुवक्ति'—इति शिष्यवर्गं शासति। तच्च प्रशस्तम् अनवद्यम् अभीष्टमेव ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—अन्य (पद्मपादाचार्य) आचार्य 'विधिवाक्य-जनित आत्म-बुद्धि के सामर्थ्य से सिद्ध द्वैत-बाध का अनुवाद निषेधवाक्य करता हैं'—यह अपने शिष्यों को सिखाते हैं। यह अनुशासन प्रशस्त है, निर्दुष्ट है, हमें भी अभीष्ट है ॥

भावितार्थ—'तत्त्वमसि'—आदि वाक्यों से 'अहं ब्रह्म' इस प्रकार का बोध होने पर 'यदि मैं ऐसा हूँ, तब तो मुझ में द्वैत का लेशमात्र भी तीनों कालों में नहीं'—ऐसा निश्चय हो जाता है। इस निश्चय का अनुवाद निषेध वाक्य कराते हैं। इस प्रकार अर्थवाद वाक्य के समान ही निषेधवाक्यों में विधिवाक्य की अनुग्राहकता सिद्ध होती है। यह अन्य आचार्यों का मत है। वह हमें भी अभीष्ट है ॥ २५७ ॥

उक्तार्थ में लौकिक दृष्टान्त देते हैं—

दृष्टश्च रज्जुविधिनाऽवगतार्थवस्तु-
सामर्थ्यसिद्धिभुजगप्रशमानुवादः ।
रज्जुस्तवाग्रत इयं न भुजङ्गमोऽयम्
इत्यत्र तद्वदिह योजयितव्यमेतत् ॥ २५८ ॥

योजना—रज्जुविधिना अवगतार्थवस्तुसामर्थ्यसिद्धभुजङ्गप्रशमानुवादः 'तवाग्रतः इयं रज्जुः, अयं भुजङ्गमो न'—इत्यत्र दृष्टश्च; तद्वत् इह एतत् योजयितव्यम् ॥ (व०छ०)॥

योजितार्थ—रज्जु के विधान से अवगत वस्तु के सामर्थ्य सिद्ध पदार्थ का निषेधवाक्य से अनुवाद 'आपके आगे यह रज्जु है, यह सर्प नहीं'—यहाँ देखा गया है। उसी प्रकार यहाँ भी वह घटा लेना चाहिये ॥

भावितार्थ—'इयं रज्जुरेव'—इस प्रकार के विधिवाक्य से रज्जु-भिन्न का जो निषेध प्राप्त होता है, उसी का अनुवाद 'नायं भुजङ्गः' यह निषेध वाक्य करता है। वैसे ही प्रकृत में भी समझ लेना चाहिये ॥ २५८ ॥

सर्वथा 'तत्त्वमसि'—आदि विधिवाक्यों का ही प्राधान्य होता है—

अस्यैव तत्त्वविनिवेदनशक्तिभाजः
संसारमूलविनिवृत्तिफलप्रसूतौ ।
सामर्थ्यमस्ति पटुभिः परिबृंहितत्वाद्-
वेदान्तभूमिगतपञ्चविधार्थवादैः ॥ २५९ ॥

योजना—अस्य तत्त्वविनिवेदनशक्तिभाजः एव संसारमूलविनिवृत्तिफलप्रसूतौ सामर्थ्यम् अस्ति, पटुभिः वेदान्तभूमिगतपञ्चविधार्थवादैः परिबृंहितत्वात् ।। (व०छ०) ।।

योजितार्थ - इस तत्त्व-बोधनशक्ति-समन्वित (विधिवाक्य) में ही संसार-मूल निवृत्तिरूप फल के उत्पादन का सामर्थ्य है, क्योंकि वह सबल पाँच प्रकार के (वक्ष्यमाण) अर्थवादों से सुसज्जित है ।।

भावितार्थ—अद्वैत-ज्ञापक युक्ति-परक पाँच प्रकार के अर्थवादों की सहायता से 'तत्त्वमसि'–आदि विधिवाक्य ही संसार-मूल अविद्या के नाशक ज्ञान के मुख्य उत्पादक माने जा सकते हैं ।। २५९ ।।

पंचविध अर्थवाद दिखाये जाते हैं—

सृष्टिस्थितिप्रलयसंयमनप्रवेश-
व्यापारजातकथनच्छलतः प्रवृत्तैः ।
सानुग्रहादवगतिः खलु तत्त्वमादे-
र्वाक्यात्परस्य घटते न ततोऽपरस्मात् ॥ २६० ॥

योजना—सृष्टिस्थितिप्रलयसंयमनप्रवेशव्यापारजातकथनच्छलतः प्रवृत्तैः (अर्थवादैः) सानुग्रहात् तत्त्वमादेः वाक्यात् खलु परस्य अवगतिः घटते; ततो अपरस्मात् न (व०छ०)

योजितार्थ—सृष्टि, स्थिति, प्रलय, नियमन और प्रवेश रूपी पाँच व्यापारों के कथन में प्रवृत्त (अर्थवादों) के अनुग्रह से युक्त तत्त्वमादिवाक्यों से ही परब्रह्म का ज्ञान होता है; उससे भिन्न (निषेध-वाक्य) से नहीं ।।

भावितार्थ—'यतो वा इमानि' (तै० ३।१) आदि सृष्टि प्रतिपादक, 'येन जातानि जीवन्ति' (तै० ३।१) आदि स्थितिबोधक, 'यत्प्रयन्ति' (तै० ३।१) आदि लय-ज्ञापक, 'योऽन्तरो भ्रमयति' (बृह० ३।७।१) आदि नियमन-सूचक तथा 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत' (तै० २।६) आदि प्रवेश-गमक अर्थवादों से अनुगृहीत तत्त्वमादि विधिवाक्यों से ही परब्रह्म की अवगति होती है; उनसे भिन्न निषेधवाक्यों से नहीं । अतः विधिवाक्यों का ही सर्वथा प्राधान्य सिद्ध होता है ।। २६० ।।

सूत्रकार के अभिप्राय से भी विधिवाक्यों का ही प्राधान्य सिद्ध होता हे—

सूत्रं तत्तु समन्वयादिति विधिव्यापारनिष्ठं वचो
मोक्षायेति निवेदनाय कृतवान् वेदान्तवेदी मुनिः ।
न्यायेनाऽऽकलयन्नशेषवचनव्यापारमूरीकृत-
स्वातन्त्र्यः सकलेऽपि वेदशिरसि स्वैरं चरन्नीश्वरः ॥ २६१ ॥

योजना—ऊरीकृतस्वातंत्र्यः, ईश्वरः वेदान्तवेदी मुनिः सकलेऽपि वेदशिरसि स्वैरं

चरन् , अशेषवचनव्यापारम् न्यायेन आकलयन् विधिव्यापारनिष्ठं वचो मोक्षायेति निवेदनाय 'तत्तुसमन्वयात्' इति सूत्रं कृतवान् ।। (शा० वि० छ०) ।।

योजितार्थ—सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, ईश्वरावतार, वेदान्त-वेत्ता मुनि ने सकल वेदान्त में स्वतन्त्र विचरते हुए अशेष वचन-व्यापारों का न्यायतः तात्पर्य बताते हुए विधिपरक वाक्यों का मोक्ष में साक्षात् उपयोग है—यह बताने के लिए 'तत्तु समन्वयात्'—यह सूत्र बनाया।

भावितार्थ—भगवान् वादरायण महामुनि थे; क्योंकि वे 'एतमेव विदित्वा मुनिः' (बृह० ४।४।२२) के अनुसार वेदान्ततत्त्ववेत्ता थे। इस तत्त्व का ज्ञान उन्होंने अपनी तीक्ष्ण तर्क (न्याय) की कसौटी पर कसे निखिल वेदान्त-वचनों से किया था। यह अपार सामर्थ्य उनमें स्वभाव-सिद्ध था, क्योंकि वे 'द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुनिः' के अनुसार ईश्वरावतार थे। उनके ईश्वरत्व की सूचना इसी से मिलती हैं कि वे पूर्ण वेदान्त-क्षेत्र में स्वतन्त्र विचरे हैं। इस प्रकार के भगवान् वादरायण ने 'तत्तु समन्वयात्'—यह सूत्र इसी बात की सूचना देने के लिए बनाया कि विधिवाक्यों का ही साक्षात् समन्वय अखण्डार्थ में है, अतः उनका ही मोक्ष में साक्षात् उपयोग ।। २६१ ।।

निषेधवाक्यों में विधि-शेषता भी सूत्रकार ने कही है—

वाक्यार्थान्वयि तत्पदार्थकथने नेतीति वाक्यं पुनः
साक्षात्सूचयति स्म सूत्रकृदतस्तत्तत्परं निश्चितम् ।
एवं हस्ततलार्पितामलकवत् तात्पर्यसंवेदने
सत्यन्यादृगुदीरयन्ति यदि तत्क्षन्तुं कथं शक्नुमः ॥ २६२ ॥

योजना—पुनः सूत्रकृत् वाक्यार्थान्वयितत्पदार्थकथने नेतीतिवाक्यं साक्षात् सूचयति स्म, अतः तत् तत्परं निश्चितम्। एवं हस्ततलार्पितामलकवत् तात्पर्यसंवेदने सति यदि अन्यादृग् उदीरयन्ति, तत् क्षन्तुम् कथं शक्नुमः ? (शा० वि० छ०) ।।

योजितार्थ—पुनः सूत्रकार ने ही वाक्यार्थान्वयी तत्पदार्थ के कथन (शोधन) में ही 'नेति'—इस वाक्य का उपयोग साक्षात् सूचित किया है, अतः वह (निषेधवाक्य) तत्पदार्थपरक ही निश्चित होता है। इस प्रकार हथेली पर रखे आमलक के समान तात्पर्यनिश्चित होने पर जो अन्यथा कहा करते हैं, उन्हे क्षन्तव्य कैसे कह सकते हैं ? ।

भावितार्थ—'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः' (ब्र० सू० ३।२।२२) इस सूत्र से सूत्रकार ने अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है कि प्रतिषेध-वाक्यों का उपयोग तत्पदार्थ-वर्णन में ही साक्षात् है; वाक्यार्थ-वर्णन में नहीं। अतः जो लोग निषेधवाक्य का उपयोग वाक्यार्थ-वर्णन में मुख्य मानते हैं; वे कदापि क्षन्तव्य नहीं। अर्थात् उनका निराकरण करना ही उचित है ।। २६२ ।।

निषेधवाक्यों का तत्पदार्थ-शोधन में उपकार-वर्णन करते हैं—

सत्यं ज्ञानमनन्तमित्यभिहिते सम्भावना नीयते
नास्थूलादिवचः समुद्भवधिया द्वैतोपमर्दं विना ।
तेनात्रान्तरवाक्यलक्ष्यविषयां बुद्धिं दृढीकुर्वता
सर्वद्वैतनिषेधकेन वचसा वाक्यार्थधीर्जन्यते ॥ २६३ ॥

योजना—अस्थूलादिवचःसमुद्भवधिया द्वैतोपमर्दं विना सत्यं ज्ञानमित्यभिहिते असम्भावना न नीयते। तेन अवान्तरवाक्यलक्ष्यविषयां बुद्धिं दृढीकुर्वता सर्वद्वैतनिषेधकेन वचसा वाक्यार्थधीः जन्यते ॥ (शार्दूलविक्रीडितम्) ॥

योजितार्थ—'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्'–आदि से द्वैत-निषेध किये बिना केवल सत्यादि रूप से (आत्मतत्त्व का) कथन करने पर भी असम्भावना दूर नहीं की जा सकती; अतः अवान्तर वाक्य-लक्ष्यार्थ-विषयक बुद्धि को दृढ़ करते हुए निषेधवाक्य के द्वारा (परम्परया) वाक्यार्थधी उत्पन्न की जाती है ॥

भावितार्थ—'असम्भावना' और 'सम्भावना' दो प्रकार के पदच्छेद यहाँ किये जाते हैं। तदनुसार 'नीयते' और 'आनीयते'। प्रथम पक्ष का अर्थ है—'एकमेवाद्वितीयम्'–आदि अवान्तर वाक्यों से प्रतिपादित अद्वैतार्थ में असम्भावना की निवृत्ति तब तक नहीं होती, जब तक 'अस्थूलम्' आदि निषेध वाक्यों से द्वैत का निषेध न किया जाय। द्वैत निषेध कर देनें पर अवान्तरवाक्यों के तात्पर्य का निर्धारण हो जाने पर महावाक्यों से लक्ष्यार्थ-निश्चय सुकर हो जाता है।

द्वितीय पक्ष का भाव है–अवान्तरवाक्यों का कथन कर देने पर भी अद्वैत तत्त्व की संभावना तब तक नहीं होती, जब तक निषेधवाक्य प्रवृत्त होकर द्वैत का उपमर्दन न कर दें। इस प्रकार निषेध-वाक्यों का परम्परया ही उपयोग तथा सार्थक्य माना जाता है ॥ २६३ ॥

निषेधवाक्यों से लक्ष्यार्थ का शोधन हो जाने पर विधिवाक्यों के द्वारा असन्दिग्ध रूप से अभेद का साक्षात्कार करना चाहिए—

अस्थूलादिवचोनिरस्तनिखिलद्वैतप्रपञ्चं परं
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिवर्जितमिदं प्रत्यक्स्वरूपं तथा।
एकीकृत्य परस्परेण पदयोरर्थद्वयं तत्त्वतः
प्रत्यक् चाद्वयमद्वयं च तदिति प्रेक्षस्व निःसंशयम् ॥ २६४ ॥

योजना—अस्थूलादिवचोनिरस्तनिखिलद्वैतप्रपञ्चं तथा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति-वर्जितपदं प्रत्यक्स्वरूपं पदयोः अर्थद्वयम् परस्परेण तत्त्वतः एकीकृत्य 'प्रत्यक् च अद्वयम्' 'अद्वयं च तद्'–इति निःसंशयं प्रेक्षस्व ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—'अस्थूलम्'–आदि वाक्यों से निरस्त हो गया है द्वैतपञ्च जिसका, ऐसे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति-रहित प्रत्यगात्मा का 'तत्, त्वम्'–दोनों पदों के अर्थों का परस्पर पारमार्थिक एकीकरण करके 'प्रत्यगात्मा ही अद्वय ब्रह्म' है तथा अद्वय ब्रह्म ही प्रत्यगात्मा है—इस प्रकार असंदिग्धरूप से (हे शिष्य !) साक्षात्कार कर ॥ २६४ ॥

व्यवहित तत्पदार्थ का अव्यवहित त्वम्पदार्थ से एकीकरण (अभेद) क्योंकर सम्भव होगा ? यह दिखाते हैं—

अद्वैतं परिशोधितं भगवतो विष्णोः परं यत्पदं
तच्छब्देन समर्पितं परिगृहीतादेयमात्मप्रभम्।
यच्चोपाधिविवर्जितं तव निजं साक्षात्स्वरूपं तयो-
रेकत्वं परिवर्जितव्यवधिकं प्रत्यक्षमीक्षस्व भोः ॥ २६५ ॥

योजना—भगवतः विष्णोः यत् परं पदं परिशोधितम् अद्वैतम् आत्मप्रभं तच्छब्देन परिगृहीतादेयम् समर्पितम्। यच्च उपाधिवर्जितं तव साक्षात् निजं स्वरूपम्; तयोः परिवर्जितव्यवधिकम् एकत्वं प्रत्यक्षम् ईक्षस्व भोः॥ (शा० वि० छ०)॥

योजितार्थ—भगवान् विष्णु का जो परम पद शोधित अद्वैत, स्वयं, प्रकाशतत्त्व भागत्यागलक्षण द्वारा निर्णीत तत्पद से उपादेय है और जो उपाधि-रहित तेरा साक्षात् निज स्वरूप है, उन दोनों का कोई व्यवधान नहीं, भो शिष्य ! उनकी एकता का प्रत्यक्ष दर्शन कर॥

भावितार्थ—तत्पद के लक्ष्यभूत जगत्कारणत्वोपलक्षित शुद्ध तत्त्व और त्वम्पद के लक्ष्यभूत देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणादि उपाधि-वर्जित कूटस्थ का अभेद दर्शन करना है। आत्मप्रभम् (स्वयंप्रकाश) यह विशेषण दोनों पदार्थों का है। परिगृहीतादेयम्—इस विशेषण से सूचित किया कि मुख्य वृत्ति से परिगृहीत विशिष्ट अंश से भाग-लक्षणा के द्वारा उपादेय शुद्ध विशेष्य अंशों में ही एकता सम्भव है॥ ३६५॥

अवान्तरवाक्य-घटक सत्यादि पदों का अनृतादि की व्यावृत्ति में तात्पर्य बताते हुए शोधित तत्त्वम्पदार्थों की एकरूपता का उपसंहार करते हैं—

अनृतजडविभक्तदुःखतुच्छा-
सहनवपुः परमं पदं मुरारेः।
परिहृतसकलप्रपञ्चमात्मा
तव तदवेहि तमो निरस्य वाक्यात्॥ २६६॥

योजना—तमो निरस्य वाक्यात् मुरारेः अनृतजडविभक्तदुःखतुच्छासहनवपुः[1] परिहृतसकलप्रपञ्चं परमं पदम् तव आत्मा, तदवेहि॥ (पुष्पिताग्राच्छन्दः)॥

योजितार्थ—मुरारि का अनृत-जड़-सान्त-दुःख और तुच्छ से विलक्षण, सकल प्रपञ्चातीत, परमपद तेरा आत्मा है, उसे विवेकादि की सहायता से अविवेकरूपी तम को हटाकर 'तत्त्वमसि' वाक्य के द्वारा समझ॥

भावितार्थ—'सत्य' पद से अनृत, 'ज्ञान' पद से जड़, अनन्त पद से (विभक्त) सान्त, 'आनन्द' पद से दुःख तथा 'सत्' पद से असत् की व्यावृत्ति विवक्षित है। अनृतादिविलक्षण तत्त्व को अपना रूप महावाक्यों की सहायता से ही जाना जा सकता है, अन्यथा नहीं॥ २६६॥

आचार्य के द्वारा आत्मतत्त्व का भली प्रकार उपदेश होने पर भी शिष्य यदि न समझे, तब श्रद्धा की कमी समझनी चाहिए; क्योंकि श्रद्धा भी एक मुख्य कारण है—

श्रद्धत्स्व सौम्येति हि शास्ति शास्त्रम्
श्रद्धाधनत्वश्रुतिरस्ति चान्या।
श्रद्धा तु यस्येत्यपरं च वाक्य-
मधीयते संशयकुत्सनाय॥ २६७॥

---

[1] अनृतादीन् न सहते इत्यनृताद्यसहनम्, एवंविधं वपुर्यस्य तत्।

योजना–'श्रद्धत्स्व सौम्य' इति हि शास्त्रं शास्ति, अन्या च श्रद्धाधनत्वश्रुतिः अस्ति 'श्रद्धा तु यस्य' इत्यपरं वाक्यं च संशयकुत्सनाय अधीयते ॥ (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—'श्रद्धत्स्व सौम्य' (छां० ६।१२।२) ऐसा (एक) शास्त्र कहता है, दूसरी [1]'श्रद्धावित्तो भूत्वा' (बृह० ४।४।२३) ऐसी श्रुति भी है, यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्ति' (छां० ३।१४।४) ऐसा एक और भी वाक्य संशय मिटाने के लिए पढ़ा जाता है ॥

भावितार्थ—वर्णित दुर्विज्ञेय, सूक्ष्म अखण्डवाक्यार्थ में संशय की निवृत्ति के लिए श्रद्धा मुख्य साधन है। छान्दोग्योपनिषत् में स्पष्ट कहा है–'यं वै सौम्यैतमणिमानं न निभालयसि, एतस्य वै सौम्यैषोऽणिम्न एवं महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति। श्रद्धत्स्व सौम्येति' (छां० ६।१२।२) अर्थात् सौम्य। जिस नितान्त अणिम बीजतत्त्व को तुम नहीं देख पाते, उसी से यह महान् वटवृक्ष बना है। उस तत्त्व में श्रद्धा करो। इसी प्रकार बृहदारण्यक में भी कहा है—'श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्' अर्थात् श्रद्धा-सम्पन्न होकर ही आत्मतत्त्व का दर्शन कर सकेगा। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' (गी० ४।३९) आदि अनन्त वाक्यों में श्रद्धा का विधान आत्मतत्त्व-दर्शन के उद्देश्य से ही किया है। अतः श्रद्धा मुख्य साधन है ॥ २६६ ॥

अज्ञान तथा संशय की निवृत्ति के लिए श्रद्धा की अनिवार्यता भगवद्वचन से भी प्रमाणित होती है—

अज्ञो विनश्यति पुमानतिमूढभावा-
दश्रद्धयोपहतबुद्धिरतोऽपि कष्टः।
कष्टाच्च कष्टतर एव तु संशयात्मा
दुःखी सदेति भगवानपि वासुदेवः ॥ २६८ ॥

योजना—अतिमूढभावात् अज्ञः पुमान् विनश्यति। अतोऽपि कष्टः अश्रद्धया उपहतबुद्धिः। संशयात्मा तु कष्टात् च कष्टतरः सदा दुःखीति भगवान् वासुदेवोऽपि ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—अति मूढ़ होने के कारण अज्ञानी (अविवेकी) पुरुष विनष्ट (जन्म-मरण-प्रवाह-पतित) होता ही है। इससे भी कष्ट अवस्था को अश्रद्धालु प्राप्त होता है। संशय-ग्रस्त पुरुष तो कष्ट से भी कष्टतर दशा में पड़कर सदा दुःखी रहता है–ऐसा भगवान् वासुदेव ने भी कह दिया है ॥

भावितार्थ—अज्ञानी अपने अज्ञान के कारण संसार की ठोकरें खाता रहता है। यदि वह श्रद्धालु बन जाय, तब अपना उद्धार कर भी सकता है, किन्तु अश्रद्धालु कदापि नहीं। उससे भी अधिक वह पुरुष कष्टभागी है, जो अपना नित्यकर्म भी छोड़ बैठा और आत्मतत्त्व में संशयात्मा भी है। भगवान् ने स्पष्ट कहा है–'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति' (गी० ४।४०) ॥ २६८ ॥

अग्निहोत्रादि-वाक्यार्थ-श्रवण के अनन्तर श्रद्धालु के लिए जैसे बहुत कुछ कर्त्तव्य शेष रहता है; वैसे अखण्ड-वाक्यार्थ-श्रवण के अनन्तर कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता–

---

[1] कई मुद्रित उपनिषदों में 'समाहितो भूत्वा' पाठ मिलता है, किन्तु शतपथ ब्राह्मण (१४।७।२।२८) में 'श्रद्धावित्तो भूत्वा' ही पाठ मुद्रित है; अतः बृहदारण्यक उपनिषत् में यही पाठ चाहिए। आचार्यों ने ऐसा ही माना है।

रूपं तावकमुज्झितद्वयमभूदद्वैतमेवाञ्जसा
तच्चाद्वैतमपास्य मोहजनितं पारोक्ष्यमात्मा ह्यभूत् ।
एवं वेदशिरःपदान्वयवशादेकत्वमेकान्ततः
सिद्धं प्रत्यगनन्तयोरिति तव श्रेयः समाप्तिं गतम् ॥ २६९ ॥

योजना—तावकं रूपम् उज्झितद्वयम् अञ्जसा अद्वैतमेव अभूत् । तच्च अद्वैतं मोहजनितं पारोक्ष्यम् अपास्य हि आत्मा अभूत् । एवं वेदशिरः पदान्वयवशात् प्रत्यगनन्तयोः एकान्ततः एकत्वं सिद्धम्—इति तव श्रेयः समाप्ति गतम् ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—शिष्य ! तेरा रूप द्वैत-शून्य साक्षात् अद्वैत ही था । वह अद्वैत मोह-जन्य परोक्षता को दूर कर तेरा अपरोक्ष आत्मा हो गया । इस प्रकार वेदान्त-पद-समन्वय के द्वारा प्रत्यगात्मा और अनन्त तत्त्व में अत्यन्त अभेद सिद्ध हो गया—इतने मात्र से ही तेरा श्रेय सम्पन्न हो जाता है ॥

भावितार्थ—ज्ञान होने से पूर्व भी जीव ब्रह्म ही था; किन्तु मोह-जन्य द्वैत प्रपञ्च के कारण भेद-प्रतीति हो गई थी । जिससे ब्रह्म परोक्ष-सा हो गया था । वेदान्त-वाक्यों-की समन्वय-धारा के पावन उपदेश से भेद और परोक्षता के कल्पित आवरण मिट गये और वह प्रत्यक्ष हो गया । बस इससे आगे और कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता । यही वह अन्तिम कक्षा हैं; जिस पर पहुँच कर ज्ञानी सर्वात्मा, सर्वदर्शी, सर्वत्रग हो जाता है, फिर और कर्त्तव्य क्या रहेगा ? ॥ २६९ ॥

अन्यान्य वादियों को भी अखण्डार्थता माननी पड़ती है—यह दिखाने के लिए सर्वप्रथम वैशेषिक मत से एकपद-लक्षणा-द्वारा अखण्डार्थता दिखाते हैं—

सम्बन्धः समवाय इत्यपि पदे वैशेषिकोच्चारिते
नाखण्डव्यतिरिक्तवस्तु वदितुं शक्तोऽनवस्थाभयात् ।
पञ्चानां समवायितेति वचनव्याघातभीतेरपि
सम्बन्धान्तरमस्य नाभिमनुते वैशेषिकः कातरः ॥ २७० ॥

योजना—'सम्बद्धः समवायः' इति वैशेषिकोच्चारिते पदे[1] अखण्डव्यतिरिक्तवस्तु वदितुं न शक्तः, अनवस्थाभयात् । पञ्चानां समवायितेतिवचनव्याघातभीतेरपि वैशेषिकः कातरः अस्य सम्बन्धान्तरं नाभिमनुते ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—'सम्बन्धः समवायः'—इस प्रकार के वैशेषिकोच्चारित वाक्य का अखण्डार्थ अतिरिक्त अर्थ नहीं कह सकते; क्योंकि (वहाँ विशिष्टार्थ मानने में) अनवस्था का भय है । 'द्रव्यादीनां पञ्चानां समवायित्वम्' (वै० भा० ६।१) इस प्रकार के प्रशस्तपादोक्त वचन का विरोध होने के कारण भी कातर वैशेषिक इस (समवाय) का सम्बन्धान्तर नहीं मान सकता ॥

भावितार्थ—इस श्लोक में 'सम्बन्धः समवायः' और 'सम्बद्धः समवायः'—दोनों पाठ उपलब्ध होते है । प्रथम पाठ उचिततर प्रतीत होता है । 'सम्बद्धः समवायः' का अर्थ प्रतीत होता है-'सम्बन्धविशिष्टः समवायः । जो कि अनुपपन्न है; क्योंकि यहाँ जिज्ञासा

---

[1] १. पद्यतेऽनेनेति पदं वाक्यमित्यर्थः ।

होती है कि समवाय जिस सम्बन्ध से विशिष्ट है, वह समवायरूप है ? या सम्बन्धान्तर ? समवायरूप मानने पर एक ही समवाय स्वयं अपने में सम्बन्ध बन नहीं सकता, अतः समवायान्तर मानना होगा। उस समवायान्तर का भी समवायान्तर, उसका भी समवायान्तर इस प्रकार अनवस्था होती है। संयोगादि सम्बन्धान्तर यहाँ अभीष्ट नहीं इसलिए स्वरूप सम्बन्ध के अभिप्राय से 'सम्बद्धः समवायः'—यह वाक्य कहना होगा। वहाँ 'सम्बद्ध' पद की लक्षणा समवाय-स्वरूप में करनी होगी और 'समवाय' पद की उसमें शक्ति। इस प्रकार उक्त वाक्य समवाय-स्वरूपात्मक अखण्डार्थ का ही बोधक मानना पड़ता है। समवायान्तर मानने पर केवल अनवस्था ही नहीं, अपितु सिद्धान्त-विरोध भी है; क्योंकि वैशेषिक भाष्यकार प्रशस्तपाद ने कहा है—'द्रव्यादीनां पञ्चानामपि समवायित्वमनेकत्वं च'। अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पाँच पदार्थों में ही समवाय सम्बन्ध प्रतियोगिता या अनुयोगिता सम्बन्ध से रहता है; इससे अन्य समवायादि में नहीं। समवाय में समवायान्तर मानने पर इस सिद्धान्त का विरोध होगा ? अतः वैशेषिकगण समवायान्तर नहीं मान सकते ॥ २७० ॥

प्राभाकर मत में भी अखण्डार्थता की प्रसिद्धि दिखाते हैं—

शब्दो गकार इति लौकिकमस्ति वाक्यम्
विस्पष्टमस्ति च पदद्वयमत्र वाक्ये ।
प्राभाकरे च समये न गकारमात्रात्
अन्यत्पदद्वयनिगद्यमभीष्टमस्मिन् ॥ २७१ ॥

योजना—'शब्दो गकारः'—इति लौकिकं वाक्यम् अस्ति। अत्र वाक्ये च विस्पष्टं पदद्वयम् अस्ति। प्राभाकरे समये च गकारमात्राद् अन्यत् पदद्वयनिगद्यं अत्र नाभीष्टम् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—'शब्दो गकारः'—यह लौकिक वाक्य है। इस वाक्य में विस्पष्ट दो पद हैं। प्राभाकर-मत में गकार मात्र से भिन्न पदद्वय-प्रतिपाद्य यहाँ अभीष्ट नहीं ॥

भावितार्थ—'शब्दो गकारः'—इस वाक्य के दोनों पदों का प्रतिपाद्य गकारमात्र है, उससे भिन्न नहीं—ऐसा प्राभाकर मत है। अतः इस मत में भी अखण्डार्थता प्रसिद्ध है ॥ २७१ ॥

आकृत्यधिकरणन्याय से शब्द का प्रतिपाद्य शब्दत्व और गकार का प्रतिपाद्य गकारत्व है अतः दोनों का प्रतिपाद्य एक कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर है—

शब्दत्वजातिवचनो न हि शब्दशब्दः
श्रोत्रोपलम्भनतया तु निबन्धनेन ।
वर्णान् ब्रवीति न हि जातिरिहाभ्युपेता
साक्षाद् गकारमयमाह गकारशब्दः ॥ २७२ ॥

योजना—शब्दशब्दः शब्दत्वजातिवचनो न हि, श्रोत्रोपलम्भनतया निबन्धनेन तु वर्णान् ब्रवीति। इह हि जातिः अभ्युपेता न। अयं गकारशब्दः साक्षात् गकारम् आह ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—'शब्द' पद शब्दत्व जाति का वाचक नहीं, श्रत्रोपलम्भनत्वरूप उपाधि के निमित्त से वर्णों को कहता है। इस (गकार) में जाति मानी ही नहीं जाती। यह 'गकार' शब्द साक्षात् गकार वर्ण को कहता है ॥

भावितार्थ—न तो 'शब्द' पद शब्दत्व का वाचक है, और न 'गकार' पद गकारत्व का केवल श्रोत्र-ग्राह्यत्वरूप उपाधि (तटस्थ धर्म) को निमित्त मानकर 'शब्द' पद वभी वर्णों को कहता है। इसी प्रकार गकार शब्द भी साक्षात् गकार वर्ण को ही कहता है। शब्द द्रव्य नहीं, अतः जाति-व्यञ्जक संस्थानविशेष यहाँ सम्भव न होने से जाति नहीं मानी जा सकती। अतः 'शब्दो गकारः'—इस वाक्य के दोनों पदों का एक मात्र गकार वर्णरूप अखण्ड अर्थ ही मानना होगा ॥ २७२ ॥

अतः प्राभाकर को अखण्डार्थता में विवाद नहीं करना चाहिए—

तस्मादखण्डविषये वचने विवादम्
प्राभाकराः परिहरन्तु न चेदशक्यम् ।
निर्वोढुमेतदिह वाक्यमितोऽन्यथा चेद्
अस्यार्थकल्पनमभीप्सितमिष्टहानिः ॥ २७३ ॥

योजना—तस्मात् प्राभाकराः अखण्डविषये विवादं परिहरन्तु। न चेत्, इह एतत् वाक्यं निर्वोढुम् अशक्यम्। इतोऽन्यथा चेद् अस्य अर्थकल्पनम् अभीप्सितम्; इष्टहानिः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इसलिए प्राभाकरगण को अखण्डार्थ के विषय में विवाद छोड़ देना चाहिए। नहीं तो यहाँ इस (शब्दो गकारः) वाक्य का निर्वहन नहीं हो सकेगा। इससे भिन्न यदि इस (वाक्य) के अर्थ की कल्पना की जाय; (तब) इष्ट-हानि होती है ॥

भावितार्थ—जब कि 'शब्दो गकारः' में प्राभाकर को अखण्डार्थता माननी ही पड़ती है, तब उन्हें इस विषय में विवाद करना उचित नहीं जँचता। उक्त वाक्य का यदि अखण्डार्थ न मान कर विशिष्ट (संसृष्ट) अर्थ माना जाय, तब कथित प्राभाकर-सिद्धान्त की हानि होगी ॥ २७३ ॥

गत (२१६ वें) श्लोक में कथित पाणिनि-सम्मति का पुनः स्मरण दिलाते हैं—

प्रातिपदिकान्यनतिरिक्तविषयाणि
प्राह भगवान्प्रथमशब्दितविभक्त्या ।
पाणिनिरतः सकलतर्कसमयज्ञो
वष्टि वचसोऽनतिरिक्तविषयत्वम् ॥ २७४ ॥

योजना—भगवान् पाणिनिः प्रातिपदिकानि प्रथमशब्दितविभक्त्या अनतिरिक्तविषयाणि प्राह। अतः सकलतर्कसमयज्ञो वचसोऽनतिरिक्तविषयत्वं वष्टि ॥ ([1]इन्दुवदनाच्छन्दः)

योजितार्थ—भगवान् पाणिनि ने प्रातिपदिकों को प्रथमा विभक्ति के समानार्थक

---

[1] 'इन्दुवदना भजसनैः सगुरुयुग्मैः'' (वृत्त०) अर्थात् जिस पद्य के प्रत्येक चरण में क्रमशः एक भगण एक जगण, एक सगण, एक नगण तथा दो गुरुवर्ण हों, उसे इन्दुवदना कहते हैं।

बताया है। अतः सकल न्यायसंगत संकेताभिज्ञ (पाणिनि मुनि) शब्दों में अनतिरिक्त-विषयत्व (अखण्डार्थत्व) चाहते हैं ।।

भावितार्थ—भगवान् पाणिनि ने प्रातिपदिक को प्रथमा विभक्ति के समानार्थक कहकर यह सुव्यक्त कर दिया कि विभिन्न पदों में एकार्थकत्व (अखण्डार्थत्व) सम्भव है ।।२७४।।

पूर्व (१०३ पद में) कथित 'नाखण्डवस्तुविषया वचसः प्रवृत्तिः" आक्षेप का समाधान करते हैं—

इयं घटव्यक्तिरितीदृशेषु च
प्रसिद्धमेवैकरसार्थगोचरम् ।
पदद्वयं लोकवचःसु तेन च
प्रशस्यते नात्र विवादसंग्रहः ॥ २७५ ॥

योजना—'इयं घटव्यक्तिः'—इतीदृशेषु लोकवचःसु च पदद्वयं एकरसार्थगोचरं प्रसिद्धमेव, तेन च अत्र विवादसंग्रहो न प्रशस्यते ।। (वंशस्थच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—'इयं घटव्यक्तिः'—इस प्रकार के लौकिक वाक्यों में दोनों पद अखण्डार्थ-विषयक प्रसिद्ध हैं, अतः इस विषय में विवाद करना प्रशस्त नहीं है ।।

भावितार्थ—'इयं घटव्यक्तिः'—इस वाक्य में 'इयम्' पद से परामृष्ट व्यक्ति को घट व्यक्ति से अभिन्न बताना मात्र अभीष्ट होता है। अतः यहाँ 'इयम्' और 'घटव्यक्ति'—इन दोनों पदों का एक (अखण्ड) अर्थ में प्रयोग मानना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में यह कहना कि लोक में अखण्डार्थ विषयक शब्द प्रवृत्ति नहीं देखी गई, सर्वथा अयुक्त है।।२७५।।

[वेदान्तानां प्रमाणान्तरनिःस्पृहत्वम्]

गत (१०१) पद्य में किये गये सिद्धार्थक वेदान्त वाक्यों में अनुवादत्वाक्षेप का समाधान करते हैं—

न च प्रमाणान्तरयोग्यतायाम्
प्रयोजकं स्यात्परिनिष्ठितत्वम् ।
यतः प्रमाणान्तरयोग्यतायाम्
प्रयोजकं रूपरसादिमत्त्वम् ॥ २७६ ॥

योजना—प्रमाणान्तरयोग्यतायां परिनिष्ठितत्वं प्रयोजकं न च, यतः प्रमाणान्तर-योग्यतायां रूपरसादिमत्त्वं प्रयोजकम् ।। (उपेन्द्रवज्राच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—प्रमाणान्तर-योग्यता में सिद्धरूपत्व प्रयोजक नहीं, अपितु प्रमाणान्तर-योग्यता में रूपादिमत्व प्रयोजक है ।।

भावितार्थ—यह जो कहा था कि ब्रह्म सिद्ध वस्तु होने से शब्द-भिन्न प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय होता है, अतः वेदान्तवाक्य प्रमाणान्तर-गृहीत-ग्राही होने से अनुवाद-मात्र है, प्रमाण नहीं। यह कहना उचित नहीं, क्योंकि प्रमाणान्तर-विषयत्व में सिद्ध-रूपत्व प्रयोजक नहीं, अपितु रूपादिमत्व है ।। २७६ ।।

ब्रह्म में रूपादिमत्व न होने से प्रमाणान्तरविषयत्व नहीं बनता। प्रमाणान्तर से अगृहीत ब्रह्म को विषय करने से वेदान्तवाक्य प्रमाण ही हैं, अप्रमाण नहीं—

ततोऽस्तु रूपादिविहीनरूपे
प्रमान्तरागोचरचित्स्वरूपे ।
वचः प्रमाणान्तरनिःस्पृहं सत्
प्रमाणमत्राऽऽत्मनि निर्विवादम् ॥ २७७ ॥

योजना— ततः अत्र रूपादिविहीनरूपे प्रमान्तरागोचरचित्स्वरूपे आत्मनि वचः प्रमाणान्तरनिःस्पृहं सत् निर्विवादं प्रमाणम् ॥ (उपेन्द्रवज्राच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इसलिए इस रूपादि-रहित प्रमाणान्तर के अविषयभूत चित्स्वरूप आत्मा में वेदान्तवाक्य प्रमाणान्तर-निरपेक्ष होकर निर्विवादरूप से प्रमाण हैं ॥

भावितार्थ— रूपादिमत्व न रहने के कारण ब्रह्म में प्रमाणान्तर-विषयता नहीं रह सकती। अतः प्रमाणान्तर से अगृहीत ब्रह्म में वेदान्त वाक्यों की प्रमाणान्तर-निरपेक्षता और प्रमाणता निरपवाद सिद्ध हो जाती है ॥

यहाँ आशय यह है कि आक्षेप-ग्रन्थ में यह अनुमान विवक्षित था —'ब्रह्म प्रमाणान्तराधिगतम् सिद्धत्वात् घटादिवत्' उस अनुमान् प्रयोग में यहाँ सिद्धान्ती ने 'रूपादिमत्त्व' उपाधि बताई। घटादि में रूपादिमत्त्व प्रमाणान्तराधिगतत्वरूप साध्य का व्यापक है और पक्ष में साधनाव्यापक है। अतः उक्त अनुमान सोपाधिक हो जाने से ब्रह्म में प्रमाणान्तर-विषयत्व की सिद्धि नहीं कर सकता ॥ २७७ ॥

यदि कहा जाय कि कथित रूपादिमत्वरूप उपाधि प्रमाणान्तराधिगतत्वरूप साध्य की व्यापक नहीं, क्योंकि रूपादि-रहित कालादि में व्यभिचार है। तब दूसरी उपाधि देते हैं—

लोकप्रसिद्धपदगोचरतानिमित्तम्
अन्यप्रमाणविषयत्वमिह प्रसिद्धम् ।
लोकप्रसिद्धपदगोचरता न चाऽस्मिन्
ब्रह्मात्मनीति च तदत्र निवारणीयम् ॥ २७८ ॥

योजना—इह लोकप्रसिद्धपदगोचरता निमित्तम् अन्यप्रमाणविषयत्वं प्रसिद्धम्, अस्मिन् ब्रह्मात्मनि च लोकप्रसिद्धपदगोचरता नास्तीति अत्र तत् च निवारणीयम् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इस (लोक) में लोक-प्रसिद्ध पद-वाच्यता से प्रयुक्त प्रमाणान्तर-विषयता होती है। इस ब्रह्म वस्तु में लोकप्रसिद्ध पद-वाच्यता नहीं, अतः इस (ब्रह्म) में उस (प्रमाणान्तर-विषयत्व) का भी निराकरण कर देना चाहिए ॥

भावितार्थ—प्रमाणान्तर-विषयता की प्रयोजक लोक-प्रसिद्ध पदों की वाच्यता होती है, जैसा कि घटादि में देखा गया है। ब्रह्म में किसी लोक-प्रसिद्ध-पद की वाच्यता नहीं, अतः इसकी व्याप्य-प्रमाणान्तर-विषयता का भी अभाव ब्रह्म में सिद्ध हो जाता है ॥ २७८ ॥

लोक-प्रसिद्ध पद-वाच्यता कार्यरूप अर्थ में रहती है, अतः कार्यार्थक वैदिक वाक्यों में सापेक्षतारूप अप्रमाणता अवश्य प्रसक्त होती है—

[1]लोकप्रसिद्धपदगोचरताऽस्ति कार्ये
तेनास्तु कार्यपरवाक्यमशेषतस्ते ।
मानान्तरेषु परतन्त्रतयाऽप्रमाणं
स्वार्थे न दूषणमिदं श्रुतिमस्तकेषु ॥ २७९ ॥

योजना—कार्ये लोकप्रसिद्धपदगोचरता अस्ति, तेन ते अशेषतः कार्यपरवाक्यं स्वार्थे मानान्तरेषु परतन्त्रतयाऽप्रमाणम् अस्तु । इदं दूषणं श्रुतिमस्तकेषु न ॥ (व० छ०) ॥

योजितार्थ—कार्यरूप अर्थ में लोक-प्रसिद्ध पद-गोचरता है । अतः आप (प्राभाकर) के मत में समस्त कार्य-बोधक वाक्य अपने (कार्यरूप) अर्थ में प्रमाणान्तरों के अधीन होने के कारण प्रमाण नहीं हैं । यह दूषण ब्रह्मपरक वेदान्त वाक्यों में नहीं ॥

भावितार्थ—कार्य-वाचक लिङादि पद लोक-प्रसिद्ध हैं । अतः प्रमाणन्तर गृहीत कार्य रूप अर्थ के बोधन में लिङादि पद निरपेक्ष नहीं, प्रमाणान्तर सापेक्ष ही हैं । अतः वेद को कार्यपरक माननेवाले प्रभाकर के मत में ही यह सापेक्षत्व दोष आता है, हमारे वेदान्त वाक्यों में नहीं, क्योंकि वेदान्तवाक्य ऐसे अलौकिक अर्थ के बोधक हैं, जो किसी लोकप्रसिद्ध पद का वाच्य नहीं ॥ २७९ ॥

यह जो (गत १०८ वें पद्य में) कहा था कि क्रियापद के बिना वाक्यत्व ही नहीं होता, उसका निराकरण करते हैं—

न च क्रियाकारितसंहतीनि[2]
पदानि लोके नियमेन वक्तुम् ।
समीहते पक्वमतिः पदानां
क्रियां विनाप्यन्वयदर्शनेन ॥ २८० ॥

योजना—क्रियां विना अपि पदानाम् अन्वयदर्शनेन पक्वमतिः लोके क्रियाकारितसंहतीनि नियमेन वक्तुं पदानि न समीहते । (उपेन्द्रवज्राच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—क्रिया के विना भी पदों का अन्वय देखा जाता है, अतः कोई विद्वान् लोक में क्रियाकारित अन्वय वाले पदों का ही नियम से प्रयोग नहीं करना चाहता ॥

भावितार्थ—वक्ष्यमाण पद-समूह भी क्रिया के विना ही जब कि अन्वय-बोध करा देते हैं, तब अन्वय-बोध के लिए नियमतः क्रिया पद की अपेक्षा क्यों होगी ? ॥ २८० ॥

उक्तार्थ में उदाहरण देते हैं—

महीभुजोऽयं पुरुषो मनस्वी
वनस्पतेरतत्फलमित्यपीह ।
क्रियां विनाप्यन्वयवन्ति लोके
पदानि दृष्टानि बहूनि वक्तुः ॥ २८१ ॥

---

[1] लोकप्रयुक्तेति पाठान्तरम् । [2] क्रिया तिङन्तं पदं तन्निमित्ता संहतिर्येषां पदानां तानि ।

योजना—'अयं मनस्वी पुरुषो महीभुज:' 'वनस्पते: तत्फलम्' इत्यादि इह लोके बहूनि क्रियां बिना अपि अन्वयवन्ति पदानि दृष्टानि ॥ (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—'अयं मनस्वी पुरुषः महीभजः' 'वनस्पतेः तत् फलम्'—इस प्रकार के इस लोक में बहुत से पद क्रिया के बिना भी अन्वयवाले देखे गये हैं ॥

भावितार्थ—'कस्यायं पुरुषः ? कस्य तत् फलम् ?' इस प्रकार सम्बन्ध-विशेष की जिज्ञासा होने पर कोई उत्तर देता है—'अयं मनस्वी पुरुषः महीभुजः' (यह मनस्वी पुरुष राजा का है), 'तत्फलं वनस्पतेः' (वह फल वनस्पति का है) इन उत्तर-वाक्यों से सम्बन्ध-विशेष की जिज्ञासा शान्त हो जाती है । किन्तु इनमें क्रिया-पद प्रयुक्त नहीं, अतः कहना होगा कि क्रिया के बिना भी पद अन्वयबोध के जनक होते हैं। पदों को परस्पर अन्वय के लिए आकांक्षा, योग्यता और सन्निधिमात्र की अपेक्षा होती हैं, क्रियापद की नहीं ॥ २८१ ॥

क्रियापद की अनिवार्यता होने पर वेदान्त में क्रियापद दिखाया भी जा सकता है—

क्रियापदं वेदशिरःस्वपीष्यते
विवक्षितार्थानुगुणं तु तन्मतम् ।
विवक्षितार्थप्रतिपत्तिघाति तु
क्रियापदं स्वीकृतमप्यनर्थकम् ॥ २८२ ॥

योजना—क्रियापदं वेदशिरःसु अपि इष्यते । तत् विवक्षितार्थानुगुणं तु मतम् । विविक्षितार्थप्रतिघाति तु क्रियापदं स्वीकृतमपि अनर्थकम् ॥ (वंशस्थम्) ॥

योजितार्थ—क्रियापद वेदान्तवाक्यों में इष्ट है । हाँ, वह विवक्षितार्थ के अनुगुण ही होना चाहिए । विवक्षितार्थ का विरोधी क्रियापद मानना व्यर्थ है ॥

भावितार्थ—विवक्षित अर्थ के अनुरूप क्रियापद का अध्याहार वेदान्तवाक्यों में भी किया जा सकता है । किन्तु विवक्षित अर्थ के अननुरूप क्रियापद का अध्याहार सार्थक नहीं कहा जा सकता ॥ २८२ ॥

यहाँ के अनुरूप क्रिया-पद दिखाते हैं—

अस्त्यस्म्यसीति च पदं प्रचुरं क्रियायाः
वेदान्तवाक्यगतमादरतः पठन्ति ।
तन्मात्रतः सकलवेदशिरःपदानां
संघातसिद्धिरिति वेदशिरोनिषण्णाः ॥ २८३ ॥

योजना—अस्त्यस्म्यसीति वेदान्त-वाक्यगतं क्रियायाः प्रचुरं पदम् आदरतः पठन्ति । तन्मात्रतः सकलवेदशिरःपदानां संघातसिद्धिरिति वेदशिरोनिषण्णाः (व० छ०) ॥

योजितार्थ—अस्ति, अस्मि असि—आदि वेदान्तवाक्यगत प्रचुर क्रिया-पदों को आदरपूर्वक पढ़ते हैं । उतने मात्र से सकल वेदान्त-पदों का अन्वय सिद्ध हो जाता है—ऐसा वेदान्तनिष्ठ विद्वान् मानते हैं ॥

भावितार्थ—'अस्ति ब्रह्म (तै० २।६।१) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृह० १।४।१०) 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) आदि वेदान्तवाक्यों में जिन अस्ति आदि क्रिया-पदों का श्रवण होता है, उन्हीं क्रिया पदों से निखिल 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—आदि वेदान्तवाक्यों

में निर्वाह हो जाता है। उनसे भिन्न विध्यर्थक क्रिया-पदों का अध्याहार अनुपयुक्त ही नहीं, असम्भव भी है ॥ २८३ ॥

ऐसा मानने पर वेदान्तवाक्यों में सापेक्षत्व दोष होगा, इस प्रकार के प्राभाकर आक्षेप का अनुवाद करते हैं—

यत्तु प्रमाणमनुभूतिरिति प्रमाण-
सामान्यलक्षणमनूद्य पुनर्वदन्ति ।
सत्ता प्रमाणघटनां प्रति योग्यताऽतो
नास्त्यर्थनिष्ठवचनेष्वनपेक्षतेति ॥ २८४ ॥

योजना—'अनुभूतिः प्रमाणम्' इति प्रमाणसामान्यलक्षणमनूद्य यत्तु पुनः वदन्ति प्रमाणघटनां प्रति योग्यता सत्ता, अतः अस्त्यर्थनिष्ठवचनेषु अनपेक्षता नास्तीति ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—'अनुभूतिः प्रमाणम्'-इस प्रकार प्रमाण-सामान्य के लक्षण का अनुवाद करके जो यह कहा करते हैं कि प्रमाण-प्रवृत्ति की योग्यता ही सत्ता है, अतः अस्त्यर्थक वेदान्त वचनों में अनपेक्षत्वरूप प्रामाण्य नहीं ॥

भावितार्थ—'अनुभूतिः प्रमाणम्' (प्र० पं० अमृत २) इस प्रकार प्रमाण का सामान्य लक्षण करने के अनन्तर जो प्राभाकर का कहना है कि प्रमाणान्तर-विषयता की योग्यता का नाम सत्ता है, अतः सत्तार्थक 'अस्ति ब्रह्म'—आदि वेदान्त-वाक्यों में प्रमाणान्तर-सापेक्षत्व ही रहता है, प्रमाणान्तर-निरपेक्षत्व नहीं ॥ २८४ ॥

वह कहना युक्त नहीं—

तद् दुर्घटं न खलु संविदियं स्वयोग्या
न ह्यात्मनि स्थितिमुपैष्यति योग्यताऽस्याः ।
वस्त्वन्तरोपनिहितस्वपदत्वहेतोः
न ह्यात्मरूपदहने दहनस्य शक्तिः ॥ २८५ ॥

योजना—तद् दुर्घटम्; इयं संवित् स्वयोग्या न खलु । अस्याः योग्यता हि आत्मनि स्थितिं नोपैष्यति [1]वस्त्वन्तरोपनिहितस्वपदत्वहेतोः; दहनस्य हि आत्मरूपदहने शक्तिः न ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—उक्त कथन सम्भव नहीं; क्योंकि यह (अनुभूतिरूप) संवित् स्वयोग्य नहीं होती। इसकी योग्यता अपने में ठहर नहीं सकेगी; क्योंकि (संवित्) अपने से भिन्न वस्तु में ही स्व-पदत्व (स्व-विषयत्व) का उपनिधान किया करती है; अग्नि में अपने जलाने की शक्ति नहीं होती ॥

भावितार्थ—संविद्विषयता सत्ता है ? या संविद्विषयत्व-योग्यता ? प्रथम पक्ष में संवित् के पूर्व पदार्थों की सत्ता का अभाव हो जायगा। द्वितीय पक्ष में जिज्ञासा होती है कि संवित् में वह योग्यता है ? या नहीं ? प्रथम कल्पमें भी सन्देह होता है कि संवित् में स्वविषयत्व की योग्यता है ? या अन्य संविद्विपयत्व की योग्यता ? अन्य संविद्विषयत्व मानने पर स्वप्रका-

---

[1] वस्त्वन्तरं घटादि तयोपनिहितं स्वपदं स्वविषयत्वं यया, तस्याः भावस्तत्वं तत इत्यर्थः ॥

शत्व की हानि होगी। स्वविषयत्व की योग्यता संवित् में बन नहीं सकती; क्योंकि स्व से भिन्न घटादि में ही स्वविषयता का आधान संवित् किया करती है। अर्थात् संविद्विषयत्व सदा संवित् से भिन्न पदार्थों में ही रहता है, स्वयं अपने में अपनी विषयता वैसे ही नहीं रह सकती; जैसे कि अग्नि की दाह्यता अग्नि में नहीं रहती, अपितु अग्नि से भिन्न काष्ठादि में रहा करती है। इसीलिए नैयायिकों ने कर्मत्व का लक्षण किया है—'परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वम्।। २८५।।

संवित् में यदि वह योग्यता नहीं, तब—

संवित्प्रमाणघटनां प्रति योग्यतां चेत्
नेयं बिभर्ति न सती भवितुं समर्था।
तद्योग्यतैव यदि मातृघटादिसत्ता
तस्याप्यसत्त्वमिति शून्यमुपाजिहीथाः॥ २८६॥

योजना—चेत् इयं संवित् प्रमाणघटनां प्रति योग्यतां न बिभर्ति; सती भवितुं न समर्था। मातृघटादिसत्ता यदि तद्योग्यतैव; तस्यापि असत्त्वमिति शून्यम् उपाजिहीथाः।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः)

योजितार्थ— यदि यह संवित् प्रमाण-विषयता की योग्यता अपने में नहीं रखती, (तब वह) सत्तावाली नहीं हो सकेगी ? एवं प्रमाता और घटादि (प्रमेयादि) की सत्ता भी यदि प्रमाण-विषयत्व योग्यता ही है; तब उसका भी अभाव हो जाने से शून्यवाद ही मानना पड़ेगा।।

भावितार्थ—संवित् में प्रमाण-विषयत्व योग्यता न होने पर वह सत् (सत्तावली) न हो सकेगी, क्योंकि प्रमाण-विषयत्व योग्यता ही आपके मत में सब पदार्थों की सत्ता मानी जाती। इसी प्रकार प्रमाण प्रमेय की सत्ता भी उक्त योग्यता ही है। उसका अभाव होने पर सब पदार्थों की असत्ता हो जाने से शून्यवादी बनना पड़ेग।। २८६।।

इसलिए मानयोग्यत्व ही सत्त्व है—इस दुराग्रह को छोड़ना पड़ेगा—

वस्तुस्वभाव इति सत्त्वमतो गृहाण
तच्च द्विधेति वितथावितथत्वभेदात्।
सत्त्वं द्विरूपमितरेतरसंकरेण
सच्छब्दवाच्यमिति च व्यवहारकाले॥ २८७॥

योजना—अतः वस्तुस्वभावः सत्त्वमिति गृहाण। तच्च वितथावितथत्वभेदात् द्विधेति गृहाण, व्यवहारकाले इतरेतरसंकरेण द्विरूपं सत्त्वं सच्छब्दवाच्यमिति गृहाण।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः)।।

योजितार्थ—इसलिए वस्तु-स्वभाव को ही सत्त्व कहना होगा। वह सत्त्व मिथ्या और अमिथ्या भेद से दो प्रकार का होता है। व्यवहार समय परस्पराध्यस्त द्विरूप सत्त्व को 'सत्' शब्द का वाच्य मानना होगा।।

भावितार्थ—वस्तु-स्वभाव को ही सत्त्व मानना होगा। वह दो प्रकार का होता है—

सत्य तथा मिथ्या । व्यवहार-काल में दोनों मिश्रित सत्त्व ही 'सत्' शब्द से कहे जाते हैं। इस प्रक्रिया में कोई दोष नहीं ॥ २८७ ॥

इस प्रकार भाग-त्याग-लक्षणा के द्वारा अभीष्ट-सिद्धि होगी—

उत्सृज्य तत्र वितथांशमथेतरस्मिन्
संवित्स्वरूपपरमार्थसति स्वरूपे ।
बुद्धिं कुरु प्रणिदधत्प्रणयेन भूम्नि
ब्रह्माहमस्मि परमार्थसदित्यजस्रम् ॥ २८८ ॥

योजना—तत्र वितथांशम् उत्सृज्य अथ इतरस्मिन् संवित्स्वरूपपरमार्थसति स्वरूपे भूम्नि प्रणयेन प्रणिदधत् अहं परमार्थसत् ब्रह्मास्मीति अजस्रं बुद्धिं कुरु ॥ (व० छ०) ॥

योजितार्थ—हे शिष्य ! वहाँ मिथ्या अंश को छोड़कर अन्य संविद्रूप परमार्थसत् भूमस्वरूप सत्यांश में श्रद्धापूर्वक मन को प्रणिहित कर 'मैं परमार्थसत् ब्रह्म हूँ'—ऐसा सदा निश्चय कर ॥

भावितार्थ—विशिष्टार्थ का परस्पर अन्वय बाधित है, अतः विशिष्ट से मिथ्या अंश को छोड़कर सत्य अंश की धारणा करनी चाहिए। अशुद्ध अंशों को छोड़ देने से ही 'मैं शुद्ध ब्रह्म हूँ'—यह निश्चय हो सकेगा ॥ २८८ ॥

ब्रह्म को प्रमाणान्तर का विषय मानने पर वेदान्त-पदों का उसमें शक्ति-ग्रह न हो सकेगा—इस (गत १११ पद में कथित) आक्षेप का समाधान करते हैं—

ब्रह्मस्वयंप्रभमतः शबलेषु तस्य
मानान्तरानधिगतेष्वपि शब्दशक्तिः ।
रूपेषु वृद्धजनसंव्यवहारहेतोः
शक्या ग्रहीतुमुदितेन पथाऽनभिज्ञैः ॥ २८९ ॥

योजना—ब्रह्म स्वयम्प्रभम्, अतः शबलेषु मानान्तरानधिगतेषु तस्य रूपेषु वृद्धजनव्यवहारहेतोः अनभिज्ञैः प्रागुदितेन पथा शब्दशक्तिः ग्रहीतुं शक्या ॥ (व० छ०) ॥

योजितार्थ—ब्रह्म स्वयम्प्रकाश है, अतः विशिष्टरूप मानान्तरानधिगत ब्रह्मस्वरूप में वृद्धजनों के व्यवहार से अनभिज्ञ व्यक्ति भी पूर्व (१९८ वें पद्य में) कथित मार्ग के द्वारा शब्द-शक्ति का ग्रहण कर सकते हैं ॥

भावितार्थ—यद्यपि ब्रह्म स्वयम्प्रकाश होने से प्रमाणान्तरानधिगत है; तथापि परस्पराध्यस्त चिज्जड़स्वरूप विशिष्टार्थ में शब्द-शक्ति-ग्रह पूर्व (१९८ पद्य में) कथित उपाय से सम्भव है ॥ २८९ ॥

अलौकिक माया से विशिष्ट ब्रह्म में ब्रह्मादि पदों के शक्ति-ग्रह का उपाय बताते हैं—

लोकप्रसिद्धार्थपदान्तराणां
समीपसंकीर्त्तनतोऽपि शक्तिः ।
ब्रह्मादिशब्दस्य सुखावसेया
यथा हि यूपादिगिरस्तथैव ॥ २९० ॥

योजना— लोकप्रसिद्धार्थपदान्तराणां समीपसंकीर्तनतो ब्रह्मादिशब्दस्य शक्तिः तथैव सुखावसेया, यथा हि यूपादिगिरः ।। (उपजातिच्छन्दः) ।।

योजितार्थ— लोक-प्रसिद्धार्थक वेदों के समीप में पठित होने के कारण (अप्रसिद्धार्थक) ब्रह्मादि पदों का भी शक्ति-ग्रह वैसे सुग्राह्य है, जैसे यूपादि पदों का ।।

भावितार्थ—समीप पठित प्रसिद्धार्थक पदों की सहायता से भी अप्रसिद्धार्थक पदों का शक्तिग्रह हुआ करता है। जैसे कि 'यूपं तक्षति' 'यूपमाष्टाश्रीकरोति' आदि लोक-प्रसिद्धतक्षणादि के वाचक 'तक्षति'–आदि पदों की सन्निधि से तक्षणादि संस्कार-विशिष्ट अलौकिक यूप वस्तु में भी यूपादि पदों का शक्ति-ग्रह होता है। वैसे ही 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'–आदि प्रसिद्धार्थक पदों की सन्निधि से ही तर्कित जगत्कारण वस्तु में ब्रह्मादि पदों का शक्तिग्रह सुकर है ।। २९० ।।

ब्रह्म में शक्ति-ग्रह न होने पर भी वेदान्तवाक्य ब्रह्म में प्रमाण हो सकते हैं—

विनाऽपि शक्तिग्रहणं पदानां
परात्मनोर्वाचकभावभाजाम् ।
भवेत्परब्रह्मणि वेदवाक्यात्
प्रतीतिरन्यप्रतिषेधनेन ।। २९१ ।।

योजना—परात्मनोः वाचकभावभाजां पदानां शक्तिग्रहणं विना अपि अन्य-प्रतिषेधनेन वेदवाक्यात् परब्रह्मणि प्रतीतिः भवेत् ।। (उपेन्द्रवज्राच्छन्दः) ।।

योजितार्थ— ब्रह्म और जीव के वाचक ब्रह्मादि पदों का शक्ति-ग्रह न होने पर भी अनात्म निषेध के द्वारा वेद-वाक्य से परब्रह्म की प्रतीति हो सकती है ।।

भावितार्थ— कार्यार्थवादी के प्रति कहा जाता है कि यदि हम यह मान भी लें कि ब्रह्मादि पदों का शक्ति-ग्रह नहीं हो सकता, फिर भी वेदवाक्य ब्रह्म की सिद्धि कर सकते हैं। 'अस्थूलम्' तथा 'नेति नेति' आदि निषेध वाक्य जिस सर्वाधिष्ठान वस्तु में कार्यादि अनात्म-जगत् का निषेध करते हैं, उसकी सिद्धि उन वाक्यों से क्यों न होगी ? इस प्रकार कार्यरूप ही वेदार्थ है—यह सिद्धान्त भंग हो जाता है और ब्रह्म भी वेदार्थ सिद्ध हो जाता है ।। २९१ ।।

प्रतिषेध-वाक्यस्थ पद भी शक्ति-ग्रह के विना ब्रह्म में प्रवृत्त क्यों कर होंगे ? इस जिज्ञासा का उत्तर देते हैं—

नञः प्रपञ्चप्रतिपादकस्य च
प्रतीत्य शक्तिं व्यवहारतः स्थितः ।
पदस्य शक्नोति परं समीक्षितुम्
श्रुतेः प्रपञ्चप्रतिषेधमार्गतः ।। २९२ ।।

योजना—प्रपञ्चप्रतिपादकस्य नञः पदस्य च व्यवहारतः प्रतीत्य स्थितः (पुरुषः) श्रुतेः प्रपञ्चप्रतिषेधमार्गतः परं समीक्षितुं शक्नोति[1] ।। (वंशस्थच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—अनात्मवाचक स्थूलादि पदों तथा नञ पद का वृद्ध-व्यवहार से शक्ति-

---

[1] १. यह मत ग्रन्थकार-सम्मत नहीं; क्योंकि 'सत्यादि' पदों की लक्षणा के बिना कथित ब्रह्मस्वरूप की सिद्धि नहीं हो सकती।

ग्रह कर चुकनेवाला पुरुष 'नेति नेति' आदि श्रुतियों से प्रपञ्च का निषेध करके पर-ब्रह्म का दर्शन कर सकता है ॥

भावितार्थ—अनात्मवाचक पदों और नञ् पद का शक्ति-ग्रह व्यवहार से किया ही जा सकता है। उन पदों से अनात्मा का निषेध कर देने पर शेषभूत आत्म-तत्त्व का दर्शन सर्वथा सम्भव ही है ॥ २९२ ॥

आक्षेप-ग्रन्थ (११२ वें पद्य) में जो कहा था कि प्रवृत्ति-निवृत्ति-उपयोगी पदार्थों में शब्द प्रमाण होते हैं, न कि ब्रह्म जैसी अनुपयुक्त वस्तु में। उसका समाधान है—

ब्रह्मास्मीतिवचोनिविष्टपदयोर्मानं भवेदन्वयः
साक्षादद्वयवस्तु तस्य च भवेन्मेयं ततस्तद्गतेः।
यद्यत्र प्रमितिं करोति भवति प्रामाण्यमत्रास्य च
स्पष्टं दृष्टमिदं हि युक्तिघटितं रूपे यथा चाक्षुषः ॥ २९३ ॥

योजना—ब्रह्मास्मीतिवचोनिविष्टपदयोः अन्वयः मानं भवेत्। तस्य च साक्षात् अद्वयवस्तु मेयं भवेत्; ततः तद्गतेः। यत्र प्रमितिं करोति अस्य अत्र प्रामाण्यं भवति यथा चाक्षुषः रूपे—इदं स्पष्टं दृष्टम् ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—'अहं ब्रह्मास्मि'—इस वाक्य में निविष्ट दोनों पदों का अन्वय प्रमाण है। उसकी साक्षात् अद्वय वस्तु प्रमेय होती है, क्योंकि उस (प्रमाण) से उसकी प्रमिति होती है। जो जिस (अर्थ) की प्रमिति उत्पन्न करता है, उसका उस (अर्थ) में प्रामाण्य होता है; जैसे चक्षु का प्रामाण्य रूप में। यह न्याय स्पष्टरूप से लोक में देखा जाता है और युक्ति-युक्त भी है ॥

भावितार्थ—'अहं ब्रह्मास्मि'—इस वाक्य के परस्परान्वित दोनों पद प्रमाण है और अद्वितीय ब्रह्म प्रमेय है; क्योंकि उन पदों से ही अद्वितीय ब्रह्म की प्रमा होती है। भले ही वह प्रवृत्ति या निवृत्ति में उपयोगी न हो ॥ २९३ ॥

अनधिगताबाधितगन्तृत्वरूप प्रमाण-सामान्य-लक्षण प्रकृत में घटाते हैं—

मानान्तरानधिगतं परिनिष्ठितं यद्
वेदः समर्पयति चेतसि तत्परः सन्।
तत्तथ्यमेव भवतीति समाश्रयस्व
श्रेयस्करो विधिगिरोऽवगतो यथैव ॥ २९४ ॥

योजना—वेदः तत्परः सन् यत् मानान्तरानधिगतं परिनिष्ठितं चेतसि समर्पयति, तत् तथ्यमेव भवतीति समाश्रयस्व, यथैव विधिगिरोऽवगतः श्रेयस्करः ॥ (व० छ०) ॥

योजितार्थ—वेद तत्परक होकर जिस प्रमाणान्तर से अज्ञात सिद्ध वस्तु का चित्त में समर्पण करता है, वह तथ्य ही होता है—ऐसा निश्चय करना चाहिए, जैसे कि विधिवाक्य से अवगत धर्म ॥

भावितार्थ—अर्थवादवाक्यों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता, अतः उनका प्रतिपाद्य यथार्थ में होगा—ऐसा नियम नहीं। किन्तु जैसे विधिवाक्य का अपने धर्मरूप अर्थ में तात्पर्य होता है और धर्म प्रमाणान्तर से अधिगत भी नहीं, अतः धर्म सत्य होता है। वैसे ही

वेदान्तवाक्यों का अपने ब्रह्मरूप अर्थ में तात्पर्य है। ब्रह्म प्रमाणान्तर से अवगत नहीं, अतः वह सत्य अबाधित मानना होगा। इस प्रकार मानान्तरानधिगत और अबाधित ब्रह्म के गमक होने के कारण वेदान्तवाक्य प्रमाण ही होते हैं ॥ २९४ ॥

वेद-प्रामाण्य के प्रयोजक चार धर्म माने जाते हैं—दो अर्थगत (अज्ञातत्व और कार्यरूपत्व) और दो शब्दगत (तत्परत्व तथा चोदनारूपत्व)। इसमें अज्ञातत्व और तत्परत्व—इन दो धर्मों की उपपत्तिमात्र से वेदान्तवाक्यों को प्रमाण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि शेष दो धर्म कार्यरूपत्व और चोदनारूपत्व नहीं। इस पूर्वपक्ष का उत्तर है—

निष्पन्नमेव यदि वा पुरुषप्रयत्न-
निष्पाद्यमस्तु तदनङ्गमिह प्रमेये।
एवं विधिर्भवतु शब्दसमन्वयो वा
प्रामाण्यकारणमिदं न वदन्ति सन्तः ॥ २९५ ॥

योजना— निष्पन्नं यदि वा निष्पाद्यम्, अस्तु तत् इह प्रमेये अनङ्गम्। एवं विधिर्वा भवतु शब्दसमन्वयो वा, सन्तः इदं प्रामाण्यकारणं न वदन्ति ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ— सिद्धि पदार्थ हो ? या साध्य ? (दोनों) यहाँ प्रमेय के अङ्ग नहीं। इस प्रकार चाहे विधिवाक्य हो ? या पद-समन्वय ? विद्वद्गण उन दोनों को प्रामाण्य-प्रयोजक नहीं मानते ॥

भावितार्थ—अर्थगत निष्पन्नत्व और निष्पाद्यत्व (कार्यरूपत्व) दोनों ही धर्म प्रामाण्य के प्रयोजक नहीं माने जाते। इस प्रकार कार्यार्थक वाक्य के समान सिद्धार्थक वाक्य भी प्रमाण हो सकते हैं। अनधिगत और अबाधित अर्थ का बोधक वाक्य प्रमाण होता है। चाहे वह अर्थ सिद्ध हो ? या साध्य ? इसी प्रकार तत्परक शब्द प्रमाण होता है। चाहे वह विधिरूप हो ? या विधि-रहित ? फलतः एक अर्थगत अनधिगतत्व और एक शब्दगत तत्परत्व दो ही धर्म प्रामाण्य के प्रयोजक माने जाते हैं; चार नहीं ॥ २९५ ॥

वेद-प्रमेय कहीं साध्य और कहीं सिद्ध। इस प्रकार अननुगम दोष होता है, अतः सर्वत्र कार्य को ही वेदार्थ मानना चाहिए। इस सन्देह का निवारण करते हैं—

नीलैकगोचरतया नियतं न चक्षुः
नाप्यस्य पीतविषये नियमोऽस्ति शक्तेः।
तद्वन्न वेदवचसामपि शक्तियोगः
कार्यादिवस्तुषु कथंचन पक्षपाती ॥ २९६ ॥

योजना—चक्षुः नीलैकगोचरतया नियतं न, नाऽपि अस्य शक्तेः पीतविषये नियमः अस्ति। तद्वत् वेदवचसाम् अपि कार्यादिवस्तु पक्षपाती शक्तियोगः कथंचन न ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—चक्षु नीलमात्र के ग्रहण में नियत नहीं और न इस (चक्षु) की शक्ति पीतविषय के ग्रहण मात्र में नियत है। वैसे ही वेदवाक्यों में कार्यादि-वस्तु-नियत शक्ति कथमपि नहीं मानी जा सकती ॥

भावितार्थ—जैसे कि रूपत्व-व्याप्य नीलत्व, पीतत्वादि चक्षुर्ग्राह्यता के प्रयोजक नहीं,

किन्तु रूपत्व ही प्रयोजक होता है। वैसे ही वेद-वाक्य-शक्ति-विषयत्व में कार्यत्व या सिद्धत्व प्रयोजक नहीं, किन्तु अज्ञातत्वादि ही प्रयोजक हैं। अज्ञातत्वादि सिद्धार्थ तथा साध्यार्थ दोनों में रह सकते हैं, अतः अननुगम नहीं। अज्ञातत्वादि से वेदार्थत्व का अनुगम किया जा सकता है ॥ २९६ ॥

उक्तार्थ की पुष्टि में जैमिनीय न्याय प्रस्तुत करते हैं—

यद् बादरायणमतं परिगृह्य पूर्वं
श्रेयस्करेऽनधिगते खलु चोदनायाः ।
प्रामाण्यमुक्तमिदमस्य समन्वयस्य
वस्तुस्वरूपकथनेऽप्यविशिष्टमस्ति ॥ २९७ ॥

योजना—यत् पूर्वं बादरायणमतं परिगृह्य अनधिगते श्रेयस्करे खलु चोदनायाः प्रामाण्यम् उक्तम्। इदम् अस्य शब्दसमन्वयस्य वस्तुस्वरूपकथनेऽपि अविशिष्टम् अस्ति॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः)॥

योजितार्थ— जो पूर्वमीमांसा में (आचार्य जैमिनि ने) बादरायण-मत का आश्रयण कर अनधिगत धर्म में ही विधिवाक्य का प्रामाण्य बताया है, वह इस (वेदान्तगत) शब्द समन्वय के वस्तुस्वरूप-कथन में भी समान है॥

भावितार्थ—'अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणम्' (जै० सू० १।१।५) में आचार्य जैमिनि ने अज्ञातधर्म में विधिवाक्यों का प्रामाण्य सुस्थिर किया है। वह अज्ञात ब्रह्म के बोधक वाक्यों में विद्यमान है[1] ॥ २९७ ॥

केवल जैमिनि ही नहीं, उनके व्याख्यातृ-परम्परा के शबरस्वामी, कुमारिलभट्टादि भी वही कहते हैं—

मानान्तरानधिगतं त्ववगम्यमानं
मेयं भवेदिति हि मेयविदो वदन्ति ।
मानान्तरानधिगते विषयेऽवबोधं
कुर्वत्प्रमाणमिति मानविदां प्रसिद्धिः ॥ २९८ ॥

योजना—मानान्तरानधिगतम् अवगम्यमानं तु मेयं भवेदिति हि मेयविदो वदन्ति। मानान्तरानधिगते विषये अवबोधं कुर्वत् प्रमाणमिति मानविदां प्रसिद्धिः॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः)॥

---

[1] आशय यह है कि "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्" (जै० सू० १।१।५) इस सूत्र में महर्षि बादरायण के मत से अनुपलब्ध (अज्ञात) अर्थ में वेद का प्रामाण्य बताया गया है। अतः महर्षि बादरायण ने जिन वेदान्त-वाक्यों का विचार अपने ब्रह्म-सूत्रों में किया, उनका प्रामाण्य अज्ञात ब्रह्मरूप अर्थ में महर्षि जैमिनि को भी सम्मत है। महर्षि जैमिनि ने जो 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (जै० सू० १।१।२) सूत्र में चोदनात्व या कार्यार्थत्व को प्रामाण्य-प्रयोजक कहा है; वह केवल कर्मकाण्ड के वाक्यों को ही हृदय में रख कर।

योजितार्थ—प्रमाणान्तर से अनधिगत तथा अवगम्यमान (पदार्थ) प्रमेय होता है—ऐसा प्रमेयाभिज्ञ कहते हैं। प्रमाणान्तर से अनधिगत विषय की प्रमा का साधन प्रमाण है—ऐसा प्रमाण वेत्ता विद्वानों में प्रसिद्ध है ।। २९८ ।।

जैसे विधिवाक्य तथा धर्म में प्रमाण-प्रमेयभाव है, वैसे ही वेदान्तवाक्य तथा ब्रह्म में भी मानना होगा—

एवं सतीह यदि वेदशिरो न मानं
श्रेयस्करे विधिगिरोऽपि न मानता स्यात् ।
श्रेयस्करे विधिगिरो यदि मानता स्याद्
वस्तुस्वरूपकथनेऽपि समन्वयस्य ॥ २९९ ॥

योजना—एवं सति यदि इह वेदशिरो मानं न, विधिगिरोऽपि श्रेयस्करे मानता न स्यात्। यदि विधिगिरः श्रेयस्करे मानता स्यात्, समन्वयस्यापि वस्तुस्वरूपकथने ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ– ऐसा मानने पर यदि इस (ब्रह्म) में वेदान्तवाक्य प्रमाण नहीं, तब विधिवाक्य भी धर्म में प्रमाण न बनेंगे। यदि विधिवाक्यों को धर्म में प्रमाण माना जाता है, तब वेदान्त-समन्वय को भी ब्रह्म वस्तु में प्रमाण मानना ही पड़ेगा।

भावितार्थ—जब कि प्रमाण-प्रमेयभाव के प्रति अज्ञातार्थत्व और तत्परत्वमात्र ही प्रयोजक हैं, तब अज्ञातार्थ धर्म हो या ब्रह्म, दोनों ही प्रमेय हैं। एवं तत्परक वाक्य चाहे विधि हो या वेदान्त-वाक्य, दोनों प्रमाण मानने होंगे ।। २९९ ।।

मीमांसक शंका करता है कि निष्प्रयोजनार्थ-प्रतिपादक वाक्यों को प्रमाण नहीं माना जा सकता—

वस्तुस्वरूपकथने ननु नास्ति पुंसः
किञ्चित्फलं विधिवचःसु पुनः प्रवृत्तिः ।
संभाव्यते फलमतः किल वस्तुनिष्ठं
वाक्यं विधिस्तुतिपरं त्विति जैमिनीयाः ॥ ३०० ॥

योजना—ननु वस्तुस्वरूपकथने पुंसः किञ्चित् फलं नास्ति, विधिवचःसु पुनः प्रवृत्तिः फलं सम्भाव्यते। अतः वस्तुनिष्ठं वाक्यं तु विधिस्तुतिपरं किलेति जैमिनीयाः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—वस्तु-स्वरूप मात्र के कथन से पुरुष का कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, विधिवाक्यों का तो पुरुष-प्रवृत्ति ही फल सम्भावित है। अतः वस्तुस्वरूपपरक वाक्य केवल विधिस्तुतिपरक ही माने जा सकते हैं–ऐसा जैमिनिमतानुयायियों का मत है ॥

भावितार्थ– जैसे अर्थवाद वाक्यों में प्रवृत्ति-जनकतादि फल न होने से वे विधिवाक्य के शेष मात्र माने जाते हैं और विधि के साथ एकवाक्यतापन्न होकर ही प्रमाण होते हैं, वैसे ही वेदान्तवाक्य, विधिवाक्यों के समान प्रवृत्त्यादि फल के जनक नहीं, क्योंकि वे ब्रह्मस्वरूपमात्र के बोधक हैं और ब्रह्मस्वरूपमात्र के बोध से कोई प्रवृत्त या निवृत्त होता नहीं। अतः वेदान्त-वाक्य भी विधिवाक्यों के शेष हैं और विधिवाक्यों से एकवाक्यतापन्न होकर ही प्रमाण हो सकते हैं, स्वतन्त्र नहीं। ३०० ॥

उक्त शङ्का का समाधान करते हैं—

स्यादेतदेवमनवद्यपुमर्थसिद्धिः
वेदान्तवेद्यविषयावगतौ न चेत्स्यात् ।
स्वाराज्यमत्र कवलीकृतभोगभूमि
सम्पूर्णमस्य विदुषो भवतीति दृष्टम् ॥ ३०१ ॥

योजना—एतत् एवं स्याद्, चेत् वेदान्तवेद्यविषयावगतौ अनवद्यपुमर्थसिद्धिः न स्यात्। अत्र विदुषः कवलीकृतभोगभूमि संपूर्णं स्वाराज्यं भवतीति दृष्टम् ।। (व० छ०) ।।

योजितार्थ—यह (उक्त आक्षेप) तब हो सकता था, यदि वेदान्त-गम्य विषय का ज्ञान होने पर विशुद्ध पुरुषार्थ की सिद्धि न होती। किन्तु इस (वेदान्त) में ही 'ब्रह्मवेत्ता' को 'निखिल भोग-भूमि-सहित संपूर्ण जगत् का स्वाराज्य मिल जाता है'—ऐसा देखा गया है ।।

भावितार्थ—श्रुतियाँ स्पष्ट कहती हैं कि 'स स्वराड् भवति' (छा० ७।२५।२) अर्थात् वेदान्त-तत्त्ववेत्ता समस्त विश्व का एकच्छत्र साम्राज्य प्राप्त कर लेता है। उसके साम्राज्य में निखिल स्वर्गादि भोगभूमियाँ अन्तर्निहित होती हैं। इस प्रकार के सफल अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले वेदान्तवाक्य अप्रमाण कैसे हो सकते हैं? प्रामाण्य के लक्षण में सफलाज्ञातार्थ-ज्ञापकत्व मात्र प्रविष्ट है; प्रवर्तकत्व नहीं। अतः वेदान्त-वाक्य प्रवर्तक न होने पर भी अज्ञात और सफल ब्रह्म के बोधक होने से प्रमाण ही हैं ।।३०१।।

[1]आज्यावेक्षण के समान ब्रह्मावेक्षण को किसी का अङ्ग नहीं माना जा सकता—

यस्यापि विप्रुषि कृतार्थतया निषण्णाः
शक्रादयो जलचरा इव सागरस्य ।
प्रत्यक्स्वभावकमपास्तसमस्तदुःखं
तद्वैष्णवं सुखमवाप्तवतः किमन्यत् ॥ ३०२ ॥

योजना—सागरस्य (विप्रुषि) जलचरा इव यस्य विप्रुषि शक्रादयः कृतार्थाः निषण्णाः; तत् प्रत्यक्स्वभावकम् अपास्तसमस्तदुःखं वैष्णवं सुखम् अवाप्तवतः अन्यत् किम् ।। (वसन्ततिलकाच्छन्द) ।।

योजितार्थ—सागर के कोने में जलजन्तुओं के समान जिस आनन्द सागर के एक बिन्दु में इन्द्रादि अपने को कृतार्थ मान कर रह रहे हैं, उस प्रत्यक्स्वरूप, समस्त-दुःख-रहित वैष्णव सुख को प्राप्त कर लेनेवाले के लिए और क्या शेष रह जाता है?

भावितार्थ—श्रुति कहती है कि 'एतस्यानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृह० ४।३।३२) अर्थात् इस आनन्द महासागर का एक बिन्दुमात्र पाकर इन्द्रादि फूले नहीं समाते। उस आनन्द महार्णव को ज्ञानी अपना ही स्वरूप समझने लगता है। उससे बढ़ कर और कोई सुख नहीं, जिसके उद्देश्य से विहित किसी प्रधान कर्म का ब्रह्मेक्षण अङ्ग होता ।। ३०२ ।।

स्वर्गादि स्वल्प सुख की ज्ञानमात्र से प्राप्ति नहीं होती; फिर भला इतने महान् सुख की प्राप्ति ज्ञानमात्र से कैसे होगी? इस सन्देह का समाधान है—

---

१. अध्वर्यु की प्रेरणा से यजमान वेदीस्थ घृत का निरीक्षण करता है, उसी को आज्यावेक्षण कहते हैं। यह "आज्यमवेक्षेत"—इस विधि से विहित है।

अज्ञानमात्मविषयं भवहेतुभूतम्
प्रच्छादकं च परमात्मसुखस्य तूर्णम् ।
त्रय्यन्तवाक्यजनितात्ममतिर्विपाकम्
आसाद्य हन्ति यदि तत्र किमर्थनीयम् ॥ ३०३ ॥

योजना—यदि त्रय्यन्तवाक्यजनितात्ममतिः विपाकम् आसाद्य भवहेतुभूतम् परमात्मसुखस्य च आच्छादकम् आत्मविषयम् अज्ञानं हन्ति, तत्र किम् अर्थनीयम् ? (व० छ०) ॥

योजितार्थ—यदि वेदान्तवाक्य-जन्य आत्मज्ञान दृढ़ता को प्राप्त होकर परमात्मसुख के आच्छादक आत्मविषयक अज्ञान को तत्काल विध्वस्त कर देता है, तब और क्या चाहिए ?

भावितार्थ—स्वर्गादि लौकिक सुख के दृष्टान्त से उस अलौकिक सुख में प्रवृत्ति का समर्थन कदापि नहीं किया जा सकता, क्योंकि परमात्मसुख तो आत्मस्वरूप ही है। केवल अज्ञान से आच्छन्न है। वेदान्त-वाक्यजन्य आत्मज्ञान दृढ़ होकर उस अज्ञान का नाश कर देता है और उस अनन्त सुख का आविर्भाव हो जाता है। इसके लिए ज्ञानमात्र ही अपेक्षित है, कोई प्रवृत्ति नहीं ॥ ३०३ ॥

नित्य-प्राप्त परमात्मसुख की किसी को कामना कैसे होगी ? बिना कामना के उसके उपायभूत वेदान्तशास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्ति कैसे होगी ? इस सन्देह का समाधान करते हैं—

करमुष्टिनिविष्टिमुत्तमम्
कनकं प्रस्मरणादलब्धवत् ।
प्रतिभाति तदाप्तवाक्यतः
प्रतिपत्त्या लभते यथा जनः ॥ ३०४ ॥
परमात्मपदं पराकृत-
द्वितीयं प्राप्तमपि स्वभावतः ।
अनवाप्तवदेव लिप्सते
लभते चैवमयं प्रमाणतः ॥ ३०५ ॥

योजना—यथा करमुष्टिनिविष्टम् उत्तमं कनकं प्रस्मरणात् अलब्धवत् प्रतिभाति, आप्तवाक्यतः प्रतिपत्त्या जनः लभते। एवं स्वभावतः प्राप्तम् पराकृतद्वितीयं परमात्मपदम् अपि अनवाप्तवदेव अयं लिप्सते प्रमाणतः लभते च ॥ (सुन्दरीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—जैसे मुट्ठी में स्थित उत्तम सुवर्ण विस्मरण के कारण खोया हुआ-सा प्रतीत होता है , आप्त पुरुष के वाक्य से जानकर पुरुष उसे प्राप्त करता है। वैसे ही स्वभाव से प्राप्त द्वैत-रहित, परमात्मपद को भी अप्राप्त-सा समझ कर यह जन खोजता है और वेदान्तवाक्यप्रमाणों से उसे प्राप्त भी करता है ॥

भावितार्थ—प्राप्त-विस्मृत वस्तु की लिप्सा, खोज और प्राप्ति के समान ही आत्मसुख की लिप्सा, खोज और प्राप्ति का सामंजस्य किया जा सकता है। अर्थात् अप्राप्त वस्तु की ही कामना होती है, ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि प्राप्त विस्मृत वस्तु में

व्यभिचार है। अतः नित्य प्राप्त सुख की अभिलाषा क्यों न बनेगी ? अभिलाषा होने पर उसके उपाय क्षेत्र में भी पदार्पण करना पड़ेगा ॥ ३०४–३०५ ॥

मोक्ष में क्रिया-प्रवेश द्वार बन्द करते हैं—

न स्वाध्यायवदाप्यता न च पुनस्त्रेताग्निवज्जन्यता
न व्रीह्यादिवदस्य संस्कृतियुजा नो सोमवद्विक्रिया ।
पाठाधानजलोक्षणाभिषवणैः कूटस्थरूपं हि तद्
ब्रह्मापास्तविकारजन्ममरणं निश्रेयसं साधनैः ॥ ३०६ ॥

योजना–अस्य न स्वाध्यायवद् आप्यता, न च पुनः त्रेताग्निवत् जन्यता, न व्रीह्यादिवत् संस्कृतियुजा, नो सोमवत् विक्रिया। पाठाधानजलोक्षणाभिषवणैः साधनैः अपास्तजन्ममरणं निःश्रेयसम् (न साध्यते), तत् हि कूटस्थरूपम् ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—मोक्ष न तो स्वाध्याय के समान प्राप्य है, न श्रौत अग्नि के समान जन्य है, न व्रीह्यादि के समान संस्कार्य है और न सोमरस के समान विकार्य ही है। अतः अध्ययन, आधान, प्रोक्षण और अभिषव रूप साधनों से जन्ममरणातीत मोक्ष साध्य नहीं, क्योंकि वह कूटस्थरूप है ॥

भावितार्थ—ब्रह्मस्वरूप ही मोक्ष है। ब्रह्म किसी क्रिया से साध्य नहीं, क्योंकि चार प्रकार के ही साध्य पदार्थ देखे जाते हैं–[1]उत्पाद्य, आप्य, विकार्य और संस्कार्य। 'अग्नीन् आदधीत' (तै० ब्रा० १।१।२।६) इस वाक्य से विहित आधानरूप क्रिया से उत्पाद्य अलौकिक श्रौत अग्नि होती है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'–इस वाक्य से विहित अध्ययनरूप क्रिया से प्राप्य स्वाध्याय (स्वशाखा) होता है। 'सोममभिषुणोति'–इस विधि से विहित अभिषव (रस निकालना) रूप क्रिया से विहित सोम-रस होता है। एवं 'व्रीहीन् प्रोक्षति'–वाक्य से विहित प्रोक्षण क्रिया से संस्कार्य व्रीहि होते हैं। किन्तु ब्रह्म नित्य विभु कूटस्थ-स्वरूप है, अतः उसकी न तो उत्पत्ति हो सकती है, न प्राप्ति, न संस्कार और न विकार ॥

आपात प्रतीयमान आप्यता का निराकरण करते हैं—

ब्रह्मैव सन्निति वचः प्रथमश्रुतत्वाद्
अप्येतिशब्दमुपसंहरणस्थमुच्चैः ।
प्रच्यावयत्स्वविषयादुचिताद्बलीयो
ब्रह्मात्मनोरनतिरेकमसाध्यमाह ॥ ३०७ ॥

योजना—ब्रह्मैव सन्निति वचः प्रथमश्रुतत्वात् बलीयः, उपसंहरणस्थम् अप्येति-शब्दम् उचितात् स्वविषयात् उच्चैः प्रच्यावयत् ब्रह्मात्मनो असाध्यम् अनतिरेकम् आह ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—'ब्रह्मैव सन्'–यह वाक्य प्रथम श्रुत होने के कारण प्रबल है, इसलिए उपसंहारस्थ 'आप्येति'–इस पद को अपने वाच्यार्थ से बलपूर्वक हटाता हुआ जीव और ब्रह्म का असाध्य भूत अभेद बताता है ॥

---

१. आधान कर्म से अलौकिक अग्नि की उत्पत्ति, अध्ययन से अपनी शाखा की प्राप्ति (कण्ठस्थता), अवघात से व्रीहि में विकार (तुषविमोक) तथा प्रोक्षण संस्कार से व्रीहि में संस्कार (अदृष्ट) जाता है।

भावितार्थ—यद्यपि 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृह० ४।४।६) इस वाक्य से ब्रह्म में आप्यता प्रतीत होती है, तथापि उपसंहार की अपेक्षा उपक्रम प्रबल हुआ करता है, क्योंकि उपक्रम असंजातविरोधी और उपसंहार संजातविरोधी होता है। 'ब्रह्मैव सन्'—यह उपक्रम है और 'अप्येति'—यह उपसंहार। उपक्रम और उपसंहार दोनों की एकवाक्यता करने के लिए उपक्रम के अनुसार ही उपसंहार का अर्थ करना होगा। 'ब्रह्मैव सन्'—इस उपक्रम से स्पष्टतः जीव और ब्रह्म का अभेद सिद्ध होता है। अतः दुर्बल 'अप्येति' पद अपने प्राप्तिरूप अर्थ का परित्याग कर देता है ॥ ३०७ ॥

शङ्का होती है कि वाक्य में नाम (सुबन्त) पद गौण और आख्यात (तिङन्त) पद प्रधान हुआ करता है। इस रीति से 'अप्येति' पद प्रधान रूप से अपने वाच्यार्थ को ही कहेगा तथा 'ब्रह्मैव सन्'—यह नाम पद आख्यातार्थ के अनुकूल ही रहेगा, विपरीत नहीं, इस शङ्का का समाधान है—

आग्नेय इत्याद्यपि तद्धितान्तम्
अष्टाकपालादि समन्वितं सम् ।
आख्यातशब्दस्य धुरं बिभर्ति
भव्यार्थसंवित्तिनिबन्धनत्वात् ॥ ३०८ ॥

योजना—'आग्नेय' इत्यादि तद्धितान्तमपि अष्टाकपालादिसमन्वितं सत् आख्यातशब्दस्य धुरं बिभर्ति, भव्यार्थसंवित्तिनिबन्धनत्वात् ॥ (इन्द्रवज्राच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—'आग्नेय'—यह तद्धितान्त नाम पद भी अष्टाकपालादि नाम पदों से युक्त ('आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशः' के रूप में) होकर 'भवति'—इस आख्यात पद से अपेक्षित मुख्यार्थ का समर्पण करता है, क्योंकि भव्यार्थ-बोध का जनक है ॥

भावितार्थ—'भूतं भव्यायोपदिश्यते' न्याय के अनुसार भूतार्थक पद गौण और भव्यार्थक पद प्रधान माना जाता है। अधिकतर भूतार्थ-बोधक नाम पद और भव्यार्थ-बोधक आख्यात पद होते हैं, अतः नाम पद की अपेक्षा आख्यात को प्रधान कह दिया जाता है। वस्तुतः भव्य (साध्य) अर्थ का समर्पक पद प्रधान होता है, चाहे वह स्वरूपतः नाम हो ? या आख्यात ? यहाँ 'आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति'—इस वाक्य में 'आग्नेय'—पद (अग्निर्देवता अस्येति) तद्धितान्त नाम पद द्रव्य और देवता के सम्बन्ध का बोधक है। द्रव्य, देवता का सम्बन्ध यागादि भव्यार्थ के बिना नहीं हो सकता, अतः 'अष्टाकपालः' पद से युक्त होकर 'आग्नेय'—यह नाम पद ही यागरूप भव्यार्थ का समर्पण करने से प्रधान माना जाता है और 'भवति'—यह आख्यात पद उसी अर्थ का अनुवादमात्र करता है, अतः गौण है ॥ ३०८ ॥

आख्यातपद भी भूतार्थ का समर्पण करने पर गौण ही होता है—

आख्यातमेव सदिदं भवतीति नाम
भव्येतरार्थमतिजन्मनिबन्धनत्वात् ।
अप्येतिशब्दमपि तद्वदिमं प्रतीमो
भव्येतरार्थगतबुद्धिनिबन्धनत्वात् ॥ ३०९ ॥

योजना—भवतीति इदम् आख्यातमपि सत् नामैव भव्येतरार्थमतिजन्मनिबन्धनत्वात्। इमम् अप्येतिशब्दमपि तद्वत् प्रतीमः भव्येतरार्थगतबुद्धिनिबन्धनत्वात् ।।(व०छ०)।।

योजितार्थ—'अष्टाकपालो भवति' यहाँ 'भवति'—यह पद साध्य-भिन्न (सिद्ध) अर्थ के ज्ञान का जनक है। इस (ब्रह्माप्येति में) 'अप्येति' पद को भी हम वैसा ही समझ रहे हैं; क्योंकि साध्य-भिन्न (सिद्ध) अर्थ के ज्ञान का जनक है ।।

भावितार्थ—'आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति'–यहाँ 'भवति' पद यद्यपि स्वरूपतः क्रिया पद है; किन्तु अर्थतः 'नाम' ही है; क्योंकि यह भवन (सत्ता) का बोधक है और भवन कोई साध्य (अनुष्ठेय) पदार्थ नहीं। इसी प्रकार 'ब्रह्म सन् ब्रह्माप्येति' वाक्य में 'अप्येति' शब्द भी भव्यार्थक नहीं; क्योंकि ब्रह्मरूपता की प्राप्ति का यह बोधक है। अब्रह्म के उद्देश्य से ब्रह्मरूपता प्राप्ति का विधान सम्भव नहीं और ब्रह्म के उद्देश्य से भी। जीव में ब्रह्मरूपता मोक्ष यदि साध्य हो, तब वह जन्य अर्थात् अनित्य हो जायगा ।। ३०९ ।।

अतः 'अप्येति' पद भव्यार्थक न होने से गौण और 'ब्रह्म' पद प्रधान है—

ब्रह्मैव सन्नितिगिरं प्रति शेषितायै
नाप्येतिगीरियमलं कथितोपपत्तेः ।
आख्यातमेव खलु नाम पदस्य शेषि
नाऽऽख्यातमेतदनृतत्वनिवेदकत्वात् ॥ ३१० ॥

योजना—'ब्रह्मैव सन्' इति गिरं प्रति शेषितायै इयम् अप्येतिगीः अलं न; कथितोपपत्तेः। आख्यातपदमेव ? खलु नामपदस्य शेषि। एतत् आख्यातं न, अनृतत्वनिवेदकत्वात्। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—'ब्रह्मैव सन्'- इस शब्द के प्रधान बनने में यह 'अप्येति' पद समर्थ नहीं, क्योंकि इसकी उपपत्ति की जा चुकी है। आख्यात पद ही नाम पद का शेषी (प्रधान) होता है। यह (अप्येति पद) आख्यात नहीं, क्योंकि वह प्राप्तिरूप अनृतार्थ का बोधक है।

भावितार्थ—असंजातविरोधित्वन्याय का भावार्थाधिकरण-न्याय से बाध करके वादी ने जो 'अप्येति' इस आख्यात पद का प्राधान्य और 'ब्रह्मैव सन्' का अप्राधान्य स्थापित किया। वहाँ सिद्धान्ती का कहना यह है कि 'आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलम्'–इस न्याय से यहाँ आख्यात पद दुर्बल और उपक्रमस्थ 'ब्रह्मैव सन्'–यह प्रबल, अत एव प्रधान है ।। ३१० ।।

'ब्रह्मैव सन्'–यह यदि प्रधान है, तब 'अप्येति' शब्द को वाच्यार्थ से अवश्य च्युत करेगा—

ब्रह्मैव सन्निति ततः प्रथमश्रुतं सद्
अप्येति शब्दमपसारयति स्ववाच्यात् ।
अस्याङ्गभावविरहादमुना सहातो
ब्रह्मात्मनोरनतिरेकमुशन्ति धीराः ॥ ३११ ॥

योजना—ततः 'ब्रह्मैव सन्' इति प्रथमश्रुतं सत् अप्येति शब्दं स्ववाच्यात् अपसारयति; अमुना सह अस्य अङ्गभावविरहात्, अतः धीराः ब्रह्मात्मनोः अनतिरेकम् उशन्ति ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—इसलिए 'ब्रह्मैव सन्'—यह शब्द प्रथम श्रुत होने के कारण 'अप्येति'

पद को अपने वाच्य अर्थ से हटाता है, क्योंकि इस (अप्येति) शब्द का इस (ब्रह्मैव) शब्द में अङ्गत्व नहीं बनता। अतः ब्रह्मनिष्ठ आचार्य ब्रह्म और जीव का अभेद भी चाहते हैं।

भावितार्थ—'गुणे त्वन्यायकल्पना'—इस न्याय के आधार पर गौणीभूत 'अप्येति' पद की अभेदार्थ में लक्षणा करके 'ब्रह्मैव सन्' के साथ अभेद ही यहाँ विवक्षित है ॥३११॥

वस्तुतः यहाँ ज्ञानकाण्ड में 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' – न्याय नहीं लगता, अपि तु उसके विपरीत 'भूताय भव्योपदेशः'—

भव्याय भूतमिति किं च विधिप्रधाने
काण्डे नयोऽयमिह तद्विपरीतमाहुः ।
भूताय भव्यमिति भूतपरं हि सर्वं
वेदावसानमिति सूत्रकृदाचचक्षे ॥ ३१२ ॥

योजना—किञ्च विधिप्रधानकाण्डे 'भूतं भव्याय' इत्ययं नयः। इह तद्विपरीतं 'भूताय भव्यमिति आहुः, सूत्रकृत् हि भूतपरं सर्वं वेदावसानमिति आचचक्षे ॥ (व० छ०)॥

योजितार्थ दूसरी बात यह भी है कि विविध प्रधान-काण्ड में ही 'भूतं भव्यायोपदिश्यते'—यह न्याय लगता है। इस (ज्ञानकाण्ड) में उसके विपरीत 'भूताय भव्योपदेशः'—यह न्याय लगता है, क्योंकि सूत्रकार (भगवान् व्यास) ने सिद्ध ब्रह्मपरक ही समस्त वेदान्त बताया है ॥

भावितार्थ—ज्ञानकाण्ड में कर्मकाण्ड के न्यायों का विपरीतवाही हो जाना नैसर्गिक है। कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति भव्य के लिए और ज्ञानकाण्ड की भूत के लिए प्रसिद्ध ही है। यहाँ 'सर्वं वेदावसानम्' और 'सर्ववेदावसानम्' दो पाठ उपलब्ध होते हैं। प्रथम पक्ष में अर्थ होता है–समस्त वेदान्त को सिद्धार्थपरक 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) में सूत्रकार ने कहा है। दूसरे पक्ष में समस्त वेदों का पर्यवसान (तात्पर्य) सिद्धार्थावगम में सूत्रकार ने बताया है—'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेः' (ब्र० सू० ३।४।२६)॥ ३१२ ॥

इस न्याय से भी 'ब्रह्मैव सन्' यही मुख्य ठहरता है—

ब्रह्मैव सन्निति ततोऽपि बलिष्ठमेतत्
अप्येति शब्दमवसानगतं व्यपेक्ष्य ।
तस्मादमुष्य परिपीडकमेतदेव
ब्रह्मैव सन्निति पदं गुणकल्पनायै ॥ ३१३ ॥

योजना–ततोऽपि ब्रह्मैव सन्नित्येतत् अवसानगतम् अप्येतिशब्दम् अपेक्ष्य बलिष्ठम्। तस्मात् एतत् ब्रह्मैव सन्निति पदम् एव अमुष्य गुणकल्पनायै परिपीडकम् ॥ (व० छ०) ॥

योजितार्थ—उस (उक्तं भूताय भव्योपदेशः) न्याय से भी 'ब्रह्मैव सन्'–यह शब्द उपसंहारस्थ अप्येति' शब्द की अपेक्षा बलिष्ठ है। इसलिए 'ब्रह्मैव सन्'—यह पद ही इस (अप्येति शब्द) का गौण अर्थ निकालने के लिए पीडक (अप्येति पद को मुख्यार्थ से गिराने वाला) है ॥ ३१३ ॥

इसलिए ब्रह्मभाव (मोक्ष) साध्य न होनें से इसमें कर्मादि-जन्यत्व सम्भव नहीं—

निःश्रेयसं न खलु साध्यमतः क्रियाभिः
ज्ञानेन वा द्वयसमुच्चयवर्त्मना वा ।
उत्पत्तिराप्तिविकृती च न संस्कृतिश्च
यस्मान्न संभवति वर्णितवर्त्मनेह ॥ ३१४ ॥

योजना—अतः क्रियाभिः, ज्ञानेन वा, समुच्चयवर्त्मना वा निश्रेयसं न खलु साध्यम् यस्मात् वर्णितवर्त्मना इह उत्पत्तिः आप्तिविकृती संस्कृतिश्च न सम्भवति।। (व० छ०) ।।

योजितार्थ—अतः क्रिया से या ज्ञान से या ज्ञानकर्म-समुच्चय से मोक्ष साध्य नहीं, क्योंकि उक्त युक्तियों से इस (निःश्रेयस) में उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति संभव नहीं ।

भावितार्थ—गत (३०६) पद्य में कहा जा चुका है कि ब्रह्मरूप मोक्ष की न उत्पत्ति हो सकती है, न आप्ति, न विकृति और न संस्कृति । अतः मोक्ष किसी से भी साध्य नहीं, क्योंकि साध्यत्व का व्यापक है उत्पत्त्याद्यन्यतमत्व । व्यापक के न होने से व्याप्य नहीं रह सकता । फलतः जो लोग मोक्ष को कर्मों से या ज्ञानकर्म-समुच्चय से जन्य मानते हैं, उनका निराकरण हो जाता है ।। ३१४ ।।

अतः वेदान्तवाक्यों में प्रवृत्यादि-रहित-सिद्ध वस्तु की बोधकता दोष नहीं, गुण ही है—

तस्मात् प्रवृत्तिविनिवृत्तिविवर्जितत्वं
ब्रह्मात्मवस्तुविषयावगतेर्न दोषः ।
सर्वप्रवर्तकनिवर्तकमूलदाहात्
स्वाराज्यहेतुरिति भूषणमेव तन्नः ।। ३१५ ।।

योजना—तस्मात् ब्रह्मात्मवस्तुविषयावगतेः प्रवृत्तिविनिवृत्तिविर्वजितत्वं दोषो न, सर्वप्रवर्तकनिवर्तकमूलदाहात् स्वाराज्यहेतुरिति तत् नः भूषणमेव ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः)।

योजितार्थ—इसलिए ब्रह्मात्मवस्तुविषयक ज्ञान में प्रवृत्तिनिवृत्ति-रहितत्व कोई दोषनहीं, अपितु समस्त प्रवर्तक (राग) तथा निवर्तक (द्वेष) के मूल (अज्ञान) का दाहक होने से स्वाराज्य (मोक्ष) का हेतु है, अतः वह (प्रवृत्त्यादि-रहितत्व) हमारा भूषण है ।।

भावितार्थ—धर्मज्ञान का धर्म में प्रवर्त्तक न होना तथा अधर्म-ज्ञान का अधर्म से निवर्त्तक न होना अवश्य दूषण है, ब्रह्मज्ञान का प्रवर्त्तक या निवर्त्तक न होना भूषण है, क्यों कि ब्रह्म-ज्ञान सकल प्रवर्त्तक निवर्त्तक रागद्वेषादि का समूल उच्छेद करके मोक्ष की प्राप्ति कराता है ।। ३१५ ।।

गत (११३ वें पद्य में कथित) ब्रह्म में अज्ञातत्वासम्भव आक्षेप का समाधान करते हैं,—

अज्ञाततापि घटतेऽत्र दृशोनुभूतेः
जानामि नाहमिति दृश्यपि दृश्यते हि ।
अज्ञाततानुभवनं न च वास्तवं तद्
अज्ञाततोद्वहति कल्पितताां हि तस्याः ॥ ३१६ ॥

योजना—अत्र दृशोऽज्ञातता अपि घटते, अनुभूतेः हि अहं जानामीति दृश्यपि

अज्ञाततानुभवनं दृश्यते । तत् वास्तवं न च, अज्ञातता तस्या कल्पितताम् उद्वहति ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—हमारे मत से ब्रह्म में अज्ञातता भी घट जाती है, क्योंकि अनुभव के आधार पर 'नाहं जानामि'—इस प्रकार ब्रह्म में भी अज्ञातता का दर्शन किया जाता है। (अज्ञातत्वानुभव) वास्तविक नहीं, क्योंकि उस (ब्रह्म) की अज्ञातता (अपने में) कल्पितता धारण करती है ॥

भावितार्थ—ज्ञानस्वरूप चैतन्य में अज्ञातत्व 'अहं न जानामि'—इस अनुभव के आधार पर वैसे ही माना जाता है, जैसे शुक्ति में रजत । चेतन-समसत्ताक अज्ञातत्व उसमें सम्भव नहीं, अतः वह कल्पित ही मानना होगा । इसीलिए 'नाहं जानामि'—यह अनुभव भी 'इदं रजतम्' के समान वास्तविक (प्रमाण) नहीं माना जाता ॥ ३१६ ॥

[अज्ञानस्वरूपनिरूपणम्]

अज्ञान का स्वाभिमत स्वरूप और स्वभाव बताते हैं—

अज्ञानमित्यजडबोधतिरस्क्रियात्मा
जाड्यं च मौढ्यमिति च प्रकृतिः प्रसिद्धा ।
सा चातिदुःस्थितवपुर्दृशमद्वितीयाम्
आलिङ्गति स्म घृतपिण्ड इवाग्निमिद्धम् ॥ ३१७ ॥

योजना—अजडबोधतिरस्क्रियात्मा प्रकृतिः अज्ञानं जाड्यं मौढ्यमिति च प्रसिद्धा । सा च अतिदुःस्थितवपुः अद्वितीयां दृशं इद्धम् अग्निम् घृतपिण्डः इव आलिङ्गति ॥(व०छ०)

योजितार्थ— चेतन बोध की आवरण रूप प्रकृति ही अज्ञान, जाड्य तथा मौढ्यादि नामों से प्रसिद्ध है । वह अनिर्वचनीयस्वरूप है । वह अद्वितीय चेतन का वैसे ही आलिङ्गन करती है, जैसे घृत-पिण्ड प्रज्वलित अग्नि का ॥

भावितार्थ—जड़स्वरूप प्रपञ्च की प्रकृति (उपादानकारण) भी जड़ ही माननी होगी । लाघव से वह एक सिद्ध होती है । इसी लिए समस्त कार्यवर्ग में जड़ता अनुस्यूत है । उपादानातिरिक्त जाड्य में कोई प्रमाण नहीं । उपादान अज्ञान ही है । वही जाड्य है अपने में जड़-व्यवहार का हेतु है । एवम् 'अज्ञो मूढोऽहम्' आदि अनुभव के आधार पर अज्ञान ही मौढ्य सिद्ध होता है । वह निष्प्रतियोगिक भावरूप है । जिस अग्नि की दाह-शक्ति प्रतिबद्ध है, उस अग्नि पर घृत के लेप के समान वह अज्ञान चेतन-तत्त्व का आलिङ्गन करता हुआ स्थित है और चेतन पर अज्ञातता आरोपित (प्रस्फुरित) करता है॥३१७॥

शास्त्र-प्रसिद्ध तिमिरादि अनेक शब्दों से भावरूप अज्ञान का उल्लेख हुआ है—

चिद्वस्तुनश्चिति भवेत्तिमिरं तमिस्रम्
तामिस्रमन्धतमसं जडिमा तमिस्रा ।
माया जगत्प्रकृतिरच्युतशक्तिराख्यं
निद्रा सुषुप्तिरनृतं प्रलयो गुणैक्यम् ॥ ३१८ ॥

योजना—चिद्वस्तुनः[1] चिति तिमिरं, तमिस्रं, तामिस्रम्, अन्धतमसं, जडिमा, तमिस्रा,

---

[1] कर्मणि षष्ठीयम्, सप्तमी चाधारे ।

माया, जगत्प्रकृति, अच्युतशक्तिः आन्ध्यं, निद्रा, सुषुप्तिः, अनृतं, प्रलयः, गुणैक्यं भवेत् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—चिद्वस्तु को विषय करनेवाला चिद्वस्तु में ही अज्ञान तिमिर, तमिस्र, तामिस्र, अन्धतमस, जडिमा, तमिस्रा, माया, जगत्, प्रकृति, अच्युत-शक्ति, आन्ध्य, निद्रा, सुषुप्ति, अनृत, प्रलय और गुण-साम्य शब्दों से प्रसिद्ध होता है ॥

भावितार्थ—चेतनविषयक चेतनाश्रित अज्ञान ही तिमिरादि अनन्त शब्दों से शास्त्रों में प्रसिद्ध है ॥ ३१८ ॥

अज्ञान के विषय और आश्रय एक ही शुद्ध चेतन है—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी
निर्विभागचितिरेव केवला ।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो
नाऽऽश्रयो भवति नापि गोचरः[1] ॥ ३१९ ॥

योजना—केवला निर्विभागचितिरेव आश्रयत्वविषयत्वभागिनी । पूर्वसिद्धतमसः हि पश्चिमः नाश्रयो भवति, नापि गोचरः ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—केवल अविभक्त चिति ही (अज्ञान का)आश्रय और विषय होती है। पूर्वसिद्ध अज्ञान का पश्चाद्भावी (जीव) न तो आश्रय होता है और न विषय ॥

भावितार्थ—अज्ञान के आधार पर जीव और ईश्वर का विभाग होता है, अतः अज्ञान का आश्रय और विषय न तो जीव हो सकता है और न ईश्वर। किन्तु जीवेश्वर-विभागशून्य अद्वितीय शुद्ध चेतन ही आश्रय भी है और विषय भी । यद्यपि जीवादि विभाग अनादि माना जाता हैं, अज्ञान तथा जीवादि में पौर्वापर्य बनता नहीं, तथापि वह विभाग वास्तविक नहीं, अपितु मायिक ही है। अतः वह अज्ञान-प्रयुक्त होने से अज्ञान का आश्रय नहीं बन सकता। अन्यथा अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। इसीलिए जड़ पदार्थ भी अज्ञान का आश्रय नहीं बन सकता, किन्तु पूर्ण ब्रह्म ही अज्ञान का आश्रय भी है और विषय भी । ३१९ ॥

पूर्वं (१२१ वें पद्य) में जो आक्षेप किया कि 'अज्ञानमप्यसद्भावतया प्रसिद्धेः' । उसका समाधान करते हैं—

नाभावताऽस्य घटते वरणात्मकत्वात्
नाभावमावरणमाहुरभावशौण्डाः ।
अज्ञानमावरणमाह च वासुदेवः
तद्भावरूपमिति तेन वयं प्रतीमः ॥ ३२० ॥

योजना—अस्य अभावता न घटते, वरणात्मकत्वात्, अभावशौण्डाः अभावम् आवरणं न आहुः । वासुदेवः अज्ञानम् आवरणम् आह । तेन वयं तत भावरूपं प्रतीमः ॥(व०छ०)

---

[1] "अहमज्ञः" प्रतीति में भी अहंकारोपहित शुद्ध चेतन ही अज्ञान का आश्रय माना जाता है, अहंकार या अहंकार-विशिष्ट चेतन नहीं। शुद्ध चेतन के आश्रित रह कर भी अज्ञान अपना संसार बन्धन जीव में ही उत्पन्न करता है, क्योंकि उपाधि का स्वभाव है कि वह प्रतिबिम्ब पर ही अपना कार्य उत्पन्न करती है, बिम्ब पर नहीं। जीव प्रतिबिम्ब है, शुद्ध चेतन बिम्ब, अतः अज्ञान उपरूपाधि जीव में संसार रचती है। ३२७ वें पद्य में ग्रन्थकार स्वयं कहने वाला है।

योजितार्थ—इस (अज्ञान) में अभावरूपता नहीं बन सकती, क्योंकि आवरणरूप है। अभावतत्त्वाभिज्ञ विद्वान् अभाव को आवरणरूप नहीं कहते। भगवान् वासुदेव ने भी अज्ञान को आवरणरूप कहा है। इसलिए हम उसे भावरूप ठहराते हैं।

भावितार्थ—अज्ञान चेतन का आवरक (आच्छादक) है, अतः अभावरूप नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव को आवरक कोई नहीं मानता। भगवान् वासुदेव नें कहा है—'अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्' (गी० ५।१५) अर्थात् अज्ञान ने ज्ञान को आवृत कर (ढक) रक्खा है। अतः हमारे सिद्धान्त में अज्ञान भावरूप है, अभाव नहीं ॥ ३२० ॥

व्यास-वचन से भी यही सिद्ध होता है—

एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रुः
अज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन् ! ।
येनाऽऽवृतः कुरुते संप्रमत्तो
घोराणि कर्माणि सुदारुणानि ॥ ३२१ ॥

योजना—राजन् ! पुरुषस्य एकः शत्रुः, अज्ञानतुल्यो द्वितीयः शत्रुः नास्ति। आवृतः संप्रमत्तः घोराणि सुदारुणानि कर्माणि करुते ॥ ([1]उपजातिच्छन्दः) ॥

भावितार्थ—हे राजन् पुरुष का एक ही शत्रु है, अज्ञान के समान दूसरा शत्रु नहीं, जिससे आवृत तथा प्रमादी बनकर (यह पुरुष) घोर, सुदारुण कर्मों को कर बैठता है ॥ ३२१ ॥

अज्ञान की भावरूपता में अर्थापत्ति भी प्रमाण है—

जाड्यं जगत्यनुगतं खलु भावरूपं
मौढ्यं च पुङ्गतमिति प्रतिभाति तादृक् ।
जाड्यं च मौढ्यमिति चानुभवप्रसिद्धम्
अज्ञानमाहुरपवर्गपिधानदक्षम् ॥ ३२२ ॥

योजना—जगति अनुगतं जाड्यं भावरूपं खलु, पुङ्गतं मौढ्यमपि च तादृक् प्रतिभाति। जाड्यं मौढ्यमिति च अनुभवप्रसिद्धम् अज्ञानम् अपवर्गपिधानदक्षम् आहुः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—जगत् में अनुगत जड़ता भावरूप ही है, पुरुषगत मूढ़ता भी वैसो ही प्रतीत होती है। जड़ता और मूढ़ता के रूप में अनुभव-सिद्ध अज्ञान ही ब्रह्म का आच्छादक कहा जाता है ॥

योजितार्थ—जगत् में सर्वत्र अनुस्यूत जाड्य जडात्मक उपादान का कल्पक है। उसी प्रकार पुरुषगत मौढ्य भी वैसा ही है। इस प्रकार बाहर जड़रूप से और अन्दर मौढ्यरूप से अनुभूयमान अज्ञान ही बन्ध-कारण है ॥ ३२२ ॥

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ३।१।१) आदि श्रुतियाँ ब्रह्म को जगत् का उपादान बताती हैं, तब अज्ञान जगत् की प्रकृति (उपादान) कैसे माना जा सकता है ? इस सन्देह का समाधान –

---

[1] यहाँ प्रथम तृतीय पाद वातोर्मी के तथा द्वितीय चतुर्थ इन्द्रवज्रा के हैं।

साभासमेतदुपजीव्य चिदद्वितीया
संसारकारणमिति प्रवदन्ति धीराः ।
साभासमेतदिति संसृतिकारणत्वे
द्वारं परं भवति कारणता दृशस्तु ॥ ३२३ ॥

योजना—साभासम् एतद् उपजीव्य अद्वितीया चित् संसारकारणमिति धीराः प्रवदन्ति । संसृतिकारणत्वे साभासमेतत् परं द्वारं भवति, कारणता तु दृशः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—साभास अज्ञान का आश्रयण करके ही अद्वितीय चेतन संसार का कारण होता है—ऐसा ब्रह्मनिष्ठ आचार्य कहते हैं। संसार की कारणता में साभास अज्ञान केवल द्वार होता है, कारणता तो चेतन में ही रहती है ॥

भावितार्थ—कूटस्थ ब्रह्म में श्रुतिसिद्ध कारणता तब तक नहीं बन सकती, जब तक अज्ञान का आश्रयण न हो। अर्थात् ब्रह्म में विवर्ताधिष्ठानता का निर्वाह करने के लिए अज्ञान को जगत् की प्रकृति मानना ही होगा। हाँ, मुख्यतः जगत् की कारणता चेतन में ही है, साभास अज्ञानता तो द्वारमात्र है। केवल अज्ञान द्वार नहीं बन सकता, अतः कहा—साभासम्। चिदाभास-विशिष्ट अज्ञान जगत् का परिणामी उपादान बन सकता है ॥३२३॥

सांख्यवैशेषिकादिमत का निराकरण करते हैं—

यावद् दृशोऽन्यदिह संसृतिकारणं तद्
वेदान्तवादिसमये न मतं जडत्वात् ।
यद्यज्जडं भवति संसृतिकारणं तत्
नेति स्फुटं वदति सूत्रकृदत्र यस्मात् ॥ ३२४ ॥

योजना—दृशोऽन्यत् यावत् संसृतिकरणम्, तावद् इह वेदान्तवादिसमये न मतम्, जडत्वात् । यस्मात् यद् यद् जडं भवति, तत् संसृतिकारणं नेति सूत्रकृत् स्फुटं वदति ॥ (व० छ०)

योजितार्थ—चेतन से भिन्न जो कुछ भी संसार का कारण प्रसिद्ध है, वह इस वेदान्त-सिद्धान्त में नहीं माना जा सकता, क्योंकि जड़ है। जो-जो जड़ होता है, वह संसार का कारण नहीं होता—ऐसा भगवान् सूत्रकार कहते हैं ॥

भावितार्थ—'ईक्षितेर्नाऽशब्दम्' (ब्र० सू० ३।१।५) आदि सूत्रों में भगवान् व्यास ने स्पष्टरूप से कह दिया है कि सांख्यवैशेषिकादि-मत-सिद्ध प्रकृति परमाणु आदि जड़वर्ग स्वतन्त्ररूप से जगत् के कारण नहीं बन सकते। अतः वेदान्त-सिद्धान्त में चेतन को ही जगत् का कारण माना जाता है ॥ ३२४ ॥

"रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्' (ब्र० सू० २।१।१) आदि सूत्रों में सांख्यादि मतों के निराकरण से भी यही सिद्ध होता है—

अजडकारणभावनिबन्धनं
सकलमेव जडं न तु कारणम् ।
इति हि वेदशिरःसु विचक्षणाः
कपिलपक्षनिराकरणे जगुः ॥ ३२५ ॥

योजना—सकलमेव जडम् अजडकारणभावनिबन्धनम्, न तु कारणम्—इति हि वेदशिरःसु विचक्षणाः कपिलपक्षनिराकरणे जगुः ॥ (द्रुतविलम्बितच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—समस्त जड़ पदार्थ, चेतन की कारणता में द्वारमात्र हैं न कि स्वयं कारण, ऐसा वेदान्त-विचक्षण आचार्यों ने सांख्यमत के निराकरण में कहा है ॥

भावितार्थ—हमारे सूत्रकार तथा भाष्यकार आदि ने सांख्यादि मतों के निराकरण में स्पष्ट घोषित कर दिया है कि जड़वर्ग केवल द्वार होता है, स्वतन्त्र कारण नहीं ॥ ३२५ ॥

जगत्-कारणतावाद में वेदान्त के एकदेशी का मत दिखाते हैं—

शबलमात्मपदेन निगद्यते
सकलमात्मजमित्यपि च श्रुतिः ।
शबलमात्मपदं जगतस्ततः
प्रकृतिरित्यपरे च जना जगुः ॥ ३२६ ॥

योजना—आत्मपदेन शबलं निगद्यते । सकलम् आत्मजमित्यपि च श्रुतिः (दर्शयति) । ततः शबलम् आत्मपदं जगतः प्रकृतिरिति च अपरे जनाः जगुः ॥(द्रुतविलम्बितच्छन्दः)॥

योजितार्थ—'आत्म' पद से विशिष्ट (अज्ञान-विशिष्ट) चेतन कहा जाता है । सकल (जगत्) आत्मा से जन्य है—यह भी श्रुति कहती है । अतः विशिष्ट चेतन रूप आत्मा ही जगत् की प्रकृति (उपादान कारण) है, ऐसा अन्य विद्वान् कहते हैं ॥

भावितार्थ—'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' (तै० २।१।१) आदि श्रुतियाँ कहती हैं कि सकल जगत् आत्मा से उत्पन्न हुआ है । यहाँ अज्ञान-विशिष्ट ब्रह्म ही 'आत्मा' शब्द का वाच्य है । अतः अज्ञान-विशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है । इसीलिए जगत् में अज्ञान की जड़ता और ब्रह्म की चेतनता सर्वत्र अनुस्यूत है ॥ ३२६ ॥

इस प्रकार जगत् का अधिष्ठान विशिष्ट होने पर भी कर्ता विशिष्ट नहीं—

सुकृतदुष्कृतकर्मणि कर्तृतां
मतिगतात्मचितिप्रतिबिम्बकम् ।
व्रजति तद्वददः परमात्मनो
जगति याति तमः प्रतिबिम्बकम् ॥ ३२७ ॥

योजना—(यथा) मतिगतात्मचितिप्रतिबिम्बकं दुष्कृत-सुकृतकर्मणि कर्तृतां व्रजति, तद्वत् जगति अदः परमात्मनः तमः-प्रतिबिम्बकम् ॥ (द्रुतविलम्बितच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—(जैसे) बुद्धि-गत चैतन्य-प्रतिबिम्बरूप जीवात्मा में ही पुण्य-पाप कर्मों का कर्तृत्व रहता है, वैसे ही यह (जगत्-कर्तृत्व) भी अज्ञानगत परमात्म-प्रतिबिम्ब में होता है ॥

भावितार्थ—इस मत में जैसे अन्तःकरण में चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ही पुण्यादि कर्मों का कर्त्ता माना जाता है, वैसे ही अज्ञान में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब (ईश्वर) ही जगत् का कर्त्ता होता है, अज्ञान-विशिष्ट चैतन्य नहीं ॥ ३२७ ॥

प्रतिबिम्ब में कर्तृत्व ही बन सकता है, उपादान-कारणत्व नहीं—

सुकृतदुष्कृतयोः शबला यथा
भवति कारणमात्मचितिस्तथा ।
गगनवायुपुरःसरकारणम्
परमचेतनता शबलाकृतिः ॥ ३२८ ॥

योजना—यथा शबला आत्मचितिः सुकृतदुष्कृतयोः कारणम्, तथा शबलाकृतिः परमचेतना गगनवायुपुरःसरकारणम् । (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—जैसे विशिष्ट चैतन्य ही पुण्य-पाप का उपादान कारण होता है, वैसे ही शबलरूप (विशिष्ट) चेतन ही आकाश आदि का उपादान कारण होता है ॥

भावितार्थ— जैसे अन्तःकरण-विशिष्ट चैतन्य ही पुण्य-पापरूप परिणाम का उपादान कारण माना जाता है, वैसे ही अज्ञान-विशिष्ट चैतन्य ही जगत् का उपादान हो सकता हैं, प्रतिबिम्बमात्र नहीं ॥ ३२८ ॥

उक्त मत का विशदीकरण करते हैं—

शबलता कवलीकृततावशात्
परमचेतनतैव निगद्यते ।
शबलमात्मपदेन न कथ्यते
शबलमात्मनि वृत्तिनिबन्धनम् ॥ ३२९ ॥

योजना—आत्मपदेन शबलताकवलीकृततावशात् परमचेतनतैव निगद्यते; न शबलम् कथ्यते । शबलम् आत्मनि वृत्तिनिबन्धनम् । (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—शबलतारूप उपाधि से विशिष्ट होने के कारण शुद्ध चेतन 'आत्मपद' का विषय होता है, विशिष्ट नहीं । शबलता तो केवल 'आत्मा' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है ।

भावितार्थ—आत्मादि पदों का वाच्य विशिष्ट चेतन नहीं, क्योंकि प्रकृत में जिज्ञास्य तत्त्व को 'आत्म' शब्द से कहा गया है । जिज्ञास्य तत्त्व तो शुद्ध चेतन ही है । हाँ, उपाधि सम्पर्क के बिना वह शुद्ध तत्त्व किसी भी शब्द का वाच्य नहीं हो सकता है । अतः 'शबलता' उपाधिमात्र है, शुद्ध चेतन में 'आत्मादि' शब्दों की प्रवृत्ति का निमित्तमात्र है, वाच्यकोटि-प्रवृष्ट नहीं ॥ ३२९ ॥

आत्मादि पदों का वाच्य विशिष्ट चेतन होता है, यह भ्रममात्र है—

शबलतापरिधानसमन्वयात्
परमचेतनताऽऽत्मगिरः पदम् ।
भवति तेन जनस्य तु विभ्रमः
शबलमात्मगिरः पदमित्ययम् ॥ ३३० ॥

योजना—शबलतापरिधानसमन्वयात् परमचेतनना आत्मगिरः पदम् । तेन तु जनस्य शबलम् "आत्मगिरः पदम्" इत्ययं विभ्रमो भवति ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—शबलतारूप उपाधि के सम्बन्ध से ही परब्रह्म 'आत्मा' पद का वाच्य

(होता है)। इसलिए ही साधारण व्यक्ति को "विशिष्ट चेतन आत्मपद-वाच्य है"—यह विभ्रम हो जाता है ॥

भावितार्थ—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २।१।१) इस वाक्य के द्वारा ब्रह्म में अनन्तता की प्रतिज्ञा की गई। उसके अनन्तर "यो वेद निहितं गुहायाम्" (तै० २।१।१) इस वाक्य में गुहा-प्रवेश से प्रत्यगात्मता दिखाई गई। उसमें अनन्तता की उपपत्ति के लिए ही नानात्व का निषेध भी किया गया। उस अनन्त-ब्रह्म से विजातीय गगनादि पदार्थों का भेद निवृत करने के लिए उसमें गगनादि सृष्टि का अध्यारोप किया गया। उसमें गगनादि कार्य में कारणमात्ररूपता सिद्ध की गई। अतः "आत्मनः आकाशः सम्भूतः"—इस श्रुति से अति शुद्ध ब्रह्म ही आकाशादि का कारण सिद्ध होता है; विशिष्ट नहीं। हाँ, आत्मपद की प्रवृत्ति का निमित्त जो उपाधि है, उसे भी लोग भ्रम से वाच्य कोटि में प्रविष्ट कर लेते हैं ॥ ३३० ॥

शुद्ध ब्रह्म में आत्मपद-वाच्यता तथा गगनादि कारणतामात्र की ही यह रीति नहीं, अपितु सकल व्यवहार का यही प्रकार है—

बहु निगद्य किमत्र वदाम्यहं
शृणुत संग्रहमद्वयशासने।
सकलवाङ्मनसातिगता चितिः
सकलवाङ्मनसव्यवहारभाक् ॥ ३३१ ॥

योजना—अत्र अहं बहु निगद्य किं वदामि ? अद्वयशासने संग्रहं शृणुत ! सकलवाङ्मनसातिगता चितिः सकलवाङ्मनसव्यवहारभाक् (॥ द्रु० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—इस विषय में मैं बहुत क्या कहूँ ? अद्वैतसिद्धान्त का संग्रह सुनिए। सकल वागादि का अगोचर शुद्ध चेतन ही सकल वाचिकादि व्यवहारों का विषय होता है।

भावितार्थ—जैसे रजतादि-व्यवहार की आयोग्य भी शुक्ति, अज्ञान के योग से रजतव्यवहार की विषय बनती है, वैसे ही सकल क्रिया कारकादि-व्यवहार के अयोग्य भी शुद्ध चेतन अज्ञानरूप उपाधि के सम्बन्ध से 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि' (श्वे० ४।३) आदि सकल व्यवहार का विषय बन जाता है ॥ ३३१ ॥

अज्ञान में सर्वव्यवहार-निर्वाहकता उचित दृष्टान्त से सिद्ध की जाती है—

चित्रायागः पशुफल इति श्रूयमाणेऽपि चित्राऽ-
पूर्वं द्वारं पशुफलतयाऽऽक्षिप्यते तत्र तद्वत्।
चैतन्यात्मा जगदुदयकृत् श्रूयतेऽत्रापि पश्चात्
मायादीनां भवति जगति द्वारभावः फलेऽस्मिन् ॥ ३३२ ॥

योजना—'चित्रायागः पशुफलः'—इति श्रूयमाणेऽपि पशुफलतया तत्र द्वारं चित्रापूर्वम् आक्षिप्यते तद्वत् 'चैतन्यात्मा जगदुदयकृत् श्रूयते' अत्रापि पश्चात् अस्मिन् जगति फले मायादीनां द्वारभावः भवति ॥ (मन्दाक्रान्ताच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—'चित्रायाग पशुफलक है'—ऐसा श्रुति के प्रतिपादन करने पर भी (याग में) पशु-फलता की अन्यथानुपपत्ति से वहाँ द्वारभूत चित्राजन्य अपूर्व का जैसे

आक्षेप किया जाता है, वैसे ही 'चैतन्यात्मा जगत् का कारण है'—ऐसा श्रुति कहती है। यहाँ भी पश्चात् इस जगद्रूप फल के लिए मायादि में द्वाररूपता सिद्ध होती है ॥

भावितार्थ—'चित्रया यजेत् पशुकामः' (तै० सं० २।४।६) यह श्रुति चित्रा संज्ञक याग में पशुरूप फल की साधनता बताती है। किन्तु जब यह देखा जाता है कि क्षणिक याग में कालान्तरभावी फल की साधनता साक्षात् सम्भव नहीं, तव मध्य में एफ द्वारभूत अपूर्व की कल्पना की जाती है। उसी प्रकार 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' (तै० २।१।१) यहाँ भी शुद्ध आत्मा में गगनादि-कारणता की उपपत्ति के लिए यह कहा जाता है कि माया के द्वारा ब्रह्म जगत् का उपादान बनता है ॥ ३३२ ॥

'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) इस सूत्र में प्रतिपादित जगत्कारणत्व तभी ब्रह्म का तटस्थ लक्षण बनेगा, जब कि शुद्ध ब्रह्म में कारणता मानी जाय—

कारणत्वमुपलक्षणं चितेः
ब्रह्मणो न खलु तद्विशेषणम् ।
इत्यपीदमुपपद्यते तदा
चेतना भवति कारणं यदा ॥ ३३३ ॥

योजना—कारणत्वं चितेः ब्रह्मणः उपलक्षणम् तद्विशेषणं न खलु, इतीदमपि तदा उपपद्यते, यदा चेतना कारणं भवति ।। (रथोद्धताच्छन्द) ॥

योजितार्थ—जगत्कारणत्व चेतन ब्रह्म का उपलक्षण ही है उसका विशेषण नहीं—यह (सिद्धान्त) भी तभी उपपन्न हो सकता है, जब कि शुद्ध चेतन जगत् का कारण हो ॥

भावितार्थ—लक्ष्य ब्रह्म का जगत्कारणत्व विशेषण नहीं, अपितु उपलक्षण है—यह वक्ष्यमाण वेदान्त-सिद्धान्त भी शुद्ध आत्मा में कारणता मानने से ही उपपन्न होता है। अज्ञानमात्र में जड़ता के कारण कारणत्व अनुपपन्न ही है। अज्ञान-विशिष्ट को कारण मानने पर जगत्कारणत्व विशेषण ही हो जायगा ॥ ३३३ ॥

अन्य को कारण मानने पर भी कारणत्व ब्रह्म का उपलक्षण भी न बन सकेगा—

अन्यदेव यदि कारणं भवेत्
कारणत्वमुपलक्षणं कथम् ।
चेतनस्य घटतेऽन्यगामिना
वस्तु नान्यदुपलक्ष्यते यतः ॥ ३३४ ॥

योजना—यदि अन्यदेव कारणं भवेत्, (तदा) कारणत्वम्, चेतनस्य उपलक्षणं कथं घटते ? यतः अन्यगामिना अन्यत् वस्तु उपलक्ष्यते न ॥ (रथोद्धताच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—यदि (शुद्ध चेतन से) भिन्न ही कोई कारण हो, तब कारणत्व चेतन का उपलक्षण कैसे बनेगा ? क्योंकि अन्य वृत्ति धर्म से अन्य वस्तु उपलक्षित नहीं होती ॥

भावितार्थ—यदि अज्ञानमात्र को या अज्ञान-विशिष्ट चेतन को जगत् का कारण माना जाय, तब वह कारणत्व शुद्ध ब्रह्म का उपलक्षण न बन सकेगा; क्योंकि केवल अज्ञान एवं अज्ञानविशिष्ट चेतन से शुद्ध चेतन भिन्न होता है। अतः विशिष्ट-वृत्ति धर्म केवल

विशेष्य चेतन का उपलक्षण नहीं बन सकता। वह धर्म कदापि उपलक्षण नहीं कहा जा सकता, जो अपने लक्ष्य में न रहता हो ।। ३३४ ।।

प्रसङ्गागत अज्ञान में द्वारत्व का वर्णन किया, अब महाप्रकृत ब्रह्म में अज्ञातत्व-निरूपण का उपसंहार करते हैं—

अनवबुद्धमतः श्रुतिमस्तकै-
विषयतामुपपादयितुं क्षमम् ।
अनुभवात्मपदं तमसा यतः
पिहितमेतदिह प्रतिभासते ॥ ३३५ ॥

योजना—अतः अनवबुद्धं श्रुतिमस्तकैः विषयताम् उपपादयितुं क्षमम्, यतः इह अनुभवात्मपदं तमसा पिहितं प्रतिभासते ।। (द्रुतविलम्बितच्छन्दः) ।।

योजितार्थ— अतः अज्ञात आत्मा में वेदान्त वाक्यों के द्वारा विषयता का उपपादन किया जा सकता है; क्योंकि इस (साक्षी) में अनुभव रूप आत्मा अज्ञान से आवृत प्रतीत होता है ।।

भावितार्थ—पूर्व कथित रीति से जब कि आत्मा अज्ञान से आवृत (अज्ञात) है, तब उसका ज्ञान (प्रकाश) कराने में वेदान्त प्रमाण का उपयोग निर्विवाद सिद्ध हो जाता है ।। ३३५ ।।

पूर्व (१२० वें पद्य में) कथित अनिवर्चनीय के आक्षेप का समाधान करते हैं—

अज्ञानकल्पितमनिर्वचनीयमस्मिन्
आबालवृद्धमविवादपदं प्रसिद्धम् ।
स्वप्ने तथा च भगवानपि वक्ष्यतीदम्
सन्ध्येऽस्ति सृष्टिरिति पक्षनिराससिद्ध्यै ॥ ३३६ ॥

योजना—अस्मिन् अज्ञानकल्पितम् अनिर्वचनीयं आबालवृद्धम् अविवादपदं प्रसिद्धम् । तथा च स्वप्ने । भगवानपि सन्ध्ये सृष्टिरस्तीति पक्षनिराससिद्ध्यै इदं [1]वक्ष्यति ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—इस जाग्रत् काल में शुक्ति-रजतादि अज्ञानकल्पित पदार्थ अनिर्वचनीय हैं—यह एक बालक से लेकर वृद्ध तक निर्विवाद प्रसिद्ध है; वैसा ही स्वप्न में भी। भगवान् (सूत्रकार) भी 'सन्ध्ये सृष्टिः' (ब्र० सू० ३।२।१) इस पूर्वपक्ष का निरास करने के लिए (अनिर्वचनीयता) कहेंगे ।।

भावितार्थ—जाग्रत्-अनुभव, स्वप्नानुभव एवं सूत्रकार के वचनों से अनिर्वचनीय पदार्थ की सिद्धि की जा सकती है। शुक्ति में प्रतीयमान रजत को सत् और असत् से विलक्षण (अनिर्वचनीय) मानना पड़ता है। स्वप्न-सृष्टि को भी वैसा ही माना जाता है। भगवान् सूत्रकार ने 'सन्ध्ये सृष्टिराह हि' (ब्र० सू० ३।२।१) इस प्रकार के स्वप्न में वास्त-

---

[1] वक्ष्यतीति भविष्यत्ता प्रयोगस्तु तार्तीयविचारस्य समन्वयविचारात् पश्चाद्भावित्वात् आर्थिकक्रममभिप्रेत्येति द्रष्टव्यम् ।

विक सृष्टि के पूर्वपक्ष का निराकरण करनेके लिए कहा है—'मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' (ब्र० सू० ३।२।३) अर्थात् स्वप्न में वास्तविक सृष्टि की सामग्री न होने के कारण मायामात्र ही मानना पड़ता है, यही अनिर्वचनीयता है ।। ३३६ ।।

यदि समस्त प्रपञ्च स्वप्नवत् कल्पित है, तब कल्पित शास्त्र तथा आचार्य सत्य ब्रह्म का बोध कैसे करा सकते हैं ? इस शङ्का का समाधान है—

मिथ्या सुषिः सवितृमण्डलमध्यवर्ती
प्रत्यक्षदृष्टिपथमापतितोऽचिरेण ।
द्रष्टुः शरीरकरणप्रविभागरूपं
मृत्युं निवेदयति सत्यमिदं प्रसिद्धम् ॥ ३३७ ॥

योजना—प्रत्यक्षदृष्टिपथम् आपत्ततिः सवितृमण्डलमध्यवर्ती मिथ्या सुषिः, द्रष्टुः अचिरेण शरीरकरणप्रविभागरूपं मृत्युं निवेदयति—इदं सत्यं प्रसिद्धम् ।। (व० छ०) ।।

योजितार्थ—प्रत्यक्ष दृष्टिपथ में आया हुआ सूर्यमण्डलगत मिथ्या छिद्र, द्रष्टा की शीघ्र स्थूल से सूक्ष्म शरीर के विभागरूप मृत्यु का सूचक होता है–यह सत्य प्रसिद्ध है ।

भावितार्थ—शास्त्राचार्यादि सभी अज्ञान-कल्पित हैं, मिथ्या हैं–यह स्वीकार किया ही जाता है । मिथ्या से सत्य की सिद्धि भी देखी जाती है । जैसे कि सूर्यमण्डल में देखा गया है कि मिथ्या छिद्र द्रष्टा की सत्य मृत्यु का सूचक होता है । आशय यह है कि मिथ्या से सत्य का निर्माण सम्भव नहीं; किन्तु मिथ्या से सत्य की सूचना सम्भव है । कई बार मिथ्या स्वप्नों से भावी सत्य घटनाओं की सूचना मिला करती है । एवं मणि आदि के आभास से सत्य मणि की सूचना, मिथ्या प्रतिबिम्बों से सत्य बिम्ब की सूचना सदा पाई जाती है । इसी प्रकार मिथ्या शास्त्राचार्यों से सत्य ब्रह्म की यथार्थ सूचना में कोई आपत्ति नहीं हो सकती ।। ३३७ ।।

भगवान् सूत्रकार ने स्पष्ट कहा है—

स्वप्नः शुभाशुभफलागमसूचकः स्यात्
मिथ्याऽपि सन्निति च सूत्रकृदाह यत्नात् ।
गुर्वादिसर्वमिदमद्वयबुद्धिहेतुः
मायानिबन्धनमिति प्रतिपादनाय ॥ ३३८ ॥

योजना–मायानिबन्धनम् अद्वयबुद्धिहेतुः इति प्रयत्नात् प्रतिपादनाय स्वप्नः मिथ्याऽपि सन् शुभाशुभफलागमसूचकः स्यात् · इति च सूत्रकृत् इदं सर्व गुर्वादि आह।। (व०छ०)।।

योजितार्थ—माया–निमित्तक यह समस्त गुरु-आदि प्रपञ्च अद्वयात्म-बुद्ध का हेतु होता है—यह यत्नपूर्वक बताने के लिए ही भगवान् सूत्रकार ने 'स्वप्न मिथ्या होता हुआ शुभाशुभ फलप्राप्ति का सूचक होता है'—ऐसा कहा है ।

भावितार्थ—सूत्रकार ने कहा है—'सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः' (ब्र० सू० ३।२।४) अर्थात् 'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति, (छां० ५।२।६) आदि श्रुतियों के आधार पर यह दृढ़तापूर्वक सिद्ध किया जा सकता है कि मिथ्या स्वप्न भी भावी शुभ-अशुभ फलों के सूचक होते हैं । सूत्रकार का यह कहना विस्पष्ट रूप से सूचित

कर रहा है कि शास्त्र आचार्यादि समस्त साधन मायिक होनें पर भी सत्य ब्रह्म के बोधक हो सकते हैं ॥ ३३८ ॥

भ्रान्ति के विषयभूत पदार्थों में अनिर्वचनीयता सिद्ध करते हैं—

भ्रान्तिप्रतीतिविषयो न च सन्नचासन्
आकाशतत्कुसुमयोर्न हि सास्ति नापि ।
तस्या भवेत्सदसदात्मकगोचरत्वं
न ह्यस्ति तत्किमपि यत्सदसत्स्वरूपम् ॥ ३३९ ॥

योजना—भ्रान्तिप्रतीतिविषयः न सन् न च असन्, आकाशतत्कुसुमयोः हि सा नास्ति । तस्याः सदसदात्मकगोचरत्वम् अपि न, तत् हि किमपि नास्ति; यत् सदसत्स्वरूपम् । (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—भ्रान्ति-प्रतीति का विषय न सत् है और न असत्; क्योंकि आकाशादि (सत्) तथा आकाशकुसुमादि (असत्) पदार्थों की वह (भ्रान्ति) नहीं होती। वह (भ्रान्ति) सदसद्रूप वस्तु को भी विषय नहीं कर सकती; क्योंकि वैसी कोई वस्तु ही नहीं, जो सदसत् उभयरूप हो ॥

भावितार्थ—भ्रम के विषयभूत रजतादि को सत् भी नहीं कह सकते और असत् भी नहीं; क्योंकि आकाशादि सत् पदार्थों का बाध नहीं हो सकता, किन्तु रजतादि का बाध होता है । एवं आकाश-कुसुम आदि असत् पदार्थों की प्रतीति ही नहीं होती; किन्तु रजतादि की प्रतीति होती है । इसी प्रकार उक्त रजतादि को सदसत् उभयरूप भी नहीं कह सकते; क्योंकि विश्व में कोई वस्तु सदसद् उभयरूप होती ही नहीं ॥ ३३९ ॥

अतः रजतादि को सदसत् उभय-विलक्षण (अनिर्वचनीय) ही मानना होगा—

आलम्बनं च विरहय्य न विभ्रमस्य
ज्ञानात्मनो भवति जन्म कदाचिदत्र ।
सिद्धं ततः सदसती व्यतिरिच्य किञ्चिद्
आलम्बनं भ्रमधियः सकलप्रवादे ॥ ३४० ॥

योजना—अत्र आलम्बनं विरहय्य च ज्ञानात्मनो विभ्रमस्य जन्म कदाचित् न भवति । ततः सकलप्रवादभ्रमधियः सदसती व्यतिरिच्य किञ्चित् आलम्बनं सिद्धम् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इस लोक में आलम्बन (विषय) को छोड़कर ज्ञानरूप भ्रम का जन्म कभी नहीं होता । इसलिए सभी मतों में भ्रमज्ञान का सत् तथा असत् उभय से भिन्न कोई विषय सिद्ध होता है ॥

भावितार्थ—कोई भी ज्ञान निरालम्बन (निर्विषय) नहीं होता । भ्रम भी ज्ञान ही है, अतः इसका भी कुछ विषय कहना होगा । सत् , असत् और सदसत् उभयरूप हो नहीं सकता, यह कहा जा चुका है, अतः सदसत् उभय-विलक्षण ही कहना होगा । वही अनिर्वचनीय है ॥

पूर्व (१२२ वें पद्य में) कहा गया था कि वेदान्तवाक्य परोक्ष ज्ञान के ही जनक होंगे, अपरोक्ष ज्ञान के नहीं; अतः ब्रह्मविषयक अपरोक्ष ज्ञान की हेतुता वेदान्त-वाक्यों में नहीं बन सकती । उसका प्रतीकार करते हैं—

ब्रह्मात्मवस्तु निरवद्यचिदेकरूपं
वह्न्युष्णतावदपरोक्षवपुःस्वभावात् ।
निर्दोषवेदशिरसो वचनादतोऽस्मिन्
ब्रह्मात्मवस्तुनि भवेदपरोक्षबुद्धिः ॥ ३४१ ॥

योजना—ब्रह्मात्मवस्तु निरवद्यचिदेकरूपं वह्न्युष्णतावत् स्वभावात् अपरोक्षवपुः, अतः अस्मिन् ब्रह्मात्मवस्तुनि निर्दोषवेदशिरसः अपरोक्षबुद्धिः भवेत् ॥ (व० छ०) ॥

योजितार्थ—ब्रह्मात्मवस्तु शुद्ध चैतन्यरूप होने से वह्न्युष्णता के समान स्वभावतः अपरोक्ष है, अतः इस ब्रह्मात्मवस्तु का स्वतः निर्दुष्ट वेदान्त-वाक्यों से अपरोक्ष ज्ञान होगा ॥

भावितार्थ—सभी वाक्य परोक्ष बोध के ही उत्पादक होते हैं–इस नियम का 'दशमस्त्वमसि' व्यभिचार देखकर यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि वाक्यों से परोक्ष वस्तु का ज्ञान परोक्ष और अपरोक्ष वस्तु का अपरोक्ष ज्ञान होता है। ब्रह्म वैसे ही स्वभावतः अपरोक्ष है, जैसे कि अग्नि स्वभावतः उष्ण है। अपरोक्ष वस्तु पर कोई दोष आ जाने से यह परोक्ष जैसी प्रतीत होने लगती है; किन्तु ब्रह्म सदा निर्दुष्ट है। वेदवाक्य भी भ्रम प्रमादादि दोषों से रहित है। ब्रह्म के अपरोक्ष न होने में यदि कोई दोष है, तो वह अन्तःकरणगत मल। इसके दूर होते ही पुरुष को वेदान्त वाक्यों से ब्रह्म का अपरोक्ष बोध हो जाता है॥

पूर्व (१२६ वें पद्य में) कथित वेदान्त वाक्यों की निष्प्रयोजनता का निराकरण करते हैं–

सा चोपनेयरहिते विषयिण्यनन्तेऽ–
निर्वाच्यमग्रहणमात्रमपाकरोति ।
स्वोत्पत्तिलब्धनिजवस्तुबलेन तत्र
तापत्रयं समुपशाम्यति निर्निमित्तम् ॥ ३४२ ॥

योजना–सा च [1]स्वोत्पत्तिलब्धनिजवस्तुबलेन उपनेयरहिते अनन्ते विषयिणि अनिर्वाच्यम् अग्रहणमात्रम् अपाकरोति। तत्र तापत्रयं निर्निमित्तं समुपशाम्यति ॥ (व०छ०) ॥

योजितार्थ— वह (वेदान्तवाक्य-जन्य बुद्धि) उत्पत्ति समय से ही अपने में अभिव्यक्त चैतन्य के द्वारा अनन्त चैतन्य में अनिर्वचनीय अज्ञानमात्र का अपाकरण करती है। वहाँ आध्यात्मिकादि तीनों ताप स्वयं ही शान्त हो जाते हैं ॥

भावितार्थ—वेदान्त-जन्य अपरोक्ष वृत्ति अनन्त चेतन में अध्यस्त आवरणमात्र का निराकरण करती है। जड़ वृत्ति में ऐसा सामर्थ्य कैसे आया? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए कहा–स्वोत्पत्तिलब्धनिजवस्तुबलेन। अर्थात् उक्त वृत्ति अपनी उत्पत्तिमात्र से प्राप्त अपने ब्रह्माकारत्व रूप असाधारण बल के आधार पर अज्ञान का विनाश कर डालती है; उसे और किसी बल की अपेक्षा नहीं। अज्ञान अनिर्वचनीय है। अतः ज्ञानमात्र से विनष्ट हो जाता है। अज्ञान का कार्य आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक प्रपञ्च अपने निमित्त (अज्ञानरूप कारण) के विनाश से स्वयं शान्त हो जाता है। अज्ञान और अज्ञान के कार्य की आत्यन्तिक निवृत्ति ही उक्त वृत्ति का प्रयोजन है ॥ ३४२ ॥

---

[1] स्वोत्पत्तितः एवं लब्धमभिव्यक्तं यन्निजमसाधारणवस्तु चैतन्यं तद्बलेनेत्यर्थः ।

[वेदान्तानां कार्यपरत्वनिरासः]

कथित कार्यान्वित-शक्तिवाद का निरास करते हैं—

वाक्यात्प्रवर्त्तकनिवर्त्तकरूपभाजः
पुंसः प्रवृत्तिमुपलभ्य धियोऽनुमानात् ।
कार्यान्विते शिशुरवैति पदस्य शक्तिम्
इत्युच्यते यदि तु तत्र वयं वदामः ॥ ३४३ ॥

योजना—प्रवर्तकनिवर्त्तकरूपभाजः वाक्यात् पुंसः प्रवृत्तिम् उपलभ्य धियः अनुमानात् शशुः कार्यान्विते पदस्य शक्तिम् अवैति—इति यदि उच्यते, तत्र वयं तु वदामः ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—प्रवर्तक-निवर्त्तक कार्यस्वरूप विषयक (गामानयादि) वाक्यों के द्वारा पुरुष की प्रवृत्ति-निवृत्ति को देखकर (पुरुषगत) ज्ञान का अनुमान करके बालक कार्यान्वित अर्थ में शब्द की शक्ति का ज्ञान करता है—यह जो कहा था, उस पर हमारा कहना है ।। १४३ ।।

अपना वक्तव्य स्पष्ट करते हैं—

योग्येतरान्वितपदार्थनिवेदने तु
शब्दस्य शक्तिरिह वृद्धजनप्रयोगे ।
विज्ञायते न खलु कार्यसमन्वितेऽर्थे
कार्याभिधायिषु पदेष्वपि तत्प्रसङ्गात् ॥ ३४४ ॥

योजना—इह खलु वृद्धजनप्रयोगे योग्येतरान्वितपदार्थनिवेदने तु शब्दस्य शक्तिः विज्ञायते, कार्यान्विते अर्थे न खलु, कार्याभिधायिषु पदेष्वपि तत्प्रसङ्गात् ।। (व० छ०) ।।

योजितार्थ—यहाँ वृद्धजनों के वाक्य प्रयोगों में योग्य इतर पदार्थ से अन्वित स्वार्थ में ही पद की शक्ति निश्चित होती है, कार्यान्वित अर्थ में नहीं; (नहीं तो) कार्य-वाचक पदों में भी उसकी प्रसक्ति होगी ।।

भावितार्थ—यदि यह नियम किया जाय कि सभी पदों की शक्ति कार्यान्वित अर्थ में ही होती है । तब तो जैसे आनयनादि कार्य से अन्वित गवादि अर्थों में 'गो' आदि पदों की शक्ति मानी जाती है, वैसे ही 'आनय' आदि पदों की भी कार्यान्तर से अन्वित आनयनादि कार्य में शक्ति-ग्रह होना चाहिए । किन्तु ऐसा अनुभव में आता नहीं । अतः उक्त नियम का आनयनादि पदों में व्यभिचार हो जाने से योग्य इतर अर्थ से अन्वित स्वार्थ में पदों की शक्ति माननी होगी । इस प्रकार गवादि रूप इतरार्थान्वित आनयनादि अर्थों में 'आनय' आदि पदों की शक्ति उपपन्न हो जाती है ।। ३४४ ।।

कार्यार्थ-वाचक 'आनय' आदि पदों की भी इतर कार्यार्थान्वित अर्थ में शक्ति मानने पर अनवस्था होगी—

कार्यान्वितार्थविषया यदि शब्दशक्तिः
कार्यार्थवाचिषु लिङादिषु कार्यमन्यत् ।
वक्तव्यमापतति तत्र च तत्र चान्यद्
वक्तव्यमेव भवतीत्यनवस्थितिः स्यात् ॥ ३४५ ॥

योजना— यदि शब्दशक्तिः कार्यान्वितार्थविषया, (तदा) कार्यार्थवाचिषु लिङादिषु अन्यत् कार्यं वक्तव्यम् आपतति, तत्र च अन्यत् कार्यं वक्तव्यं भवत्येवेति अनवस्थितिः स्यात् ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—यदि शब्द-शक्ति (नियमतः) कार्यार्थ से अन्वित अर्थ में ही होगी, (तब) कार्यार्थ-वाचक लिङादि शब्दों में अन्य कार्य कहना पड़ेगा । उसके (वाचक शब्द) में भी अन्य कार्य कहना होगा—इस प्रकार अनवस्था होगी ।।

भावितार्थ—जिस इतर कार्यार्थ से अन्वित कार्य में लिङादि की शक्ति है, वह इतर कार्य भी अन्य लिङादि से गम्य होता है, अतः उसमें भी कार्यान्तर का अन्वय मानना पड़ेगा । इस प्रकार प्रत्येक कार्य में इतर कार्यान्वय-लाभ के लिए अनवरत कार्यधारा मानने में अनवस्था दोष होता है ।। ३४५ ।।

अनवस्था तोड़ने के लिए यदि इतरकार्यान्वित में लिङादि की शक्ति न मानकर सिद्धार्थ से अन्वित कार्य अर्थ में शक्ति मानी जाय, तब स्वीकृत नियम भंग होता है—

सिद्धान्वितं यदि लिङादिपदानि कार्यं
ब्रूयुर्विनश्यति तदा नियमस्त्वदीयः ।
यो वर्णितः सकलमेव पदं स्वमर्थं
कार्यान्वितं वदति नान्यदिति स्वशास्त्रे ।। ३४६ ।।

योजना—यदि लिङादि पदानि सिद्धान्वितं कार्यं ब्रूयुः, तदा त्वदीयः नियमः विनश्यति, यः सकलं पदं कार्यान्वितं स्वम् अर्थमेव वदति, नान्यद्—इति स्वशास्त्रे वर्णितः ।। (वसन्ततिलकाछन्दः) ।।

योजितार्थ—यदि लिङादि पद सिद्धार्थ से अन्वित कार्य को कहते हैं, तब आपका (वह) नियम विनष्ट हो जायगा, जो कि 'सकल पद कार्यान्वित स्वार्थ को ही कहते हैं, अन्य को नहीं'—इस प्रकार आपके शास्त्र में वर्णित है ।। ३४६ ।।

अतः पूर्व (३४४ वें पद्य में) वर्णित इतरार्थान्वित स्वार्थ में शक्ति मानना लाघव है-

योग्येतरान्वितनिमित्तकशब्दशक्ति-
व्युत्पत्तिरेव यदि संभवभागिनी स्यात् ।
आश्रीयते किमिति कार्यसमन्वितेऽर्थे
शब्दस्य शक्तिरसदर्थविशेषणेन ।। ३४७ ।।

योजना—यदि 'योग्येतरान्वितनिमित्तशब्दशक्तिव्युत्पत्तिः एव सम्भवभागिनी स्यात् (तदा) असदर्थविशेषणेन कार्यसमन्वितेऽर्थे शब्दस्य शक्तिः किमिति आश्रीयते ? (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—यदि योग्य इतर अर्थ से अन्वित स्वार्थ में ही शब्द-शक्ति-ग्रह सम्भव है, (तब) कार्यरूप विशेषण लगा कर कार्यान्वित में शब्द की शक्ति क्यों मानी जाती है ?

भावितार्थ—'व्यभिचरित अर्थ में शब्द-शक्ति नहीं होती' इस नियम के आधार पर

---

[1] योग्येतरान्वितेति । भावप्रधानोऽयं निर्देशः । योग्येतरान्वितत्वं निमित्तं प्रयोजकं यस्याः शब्दशक्तेः, तद्व्युत्पत्तिरित्यर्थः । योग्येतरान्विते शक्तिग्रह इति यावत् ।

व्यक्ति में शक्ति की उपेक्षा कर सर्वत्राव्यभिचरित जाति में शक्ति की स्थापना आकृत्यधिकरण (पू० मी० १।३।१०) में की गई है। उसी नियम के बल पर व्यभिचरित कार्यार्थ से अन्वित स्वार्थ में शक्ति सिद्ध न होकर अव्यभिचरित योग्य इतर अर्थ से अन्वित स्वार्थ में ही शब्द-शक्ति सिद्ध होती है ।। ३४७ ।।

अन्वितार्थ में शक्ति-सामञ्जस्य हो जाने पर कार्यरूप अधिक विशेषण लगाना सर्वथा निरर्थक है —

यत्राविशेषितनिमित्तकताविरोधे
किञ्चिन्निवारकमुदीक्षितमस्तु तत्र ।
किञ्चिद्विशेषणविशिष्टमभीष्टशक्तेः
वस्तु प्रयोजकमिदं पुनरत्र नास्ति ।। ३४८ ।।

योजना—यत्र अविशेषितनिमित्तकताविरोधे किञ्चित् निवारकम् उदीक्षितम् तत्र अभीष्टशक्ते : किञ्चिद्विशेषणविशिष्टं वस्तु प्रयोजकम् अस्तु, अत्र पुनः इदं नास्ति ।। (वसन्ततिलकाच्छन्द) ।।

योजितार्थ—जहाँ सामान्य वस्तु को प्रयोजक मानने में कोई बाध देखा जाय, वहाँ अभिमत शक्ति की प्रयोजकविशेष विशेषण से विशिष्ट वस्तु ही होती है, किन्तु यहाँ वह (बाधक) नहीं ।।

भावितार्थ—किसी भी विशेषण की सार्थकता तभी बन सकती है, जब कि उस से रहित अर्थ के कार्य-सम्पादन में कोई आपत्ति हो। जैसे केवल अर्थ में पद की शक्ति मानने पर अन्वय अंश में अशाब्दत्वापत्ति होती है, अतः अन्वितार्थ में ही शब्द-शक्ति मानी जाती है। अब कार्यरूप विशेषण से रहित केवल अन्वितार्थ (योग्येतरार्थान्वितार्थ) में शक्ति मानने पर कोई आपत्ति या बाधक उपस्थित नहीं होता। अतः कार्यरूप विशेषण सर्वथा निरर्थक है ।। ३४८ ।।

इसी प्रकार कार्यान्वयान्वयित्व विशेषण भी व्यर्थ है—

कार्यान्वयान्वयिनि वस्तुनि शब्दशक्तिः
इत्युच्यते यदि तदाऽपि समानमेतत् ।
अन्वीयमानवचनत्वमतोपपत्तौ
कार्यान्वयान्वयिविशेषणगीर्वृथेति ।। ३४९ ।।

योजना—यदि कार्यान्वयान्वयिनि वस्तुनि शब्दशक्तिरित्युच्यते, तदाऽपि एतत् समानम्—अन्वीयमानवचनत्वमतोपपत्तौ कार्यान्वयान्वयिविशेषणगीः वृथेति ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—यदि कार्यान्वयान्वयी वस्तु में शब्द की शक्ति है—यह कहा जाय, तब भी यह दोष समान है कि अन्वितार्थ-वाचकता-मत की उपपत्ति हो जाने पर कार्यान्वयान्वयि विशेषण व्यर्थ है ।।

भावितार्थ—गत (१३० वें) पद्य में कथित कार्यान्वयान्वयी विशेषण भी वैसे ही व्यर्थ है, जैसे कि कार्य विशेषण; क्योंकि केवल अन्वितार्थ में शक्ति मानने में कोई बाधक उपस्थित नहीं होता ।। ३४९ ।।

'गामानय' आदि कतिपय स्थलों पर कार्यत्व का अन्वयमात्र देकर कार्यत्व को शब्द-शक्ति का प्रयोजक मानने पर अतिप्रसङ्ग भी होता है—

वक्तृज्ञानविवक्षयोरपि भवेच्छब्दार्थता तावके
पक्षे शब्दमनु प्रतीतिरुभयोरस्त्येव यस्मात्तयोः ।
यद्यच्छब्दमनु प्रतीतिपदवीमारोहदुत्प्रेक्ष्यते
तत्तद्वाच्यमिति स्थितौ न हि तयोः शब्दार्थतावर्जनम् ॥३५०॥

योजना—तावके पक्षे वक्तृज्ञानविवक्षयोरपि शब्दार्थता भवेत्, यस्मात् शब्दम् अनु तयोः उभयोः प्रतीतिः अस्त्येव । यत् यत् शब्दम् अनु प्रतीतिपदवीम् आरोहत् उत्प्रेक्ष्यते, तत् तत् वाच्यम्—इति स्थितौ हि तयोः शब्दार्थतावर्जनं न ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—आपके पक्ष में वक्ता के ज्ञान और विवक्षा में भी शब्दार्थता माननी होगी, क्योंकि शब्द-श्रवण के अनन्तर उन दोनों की भी प्रतीति होती है । जो-जो (अर्थ) शब्द-श्रवण के अनन्तर प्रतीति पथ में आरूढ़ होता देखा जाता है, वह-वह अर्थ वाच्य होता है—ऐसा मानने पर उन दोनों में शब्दार्थता अवर्जनीय है ॥

भावितार्थ—'गामानय' आदि शब्दों के श्रवण के अनन्तर कार्यार्थ की प्रतीतिमात्र देखकर यदि कार्यार्थ को वाच्य (शब्द-शक्ति का विषय) मान लिया जाय, तब वक्ता के ज्ञान और उसकी विवक्षा को भी वाच्य कक्षा मे समाविष्ट करना होगा; क्योंकि उनकी भी प्रतीति शब्द-श्रवण के अनन्तर हुआ करती है और आप (कार्यान्वितार्थ-शक्तिवादी) का यह मत है कि जो-जो भी अर्थ शब्द-श्रवण के अनन्तर प्रतीत हो, वह वाच्य ही होता है ॥ ३५० ॥

उन्हें भी वाच्य मान लेनें पर शब्द-प्रामाण्य की हानि होगी—

वेदे वक्तुरभावतस्तदुभयं नास्तीह यस्मादतः
शब्दो वाचकशक्तिमुज्झति निजां तत्र स्ववाच्यं विना ।
वाच्ये वाचकशक्तिमिच्छति भवान्नान्यत्र तत्र श्रुतेः
अप्रामाण्यमिति स्फुटं तव भवेद् बुद्धेरनुत्पत्तितः ॥ ३५१ ॥

योजना—यस्मात् इह वेदे वक्तुः अभावतः तदुभयं नास्ति, अतः शब्दः तत्र निजां वाचकशक्तिं स्ववाच्यं विना उज्झति । भवान् वाच्ये शक्तिम् इच्छति, नान्यत्र । तत्र तव बुद्धेः अनुत्पत्तितः श्रुतेः स्फुटम् अप्रामाण्यं भवेत् ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—इस मत से वेद में वक्ता के न होने से वे दोनों (ज्ञान तथा विवक्षा) नहीं हैं, अतः वेदरूप शब्द अपने वाच्य के न होने पर वाचकता का ही परित्याग कर देता है । आप वाच्य में ही शक्ति मानते हैं, अन्यत्र नहीं । तब आपके मत से वेद में स्पष्टतः अप्रामाण्य प्रसक्त होता है ॥

भावितार्थ—आपके मत में वेद अपौरुषेय है । उसका कोई वक्ता नहीं । अतः वक्ता का ज्ञान और वक्ता की विवक्षा का वहाँ होना सम्भव नहीं । वे दोनों शब्द के वाच्य हैं-

यह कहा जा चुका है। वाच्य के न होने पर शब्द में वाचकता भी नहीं रहती। वेद यदि वाचक नहीं, तब तो उसमें अवाचकत्वलक्षण अप्रामाण्य आ जाता है ।। ३५१ ।।

सिद्धार्थान्वित स्वार्थ में शक्ति न मानने पर 'सोमेन यजेत' आदि में स्वीकृत विशिष्ट विधि उपपन्न न होगी—

न च सोमयागपदयोरुभयो:
अपरस्परेण घटतेऽत्र युजा ।
पदजातमेतदखिलं हि निजं
विषयं समर्पयति कार्ययुतम् ॥ ३५२ ॥

योजना— अत्र सोमयागयो: उभयो: [1]अपरस्परेण युजा घटते न च, एतत् हि अखिलं पदजातं निजं कार्ययुतं विषयं समर्पयति ।। (प्रमिताक्षराच्छन्द:) ।।

योजितार्थ—आपके मत से सोम और याग —इन दोनों पदों का परस्पर सम्बन्ध बनता ही नहीं, क्योंकि सभी शब्द अपने कार्यान्वित अर्थ का ही बोधन करते हैं ।।

भावितार्थ—'सोमेन यजेत' (तै०सं० ३।२।२।१५) यहाँ पर मीमांसकगण सोम-विशिष्ट याग का विधान माना करते हैं, अर्थात् यह वाक्य सोम-विशिष्ट याग का बोधक माना जाता है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि सोम-विशिष्ट याग का बोधक 'सोम' पद है? या 'यजेत' पद ? या दोनों पद मिलकर ? आपके मत में सोम और यजेत में से प्रत्येक पद कार्यान्वित स्वार्थमात्र को कहता है, सोमरूप सिद्धार्थ-विशिष्ट याग को नहीं। शेष रहता है तीसरा पक्ष, वह भी सम्भव नहीं, क्योंकि उक्त दोनों पदों का परस्पर कोई सम्बन्ध ही नहीं बन सकता। उन दोनों का लिङर्थ के साथ ही अन्वय होता है, क्योंकि लिङर्थ ही कार्य है ।। ३५२ ।।

कार्यान्वयान्वयि अर्थ में शक्ति मानने पर भी वही दोष होता है—

कार्यान्वयान्वयिनि शक्तिरिति स्थितौ च
कार्यान्वयान्वितमतिर्न परस्परेण ।
सम्बन्धितामतिरतश्च न सिद्धमेति
सर्वो विशिष्टविधिरित्यपि दूषणं व: ॥ ३५३ ॥

योजना—कार्यान्वयान्वयिनि शक्तिरितिस्थितौ च कार्यान्वयान्वितमति: परस्परेण सम्बन्धितामति: न, अत: सर्वो विशिष्टविधि: सिद्धि न एति—इत्यादि व: दूषणम् ।। (वसन्ततिलकाच्छन्द:) ।।

योजितार्थ—कार्यान्वयान्वित अर्थ में शब्द शक्ति होती है—इस पक्ष में भी ('सोमेन यजेत' आदि में प्रत्येक पद से) कार्यान्वयान्वित अर्थ का ही बोध होता है, परस्पर अन्वय बोध नहीं। अत: उक्त सभी विशिष्टविधियाँ सिद्ध नहीं होतीं—यह भी आपके मत में दोष है।

भावितार्थ—'सोमेन यजेत' (तै०सं० ३।२।२।१५) आदि वाक्यों में सोम-विशिष्ट याग का विधान इस (कार्यान्वयान्वयिशक्ति) पक्ष में भी नहीं बनता, क्योंकि यहाँ विशिष्ट विधान की उपपत्ति के लिए सोम-विशिष्ट याग का प्रतिपादन करके तद्विषयक नियोग

---

[1] परस्परेणेत्यर्थ: ।

की प्रतिपत्ति करनी होगी। किन्तु कार्यान्वय के पूर्व सोम और याग का परस्पर अन्वय सिद्ध नहीं होता, अतः विशिष्ट विधि कैसे बनेगी ? ॥ ३५३ ॥

हमारे पक्ष में उक्त दोष नहीं—

योग्येतरान्वितपदार्थगतैव शब्द-
शक्तिः स्थिता यदि पुनर्घटते तदाऽयम् ।
सर्वो विशिष्टविधिरस्तु तथैव तस्माद्
युक्तं तथेतरदितीदमपीह भाष्यम् ॥ ३५४ ॥

योजना—यदि योग्येतरान्वितपदार्थगता एव शब्दशक्तिः स्थिता, तदा पुनः सर्वोऽयं विशिष्टविधिः घटते, तस्मात् तथैव अस्तु। तदा इह 'इतरत्' इतीदं भाष्यम् अपि युक्तम् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—यदि योग्येतरार्थ से अन्वित पदार्थ में ही शब्द की शक्ति मानी जाती है, तब तो सभी यह विशिष्ट विधान बन जाता है, अतः वैसा (योग्येतरान्वित में शक्ति) ही युक्त है। ऐसा मानने पर 'इतरत् तदर्थम्' (शा० भा० २।१।१ पृ० ३७३) यह भाष्य भी सुसंगत हो जाता है॥

भावितार्थ—योग्य इतरार्थ से अन्वित स्वार्थ में शक्ति मानने पर 'सोमेन यजेत' आदि विशिष्ट विधिवाक्यों की उपपत्ति हो जाती हे, क्योंकि इस मत में सोमादि पदार्थों का अन्वय यागादि पदार्थों के साथ हो जाता है। केवल इतना ही नहीं, इसी मत में 'यदैकस्मादपूर्वं तदाऽन्यत् तदर्थम्' इस शाबर भाष्य का भी सामंजस्य होता है, क्योंकि भाष्यकार का कहना है कि जब 'सोमेन यजेत' आदि में किसी एक ('यजेत' पद से) अपूर्व का लाभ होता है, तब इतर (सोमादि पद) तदर्थक (यागाङ्ग प्रतिपादक) माने जाते हैं। सभी पदों को अपूर्वार्थं मानने में महान् गौरव होता है। इस सिद्धान्त की उपपत्ति आपके उक्त मत में नहीं हो सकती, क्योंकि आप सभी पदों को अपूर्वार्थक मानते हैं और यागादि के अङ्गभूत द्रव्यादि का प्रतिपादन भी मान लेते हैं॥ ३५४॥

लिङादि शब्दों में प्रवर्तकत्वान्यथानुपपत्ति से भी कार्यार्थत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती—

शब्दः प्रवृत्तिजनको न तु बोधकश्चेत्
नैतत् प्रवर्त्तकधियो जनकत्वहेतोः ।
इष्टाभ्युपायमतिजन्मनिमित्तभूतः
शब्दः प्रवर्त्तयति नैष पुनः पुमांसम् ॥ ३५५ ॥

योजना—शब्दः प्रवृत्तिजनकः बोधकः न तु, चेत् एतत् न, प्रवर्तकधियो जनकत्वहेतोः। शब्दः इष्टाभ्युपायमतिजन्मनिमित्तभूतः। एषः पुनः पुमांसं न प्रवर्तयति ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—लिङादि शब्द प्रवर्त्तक होता है, बोधक नहीं—यह आपका कहना युक्त नहीं, क्योंकि शब्द प्रवर्तक ज्ञान का जनक (बोधक) ही होता है। लिङादि शब्द इष्ट-साधनता-ज्ञान के जन्म का निमित्त होता है। यह पुरुष का प्रवर्तक नहीं होता॥

भावितार्थ– 'गामानय'—आदि शब्दों को सुनने के अनन्तर मनुष्य की प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः उसे प्रवर्तनारूप कार्यार्थ का वाचक ही मानना होगा—इस प्रकार शब्द में प्रवर्तकत्व की अन्यथा उपपत्ति से कार्यार्थ-बोधकत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि वह प्रवर्तक (इष्टसाधनताविषयक) बोध का जनक होकर भी प्रवर्तक बन सकता है। वस्तुतः शब्द इष्टसाधनता-बोधमात्र का ही जनक होता है, पुरुष का साक्षात् प्रवर्तक नहीं। प्रवृत्ति तो इष्टसाधनता-ज्ञान के अनन्तर रागतः होती है। इसीलिए लिङादि-घटित वाक्यों का श्रवण कर लेने पर भी राग-रहित व्यक्ति प्रवृत्त नहीं होता। यदि शब्द स्वतः प्रवर्तक है, तब सभी को प्रवृत्त हो जाना चाहिए ॥ ३५५ ॥

कार्यान्वितार्थकत्व पक्ष में गौरव तथा उक्त विशिष्ट विधि की विलोपापत्ति होती है, अतः उक्त पक्ष असंगत है—

तस्मादसंगतमिदं यदुशन्ति केचित्
कार्यान्वितार्थविषयैव तु शब्दशक्तिः ।
तत्र प्रयोगमभिवीक्ष्य तथा प्रतीतिः
कल्प्येति वर्णितनिजेष्टविघातहेतोः ॥ ३५६ ॥

योजना—तस्मात् 'तत्र प्रयोगं तथा प्रतीतिम् अभिवीक्ष्य कार्यान्वितार्थविषयैव तु शब्दशक्तिः कल्प्या' इति यत् केचित् उशन्ति, तदिदम् असङ्गतम्, वर्णितनिजेष्टविघातहेतोः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इसलिए वहाँ (कार्यान्वित अर्थ में वक्ता के) प्रयोग तथा (श्रोता की) प्रतीति को देखकर कार्यान्वितार्थविषयक ही शब्द शक्ति कल्पनीय है– यह जो कतिपय विद्वान् चाहा करते हैं, वह असङ्गत है, क्योंकि उसमें कथित विशिष्ट विधिरूप इष्ट की हानि होती है।

भावितार्थ—'सोमेन यजेत' आदि में विशिष्ट विधित्व की हानि कार्यान्वित-शक्तियत् में होती है, अतः वह मत नितान्त असङ्गत है ॥ ३५६ ॥

प्रभाकर-सम्मत कार्यार्थ (नियोग) अलौकिक (लोक में अप्रसिद्ध) है, इसलिए कार्यान्वित में शक्ति-ग्रह नहीं हो सकता—

वेदैकगम्यमिति कार्यमभीष्टमस्मिन्
शक्तिग्रहोऽपि न पदस्य समञ्जसोऽयम् ।
शक्तिग्रहं च परिहृत्य न बोधकत्वं
शब्दस्य शक्यमिह वक्तुमशङ्कितेन ॥ ३५७ ॥

योजना –अभीष्टं कार्यम् वेदैकगम्यमिति अस्मिन् पदस्य अयं शक्तिग्रहोऽपि समंजसो न। शक्तिग्रहं परिहृत्य च इह शब्दस्य बोधकत्वम् अशङ्कितेन वक्तुं न शक्यम् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—अभिमत कार्य (नियोग) केवल वेद से ही गम्य है, अतः इसमें पद का यह शक्तिग्रह भी बनता नहीं। यहाँ शक्तिग्रह के बिना शब्द में बोधकत्व कोई प्रामाणिक व्यक्ति कह नहीं सकता ॥

भावितार्थ—लोक-प्रसिद्ध अर्थों में ही शब्द-शक्ति-ग्रह हुआ करता है। प्रभाकर-

सम्मत कार्य (नियोग) अलौकिक है, अतः उसमें शक्ति-ग्रह सम्भव होनें से कार्यान्वित या कार्यान्वित अर्थ में शक्ति-ग्रह सुघट नहीं ॥ ३५७ ॥

प्रमाणान्तर के अविषयभूत अपूर्व में शक्ति-ग्रह न होने पर भी मानान्तरानधिगत ब्रह्म में शक्ति-ग्रह सुकर है—

शश्वत्स्वयंप्रभमलुप्तचिदात्मभूतं
विष्णोः परं पदममुत्र तु शब्दशक्तिः ।
शक्या ग्रहीतुमतिबुद्धिमनस्यपीति
शास्त्रप्रमाणकमदः प्रवदन्ति सन्तः ॥ ३५८ ॥

योजना—शश्वत् स्वयं प्रकाशम् , अलुप्तचिदात्मभूतं विष्णोः परं पदम् । अमुत्र अतिबुद्धिमनसि अपि तु शब्द शक्तिः ग्रहीतुम् शक्या इत्यदः शास्त्रप्रमाणकमिति सन्तः प्रवदन्ति ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ - सदा स्वयं प्रकाश, अविनाशि चैतन्यरूप आत्मभूत, विष्णु का परमपद है । ऐसे बुद्धि और मन के अगोचर ब्रह्म में शक्तिग्रह हो सकता है, अतः यह (ब्रह्म) शास्त्र प्रमाणक है—ऐसा सन्त कहा करते हैं ।।

भावितार्थ—यद्यपि प्रभाकर-सम्मत नियोग और वेदान्तिसम्मत ब्रह्म दोनों ही शास्त्रैकसमाधिगम्य हैं, फिर भी स्वयं प्रकाश ब्रह्म का साक्षी से स्फुरण हो जाता है । अतः इसमें शब्द-शक्ति-ग्रह सम्पन्न हो जाता है । इसीलिए इस ब्रह्म को शास्त्रप्रमाणक (शास्त्रयोनित्वादि अधिकरणों में) आचार्यों ने कहा है ।। ३५८ ।।

सिद्धार्थकवाक्य से भी शक्ति-ग्रह सिद्ध हो जाता है, इसलिए भी कार्यान्वित अथ में शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं—

जातः सुतः सकलवंशविवर्धनस्ते
विप्रेति वाक्यसमनन्तरमस्य बुद्धिः ।
श्रोतुर्मुखाकृतिवशेन तु पुत्रजन्म-
वस्तुन्यवश्यमनुमीयत एव बालैः ॥ ३५९ ॥
भूतार्थनिष्ठवचनादपि शब्दशक्तिः
शक्या ग्रहीतुमुदितेन पथाऽनभिज्ञैः ।
तत्र प्रवर्त्तकनिवर्त्तकवाक्यमूल-
शक्तिग्रहैकनियमस्य न हेतुरस्ति ॥ ३६० ॥

योजना—'विप्र ! ते सकलवंशविवर्द्धनः सुतो जातः' इति वाक्यसमनन्तरं अस्य मुखाकृतिवशेन पुत्रजन्मवस्तुनि बुद्धिः श्रोतुः अवश्यं वालैः अनुमीयत एव । उदितेन पथा अनभिज्ञैः भूतार्थनिष्ठाद् अपि वचनात् शब्दशक्तिः ग्रहीतुं शक्या । तत्र [1]प्रवर्त्तकनिवर्त्तकवाक्यमूलशक्तिग्रहैकनियमस्य हेतुः नास्ति ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

---

[1] प्रवर्त्तकं निवर्त्तकं मूलं यस्य शक्तिग्रहस्य स प्रवर्त्तकनिवर्त्तकवाक्यमूलशक्तिग्रहः ।

योजितार्थ—'हे विप्र ! आपके पूरे वंश को बढ़ानेवाला पुत्र उत्पन्न हुआ है' इस वाक्य के सुनने पर इस (श्रोता) की प्रसन्न मुखमुद्रा को देखकर श्रोता के पुत्रोत्पत्तिविषयक बोध का बालक अवश्य अनुमान कर लेते हैं। इस प्रकार कथित मार्ग के द्वारा अनभिज्ञ व्यक्तियों को सिद्धार्थक वाक्य से भी शक्तिग्रह हो सकता है। अतः 'प्रवर्त्तक वाक्य से ही शक्तिग्रह होता है'—इस नियम में कोई प्रमाण नहीं ॥३५९-३६० ॥

प्रथमतः पूरे अर्थसमूह में पूरे पदसमूह का शक्तिग्रह होने पर भी पश्चात् प्रत्येक पद का शक्तिग्रह देखा जाता है—

सामान्यतः प्रथममेष पदार्थपिण्डो
वाच्योऽस्य वाचकमिदं पदपिण्डरूपम् ।
इत्याकलय्य पुनरेव विशेषतोऽपि
शब्दार्थसंगतिमवैति जनस्तटस्थः ॥ ३६१ ॥

योजना—प्रथमं सामान्यतः 'पदार्थपिण्डो वाच्यः, अस्य इदं पदपिण्डरूपं वाचकम्' इत्याकलय्य पुनः एव तटस्थः जनः विशेषतोऽपि शब्दार्थसंगतिम् अवैति ।। (व० छ०) ।।

योजितार्थ—पहले समान्यतः 'पूरा पदार्थ-समूह वाच्य है और इसका यह पद-समूह वाचक है'—ऐसा समझकर अनन्तर यह तटस्थ पुरुष विशेषतः पद पदार्थ की संगति का ज्ञान कर लेता है ।।

भावितार्थ—'पुत्रस्ते जातः' आदि वाक्यप्रयोग से पिता के पुत्रोत्पत्ति-जन्य हर्ष को जानकर तटस्थ बालक प्रथमतः 'पुत्रस्ते जातः'—इस पूरे पद-समूह की पुत्रोत्पत्तिरूप पदार्थ-समूह में शक्ति निश्चित करता है। अनन्तर 'पुत्रस्ते मृतः' आदि वाक्यों से श्रोता के पुत्र-मरण-जन्य शोक को जानकर आवापोद्धार की सहायता से प्रत्येक पद का शक्ति-ग्रह अर्थविशेष में स्थिर कर लेता है ।। ३६१ ।।

प्रवृत्ति-निवृत्ति के विना भी प्रसिद्धार्थक पदों के सान्निध्य से भी अप्रसिद्ध पद का शक्तिग्रह हो जाता है—

काष्ठैः स्थाल्यां पचति विविधैरोदनं पूर्णिकेति
श्रुत्वा बालः सपदि मनुते काष्ठशब्दस्य शक्तिम् ।
दृष्ट्वा तस्मिन्पचनकरणं प्रज्वलत्काष्ठजातं
न्यायोपायादितरवचसां शक्तिषु प्राक्प्रवीणः ॥ ३६२ ॥

योजना—'पूर्णिका विविधैः काष्ठैः ओदनं पचति' इति श्रुत्वा इतरवचसां शक्तिषु प्रवीणः बालः पचनकरणं प्रज्वलत्काष्ठजातं च दृष्ट्वा न्यायोपायात् काष्ठशब्दस्य शक्ति सपदि मनुते ।। (मन्दाक्रान्ताच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—'पूर्णिका नाम की दासी विविध काष्ठों से चावल पकाती है' इस प्रकार के वाक्य को सुनकर 'काष्ठ' पद से इतर पदों की शक्ति में प्रवीण बालक पचनकरण तथा जलती हुई लकड़ियों को देखकर 'काष्ठ' पद की शक्ति शीघ्र ही (लकड़ियों में) निश्चित कर लेता है ।।

भावितार्थ—'पूर्णिका काष्ठैः ओदनं पचति'—इस वाक्य में यद्यपि कोई लिङादि प्रवर्त्तक निवर्त्तक पद नहीं और न इस वाक्य से श्रोता की कोई प्रवृत्ति ही देखी जाती है, तथापि 'काष्ठ' पद से भिन्न पदों की शक्ति का जानकार व्यक्ति उक्त वाक्य को सुन, पूर्णिका के पाक-कर्म एवं जलती लकड़ियों को देखकर तुरन्त ही 'काष्ठ' पद का अर्थ समझ लेता है ॥ ३६२ ॥

वस्तुतः प्रभाकर-सम्मत कार्य (नियोग) ही प्रामाणिक नहीं, अतः कार्यान्वित पदार्थों में शक्तिग्रह होगा ही कैसे ?

न च किमपि नः कार्यं नाम प्रमाणपथानुगं
यदि तु पुनर्लिङ्लोडादेरुपैष्यति वाच्यताम् ।
न खलु तदितो धात्वर्थादेः पृथग्व्यवसीयते
व्रजतु तदिह श्रेयो हेतुर्लिङादिपदार्थताम् ॥ ३६३ ॥

योजना—इह किमपि कार्यं नाम नः प्रमाणपथानुगं न च, यत् पुनः लिङ्लोडादेः वाच्यताम् उपैष्यति । इतो धात्वर्थादेः पृथक् तत् न व्यवसीयते, इह तत् श्रेयोहेतुः लिङादिपदार्थतां व्रजतु ॥ ([1]हरिणीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इस लोक में कोई कार्य (नियोग) पदार्थ हमारे प्रमाण-पथ में आता ही नहीं, जो कि लिङ् लोट् आदि का वाच्य होगा । इस धात्वर्थरूप क्रिया से भिन्न वह (कार्य) परिलक्षित नहीं होता । अतः यहाँ वह (धात्वर्थभूत क्रिया) ही इष्ट-साधन होकर लिङादि पदों का वाच्य होता है ॥

भावितार्थ—लोक में धात्वर्थ यजनादि क्रिया को छोड़कर और कोई कार्य नाम की वस्तु प्रसिद्ध नहीं कि जो लिङादि की वाच्य बने । धात्वर्थरूप कार्य ही इष्ट-साधनत्व-रूप से लिङादि का प्रतिपाद्य स्थिर होता है ॥ ३६३ ॥

लोक में इष्ट-साधनता की प्रतीति ही प्रवर्त्तक है, अतः वह ही कार्यपद वाच्य है—

न खलु जगति श्रेयोहेतुप्रमित्युदयादृते
पुरुषवचनात्क्वापि प्राज्ञः प्रवर्तितुमर्हति ।
पुरुषवचनात् श्रेयोहेतुप्रतीत्युदयात्[2] पुनः
तदनुवशगो रागोत्पत्तौ ततः स हि चेष्टते ॥ ३६४ ॥

योजना—जगति पुरुषवचनात् श्रेयोहेतुप्रतीत्युदयात् ऋते प्राज्ञः क्वापि प्रवर्त्तितुम् न अर्हति । पुरुषवचनात् श्रेयोहेतुप्रतीत्युदयात् पुनः रागोत्पत्तौ तदनुवशगः ततो हि स चेष्टते ॥ (हरिणीच्छन्दः) ।

योजितार्थ—लोक में पुरुष-वचन से इष्ट साधन-प्रतीति के बिना बुद्धिमान् व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता । पुरुष-वचन से इष्ट साधन की प्रतीति होने पर राग उत्पन्न होता है, उस राग के वशीभूत होकर वह बुद्धिमान् व्यक्ति प्रवृत्त होता है ॥

---

[1] 'रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा' (वृत्त० ३।९४) अर्थात् जिस पद्य के प्रत्येक पाद में क्रमशः, नगण, सगण, मगण, रगण, सगण, एक लघु तथा एक गुरु हो, उसे हरिणी कहते हैं । इसके ६, ४ और ७ वर्णों पर यति होती है ।

[2] प्रमित्युदयादिति पाठान्तरम् ।

भावितार्थ—पुरुष वचन से इष्ट साधन की प्रतीति होने पर कोई व्यक्ति कहीं प्रवृत्त होता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक के आधार पर इष्ट-साधनता-ज्ञान ही प्रवर्त्तक सिद्ध होता है ॥ ३६४ ॥

राग यदि साक्षात् प्रवर्त्तक है, तब उसी को ही लिङर्थ क्यों न मान लिया जाय? इस शङ्का को दूर करने के लिए कहा जाता है कि साक्षात् प्रवर्त्तक होने पर भी साक्षात् शब्द-जन्य नहीं, अतः उसे लिङर्थ न मानकर उसके हेतुभूत इष्ट-साधनता-ज्ञान में ही लिङादि की शक्ति माननी उचित है—

नयनिपुणधीर्बालश्चेष्टां समीक्ष्य समीहितुः
कृततदुचितव्याप्तिज्ञानः पुरा निज आत्मनि।
परतनुगतं श्रेयोहेतुप्रतीत्युदयोत्थितं
चरितविषये रागं तस्य प्रवर्त्तकमिङ्गति ॥ ३६५ ॥
प्रवर्तकोत्थाननिबन्धने ततः
समीहितोपायविशेषवस्तुनि।
गिरोऽनुमाय प्रतिपत्तिहेतुतां
विशेषसिद्धौ तु समीहते पुनः॥ ३६६ ॥

योजना—नयनिपुणधीः बालः समीहितुः चेष्टां समीक्ष्य पुरा निज आत्मनि [1]कृत-तदुचितव्याप्तज्ञानः परतनुगतम् श्रेयोहेतुप्रतीत्युदयोत्थितं चरितविषये रागं तस्य प्रवर्तकम् इङ्गति (हरिणी) ॥ ततः प्रवर्तकोत्थाननिबन्धने समीहितोपायविशेषवस्तुनि गिरः प्रतिपत्तिहेतुताम् अनुमाय विशेषसिद्धौ तु पुनः समीहते ॥ (वंशस्थम्) ॥

योजितार्थ—अनुमानकुशल बालक प्रवर्तमान पुरुष की (गवानयनादिरूप) प्रवृत्ति को देखकर प्रथमतः अपने शरीर में उचित व्याप्ति का ज्ञान वह कर चुका था, अतः परशरीरगत (प्रवर्तमान पुरुष में होनेवाले) इष्ट साधनता ज्ञान-जन्य प्रवृत्ति विषयक राग को उस पुरुष का प्रवर्तक (अपनी ऊहा से) जान लेता है ॥ तदनन्तर प्रवर्तक (राग) की उत्पत्ति के हेतुभूत इष्ट-साधन रूप विशेष वस्तु के ज्ञान की लिङादि युक्त वाक्य में हेतुता का सामान्यतः वाक्य में अनुमान करके पुनः शक्ति-विशेष की सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है ॥

भावितार्थ—लिङादि-समभिव्याहृत 'गामानयादि' वाक्यों को सुनकर प्रवर्त्तमान वृद्ध की गवानयन में प्रवृत्ति देखकर बालक अनुमान करता है—विमता प्रवृत्तिः राग-जन्या प्रेक्षावत्प्रवृत्तित्वात् मदीयभोजनादिप्रवृत्तिवत्।' अर्थात् मध्यम वृद्धि की प्रवृत्ति उस राग से जन्य है—इस प्रकार राग का अनुमान करता है।

रागानुमान के पश्चात् राग के द्वारा उसके हेतुभूत इष्टसाधनताज्ञान का अनुमान करता है—अयं पुरुषः गवानयादिविषये इष्टसाधनताज्ञानवान् तद्विषये रागवत्त्वात् यो यद्विषयकरागवान् स तद्विषयकेष्टसाधनताज्ञानवान् भवति यथा अहं भोजनादिविषये।

---

[1] कृतं तस्यानुमानस्योचितं व्याप्तिज्ञानं येन सः।

पश्चात् राग-हेतुभूत ज्ञान के विषय इष्ट साधनत्व में लिङादि का विशेषरूप से शक्ति-ग्रह करनें के लिए प्रयत्नशील होता है ॥ ३६५, ३६६ ॥

कथित प्रयत्नशीलता का स्वरूप दिखाते हैं—

पदान्तरस्याऽऽगमनादिहान्यतः
तथा परस्योद्धरणादितो गिर ।
विशेषसिद्धिं लभते प्रयत्नवान्
पदार्थसम्बन्धगतां विचक्षणः ॥ ३६७ ॥
लडादिशब्देऽपगते लिङादौ
प्रत्यागतेऽभीप्सितसाधनत्वम् ।
प्रतीयते तेन लिङादिशब्दः
तदर्थवाचीति स वेत्ति बालः ॥ ३६८ ॥

योजना—इह अन्यतः पदान्तरस्य आगमनात् तथा इतो गिरः पदस्य उद्धरणात् प्रयत्नवान् वचक्षणः पदार्थसंबन्धगतां विशेषसिद्धि लभते ।। लडादिशब्दे अपगते लिङादौ प्रत्यागते अभीप्सितसाधनत्वं प्रतीयते । तेन लिङादिशब्दः तदर्थवाचीति स बालः वेत्ति ।। (वंशस्थ०)

योजितार्थ—यहाँ ('अश्वमानय' आदि वाक्यों में) वाक्यान्तर से पदान्तर अश्वादि के आगमन तथा इस (गामानय) वाक्य से 'गो' पद के उद्धरण के द्वारा वह प्रयत्नशील मेधावी बालक पद-पदार्थ-सम्बन्धविषयक विशेष सिद्धि प्राप्त कर लेता है। एवं ('गामानयति' आदि वाक्यों से) लडादि हटाकर लिङादि के प्रयोग कर देने पर ही इष्टसाधनत्व प्रतीत होता है। अतः लिङादि शब्द इष्ट-साधनत्व रूप अर्थ के वाचक हैं— इस प्रकार वह बालक जान लेता है ।।

भावितार्थ—जैसे गवादि पदों के आवाप और उद्वाप (बढ़ाने और घटाने) से प्रत्येक पद की अर्थविशेष में शक्ति स्थिर की जाती है; वैसे ही लडादि प्रत्यय को हटाने और लिङादि के बढ़ाने से ही इष्ट-साधनत्व की प्रतीत होती है, अतः इष्ट-साधनत्व में ही लिङादि की शक्ति का निश्चय किया जाता है ॥ ३६७, ३६८ ॥

विशेष सिद्धि भी केवल अन्वितत्व रूप से ही मानी जाती है—

योग्येतरान्विततया न च वाच्यताऽस्य
कार्यान्वितत्ववपुषा सुतरां न चेष्टा ।
किंत्वन्वितत्ववपुषो न विशेषणस्य
किञ्चित्प्रयोजकमिहास्ति निरूपणायाम् ॥ ३६९ ॥

योजना—अस्य योग्येतरान्विततया वाच्यता न, कार्यान्वितत्ववपुषा सुतरां न च इष्टा; किन्तु अन्वितत्ववपुषा । इह निरूपणायां विशेषणस्य किञ्चित् प्रयोजकं नास्ति ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—इस (पदार्थ) में योग्येतरान्वितत्वरूप से वाच्यता नहीं मानी जाती

और कार्यान्वितत्वरूप से तो कथमपि वाच्यता अभीष्ट नहीं, किन्तु (केवल) अन्वितत्व-रूप से। यहाँ वाच्यता में योग्येतरत्व और कार्यत्वादि विशेषण का कोई नियामक नहीं ॥

भावितार्थ—गवादि पदार्थों में कार्यान्वितत्व, कार्यान्वयान्वितत्वादि रूप से शब्द-शक्ति का निराकरण पहले ही किया जा चुका है। योग्येतरान्वितत्वरूप से शक्ति मानने में भी गौरव है। हाँ अन्वयांश में अशाब्दत्वापत्ति न हो, इसलिए अन्वित गवादि में शब्द शक्ति मानी जाती है ॥ ३६९ ॥

अन्विताभिधान की भी आवश्यकता क्या ? पदोपस्थित शुद्ध पदार्थों का अन्वय-बोध बन सकता है—इस प्रकार अभिहितान्वयवादियों के मत का अनुवाद और निराकरण किया जाता है—

यत्केचिदाहुरभिधाय निजान्पदार्थान्
एतावतोपरतवन्ति पदानि तेभ्यः ।
पश्चाद्विशेषणविशेष्यतया तु तेषां
संसर्गबुद्धिरपराऽवतरिष्यतीति ॥ ३७० ॥
तद्दुर्घटं न खलु किञ्चिदपि प्रमाणम्
अस्याः प्रसाधकमुदीरितकल्पनायाः ।
येनोपलब्धिविषयत्वमुपागतानि
संसृष्टमेव तु पदानि पदार्थमाहुः ॥ ३७१ ॥

योजना—केचिद् यत् आहुः—पदानि निजान् पदार्थान् अभिधाय एतावता उपरतवन्ति, पश्चात् तेभ्यः विशेषण-विशेष्यतया तेषाम् अपरा संगर्गबुद्धिः अवतरिष्यतीति ॥ तद् दुर्घटम्, अस्याः उदीरितकल्पनायाः प्रसाधकं किञ्चिदपि प्रमाणं न खलु, येन उपलब्धिविषयत्वम् उपगतानि पदानि तु संसृष्टमेव पदार्थम् आहुः ॥ (वसन्ततिलके) ॥

योजितार्थ—कुछ लोग जो यह कहा करते हैं कि पद अपने पदार्थों का अभिधान करके ही उपरत हो जाते हैं। पश्चात् उन (पदार्थों) से विशेष्य-विशेषणभाव के रूप में उन (पदार्थों) का संसर्ग-बोध होता है। वह (कहना) दुर्घट है; क्योंकि इस कथित कल्पना का प्रसाधक कोई भी प्रमाण नहीं। इसका कारण यह है कि श्रोत्र से उपलब्ध होकर पद संसृष्ट (अन्वित) पदार्थ को ही कहते हैं ॥

भावितार्थ—अभिहितान्वयवादी कहा करते हैं कि श्रुत पद अपने-अपने पदार्थों को कह कर ही शान्त हो जाते हैं, वाक्यार्थ-बोध उत्पन्न नहीं करते। पश्चात् पदार्थ ही योग्यता के आधार पर पारस्परिक अन्वय-बोध के जनक होते हैं। अतः पदों की शक्ति केवल पदार्थ में ही होती है, अन्वित पदार्थ में नहीं।

उनका यह सिद्धान्त संगत नहीं; क्योंकि पदों से पदार्थ-बोध और पदार्थ से अन्वय बोध इस प्रकार दो-दो बोधों की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं। वक्ता पदों का उच्चारण अन्वय-बोध के उद्देश्य से ही किया करता है, अतः वे अन्वित अर्थ को कह कर ही उस उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं; अन्यथा नहीं ॥ ३७०, ३७१ ॥

अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा अन्वित पदार्थ में ही शक्ति सिद्ध होती है—शुद्ध में नहीं—

नासंसृष्टपदार्थबुद्धिपदयोः पूर्वापरत्वप्रमां
मुक्त्वा कारणकार्यतावगतये कश्चित्समर्थस्तयोः ।
पौर्वापर्यमुदीक्ष्य हेतुफलतां सर्वत्र संगृह्णते
नो चेत्सर्वमसंगतं भवति वः सर्वव्यवस्थाहतेः ॥ ३७२ ॥

योजना—असंसृष्टपदार्थबुद्धिपदयोः पूर्वापरत्वप्रमां मुक्त्वा तयोः कार्यकारणतावगतये कश्चित् समर्थो नास्ति । पौर्वापर्यम् उदीक्ष्य सर्वत्र हेतुफलतां संगृह्णते, न चेत् वः सर्वव्यस्थाहतेः सर्वम् असंगतं भवति ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—असंसृष्ट पदार्थ की बुद्धि और पद—इन दोनों में पूर्वापरभाव-ज्ञान के बिना उन दोनों में कार्यकारणभाव का बोध करने में कोई समर्थ नहीं । पौर्वापर्य देखकर ही सर्वत्र हेतुहेतुमद्भाव का निश्चय किया करते हैं, अन्यथा आपके मत में समस्त व्यवस्था भंग हो जाने से सब कुछ असंगत ही हो जायगा ॥

भावितार्थ—पौर्वापर्य-प्रतीति ही सर्वत्र कार्यकारणभाव में प्रमाण मानो जाती है—यह निर्विवाद सिद्ध है । केवल पदार्थ-ज्ञान और पद—इन दोनों के पौर्वापर्य में कोई प्रमाण नहीं; क्योंकि व्युत्पत्ति-समय उन दोनों में पौर्वापर्य का ग्रहण नहीं होता । पर प्रवृत्ति-हेतुभूत विशिष्ट प्रतीति के अधीन ही शक्ति-ग्रह होता है । पौर्वापर्य-ग्रहण के बिना ही कार्यकारणभाव मानने पर सर्वत्र अव्यवस्था हो जायगी ॥ ३७२ ॥

पौर्वापर्य-ग्रह के बिना भी जैसे स्वर्ग-याग में कार्यकारणभाव माना जाता है; वैसे ही प्रकृत में क्यों नहीं ? इस शंका का समाधान है—

पूर्वापरान्वयबलेन हि कारणत्व-
कार्यत्वसंगतिमिह प्रतियन्ति लोके ।
नो चेद्भवेदनियमो न च तत्र कर्तुं
कार्याणि कारणविशेषमुपाददीरन् ॥ ३७३ ॥

योजना—इह लोकेति पूर्वापरान्वयबलेन कारणत्वकार्यत्वसंगतिं प्रतियन्ति । नो चेत् तत्र अनियमो भवेत्—कार्याणि कर्तुं कारणविशेषं न उपाददीरन् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः)॥

योजितार्थ— इस लोक में पौर्वापर्य-अन्वय के बल पर ही कार्य-कारणभाव की संगति निश्चित किया करते हैं । अन्यथा लोक में अनियम हो जायगा —अर्थात् कार्य का सम्पादन करने के लिए कारण-विशेष का उपादान न होगा ।

भावितार्थ—वैदिक कार्य-कारणभाव भले ही पौर्वापर्य-ग्रहण-निरपेक्ष हो, लोक में कभी भी पौर्वापर्य-प्रतीति के बिना कार्य-कारणभाव का निश्चय नहीं हो सकता । कार्य-कारणभाव निश्चय के बिना पटादि कार्य-विशेष का सम्पादन करने के लिए तन्तु-आदि कारण-विशेष का संग्रह क्यों होगा ? ॥ ३७६ ॥

पद ही शुद्ध पदार्थ-स्मरण के द्वारा अन्वय-बोध को जन्म देते हैं—इस मत का निराकरण करते हैं—

पदजातबुद्धिजनिता भवति
व्यतिषक्तबुद्धिरिति तावदिह ।
न विगानमस्ति भवतामपि चेद्
व्यवधानकल्पनमकारणकम् ॥ ३७४ ॥

योजना—"पदजातबुद्धिजनिता व्यतिषक्तबुद्धिः भवति"—इह चेत् भवतामपि विगानं तावत् नास्ति; व्यवधानकल्पनम् अकारणम् ॥ (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—"पद-समूह-ज्ञान से संसृष्ट-बोध उत्पन्न होता है" इस नियम में यदि आपकी भी असम्मति नहीं; तब (शुद्ध पदार्थ-स्मरण की) व्यवधान-कल्पना निष्प्रमाण है ॥

भावितार्थ—पद-समूह की उपस्थिति के अनन्तर अन्वय-बोध यदि आपको भी अभीष्ट है, तब मध्य में पदार्थ-स्मरणरूप व्यवधान की कल्पना निरर्थक है ॥ ३७४ ॥

ज्वलनादि का व्यवधान होने पर भी काष्ठ और पाक का जैसे कार्यकारणभाव होता है; वैसे ही प्रकृत में भी क्यों न हो ? इस सन्देह को हटाते हैं—

व्यतिषक्तबुद्धिजनकं सकलं
पदजातमित्यनुमतं यदि वः ।
व्यवधानकल्पनविडम्बनया
किमिहाञ्जसैव जनकं भवतु ॥ ३७५ ॥

योजना—"सकलं पदजातं व्यतिषक्तबुद्धिजनकम्" इति वः यदि अनुभवम्; व्यवधानकल्पनविडम्बनया किम् ? अञ्जसैव जनकं भवतु ॥ (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—"सकल पद-समूह संसृष्ट-बोध का जनक होता है"—यह यदि आपको सम्मत है, तब (पदार्थ-स्मरणरूप) व्यवधान-कल्पना की प्रतारणा से क्या लाभ ? साक्षात् पद-समूह ही अन्वय-बोध का जनक हो सकता है ॥

भावितार्थ—ज्वलनादि दृष्ट व्यवधान की उपेक्षा नहीं हो सकती। किन्तु इससे अदृष्ट व्यवधान की कल्पना न्याय्य नहीं ॥ ३७५ ॥

"अरुणया पिंगाक्ष्या सोमं क्रीणाति"—यहाँ पर आरुण्य में क्रयण की प्रतीयमान साक्षात् कारणता का परित्याग कर गोरूप द्रव्य के द्वारा कारणता जैसे मानी जाती है, वैसे ही प्रकृत में क्यों नहीं ? इसका उत्तर है -

पारम्पर्यं ह्यगतिकगतिं कारणादाश्रयन्ते
नोत्सर्गेण स्फुरति विदुषां यत्र तत्र प्रनाडी ।
श्रुत्या सोमक्रयमनुगतः साधनत्वेन हित्वा
साक्षाद्भावं ह्यरुणिमगुणः प्रापदेनामशक्तेः ॥ ३७६ ॥

योजना—कारणात् अगतिकगतिम् पारम्पर्यं हि आश्रयन्ते, विदुषां यत्र उत्सर्गेण न स्फुरति, तत्र प्रणाडी । श्रुत्या सोमक्रयम् साधनत्वेन अनुगतः, अरुणिमगुणः साक्षाद्भावं हित्वा अशक्तः एनां प्रापत् ॥ (मन्दाक्रान्ताच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—कारणवश साक्षात् सम्वन्ध न होने से और कोई गति न होने पर कारण-

वश पारम्पर्य का आश्रयण किया करते हैं। विद्वानों को जहाँ औत्सर्गिक (साक्षात्) कारणता का स्फुरण नहीं होता; वहाँ ही परम्परा (मान्य होती है) जैसे कि "अरुणया पिंगाक्ष्या सोमं क्रीणाति"—यहाँ पर तृतीया श्रुति के द्वारा सोम-क्रयण के प्रति साधनरूप से ज्ञात आरुण्य गुण साक्षात् कारणत्व को छोड़कर अगत्या इस (परम्परा कारणता) को प्राप्त करता है ॥

भावितार्थ—स्वभावतः साक्षात् साधन में ही कारणता मानी जाती है। जहाँ पर इस औत्सर्गिक नियम का सामञ्जस्य न हो सके, वहाँ ही परम्परा साधन में कारणता मानते हैं। जैसे कि "अरुणया पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति"—इस वाक्य में तृतीया श्रुति के द्वारा आरुण्य गुण में कारणता प्रतीत होती है। किन्तु अमूर्त गुण में क्रयणरूप क्रिया की कारणता साक्षात् बनती नहीं, अतः गोरूप द्रव्य के द्वारा कारणता मानी जाती है। यह अगतिक गति है, सर्वत्र इसे मानने की आवश्यकता नहीं ॥ ३७६ ॥

पदोपस्थिति के बिना भी उपस्थित पदार्थों के द्वारा अन्वय बोध कहीं-कहीं देखा जाता है, अतः सर्वत्र पदार्थों को ही अन्वय-बोध-जनक मानना चाहिए और पदों के केवल पदार्थ-स्मरण-जनक-ऐसी आशङ्का होती है—

श्वेतिमानमभिपश्यतः पुरः
शृण्वतस्तदनु हेषितध्वनिम् ।
तद्वदत्र खुरमुद्गरस्वनं
श्वेतरूपतुरगोऽटतीति धीः ॥ ३७७ ॥
तद्वदत्र पदजातबुद्धिभिः
बोधिताखिलपदार्थहेतुकः ।
सर्वशब्दविषयार्थसंगतेः
प्रत्ययो भवति योग्यतादिभिः ॥ ३७८ ॥

योजना—पुरः श्वेतिमानम् अभिपश्यतः तदनुः हेषितध्वनिं तद्वत् अत्र खुरमुद्गरस्वनं शृण्वतः 'श्वेतरूपतुरगः अटति'—इति धीः। तद्वत् अत्र पदजातबुद्धिभिः बोधिताखिल-पदार्थहेतुकः सर्वशब्दविषयार्थसंगतेः प्रत्ययः योग्यतादिभिः भवति ॥ (रथोद्धते) ॥

योजितार्थ—जैसे पहले श्वेत रूप को देख, अनन्तर हिनहिनाने का शब्द तथा टापों की खटपट सुनने वाले (पुरुष) को 'श्वेत अश्व दौड़ रहा है'—ऐसा बोध होता है। वैसे ही यहाँ भी पद-समूह के ज्ञान से बोधित निखिल पदार्थरूप हेतु से सर्व पदार्थ-संसर्ग-विषयक योग्यतादि से बोध हो जाता है ॥

भावितार्थ—जैसे कि कोई व्यक्ति दूर श्वेत वर्ण की कोई अस्पष्ट वस्तु देखता है, पश्चात् हिनहिनाना, तत्पश्चात् टापों की ध्वनि सुनता है, उसे तुरन्त यह बोध हो जाता है कि 'श्वेत अश्व दौड़ता आ रहा है।' यहाँ पदों की उपस्थिति नहीं अपितु केवल श्वेतादि पदार्थों की उपस्थिति से ही अन्वय-बोध होता है। वैसे ही सर्वत्र यह क्यों न मान लिया जाय कि पदों से पदार्थ उपस्थित होते हैं और पदार्थों से योग्यतादि के बल पर अन्वयबोध होता है ? ॥ ३७७, ३७८ ॥

उक्त आशंका का निराकरण करते है—

नैवत् क्लृप्तनिमित्ततोऽपि घटते संसर्गधीरीदृशी
श्वेतोऽश्वस्त्वरितोऽभिधावतितरामित्यादिका योत्थिता ।
कार्यं क्लृप्तनिबन्धनं यदि भवेन्नास्यापरं कारणं
कल्प्यं तेन पदार्थजातजनिता नैषा मतिर्लिङ्गजा ॥ ३७९ ॥

योजना—नैतत्, श्वेताश्वः त्वरितो अभिधावतितराम् इत्यादिका या उत्थिता ईदृशी संसर्गधीः क्लृप्तनिमित्ततोऽपि घटते । यदि कार्यं क्लृप्तनिबन्धनं भवेत्, अस्य अपरं कारणं न कल्प्यम् । तेन एषा मतिः पदार्थजातजनिता न, लिङ्गजा ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—उक्त कथन युक्त नहीं, क्योंकि 'श्वेत अश्व सरपट भागता आ रहा है'—यह बुद्धि जो उत्पन्न होती है, ऐसी बुद्धि अपने नियत (वक्ष्यमाण अनुमानरूप) निमित्त से भी बन जाती है । यदि कोई कार्य अपने क्लृप्त (निश्चित) निमित्त से ही हो जाता है, तब उसके लिए अन्य कारण की कल्पना नहीं करनी चाहिए । इसलिए यह (उक्त) बुद्धि पदार्थ-जनित नहीं; अपितु लिङ्ग-जनित है ॥

भावितार्थ—उपस्थित श्वेतादि पदार्थों से उक्त बुद्धि उत्पन्न नहीं मानी जाती, अपितु श्वेतवर्ण दर्शन और हेषणादि रूप लिङ्गों से अश्व-धावन की अनुमिति हो जाती है । अतः कहीं पर भी पदार्थों से अन्वय-बोध नहीं देखा जाता; सर्वत्र पदों से अन्वित बोध मानना यक्ति-युक्त है ॥ ३७९ ॥

जैसे अनुमान-जनित बोध, प्रत्यक्ष प्रमाण से भी होता है, वैसे ही यहाँ अनुमान-जनित बोध, पदार्थ प्रमाण से भी क्यों न मान लिया जाय ? इसका निराकरण करते हैं-

पादार्थं न प्रथक्प्रमाणमपरं नानाप्रमाणोद्भवं
नाप्येतत्फलमत्र पक्षयुगले कल्प्यं निमित्तान्तरम् ।
क्लृप्तं लिङ्गमतोऽपि निर्वहति चेत्संसर्गधीरीदृशी
पादार्थी न पृथक्प्रमा न च फलं नानाप्रमाणोद्भवम् ॥ ३८० ॥

योजना—पादार्थं पृथक् प्रमाणं न, नापि एतत् फलं नानाप्रमाणोद्भवम् । अत्र पक्षयुगले निमित्तान्तरं कल्प्यम्, लिङ्गं क्लृप्तम् । अतोऽपि चेत् ईदृशी संसर्गधीः निर्वहति, न पादार्थी, न पृथक् प्रमा, न नानाप्रमाणोद्भवं फलम् ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—पदार्थ बोध कोई भिन्न प्रमाण नहीं होता और न यह (उक्त बुद्धि) फल नाना प्रमाण में से उद्भूत है । इन दोनों (पृथक् प्रमा तथा नाना प्रमाणजन्यप्रमा) पक्षों में (पदार्थादि) निमित्तान्तर कल्पनीय हैं और लिङ्ग क्लृप्त है । इस (लिङ्ग) से भी यदि ऐसी (उक्त) संसर्ग-बुद्धि सम्पन्न हो जाती है, तब वह न पादार्थी (पदार्थ-जन्या) है, न पृथक् प्रमा है और (न) नाना प्रमाणों से उद्भूत फल है ॥

भावितार्थ—उक्त प्रमा-बुद्धि को पदार्थ-समुदाय या प्रमाण-समुदाय से जन्य मानने पर पदार्थ-समुदाय और प्रमाण-समुदाय में पृथक् प्रमाणत्व की कल्पना करनी पड़ेगी । किन्तु उसे अनुमान प्रमाण-जन्य मानने में किसी प्रकार नूतन कल्पना की आवश्यकता नहीं, अनुमान प्रमाण तो क्लृप्त ही है । उस क्लृप्त अनुमान प्रमाण से भी जब उक्त

प्रमा-बुद्धि का निर्वाह हो जाता है, तब उसे न तो पदार्थों से जन्य मानने की आवश्कता है, न पृथक् प्रमा मानने की और न प्रमाण-समुदाय से ही जन्य मानना आवश्यक है ।।३८०।।

अतः अन्वित अर्थमात्र में पद की शक्ति मानना ही उचिततर है—

नासंसृष्टमतो वदन्ति वचनान्याहुः क्रियासंगतं
योग्येनान्वितमेव केवलममून्याहुः स्वमर्थं यतः ।
एवं सत्यपवर्जितक्रियमलं निष्पन्नरूपं सदा
संसर्गादिविवर्जितं च वदितुं वस्तुस्वरूपं श्रुतिः ॥ ३८१ ॥

योजना—अतः वचनानि असंसृष्टं क्रियासंगतं न आहुः; यतः अमूनि केवलं योग्येनान्वितं स्वार्थम् आहुः । एवं च सति श्रुतिः अपवर्जितक्रियं निष्पन्नरूपं संसर्गादिविवर्जितं वस्तुस्वरूपं वदितुं सदा अलम् ।। (शा० वि० छ०) ।।

योजितार्थ—अतः शब्द अनन्वित या क्रिया से अन्वित अर्थ को नहीं कहते, क्योंकि वे (शब्द) केवल योग्यार्थ से अन्वित अपने अर्थ को कहते हैं । इस प्रकार वेदान्त-श्रुति क्रिया-रहित सिद्धरूप संसर्गादि-शून्य अखण्ड वस्तु को कहने में सदा समर्थ है ।।

भावितार्थ—कार्यान्वित अर्थ में शब्द-संगति के निराकरण तथा सिद्धान्वित अर्थ में उसके समर्थन का फल यही है कि सिद्ध ब्रह्म में वेदान्त वाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है ।। ३८१ ।।

लोक में अभिहितान्वयवाद या अन्विताभिधानवाद कुछ भी माना जा सकता है, किन्तु वेद में दोनों ही अनुपपन्न हैं—

अभिहितघटनाऽथ वाऽन्वितानाम्
अभिहितिरस्त्वथ वा न पक्षपातः ।
क्वचिदपि समयेऽस्ति नः कदाचिद्
बहुघटनात्मकवस्तुनिष्ठवाक्ये ॥ ३८२ ॥
अभिहितघटना न चोपपन्ना
परदृशि नाभिहितिस्तथान्वितानाम् ।
अनधिकविकलार्थगोचरत्वात्
न तदुभयं श्रुतिमस्तके पदानाम् ॥ ३८३ ॥

योजना—अथ बहुघटनात्मकवस्तुनिष्ठवाक्ये अभिहितघटना वा अस्तु, अथवा अन्वितानाम् अभिहितिः; क्वचिदपि समये नः कदाचिदपि पक्षपातो नास्ति ।। परदृशि न अभिहितघटना, न च अन्वितानाम् अभिहितिः, तथा श्रुतिमस्तके पदानाम् [1]अनधिकविकलार्थगोचरत्वात् तद् उभयं न ।। (पुष्पिताग्रेच्छन्दसी) ।।

---

१. अधिकश्चासौ विकलश्च स चासावर्थश्चेत्यधिकविकलार्थः नाधिकविकलार्थोऽनधिकविकलार्थस्तद्गोचरत्वात् ।

योजितार्थ—बहुत पदार्थों के संसर्ग-बोधक वाक्य में चाहे अभिहितान्वय हो, अथवा अन्विताभिधान, किसी भी पक्ष में हमारा कभी भी पक्षपात नहीं ।। किन्तु असङ्ग स्वप्रकाश चिदात्मा में न अभिहितान्वय और न अन्विताभिधान ही उपयुक्त है, क्योंकि वेदान्त-वाक्य अनन्वित केवल अखण्ड वस्तु को विषय करते है, अतः वहाँ वे दोनों वाद उपपन्न नहीं ।।

भावितार्थ—'तमेतं वेदानुवचनेन' (बृह० ४।४।२२) आदि संसृष्टार्थक वाक्यों में अन्विताभिधान का उपयोग होने से हमने यहाँ उसका निरूपण किया । वस्तुतः अभिहितान्वय और अन्विताभिधान में हमारा कोई आग्रह नहीं; क्योंकि हमारे विचारणीय वेदान्तवाक्यों में उनका कोई उपयोग नहीं ।। ३८२, ३८३ ।।

अन्विताभिधान वाद में कुछ स्वारस्य होने का कारण यह है कि उसका प्रकृत में अंशतः उपयोग है—

अभिहितघटना यदा तदानीं
स्मृतिसमबुद्धियुगं पदे विधत्तः ।
परदृशि पुनरन्विताभिधाने
पदयुगलात्स्मृतियुग्ममेव पूर्वम् ।। ३८४ ।।

योजना—यदा अभिहितघटना, तदा पदे परदृशि स्मृतिसमबुद्धियुगं विधत्तः । अन्विताभिधाने पुनः पूर्वं पदयुगलात् स्मृतियुग्ममेव ।। (पुष्पिताग्राच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—जब अभिहितान्वय (मानते हैं), तब (तत् और त्वम्) दोनों पद पर चेतन में स्मृति के समान बुद्धि उत्पन्न करते हैं, किन्तु अन्विताभिधानवाद में पहले (पदार्थ-प्रतीति-सयय में) दोनों पदों से परब्रह्म-विषयक दो स्मृतियाँ ही उत्पन्न हैं ।

भावितार्थ—भाट्टाभिमत अभिहितान्वयवाद में पद का उपयोग पदार्थ-बोध मात्र में होता है । पद अपनी सहज शक्ति से अर्थ के वाचक ही होते हैं, स्मारक नहीं । फिर स्मृति के समान होने से पदार्थ-ज्ञान को स्मृति कह दिया जाता है । अतः इस मत से तत्त्वम्पद स्मृति के समान विशिष्टार्थविषयक दो ज्ञान उत्पन्न करते हैं । अन्विताभिधान-वाद में तो पद-शक्ति अन्वितार्थविषयक ही होती है, केवल पदार्थविषयक नहीं । अतः दोनों पद अपनी शक्ति से केवल पदार्थविषयक दो ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकते, किन्तु सम्बन्ध-दर्शन से उद्बुद्ध संस्कारों के द्वारा उत्पन्न होने के कारण दोनों ज्ञान स्मृतिमात्र होते हैं ।। ३८४ ।।

दोनों वादों के वाक्यार्थ-बुद्धि की विशेषता दिखाते हैं—

स्मृतिसमपदजन्यबुद्धियुग्मात्
परदृशि मोहनिवर्त्तनं परेषाम् ।
परदृशि पदजस्मृतिद्वये स्यात्
पदयुगलात्प्रमितेः समुद्भवो नः ।। ३८५ ।।

योजना—परेषां परदृशि स्मृतिपदजन्यबुद्धियुग्मात् मोहनिवर्तनम् । नः परदृशि पदजस्मृतिद्वये पदयुगलात् प्रमितेः समुद्भवः ।। (पुष्पिताग्रा) ।।

योजितार्थ— अभिहितान्वयवादियों के मत से परमात्मवस्तु में स्मृति के समान पद-जन्य दो ज्ञानों से मोह-निवर्त्तक ज्ञान सिद्ध होता है । हमारे (अन्विताभिधानवाद) मत से

परमात्मवस्तु में पद-जन्य दो स्मृतिज्ञानों के उत्पन्न होने पर दोनों पदों से अनुभव उत्पन्न होता है ।।

भावितार्थ—अभिहितान्वयवाद में स्मृति के समान दो पदार्थज्ञानों से ही मोह-निवर्त्तक अखण्ड वाक्यार्थ-बोध होता हैं, शब्द से नहीं। किन्तु हमारे (अन्विताभिधान) वाद में दोनों पदों से ही पदार्थ-स्मृतिपूर्वक अखण्डवाक्यार्थ सम्पन्न हो जाता है। अतः अभीष्टसिद्धि में कोई अन्तर न पड़ने पर भी न्यायोचित होने के कारण अन्विताभिधानवाद में स्वारस्य दिखाया गया है ।। ३८५ ।।

[भूतस्य भव्यार्थत्वोपवर्णनम्]

भाट्ट मत में भूत ब्रह्म में भव्यार्थत्व बताया जाता है—

औदासीन्यप्रच्युतिप्रापकेऽर्थे
लिङ्लोडादेर्लोकतो ज्ञातशक्तेः ।
पुंसो वेदे प्रेरकत्वेन कल्प्या
लिङ्लोडादेर्भावनैवानृतन्त्रे ।। ३८६ ।।

योजना—लोकतः औदासीन्यप्रच्युतिप्रापके अर्थे लिङ्लोडादेः ज्ञातशक्तेः पुंसः अनृतन्त्रे लिङ्लोडादेः भावनैव प्रेरकत्वेन कल्प्या ।। (शालिनीच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—लोक में उदासीनता-निवृत्ति (प्रवृत्ति) के बोधक (वाक्यों) में लिङ् लोट् आदि (प्रत्ययों) का (भावना में) शक्ति-ग्रह करनेवाले पुरुष के द्वारा अपौरुषेय वेदगत लिङादि की शक्ति भावना में ही कल्पनीय है ।।

भावितार्थ—'गामानय'—आदि वाक्यों से आनयनादि क्रिया में पुरुष को जो प्रवृत्ति होती है, उसे ही यहाँ 'औदासीन्यप्रच्युति' शब्द से कहा गया है। उस प्रवृत्ति की प्रेरक अर्थात् उक्त प्रवृत्ति की जनक प्रेरणा के बोधक लिङादि हैं—यह लौकिक व्यवहार से जिस व्यक्ति ने निश्चय कर लिया है, वह व्यक्ति 'यजेत' आदि वैदिक शब्दों को सुन कर वहाँ लिङादि प्रत्ययों की शक्ति ऐसी प्रेरणा में स्थिर करता है, जो प्रेरणा अपौरुषेय वेद में पुरुषनिष्ठ नहीं हो सकती। फलतः उस प्रेरणा की कल्पना लिङादि शब्दनिष्ठ ही की जाती है। उसे ही भाट्ट शब्द-व्यापार, शाब्दी भावना आदि शब्दों से कहा करते हैं ।। ३८६ ।।

लोक में उस अलौकिक भावना को प्रेरक मानने की आवश्यकता नहीं और वेद में पुरुषनिष्ठ व्यापार कल्पना भी अनिवार्य नहीं, अपितु -

आज्ञाद्यर्थः प्रेरकः पौरुषेये
लिङ्लोडादेर्भावना वेदवाक्ये ।
पुंसोऽभावात्तद्गताज्ञाद्यभावात्
पुंसम्बद्धे प्रेरकास्ते हि वाक्ये ।। ३८७ ।।

योजना—पौरुषेये आज्ञाद्यर्थः प्रेरकः, वेदवाक्ये लिङ्लोडादेः भावना, पुंसोऽभावात तद्गताज्ञाद्यभावात्, पुंसम्बद्धे वाक्ये हि ते प्रेरकाः ।। (शालिनी) ।।

योजितार्थ—पौरुषेय वाक्य में आज्ञादि अर्थ प्रेरक हैं, वेद-वाक्य में लिङ्लोट् आदि (शब्दों) की (वाच्य) भावना हैं, क्योंकि (वेद में) पुरुष का अभाव होने से पुरुषगत आज्ञादि का अभाव है, पुरुषसम्बन्धी वाक्य में ही वे (आज्ञादि) प्रेरक हो सकते हैं ॥

भावितार्थ—अन्वय-व्यतिरेक न्याय से लिङादि शब्दों की प्रेरणा में शक्ति निश्चित होती है। वह प्रेरणा लोक में पुरुषनिष्ठ सङ्कल्पादिरूप व्यापाररूप होती है। वेद अपौरुषेय है। वहाँ प्रेरक पुरुष सम्भव नहीं, अतः पुरुषनिष्ठ व्यापाररूप प्रेरणा वहाँ नहीं बन सकती, लिङादिशब्दनिष्ठ भावनारूप प्रेरणा ही स्थिर होती है। इस श्लोक में 'प्रेरकः' का अर्थ है—'प्रेरणा' और 'आज्ञादि'—यहाँ आदि शब्द से अभ्यर्थनादि अर्थ विवक्षित हैं। इस प्रकार लोक वेद में एक मात्र प्रेरणा में लिङादि का शक्ति-ग्रह होने से कार्य-शक्तिवाद के समान यहाँ लोक-वेद के शक्यार्थ में विभिन्नता प्रसक्त नहीं होती ॥

भावना का पूर्ण परिचय देते हैं—

लिङ्लोडादिर्भावकस्तत्र भाव्या-
नुष्ठेयेऽर्थे पुम्प्रवृत्तिः प्रसिद्धा ।
लिङ्लोडादेः पुम्प्रवृत्त्यंशनिष्ठो
व्यापारो यस्तं विदुर्भावनेति ॥ ३८८ ॥

योजना—तत्र लिङ्लोडादिः भावकः, अनुष्ठेये अर्थे पुम्प्रवृत्तिः भाव्या प्रसिद्धा। यः पुम्प्रवृत्त्यंशनिष्ठः[1] लिङ्लोडादेः व्यापारः तं भावनेति विदुः ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—वहाँ लिङादि भावक हैं और यागादिरूप अनुष्ठेय अर्थ में पुरुष-प्रवृत्ति भाव्यरूप से प्रसिद्ध है। जो पुरुष-प्रवृत्तिविषयक लिङादि का व्यापार है, उसे भावना कहा करते हैं ॥

भावितार्थ—जैसे लोक में प्रेरणा प्रेरक-पुरुष-गत अभिप्रायविशेष है, उस प्रेरणा का जनक प्रेरक पुरुष है और प्रेर्य पुरुष की प्रवृत्ति उस प्रेरणा का साध्य अर्थ है। वैसे ही वेद में पुरुष स्थानीय लिङादि शब्दगत व्यापार-विशेष प्रेरणा (भावना) है, उसका जनक (बोधक) प्रेरक लिङादि हैं और प्रेर्य पुरुष की (यागादि विषयक) प्रवृत्ति, उस प्रेरणा की साध्य है। इस प्रकार वेद में यागादि-प्रवृत्तिरूप भाव्य को विषय करने वाली और लिङादिरूप भावक से साध्य भावना लिङादि शब्द-वाच्य होती है ॥ ३८८ ॥

भावना के तीन अंश होते हैं—साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्य। पुरुष-प्रवृत्तिरूप साध्य अंश ऊपर के पद्य में दिखाया गया। शेष साधन और इतिकर्त्तव्य अंशों को दिखाते हुए लिङाद्यर्थरूप विधि के स्वरूप का अवधारण करते हैं—

---

[1] पुंप्रवृत्त्यंशनिष्ठः—इस शब्द से यद्यपि ग्रन्थकार का यह आशय प्रतीत होता है कि पुरुष-प्रवृत्तिरूप साध्य अंश में रहनेवाला व्यापार ही भावना है, तथापि प्रवृत्ति स्वयं एक व्यापार है, उसमें व्यापारान्तर सम्भावित नहीं, अतः शब्दरूप द्रव्य में ही व्यापार मानना होगा। इसीलिए "पुंप्रवृत्त्यंशनिष्ठः" शब्द का अर्थ विद्वानों ने "पुंप्रवृत्त्यंशविषयकः" "पुंप्रवृत्त्यंशपर्यवसायी"—ऐसा अर्थ किया है। अग्रिम (३९२ वें) श्लोक में भी "अभिमतपशुपुत्रवृष्टिनाकप्रभृतिकभाव्यगता" का अर्थ भी कथित रीति से भाव्य-विषयक ही करना पड़ता है।

करणमिह लिङादेर्ज्ञानमेवाङ्गभागः
पुनरभिरुचिहेतुर्दृश्यते च प्रशंसा ।
विधिरयमिह तन्त्रे जैमिनीये न कार्यं
न च भवति विधिर्नः श्रेयसो हेतुरर्थः ॥ ३८९ ॥

योजना—इह करणं लिङादेः ज्ञानमेव, अङ्गभागः पुनः अभिरुचिहेतुः प्रशंसा च दृश्यते । अयम् इह जैमिनीये तंत्रे विधिः, न कार्यं न च श्रेयसो हेतु अर्थः नः विधिः भवति ॥

योजितार्थ —इस (शब्द भावना) में करण लिङादि का ज्ञान ही होता है और इतिकर्त्तव्यरूप अङ्ग यागादि में विशेष रुचि पैदा करनेवाली प्रशंसा है । यही (भावना) इस जैमिनीय शासन में विधि है, न तो कार्य (नियोग) विधि है और न श्रेयःसाधन अर्थ ही हमारे मत से विधि होता है ।।

भावितार्थ—भावना का स्वरूप है—'भावयेत् ।' यहाँ तीन आकांक्षाएँ होती हैं—'किं भावयेत् ? केन भावयेत् ? कथं भावयेत् ।' इन्हें ही क्रमशः साध्याकांक्षा, साधनाकांक्षा और इतिकर्त्तव्याकांक्षा कहा जाता है । साध्याकांक्षा में यागादिविषयक पुरुषप्रवृत्ति का अन्वय गत पद्य में ही कहा गया । साधनाकांक्षा में लिङादि ज्ञान और इतिकर्त्तव्याकांक्षा में अर्थवादाभिप्रेत यागादि प्रशंसा का अन्वय करना चाहिए ।

शाब्दी भावना के वाचक लिङादि हैं, लिङादि घटित वाक्य सुनते ही शाब्दीभावना की अभिव्यक्ति होती है, अतः लिङ्गादि का ज्ञान ही उक्त भावना का करण[1] है । इसी प्रकार अर्थवाद वाक्यों से प्रतिपाद्य यागादि प्राशस्त्य का ज्ञान रुचि-जनन के द्वारा शब्दभावना साध्य प्रवृत्ति में सहायक होने से इतिकर्त्तव्य माना जाता हैं । यह भावनारूप शब्द-व्यापार ही जैमिनीय सिद्धान्त में विधि है । प्राभाकर-सम्मत कार्य तथा मण्डनाभिमत इष्ट-साधन को विधिरूप कदापि नहीं माना जा सकता ।। ३८९ ।।

साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्य में साध्य अर्थ को प्रधान माना जाता है तथा साधन को गौण । शाब्दी भावना एवं आर्थी भावना (उक्त पुरुष-प्रवृत्ति) दोनों ही प्रत्यार्थ होने से समप्रधान हैं, तब शाब्दी भावना की भाव्य (प्रधान) आर्थी भावना कैसे बनेगी ? इस सन्देह का निरास करते हैं –

विधिरिह गुणभूतः प्रत्ययार्थोऽपि नित्यं
भवति च पुरुषोत्था भावनाऽस्य प्रधानम् ।
भवति दशलकारप्रत्ययैः साभिधेया
विधिविहितलकारैर्भावना शब्दहेतुः ॥ ३९० ॥

योजना—इह प्रत्ययार्थोऽपि विधिः नित्यं गुणभूतः अस्य प्रधानं च पुरुषोत्था भावना भवति । सा दशलकारप्रत्ययैः शब्दहेतुः[2] भावना विधिविहितलकारै अभिधेया भवति । (मालिनीच्छन्दः) ।।

---

[1] यद्यपि करण सदैव अपने कार्य का जनक ही होता है, प्रकृत में शाब्दी भावना कार्य (जन्य) नहीं, क्योंकि वह नित्यशब्दनिष्ठ होने से नित्य है, अतः उस भावना की जनकता न वनने से लिङ्गादिज्ञान में करणता नहीं निभती। तथापि लिङ्गादि का ज्ञान उसका अभिव्यञ्जक होने से करण कहा गया है ।

[2] शब्दः (लिङ्गादिः) हेतुः (बोधको) यस्याः सा शब्दहेतुः शाब्दी भावना ।

योजितार्थ—यहाँ (इस शास्त्र में) प्रत्यय का अर्थ होने पर भी विधि (शाब्दी भावना) नित्य गुणभूत और इसकी प्रधान पुरुषगत (आर्थी) भावना होती है। वह (आर्थी भावना) दश लकाररूप प्रत्ययों से (तथा) शब्द-व्यापाररूप (शाब्दी) भावना विधि-विहित (लिङादि) लकारों से अभिहित होती है।

भावितार्थ—यद्यपि शाब्दी भावना और आर्थी भावना–दोनों ही प्रत्ययार्थ होने से प्रकृत्यर्थ (धात्वर्थ) की अपेक्षा प्रधान होते हैं, तथापि शाब्दी भावना तथा आर्थी भावना इन दोनों में शाब्दी भावना गुणभूत और आर्थी भावना प्रधानभूत है, क्योंकि फल और तत्साधन को पुरुषार्थ (प्रधान) माना जाता है। प्रकृत में स्वर्गादि साध्य हैं, उसकी साधन आर्थी भावना और आर्थी भावना की साधन है—शाब्दी भावना। इस प्रकार पुरुषार्थ के साक्षात् साधन होने के कारण आर्थी भावना प्रधान और शाब्दी भावना पुरुषार्थ के साधन की साधन होने से गौण है।।

प्रत्यय-गम्य होने पर भी दश लकार-स्थानीय समस्त तिबादि प्रत्ययों से आर्थी भावना प्रतिपाद्य होती है, किन्तु शाब्दी भावना केवल विध्यर्थक लिङादि प्रत्ययों से ही अभिहित होती है। जैसे एक ही दीपक तेजःस्वरूप से तम का नाशक और दहनत्वरूप से पाक-साधन है। वैसे ही एक ही प्रत्यय आख्यातत्व रूप से आर्थी भावना का और लिङ्त्वादि रूप से शाब्दी भावना का प्रतिपादक माना जाता है।। ३९० ।।

अर्थ भावना की प्रधानता व्यक्त करने के लिए ही उसे पुरुषार्थ-साधन बताते हैं–

भवति च पुरुषार्थकर्मिकेयं
पुरुषनिमित्तकभावना न तद्वत्।
भवति तु विधिशब्दकर्तृकान्या
न हि निरवद्यपुमर्थता प्रवृत्तेः ॥ ३९१ ॥

योजना—इयं च पुरुषनिमित्तकभावना पुरुषार्थकर्मिका भवति। विधिशब्दकर्तृका अन्या तु तद्वत् न भवति। प्रवृत्तेः निरवद्यपुमर्थता न हि।। (पुष्पिताग्राच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—यह पुरुषनिमित्तक (आर्थी) भावना ही पुरुषार्थकर्मिका (स्वर्गादि-पुरुषार्थः कर्म साध्यं यस्याः सा) होती है। विधि शब्द निमित्तक दूसरी (शाब्दी भावना) तो वैसी नहीं होती। (उसकी साध्य पुरुष-प्रवृत्ति ही होती है और) पुरुष-प्रवृत्ति को अनौपाधिक पुरुषार्थ नहीं माना जाता।।

भावितार्थ—पुरुषाभिलषित स्वर्गादि सुख को अनौपाधिक पुरुषार्थ माना जाता है। और पुरुष-प्रवृत्ति-रूप आर्थी भावना को औपाधिक पुरुषार्थ माना जाता है, क्योंकि पुरुष-प्रवृत्ति-रूप कर्म स्वयं कष्टरूप होने पर भी स्वर्गादि का साधन होता है। फलतः स्वर्गादिरूप मुख्य पुरुषार्थ की साधनता आर्थी भावना में और पुरुष-प्रवृत्तिरूप गौण पुरुषार्थ की साधनता शाब्दी भावना में सिद्ध होती है। इसलिए आर्थी भावना की ही प्रधानता सिद्ध होती है ।। ३९१ ।।

कथित भाव्य-वैलक्षण्य शब्दतः कहा जाता है—

अभिमतपशुपुत्रवृष्टिनाक-
प्रभृतिकभाव्यगता हि भावनेयम् ।
अनभिमतदुष्करातिदुःखां
नयति तु भाव्यपदं प्रवृत्तिमन्या ॥ ३९२ ॥

योजना—इयं हि भावना अभिमतपशुपुत्रवृष्टिनाकप्रभृतिकभाव्यगता, अन्या तु अनभिमतसु दुष्करातिदुःखां प्रवृत्तिं भाव्यपदं नयति ॥ (पुष्पिताग्राच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—यह (आर्थी) भावना पुरुषाभीष्ट पशु, पुत्र, वृष्टि, स्वर्गादि पदार्थों को भाव्य बनाती है। किन्तु अन्य (शाब्दी भावना) अनभिमत, सुदुष्कर, अतिकष्टरूप पुरुष प्रवृत्ति को अपना भाव्य बनाती है ॥

भावितार्थ—शब्दतः दोनों भावनाएँ समप्रधान होने पर भी अर्थतः गुणप्रधानभूत हैं। अर्थात् भाव्य की महत्ता के कारण आर्थी भावना प्रधान और भाव्य की तुच्छता के कारण शाब्दी भावना गुणभूत मानी जाती है ॥ ३९२ ॥

कथित दोनों भावनाओं की प्रतीति धात्वर्थान्वय के बिना नहीं हो सकती, अतः धात्वर्थान्वित भावना का अभिधान लिङादि से मानने पर अन्विताभिधानवाद ही सिद्ध होता है– इस अनिष्टापादान को इष्टापत्ति कहते हैं—

प्रत्ययप्रकृतिशब्दतो बहिः
विद्यतेऽभिहितसंगतिश्च नः ।
प्रत्ययप्रकृतिशब्दयोः पुनः
नित्यमन्वितधियो निमित्तता ॥ ३९३ ॥

योजना—न अभिहितसङ्गतिः च प्रत्ययप्रकृतिशब्दतो बहिः विद्यते । प्रत्ययप्रकृतिशब्दयोः पुनः नित्यम् अन्वितधियोः निमित्तता ।। (रथोद्धता) ।।

योजितार्थ— हमारे (भाट्ट) मत में अभिहितान्वयबोध प्रकृति-प्रत्यय शब्दों से अतिरिक्त (शब्दों में) ही होता है। प्रकृति-प्रत्यय शब्दों में तो नित्य अन्वित-ज्ञान की निमित्तता मानी जाती है ॥

भावितार्थ—जिन शब्दों का नियमतः सहप्रयोग नहीं होता, उन्हीं में अभिहितान्वयजनकत्व माना जाता है। [1]प्रकृति-प्रत्यय का तो नियमतः सहप्रयोग ही होता है, अतः इन दोनों में अन्विताभिधान ही माना जाता है, अभिहितान्वय नहीं। लिङादि प्रत्ययों के द्वारा भी धातुवाच्य यागाद्यन्वित दोनों भावनाएँ ही गुणप्रधान भावापन्न होकर अभिहित होती हैं ॥ ३९३ ॥

फलितार्थ दिखाते हैं—

---

[1] "न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च प्रत्ययः" (पा० सू० भा० ३।१।२) तथा "प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः" (पा० सू० भा० ३।१।६७) इन व्याकरण परिभाषाओं के अनुरूप यही मानना होता है।

भावनाद्वयमतोऽवबोध्यते
धातुवाच्यघटितं लिङादिभिः ।
प्रत्ययार्थगुणवस्तुवाचिनो
धातवः प्रकृतयो हि धातवः ॥ ३९४ ॥

योजना—अतः लिङादिभिः धातुवाच्यघटितं भावनाद्वयम् अवबोध्यते। धातवः प्रत्ययार्थगुणवस्तुवाचिनः। धातवो हि प्रकृतयः ॥ (रथोद्धताच्छन्दः) ॥

योजितार्थ— इसलिए लिङादि प्रत्ययों से धातु-वाच्य यागादि से अन्वित दोनों भावनाएँ ही बोधित होती हैं। धातु शब्द प्रत्ययार्थ के गौणीभूत अर्थ के वाचक होते हैं। ('यजि' आदि) धातु शब्द ही यहाँ प्रकृतियां हैं ॥

भावितार्थ—'प्रकृति-प्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः तयोः तु प्रत्ययः प्राधान्येन' (पा० सू० भा० ३।४।६७) इस व्याकरण-नियम के अनुसार प्रत्ययार्थ प्रधान और प्रकृत्यर्थ गौण माना जाता है। 'यजेत' आदि शब्दों में 'यजि' आदि धातु प्रकृति हैं, क्योंकि जिसके उत्तर किसी प्रत्यय का विधान किया जाय उसे ही प्रकृति कहा जाता है। 'यजि' आदि के उत्तर लिङादि प्रत्ययों का विधान होता है। अतः यहाँ 'यजि' आदि धातुओं में प्रत्ययार्थान्वित स्वार्थ की बोधकता मानी जाती है ॥ ३९४ ॥

भावना-द्वय के प्रतिपादन की प्रक्रिया दिखाकर इसी में समस्त वेद का तात्पर्य है—यह जैमिन्यादि के वचनों से सिद्ध किया जाता है—

भव्याय भूतमुपदिश्यत इत्यवोचन्
पूज्यास्ततः सकलमेव तु वेदशास्त्रम् ।
कार्यप्रधानमिति निश्चिनुमोऽस्मदीये
तन्त्रे च कार्यमुदितः पुरुषप्रयत्नः ॥ ३९५ ॥

योजना—'भूतं भव्यायोपदिश्यते' (जै० सू० भा० ३।४।४०) इति पूज्याः अवोचन्, ततः तु सकलमेव वेदशास्त्रं कार्यप्रधानमिति निश्चिनुमः। अस्मदीये तन्त्रे च पुरुषप्रयत्नः कार्यम् उदितः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—'सिद्धार्थ साध्यार्थ के लिए उपदिष्ट होता है'—ऐसा पूज्य आचार्यगण ने कहा है, इसलिए सकल वेदशास्त्र कार्यपरक होता है—यह हमारा निश्चय है। हमारे शास्त्र मे पुरुष-प्रवृत्ति को कार्य कहा गया है ॥

भावितार्थ— क्रिया साध्य पदार्थ और द्रव्य गुणादि सिद्ध पदार्थ कहे जाते हैं। यागादि विषयक प्रवृत्तिरूप क्रिया का प्राधान्य तथा आत्मा, यवादि द्रव्य और आरण्यादि गुण पदार्थों का उपदेश उक्त क्रिया के सम्पादनार्थ ही किया जाता है—यह मीमांसाचार्यों का मुख्य सिद्धान्त है, क्योंकि महर्षि जैमिनि ने स्पष्ट कहा है—"द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसंबन्धः" (जै० सू० ६।१।) तथा शबर स्वामी ने भी कहा है—"भूतं भव्यायोपदिश्यते" (जै० सू० ३।४।४०) अर्थात् आत्मादि द्रव्यरूपभूत (सिद्ध) पदार्थों का प्रतिपादन वेदों में सदैव क्रियारूप भव्य पदार्थ के लिए ही होता है। अतः वेदों में कार्यार्थ की ही प्रधानता है। यहाँ पुरुष-प्रवृत्ति रूप आर्थी भावना का अर्थ कहा जाता है, नियोगादि का नहीं ॥ ३९५ ॥

[भूतस्य भव्यार्थत्वनिरासः]

उक्त मत का निराकरण करते हैं—

अभिदधाति करोति च लिङ्पदं
श्रुतिवचःसु निजामपि भावनाम् ।
न च करोति न वक्ति च तां पुनः
नरवचःस्विति दुःशकमुच्यते ॥ ३९६ ॥

योजना—श्रुतिवचःसु लिङ्पदं निजामपि भावनाम् अभिदधाति करोति च । नरवचःसु पुनः तां न वक्ति, न करोति चेति दुःशकम् उच्यते ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—श्रुतिवाक्यों में लिङ् शब्द अपनी धर्मभूत शब्द भावना को कहता भी है और करता भी है, किन्तु पौरुषेय वाक्यों में उसे न कहता है और न करता ही है—यह कथन सङ्गत नहीं ॥

भावितार्थ—मीमांसकों में यह न्याय प्रसिद्ध है कि 'य एव लौकिकाः शब्दाः ते एव वैदिकाः' अर्थात् लोक और वेद के शब्दों का एक ही अर्थ होता है, भिन्न नहीं । अतः वैदिक लिङादि की शक्ति अलौकिक शाब्दी भावनारूप अर्थ में और लौकिक लिङादि का सामर्थ्य पुरुषगत अभिप्राय-विशेष में, इस प्रकार अर्थ-भेद की व्यवस्था नितान्त असङ्गत है ॥ ३९६ ॥

लौकिक-वैदिक शब्दों के अर्थों में एकरूपता सम्भव होने पर विभिन्नरूपता मानना उचित नहीं, यह दिखाते हैं—

वक्तृत्वमेव घटते यदि लिङ्पदस्य
सर्वत्र नार्धजरतीयमिदं प्रशस्तम् ।
सामर्थ्यमेकरसमेव यदोपपन्नम्
नानारसं न खलु तत्परिकल्पनीयम् ॥ ३९७ ॥

योजना—यदि लिङ्पदस्य सर्वत्र वक्तृत्वमेव घटते, इदम् अर्धजरतीयं न प्रशस्तम् । यदा एकरसमेव सामर्थ्यम् उपपन्नम्, नानारसं तत् न परिकल्पनीयं खलु ॥ (व०छ०) ॥

योजितार्थ—यदि लिङ् पद का सर्वत्र वक्तृत्व ही अर्थ घट जाता है (तब) यह अर्थ जरतीयता[1] उचित नहीं । जब कि (दोनों शब्दों का) एक रूप सामर्थ्य बन सकता है, तब विभिन्न सामर्थ्य की कल्पना नहीं करनी चाहिए ॥

भावितार्थ- लिङादि पद प्रमाण है । अतः उन्हें सर्वत्र अपने अर्थ का वाचक ही मानना चाहिए । एकत्र वाचक अन्यत्र कारक— यह अर्धजरतीयता उचित नहीं ॥३९७॥

हमारे (वेदान्ती के) पक्ष में उक्त दोष प्रसक्त नहीं होता—

श्रेयोहेतुत्ववाची यदि भवति तदा संभवत्येकरूपा
शक्तिस्त्वस्याभिधाने न तु भवति तदा कारकोऽयं प्रवृत्तेः ।
श्रेयोहेतुश्च वाच्यः श्रुतिवचसि तदा पौरुषेये च तुल्यः
क्लृप्तश्चासौ न कल्प्यः श्रुतिवचसि यथा भावना लिङ्निबद्धा ॥३९८॥

---

[1] अर्धजरतीयता—युवत्याः वृद्धे, वृद्धस्य च जरत्यामरुचेः अर्धजरतीमेव स कामयते ।

योजना—यदि श्रेयोहेतुत्ववाची भवति, तदा एकरूपा शक्तिः तस्य अभिधाने सम्भवति। तदा अयं प्रवृत्तः कारको न भवति। श्रुतिवचसि श्रेयोहेतुश्च वाच्यः, तदा पौरुषेये च तुल्यः। असौ च श्रुतिवचसि क्लृप्तः, कल्प्यो न यथा लिङ्निबद्धा भावना ।। (स्र०छ०)

योजितार्थ—यदि लिङ् प्रत्यय को सर्वत्र इष्टसाधनतावाची मान लिया जाता है तब (लौकिक-वैदिक शब्दों के) अभिधान में एकरूप शक्ति सम्भव है, क्योंकि तब यह (लिङादि) प्रवृत्ति का कारक नहीं माना जाता, (अपितु वाचकमात्र)। जब कि श्रुति-वाक्यों में इष्टसाधनता (लिङादि) की वाच्य है, तब पौरुषेय वाक्यों में भी समान ही है। यह (इष्टसाधनतारूप अर्थ) सर्वत्र क्लृप्त है, श्रुतिवाक्यों में लिङ्-सम्बन्धी भावना के समान कल्प्य नहीं ।।

भावितार्थ – प्रमाण सदा अपने प्रमेय का प्रकाशक (बोधक) होता है· कारक (उत्पादक) नहीं होता। भाट्ट मत में लिङादि प्रमाण अपने प्रमेय के कारक माने जाते हैं। यह महान् दोष है। यह दोष हमारे मत में नहीं आता, क्योंकि हम इष्टसाधनता के बोधकमात्र लिङादि को मानते हैं। जब क्लृप्त (लोक-प्रसिद्ध) पदार्थ से काम चल जाय, तब किसी अलौकिक अर्थ की कल्पना सङ्गत नहीं कही जा सकती। लोक-प्रसिद्ध इष्टसाधनत्व-बोधकत्व से ही सर्वोपपत्ति हो जाती है, अतः लिङादि में अलौकिक शब्द भावना की बोधकता माननी भी उचित नहीं[1] ।। ३९८ ।।

शाब्दी भावना का निराकरण किया, अब आर्थी भावना का निरास करते हैं—

धात्वर्थतोऽन्या न च भावनास्ति
यां भावनां वक्तुमलं लकारः।
धात्वर्थमुद्रिच्य न पुम्प्रयत्नो
लोके यतो भाति निरूपणायाम् ।। ३९९ ।।

योजना—यतः निरूपणायां धात्वर्थम् उद्रिच्य लोके पुम्प्रयत्नः न भाति, (अतः) यां भावनां वक्तुम् लकारः अलम्, (सा) भावना धात्वर्थताऽन्या न चास्ति ।। (इन्द्रवज्रा) ।।

योजितार्थ—(लौकिक रीति से) विचार करने पर धात्वर्थ को छोड़ कर पुरुष प्रयत्न (आर्थी भावना) प्रतीत नहीं होती, अतः जिस (आर्थी) भावना को कहने में (लङादि) लकार समर्थ है, (वह) भावना धात्वर्थ से भिन्न नहीं है ।।

भावितार्थ–भाट्ट मत में जिस पुरुष-वृत्ति को आर्थी भावना कहा गया है, वह धात्वर्थ से भिन्न कदापि सिद्ध नहीं होती। 'गच्छति' में गमन, 'यजति' में स्वस्वत्व-त्याग और

---

[1] आज्ञादि के रूप में प्रतीयमान प्रवर्तनारूप सामान्य व्यापार को लिङ्गादि का वाच्य मानने पर कण्ठताल्वादि व्यापार को भी लिङ्गादि का वाच्य मानना पड़ेगा, क्योंकि वह भी प्रवर्तक होता है। यदि कहा जाय कि ज्ञानमान होकर जो प्रवर्त्तक हो, उसे लिङ्गादि-वाच्य मानते हैं, कण्ठताल्वादि-व्यापार स्वरूपसत् (अज्ञायमान होकर ही) प्रवर्त्तक होता है, ज्ञायमान होकर नहीं। तब तो आज्ञादि में भी लक्षण न जायगा, क्योंकि आज्ञादि का ज्ञान प्रवर्त्तक नहीं होता, अनिष्टहेतुभूत पदार्थ में आज्ञादि-ज्ञान रहने पर भी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। यदि कहा जाय कि आज्ञादिज्ञान अपने आज्ञादि विषयों में इष्टसाधनता का आक्षेप करके प्रवर्तक होता है, तब तो अनिवार्य होने के कारण इष्ट-साधनता को ही लिङर्थ मान लेना उचित होगा।

'पचति' में चूल्हे पर चावल चढ़ाना आदि व्यापार ही तो वह पुरुष-प्रवृत्ति है; वह सब धात्वर्थस्वरूप ही है। धात्वर्थ से अतिरिक्त चेतन के प्रयत्न (कृति) को भी [1]आर्थीभावना नहीं कह सकते; क्योंकि 'रथो गच्छति' आदि प्रयोगों में रथादि जड़ पदार्थों के लिए भी आख्यात का प्रयोग देखा जाता है। रथादि में स्पन्दन व्यापार को छोड़कर चेतन-कर्मभूत यत्न सम्भव ही नहीं। इस प्रयोग को औपचारिक भी नहीं कह सकते; क्योंकि लोक में उसे मुख्य ही समझा जाता है, 'सिंहो माणवकः' आदि के समान औपचारिक नहीं ॥ ३९९ ॥

नियोगवाद या भावनावाद जब युक्तियुक्त ही नहीं, तब कर्मकाण्ड में भी उनका कोई उपयोग नहीं, वेदान्त में उनके उपयोग की चर्चा ही नहीं चल सकती—

न कर्मकाण्डेऽपि ततो नियोगो
न भावनाऽप्युक्तनयेन तस्मिन् ।
न तद्द्वयं वेदशिरःसु तस्मात्
ततो न कार्यार्थपराणि तानि ॥ ४०० ॥

योजना—ततः कर्मकाण्डेऽपि नियोगो न, उक्तनयेन तस्मिन् भावना अपि न; तस्मात् वेदशिरःसु तद् द्वयं न। ततः तानि कार्यपराणि न (उपेन्द्रवज्राच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इसलिए कर्मकाण्ड में भी नियोग सिद्ध नहीं होता और उक्त रीति से उस (कर्मकाण्ड) में भावना भी सिद्ध नहीं होती, अतः वेदान्त में वे दोनों (नियोग और भावना) नहीं बनते। फिर तो वेदान्त-वचन कार्यपरक सिद्ध नहीं किये जा सकते ॥

भावितार्थ—जब कि कर्मकाण्ड में भी नियोग और भावना व्यवस्थित न रह सके, तब वेदान्त में उनकी आशङ्का भी नहीं हो सकती। इसलिए वेदान्त-वाक्य किसी प्रकार विधिपरक नहीं, अपितु अखण्ड ब्रह्मपरक ही है ॥ ४०० ॥

[निषेधवाक्यानां कार्यपरत्वनिरासः]

नियोग या भावना के स्वरूप को यदि मान भी लिया जाय, तब भी कर्मकाण्ड के अनन्त वाक्यों में उनका व्यभिचार स्पष्ट है—

अपि च प्रतिषेधचोदना—
विषयः स्यात्प्रतिषिद्धकर्मणः ।
फलगर्धिनिवृत्तिरेव सा
न नियोगो न च तस्य गोचरः ॥ ४०१ ॥

---

[1] आर्थीभावना के समर्थन में कहा गया है—

धात्वर्थव्यतिरेकेण यद्यप्येषा न लभ्यते ।
तथापि सर्वसामान्यरूपेणान्यावगम्यते ॥ (तं०वा० पृ०३८२)

अर्थात् जो समस्त यागादि धात्वर्थों में अनुस्यूत करोत्यर्थ प्रतीत होता है, वही आर्थीभावना है। उस अनुस्यूत व्यापार को प्रत्येक धात्वर्थ से भिन्न माना जाता है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर वह भी धात्वर्थ से भिन्न सिद्ध नहीं होता। यदि कहा जाय कि भावना में धात्वर्थ करण होता है, भावना सदैव अपने करण से निरूपित व्यापार है; अतः धात्वर्थ से भिन्न उसकी प्रतीति नहीं होती, तो यह कहना

योजना—अपि च प्रतिषिद्धकर्मणः फलगर्धिनिवृत्तिरेव प्रतिषेधचोदनाविषयः स्यात् सा न नियोगः, न च तस्य गोचरः ॥ (सुन्दरीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—दूसरी बात यह भी है कि हनन, पानादि निषिद्ध कर्म की फल-लिप्सा की निवृत्तिरूप उपरति ही 'न हन्तव्यः' आदि निषेध विधि का विषय है। वह (उपरति) न तो नियोग है और न उस (नियोग) का विषय ॥

भावितार्थ—'अवध्यो ब्राह्मणः', 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः', 'सुरां न पिबेत्' (का० सं० १२।१२) आदि प्रतिषेधवाक्य नञ्-घटित हैं। नञर्थ सदा निवृत्ति ही होता है। राग-प्राप्त पदार्थों का वहाँ निषेध मात्र ही किया जाता है, किसी वस्तु का विधान नहीं। वह निवृत्ति न तो नियोग है और न नियोग का विषय ही, अतः वहाँ नियोग का व्यभिचार पाया जाता है, उसके सर्वत्र होने का आग्रह नहीं किया जा सकता ॥ ४०१ ॥

नञ् का मुख्यार्थ निवृत्ति ही है, कहीं-कहीं अनुष्ठेयार्थ में लक्षणा अवश्य की जाती है; किन्तु 'न हन्तव्यः' आदि में अकारण लक्षणा नहीं कर सकते—

नञः स्वसम्बन्धिपदार्थवस्तुनो
निवृत्तिरर्थः सहजः प्रसिद्धितः ।
अनीक्षणादौ व्रतशब्दसंगतेः
परप्रयुक्ता खलु मानसी क्रिया ॥ ४०२ ॥

योजना—प्रसिद्धितः नञः सहज अर्थः—स्वसम्बन्धिपदार्थवस्तुनो निवृत्तिः, अनीक्षणादौ व्रतशब्दसंगतेः मानसी क्रिया परप्रयुक्ता खलु ॥ (वंशस्थम्) ॥

योजितार्थ—लौकिक प्रसिद्धि के आधार पर नञ् का स्वाभाविक अर्थ स्वसम्बन्धि-पदार्थ वस्तु की निवृत्ति ही होता है। 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' आदि स्थलों पर (उपक्रमस्थ) व्रत शब्द के अनुरोध से (अनीक्षण-संकल्प रूप) मानस क्रिया का लाभ होता है ॥

भावितार्थ—नञ् का स्वाभाविक अर्थ स्वसम्बन्धी वस्तु की निवृत्ति ही होता है। जैसे 'नास्ति' में स्व(नञ्) का सम्बन्धी है—सत्ता, उसकी निवृत्ति (सत्ता-निवृत्ति)। कहीं-कहीं अर्थान्तर में लक्षणा हो जाया करती है। जैसे स्मृतिकारों ने 'अथातः प्रजापति-व्रतम्' से आरम्भ करके कहा है—

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन ।
नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥ (मनु० ४।३७)

यहाँ यदि 'नेक्षेत' का अर्थ ईक्षण-निषेध किया जाता है, तब उपक्रम के कर्तव्यार्थक व्रत शब्द का विरोध होता है। अर्थात् 'व्रत' शब्द से सूचित होता है कि कुछ कर्त्तव्य अर्थों का निर्देश होगा, किन्तु आगे कह रहे हैं—ईक्षण निषेध, जो कि कर्त्तव्य नहीं। इस विरोध के खड़े हो जाने से 'नेक्षेत' की ईक्षणाविरोधी सङ्कल्प अर्थ में लक्षणा की जाती है।

भी संगत नहीं; क्योंकि दंडादि करण से प्रयोज्य चक्रादिनिष्ठ भ्रमी आदि व्यापार स्पष्टतया प्रतीत होते हैं; वैसे ही यदि प्रकृत में कोई भावना-व्यापार धात्वर्थ से भिन्न होता, तो अवश्य प्रतीत होता। अपनी परिभाषाओं के जंगल में डालकर किसी जानकार को भुलावा नहीं दिया जा सकता।

लक्षणा जघन्य वृत्ति है, मुख्यार्थ का बाध होने पर ही अपनाई जाती है। 'ब्रह्मणो न हन्तव्यः'—आदि में नञ् के हनन-निवृत्तिरूप अर्थ का बाध नहीं होता, अतः मुख्यार्थ ही करना होता है। फलतः इन वाक्यों में नियोगादि कर्त्तव्यार्थों का स्पष्ट अभाव है ॥४०२॥

यदि उक्त निषेधवाक्यों को भी विधिपरक मान लिया जाय, तब विधि-निषेध वाक्यों का भेद ही विलुप्त हो जायगा—

अपि च प्रतिषेधचोदना
न तु भिद्येत भवन्मते विधेः ।
विधिरेव तु चोदनाऽखिला
न हि वेदे वचनं निवर्त्तकम् ॥ ४०३ ॥

योजना—अपि च भवन्मते विधेः प्रतिषेधचोदना न तु भिद्येत; अखिला चोदना तु विधिरेव, वेदे निवर्त्तकं वचनं न हि ॥ (सुन्दरीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—दूसरी बात यह भी है कि आपके मत में विधिवाक्य से निषेधवाक्य का कोई भेद ही न रह जायगा। निखिल वेद-वाक्य विधिरूप ही होंगे, क्योंकि वेद में (आप के मत से) निवर्त्तक वचन है ही नहीं ॥

भावितार्थ—नियोगवादी यदि निवृत्ति को भी नियोग कहने का साहस करता है, तब सभी वाक्य विधिरूप ही होंगे, निषेधवाक्य ही सिद्ध न होगा। फिर तो विधि-निषेध का भेद ही समाप्त हो जायगा। विधि और निषेध का शास्त्रकारों ने महान् भेद बताया है—

फलबुद्धिप्रमेयाधिकारिबोधकभेदतः ।
पञ्चधाऽत्यन्तभिन्नत्वाद् भेदो विधिनिषेधयोः ॥ (न्यायसुधा)

अर्थात् फल, ज्ञान, प्रमेय, अधिकारी और बोधक (वाक्य) के भेद से पाँच प्रकार का विधि-निषेध वाक्यों में भेद होता है। विधि का स्वर्गादिरूप इष्ट फल, निषेध का अनिष्टनिवृत्ति फल माना जाता है। विधिवाक्यके सुनने से 'अहमस्मिन् कर्मणि प्रवर्तितः' यह बुद्धि उत्पन्न होती है, निषेध शास्त्र के सुनने से 'अहमस्मान्निर्वर्तितः' यह बुद्धि उत्पन्न होती है। विधि का प्रमेय यागादिगत इष्टसाधनत्व और निषेध का प्रमेय कलञ्जभक्षणादिगत अनिष्ट साधनत्व माना जाता है। स्वर्गादि-साधनों में अप्रवृत्त पुरुष विधिवाक्यों का तथा हननादि में प्रवृत्त पुरुष निषेध-वाक्यों का अधिकारी होता है। नञ्-रहित वाक्य विधिबोधक तथा नञ्-घटित वाक्य निषेध का बोधक होता है ॥ ४०३ ॥

प्रतिषेध वाक्य यदि नियोगादि साध्यार्थक नहीं, अपितु सिद्धार्थक ही मान लिये जायं; तब प्रकृत में उसका क्या लाभ ? इस जिज्ञासा को शान्त करते हैं—

प्रतिषेधवाक्यवदतः सकलं
विधिशून्यमेव फलवद्भवतु ।
वचनं त्रयीशिरसि तत्त्वमसि-
प्रभृति प्रतीचि तमसोऽपहतेः ॥ ४०४ ॥

योजना—अतः प्रतिषेधवाक्यवत् सकलमेव विधिशून्यं त्रयीशिरसि तत्त्वमसिप्रभृतिवचनं फलवत् भवतु, प्रतीचि तमसोऽपहतेः ॥ (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—अतः प्रतिषेधवाक्य के समान समस्त विधि-रहित, वेदान्त के 'तत्त्वमसि' आदि वचन सफल होते हैं; क्योंकि उनसे प्रत्यगात्मा के अज्ञानरूप तम की निवृत्ति होती है।

भावितार्थ—समस्त वेदवाक्यों में विधि-निष्ठता की सिद्धि नहीं हो सकती; अतः विधि-व्यभिचरित प्रतिषेध-वाक्यों के समान ही समस्त सद्धार्थक वेदान्त-वाक्य सफल (प्रमाण) क्यों न होंगे ? क्योंकि उनसे भी आत्मा के अनादि अज्ञान का बाध होता है। यह महान् फल है ॥ ४०४ ॥

पर्युदास अर्थ भी नञ् का मुख्य अर्थ ही है, यह मीमांसक-आग्रह दिखाया जाता है—

नामधातुसहितो नञिष्यते
पर्युदासविषयो मनीषिभिः ।
न प्रसक्तविनिवृत्तिवाचकोऽ—
ब्राह्मणादिषु तथोपलम्भनात् ॥ ४०५ ॥

योजना—नामधातुसहितो नञ् मनीषिभिः पर्युदासविषयः इष्यते, प्रसक्तविनिवृत्तिवाचको न; अब्राह्मणादिषु तथोपलम्भनात् ॥ (रथोद्धताच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—नाम (सुबन्त) और धातु शब्दों से युक्त नञ् को मनीषिगण पर्युदासार्थक ही मानते हैं, प्रसक्त-प्रतिषेधक नहीं; क्योंकि अब्राह्मणादि शब्दों में वैसा देखा जाता है।

भावितार्थ—नञ् का केवल प्रसक्त-निषेध ही मुख्य अर्थ नहीं होता, अपितु तदन्य और तद्विरुद्धादि अर्थ भी मुख्य अर्थ ही है। कुमारिल भट्ट ने स्पष्ट कहा है—

नामधात्वर्थयोगेन नैव नञ् प्रतिषेधकः ।
वदतोऽब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ ॥ (श्लो० वा० अपोह० ३३)

अर्थात् 'नाम (सुबन्त) और धातु के योग में नञ् प्रतिषेध-बोधक नहीं होता' अपितु पर्युदास-समर्पक होता है। जैसे कि 'अब्राह्मणः' ब्राह्मणान्य और 'अधर्मः' धर्मविरोधी अर्थ को कहता है। वैसे ही 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' में भी 'ब्राह्मण' नामार्थ तथा 'हनन-धात्वर्थ है, इनसे अन्वित होकर नञ् ब्राह्मणान्यादि अर्थ को कहेगा इस प्रकार 'तव्य' का विधि अर्थ ही रहता है ॥ ४०५ ॥

नामयोगी तथा धातुयोगी नञ् का क्रमशः उदाहरण—

अब्राह्मणाधर्मगिरां नञेष
नामान्वयादाश्रितपर्युदासः ।
अन्यं विरुद्धं च सदाऽभिधत्ते
नोद्यन्तमित्यादिषु धातुयोगात् ॥ ४०६ ॥

योजना—एष नञ् अब्राह्मणाधर्मगिरोः नामान्वयात् 'नोद्यंतम्'—इत्यादिषु धातुयोगात् आश्रितपर्युदासः सदा अन्यं विरुद्धं च अभिधत्ते ॥ (इन्द्रवज्राच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—यह नञ् 'अब्राह्मणः,' 'अधर्मः' आदि वाक्यों में नाम के योग से एवं 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' आदि वाक्यों में धातु के सम्बन्ध से पर्युदासवृत्ति का सदा आश्रय लेकर अन्य और विरुद्ध अर्थ को कहता है ॥

भावितार्थ—'अब्राह्मणः' 'अधर्मः' आदि वाक्यों में नामान्वय के निमित्त से ब्राह्मणान्य (क्षत्रियादि) एवं धर्म-विरुद्ध (अधर्म) को कहा जाता है। अतः पर्युदासवृत्ति भी मुख्य वृत्ति ही मानी जाती है ॥ ४०६ ॥

धातुयोगी नञ् की पर्युदास वृत्ति का प्रकार दिखाते हैं—

नोद्यन्तमित्यत्र नञेक्षणार्थ-
समीपकार्यान्तरमुच्यते हि ।
ततश्च नेक्षिष्य इतीदृशी स्यात्
संकल्पना संनिहितत्वहेतोः ॥ ४०७ ॥

योजना—'नोद्यन्तम्'—इत्यत्र नञा ईक्षणार्थसमीपकार्यान्तरम् उच्यते हि, ततश्च सन्निहितत्वहेतोः 'नेक्षिष्ये' इतीदृशी सङ्कल्पना स्यात् ॥ (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'—यहाँ पर नञ् के द्वारा ईक्षणनिकटवर्ती कार्यान्तर (अनीक्षण-सङ्कल्प) कहा जाता है, इसलिए निकट होने के कारण 'नेक्षिष्ये'—इस प्रकार का अनीक्षणविषयक सङ्कल्प किया जाता है ॥

भावितार्थ—उपक्रमस्थ 'व्रत' शब्द के अनुरोध से 'नेक्षेत'—यहाँ नञ् प्रतिषेधार्थक नहीं हो सकता, अपितु उस ईक्षण-प्रतिषेध के निकटस्थ पदार्थान्तर को कहेगा। वह पदार्थान्तर अनीक्षणविषयक सङ्कल्प ही होता है। अतः उक्त स्थल पर 'नेक्षिष्ये'—इस प्रकार के सङ्कल्प का विधान ही होता है ॥ ४०७ ॥

जहाँ नञ् प्रत्ययार्थ से जुड़ता है, वहाँ प्रतिषेध अर्थ को कहता है—

द्विजं न हन्यान्न कलञ्जमद्यात्
इत्यादिवाक्ये विधिनाऽस्य योगात् ।
प्रसज्यमानार्थनिवृत्तिमात्रं
नञर्थ इत्याश्रितमादरेण ॥ ४०८ ॥

योजना—'द्विजं न हन्यात्' 'कलञ्जं न अद्यात्'—इत्यादिवाक्ये अस्य विधिना योगात् प्रसज्यमानार्थनिवृत्तिमात्रं नञर्थः इति आदरेण आश्रितम्। (उपेन्द्रवज्राच्छन्दः)।

योजितार्थ—'ब्राह्मणं न हन्यात्', 'कलञ्जं न भक्षयेत्'—आदि वाक्यों में इस (नञ्) का प्रत्ययार्थ (विधि) से अन्वय होने के कारण प्राप्त हननादि अर्थों की निवृत्तिमात्र ही नञर्थ है—ऐसा सादर स्वीकार किया जाता है ॥ ४०८ ॥

प्रभाकरमतावलम्बी विद्वान् यहाँ भी पर्युदास ही मानते हैं—

नाद्यां न हन्यां न पिबेयमित्यपि
वाक्येषु नञ्वत्सु वदन्ति मानसीम् ।
संकल्परूपां [1]विधिवर्तिनीं क्रियां
नोद्यन्तमित्यादिवचःस्विवापरे ॥ ४०९ ॥

---

[1] 'विधिबन्धिनीमिति' पाठान्तरम् ।

योजना—अपरे नञ्वत्सु वाक्येषु अपि नोद्यन्तमित्यादिवचःस्विव 'नाद्याम्', न हन्याम्, 'न पिबेयम्'–इति सङ्कल्परूपां विधिवर्तिनीं मानसीं क्रियां वदन्ति ।। (व० छं०)

योजितार्थ—अन्य (प्राभाकरगण) उक्त नञ्-घटित वाक्यों में भी 'नेक्षेतोद्यन्तम्'—के समान ही 'न अद्याम्' 'न हन्याम्' 'न पिबेयम्'—इस प्रकार की सङ्कल्परूप विधि-योग्य मानस क्रिया को ही नञर्थ कहते हैं ।।

भावितार्थ—प्रभाकर मत के विद्वान् 'नेक्षेतोद्यन्तम्' के समान ही 'न कलञ्जं भक्षयेत्', 'ब्राह्मणं न हन्यात्', 'सुरां न पिबेत्'—इन वाक्यों में भी क्रमशः न 'भक्षयेयम्', 'न हन्याम्', 'न पिबेयम्'—इस प्रकार का सङ्कल्प ही नञर्थ माना करते हैं। उनके मत से इन वाक्यों में भी विधि या नियोग का व्यभिचार नहीं होता ।। ४०९ ।।

उक्त वाक्यों में प्रतिषेध सम्भव न होने के कारण ही पर्युदास माना जाता है—

वाक्येषु नञ्वत्सु निवृत्तिमात्रं
प्रमेयमित्यभ्युपगम्यमाने ।
प्रत्यक्षमानेन विरुध्यते हि
निवृत्तिशास्त्रं न च युज्यते तत् ।। ४१० ।।

योजना–नञ्वत्सु वाक्येषु निवृत्तिमात्रं प्रमेयम्–इत्यभ्युपगम्यमाने हि निवृत्तिशास्त्रं प्रत्यक्षमानेन विरुध्यते, तन्न युज्यते ।। (उपजातिच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—उक्त नञ्-घटित वाक्यों में निवृत्तिमात्र को नञर्थ मानने पर निवृत्ति शास्त्र, प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध पड़ जाता है, यह उचित नहीं ।।

भावितार्थ—'न कलञ्जं भक्षयेत्' आदि वाक्यों में कलञ्जादि के साथ नञ् का अन्वय करने पर 'कलञ्जं न'—इस अर्थ का लाभ होता है, जो कि प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। यह अग्रिम (श्लोक ४१७) में कहा जायगा ।। ४१० ।।

पूर्वमीमांसा-सूत्र-भाष्यकार शबरस्वामी ने भी सभी वाक्यों को प्रवर्तक ही माना है—

प्रवर्त्तकं वाक्यमुवाच चोदनां
निवर्त्तकं नैवमुवाच भाष्यकृत् ।
ततश्च विद्मो न हि चोदनास्ति सा
प्रवर्तिका या न भवेदिति स्थितिः ।। ४११ ।।

योजना–भाष्यकृत् प्रवर्त्तकं वाक्यं चोदनाम् उवाच, एवं निवर्तकं वाक्यं न उवाच। ततः विद्मः या प्रवर्त्तिका न भवेत् , सा चोदना नास्तीति स्थितिः ।। (वंशस्थम्) ।।

योजितार्थ–भाष्यकार ने प्रवर्तक वाक्यों को चोदना कहा है, किन्तु निवर्त्तकवाक्यों को नहीं कहा। इसलिए हम समझते हैं कि जो वाक्य प्रवर्तक नहीं होता, वह चोदना नहीं हो सकता—यह सिद्धान्त है ।।

भावितार्थ—भाष्यकार शबरस्वामी ने चोदना सूत्र में 'चोदना' शब्द का अर्थ करते हुए कहा है—'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनमाहुः'। वहाँ 'चोदना हि भूतं भवन्तं विप्रकृष्टं व्यवहितं शक्नोत्यवगमयितुं नान्यत् किं च नेन्द्रियम्' कहकर 'चोदना' शब्द को

वेदवाक्य-परक माना है, जैसा कि कुमारिल भट्ट ने सुस्पष्ट कहा है—'चोदना चोपदेशश्च शब्दमात्रविवक्षया' (श्लो० वा० ५।१२) इस प्रकार वैदिक वाक्यमात्र का लक्षण सिद्ध होता है--'प्रवर्त्तक वाक्य'। फिर तो वेद में निवर्त्तक वाक्य सिद्ध ही कैसे हो सकते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि 'न कलञ्जं भक्षयेत्' आदि वाक्य भी अभक्षण-सङ्कल्प रूप विध्यर्थ के ही बोधक हैं ॥ ४११ ॥

कथित द्विविध नञर्थ में दोष दिखाते हैं--

न नामयोगो न च धातुयोगो
लिङादियोगोऽपि न कारणं नः ।
नञः स्वसम्बन्धिनिवृत्तिमात्रं
स्वतोऽभिधेयं परतोऽन्यदस्य ॥ ४१२ ॥

योजना—नः न नामयोगः कारणम्, न धातुयोगः, न च लिङादियोगः। स्वसम्बन्धिनिवृत्तिमात्रं नञः स्वतोऽभिधेयम्, अन्यत् अस्य परतः ॥ (उपेन्द्रवज्राच्छन्दः) ॥

योजितार्थ--हमारे मत में न नाम-योग कारण (नञर्थ व्यवस्थापक) है, न धातुयोग और न लिङादियोग। अपने सम्बन्धी अर्थ की 'निवृत्तिमात्र' नञ् का स्वतःसिद्ध वाच्य है, अन्यत्व विरुद्धत्वादि इस (नञ्) के लक्षणादि से अर्थ किये जाते हैं ॥

भावितार्थ—एक शब्द के अनेक शक्यार्थ मानना कभी भी सङ्गत नहीं कहा जा सकता। अतः नञ् का एकमात्र 'निवृत्ति' ही मुख्य अर्थ है। जो 'अब्राह्मण' आदि स्थलों पर अन्यत्वादि अर्थों की प्रतीति होती है, वह लक्षणादि से भी हो सकती है, उसके लिए यह कोई आवश्यक नहीं कि विरुद्धत्वादि को भी नञ् का मुख्य अर्थ माना जाय ॥४१२॥

नाम-योगादि नञर्थ-व्यवस्थापक क्यों नहीं? यह दिखाते हैं--

तथा हि नाग्रे करणीतिनाम्ना
गजोऽत्र नास्तीति च धातुयोगे ।
लिङादियोगेऽपि निवृत्तिरर्थो
विषं न खादेदिति नञ्पदस्य ॥ ४१३ ॥

योजना—तथाहि--'नाग्रे करिणी' इति नाम्ना (योगेऽपि) 'अत्र गजो नास्ति' इति धातुयोगे च 'विषं न खादेत्'--इति लिङादियोगेऽपि नञ्-पदस्य निवृत्तिः अर्थः ॥ (उपेन्द्रवज्राच्छन्दः) ॥

योजितार्थ--'अग्रे करिणी (हस्तिनी) न'--यहाँ न नाम का, 'अत्र गजो नास्ति' यहाँ पर 'अस' धातु का और 'विषं न खादेत्'--यहाँ पर लिङ् का नञ् से योग होने पर करिणी-निवृत्ति, सत्ता-निवृत्ति, इष्टसाधनत्व-निवृत्ति--इस प्रकार सर्वत्र निवृत्ति ही अर्थ प्रतीत होता है। अतः नामादि के योग में नञ् का पर्युदास अर्थ करना सर्वथा

---

१. नञ्-घटित वैदिक वाक्य भी धर्म के बोधक हैं, अतः उनका भी द्वितीय (जै० सू० १।१।२) सूत्र के 'चोदना' शब्द से संग्रह करना होगा। शबर स्वामी ने 'चोदना' का अर्थ प्रवर्तक वाक्य किया है। नञ्-घटित वाक्यों को निषेधार्थक मान कर प्रवर्त्तक नहीं कहा जा सकता, फलतः उन्हें पर्युदासार्थक ही मानना पड़ेगा।

असङ्गत होता है ॥ ४१३ ॥

श्रुति में भी लोक-समानता दिखाते हैं—

तथा श्रुतौ नेति वचःसु नाम्नि
नानेह नास्तीति च धातुयोगे ।
तथाविधानेन कलञ्जमद्यात्
नञोऽविशेषेण निवृत्तिरर्थः ॥ ४१४ ॥

योजना—तथा श्रुतौ नेति वचःसु नाम्नि, 'नेह नानाऽस्ति' इति च धातुयोगे, तथा 'न कलञ्जमद्यात्' विधानेन न नञा अविशेषेण निवृत्तिः अर्थः ।। (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—वैसे ही श्रुति के 'नेति नेति' (बृह० २।३।६) वाक्यों में नाम के साथ 'नेह नानाऽस्ति' (बृह० ४।४।१९) इस वाक्य में धातु के साथ तथा 'न कलञ्जं भक्षयेत्' आदि वाक्यों में विधि (लिङ्) के साथ योग होने पर नञ् का सर्वत्र अविशेष रूप से निवृत्ति ही अर्थ होता है ॥

भावितार्थ -- एक शब्द से जब अनेक अर्थ प्रतीत होते हैं, तब कौन अर्थ मुख्य है ? और कौन गौण है ? इसका निर्णय करने के लिए विवेचक व्यभिचार-अव्यभिचार देखा करते हैं । अर्थात् जिस अर्थ का अपने शब्द के साथ कहीं भी व्यभिचार नहीं होता, वह मुख्य और इतर (व्यभिचरित) अर्थ गौण होता है । प्रकृत में नञ् शब्द से निवृत्ति रूप अर्थ का कहीं भी व्यभिचार नहीं, अतः वह मुख्य और पर्युदासादि गौण (लाक्षणिक) हैं—यही निश्चय होता है ॥ ४१४ ॥

यदि नामादि का योग पर्युदास का व्यवस्थापक नहीं, तब प्रतीययान पर्युदास का और क्या निमित्त है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

औदासीन्यं पुरुषगतमेवाविशेषान्नञोऽर्थो
भ्रान्तिप्राप्ते सति तु विषये यत्र यत्रैष दृष्टः ।
नौदासीन्यं पृथगिह भवेदात्मचिन्मात्ररूपात्
सिद्धे वस्तुन्यवसितमतो वेदवाक्यं निषेधे ॥ ४१५ ॥

योजना—विषये भ्रान्तिप्राप्ते सति तु यत्र यत्रैव दृष्टः, (तत्र सर्वत्र) अविशेषात् पुरुषगतम् औदासीन्यं नञर्थः । इह औदासीन्यम् आत्मचिन्मात्ररूपात् पृथक् न भवेत्, अतः निषेधे वेदवाक्यं सिद्धे वस्तुनि अवसितम् ।। (मन्दाक्रान्ताच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—प्रतियोगिरूप विषय के भ्रान्ति-प्राप्त होने पर जहाँ-जहाँ यह (नञ्) देखा जाता है, (वहाँ सर्वत्र) अविशेषरूप से पुरुषगत औदासीन्य ही नञ् का अर्थ होता है । यहाँ औदासीन्य पदार्थ चिन्मात्र आत्मा से पृथक् नहीं, अतः निषेधस्थल पर वेदवाक्य सिद्ध वस्तु में प्रमाण होते हैं ॥

भावितार्थ—जहाँ भ्रान्ति-प्राप्त पदार्थ का निषेध होता है, वहाँ प्रसज्य प्रतिषेध ही नञ् का अर्थ माना जाता है, जैसे 'न कलञ्जं भजयेत्'—यहाँ कलञ्ज-भक्षण रागादिपूर्वक भ्रान्ति से प्राप्त होता है, उसका उक्त स्मृति-वचन से निषेध होता है । ऐसे स्थलों पर सर्वत्र

प्रतिषेध ही नञर्थ होता है। जहाँ प्रमाण-प्राप्त पदार्थ का निषेध प्रतीत हो, वहाँ अवश्य नञ् की पर्युदास में लक्षणा की जाती है, जैसे—'नानुयाजेषु' यहाँ 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस प्रमाण से अनुयाज में प्राप्त 'ये यजामहे'—का उच्चारण 'नानुयाजेषु' से अत्यन्त निषिद्ध नहीं हो सकता, अतः यहाँ पर्यदासवृत्ति का सहारा लेकर 'अनुयाज-भिन्नेषु यजतिषु ये यजामहं करोति' यह अर्थ किया जाता है।

'नेह नानास्ति' आदि नञ्-घटित वैदिक वाक्यों का नानार्थादि-निवृत्ति ही मुख्य अर्थ है। निवृत्ति आत्मस्वरूप अधिष्ठान से भिन्न नहीं, अतः निवृत्ति-बोधक वाक्य भी आत्मस्वरूप के ही बोधक ठहरते हैं ॥ ४१५ ॥

कथित भाष्य-विरोध का उद्धार करते हैं—

प्रवर्त्तकं वाक्यमुवाच चोदनां
निधाय बुद्धौ वचनं निवर्त्तकम् ।
द्वितीयसूत्रे भगवान् बहुश्रुतो
न चोदनाद्वित्वनिवारणाय तत् ॥ ४१६ ॥

योजना—बहुश्रुतो भगवान् द्वितीयसूत्रे यत् प्रवर्त्तकं वाक्यं चोदनाम् उवाच, तत् निवर्तकं वाक्यं बुद्धौ निधाय चोदनाद्वित्वनिवारणाय न (वंशस्थच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—बहुश्रुत भगवान् भाष्यकार (शबर स्वामी) ने द्वितीय (चोदना) सूत्र में जो प्रवर्तक वाक्य को चोदना कहा है, वह निवर्तक वाक्यों को बुद्धि में रखकर कहा है, द्विविध चोदना के हटाने के लिए नहीं ॥

भावितार्थ—शबरस्वामी ने जो कहा है—'चोदना हि क्रियायाः प्रवर्त्तनं वचनमाहुः।' वहाँ निवर्त्तक वाक्यों को चोदना-कक्ष से बाहर रखना अभीष्ट नहीं, क्योंकि द्वितीय सूत्र में अर्थ पद की व्यावृत्ति बताते हुए भाष्यकार ने कहा है—'हिंसा हि सा, सा च प्रतिषिद्धा', 'तत्रानर्थो धर्म उक्तो मा भूदित्यर्थग्रहणम्।' अर्थात् श्येनादि कर्म-साध्य हिंसा निषिद्ध है, अनर्थ है, उसमें धर्म का लक्षण अतिव्याप्त न हो, इसलिए अर्थ पद का ग्रहण किया गया है। वहाँ सन्देहवादी ने कहा है—'कथं श्येनः कर्त्तव्यतया विज्ञायते ?' अर्थात् श्येनयाग जब निषिद्ध हिंसा का साधन है, तब उसे कर्तव्य क्यों कहा गया है ? उसके उत्तर में सिद्धान्ती ने कहा है—'न हि श्येनादयः कर्तव्या विज्ञायन्ते, या हि हिंसितुमिच्छेत्तस्यायमस्युपायः।' अर्थात् श्येनादि कर्तव्य नहीं बताये गये, अपितु जो किसी कारण से हिंसा करना चाहता हो, उसको एक मार्गमात्र सुझाया गया है। अब यदि कर्तव्यार्थ को ही चोदना-भाष्य-सम्मत माना जाय, तब श्येनादि में कर्तव्यता न होने से ही उनके वाक्य चोदना नहीं कहे जा सकते, उनमें अतिव्याप्ति ही नहीं होती, 'अर्थ' पद व्यर्थ हो जाता है। अतःय ह मानना ही होगा कि अकर्तव्य श्येनादि के वाक्य भी चोदना पद से विवक्षित हैं। फिर केवल कर्तव्यार्थक वाक्यों को ही भाष्यकार ने चोदना माना है—यह कहना सर्वथा असङ्गत है। भाष्यकार ने चोदना पद से विधि-निषेध सभी प्रकार के वाक्यों का ग्रहण किया है। वार्तिककार ने कहा ही है—'चोदना चोपदेशश्च शब्दमात्रविवक्षया' ॥ ४१६ ॥

निषेधवाक्यों के विषय में प्राभाकर-मत दिखाते हैं—

ननु निवृत्तिपरत्वमुदीरितं
विघटयामि निषेधगिरामहम् ।
न हि कलञ्जमिति प्रतिपाद्यते
यदि तदा नयनेन विरुध्यते ॥ ४१७ ॥

योजना— निषेधगिराम् इह उदीरितं निवृत्तिपरत्वं विघटयामि ननु, हि 'न कलञ्जम्'—इति यदि प्रतिपाद्यते, तदा नयनेन विरुध्यते ।। (द्रुतविलम्बितच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—निषेधवाक्यों में जो यहाँ निवृत्तिपरत्व कहा गया है, उसका निराकरण कर रहा हूँ—(नञ् का कलञ्ज के साथ अन्वय करके) "न कलञ्जम्" (यह कलञ्ज नहीं है) ऐसा यदि प्रतिपादन किया जाता है, तब नेत्र (प्रत्यक्षप्रमाण) से विरोध होता है ।।

भावितार्थ— उक्त निषेध वाक्यों में कलञ्जादि का अभाव नञर्थ है ? या भक्षणादि का अभाव ? या प्रत्ययार्थ का अभाव ? प्रथम विकल्प नितान्त असङ्गत हैं, क्योंकि भक्ष्य रूप से उपस्थित द्रव्य कलञ्ज ही है । उसे 'यह कलञ्ज नहीं है'—यह कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध है ।। ४१७ ।।

नञ् का 'भक्षणादि का अभाव' अर्थ करना भी उचित नहीं—

अथ कलञ्जपदार्थगभक्षणं
न हि तदाप्यमुनैव विरुध्यते ।
अथ तदीयफलस्पृहयाऽन्वयो
न हि तदप्यनुभूतिपराहतम् ॥ ४१८ ॥

योजना—अथ 'कलञ्जपदार्थगभक्षणं न हि' तदपि अमुनैव विरुध्यते । अथ तदीयफलस्पृहया अन्वयः, तदपि न हि, अनुभूतिपराहतम् ।। (द्रुतविलम्बितच्छन्दः)

योजितार्थ—यदि 'कलञ्जपदार्थ का भक्षण नहीं होता' यह अथ किया जाय, वह भी उसी प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध है । यदि कलञ्ज-भक्षणादि सम्बन्धी फल विषयक राग के साथ नञ का अन्वय किया जाय, वह भी उचित नहीं, क्योंकि अनुभव विरुद्ध है ।।

भावितार्थ—भक्षण पदार्थ भी प्रत्यक्ष-सिद्ध है । उसका निषेध करना भी प्रत्यक्ष-विरुद्ध है । प्रत्ययार्थान्वय पक्ष में प्रत्यय के दो अर्थ हो सकते हैं--फल-राग या भक्षणादि-नियोग । कलञ्ज-भक्षण-सम्बन्धी जो फल, उसकी स्पृहा के साथ अन्वय भी अनुभव-विरुद्ध है ।। २१८ ।।

नियोगरूप प्रत्ययार्थ के साथ नञ् का अन्वय भी संगत नहीं--

अथ तदीयनियोगनिवर्त्तनं
भवतु भक्षणमस्तु तदिच्छया ।
न हि नियोगनिवृत्तिनिवेदने
सति कलञ्जमभक्ष्यमितीङ्ग्यते ॥ ४१९ ॥

योजना—अथ तदीयनियोगनिवर्तनम् भवतु । तद्भक्षणं तदिच्छया भवतु, नियोग-

निवृत्तिनिवेदने सति कलञ्जम् अभक्ष्यम्—इति इङ्गयते न हि ।। (द्रुतविलम्बितम्) ।।

योजितार्थ—यदि भक्षण-सम्बन्धी नियोग की निवृत्ति (नञर्थ है), भले ही रहे। वह भक्षण यथेच्छ होगा, क्योंकि नियोग की निवृत्ति का कथन करने पर 'कलञ्ज अभक्ष्य है' यह नहीं सूचित होता ।।

भावितार्थ—नियोग का निषेध करने पर भक्षण का निषेध तो होता नहीं, अतः निषेध-वाक्य के रहने पर भी कलञ्ज-भक्षण तो रागतः होता ही रहेगा, फिर निषेध अत्यन्त निरर्थक पड़ जाता है ।। ४१९ ।।

यदि कलञ्जादि का निषेध नहीं हो सकता, तब इनसे अतिरिक्त किसी चतुर्थ पदार्थ का ही निषेध कर दिया जाय ? इस सन्देह को दूर करते हैं—

इह कलञ्जपदेन नञन्वयो
भवति वाऽस्य नञोऽदिसमागमः ।
अदिगतेन लिङादिपदेन वा
सह समेति नञत्र गतिस्त्रयी ।। ४२० ।।

योजना—इह कलञ्जपदेन नञन्वयो भवति, अस्य नञो अदिसमागमो वा, अदिगतेन लिङादिपदेन सह वा समेति । अत्र नञः त्रयी गतिः ।। (द्रुतविलम्बितम्) ।।

योजितार्थ—यहाँ कलञ्ज पद से नञ् का अन्वय हो सकता है, या इस नञ् का अद् (भक्षणरूप धात्वर्थ) के साथ समागम होगा, या अद् धातुगत लिङादि के साथ संगमन हो सकता है । यहाँ नञ् की तीन ही गतियाँ हैं ।।

भावितार्थ—नाम, धातु और लिङ्—इन तीनों को छोड़कर और चतुर्थ शब्द वहाँ प्रयुक्त ही नहीं, जिसके अर्थ से नञर्थका अन्वय हो । अप्रयुक्त पदार्थ के साथ अन्वय सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि 'शाब्दः शाब्देनैवान्वेति न त्वशाब्देन'—यह अन्वयाभिज्ञों की घोषणा है । अर्थात् किसी पद से उपस्थित पदार्थ का अन्य पद से उपस्थित पदार्थ के साथ ही अन्वय हुआ करता हैं ।। ४२० ।।

अतः परिशेष से निवृत्ति-नियोग-परक ही उक्त वाक्य को मानना चाहिए—

उदितपक्षपरिग्रहकारिणां
न च निषेधगिरामुपपादने ।
भवति शक्तिरतस्तु निषेधगीः
अपि नियोगपराऽभ्युपगम्यताम् ।। ४२१ ।।

योजना—उदितपक्षपरिग्रहकारिणां निषेधगिराम् उपपादने शक्तिः न च भवति, अतश्च निषेधगीरपि नियोगपरा अभ्युपगम्यताम् ।। (द्रुतविलम्बितम्) ।।

योजितार्थ—उक्त पक्ष-परिग्रहकारी वादिगणों की उक्त निषेधवाक्यों के उपपादन में शक्ति नहीं, अतः निषेधवाक्य को भी नियोगपरक ही मानना चाहिए ।।

भावितार्थ-उक्त तीन पक्षों में से किसी भी पक्ष का परिग्रह करनेवाला वादी निषेधवाक्यों के प्रामाण्य का उपपादन नहीं कर सकता, अतः यही उचित है कि निषेधवाक्यों को नियोग-बोधक ही मान लिया जाय ।। ४२१ ।।

यदि निषेधवाक्यों में निवृत्ति-नियोग ही वाक्यार्थ है, तब 'नाद्यात्' 'न हन्यात्' आदि वाक्यों का परस्पर भेद कैसे होगा ? क्योंकि निवृत्ति-नियोग सर्वत्र एक ही है। इस सन्देह का समाधान है—

यथा च यागाद्यनुबन्धभेदात्
भिन्नेषु शास्त्रेषु नियोगभेदः ।
निवृत्तिभेदादपि तद्वदस्य
निवृत्तयोऽपि ह्यनुबन्धभूताः ॥ ४२२ ॥

योजना— यथा च यागाद्यनुबन्धभेदात् भिन्नेषु शास्त्रेषु नियोगभेदः, तद्वत् निवृत्तिभेदादपि अस्य (भेदः) । निवृत्तयोऽपि हि अनुबन्धभूताः ॥ (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—जैसे यागादिरूप [1]अनुबन्ध (अवच्छेदक के भेद से 'यजेत', 'जुह्यात्' का भेद होता हैं और) भिन्न शास्त्रों में नियोग-भेद होता है, वैसे ही निषेध्य पदार्थ के भेद से भी इस (नियोग) का भेद होता है, क्योंकि निवृत्ति-पदार्थ भी नियोग के अनुबन्ध होते हैं ।

भावितार्थ—जैसे स्वरूपतः ज्ञान एक होने पर भी विषय के भेद से भिन्न होता है, वैसे नियोग का विषय होता है—धात्वर्थ । धात्वर्थ के भेद से प्रतिपादक शास्त्रों का भेद और शास्त्रों के भेद से नियोग का भेद होता है । वैसे ही भक्षणादि निवर्त्य-पदार्थों के भेद से निवृत्ति-शास्त्रों का भेद और शास्त्रों के भेद से नियोग में भेद होता है । जैसे अनुष्ठेय होने से यागादि कृति-साध्य नियोग के अनुबन्ध माने जाते हैं, वैसे ही प्रवृत्ति-विरोधि मनोव्यापार रूप होने से निवृत्ति भी अनुष्ठेय है, कृति-साध्य नियोग की अनुबन्ध बन जाती है, अतः उसके भेद से नियोग-भेद होना उचित ही है ॥ ४२२ ॥

इस पक्ष में निषिद्धानुष्ठान को अनर्थ हेतु क्योंकर माना जायगा ? इसका उत्तर है—

निवृत्तिसिद्ध्याऽपि नियोगसिद्धिः
प्रवर्त्तमानस्य न गर्तपातः ।
निषिद्धचेष्टा निरयस्य हेतुः
नियोगतो नाध्यवसीयते हि ॥ ४२३ ॥

योजना— निवृत्तिसिद्ध्याऽपि नियोगसिद्धिः, प्रवर्तमानस्य गर्तपातो न । नियोगतो हि निषिद्धचेष्टा निरयस्य हेतुः नाध्यवसीयते ॥ (उपेन्द्रवज्राच्छन्दः)

योजितार्थ— निवृत्ति की सिद्धि हो जाने से भी नियोग की ही सिद्धि होती है, प्रवर्तमान पुरुष की अनर्थ-प्राप्ति नहीं। नियोग से निषिद्धानुष्ठान नरक का हेतु सिद्ध नहीं होता।

भावितार्थ—निषिद्ध क्रिया की निवृत्ति का अनुष्ठान करने से निषिद्धानुष्ठान सिद्ध नहीं होता । निषिद्धानुष्ठान न होने से अनर्थ-प्राप्ति का अभाव अर्थात् सिद्ध हो जाता है । शास्त्र के द्वारा निषिद्धानुष्ठान में अनर्थहेतुता सिद्ध करने की न तो कोई आवश्यकता ही है और न सिद्ध ही किया जा सकता है ॥ ४२३ ॥

नरक-पात-परिहार की इच्छा के बिना किसी चेतन पुरुष को निवृत्ति-नियोगानुष्ठान में प्रवृत्त कैसे किया जा सकेगा ? इस आशङ्का को हृदय में रखकर सिद्धान्त-रहस्य बताते हैं—

---

[1] अनु पश्चात् बध्यते व्यवच्छेदकतयेति अनुबन्धः धात्वर्थादिः ।

नियोग एवैष पुमान्नियुज्यते
नियोगसिध्यै तु पुनर्नियुज्यते ।
परत्र कर्मस्वथ वा निवृत्तिषु
स्थितिः प्रसिद्धेति नियोगवादिनाम् ॥ ४२४ ॥

योजना—एष पुमान् नियोगे एव नियुज्यते । नियोगसिध्यै तु पुनः परत्र कर्मसु अथवा निवृत्तिषु नियुज्यते इति नियोगवादिनां प्रसिद्धा स्थितिः ॥ (वंशस्थम्) ॥

योजितार्थ—यह (नियोज्य) पुरुष नियोग में ही (प्रथमतः) नियुक्त होता है । नियोग-सिद्धि के लिए अन्य प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति कर्मों में । यह नियोगवादियों का प्रसिद्ध सिद्धान्त है ॥

भावितार्थ—नियोग के उद्देश्य से ही प्रथमतः पुरुष प्रवृत्त होता है । नियोग कोई व्यापार नहीं, अतः पुरुष उसमें कैसे प्रवृत्त होगा ? इस आशङ्का के समाधान में यह कहा जाता है कि पश्चात् वही पुरुष नियोग-सिद्धि के लिए यागादिरूप धात्वर्थ में नियोज्य नियुक्त किया जाता है । वह याग-साधन के द्वारा नियोग को सिद्ध किया करता है ॥ ५२४ ॥

निवृत्ति का यहाँ अर्थ प्रागभाव होता है । प्रागभाव अनादि है, अनुष्ठेय नहीं, अतः नियोग अपनी सिद्धि के लिए निवृत्ति में किसी अधिकारी को कैसे जोड़ सकता है ? इस सन्देह को मिटाते हैं—

प्रवृद्धरागस्य निवृत्तयोऽस्थिराः
ततः स्थिरत्वाय नियुज्यते पुमान् ।
निवृत्तिदेशेषु नियोगबुद्धितो
निवृत्तिमूर्ध्वं परिपालयिष्यति ॥ ४२५ ॥

योजना—प्रवृद्धरागस्य निवृत्तयः अस्थिराः, ततः स्थिरत्वाय निवृत्तिदेशेषु पुमान् नियुज्यते—नियोगबुद्धित ऊर्ध्वं परिपालयिष्यति ॥ (वंशस्थम्) ॥

योजितार्थ—(भक्षणादि में) रागातिरेक के कारण निवृत्तियाँ अस्थिर हुआ करती हैं, अतः उनकी स्थिरता के लिए पुरुष निवृत्ति-नियोग-विषयों में नियुक्त किया जाता है कि नियोग बुद्धि के अनन्तर निवृत्ति (प्रागभाव) का परिपालन करेगा ॥

भावितार्थ—कलञ्ज-भक्षणादि के चिरसञ्चित राग के कारण भक्षण का प्रागभाव (निवृत्ति) कभी स्थिर नहीं रह सकता । अवसर पाकर वह राग, भक्षण-प्रागभाव को विनष्ट करने पर उतारू हो सकता है । इसलिए निवृत्ति-नियोग में पुरुष को नियुक्त किया जाता है । वह उस नियोग को सदैव अपना कर्तव्य समझता रहेगा और भक्षण-प्रागभाव का परिपालन करता रहेगा ॥ ४२६ ॥

प्राभाकर नञर्थ अभाव को मानते ही नहीं, फिर उक्त अभावरूप निवृत्ति का और उसका अनुष्ठान कैसे सम्पन्न होगा ? इस शङ्का का समाधान है—

अनाद्यजग्धेश्च निवृत्तिरिष्टा
विशिष्टदन्तौष्ठनिविष्टसंवित् ।
अनन्यसंसर्गिपदार्थसंवित्
निवृत्तिरित्येष हि राजमार्गः ॥ ४२६ ॥

योजना—विशिष्टदन्तौष्ठनिविष्टसंवित्—[1]अनाद्यजग्धेः निवृत्तिः इष्टा । [2]अनन्यसंसर्गिपदार्थसंवित् निवृत्तिः इत्येष हि राजमार्गः ॥ (उपेन्द्रवज्राच्छन्दः) ॥

योजितार्थ— विशिष्ट (चर्वणक्रिया-रहित) दन्त और ओष्ठों का ज्ञान ही अभक्ष्य (कलञ्जादि) के भक्षण की निवृत्ति माना जाता है । निषेध्य के अनधिकरण पदार्थ का ज्ञान ही निवृत्तिपदार्थ है—यह प्रभाकर का सार्वभौम सिद्धान्त है ॥

भावितार्थ—प्रभाकर के मत में केवल (घटानधिकरण) भूतल का ज्ञान ही घटाभाव पदार्थ माना जाता है । इस प्रकार भक्षण-निवृत्ति भी केवल (चर्वणानधिकरण) दन्त ओष्ठादि का ज्ञान ही है । प्रभाकर ने सर्वत्र अभाव के स्थान में प्रतियोग्यनधिकरण-बुद्धि को ही अभिषिक्त किया है । इसीलिए किसी ने कटाक्ष भी किया है—

गुरुर्धियमभावस्य स्थाने स्थानेऽभिषिक्तवान् ।
प्रसिद्धमेव लोकेऽस्मिन् बुद्धबन्धुः प्रभाकरः ॥

अर्थात् प्रभाकर ने सर्वत्र अभाव के स्थान पर बुद्धि को अभिषिक्त किया है । इसी लिए लोक में यह प्रसिद्ध है कि प्रभाकर विज्ञानवादी बौद्धों के बन्धु हैं ॥ ४२६ ॥

यह जो कहा था कि नाम, धातु और लिङ्—इन में किसी के अर्थ का भी यहाँ निषेध नहीं हो सकता, वह असंगत है, क्योंकि लिङर्थ का निषेध अबाधित है—यह किसी का मत दिखाते हैं—

ननु समीहितसाधनता लिङो
लशुनगृञ्जनभक्षण-संश्रया ।
भवति वाच्यतयाऽभिमताऽस्य नो
नञपि तद्विनिवृत्तिनिवेदकः ॥ ४२७ ॥

योजना—ननु लशुनगृञ्जनादिभक्षणसंश्रया समीहितसाधनता लिङो वाच्यतया नो अभिमता भवति । अस्य नञपि तद्विनिवृत्तिवेवकः ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—लशुनादि-भक्षण-निष्ठ इष्टसाधनता को ही लिङ् का वाच्य माना जाता है । इस (वाक्य) का नञ् भी उस इष्टसाधनता की निवृत्ति का बोधक है ।

भावितार्थ—आशंकावादी का कहना है कि भक्षणादि पदार्थों का निषेध अवश्य प्रत्यक्षादि से बाधित है, किन्तु कलंजभक्षणादिवृत्ति इष्टसाधनतारूप लिङर्थ की निवृत्ति किसी प्रमाण से बाधित नहीं, अतः यही नञर्थ क्यों न होगी ? नियोग तक दौड़ने की क्या आवश्यकता ? ॥ ४२७ ॥

---

[1] आद्य भक्ष्यम् । नाद्यम् अनाद्यम् अभक्ष्यमित्यर्थः ।

[2] अन्यस्य प्रतियोगिनः संसर्गी, अन्यसंसर्गी । न अन्यसंसर्गी अनन्यसंसर्गी प्रतियोग्यनधिकरणमित्यर्थः ।

उक्त आशंका का निराकरण करते हैं—

तदसदिष्टफलोद्भवदर्शनात्
लशुनगृञ्जनपर्युषिताशनात् ।
न हि निषिद्धपदार्थनिमित्तकः
सुखलवः पुरुषस्य न विद्यते ।। ४२८ ।।

योजना—तदसत्, लशुनगृञ्जनपर्युषिताशनात् इष्टफलोद्भवदर्शनात् । निषिद्धपदार्थनिमित्तकः पुरुषस्य सुखलवः न विद्यते इति न हि ।। (द्रुतविलम्बितम्)

योजितार्थ—उक्त आशंका अनुचित है, क्योंकि लशुन, गृञ्जन (प्याज) और वासी अन्न के खाने से अभीष्ट फल की उत्पत्ति देखी जाती है । निषिद्ध पदार्थ के सेवन से पुरुष को किञ्चिन्मात्र भी सुख नहीं होता—यह नहीं कह सकते ।

भावितार्थ—पुरुष को इष्ट है सुख । कलञ्जादि निषिद्ध पदार्थ भी सुख के साधन हैं ही, उनके भक्षण से कुछ न कुछ सुख अवश्य होता है । अतः कलञ्ज-भक्षणादि में इष्ट-साधनत्वाभाव भी बाधित ही है । अतः वह नञर्थ नहीं हो सकता ।। ४२८ ।।

इष्ट-साधनत्व का भी निषेध हो सकता है- यह दिखाते हैं—

अदृष्टदोषं परिहृत्य शंसतः
कलञ्जमास्वाद्य सुखित्वमात्मनः ।
पुमानबोधोपहतः समीहते
तदीहिताभावपरा निषेधगीः ।। ४२९ ।।

योजना—अदृष्टदोषं परिहृत्य कलञ्जमास्वाद्य आत्मनः सुखित्वं शंसतः ईहिताभावपरा निषेधगीः, (यतः) पुमान् अबोधोपहत ।। (वंशस्थम्)

योजितार्थ—अज्ञात दोष की उपेक्षा करता हुआ कलञ्ज (विषाक्त बाण-विद्ध मृग-मांस) का आस्वादन कर जो व्यक्ति अपने सुखित्व की प्रार्थना करता है, उसके समीहिताभाव का बोध निषेधवाक्य कराता है, क्योंकि वह भावी कष्ट से अनभिज्ञ होकर उस कलंज को इष्ट-साधन मान बैठा है ।

भावितार्थ—विषैले बाण से मारे गये मृग के मांस का भक्षण जो व्यक्ति इष्ट-साधन मान रहा है, उसकी इष्ट-साधनता का अभाध-बोधन कराने के लिए "न कलञ्जं भक्षयेत्"-यह वाक्य प्रवृत्त हुआ है । यद्यपि उस व्यक्ति को उसके भक्षण से इष्टसाधनता का ही अनुभव होता है । किन्तु उसका वह अनुभव प्रमाण नहीं, अपितु भ्रममात्र है, क्योंकि वह भावी मरणादि कष्टों से अनभिज्ञ है ।। ४२९ ।।

फिर भी सन्देह होता है कि अनुभूयमान् फल-प्रार्थना का वहां निषेध कैसे होगा ? इसका उत्तर देते हैं—

नरकपातविवर्जनवर्त्मना
भवतु विप्रवधात्परमार्थतः ।
मम सुखित्वमितीच्छति यत्पुमान्
न तदितीह निषेधगिरोच्यते ।। ४३० ।।

योजना—विप्रवधात् नरकपातविवर्जितवर्त्मना मम परमार्थतः सुखित्वं भवतु—इति यत् पुमान् इच्छति, तन्नेति इह निषेधगिरा उच्यते ।। (द्रुतविलम्बितम्) ।।

योजितार्थ—'ब्राह्मण-वध से नरक-पात-रहित मार्ग के द्वारा मैं परमार्थतः सुखी हो जाऊँ'– इस प्रकार जो पुरुष इच्छा करता है, वह नहीं होगा—यह निषेध वाक्य से बताया जाता है ।।

भावितार्थ—ब्राह्मण-वध वस्तुतः बलवदनिष्टानुबन्धी है, उसमें मोह से इष्ट-साधनत्व की कल्पना करके कोई पुरुष ब्राह्मण-वध में प्रवृत्त हुआ है । उसके कल्पित इष्ट-साधनत्व का अभाव-बोधन कर श्रुति उस पुरुष को उस हिंसा से निवृत्त करती है । इस प्रकार भ्रान्तिप्राप्त इष्ट-साधनत्व के अभाव का ही बोध निषेध-वाक्य कराते हैं; किसी अनुष्ठेय अर्थ का नहीं—यह सिद्ध होता है ।। ४३० ।।

कलञ्ज-भक्षण में सुख-साधनता अनुभव-सिद्ध है, उसका निषेध नहीं हो सकता और अनुभव भी अबाधित है, अतः भ्रम नहीं कहा जा सकता । इस आक्षेपका उत्तर देते हैं–

प्रमाणतो नास्ति निषिद्धकर्मणः
फलस्पृहाऽदृष्टभयं विना तव ।
भ्रमादबोधप्रभवात्प्रवर्तसे
न तात मानेन फलस्पृहाऽत्र ते ।। ४३१ ।।

योजना—तात ! तव अदृष्टभयं विना निषिद्धकर्मणः फलस्पृहा प्रमाणतो नास्ति । अबोधप्रभवात् प्रवर्तसे । अत्र ते स्पृहा मानेन न ।। (वंशस्थम्) ।।

योजितार्थ—वत्स ! अदृष्ट (पारलौकिक) भय का ज्ञान न होने से ही निषिद्ध कर्मों की फल-स्पृहा होती है, वह प्रमाण-जन्य नहीं, केवल अबोधमात्र से (उस कर्म में) तू प्रवृत्त होता है । किसी प्रमाण के अधार पर तेरी इष्ट-साधनता आश्रित नहीं ।।

भावितार्थ–जिस कर्म का फल दृष्ट नहीं, अदृष्ट है; उसकी इष्टसाधनता या अनिष्ट-साधनता का ज्ञान केवल श्रुति से हुआ करता है । जैसा कि भट्टपाद ने कहा है--

"श्रेयः साधनता ह्येषां नित्यं वेदात्प्रतीयते" (श्लो०वा०२।१४) । विप्र-वधादि निषिद्ध कर्मों में इष्ट-साधनता की बोधिका कोई श्रुति नहीं है और प्रत्यक्ष से उसका ज्ञान सम्भव नहीं । अतः जिस इष्ट-साधनता ज्ञान के द्वारा व्यक्ति प्रवृत्त होता है, वह केवल अबोध-विजृम्भित है, मोह है, भ्रम है ।। ४३१ ।।

निषिद्ध कर्मों में इष्ट-साधनता भ्रममूलक सिद्ध हो जाने से –

इति श्रुतिः शास्ति निषिद्धकर्मणि
प्रवृत्तिमन्तं पुरुषं नञन्विता ।
नचायमर्थोऽपहृतः प्रमान्तरै,
न हि प्रमाणैरपरैर्विरुध्यते ।। ४३२ ।।

योजना—निषिद्धकर्मणि प्रवृत्तिमन्तं पुरुषं नञन्विता श्रुतिः इति शास्ति । अयमर्थः न च प्रमान्तरै अपहृतः, नहि अपरैः प्रमाणैः विरुध्यते ।। (वंशस्थम्)

योजितार्थ—निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त पुरुष को यह नञ् पदान्वित श्रुति उक्त प्रकार से उपदेश करती है। यह अर्थ न तो प्रमाणान्तर से बोधित है और न प्रमाणान्तर से बाधित ही है ॥

भाविवार्थ—भ्रान्ति के आधार पर निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त पुरुष को नञ् के सम्बन्ध से लिङ् श्रुति वैसा उपदेश करती है। वह श्रुति न तो प्रमाणान्तर-ज्ञात-ज्ञापक है और न प्रमाणान्तर से बाधित ही है ॥ ४३२ ॥

अनुरूप दृष्टान्त के द्वारा उक्त सिद्धान्त को दो श्लोकों से स्पष्ट करते हैं—

भुजङ्गभोगं सुकुमारशीतलं
निदाघसन्तापनिवृत्तये शिशुम् ।
भ्रमादुपादित्सुमुदीक्ष्य कातरा
निवर्तयेत् तज्जननी यथा तथा ॥ ४३३ ॥

भ्रमादनर्थस्य निदानमादरात्
कृतार्थतायै लशुनादिभक्षणम् ।
नञन्विता वैदिकचोदनाप्यसौ
विधित्सुमालक्ष्य निवर्त्तयिष्यति ॥ ४३४ ॥

योजना—यथा निदाघसन्तापनिवृत्तये भ्रमात् सुकुमारशीतलं भुजङ्गभोगं उपादित्सुम् शिशुम् उदीक्ष्य कातरा तज्जननी निवर्तयेत् ; तथा भ्रमात् कृतार्थतायै अनर्थस्य निदानं लशुनादिभक्षणं आदरात् विधित्सुम् आलक्ष्य असौ नञन्विता वैदिकचोदना अपि निर्वतयिष्यति ॥ (वंशस्थे) ॥

योजितार्थ—जैसे ग्रीष्म की कड़ी धूप का सन्ताप शान्त करने के लिए कोई बालक भ्रम से अत्यन्त कोमल और शीतल विषधर-फण का ग्रहण करना चाहता है; उसे देखकर उसकी माता व्याकुल होकर उसे हटा देती है; वैसे ही अभीष्ट-साधन के निमित्त कोई व्यक्ति भ्रम से वस्तुतः अनर्थ के हेतुभूत लशुनादि का भक्षण सादर करना चाहता है, वह देख यह नञ्-घटित वैदिक श्रुति उसे उस कर्म से हटा देती है ॥

भावितार्थ— भगवती श्रुति माता के समान मनुष्यों की हितकारिणी है। यदि वह किसी व्यक्ति को किसी कर्म से हटाती है, तब यह समझ लेना चाहिए कि वह वस्तुतः अनिष्ट-साधन है, भले ही थोड़ी देर के लिए वह इष्ट-साधन क्यों न प्रतीत होता हो। जैसे कि ब्राह्मण-वध में कोई व्यक्ति यह समझ कर प्रवृत्त हुआ है कि इससे हमारा इष्ट सिद्ध होगा। श्रुति ("ब्राह्मणं न हन्यात्") उसे उस हिंसा से हटाती है, अतः यह भ्रम से ही उसे अपना इष्टकर समझता था, यही निश्चय करना होगा; क्योंकि प्रमाण किसी अनर्थ को अर्थ या अर्थ को अनर्थ नहीं बता सकता। अन्यथा वह बाधितार्थक होकर प्रमाणता से ही पदच्युत हो जायगा ॥ ४३३, ४३४ ॥

निषेधवाक्यस्थ नञ् को प्रसज्य-प्रतिषेधार्थक सिद्ध किया। अब नियोग पक्ष में विषयासम्भव बताकर दोष दिखाते हैं—

क्रियानुप्रवेशं विना प्रागभावः
प्रसक्तक्रियाया न निर्वोढुमीशः ।
गुणद्रव्यवन्नित्यनिष्पन्नभावात्
पदत्वं नियोगस्य भावार्थवद्वः ॥ ४३५ ॥

योजना— वः गुणद्रव्यवत् नित्यनिष्पन्नभावात् क्रियानुप्रवेशं विना प्रसक्तक्रियायाः प्रागभावः नियोगस्य पदत्वं भावार्थवत् निर्वोढुं न ईशः ॥ (भुजङ्गप्रयातम्) ॥

योजितार्थ— आपके मत में आरुण्यादि गुण तथा दध्यादि द्रव्य के समान नित्य सिद्ध होने के कारण क्रिया-सम्बन्ध के बिना प्राप्त भक्षणादि क्रिया का प्रागभाव, नियोग की विषयता का धात्वर्थ के समान निर्वहण नहीं कर सकता ॥

भावितार्थ—दो ही प्रकार के पदार्थ विधेय तथा नियोग के विषय माने जाते हैं—एक यागादि धात्वर्थ और दूसरा क्रिया-सम्बन्धी गुण द्रव्यादि। "यजेत" यहाँ पर "यागविषयकं यागजन्यम् अपूर्वम" इस प्रकार याग विषय बन जाता है, विधेय बन जाता है; क्योंकि कृति-साध्य है। एवं सिद्ध होकर वह नियोग का साधन बनता है। 'दध्ना जुहोति'— यहाँ दधि स्वरूपतः सिद्ध होने पर भी होम-साधनत्वरूप से असिद्ध है, कृति-साध्य है। अत: विधेय और नियोग का विषय बनता है। "अरुणया पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति" - यहाँ पर आरुण्य गुण स्वरूपतः सिद्ध होने पर भी क्रयण-सम्बन्धित्वरूप से विधेय और नियोग का विषय माना जाता है। "न कलञ्जं भक्षयेत्"—यहाँ प्राप्त भक्षण क्रिया का प्रागभाव न तो स्वयं क्रिया है और न किसी क्रिया का सम्बन्धी; अतः वह नियोग का विषय नहीं बन सकता ॥ ४३५ ॥

पालन क्रिया के सम्बन्ध से उक्त प्रागभाव में नियोग की विषयता क्यों नहीं बन सकती ? इस सन्देह का समाधान करते हैं—

न पाल्यत्वयोगादलंभूष्णुभावो
यतः पालनं श्रूयते नात्र वाक्ये ।
न खल्वश्रुतं गृह्यते न्यायहानाद्
यथा न श्रुतं त्यज्यते तद्भयेन ॥ ४३६ ॥

योजना—पाल्यत्वयोगात् (प्रागभावस्य) भूष्णुभावः अलम् न; यतः अत्र वाक्ये पालनं न श्रूयते। अश्रुतं न गृह्यते खलु; न्यायहानात्। यथा तद्भयेन श्रुतं न त्यज्यते ॥ (भुजङ्गप्रयातम्) ॥

योजितार्थ—पालनक्रिया के सम्बन्ध से (प्रागभाव में) भवनकर्तृत्व (साध्यत्व) युक्त नहीं; क्योंकि 'न कलंजं भक्षयेत्' आदि निषेध वाक्यों में 'पालन' श्रुत नहीं। अश्रुत पदार्थ का श्रुय पदार्थ से सम्बन्ध नहीं होता, नहीं तो 'शाब्दः शाब्देनैवान्वेति, न त्वशाब्देन'—यह न्याय भङ्ग हो जायगा। इसी न्याय के भङ्ग-भय से श्रुत का परित्याग भी नहीं किया जाता।

भावितार्थ—पालन क्रिया के सम्बन्ध से भी उक्त प्रागभाव साध्य तथा नियोग का विषय नहीं बन सकता, क्योंकि उक्त निषेध वाक्यों में पालन क्रिया का वाचक कोई पद ही नहीं। अश्रुत (अनुक्त) पालन की कल्पना करनी वैसे ही सङ्गत नहीं है, जैसे श्रुत का

परित्याग; क्योंकि यह प्रसिद्ध न्याय है—"श्रुतहानिरश्रुतकल्पना न न्याय्या।" दूसरी बात यह भी है कि प्रवर्तक राग यदि है, तब हजारों नियोगों के रहने पर भी उक्त प्रागभाव का परिपालन न हो सकेगा। प्रवर्त्तक राग की निवृत्ति दोष-दर्शन से हो सकती है, नियोग से नहीं ॥ ४३६ ॥

नियोगवाद में श्रुतहानि दोष भी है—

उदासीनता च श्रुता नञ्पदार्थो
नियोगे सति त्याज्यतां याति सद्यः ।
अतद्योग्यभावादयोग्यः पदार्थो
न वाक्यार्थभागिष्यते जैमिनीयैः ॥ ४३७ ॥

योजना—नञ्पदार्थश्च उदासीनता श्रुता, (सा) नियोगे सति सद्यः त्याज्यतां याति, जैमिनीयैः अयोग्यः पदार्थः वाक्यार्थभाग् नेष्यते; अतद्योग्यभावात्। (भुजङ्गप्रयातम्)

योजितार्थ—(उक्त निषेध वाक्यों में) नञ् पदार्थ उदासीनता श्रुत है, वह नियोग-पक्ष में परित्यक्त हो जाती हैं, क्योंकि आचार्य जैमिनि के अनुयायिगण अयोग्य पदार्थ को वाक्यार्थ का अङ्ग नहीं माना करते हैं, जब कि वह अन्वय की क्षमता ही नहीं रखता ॥

भावितार्थ—निषेध वाक्य के सुनने पर श्रोता को जो यह बोध होता है कि "मुझे इस कार्य से रोका गया है।" यह उदासीनता ही नञ् पद से अभिहित है, किन्तु नियोगवाद में इसका परित्याग हो जाता है, क्योंकि यह उदासीनता अनुष्ठेय पदार्थ न होने के कारण विधेय नहीं और नियोग की विषय नहीं बनती। अयोग्य अर्थ का वाक्यार्थ में कोई स्थान नहीं—ऐसा जैमिनीय आचार्यों की उद्घोषणा है ॥ ४३७ ॥

नियोग पक्ष में प्रत्यवायासिद्धि भी एक महान् दोष है—

निषिद्धक्रिया प्रत्यवायाय नेति
स्वकर्णौ जनः प्रोर्णुते पापभीरुः ।
समाकर्ण्य दुर्भाषितं पार्श्ववर्त्ती
न पापाक्षरं किञ्चिदेतादृगन्यत् ॥ ४३८ ॥

योजना। निषिद्धक्रिया प्रत्यवायाय नेति दुर्भाषितं समाकर्ण्य पार्श्ववर्ती पापभीरुः जनः स्वकर्णौ प्रोर्णुते, एतादृक् पापाक्षरं अन्यत् किंचित् न ॥ (भुजङ्गप्रयातम्) ॥

योजितार्थ—'निषिद्ध क्रिया से प्रत्यवाय (पाप) नहीं होता'—ऐसा अनुचित वचन सुनकर समीपवर्ती पापभीरु पुरुष अपने कान बन्द कर लेता है कि इस प्रकार का पाप शब्द और कोई नहीं ॥

भावितार्थ—निषेधवाक्यों में प्रत्यवायाभाव की कामना रखने वाला व्यक्ति ही नियोज्य होता है। यदि निषिद्ध कर्मानुष्ठान से पाप ही नहीं होता, तब उनकी निवृत्ति-नियोग के अनुष्ठान से प्रत्यवायाभाव भी न हो सकेगा। अतः प्रभाकर का पक्ष लेकर ऐसा कहना कि 'निषिद्ध कर्म से कोई प्रत्यवाय नहीं होता' वस्तुतः असंगत है—यह व्यक्त करने के लिए दुर्वचन कहा है ॥ ४३८ ॥

निषिद्ध क्रिया को छोड़कर और कोई प्रत्यवाय का कारण नहीं हो सकता, अतः निषिद्ध क्रिया को प्रत्यवाय का हेतु न मानना अनुभव-विरुद्ध भी है—

निषिद्धक्रिया प्रत्यवायाय नो चेत्
तदा दुःखमाकस्मिकं सर्वपुंसाम् ।
सुखं पुण्यमूलं यथा सर्वपुंसां
तथा दुःखमप्यस्तु वः पापमूलम् ॥ ४३९ ॥

योजना-चेत् निषिद्ध-क्रिया प्रत्यवायाय न, तदा दुःखम् आकस्मिकं (स्यात्)। यथा सर्वपुंसां सुखं पुण्यमूलं तथा सर्वपुंसां दुःखमपि वः पापमूलम् अस्तु ॥ (भुजङ्गप्रयातम्)

भावितार्थ—अनुभूयमान दुःख कदाचित् किसी निमित्त से किसी ही पुरुष को क्यों होता है ? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए किसी अदृष्ट पाप कारण की कल्पना की जाती है। अदृष्ट सदैव क्रिया-जन्य होता है। अतः निषिद्धि क्रिया को ही पाप का कारण कहना होगा। अब यदि निषिद्ध क्रिया पापजनक नहीं, तब पाप अकारण हो जायगा। बिना कारण के किसी कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं ॥ ४३९ ॥

दुःख अवश्य पाप-जन्य है, किन्तु पाप निषिद्ध क्रिया से जन्य नहीं—इस आशंका को हटाते हैं—

निषिद्धक्रियां चोदितस्याक्रियां वा
विना नास्ति पापस्य निष्पत्तिहेतुः ।
ततस्तद् द्वयं पापनिष्पादकत्वात्
भवेत्प्रत्यवायस्य नित्यं निदानम् ॥ ४४० ॥

योजना—निषिद्धक्रियां चोदितस्याक्रियां वा विना पापस्य निष्पत्तिहेतुः नास्ति। ततः तद् द्वयं पापनिष्पादकत्वात् प्रत्यवायस्य नित्यं निदानं भवेत् ॥ (भुजङ्गप्रयातम)

योजितार्थ—निषिद्धानुष्ठान या विहितानुष्ठान के बिना पाप की उत्पत्ति का और कोई हेतु नहीं। अतः वे दोनों पाप के निष्पादक होने से प्रत्यवाय के नित्य निदान होंगे ॥

भावितार्थ—विहिताकरण को पाप का जनक अवश्य मानना होगा, नहीं तो नित्य कर्मों का अनुष्ठान कौन करेगा ? कर्मकाण्ड की आधारशिला ही खिसक जायगी। विहिताकरण के समान ही निषिद्धानुष्ठान को भी पाप का जनक मानना होगा। नहीं तो अनन्त निषेध वाक्यों के रहने पर भी हिंसादि से कौन निवृत्त होगा ? अतः निषिद्धानुष्ठान को पाप का जनक न मानना अत्यन्त असंगत है ॥ ४४० ॥

विहिताकरण को जो पाप का हेतु कहा गया, वह आपांत दृष्टि से। वस्तुतः निषिद्ध क्रिया ही पाप-जनक है। विहिताकरण तो पाप-हेतु का सूचकमात्र ही है। जैसा कि भट्टपाद ने कहा है—

अकुर्वन् विहितं कर्म यत् करोत्यन्यदचेतनः ।
प्रत्यवायोऽस्य तेनैव नाभावेन स जन्यते ॥

अर्थात् विहतकर्म को न करके उसके स्थान में जो भी कर्म किया जाता है, उसी से प्रत्यवाय उत्पन्न होता है, विहित के अनुष्ठान से नहीं; क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति

नहीं हो सकती । श्रुति स्पष्ट कहती है—'कथमसतः सत् जायेत' (बृह० ६।२।१) इसलिए निषिद्ध क्रिया से ही दुःख (प्रत्यवाय) होता है, यह दिखाते हैं—

निषिद्धक्रिया दुःखनिष्पत्तिहेतुः
भवेल्लक्षणं चोदितस्याक्रियाऽस्य ।
अभावान्न भावस्य निष्पत्तिरिष्टा
भवेल्लक्षणं ज्ञायमानस्वभावः ॥ ४४१ ॥

योजना—निषिद्धक्रिया दुःखनिष्पत्तिहेतुः भवेत् । चोदितस्याक्रिया अस्यैव लक्षणम् अभावात् भावस्य निष्पत्तिः नेष्टा । लक्षणं ज्ञायमानस्वभावः भवेत् ।। (भुजङ्गप्रयातम्)।।

योजितार्थ—निषिद्ध क्रिया ही दुःख की जनक होती है । विहिताकरण इसी हेतु का ज्ञापक है, क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं मानी जाती । ज्ञापक तो ज्ञायमान ही होता है ।।

भावितार्थ—अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती—यह कहा जा चुका है, अतः जहाँ विहिताकरण से प्रत्यवाय की उत्पत्ति कही गई है, उसका आशय यह है कि विहिताकरण-ज्ञाप्यार्थ से प्रत्यवाय की उत्पत्ति होती है । अर्थात् विहितकर्म के समय उससे अतिरिक्त निखिल कर्मों का निषेध समझा जाता है । विहित कर्म न करके, उस समय जो भी अन्य कर्म किया जाता है, वह निषिद्ध कर्म ही है, उसी से प्रत्यवाय की उत्पत्ति होती है, वही विहिताकरण से ज्ञाप्य है । फलतः निषिद्ध कर्मानुष्ठान से ही प्रत्यवाय की उत्पत्ति होती है ।। ४४१ ।।

जिस मत में निषेधवाक्य निवृत्तिमात्र-परक हैं, उस मत में भी निषिद्धानुष्ठान पाप का हेतु कैसे सिद्ध होगा ? इस जिज्ञासा को शान्त किया जाता है—

निवृत्तिनिष्ठे तु निषेधवाक्ये
निषिद्धकर्माचरणादनर्थः ।
प्रतीयतेऽर्थादिति तत्र युक्तं
दुःखं नृणां दुश्चरितैकमूलम् ॥ ४४२ ॥

योजना—निषेधवाक्ये निवृत्तिनिष्ठे तु अर्थात् निषिद्धकर्माचरणाद् अनर्थः प्रतीयते इति तत्र नृणां दुखं दुश्चरितैकमूलं युक्तम् ।। (उपजातिच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—निषेधवाक्य को निवृत्तिपरक मानने पर अर्थात् निषिद्ध कर्मानुष्ठान से अनर्थ प्रतीत होता है। इसलिए वहाँ मनुष्यों के दुःख का एकमात्र मूल दुश्चरित सिद्ध होता है ।।

भावितार्थ—निषेधवाक्य के निवृत्तिपरता-पक्ष में बलवदनिष्टानुबन्धीष्टसाधनत्वाभाव अनर्थ होता है । निषिद्ध कलञ्ज-भक्षण तो दृष्ट सुख का जनक देखा जाता है, अतः उसमें इष्टसाधनत्व ही है, इष्टसाधनत्वाभाव नहीं । इस प्रकार विशेष्याभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव वहाँ नहीं रह सकता, अपितु विशेषणाभाव-प्रयुक्त ही विशिष्टाभाव रखना होगा । विशेषण है—बलवदनिष्टानुबन्धित्वाभाव, उसका अभाव होता है—बलवदनिष्टानुबन्धित्व । इस प्रकार निषिद्ध क्रिया के अनुष्ठान में अर्थात् अनिष्ट-जनकता सिद्ध हो जाती है ।। ४४२ ।।

लिङ् के इष्टसाधनत्वार्थक पक्ष में नञ् का पर्युदास अर्थ करनें पर निषिद्ध क्रिया में अनिष्ट-साधनत्व सिद्ध न हो सकेगा—

समीहितोपायतया लिङन्वयात्
प्रतीयमानस्य तु भक्षणादिनः ।
न पर्युदासाश्रयणेन नञ्पदात्
अनिष्टहेतुत्वमतिर्भविष्यति ॥ ४४१ ॥

योजना—लिङन्वयात् नञ्पदात् पर्युदासाश्रयणेन समीहितोपायतया प्रतीयमानस्य तु भक्षणादिनः अनिष्टहेतुत्वमतिर्न भविष्यति ॥ (वंशस्थम्) ॥

योजितार्थ—लिङन्वित नञ् पद का पर्युदास अर्थ करने पर इष्ट-साधनरूप से प्रतीयमान भक्षणादि में अनिष्ट-साधनत्व का बोध न हो सकेगा ॥

भावितार्थ—किसी का कहना था कि जहाँ निषेध्य भ्रान्ति से प्राप्त होता है, वहाँ नञ् का प्रसज्य-प्रतिषेध अर्थ किया जाता है और जहाँ निषेध्य पदार्थ वस्तुतः उपस्थित होता है, वहाँ नञ् का पर्युदास अर्थ करना ही उचित होता है । प्रकृत में इष्टसाधनत्व भक्षणादि में वस्तुतः है ही, अतः यहाँ नञ् का पर्युदास अर्थ करना चाहिए । उस कथन का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती यह आपत्ति देता है कि पर्युदास-पक्ष में अनिष्ट-साधवत्व धात्वर्थ में सिद्ध न होगा ॥ ४४३ ॥

पर्युदास-पक्ष में अनिष्ट-साधनत्व धात्वर्थ में क्यों न सिद्ध होगा ? यह दिखाते हैं—

तथा हि सम्बन्ध्युपमर्दबुद्धये
समर्थमुत्सर्गमपेक्ष्य नञ्पदम् ।
न पदर्युसाय विनाऽपवादकं
ततो निवृत्त्यर्थपरं तदिष्यते ॥ ४४४ ॥

योजना—तथाहि, उत्सर्गम् अपेक्ष्य नञ्पदं सम्बन्ध्युपमर्दबुद्धये समर्थम् । अपवादकं विना पर्युदासाय न । ततः तत् निवृत्यर्थपरम् इष्यते ॥ (वंशस्थम्) ॥

योजितार्थ—स्वभावतः नञ् पद अपने सम्बन्धी अर्थ के अभाव के बोध में ही समर्थ होता है । किसी अपवाद के बिना पर्युदास नहीं माना जा सकता । इसलिए वह (नञ् पद) निवृत्ति-परक ही माना जाना चाहिए ॥

भावितार्थ—यह औत्सर्गिक नियम है कि नञ् अपने सम्बन्धी अर्थ का निषेध बोध कराता है । जहाँ कहीं उसका कोई बाधक उपस्थित हो जाता है, वहाँ पर्युदास अर्थ किया जाता है, किन्तु प्रकृत में कोई बाधक नहीं, अतः प्रतिषेध अर्थ ही मानना होगा ॥४४४॥

भक्षणादि का निषेध तथा अनर्थहेतुत्व का ज्ञान कराने के लिए दोनों (प्रतिषेध तथा पर्युदास) आवश्यक हैं—

अतः प्रसज्यप्रतिषेधसंभवात्
न पर्युदासाश्रयणं प्रशस्यते ।
न पर्युदासाश्रयणं विना भवेत्
अनिष्टहेतुत्वनञर्थकल्पना ॥ ४४५ ॥

योजना—अतः प्रसज्यप्रतिषेधसम्भवात् पर्युदासाश्रयणं न प्रशस्यते। पर्युदासाश्रयणं विना अनिष्टहेतुत्वनञर्थकल्पना न भवेत्॥ (वंशस्थम्)

योजितार्थ—इसलिए प्रसज्य-प्रतिषेध सम्भव रहनें पर पर्युदास का आश्रयण प्रशस्त नहीं। पर्युदास का सहारा लिये बिना नञ् का अर्थ अनिष्ट हेतुत्व नहीं किया जा सकता।

भावितार्थ—जब तक मुख्यवृत्ति से काम चलता है, तब तक गौणवृत्ति का आश्रयण नहीं किया जाता। पर्युदास का आश्रयण भी आवश्यक है, नहीं तो अनर्थ-हेतुत्व का लाभ नञ् पद से न होगा॥ ४४५॥

पर्युदास-समाश्रयण के बिना अनर्थ-हेतुत्व का लाभ क्यों न होगा? यह दिखाते हैं—

अभीष्टहेतुत्वलिङर्थपृष्ठतो
ह्यनर्थहेतुत्वनञर्थकल्पना।
न पर्युदासं परिहृत्य कल्प्यते
न पर्युदासः प्रतिषेधसंभवात्॥ ४४६॥

योजना—अभीष्टहेतुत्वलिङर्थपृष्ठतः अनर्थहेतुत्वनञर्थकल्पना न हि। पर्युदासं परिहृत्य न कल्प्यते। पर्युदासो न; प्रतिषेधसम्भवात्। (वंशस्थम्)॥

योजितार्थ—अभीष्ट-हेतुत्वरूप लिङर्थ के सम्बन्ध से अनर्थ-हेतुत्वरूप नञर्थ की कल्पना होती है। पर्युदास के बिना उक्त कल्पना नहीं हो सकती। पर्युदास को मुख्य नञर्थ नहीं माना जा सकता; क्योंकि प्रतिषेध-सम्भव है॥

भावितार्थ—इष्ट-साधनत्वरूप लिङर्थ के सम्बन्ध से नञ् का इष्ट-साधनात्वाभाव ही अर्थ होता है, अनर्थ हेतुत्व नहीं; इसलिए पर्युदास का सहारा लिया जाता है। यहाँ नञ् का पर्युदास अर्थ माना भी नहीं जा सकता; क्योंकि प्रतिषेधरूप मुख्यार्थ का बाध यहाँ नहीं होता॥ ४४६॥

निषेधवाक्य का निवृत्ति अर्थ निश्चित हो जानें पर कार्यवादी के लिए 'उभयतः पाशा रज्जुः' दोष देते हैं—

प्रमाणमिच्छन्प्रतिषेधचोदनां
समस्तवेदस्य न कार्यगोचरम्।
प्रमाणभावं प्रतिपत्तुमीश्वरो
निषेधवाक्ये तदसंभवाद्यतः॥ ४४७॥

योजना—प्रतिषेधचोदनां प्रमाणमिच्छन् समस्तवेदस्य कार्यगोचरं प्रमाणभावं प्रतिपत्तुम् ईश्वरो न; यतः निषेधवाक्ये तदसम्भवात्। (वंशस्थम्)॥

योजितार्थ—निषेध वाक्यों को प्रमाण मानकर समस्त वेद में कार्यपरता का प्रतिपादन नहीं कर सकते; क्योंकि निषेध वाक्यों में वह (कार्यपरत्व) सम्भव नहीं॥

भावितार्थ—कार्यवादी से पूछा जा सकता है कि निषेध वाक्यों को प्रमाण मानता है? या नहीं? यदि मानता हैं, तब समस्त वेद में कार्यपरता का आग्रह नहीं कर सकता और यदि निषेध वाक्यों को प्रमाण नहीं मनता, तब सकल वेद की प्रामाणिकता समाप्त हो जाती है॥ ४४७॥

इस प्रकार वेदान्तवाक्यों में विधि-निष्ठत्व की आशङ्का नहीं की जा सकती—

अतो न वेदान्तवचःसु विद्यते
विधिर्नियोगो न च शब्दभावना ।
न कर्मकाण्डेऽपि नियोगतोऽस्त्यसौ
यतो निषेधेषु न विद्यते विधिः ॥ ४४८ ॥

योजना—अतः वेदान्तवचःसु विधिः, नियोगः, शब्दभावना च न। कर्मकाण्डेऽपि असौ नियोगतः न; यतः निषेधेषु विधिर्न विद्यते। (वंशस्थम्) ॥

योजितार्थ—इसलिए वेदान्तवाक्यों में विधि, नियोग और शब्द-भावना नहीं। कर्मकाण्ड में भी विधि नियमतः नहीं, क्योंकि निषेध वाक्यों में विधि विद्यमान नहीं ॥

भावितार्थ—वेदान्त हेयोपादेय-रहित सिद्ध ब्रह्मपरक है, अतः उनमें विधि (इष्ट-साधनता), नियोग (वैदिककार्य), और शब्दभावना की उपपत्ति नहीं की जा सकती। केवल इतना ही नहीं, अपितु कर्मकाण्ड में भी सर्वत्र विध्यादि की सत्ता नहीं बतायी जा सकती; क्योंकि निषेध वाक्यों में उनका अभाव बताया जा चुका है ॥ ४४८ ॥

कर्मकाण्ड में यदि कार्यपरत्व-नियम मान भी लें, तब भी वेदान्त-वाक्यों में वह सम्भव नहीं—

उपेत्यवादं परिगृह्य चोच्यते
नियोगनिष्ठाऽस्तु निषेधगीरपि ।
तथापि वेदान्तवचःसु विद्यते
विधेर्न गन्धोऽपि विरोधकारणात् ॥ ४४९ ॥

योजना—उपेत्यवादं परिगृह्य च उच्यते—निषेधगीरपि नियोगनिष्ठा अस्तु, तथापि वेदान्तवचःसु विधेः गन्धोऽपि न विद्यते, विरोधकारणात् ॥ (वंशस्थम्) ॥

योजितार्थ—अभ्युपगमवाद का सहारा लेकर भी कहा जा सकता है कि यदि निषेध वाक्य को नियोगपरक मान भी लिया जाय, तब भी वेदान्त वाक्यों से विधि की गन्ध भी बतायी नहीं जा सकती ॥

भावितार्थ—निषेध वाक्यों को नियोगपरक यदि मान भी लिया जाय, फिर भी वेदान्त वाक्यों में कोई भी विधि नहीं हो सकती, क्योंकि वेदान्त में अद्वैत-तात्पर्य-ग्राहक प्रमाणों का विरोध होता है। विधिपरक मानने पर वस्तुपरत्व न रह सकने के कारण ब्रह्म की सिद्धि न होगी और उभयपरक मानने से वाक्य-भेद दोष भी प्राप्त होगा ॥ ४४९ ॥

[ज्ञाने विधेयत्वासम्भवनिरूपणम्]

कथित विरोध ही स्पष्ट किया जाता है—

ज्ञानं विधातुं न हि शक्यमेतत्
न शक्यते कर्तुमकर्तुमेतत् ।
अतोऽन्यथा कर्तुमशक्यमेतत्
प्रमाणमेयैकनिबन्धनत्वात् ॥ ४५० ॥

योजना—एतद् ज्ञानं विधातुं न हि शक्यम्, एतत् कर्तुम् अकर्तुं न शक्यते, तथा एतत् अन्यथाकर्तुम् अशक्यम्, प्रमाणमेयैकनिबन्धनत्वात् ।। (उपजातिच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—इस ज्ञान का विधान नहीं किया जा सकता, इसका करण और अकरण नहीं हो सकता, तथा इसका अन्यथा करण भी अशक्य है; क्योंकि यह प्रमाण और प्रमेयमात्र के अधीन है ।।

भावितार्थ—विधान सदैव क्रिया का होता है; क्योंकि पुरुष उसमें स्वतन्त्र होता है, जैसे "गच्छेत्" यहाँ गमन क्रिया का विधान होता है। गमन क्रिया में पुरुष सर्वथा स्वतन्त्र है, पुरुष चाहे गमन करे या न करे या अन्यथा करे। किन्तु ज्ञानादि वस्तु में पुरुष का स्वातन्त्र्य नहीं, वह तो प्रमाण और प्रमेय पर निर्भर है। अतः ज्ञानादि का विधान नहीं हो सकता। वेदान्त-प्रतिपाद्य ब्रह्म का ज्ञान जब कि विधेय ही नहीं, तब उसके लिए विधि भी सम्भावित नहीं ।। ४५० ।।

ब्रह्म-ज्ञान का विधान करने के लिए उसका ज्ञान आवश्यक है—

ब्रह्मज्ञानं जानता ब्रह्मबुद्धेः
कर्तव्यत्वं शक्यते ज्ञातुमेतत् ।
न ह्यज्ञात्वा ब्रह्मबुद्धिं तदीयं
कर्तव्यत्वं कश्चिदीष्टे ग्रहीतुम् ।। ४५१ ।।

योजना—एतत् ब्रह्मज्ञानं जानता ब्रह्मबुद्धेः कर्तव्यत्वं ज्ञातुं शक्यते। कश्चित् ब्रह्मबुद्धिम् अज्ञात्वा तदीयं कर्तव्यत्वं न हि इष्टे ।। (शालिनीच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—इस ब्रह्मज्ञान का ज्ञान रखनेवाला ही ब्रह्मज्ञान की कर्तव्यता जान सकता है। कोई व्यक्ति ब्रह्मज्ञान को न जानकर तत्सम्बन्धी कर्तव्यता का ज्ञान नहीं कर सकता।

भावितार्थ—ब्रह्मज्ञान-कर्तव्यता की विधि में विशेषणीभूत ब्रह्मज्ञान का ज्ञान विधि के पूर्व ही होना चाहिए, अन्यथा उसकी कर्तव्यता का विधान ही न हो सकेगा। आशय यह है कि "ब्रह्मज्ञानं कुर्यात्" इस प्रकार ब्रह्मज्ञान की कर्तव्यता का विधान होने से पहले ही ब्रह्मज्ञान का ज्ञान होना चाहिये, नहीं तो विधिवाक्य-घटक पदों का अर्थ-ज्ञान न होने से विधिवाक्य का अर्थ-बोध ही न हो सकेगा; क्योंकि वाक्यार्थ-बोध में पदार्थ-ज्ञान की हेतुता अत्यन्त प्रसिद्ध है ।। ४५१ ।।

विधि के पूर्व यदि ब्रह्म-ज्ञान का ज्ञान है, तब—

ब्रह्मज्ञानं ब्रह्मणि ज्ञायमाने
ज्ञातुं शक्यं नान्यथा तच्च तद्वत् ।
विज्ञातं चेद् ब्रह्मणस्तत्त्वमस्य
प्राप्ता मुक्तिर्नास्ति कृत्यं विधीनाम् ।। ४५२ ।।

योजना—ब्रह्मणि ज्ञायमाने ब्रह्मज्ञानं ज्ञातुं शक्यम्, न अन्यथा। तच्च ब्रह्मणस्तत्त्वं चेत् तद्वत् विज्ञातम्; अस्य मुक्तिः प्राप्ता। विधीनां कृत्यं नास्ति।। (शालिनीच्छन्द)

योजितार्थ—ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर ही ब्रह्मज्ञान का ज्ञान हो सकता है, अन्यथा

नहीं। वह ब्रह्म का स्वरूप यदि ब्रह्मज्ञान के समान ही ज्ञात हो गया, तब इस (अधिकारी) को मुक्ति प्राप्त हो गयी। विधि का कोई प्रयोजन ही न रहा ।।

भावितार्थ—ज्ञान सदैव अपने विषय से निरूपित होता है, विषय के ज्ञान से ही जाना जाता है। अतः ब्रह्म-ज्ञान का ज्ञान तभी होगा, जब कि उसके विषयीभूत ब्रह्म का ज्ञान हो जाय। यदि ब्रह्म का भी ज्ञान पहले ही मान लिया जाय तब विधि की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती; क्योंकि विधि का फल मुक्ति पहले ही ब्रह्मज्ञान से प्राप्त हो चुकी है।। ४५२ ।।

ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर विधि में केवल निष्प्रयोजनता ही नहीं आती, अपितु विधि सम्भव ही नहीं रह जाती—

दृशो विराट्सूत्रशरीरगोचरं
परस्पराध्यासमबोधसम्भवम् ।
अनर्थमाहुः श्रुतिमस्तके स्थिताः
ततोऽस्य विद्यासमयैव मुक्तता ।। ४५३ ।।

योजना—श्रुतिमस्तके स्थिताः दृशो अवोधसम्भवं विराट्सूत्रशरीरगोचरं परस्पराध्यासं अनर्थमाहुः, ततोऽस्य विद्यासमया एव मुक्तता ।। (वंशस्थम्) ।।

योजितार्थ—वेदान्तनिष्ठ आचार्यगण चेतन में अज्ञान-सम्भूत, विराट्सूत्र-शरीर-विषयक परस्पराध्यास को अनर्थ कहते हैं, अतः इस (विद्वान्) की ज्ञान-काल में ही मुक्ति सिद्ध हो जाती है।

भावितार्थ—ब्रह्म में अज्ञान तथा अज्ञान-कार्य (विराट्=स्थूल तथा सूत्र=सूक्ष्म द्विविध शरीरादि) अध्यास को ही अनर्थ माना करते हैं। इस अनर्थ की निवृत्ति ज्ञान के उदय-काल में वैसे ही हो जाती है, जैसे सूर्योदयकाल में ही अन्धकार तथा अन्धकार-जन्य भय की निवृत्ति हो जाती है। ज्ञान की सिद्धि हो जाने पर और किसी की अपेक्षा ही नहीं रह जाती, जिसके लिए विधि की आवश्यकता हो ।। ४५३ ।।

अनर्थाध्यास दृढ़भावित होने के कारण सहसा ज्ञानोदयमात्र से निवृत्त नहीं हो सकता, उसके लिए ज्ञानाभ्यास का विधान आवश्यक हैं, इस सन्देह को भी दूर करते हैं-

अनाद्यविद्यापटनेत्रबन्धनं
प्रसह्य वेदान्तनिबन्धना मतिः ।
स्वजन्ममात्रेण दृढात्मगोचरा
समूलदाहं दहतीति हि श्रुतिः ।। ४५४ ।।

योजना—वेदान्तनिबन्धना दृढा आत्मगोचरा मतिः स्वजन्ममात्रेण अनाद्यविद्यापटनेत्रबन्धनं प्रसह्य समूलदाहं दहतीति हि श्रुतिः ।। (वंशस्थम्) ।।

योजितार्थ—वेदान्त-प्रमाण-जनित, दृढ़ ब्रह्माकार बुद्धि अपने जन्ममात्र से ही अनादि अविद्यारूप नेत्र-बन्धन पट को बलात् समूल भस्मसात् कर डालती है—यह श्रुति का उद्घोष है।।

भावितार्थ—ज्ञान के उदय हो जाने पर और-अभ्यासादि की अपेक्षा ही नहीं रह जाती; अतः ज्ञानाभ्यास के लिए भी विधि की कोई आवश्यकता नहीं। एक बार उत्पन्न होकर ज्ञान फिर नष्ट नहीं हुआ करता ।। ४५४ ।।

इस प्रकार ब्रह्म के ज्ञात या अज्ञात रहने पर विधि की सम्भावना नहीं—

विज्ञाते ब्रह्मणि स्याद्विधिरयमफलः प्रत्यये तस्य तद्वत्
नाज्ञातब्रह्मकर्मा विधिविषय इति प्रत्ययो बुद्धियोग्यः ।
ब्रह्मात्मप्रत्ययेऽतो विधिरनवसरः सर्वथा चिन्त्यमानः
तस्माद्ब्रह्मात्मवस्तुन्यवसितमखिलं विद्धि वेदान्तवाक्यम् ॥४५५॥

योजना—ब्रह्मणि विज्ञाते तस्य प्रत्यये अयं विधिः अफलः स्यात् । तद्वत् अज्ञातब्रह्मकर्मा प्रत्ययो विधिविषय इति न बुद्धियोग्यः । अतः सर्वथा चिन्त्यमानः ब्रह्मात्मप्रत्यये विधिः अनवसरः । तस्मात् अखिलं वेदान्तवाक्यम् ब्रह्मात्मवस्तुनि अवसितं विद्धि ॥ (स्रग्धराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ— ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर ब्रह्म-ज्ञान की विधि निष्फल है । वैसे ही अज्ञात ब्रह्म का ज्ञान विधेय है—यह बुद्धि में नहीं बैठता । अतः सर्वथा विचार करने पर भी ब्रह्म-ज्ञान की विधि को कोई अवसर नहीं । इसलिए समस्त वेदान्तवाक्य ब्रह्मात्म वस्तु में पर्यवसित होते हैं—यह निश्चय रखना चाहिए ॥

भावितार्थ—ब्रह्म-ज्ञान-विधि-पक्ष में जिज्ञासा होती है कि परोक्ष ज्ञान की विधि करनी है ? या अपरोक्ष ज्ञान की ? परोक्षज्ञान-पक्ष में भी वही पूर्वोत्पन्न परोक्ष ज्ञान विधेय है ? या दूसरा ? पूर्वोक्त परोक्ष ज्ञान का विधान सम्भव नहीं । अन्य परोक्ष ज्ञान का भी विधान आवश्यक नहीं; क्योंकि वह भी विधि के बिना ही प्रथम ज्ञान के समान ही उत्पन्न हो सकता है । अपरोक्ष ज्ञान (साक्षात्कार) की भी विधि नहीं हो सकती; क्योंकि वह एकमात्र प्रमाण का फल है, वस्तु तन्त्र है; विधेय नहीं । इस प्रकार कर्मकाण्ड में विधि या नियोग की सम्भावना होने पर भी वेदान्त में उसकी सर्वथा असम्भावना है । इसलिए वेदान्तवाक्य सिद्ध ब्रह्म में ही प्रमाण है—यही अन्तिम निश्चय है ॥ ४५५ ॥

एक दृष्टान्त के द्वारा प्रकारान्तर से भी उक्त विधि की असम्भावना बताई जाती है—

विरुद्धत्रिकस्य द्वयापत्तिदोषात्
न शक्यं विधीनां धियः संग्रहीतुम् ।
यथा वाजपेये गुणस्येव तद्वत्
ततो नास्ति वेदान्तवाक्ये विधानम् ॥ ४५६ ॥

योजना—धियो विधानं संग्रहीतुं न शक्यम्; विरुद्धत्रिकस्य द्वयापत्तिदोषात् । यथा वाजपेये गुणस्य, तद्वत् इह । ततः वेदान्तवाक्ये विधानं नास्ति ॥ (भुजङ्गप्रयातम्) ॥

योजितार्थ—ब्रह्म-ज्ञान का विधि-संग्रह नहीं हो सकता; क्योंकि दो विरुद्ध-त्रिक दोष प्राप्त होते हैं । जैसे कि वाजपेय में गुण-विधि-पक्ष में, वैसे ही प्रकृत में । इसलिए वेदान्त-वाक्यों में विधि नहीं हो सकती ॥

भावितार्थ—'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' (आप०श्रौ० १८।१।१) यहाँ संशय होता है कि 'वाजपेयेन' शब्द किसी गुण का विधायक है ? या कर्म का नामधेय है ? पूर्वपक्षी गुणविधि मानता है । उसके पक्ष में दो विरुद्ध-त्रिक दोष आ जाते हैं, जो कि अग्रिम

पद्य में ही दिखाये जायेंगे। वैसे ही प्रकृत में भी ब्रह्म-ज्ञान-विधि पक्ष में वे ही दोष आ जाते हैं, अतः यह विधि-पक्ष अत्यन्त सदोष है, अनुचित है ॥ ४५६ ॥

कथित विरुद्ध त्रिक-द्वय दिखाते हैं—

उद्दिश्यमानत्वमनूद्यमान-
भावप्रधानत्वमितीदमेकम् ।
तथाप्युपादेयविधेयशेष-
भावप्रभेदं त्रिकमन्यदत्र ॥ ४५७ ॥

योजना—उद्दिश्यमानत्वम्, अनूद्यमानभावः, प्रधानत्वम्—इतीदम् एकं (त्रिकम्)। तथा उपादेयविधेयशेषभावप्रभेदं अन्यत् अपि त्रिकम् ॥ (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—उद्दिश्यमानत्व, अनूद्यमानत्व, प्रधानत्व—यह एक त्रिक है। तथा उपादेयभाव, विधेयभाव, शेषभाव—यह दूसरा त्रिक भी यहाँ है ॥

भावितार्थ—'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत'—यहाँ पर वाजपेय शब्द से (वाजम्= अन्नम्, पातुं योग्यं पेयम्, वाजं च तत् पेयम्; वाजपेयम्=सुराद्रव्यमित्यर्थः) सुरादि द्रव्य का यदि विधान किया जाय; तब याग के उद्देश्य से वाजपेय गुण का विधान करने पर याग में उद्देश्यत्व धर्म आता है। उद्देश्य पदार्थ सदा अनूद्यमान और विधीयमान गुण का प्रधान होता है, अतः उस (याग) में अनूद्यमानत्व तथा प्रधानत्व— ये दो धर्म और होते हैं। इस प्रकार याग में उद्देश्यत्व, अनुवाद्यत्व और प्रधानत्व—ये तीन धर्म आते हैं। उसी समय स्वाराज्य रूप फल के उद्देश्य से उसी याग का विधान भी करना है, अतः उसी याग में स्वाराज्य फल की अपेक्षा उपादेयत्व, विधेयत्व और गुणत्व (शेषत्व)— ये तीन धर्म आते हैं। दोनों त्रिक परस्पर विरुद्ध हैं। अर्थात् उद्देश्यत्व का उपादेयत्व से, अनुवाद्यत्व का विधेयत्व से और प्रधानत्व का गुणत्व से अत्यन्त विरोध है; क्योंकि प्रमाणान्तर से प्राप्त (ज्ञात) पदार्थ उद्देश्य बना करता है और प्रामाणान्तर से अप्राप्त (अज्ञात) पदार्थ उपादेय। इस प्रकार एक ही याग में युगपत् प्रामाणान्तर से ज्ञातत्व और अज्ञातत्व रूप अत्यन्त विरुद्ध धर्मों का एक ही याग में प्रसंग होता है। वैसे ही अनुवाद्यत्व-विधेयत्व तथा प्रधानत्व-गुणत्व—ये दो परस्पर विरुद्ध जोड़े भी आते हैं। सब मिला कर दो विरोधी त्रिक (तिक्कड़) आते हैं। इन्हें एक ही समय एक वस्तु में माना नहीं जा सकता ॥४५७॥

दृष्टान्त के समान ही दार्ष्टान्त में भी दो विरुद्ध त्रिक दिखाते हैं —

एकेन वाक्येन धियो विधानं
प्रत्यक्प्रमित्सा च यदि प्रतीचि ।
त्रिकं द्वयं तत्र विरुद्धमेतत्
प्रसज्यते कष्टमतः किमन्यत् ॥ ४५८ ॥

योजना—यदि एकेन वाक्येन धियो विधानं प्रत्यक्प्रमित्सा च (अभिमता); तथा तत्र प्रतीचि विरुद्धं त्रिकद्वयं प्रसज्यते। अतः किमन्यत् कष्टम् ? (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—यदि एक ही वाक्य से ब्रह्म-ज्ञान का विधान तथा प्रत्यगात्मा के स्वरूप-

के अवधारण की इच्छा अभिमत हो, तब वहाँ प्रत्यगात्मा में दो विरुद्ध त्रिक प्राप्त होते हैं। इससे बढ़कर और कष्ट क्या होगा ? ।। ४५८ ।।

विरुद्ध त्रिक-द्वय ही दिखाते हैं—

उद्दिश्यमानं तदनूद्यमान-
भूतं प्रधानं च धियो विधाने ।
प्रमीयमाणं पुनरात्मवस्तु
तदास्पदं स्यादितरत्रिकस्य ॥ ४५९ ॥

योजना—धियो विधाने तत् उद्दिश्यमानम्, अनूद्यमानम्, प्रधानं च आत्मवस्तु प्रमीयमाणं पुनः इतरत्रिकस्य आस्पदं स्यात् ।। (उपजातिच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—ब्रह्मज्ञान-विधि-पक्ष में वह (आत्मवस्तु) उद्दिश्यमान है, अनूद्यमान है और प्रधान है। वही आत्मवस्तु प्रमित्सा-पक्ष में अन्य त्रिक (उपादीयमानत्व, विधेयत्व तथा गुणत्व) की आश्रय होती है ।।

भावितार्थ—'आत्मानं जानीयात्' (ज्ञानेन आत्मानं भावयेत्) इस प्रकार ज्ञान का विधान करने पर आत्मतत्त्व के उद्देश्य से ज्ञान विहित है, अतः आत्मा में उद्देश्यत्व, अनूद्यमानत्व और प्रधानत्वरूप एक त्रिक आता है। एवं (आत्मना प्रमां भावयेत्)— यहाँ प्रमा के उद्देश्य से आत्मा का विधान करने पर आत्मा में उपादेयत्व, विधेयत्व और गुणत्व यह दूसरा त्रिक प्राप्त होता है, जो कि प्रथम त्रिक से अत्यन्त विरुद्ध है ।। ४५९ ।।

दृष्टान्त में विरुद्ध त्रिक-द्वय का आधार दिखाते हैं –

प्रथमत्रिकं यजिनिगद्यगतं
गुणसंगतेरवगमे भवति ।
चरमत्रिकं यजिनिगद्यगतं
फलसंगतेरवगमे तु पुनः ॥ ४६० ॥

योजना—गुणसंगतेरवगमे यजिनिगद्यगतं प्रथमत्रिकम् , फलसंगतेरवगमे तु पुनः यजिनिगद्यगतं चरमत्रिकं भवति ।। (वंशस्थम्) ।।

योजितार्थ—"वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत"—यहाँ याग के साथ गुण-सम्बन्ध स्थापना (वाजपेयेन यागं भावयेत्) करने पर यजिपदार्थ में प्रथम त्रिक (उद्देश्यत्व, अनुवाद्यत्व, प्रधानत्व) तथा याग का फल के साथ सङ्गमन (यागेन स्वाराज्यं भावयेत्) करने पर यजिशब्दार्थ में द्वितीय त्रिक (उपादेयत्व, विधेयत्व, गुणत्व) प्राप्त होता है ।।

भावितार्थ—"वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत"—यहाँ वाजपेय शब्द यदि यवागू या सुरादि गुण (यागाङ्ग) का बोधक है; तब इस एक ही वाक्य से याग के उद्देश्य से वाजपेय गुण और स्वाराज्य के उद्देश्य से याग का विधान करना है। भिन्न-भिन्न क्षणों में दोनों विधानों को मानने पर वाक्यभेद दोष होता है और एक क्षण में दोनों विधानों का सङ्गमन करने पर विरुद्ध त्रिक-द्वय, क्योंकि एक ही समय उसी याग का वाजपेय गुण तथा स्वाराज्य फल के साथ अन्वय करना है। गुण के साथ अन्वय करने के लिए

याग को प्रधान और फल के साथ अन्वय करने के लिए उसी याग को गुण मानना है। अतः उक्त विरुद्ध दो त्रिक अनिवार्य रूप से प्राप्त हो जाते हैं ।। ४६० ।।

जैसे एक ही दण्ड में निरूपक-भेद से ह्रस्वत्व तथा दीर्घत्व दोनों विरुद्ध धर्म रहते हैं, वैसे ही याग में कथित विरुद्ध धर्म क्यों नहीं रह सकते ? इस शंका का समाधान है—

सकृदुच्चरन्यजतिरेष गुणं
न फलं च संगमयितुं क्षमते ।
कथितत्रिकद्वयविरोधवशाद्
यजिवस्तुनीति ननु नीतिविदः ॥ ४६१ ॥

योजना—एष यजतिः सकृत् उच्चरन् यजिवस्तुनि गुणं फलं च सङ्गमयितुं न क्षमते इति नीतिविदः ननु ।। (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—यह यति धातु एक ही बार उच्चरित होकर याग वस्तु में गुण तथा फल का एक-साथ अन्वय नहीं कर सकती—ऐसा नीतिवेत्ता कहा करते हैं ।।

भावितार्थ—'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयति"—यह शब्दमर्यादा है । अर्थात् एक बार उच्चरित शब्द एक ही अर्थ का बोध कराता है । इस न्याय के आधार पर "वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत"—यहाँ पर 'यजेत' शब्द एक बार एक ही सिद्ध या साध्य अर्थ का बोधक हो सकता है । विधेय पदार्थ उस काल में असिद्ध ही होता है, सिद्ध नहीं, किन्तु उद्देश्य पदाथ उस काल में सिद्ध ही होता है, असिद्ध नहीं । अतः एक ही याग एक ही समय सिद्ध और असिद्ध स्वरूप नहीं हो सकता । सिद्ध पदार्थ में उद्देश्यत्वादि प्रथम त्रिक और असिद्ध पदार्थ में उपादेयत्वादि द्वितीय त्रिक रहा करता है । ह्रस्वत्व-दीर्घत्वादि एक सिद्ध पदार्थ में रह जाते हैं, उन्हें विभिन्न रूप धर्मी अपेक्षित नहीं । किन्तु उद्देश्यत्व, उपादेयत्व आदि को रखने के लिए विभिन्नस्वरूप धर्मी की अपेक्षा है, इसलिए एक काल में एक ही याग में उक्त दोनों विरुद्ध त्रिक नहीं रखे जा सकते ।। ४६१ ।।

विरुद्ध त्रिकद्वयापत्ति का दृष्टान्त और दार्ष्टान्त पर पड़ा प्रभाव दिखाते हैं —

इति वाजपेयगतनीतिवशा-
दपि नाऽऽत्मवस्तु विषयागतौ ।
विधिरस्ति तेन विधिशून्यतया
परमात्मवस्तुविषयोपनिपत् ॥ ४६२ ॥

योजना—इति वाजपेयगतनीतिवशाद् अपि आत्मवस्तुविषयावगतौ विधिर्नास्ति, तेन विधिशून्यतया उपनिपत्परमात्मवस्तुविपया ।। (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—इस प्रकार वाजपेय-वाक्य-गत न्याय के अनुरोध से भी आत्म-ज्ञान में विधि नहीं, अतः विधि-शून्य होने के कारण उपनिषत्-वाक्य परमात्मवस्तुमात्र के बोधक सिद्ध होते हैं ।। ४६२ ।।

[सगुणवाक्यानां निर्गुणे समन्वयः]

निर्गुण वाक्यों का विधि-रहित ब्रह्मस्वरूपमें समन्वय दिखाया गया। अब 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'–आदि सगुण वाक्यों का भी निर्गुण ब्रह्म में समन्वय विरुद्ध नहीं, यह दिखाते हैं—

सगुणवाक्यमपीह समन्वितं
भवति निर्गुणवस्तुनि सर्वशः।
न खलुनिर्गुणवस्तुसमन्वयं
न सहते सगुणस्य समन्वयः ॥ ४६३ ॥

योजना—सर्वशः सगुणवाक्यम् अपि निर्गणवस्तुनि समन्वितं भवति। सगुणस्य समन्वयः निर्गुणवस्तुसमन्वयं न खलु सहते इति न ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ–समस्त सगुण वाक्यों का भी निर्गुण वस्तु में समन्वय होता है। सगुण-वाक्य का सगुण अर्थ में समन्वय निर्गण वस्तु के समन्वय को नहीं सहन करता—यह बात नहीं ॥

भावितार्थ—निर्गुण ब्रह्म ही निखिल अनर्थ-प्रपञ्च का अधिष्ठान है। उसी के ज्ञान से समस्त अनर्थ की निवृत्ति होती है। अतः निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान कराना उपनिषद्वाक्यों का परम ध्येय समझा जाता है। इस प्रकार प्रत्येक उपनिषद्वाक्य का वाच्यार्थ भले ही कुछ भी हो, परम तात्पर्य निर्गुण ब्रह्म के प्रतिपादन में माना जाता है। सगुण वाक्यों का वाच्यार्थ यद्यपि सगुण ब्रह्म है; तथापि उनका भी परम तात्पर्य वैसे ही निर्गुण ब्रह्म में है, जैसे कि निर्गुण वाक्यों का। सगुण वाक्यों का निर्गुण वाक्यों में समन्वय विरुद्ध नहीं--यह अग्रिम पद्य में कहेंगे ॥ ४६३ ॥

सगुण वाक्यों का निर्गुण में समन्वय विरुद्ध नहीं, यह दिखाते हैं—

तत्यासत्यवपुस्तथाहि सगुणं ब्रह्माऽस्य विद्या तथा
तद्वत्तद्विषयस्य वेदवचस्तात्पर्यमेवंविधम्।
तेनावान्तरमस्य वेदवचसस्तात्पर्यमन्यादृशं
चान्यन्निर्गुणवस्तुतत्त्वविषयं संकीर्त्यते भागशः ॥ ४६४ ॥

योजना—तथाहि–सगुणं ब्रह्म सत्यासत्यवपुः, अस्य विद्या तथा। तद्वत् तद्विषयस्य वेदवचसः तात्पर्यम् एवं विधम्। तेन अस्य वेदवचसः अवान्तरं तात्पर्यम् अन्यादृशम्, अन्यत् निर्गणवस्तुविषयम् इति भागशः संकीर्त्यते ॥ (शार्दूलविक्रीडितम् छन्दः) ॥

योजितार्थ—सगुण ब्रह्म सत्यासत्यस्वरूप (सत्यानृतविशिष्टस्वरूप) होता है। इसकी विद्या भी वैसी (सत्यासत्यवस्तुविषयक) होती है। वैसे सगुण विषयक वेद वाक्यों का तात्पर्य भी ऐसा (सगुण-विषयक) ही है। इसलिए इस (सगुण) वेद-वचन का अवान्तर तात्पर्य अन्यविध (सत्यासत्यवस्तु में) है और अन्य तात्पर्य (महातात्पर्य) निर्गुण वस्तुविषयक है—इस प्रकार विभागशः तात्पर्य बताया जाता है ॥

भावितार्थ—निर्गुण वस्तु ही अविद्या-कल्पित उपाधि से विशिष्ट होकर सगुण हुआ करती है। वह स्वरूपतः सत्य तथा विशिष्टरूप से असत्य है, अतः उसे सत्यासत्यात्मक

कहा जाता है। उसी प्रकार सगुण-विषयक विद्या एवं सगुण वाक्य सत्यासत्यवस्तुविषयक होते हैं। फलतः सगुण वाक्य के दो तात्पर्य होते हैं—एक विशिष्ट विषयक तथा दूसरा शुद्ध-विषयक। इनमें प्रथम तात्पर्य को अवान्तर या गौण कहा जाता है, क्योंकि उससे उस वस्तु का निश्चय होता है, जिसकी उपासना से अन्तःकरण की शुद्धिमात्र होती है। किन्तु दूसरा तात्पर्य परम या मुख्य कहलाता है, क्योंकि वह एक ऐसे तत्त्व का निर्णायक है, जिसके साक्षात्कार से मोक्षरूप परम पुरुषार्थ सिद्ध होता है ॥ ४६४ ॥

सगुण वाक्य को सत्यासत्यरूप विशिष्ट-विषयक बताया गया। वहाँ शङ्का होती है कि सत्य और असत्य परस्पर विरोधी पदार्थ हैं, इनका वैशिष्ट्य ही कैसे होगा? इस शंका का समाधान करते हैं—

रूप्यज्ञानं रजतमिदमित्येवमुत्पद्यमानं
सत्यासत्यं विषयमपृथग्दर्शयत्येकमेव।
तद्वन्मानं सगुणविषयं सत्यमिथ्यावभासं
संसृष्टार्थद्वयमिति दृढं दर्शयत्येकमेतत् ॥ ४६५ ॥

योजना—इदं रजतम्—इत्येवम् उत्पद्यमानं एकं रूप्यज्ञानं सत्यासत्यं विषयम् अपृथक् दर्शयति। तद्वत् सगुणविषयं सत्यमिथ्यावभासं मानं संसृष्टार्थद्वयम् एकमेतत् इति दृढं दर्शयति ॥ (मन्दाक्रान्ताच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—'इदं रजतम्'—इस प्रकार का उत्पन्न एक रजत-ज्ञान सत्य (शुक्ति) और असत्य (रजत) को विशिष्टरूप से दिखाता है। वैसे ही सगुण-विषयक, सत्यासत्य-भासक ज्ञान दो संसृष्टार्थों को एक विशिष्टरूप में दिखाते हैं ॥

भावितार्थ—शुक्ति में उत्पन्न रजतज्ञान 'अधिष्ठान सत्य और आरोप्य असत्य है' इस प्रकार से भिन्न-भिन्न रूप से अपने विषय को नहीं दिखाता, अपितु सत्यासत्य को एक ही रूप में 'इदं रजतम्'—इस प्रकार दिखाता है। इसी प्रकार सगुण-वाक्य भी सत्य-मिथ्या के मिलित स्वरूप का बोध कराते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि 'इदं रजतम्' ज्ञान के समान सगुण ज्ञान भी मिथ्या और सगुण-वाक्य अप्रमाण होता है; क्योंकि रजत-वैशिष्ट्य के समान ही गुण-वैशिष्ट्य की प्रातिभासिक सत्ता नहीं मानी जाती, अपितु व्यावहारिक। अतः सगुण वाक्य का व्यावहारिक प्रामाण्य सुरक्षित रह जाता है। तत्त्व-दृष्टि से ही सगुण वाक्यों का भी सगुण तत्त्व में प्रामाण्य नहीं, अपितु निर्गुण तत्त्व में ही पर्यवसान माना जाता है ॥ ४६५ ॥

सगुणवाक्यों का परम तात्पर्य निर्गुण तत्त्व में बताया गया, वह सम्भव नहीं प्रतीत होता; क्योंकि 'तत्प्रतीतिशेषत्वम्' को ही शब्दगत तात्पर्य माना जाता है। जैसे अध्ययन अर्थज्ञान का शेष है, अतः अध्ययन का अर्थावबोध में तात्पर्य माना जाता है। इस प्रकार का तात्पर्य सगुण वाक्य में घटता नहीं; क्योंकि सगुण वाक्य सगुण-प्रतीति का शेष है, निर्गुण का नहीं। इस सन्देह को मिटाने के लिए यहाँ अभिमत तात्पर्य का स्वरूप दिखाते हैं—

तद्बुद्धिमात्रफलतैव च तत्परत्वं
वेदान्तवादिसमये न तु शेषभावः ।
शेषत्वमक्षरकलापगताप्तिमात्रं
प्रत्येव नाध्ययनमर्थधियो विशेषः ॥ ४६६ ॥

योजना—वेदान्तवादिसमये तद्बुद्धिमात्रफलतैव च तत्परत्वम्, शेषभावः न तु (अध्ययनस्य) अक्षरकलापगताप्तिमात्रं प्रत्येव शेषत्वम् , अध्ययनम् अर्थधियो विशेषः न ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः)

योजितार्थ—वेदान्त-सिद्धान्त में "तद्बुद्धिमात्रफलता" (तस्मिन्नर्थे बुद्धिस्तद्बुद्धिस्तदेव फलं यस्य वाक्यस्य, तद्बुद्धिमात्रफलकं तस्य भावः तद्बुद्धिमात्रफलता) को ही तात्पर्य माना है, शेषत्व को नहीं। अध्ययन अक्षर-ग्रहणमात्र के प्रति ही शेष है, अर्थज्ञान के प्रति शेष नहीं ॥

भावितार्थ—पूर्वमीमांसक तत्प्रतीतिशेषत्व को ही तात्पर्य मानते हैं। उसके अनुसार सगुणवाक्यों में सगुण-प्रतीति की शेषता होने से सगुण वाक्यों का सगुण में तात्पर्य हो सकता है, निर्गुण में नहीं। किन्तु वेदान्तिगण तद्बुद्धिमात्रफलत्व को ही तात्पर्य मानते हैं। एक वाक्य अनेक का शेष न हो सकने पर भी नानाबुद्धिफलक हो सकता है। सगुण-वाक्यजन्य सगुण ज्ञान से उपासना-पूर्वक अन्तःकरण-शुद्धि फल तथा उन्हीं वाक्यों से जन्य तत्त्व-विषय-विनिश्चय से मुक्ति फल, अतः इन वाक्यों का अनेक अर्थ में तात्पर्य माना जा सकता है। अध्ययन में मीमांसक-मत से अर्थावबोधपरता है, अपितु हमारे मत से अध्ययन का अर्थावबोध में विनियोग नहीं, क्योंकि अर्थावबोध अशाब्द है, अपितु अक्षर-ग्रहणपरता ही अध्ययन में होती है, क्योंकि वह कर्मार्थक तव्य प्रत्यय से लभ्य है। अन्यथा श्रुतहानि अश्रुतकल्पना की आपत्ति होगी ॥ ४६६ ॥

यदि अर्थावबोध के प्रति स्वाध्यायाध्ययन शेष नहीं, तब अर्थावबोध अध्ययन का फल भी कैसे होगा ? इस शंका का समाधान है—

तच्छेषभावमनपेक्ष्य च तत्फलं स्यात्
आधानवन्न हि तदङ्गमिह क्रतूनाम् ।
अग्न्यङ्गमेव हि तदिष्टमथापि तस्य
सर्वक्रतुष्वधिकृतिः फलमभ्युपेतम् ॥ ४६७ ॥

योजना—तत् अर्थज्ञानम् शेषभावम् अनपेक्ष्य च तत्फलं स्यात्, आधानवत्। तत् इह क्रतूनाम् अङ्गं न हि, तत् अग्न्यङ्गमेव हि दृष्टम्। अथापि तस्य सर्वक्रतुषु अधिकृतिः फलम् अभ्युपेतम् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—वह (अध्ययन) शेषत्व की अपेक्षा न करके ही अर्थज्ञानफलक होता है, जैसे कि आधान (शेष न होकर ही सर्वक्रतुनिष्पत्तिफलक होता है)। वह (आधान) दर्शक्रियाओं का अङ्ग नहीं होता, (अपितु) वह (आधान) अग्नि का ही अङ्ग माना गया है। तथापि उस (आधान) का निखिल यागों में अधिकार फल माना गया है ॥

भावितार्थ—शेष (अङ्ग) का शेषी (अङ्गी) ही फल होता है—ऐसा कोई नियम

नहीं, जैसे कि 'अग्नीन् आदधीत' (तै० ब्रा० १।१।२।६) इस वाक्य से विहित अग्न्याधान किसी भी क्रतु (याग) का शेष नहीं। फिर भी आधान का सर्व क्रतुओं के करने का अधिकार फल माना जाता है। वैसे ही अध्ययन शेष नहीं और अर्थावबोध शेषी नहीं, फिर भी अध्ययन का अर्थावबोध फल क्यों न बनेगा ? आधान किसी भी क्रतु का अङ्ग नहीं, क्योंकि अङ्गताबोधक श्रुत्यादि प्रमाणों का वहाँ सर्वथा अभाव है। 'अग्नीन् आदधीत'—यहाँ द्वितीया विभक्तिरूप श्रुति के आधार पर आधान में अग्नि की अङ्गता नहीं। जिस व्यक्ति ने अग्न्याधान कर लिया है, अग्निमान् बन गया है, उसे ही सब कर्मों के करने का अधिकार मिलता है, औरों को नहीं ॥ ४६७ ॥

'तद्बुद्धिमात्रफलता'–इस लक्षण में 'मात्र' पद की व्यावृत्ति दिखाने के लिए अर्थवादवाक्यों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं, यह दिखाया जाता है—

मन्त्रार्थवादगतमध्ययनं तदर्थ-
मात्रप्रतीतिफलमित्यपि नाभ्युपेतम् ।
विध्यर्थबुद्धिमनुसृत्य फलावसानां
सा तद्वतीति तदतत्परतोपपत्तिः ॥ ४६८ ॥

योजना—मन्त्रार्थवादगतम् अध्ययनं तदर्थमात्रप्रतीतिफलम्—इत्यपि नाभ्युपेतम् । फलावसानां विध्यर्थबुद्धिम् अनुसृत्य सा (मन्त्रार्थवादजनिता बुद्धिः) तद्वती—इति तदतत्परतोपपत्तिः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—मन्त्र तथा अर्थवाद वाक्यों का अध्ययन मन्त्राद्यर्थमात्र-प्रतीतिफलक है—यह भी मीमांसकों ने नहीं माना है। फलावसित विध्यर्थबुद्धि का अनुसरण करके वह (मन्त्रादि जनित-बुद्धि) फलवती होती है—इस प्रकार मन्त्रादि में विध्यर्थपरत्व और स्वार्थापरत्व दिखाते हैं ॥

भावितार्थ—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'–इस स्वाध्याय विधि ने समस्त वेद का पुरुषार्थ में पर्यवसान बताया है। मन्त्र और अर्थवाद वाक्यों से जन्य स्वार्थप्रतीति पुरुषार्थ नहीं, अतः वह मन्त्रादि का फल भी नहीं मानी गई। विध्यर्थ बुद्धि फलवती है, क्योंकि विधिवाक्य से विध्यर्थ का ज्ञान, उससे विध्यर्थ का अनुष्ठान और उससे स्वर्गादि-प्राप्ति होती है, अतः विध्यर्थ-बुद्धि पुरुषार्थ मानी जाती है, (फल तथा फल के साधन को पुरुषार्थ कहा जाता है)। मन्त्रादि-जन्य मात्राद्यर्थ ज्ञान से कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता, अतः उसे पुरुषार्थ नहीं माना जाता। सफल विध्यर्थ-बुद्धि का अनुसरण करके मन्त्रादि वाक्य अनुष्ठेय की स्मृति तथा प्राशस्त्य की बुद्धि उत्पन्न करके सार्थक माने जाते हैं, इसलिए मन्त्रादि में विध्यर्थपरत्व तथा स्वार्थ-परत्वाभाव सिद्ध होता है ॥ ४६८ ॥

कथित तत्परत्व और अतत्परत्व में सम्मतियाँ दिखाते हैं -

सप्रयोजनकबुद्धिकारणम्
वाक्यमाहुरिह तत्परं बुधाः ।
सप्रयोजनकबुद्धिशेषधी-
हेतुमन्यपरमाश्रयन्ति च ॥ ४६९ ॥

योजना—इह बुधाः सप्रयोजनकबुद्धिकारणं वाक्यं तत्परम् आहुः, सप्रयोजनकबुद्धिशेषधीहेतुम् अन्यपरञ्च आश्रयन्ति ।। (रथोद्धताच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—यहाँ विद्वान् सप्रोयजन बुद्धि के कारण वाक्य को तत्परक कहते हैं तथा सप्रयोजन बुद्धि के शेष ज्ञान के हेतु (वाक्य) को अन्यपरक मानते हैं ।।

भावितार्थ—जो वाक्य जिस सफल अर्थ की बुद्धि का जनक होता है, वह वाक्य तदर्थपरक माना जाता है और जो वाक्य सफलार्थ-ज्ञान के शेष-भूत ज्ञान का जनक होता है, उसे तदन्यपरक कहते हैं । अर्थात् जिस विषय का वाक्यजन्य भी ज्ञान पुरुषार्थ का हेतु नहीं होता, उस वाक्य का तात्पर्य उस विषय में नहीं माना जाता । किन्तु जिस अन्य विषय को लेकर वह फलपर्यवसायी होता है, तत्परक ही माना जाता है ।। ४६९।।

इस प्रकार मीमांसकों के मत में समस्त अर्थवादादि का स्वार्थ में तात्पर्याभाव बताया । अपने मत में अनधिगताबाधितार्थक अर्थवादादि का भी स्वार्थ में अवान्तर तात्पर्य होता है, यह दिखाते हैं—

मन्त्रार्थवादवचसामपि गोचरेषु
सौवेष्ववान्तरमुशन्ति च तत्परत्वम् ।
केचित्त्रयीशिरसि खिन्नधियो मुनीन्द्राः
तत्तद्धियो विधिषु शेषतया निवेशात् ।। ४७० ।।

योजना–त्रयी शिरसि खिन्नधियः केचित् मुनीन्द्राः मन्त्रार्थवादवचसां सौवेषु गोचरेषु तत्परत्वम् उशन्ति, विधिषु तत्तद्धियः शेषतया निवेशात् ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—वेदान्त-विचार-तत्पर कतिपय मुनीन्द्रवर्य कुछ मन्त्र तथा अर्थवाद-वाक्यों का अपने विषय में भी तात्पर्य मानना चाहते हैं, क्योंकि तज्जन्य बुद्धियों का विधि में शेष (अङ्ग) रूप से निवेश होता है ।।

भावितार्थ—देवता-विग्रहादि तथा स्वर्गादि के प्रतिपादक मन्त्रार्थवादवाक्यों का भी स्वार्थ में अवान्तर तात्पर्य कुछ वेदान्तिगण मानते हैं, क्योंकि वेदान्तदर्शन के देवताधिकरण (१ । ३ । ८) में देवताओं को भी ब्रह्मविद्या में अधिकारी बताया है । मन्त्रार्थवादप्रतिपादित विग्रहादि-योग देवताओं में भी बादरायणादि आचार्यों ने माना है। अतः देवतादिस्वरूप-प्रतिपादन में भी मन्त्रादि का अवान्तर तात्पर्य मानना उचित है ।।४७०।।

[वेदान्तानां सिद्धाथकत्वे जैमिनीयविरोधपरिहारः]

सगुणवाक्यों का स्वार्थ में अवान्तर तात्पर्य मानने पर उपासना-नियोग में भी तात्पर्य मानना होगा, तब तो नियोगपरता पुनः प्राप्त हो जाती है। इस शंका की निवृत्ति करते हैं—

श्रेयःसाधनता लिङर्थ इति च प्रागुक्तमत्यादरात्
श्रेयःसाधनयागदानहवनाद्यर्थैकनिष्ठं ततः ।
सर्वं कर्मवचो नियोगपरता तस्यापि नाऽलोचने
वक्तव्यं किमुतास्य वेदशिरसः सा नेति भूयोऽपि नः ।। ४७१ ।।

योजना—श्रेयःसाधनता लिङर्थ इति प्राक् अत्यादरात् उक्तम्, ततः सर्वं कर्मवचः श्रेयःसाधनयागदानहवनाद्यर्थैकनिष्ठम्, नियोगनिष्ठम् न। आलोचने तस्यापि नियोगपरता न, तदा भूयोऽपि किमुत वक्तव्यम् ? अस्य नः वेदशिरसः सा नेति ।। (शा०वि०छ०) ।।

योजितार्थ—इष्टसाधनता लिङर्थ है—यह पूर्व सादर स्थापित किया, अतः समस्त कर्म-वचन श्रेयःसाधनभूत याग, दान, हवनादि के बोधक हैं, नियोगपरक नहीं। जब कि विचार करने पर उस (कर्मकाण्ड) में भी नियोगपरता नहीं, तब फिर यह कहने की आवश्यकता क्या कि हमारे इन वेदान्तवाक्यों में वह (नियोगपरता) नहीं ? ॥ ४७१ ॥

महामुनि जैमिनि के 'आम्नायस्य तु क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते' (जै० सू० १।२।१) इस सूत्र में 'आम्नाय' पद से कर्म-प्रतिपादकवेदभाग का ही ग्रहण किया है, समस्त वेद का नहीं, यह दिखाते हैं—

श्रेयःसाधनयागदानहवनाद्यर्थेषु कार्यात्मसु
सर्वं कर्मवचः प्रमाणमिति तु ग्राह्यं वचो जैमिनेः ।
भाष्यं पश्यत शाबरं स्फुटतरं यो यागमित्यादिकं
श्रेयःसाधनयागमात्रवचनं धर्माभिधानं वदत् ॥ ४७२ ॥

योजना—श्रेयःसाधनयागदानहवनाद्यर्थेषु कार्यात्मसु जैमिनेः वचः सर्वं कर्मवचः प्रमाणमिति ग्राह्यम् , 'यो यागम्'—इत्यादिकं श्रेयःसाधनयागमात्रवचनं धर्माभिधानं वदत् शाबरं भाष्यं स्फुटतरं पश्यत ॥ (शा० वि०) ॥

योजितार्थ—श्रेयःसाधनभूत याग, दान, हवनादि अर्थों में समस्त विधिवाक्य प्रमाण हैं—ऐसे सिद्धान्त का सूचक 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'—जैमिनि-सूत्र सर्वथा ग्राह्य है। 'यो यागमनुतिष्ठति तं धार्मिक इति समाचक्षते'—इस प्रकार श्रेयःसाधन यागादि को धर्म बताने वाले अति स्पष्ट शाबर भाष्य को देखिये ॥

भावितार्थ—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (जै० सू० १।१।२) इस सूत्र में ही महर्षि जैमिनि ने अर्थ पद से सुव्यक्त कर दिया है कि इष्ट-साधनरूप यागादि अर्थों में ही समस्त चोदनालक्षण (विधिवाक्य) प्रमाण है। भाष्यकार शबर स्वामी ने सूत्रोक्त धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है—'यो हि यागमनुतिष्ठति तं धार्मिक इति समाचक्षते' अर्थात् याग, दानादि पदार्थों को ही धर्म शब्द कहता है, इसीलिए लोक में जो व्यक्ति यागादि करता है, उसे धार्मिक कहा करते हैं। अतः भट्ट का भावनापरक तथा प्रभाकर का नियोगपरक व्याख्यान समुदाय-विरुद्ध है, सर्वथा हेय है ॥ ४७२ ॥

धर्म शब्द याग-वाचक होने पर नपुंसक लिङ्ग हो जायगा, क्योंकि कोशकार ने कहा है—'अदृष्टे पुंसि धर्मः स्यात् क्लीबो यागादिके मतः'। इसीलिए 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'—इस मन्त्र में वैसा ही प्रयुक्त हुआ है—इस आक्षेप का परिहार करते हैं—

पुंलिङ्गतापि घटते क्रतुगामिनोऽस्य
सूक्ष्मात्मना भवति हि क्रतुरप्यपूर्वम् ।
तेन क्रतोरुपचरन्नभिदां पुमान् स्यात्
क्लीबस्तु धर्ममिति हि क्रतुवाचकत्वे ॥ ४७३ ॥

योजना—अस्य क्रतुगामिनोऽपि पुंलिङ्गता घटते, हि क्रतुरेव सूक्ष्मात्मना अपूर्वं भवति। तेन क्रतोरभिदाम् उपचरन् पुमान् स्यात्। क्रतुवाचकत्वे हि 'धर्मम्' इति तु क्लीबः स्यात् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इस याग-वाचक (धर्म शब्द) में पुंलिङ्गता घट जाती है, क्योंकि

याग ही सूक्ष्मरूप में आकर अपूर्व कहलाता है। इसलिए याग और अपूर्व का अभेदोपचार कर (सूत्र) में धर्मशब्द पुंल्लिङ्ग प्रयुक्त हुआ है ॥

भावितार्थ—भाष्यकार के अनुसार ही सूत्र का अर्थ करना होगा। अतः अपूर्ववाचक पुंल्लिङ्ग धर्म शब्द का ही यागार्थ में औपचारिक प्रयोग यहाँ मानना उचित है ॥४७३॥

यदि 'धर्म' शब्द इष्ट-साधनरूप क्रिया का बोधक है, तब उस क्रिया को कर्ता की आकांक्षा होने से 'स्वर्गकाम' पद कर्त्ता का ही बोधक होगा, अधिकारी का नहीं। किन्तु स्वर्गकामाधिकरण (जै० सू० ६।१।१) में अधिकारीपरक ही 'स्वर्गकाम' पद माना गया है, इस शङ्का को शान्त करते हैं—

इष्टाभ्युपायवचनो लिङितिस्थितौ च
स्याद्भावनावचनताऽस्य यदा तदा च।
कर्तुर्भवेदधिकृतस्तु नियोगवादे
स्वाम्ये स्थिते सति भवेदथ कर्तृभावः ॥ ४७४ ॥

योजना—इष्टाभ्युपायवचनो लिङितिस्थितौ च अस्य यदा भावनावचनता स्यात्, तदा कर्तुः अधिकृतिः भवेत्। अथ नियोगवादे साम्ये स्थिते सति कर्तृभावः भवेत् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इष्ट-साधनार्थ-वाचक लिङ् है—इस सिद्धान्त में तथा इस (लिङ्) में जब भावना-वाचकता मानी जाय, तब भी कर्ता को ही अधिकार होता है। किन्तु नियोग पक्ष में स्वाम्य (अधिकार) का अन्वय हो जाने के अनन्तर (कर्ता का अन्वय होगा) ॥

भावितार्थ—प्रधान पदार्थ की आकांक्षा के अनुसार ही सभी पदार्थों का अन्वय किया जाता है। लिङर्थ (वेदान्तमत में) इष्टसाधनत्व प्रधान है। दोनों ही क्रियास्वरूप हैं। क्रिया अपने कर्ता की अपेक्षा करती हैं, क्रिया से आक्षिप्त कर्ता का विशेषण है—स्वर्गकामः, इसलिए 'स्वर्गकाम' पदार्थ प्रथमतः कर्तृत्वरूप से अन्वित ('स्वर्गकामो यजेत' में) होता है। पश्चात् भोक्ता की अपेक्षा में वही स्वर्गकाम 'मदर्थमिदं कर्म'—यह समझता हुआ अधिकारी बना करता है। किन्तु नियोगवाद में नियोगरूप प्रधानार्थ के अनुरोध से ही इतर पदार्थों का अन्वय होगा। नियोग को प्रथम नियोज्य की आकांक्षा है, अतः 'ममायं नियोगः'—इस प्रकार स्वामी बनकर ही नियोग के विषय धात्वर्थ याग में नियोगान्वय के बल पर अधिकार प्राप्त करता है, अनन्तर कर्त्ता होकर अन्वित होता है। फलतः वेदान्ती तथा भट्ट-मत में अन्वय-क्रम कर्तृत्व अधिकारित्व भोक्तृत्व रूप से है और प्रभाकर मत में भोक्तृत्व (अधिकारित्व) तथा कर्तृत्वरूप से है। दोनों क्रम परस्पर विपरीत हैं ॥४७४॥

लिङ् यदि साधनत्वार्थक है, तब वह प्रवर्त्तक न होगा, क्योंकि फलेच्छा से पुरुष यागादि में प्रवृत्त होता है, इष्टसाधनत्व-ज्ञान से नहीं, इस सन्देह को हटाते हैं—

इष्टाभ्युपायो विधिरात्मनीच्छाम्
उत्पादयन् प्रेरकतामुपैति।
इष्टाभ्युपायेऽवगते लिङादेः
इच्छाफलादेनमुपैति सद्यः ॥ ४७५ ॥

योजना—इष्टाभ्युपायो विधिः आत्मनि इच्छामुत्पादयन् प्रेरकताम् उपैति । लिङादेः इष्टाभ्युपायेऽवगते फलात् एनम् इच्छा सद्यः उपैति ।। (इन्द्रवज्राच्छन्दः) ।।

योजितार्थ— इष्ट-साधनार्थक विधि प्रत्यय अपने में इच्छा का उत्पादन करके प्रेरक हो जाता है, क्योंकि विधि से इष्ट-साधन का ज्ञान होने पर फलेच्छा के अनन्तर ही इस (धात्वर्थ) को इच्छा तत्क्षण विषय कर लेती है ।।

भावितार्थ—यद्यपि राग (फलेच्छा) के बल पर पुरुष फल में प्रवृत्त हो चुका है। किन्तु उपाय-विशेष का ज्ञान न होने से उपाय-विशेष में प्रवृत्त नहीं हुआ। विधि शब्द उसे अपने (इष्टसाधन-रूपयागादि) में इच्छुक बनाता और प्रवृत्त करता है। अतः विधि में अप्रवृत्त-प्रवर्तनारूपत्व सिद्ध हो जाता है। ज्ञान, इच्छा और कृति (यत्न) तीनों समान विषयक होते हैं। अतः अज्ञात में इच्छा नहीं होती। लिङादि से इष्ट-साधन का ज्ञान होने पर उसमें फलेच्छाधीन इच्छा तुरन्त हो जाती है ।। ४७५ ।।

नियोग साक्षात् प्रवर्त्तक होता है, किन्तु इष्टसाधनता रागादि के द्वारा। अतः नियोग को बिध्यर्थ मानना उचित है—इस सन्देह को दूर करते हैं—

नियोगकोट्याऽपि नरो न कश्चित्
इच्छां विना दुःखनिदानभूतम् ।
करोति कर्मेह पुमर्थरागात्
प्रवृत्तिरेवेति हि राजमार्गः ।। ४७६ ।।

योजना—नियोगकोट्या अपि कश्चित् नरः इच्छां विना दुःखनिदानभूतं कर्म न करोति, इह पुमर्थरागात् एव प्रवृत्तिरिति राजमार्गः ।। (उपजातिच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—करोड़ नियोगों की प्रेरणा से भी कोई पुरुष कर्म करने में प्रवृत्त न होगा, पुरुषार्थगत राग से ही प्रवृत्ति होती है—यह श्रुति-प्रसिद्ध सिद्धान्त है ।।

भावितार्थ— जब तक पुरुष की अपनी ही यागादि में इच्छा न हो, तब तक लाखों करोड़ों नियोगों के रहने पर भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः नियोग भी यागादि में इच्छा उत्पन्न करके ही प्रवर्त्तक होता है, साक्षात् नहीं ।। ४७६ ।।

चन्द्रमण्डलादि में इष्टसाधनता ज्ञान के रहने पर भी किसी की प्रवृत्ति नहीं होती, अतः इष्टसाधनता-ज्ञान नियमतः प्रवर्तक नहीं हो सकता, इस सन्देह को दूर किया जाता है—

इष्टाभ्युपायस्य च कार्यभावः
प्रयत्ननिष्पाद्यतयोपपन्नः ।
स चावसेयो वचनाल्लिङादेः
प्रत्यक्षतो रागनिबन्धनस्तु ।। ४७७ ।।

योजना—इष्टाभ्युपायस्य कार्यभावः प्रयत्ननिष्पाद्यतया[1] उपपन्नः, स च लिङादेः वचनात् अवसेयः, रागनिबन्धनस्तु प्रत्यक्षतः ।। (उपजातिच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—इष्ट-साधन की कर्त्तव्यता कृतिसाध्यत्वरूप से प्रवर्त्तक है। वह (कृति-

---

[1] तृतीयेत्थंभावे प्रयत्ननिष्पाद्यतारूपः कार्यभाव इत्यर्थः ।

साध्यत्वरूप उक्त कार्यभाव) लिङादि वचन से बोध्य है, राग-प्रयुक्त कार्यभाव प्रत्यक्ष से जाना जाता है ।।

भावितार्थ—केवल इष्टसाधनता-ज्ञान को प्रवर्त्तक नहीं माना जाता, अपितु कृति-साध्यत्व-विशिष्ट इष्टसाधनता-ज्ञान को प्रवर्तक माना जाता है, वह ही लिङादि प्रत्यय का अर्थ है । चन्द्रमण्डलादि के आहरण में इष्टसाधनता रहने पर भी कृति-साध्यता नहीं, अतः विशेषणाभाव-प्रयुक्त विशिष्टभाव के रह जाने से वहाँ प्रवृत्ति नहीं होती ।। ४७७ ।।

कार्यत्व एक ही प्रकार का होता है, फिर केवल कार्यत्व प्रत्यक्ष-वेद्य और इष्ट-साधनत्व-विशिष्ट कार्यत्व लिङादि-बोध्य है—यह विभाग कैसे किया जा सकता है ? इस शङ्का का समाधान करते हैं—

कार्यत्वमिच्छावलवर्त्ति किञ्चित्
इष्टाभ्युपाये निजमस्य किञ्चित् ।
निजं लिङादेरवसेयमस्य
साक्षिप्रसादादितरप्रतीतिः ।। ४७८ ।।

योजना—इष्टाभ्युपाये किञ्चित् कार्यत्वम् इच्छावशवर्ति, किञ्चित् निजम् । अस्य निजं लिङादेरवसेयम् । साक्षिप्रसादाद् इतरप्रतीतिः ।। (उपजातिच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—इष्टसाधन (यागादि) में कोई कार्यत्व इच्छा-जन्य और कोई असाधारण होता है । इस (इष्टसाधन) का असाधारण कार्यत्व लिङादि से बोध्य होता है । एवं साक्षि-प्रत्यक्ष से अन्य (कार्यत्व) की प्रतीति होती है ।।

भावितार्थ—यागादिरूप इष्टसाधन पदार्थों में जो कृत्युद्देश्यत्वरूप कार्यत्वनियोग-वादी मानते हैं, वह फल-राग-निमित्तक होता है । अर्थात् चिकीर्षितत्व ही कृत्युद्देश्यत्व है, चिकीर्षा राग है । यह कार्यत्व सदा नियतविपयक उत्पन्न होता है, साक्षी या मन के द्वारा ही अवभासित होता है, शास्त्र से नहीं, अतएव इस कार्यत्व को अशास्त्रीय कहा जाता है । वेदान्त-सिद्धान्त से इष्टसाधन पदार्थों में जो कृतिसाध्यत्व रूप कार्यत्व माना जाता है, वह यागादि का अपना असाधारण स्वभाव होता है, अतएव वह लिङादि से ही बोधित होता है, शास्त्रीय कहा जाता है ।। ४७८ ।।

कृति-साध्यत्वविशिष्ट इष्ट-साध्यत्व को लिङर्थ नहीं मान सकते, क्योंकि 'आत्मानं जानीयात्'—यहाँ ज्ञान में कृतिसाध्यत्व न रहने के कारण उक्त लिङर्थ का बाध होता है । इस सन्देह को हटाने के लिए उक्त स्थल पर लिङ् को गौण मानते हैं—

जानात्यर्थे लिङ्पदं गौणमाहुः
जानात्यर्थः कर्तृतन्त्रो न हीष्टः ।
यागाद्यर्थे कर्तृतन्त्रे हि मुख्यो
लिङ्लोडादिः श्रेयसो हेतुभूते ।। ४७९ ।।

योजना—जानात्यर्थे लिङ्पदं गौणम् आहुः ज्ञानात्यर्थः कृतितन्त्रः न हि इष्टः । (श्रेयसो) हेतुभूते कर्तृतन्त्रे यागाद्यर्थे हि लिङ्लोडादिः मुख्यः ।। (शालिनीच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—ज्ञानरूप अर्थ में लिङ् पद को आचार्यगण गौण कहा करते हैं, क्योंकि

ज्ञान अर्थ कृति-साध्य नहीं होता। इष्टसाधनभूत, कृति-साध्य, यागादि अर्थ में प्रयुक्त लिङादि मुख्य होते हैं ॥

भावितार्थ—यागादि में कृति-साध्यत्व भी है और इष्टसाधनत्व भी, अतः यागादि लिङादि के मुख्य अर्थ माने जाते हैं। किन्तु ज्ञानादि कृति-साध्य नहीं, क्योंकि ज्ञान सदैव वस्तु-तन्त्र माना जाता है, पुरुष-तन्त्र नहीं। अतः यागादिवृत्ति इष्टसाधनत्वमात्र के रहने के कारण ज्ञानादि को भी वैसे ही लिङर्थ कह दिया जाता है, जैसे माणवक सिंह शब्द का अर्थ ॥ ४७९ ॥

ज्ञान को लिङादि का गौण अर्थ बताया गया। वहाँ जिज्ञासा होती है कि जिस शक्यवृत्ति गुण के योग से ज्ञान में लिङ् प्रवृत्त होता है, वह गुण कौन है? इस जिज्ञासा को शान्त करते हैं—

ज्ञानात्यर्थे श्रेयसो हेतुभाव-
भागोऽबुद्धो बोध्यते लिङ्पदेन ।
यागाद्यर्थे श्रेयसो हेतुभावो
मुख्यो बोध्यः कर्तृतन्त्रो न गौणः ॥ ४८० ॥

योजना—ज्ञानात्यर्थे श्रेयसो हेतुभावभागः अबुद्धो लिङ्पदेन बोध्यते। यागाद्यर्थे श्रेयसो हेतुभावः कर्तृतन्त्रो मुख्यो बोध्यः, न गौणः ॥ (शालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—ज्ञानगत इष्ट-साधनता भाग (पहले) अज्ञात (होकर) लिङ् पद के द्वारा बोधित होता है। (उसमें कृति-साध्यता न रहने के कारण लिङादि उस अर्थ में गौण माने जाते हैं)। यागादि अर्थों में इष्टसाधनता कृति-साध्य होने से मुख्य ही है, गौण नहीं ॥

भावितार्थ—लिङर्थ में कृतिसाध्यत्व और श्रेयःसाधनत्व दो भाग होते हैं। आत्मज्ञान में श्रेयःसाधनत्व भाग अन्य प्रमाणों से ज्ञात नहीं, केवल लिङादि के द्वारा बोधित होता है। एतावता उस ज्ञानरूप अर्थ को कहने में लिङादि की प्रवृत्ति हो जाती है। उसमें कृति-साध्यतारूप द्वितीय भाग के न रहने से लिङादि गौण माने जाते हैं। यागादि अर्थों में इष्टसाधनत्व तथा कृति-साध्यत्व—दोनों भाग विद्यमान हैं, अतः वहाँ लिङादि मुख्य माने जाते हैं। फलतः लिङादि अपने शक्यार्थ में वृत्ति इष्टसाधनत्वरूप गुण के द्वारा ज्ञानार्थ में प्रवृत्त होने से गौण माने जाते हैं ॥ ४८० ॥

यागादि के समान श्रवणादि लिङादि मुख्य माने जाते हैं—

यागाद्यर्थे मुख्यता यद्वदस्य
ब्रह्मज्ञानस्यान्तरंगेषु तद्वत् ।
तर्कादीनां कर्तृतन्त्रत्वहेतोः
ज्ञानादर्वाग् गौणताहेत्वभावात् ॥ ४८१ ॥

योजना—यद्वत् यागाद्यर्थे अस्य मुख्यता, तद्वत् ब्रह्मज्ञानस्यान्तरंगेषु ज्ञानाद् अर्वाक् तर्कादीनां कर्तृतन्त्रहेतोः, गौणताहेत्वभावात् ॥ (शालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—जैसे यागादि अर्थों में प्रवृत्त लिङादि को मुख्यता दी जाती है, वैसे ही

ब्रह्मज्ञान के अन्तरङ्गों (श्रवणादि) में; क्योंकि ज्ञान के पहले तर्कस्वरूप श्रवणादि में कृति-साध्यत्वरूप हेतु रहता है। अतएव गौणता के हेतु का अभाव है ॥

भावितार्थ—इष्टसाधनत्व लिङ्गादि का अर्थ है। जहाँ इष्टसाधनत्व में कृति-साध्यत्वरूप विशेषण विद्यमान है, वह मुख्य अर्थ और जहाँ वह विशेषण नहीं, वह गौण अर्थ माना जाता है। मुख्यार्थ-बोधक लिङ्गादि मुख्य और गौणार्थ-बोधक गौण कहे जाते है ॥ ४८१ ॥

'भूतं भव्यायोपदिश्यते'—न्याय के अनुसार आत्म-वाक्यों में श्रवणादि को अङ्ग क्यों न मान लिया जाय? इस शङ्का का समाधान है—

भूतस्य भव्याय यथोपदेशः
क्रियापरे वस्तुपरे तु काण्डे ।
न हीष्टमेवं विपरीतमस्मिन्
भव्यस्य भूताय सदोपदेशः ॥ ४८२ ॥

योजना—यथा क्रियापरे काण्डे भव्याय भूतस्य उपदेशः, वस्तुपरे तु न हि इष्टम्। अस्मिन् विपरीतम्—भूताय भव्यस्य सदा उपदेशः ॥ (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—जैसे कर्मकाण्ड में साध्य पदार्थ के लिए सिद्ध अर्थ का उपदेश होता है, (वैसे) वस्तुपरक काण्ड (ब्रह्मकाण्ड) में वह अभीष्ट नहीं। इस काण्ड में उलटे सिद्ध के लिए साध्य का उपदेश किया है ॥

भावितार्थ—कर्मकाण्ड में कर्म का प्राधान्य होता है, अतः समस्त सिद्ध पदार्थ उसके ही अङ्ग माने जाते हैं। ब्रह्मकाण्ड में ब्रह्म का सर्वतः प्राधान्य होने के कारण सभी ब्रह्म-भिन्न सिद्ध और साध्य पदार्थों का प्रतिपादन ब्रह्म-बोध के लिए ही हुआ करता है ॥ ४८२ ॥

उक्त विभाग-व्यवस्था की ही उपपत्ति करते हैं—

भव्यप्रतीतावुपयोगभाजो
भवन्ति कार्त्स्न्येन च सिद्धवादाः ।
क्रियाप्रधाने न तथाऽत्र किन्तु
भूतप्रतीतौ खलु भव्यवादाः ॥ ४८३ ॥

योजना—क्रियाप्रधाने सिद्धवादाः च कार्त्स्न्येन भव्यप्रतीतौ उपयोगभाजो भवन्ति। अत्र तथा न; किन्तु भूतप्रतीतौ खलु भव्यवादाः ॥ (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—क्रियाप्रधान काण्ड में सिद्धार्थक वाक्य पूर्णतया साध्यार्थ की प्रतीति में उपयोगी होते हैं। इस (ब्रह्मकाण्ड) में वैसा नहीं; किन्तु भूतार्थ की प्रतीति में ही साध्यार्थक वाक्य उपयोगी होते हैं ॥

भावितार्थ—कर्मकाण्ड में द्रव्यगुणादि सिद्ध पदार्थ क्रिया के साधन होते हैं, इस कारण से सिद्धार्थक वाक्यों का भव्यार्थ की प्रतीति में उपयोग होता है। किन्तु ब्रह्मकाण्ड में श्रवणादि साध्य पदार्थों का प्रतिबन्ध-निरास के द्वारा ब्रह्मबुद्धि में उपयोग होता है, अतः सभी साध्यार्थक वाक्य भी ब्रह्म-ज्ञान में उपयोगी होते हैं ॥ ४८३ ॥

ब्रह्म सिद्ध होने पर भी उसकी प्रतीति सिद्ध नहीं, साध्य ही है, अतः श्रवणादि

साध्य पदार्थ उक्त प्रतीतिरूप साध्यार्थ के ही अङ्ग सिद्ध होते हैं, सिद्ध के नहीं, अतः दोनों काण्डों की एकरूपता स्थापित करने के लिए ब्रह्मकाण्ड में भी श्रवणादि साध्यार्थ की प्रतीति में ही सिद्धार्थक वाक्यों का उपयोग मान लेना चाहिए, इस आक्षेप का समाधान करते हैं –

भव्यप्रतीतौ न हि कश्चिदर्थो
भूतप्रतीतौ पुनरस्ति मुक्तिः ।
श्रोतव्य इत्यादि ततो विधानं
भूतोपदेशानुगुणं समस्तम् ॥ ४८४ ॥

योजना—भव्यप्रतीतौ कश्चित् अर्थो न हि, भूतप्रतीतौ पुनः मुक्तिः अस्ति। ततः श्रोतव्य इत्यादि समस्तं विधानं भूतोपदेशानुगुणम् ॥ (इन्द्रवज्राच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—(ब्रह्मकाण्ड में) साध्यार्थ की प्रतीति से कोई मुख्य प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, ब्रह्मरूप सिद्धार्थ की प्रतीति से तो मुक्ति होती है। इसलिए ('श्रोतव्यः' आदि) समस्त विधिवाक्य ('तत्त्वमसि' आदि) भूतोपदेश के ही अङ्ग हैं ॥

भावितार्थ वेदान्त में ब्रह्म-प्रतीति का फल बताया है –'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड ३।२।९) और 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'—यहाँ श्रवणादि का कुछ फल नहीं बताया। अतः 'फलवत्सन्निधानफलं तदङ्गं भवति'–इस न्याय के आधार पर समस्त श्रवणादि साध्य पदार्थ ब्रह्मज्ञान के अङ्ग प्रतीत होते हैं। इस प्रकार श्रवणादि-वाक्य तत्त्वमस्यादि वाक्य के ही परिकर सिद्ध होते हैं ॥ ४८४ ॥

वेदान्त में भव्योपदेश भूतवस्तु की प्रतीति में कैसे उपयोगी है ? यह दिखाते हैं—

आदाय मुख्यगुणलाक्षणिकप्रवृत्तीः
भव्यप्रतीतिजनकैः सह भूतवादाः ।
सम्बन्धिनो विधिवचःसु तथाऽत्र सर्वे
भव्यार्पणाः परिवृढप्रतिपादकेन ॥ ४८५ ॥

योजना—(यथा) विधिवचःसु भूतवादाः मुख्यगुणलाक्षणिकप्रवृत्तीः आदाय भव्यप्रतीतिजनकैः सह सम्बन्धिनो भवन्ति, तथा अत्र सर्वे भव्यार्पणाः परिवृढप्रतिपादकेन (सह) सम्बन्धिनो भवन्ति ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—(जैसे) विधिवाक्यों में भूतार्थक वाक्य मुख्य गौणी तथा लक्षणा वृत्ति का सहारा लेकर साध्यार्थक वाक्यों के साथ एकवाक्यतापन्न होते हैं, वैसे ही यहाँ (वेदान्त में) सभी भव्य-समर्पक वाक्य परब्रह्म के प्रतिपादक वाक्यों के साथ एक वाक्यतापन्न होकर उपयोगी होते हैं ॥

भावितार्थ—जैसे विधिकाण्ड में याग के रूपों (द्रव्यादि) के प्रतिपादक वाक्यों की मुख्यवृत्ति से, तत्सिद्धि-पेटिका-निहित 'यजमानः प्रस्तरः' आदि वाक्यों की गौणी वृत्ति से तथा 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' आदि अर्थवाद वाक्यों की लक्षणा वृत्ति से तत्तत् विधि-वाक्यों के साथ एकवाक्यता होती है, वैसे ही वेदान्त में विविध भव्यपरक वाक्यों की 'तत्त्वमसि' आदि भूतपरक वाक्यों से एकवाक्यता होती है ॥ ५८५ ।

'न विधौ परः शब्दः'–इस न्याय के आधार पर श्रवणादि-विधिवाक्यों में लक्षणादि

का सहारा नहीं ले सकते, फिर उक्त वाक्यों का कथित भूतपरक-वाक्यों के साथ अन्वय कैसे होगा ? इस आशंका का समाधान है—

सिद्धार्थवादिवचनेषु न गौणतादिः
दोषाय कर्मपरवाक्यगतेषु यद्वत् ।
कार्यार्थवादिवचनेषु न गौणतादिः
दोषस्तथोपनिषदीति समानमेतत् ॥ ४८६ ॥

योजना—यद्वत् कर्मपरवाक्यगतेषु सिद्धार्थवादिवचनेषु गौणतादिः दोषाय न, तथा उपनिषदि कार्यार्थवादिवचनेषु गौणतादिः न दोषः—इत्येतत् समनम् ॥ (व०ति०छ०) ॥

योजितार्थ—जैसे कर्मकाण्ड के सिद्धार्थकवाक्यों में गौणतादि (की कल्पना) दोषावह नहीं, वैसे ही उपनिषत् के कार्यपरक वाक्यों में गौणातादि दोष नहीं ॥

भावितार्थ—'न विधौ परः शब्दः'—यह न्याय कर्मकाण्ड के लिए ही है, क्योंकि वहाँ विधिवाक्य प्रधान और दूसरे गौण हैं । 'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' (गौणीभूत पदार्थों में लक्षणादि अन्याय की कल्पना होती है) यह सार्वभौम न्याय है । इसके आधार पर कर्मकाण्ड में गौणीभूत भूतपरक वाक्यों की और ब्रह्मकाण्ड में गौणीभूत भव्यार्थक वाक्यों की लक्षणादि करना युक्तियुक्त ही है ॥ ४८६ ॥

ब्रह्मकाण्ड में केवल भूत-भव्य-न्याय ही विपरीत नहीं होता, अपितु मान-मेयादि-भाव भी व्यत्यस्त होता है—

मानेन मेयावगतिश्च युक्ता
धर्मस्य जाड्याद्विधिनिष्ठकाण्डे ।
मेयेन मानावगतिश्च युक्ता
वेदान्तवाक्येष्वजडं हि मेयम् ॥ ४८७ ॥

योजना—विधिनिष्ठकाण्डे मानेन मेयावगतिः युक्ता, धर्मस्य जाड्यात् । वेदान्तवाक्येषु मेयेन मानावगतिश्च युक्ता, मेयं हि अजडम् ॥ (इन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—कर्मकाण्ड में प्रमाण के द्वारा धर्मरूप मेय का ज्ञान युक्त है, क्योंकि धर्मरूप मेय जड़ होता है । वेदान्त-वाक्यों में ब्रह्मरूप मेय से प्रमाणों की अवगति होती है, क्योंकि ब्रह्मरूप मेय अजड़ (चैतन्य) होता है ॥

भावितार्थ—प्रकाशक से सदैव अप्रकाशित तत्त्व का प्रकाश होता है । कर्मकाण्ड में प्रमाणों को प्रमेय का प्रकाशक माना हैं, वह उचित ही है, क्योंकि धर्मरूप प्रमेय जड़ है, उसे प्रकाश की अपेक्षा है । किन्तु वेदान्त में ब्रह्मरूप प्रमेय (वृत्ति-विषय) स्वयम्प्रकाश ही नहीं, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' के अनुसार प्रमाणादि निखिल प्रपञ्च का भासक है ॥ ४८७ ॥

वाक्य का लक्षण भी यहाँ विपरीत हो जाता है—

कर्मप्रधानेऽतिगते च काण्डे
वाक्यत्वमाख्यातपदप्रयुक्तम् ।
ब्रह्मप्रधाने श्रुतिमस्तकेऽस्मिन्
नामप्रधानं वचनं समस्तम् ॥ ४८८

योजना— अतिगते कर्मप्रधाने काण्डे आख्यातपदप्रक्युतम् वाक्यत्वम् । ब्रह्मप्रधाने अस्मिन् श्रुतिमस्तके समस्तं वचनं नामप्रधानन् ॥ (इन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—अतीत कर्मकाण्ड में आख्यातप्रधान वाक्य होता है और इस ब्रह्म-प्रधान वेदान्त में समस्त वाक्य नाम-प्रधान होते हैं ॥

भावितार्थ—आख्यात से साध्यार्थ की अवगति होती है और नाम से सिद्धार्थ की। कर्मकाण्ड में साध्यार्थ का प्राधान्य होने से साध्यार्थक पद का वाक्य में प्राधान्य माना जाता है। किन्तु ब्रह्मकाण्ड में सिद्धार्थ की प्रधानता होती है, अतः सिद्धार्थक नाम पद का वाक्य में प्राधान्य माना जात है ॥ ४८८ ॥

वेदान्त में भी अस्त्यादि क्रिया पदों का प्रयोग होता है, अतः क्रियापद-प्रधान वाक्य सर्वत्र क्यों न मान लिया जाय ? इस आक्षेप के कथित समाधान का स्मरण दिलाते हैं—

कार्यप्रधानमखिलं च पदं सुबन्तम्
आख्यातमेव फलतः खलु कर्मकाण्डे ।
तद्वत्तिङन्तमपि वेदशिरःसु सर्वं
नामैव तद्धि परिनिष्ठितवस्तुनिष्ठम् ॥ ४८९ ॥

योजना— कर्मकाण्डे अखिलं कर्मप्रधानं सुबन्तं फलतः आख्यातमेव, तद्वत् वेद-शिरस्सु सर्वं परिनिष्ठितवस्तुनिष्ठं तत् तिङन्तमपि नामैव ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—(जैसे) कर्मकाण्ड में निखिल कर्मप्रधान सुबन्त अर्थात् आख्यात ही माना जाता है, वैसे ही वेदान्त में समस्त सिद्धार्थक तिङन्त भी नाम ही माने जाते हैं ॥

भावितार्थ— वेदान्त में अस्त्यादि क्रिया पदों का अवश्य प्रयोग किया गया है। किन्तु वे फलतः नाम पद ही मान लिये गये हैं, अतः वहाँ नाम का ही प्राधान्य मानना होगा ॥ ४८९ ॥

कथित सिद्धान्त को उदाहरणों से स्पष्ट किया जाता है—

आग्नेयमाश्विनमथैन्द्रमितीदृशं हि
सर्वं सुबन्तमपि भव्यपरं प्रसिद्धम् ।
साऽस्येति तद्धितसमन्वितसंनिधाने
नामैव तद्भवति यद्भवतीति तद्वत् ॥ ४९० ॥

योजना—आग्नेयम्, आश्विनम्, अथ ऐन्द्रम्, इतीदृशं हि सर्वं सुबन्तमपि भव्यपरं प्रसिद्धम् । 'साऽस्य' इति तद्धितसमन्वितसन्निधाने यद् 'भवति' इति, तद् नामैव भवति । तद्वत्[1] ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—"आग्नेयो अष्टकपालो भवति"—में 'आग्नेय' पद, 'आश्विनं गृह्णाति' में आश्विन पद, 'ऐन्द्रम् दधि'—में ऐन्द्र पद, सुबन्त होने पर भी साध्यार्थक होता है एवं 'सा अस्य देवता'—इस सूत्र से विहित तद्धित प्रत्यय-युक्त 'आग्नेय' पद की सन्निधि में जो 'भवति' पद पढ़ा है, वह भी अर्थात् नाम ही है ॥

---

[1] 'तद्वत्' इत्युत्तरपद्येन योज्यम् ।

भावितार्थ—अनुष्ठेयार्थ-प्रकाशक पद को आख्यात माना जाता है। यदि कोई पद स्वरूपतः नाम (सुबन्त) है और अनुष्ठेय अर्थ का प्रकाश करता है, तब उसे फलतः आख्यात ही माना जाता है, जैसे उक्त उदाहरणों में 'आग्नेयः' आदिपद स्वरूपतः सुबन्त होने पर भी द्रव्य-देवता-सम्बन्धानुमित यागरूप यनुष्ठेयार्थ के प्रकाशक होने से फलतः आख्यात माने जाते हैं। यहाँ आशय यह हैं कि 'आग्नेयः'—इस पद में 'साऽस्य देवता'—सूत्र से तद्धितप्रत्यय का विधान किया गया है, जिसका अर्थ होता है–'अग्निर्देवताऽस्य'। 'अस्य' पद से 'सूक्तहविषोरिति वाच्यम्' इस वार्तिक के अनुसार यहाँ हविः (प्रदेय द्रव्य) विवक्षित है। इसलिए 'आग्नेय' पद का अर्थ अग्नि देवता-सम्बन्धी द्रव्य होता है, द्रव्य-देवता का सम्बन्ध याग में ही हुआ करता है, क्योंकि 'देवतोद्देश्येन द्रव्यत्यागः' ही याग कहा जाता है। इस प्रकार 'आग्नेय' पद याग का समर्पक होने से आख्यात ही माना जाता है।

उसी प्रकार सिद्धार्थ-बोधक पद को नाम माना जाता है। स्वरूपतः आख्यात पद भी यदि सिद्धार्थ का समर्पण करता है, तब उसे नाम ही माना जायगा। जैसे 'आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति'—यहाँ पर ही 'भवति' पद ॥ ४९० ॥

वेदान्तगत तिङ् में सुबन्तरूपता का उदाहरण देते हैं—

अस्त्यस्म्यसीति च तिङन्तपदानि सन्ति
वेदान्तवाक्यनिलयानि तथाऽपि तानि ।
नाऽऽख्यातशब्दनिजशक्तिधुरं वहेयुः
अस्तित्वमात्रविषया हि निषक्तिरेषाम् ॥ ४९१ ॥

योजना—वेदान्तवाक्यनिलयानि अस्त्यस्म्यसीति तिङन्तपदानि सन्ति, तथापि तानि आख्यातशब्दनिजशक्तिधुरं न वहेयुः, हि एषाम् अस्तिमात्रविषयानिषक्तिः। (व०ति०छ०)

योजितार्थ—वेदान्तवाक्यों के अन्तर्गत 'अस्ति,' 'अस्मि,' 'असि' ये (स्वरूपतः) तिङन्तपद हैं, तथापि वे आख्यात शब्द की असाधारण शक्ति के विषय (भाव्यार्थ) का बोध नहीं कराते, क्योंकि इन पदों का सत्तामात्र के साथ सम्बन्ध है, अर्थात् प्रातिपदिकार्थमात्र के बोधन में पर्यवसान होता है ॥

भावितार्थ—'अस्ति ब्रह्म', 'ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि'—इन वेदान्त वाक्यों में प्रयुक्त अस्ति, अस्मि तथा असि, इन तिङन्त पदों का सत्तामात्ररूप सिद्धार्थ के प्रतिपादन में ही तात्पर्य होता है, साध्यार्थ-बोधन में नहीं। इसलिए वे पद स्वरूपतः आख्यात होने पर भी अर्थतः नाम समझे जाते हैं ॥ ४९१ ॥

'धात्वर्थः क्रिया ज्ञेया'—न्याय के अनुसार अस्त्यादि को भी क्रिया (भाव्यार्थ) ही मानना उचित हैं, सिद्धार्थ नहीं माना जा सकता, इस आक्षेप का समाधान है—

पूर्वापरीभूतपदार्थनिष्ठम्
आख्यातमाख्यातविदो वदन्ति ।
कूटस्थसत्तावगतिप्रधानम्
आख्यातवत्साधु तिङन्तमाहुः ॥ ४९२ ॥

योजना—आख्यातविदः आख्यातं पूर्वापरीभूतपदार्थनिष्ठम् वदन्ति । कूटस्थसत्तावगतिप्रधानं तिङन्तम् आख्यातवत् साधु आहुः ।। (इन्द्रवज्रा) ।।

योजितार्थ—आख्याततत्त्व-वेत्ता 'आख्यात' पदको पूर्वापरीभूत अर्थ का वाचक कहा करते हैं। कूटस्थस्वरूप सत्ता के बोधक तिङन्त पद को आख्यात के सदृश ही कहते हैं।

भावितार्थ—आख्यार्थ के पण्डित कहा करते हैं—'पूर्वापरीभूतभावम् आख्यातेनचष्टे' (नि०१।१।१) अर्थात् धात्वर्थमात्र क्रिया नहीं, अपितु पूर्वापरीभूत साध्यार्थ क्रिया है, वही आख्यातार्थ है। जैसा कि न्याय-भाष्यकार ने (न्या० सू० २।१।४२ में) कहा है– 'पचतीति–स्थाल्यधिश्रयणम्, उदकसेचनं, तण्डुलावपनम्, एधोऽपसर्पणम, अग्न्यभिज्वालनम्, दर्वीघट्टनं, मण्डस्रावणम्, अधोऽवतारणमिति ।'

अतः 'अस्' धातु के सत्ता रूप सिद्ध अर्थ के लिए प्रयुक्त 'अस्ति ब्रह्म' आदि में अस्ति—यह आख्यात नहीं, अपितु आख्यात सदृश सुबन्त है ।। ४९२ ।।

वेदान्तगत आख्यात अस्तित्वमात्रपरक है—यह सुनकर प्रभाकरमतानुयायी दो श्लोकों से आक्षेप करता है—

अस्तित्ववस्तुविषयोपनिषन्निषक्तिः
आश्रीयते यदि तदा प्रमितं प्रमेयम् ।
तस्यास्तवाऽऽपतित मानमितत्वमेव
ह्यस्तित्वमात्मगतमभ्युपयन्ति धीराः ॥ ४९३ ॥
अथवा मितियोग्यताऽस्तिता
निरवद्याऽस्तु समस्तवस्तुषु ।
परमात्मनि तत्प्रतीतये
सकलं वेदशिर प्रवर्त्तताम् ॥ ४९४ ॥

योजना—यदि उपनिषन्निषक्तिः अस्तित्ववस्तुविषया आश्रीयते, तदा तव अस्याः प्रमेयं प्रमितम् आपतति, धीराः हि मानमितत्वमेव आत्मगतम् अस्तित्वम् उपयन्ति ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

अथवा समस्तवस्तुषु मितियोग्यता निरवद्या अस्तिता अस्तु । परमात्मनि तत्प्रतीतये सकलं वेदशिरः प्रवर्तताम् ।। (सुन्दरी) ।।

योजितार्थ—यदि उपनिषत् (के आख्तात पदों) का सम्बन्ध सत्तारूप विषय के साथ स्थापित किया जाय, तब आप (वेदान्ती) के मत में इस (उपनिषत्) का प्रमेय प्रमित ही हो जायगा, क्योंकि धीरगण (प्राभाकर) प्रमाण-विषयत्व को ही आत्मगत अस्तित्व मानते हैं। अथवा समस्त वस्तुओं में वर्तमान मिति-योग्यता को निर्दुष्ट अस्तिता मान लें, तब भी परमात्मगत सत्ता प्रमित ही रहती है, उसकी पुनः प्रतीति के लिए आपके वेदान्त-वाक्य भले ही प्रवृत्त हों ।।

भावितार्थ—समस्त भावाभाव पदार्थों में प्रतीयमान सत्ता का लक्षण प्रमिति-विषयत्व किया करते हैं। यदि प्रमिति-विषयत्व को क्षणिक मानकर सुषुप्त्यादि में सत्ताभावापत्ति दी जाय, तब प्रमिति-विषयत्व-योग्यता सत्ता का निर्दुष्ट लक्षण किया जा सकता है।

योग्यता यावद्वस्तु-भावी पदार्थ है, अतः इस लक्षण का दोष भी नहीं। ब्रह्मगत सत्ता का बोध कराने के लिए वेदान्त-वाक्य प्रवृत्त हैं, उसकी उपपत्ति के लिए ब्रह्म में अन्य प्रमाण मानना होगा, नहीं तो प्रमिति-विषयत्वरूप सत्ता ही न रहेगी, वेदान्त वाक्य किसका बोध करायेंगे ? ब्रह्म को अन्य प्रमाण से प्रमित मानने पर वेदान्त वाक्य केवल अनुवादक रह जाते हैं, इनमें अज्ञात ज्ञानकत्वरूप प्रामाण्य सिद्ध न होगा ।। ४९३,४९४ ।।

उक्त आक्षेप का निराकरण करते हैं—

तदसुन्दरमात्मसंविदो
अपि सत्ता भवताऽभ्युपेयते ।
न तयोर्विषयत्वहीनयोः
मितियोग्यत्वमितत्वसंभवः ॥ ४९५ ॥

योजना—तद् असुन्दरम्, भवता अपि आत्मसंविदोः सत्ता अभ्युपेयते । तथा विषत्वहीनयोः तयोः मितियोग्यत्वमितत्वसम्भवः न ।। (सुन्दरी) ।।

योजितार्थ—उक्त आक्षेप ठीक नहीं, क्योंकि आप (प्राभाकर) भी आत्मा और ज्ञान में सत्ता मानते हैं। किन्तु उनमें विषयत्व न रहने के कारण मितियोग्यत्व और मितत्व सम्भव नहीं ।।

भावितार्थ—प्राभाकर के त्रिपुटी-प्रत्यक्षवाद में आत्मा प्रमाता ही माना जाता है। प्रमिति का विषय नहीं। एवं ज्ञान भी स्वयंप्रकाश है, अन्य प्रमिति का विषय नहीं। इसलिए उन दोनों में प्रमिति-विषयता न रहने के कारण सत्ता की सिद्धि न हो सकेगी ।। ४९५ ।।

[जगति कार्यत्वेन चेतनजन्यत्वानुमानम्]

महावाक्य तथा अवान्तर वाक्यों का समन्वय ब्रह्म में किया गया। अब 'यतो वा इमानि' (तैत्ति० ३।१।१) आदि तटस्थ लक्षण-वाक्यों का समन्वय करने के लिए जगत् का कारण सिद्ध करने से पहले जगत् में कार्यत्व सिद्ध करते हैं—

क्षितिजलदहनानिलाम्बराणां
जनिमनुमाय विभक्ततावलेन ।
जगति हि जनिमद्विभज्यमानं
घटघटिकादि समीक्ष्यते समस्तम् ॥ ४९६ ॥

योजना—जगति हि समस्तं जनिमद् घटघटिकादि विभज्यमानं समीक्ष्यते, अतः क्षितिजलदहनानिलाम्बराणां विभक्ततावलेन जनिम् अनुमाय (तत्र कारणं तर्कयन्ति)। (पुष्पिताग्राच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—लोक में समस्त उत्पत्तिशील घटघटिकादि विभक्त होते देखे जाते हैं। अतः पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—इन पाँचों में विभक्ततारूप हेतु के द्वारा कार्यत्व का अनुमान करके (उनके कारण की तर्कना करते हैं)।

भावितार्थ—भौतिक प्रपञ्च में कार्यत्व सिद्ध करने के लिए उसके कारणभूत पंचभूतों में कार्यत्व सिद्ध करने के लिए अनुमान किया जाता है—'क्षित्यादिकं जनिमत्, विभज्य-

मानत्वात्, यद् यद् विभज्यमानम्, तत् सर्वं जनिमद्, यथा घटघटिकादि।' यहाँ विभक्तत्व का अर्थ है--अनुयोगिसमानसत्ताकभेदाश्रयत्वम्। इसलिए ब्रह्म में व्यभिचार नहीं, क्योंकि केवल विभक्तत्व (जगद्भेद-प्रतियोगित्व) के रहने पर भी ब्रह्मसमानसत्ताक भेदकी आश्रयता वहाँ नहीं। प्रपञ्च में समानसत्ताक भेद है, अतः स्वरूपासिद्धि नहीं।।४९६।।

उक्त अनुमान में हेत्वन्तर दिखाते हैं—

क्षितिजलदहनेषु तत्प्रदेशान्
जनिसहितानुपलभ्य तद्बलेन।
क्षितिजलदहनत्वलिङ्गमार्गात्
अपि जनिमेष्वनुमाय तर्कयन्ति॥ ४९७॥

योजना—क्षितिजलदहनेषु तत्प्रदेशान् जनिसहितान् उपलभ्य तद्बलेन क्षितिजलदहनत्वलिङ्गमार्गाद् अपि एषु जनिम् अनुमाय तर्कयन्ति॥ (पुष्पिताग्राच्छन्दः)॥

योजितार्थ—पृथिवी, जल और तेज में प्रत्यक्षभूत घटादि भागों को उत्पत्तिशील देखकर, उसके बल पर पृथवीत्व, जलत्व तथा दहनत्व रूप लिङ्गों से पूरे पृथिवी-आदि में उत्पत्तिमत्त्व का अनुमान करके पृथिवी के कारण की तर्कना (अनुमान) की जाती है।

भावितार्थ—पृथिवी के जिन घटादि पदार्थों में उत्पत्तिमत्त्व प्रत्यक्ष है, उन्हें दृष्टान्त बनाकर पृथिवीत्व हेतु से सम्पूर्ण पृथिवी में (कार्यत्व) का अनुमान किया जाता है—'पृथिवी जन्मवती पृथिवीत्वात् घटादिवत्'। इसी प्रकार जलादि समस्त भूतों में जनिमत्व का अनुमान करके इनके कारण का वक्ष्यमाण रीति से अनुमान किया जाता है।।४९७।।

कारणानुमान दिखाते हैं—

जनिमदभवदेतच्चेतनादेव हेतोः
घटवदिति पुनस्तत्कारणे चेतनत्वम्।
अनुमिमत उदर्के कार्यतालिङ्गतोऽमी
जगति हि परिदृष्टं चेतनादेव कार्यम्॥ ४९८॥

योजना—[1]'उदर्के पुनः अमी 'एतत् जनिमत् चेतनादेव हेतोः घटवत्'-इति तत्कारणे चेतनत्वं कार्यतालिङ्गतः अनुमिमते, जगति हि कार्यं चेतनादेव परिदृष्टम्। (मालिनीच्छंदः)

योजितार्थ—(जगत् में कार्यत्व-निश्चय के) अनन्तर ही मुमुक्षुगण 'यह जन्य जगत् चेतन रूप कारण से उत्पन्न होता है, जैसे घट'—इस प्रकार जगत् के कारण में चेतनत्व को कार्यता लिङ्ग के द्वारा अनुमान कर लेते हैं, क्योंकि लोक में समस्त कार्य चेतन-कृत ही देखा जाता है॥

भावितार्थ—'विमतं चेतनकारणकं कार्यत्वात् घटादिवत्' इस अनुमान के द्वारा जगत् का कारण चेतन तत्त्व ही स्थिर होता है॥ ४९८॥

उक्त अनुमान से ही जगत्कारण चेतनतत्त्व ज्ञात होता है, तब वेदान्त-वचन उसी

---

[1] उदर्के उत्तरकाले कार्यत्वनिश्चयानन्तरमिति यावत्।

के अनुवादकमात्र होने से अप्रमाण ही हैं ? इस शङ्का का समाधान करने के लिए अनुमित चेतन में अनेक संशय दिखाते हैं—

जगदुदयनिमित्तं चेतनं किं तु नाना
किमु भवतु तदेकं सर्ववित्सर्वशक्तिः ।
इति भवति तु पश्चात्कारणे चेतनेऽस्मिन्
अनवगतिनिमित्तः संशयो दुर्निवारः ॥ ४९९ ॥

योजना—पश्चात् अस्मिन्. जगदुदयनिमित्तं चेतनं किन्नु नाना ? किमु तद् सर्ववित् सर्वशक्ति एकं भवतु ? इति अनवगतिनिमित्तः संशयो दुर्निवारः ।। (मालिनीच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—उक्त अनुमान के पश्चात् इस चेतन में जगत् के उत्पत्ति का हेतु चेतन क्या अनेक हैं ? या वह सर्वज्ञ सर्वशक्ति-समन्वित एक ही है ? इस प्रकार का अज्ञान-निमित्तक संशय दुर्निवार होता है ।।

भावितार्थ—यद्यपि अनुमान से सामान्यतः जगत् का कोई कारण चेतन सिद्ध हो जाता है; तथापि उसके विषय में अनेक अज्ञानमूलक संशय देखे जाते हैं, जिनकी निवृत्ति अनुमानादि प्रमाणों से नहीं होती । वेदान्त-वाक्यों से ही एकत्व, सर्वज्ञत्वादि की सिद्धि होती है ।। ४९९ ।।

वेदान्तवाक्यों से चेतन में एकत्वादि की सिद्धि कैसे होती है ? यह दिखाते हैं—

श्रुतिवचनविशेषाच्चेतने कारणेऽस्मिन्
यत इति निरवद्यादेकताधीरथाऽऽगात् ।
प्रकृतिरिति च तस्मिन्कारणे पञ्चमीयं
जनयति दृढबुद्धिं तद्विधानादिहैव ॥ ५०० ॥

योजना—अस्मिन् चेतने कारणे 'यतः' इति निरवद्यात् श्रुतिवचनविशेषात् एकताधीः आगात्[1] अथ इयं पञ्चमी तस्मिन् कारणे प्रकृतिरिति दृढबुद्धि जनयति, इहैव तद्विधानात् ।। (मालिनीच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—इस चेतन कारण में 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ३।१।१) इस निर्दुष्ट श्रुति-वचन से एकत्व निश्चय होता है । अनन्तर यह (यतः) पञ्चमी उसी चेतन कारण में 'प्रकृति'—इस प्रकार की दृढ़ बुद्धि उत्पन्न कर देती है, क्योंकि इसी (प्रकृति रूप) अर्थ में उस (पञ्चमी) का विधान किया गया है ।।

भावितार्थ—'यतो वा इमानि'—इस श्रुतिवाक्य के 'यतः' इस पद में 'यत्' शब्द के उत्तर 'तसिः' पञ्चमी विभक्ति के एकवचन के स्थान में विहित है । यद्यपि 'तसि' का विधान सभी विभक्तियों के सभी वचनों के स्थान पर होता है । इसीलिए 'प्रमाणतो अर्थप्रतिपत्तिः' इस न्याय-भाष्य में प्रमाणपदोत्तर 'तसि' के लिए वार्तिककार ने लिखा है—'वचनविभक्तिव्याप्त्यर्थम् ।' अर्थात् 'प्रमाणात्' कह देने से सभी विभक्तियों और सभी वचनों का लाभ नहीं होता, अतः तसिप्रत्ययान्त 'प्रमाणत' प्रयोग किया गया है । तथापि 'तस्माद्वा एतस्माद्वात्मनः आकाशः सम्भूतः' (तै० २।१।१) आदि समानार्थक अन्य

---

[1] आगच्छेद् इत्यर्थ ।

श्रुतियों के अनुरोध से 'यतो वा इमानि' में भी 'यतः' के अन्त में पञ्चमी का एकवचन ही माना जाता है। इस प्रकार पञ्चमी विभक्ति के प्रयोग से जगत्कारण में प्रकृतित्व या उपादान कारणत्व सिद्ध होता है, क्योंकि प्रकृत्यर्थ में ही पञ्चमी का विधान किया गया है—'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (पा०सू० १।४।३०) अर्थात् जायमान की प्रकृति अपादान होती है। इसी प्रकार एकवचन के प्रयोग से चेतन में एकत्व भी सिद्ध होता है। सर्वज्ञत्वादि की सिद्धि तो 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'(मु० १।१।९) आदि श्रुतियों से नितान्त स्पष्ट है॥५००॥

ऊपर कहा गया कि 'यतः'—इस पद से 'एका प्रकृतिः'—इस अर्थ का लाभ होता है। उस पर आक्षेप करते हैं—

एकत्वमेकवचनादवगम्यमानं
यच्छब्दवाच्यनिलयं यत इत्यमुष्मिन्
वाक्ये जगत्प्रकृतिगामितया निविष्टां
संख्यां विभक्त्यभिहिते वचनं हि नाऽऽह ॥ ५०१ ॥

योजना—यतः इत्यमुष्मिन् वाक्ये एकवचनाद् अवगम्यमानम् एकत्वम्, यच्छब्दवाच्यनिलयम्। हि वचनं विभक्त्यभिहिते जगत्प्रकृतिगामितया निविष्टां संख्यां नाऽऽह ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—'यतो वा इमानि' इस वाक्य में एकवचन से बोधित एकत्व, 'यत्' शब्द के वाच्यार्थ में ही अन्वयी होता है (प्रत्ययार्थ प्रकृतित्वान्वयी नहीं), क्योंकि वचन विभक्ति के वाच्य प्रकृतित्वगत संख्या को नहीं कहता ॥

भावितार्थ—प्रत्ययार्थों का सदा प्रकृत्यर्थ में अन्वय होता है, प्रत्ययार्थों का परस्पर नहीं। 'यतः' यहाँ पञ्चमी प्रत्यय के दो अर्थ बताये गये—एकत्व तथा प्रकृतित्व। एकत्व संख्या का 'यत्' प्रातिपदिकार्थ में ही अन्वय न्यायसंगत है, प्रकृतित्वार्थ में नहीं, अतः 'एका प्रकृति' यह अन्वय-लाभ नहीं हो सकता ॥ ५०१ ॥

विभक्त्यर्थगत संख्या का अभिधान वचन से ही कहीं नहीं देखा गया—

न हि विभक्त्यभिधेयपदार्थगं
वचनमाह निजं विषयं क्वचित्।
वचनवाच्यगतं न वदन्ति च
स्वमभिधेयमशेषविभक्तयः ॥ ५०२ ॥

योजना—वचनं हि क्वचित् विभक्त्यभिधेयपदार्थगं विषयं न आह। अशेषविभक्तयश्च वचनवाच्यगतं स्वम् अभिधेयं न वदन्ति ॥ (द्रु०वि० छ०) ॥

योजितार्थ—वचन कहीं भी विभक्त्यर्थ से अन्वित अपने वाच्यार्थ को नहीं कहते, एवं समस्त विभक्तियाँ वचनार्थ से अन्वित स्वार्थ को नहीं कहतीं ॥

भावितार्थ—प्रत्यय सदा प्रकृत्यर्थान्वित स्वार्थ का वाचक होता है। प्रत्यय कभी भी अपने एक अंश के वाच्यार्थ से अन्वित स्वार्थ को नहीं कहता। अतः 'यत्' यहाँ पर न तो एकवचन पञ्चमी विभक्ति-वाच्य प्रकृतित्वार्थ से अन्वित स्वार्थ को कहता है और न उक्त विभक्ति ही वचनार्थान्वित स्वार्थ को कहती है ॥ ५०२ ॥

उक्त आक्षेप का परिहार करते हैं—

प्रातिपदिकार्थगतमेव वचनानि
स्वं स्वमभिधेयमभिधातुमलमर्थम् ।
प्रातिपदिकार्थगतमेव निजमर्थं
वक्ति च विभक्तिरपि नेह वचनार्थे ॥ ५०३ ॥

पशुनेति पदे तृतीयया
करणत्वं हि पशोर्निवेद्यते ।
वचनेन पशोरिहैकता
न पुनः सा करणस्य कथ्यते ॥ ५०४ ॥

योजना—वचनादि प्रातिपदिकार्थगतमेव स्वं स्वमभिधेयम् अर्थम् अभिधातुम् अलम् विभक्तिरपि प्रातिपदिकार्थगतमेव निजम् अर्थं वक्ति, न च इह वचनार्थे ॥ (इन्दुवदना) । 'पशुना' इति पदे तृतीयया पशोः करणत्वं निवेद्यते, इह वचनेन पशोः एकता, कस्य पुनः सा न कथ्यते ॥ (सुन्दरी) ॥

योजितार्थ—वचन (एकवचनादि) प्रातिपदिकार्थान्वित स्वार्थ को कहने में समर्थ होते हैं । विभक्ति भी प्रातिपदिकार्थान्वित अपने-अपने अर्थ को कहती है, न कि वचनार्थान्वित स्वार्थ को ॥ "पशुना यजेत" के 'पशुना' पद में तृतीया विभक्ति से पशुगत करणत्व कहा जाता है और एकवचन के द्वारा पशुगत एकता ही कही जाती है, कारकनिष्ठ एकत्व नहीं कहा जाता ॥

भावितार्थ—यह बात सत्य है कि वचन और विभक्ति—दोनों ही प्रातिपदिकार्थान्वित स्वार्थ को ही कहते हैं, परस्परान्वित स्वार्थ को नहीं । इस नियम के अनुसार जैसे 'पशुना' से 'पशुरेकः करणम्' बोध होता है, वैसे ही 'यतः' पद से 'एकं जगदुपादानम्' बोध होता है ॥ ५०३, ५०४ ॥

ऊपर कथित क्रम से 'पशुरेकः करणम्' अर्थात् 'यः पशुः', स 'एकः करणं च'—यही बोध निष्पन्न होता है, किन्तु 'एकः पशुः करणम्' (एकत्वविशिष्टः पशुः करणम्) यह लोक-प्रसिद्ध बोध कैसे बनेगा ? इस जिज्ञासा की निवृत्ति प्रभाकर-मत से की जाती है—

अनुपपत्तिबलेन विधेस्तयोः
करणतैकतयोरवगम्यते ।
करणतैकपशोरिति सङ्गतिः
न घटते हि विधिर्विरहय्य ताम् ॥ ५०५ ॥

योजना—विधेः अनुपपत्तिबलेन एकपशोः करणतेति तयोः करणतैकतयोः संगतिरवगम्यते, तां विरहय्य विधिर्न घटते ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—विधि की अन्यथानुपपत्ति के बल पर एकपशुनिष्ठ करणता—इस प्रकार करणता तथा एकता की संगति प्रतीत हो जाती है, क्योंकि उस (संगति) के बिना विधि (नियोग) की उपपत्ति नहीं हो सकती ॥

भावितार्थ—किञ्चिद्धर्मानवच्छिन्न कारक का क्रिया के साथ अन्वय नहीं होता ।

प्रकृत्यर्थान्वित एकत्व को ही यहाँ अवच्छेदक माना जा सकता है। उसी प्रकार पश्वन्वित एकत्व का भी कारक के द्वारा अपूर्व सम्बन्ध होता है, अतः उक्त एकत्व में करणावच्छेदकत्व मानना पड़ता है। इस प्रकार 'एकः पशुः करणम्'—यह बोध बन जाता है ।५०५।

उक्त संगति के बिना नियोग की अनुपपत्ति कैसे ? यह दिखाते हैं—

उपादानतः संख्यया संगतिः स्यात्
अवच्छेदकत्वेन संख्यानिवेशात् ।
पशोरेतयोस्तेन मार्गेण कार्ये
निवेशोपपत्तेरुपादानमानात् ॥ ५०६ ॥

योजना—उपादानतः संख्यया (करणत्वस्य) संगतिः स्यात्, पशोः अवच्छेदकत्वेन संख्यानिवेशात्। तेन मार्गेण उपादानमानात् एतयोः कार्ये निवेशोपपत्तेः । (भु०प्र०छ०)।

योजितार्थ—विध्यन्यथानुपत्तिरूप उपादान (अर्थापत्ति) प्रमाण से एकत्व संख्या के साथ (करणत्व का) अन्वय होता है, क्योंकि पशु की अवच्छेदक होकर यहाँ संख्या निविष्ट हुई है । उस मार्ग से (स्वाश्रय पशु के) द्वारा अर्थापत्ति-प्रमाण से इन दोनों (करणत्व और एकत्व) का कार्य (नियोग) में निवेश बन जाता है ॥

भावितार्थ—"पशुना यजेत" यहाँ तृतीया श्रुति से पशु में याग की करणता अवगत होती है । 'पशु' पद जाति-वाचक है, अतः 'पशु' पद से संख्या की उपस्थिति न होने से यह आकाङ्क्षा होती है कि "कया संख्यया अवच्छिन्नेन पशुना यागं निर्वर्तयेयम् ?" एवं एकवचन से उपस्थापित एकत्व के लिए जिज्ञासा होती है कि "केन द्वारेणमां सङ्ख्यां नियोगे निवेशयेयम् ?" क्योंकि नियोग सर्वतः प्रधान होता है, उसी में सभी पदार्थों का अन्वय किया जाता है । उक्त दोनों आकाङ्क्षाओं की शान्ति के लिए पशु का [1]अवच्छेदक एकत्व माना जाता है और एकत्व का पशु के द्वारा नियोग के साथ अन्वय होता है । पशु भी धात्वर्थ याग के द्वारा नियोगान्वयी होता है । यहाँ जिज्ञासा होती है कि पशु का धात्वर्थ में किस रूप से अन्वय किया जाय ? तथा 'पशुना' इस तृतीया विभक्ति से वाच्य करणत्व का निवेश नियोग में कैसे किया जाय ? यह भी आकाङ्क्षा होती है । इन आकांक्षाओं से करणत्वरूप से पशु का धात्वर्थ में और करणत्व का पशु के द्वारा नियोग में अन्वय सम्पन्न हो जाता है—"एकपशुकरणकयागविषयकरणको[2] नियोगः ।" एक ही पशु एकत्व तथा करणत्व दोनों का आश्रय है । अतः एकत्वान्वित पशु में करणत्व का अन्वय होता है । फलतः एकत्व और करणत्व का परस्पर अन्वय, पशु के साथ अन्वय एवं नियोग से अन्वय सम्पन्न हो जाता है ॥ ५०६ ॥

"पशुना यजेत" विधिवाक्य है, विध्यन्यथानुपपत्ति प्रमाण से एकत्व करणत्वादि का अन्वय होता है । किन्तु "यतो वा इमानि" (तै० ३।१।१) यहाँ विधि नहीं, अतः विध्यन्यथानुपपत्ति से एकत्व और प्रकृतित्व का अन्वय नहीं हो सकता—यह शिष्य आशङ्का करता है—

---

[1] एकत्वसंख्यया पशोरवच्छेदो व्यावृत्तिः क्रियते—येन पशुना यागो निर्वर्त्यः स एकः स्यात् ।

[2] धात्वर्थो नियोगस्य विषयो जनकश्चेति प्राभाकरः समयः, अतः यागः विषयः करणं च यस्य नियोगस्य स यागादिविषयकरणक इति विग्रहः ।

न चैवंविधिः कश्चिदत्रेति न स्यात्
उपादानतः संगतिर्यत्पदार्थे ।
विभक्त्यर्थसंख्यार्थयोर्नेह कश्चित्
यतो वा इमानीति वाक्ये विधिर्नः ॥ ५०७ ॥

योजना—अत्र एवं कश्चित् विधिः नेति उपादानतः विभक्त्यर्थसंख्यार्थयोः संगतिः न स्यात् । 'यतो वा इमानि' इति वाक्ये नः कश्चित् विधिर्न ॥ (भुजङ्गप्रयातम्) ॥

योजितार्थ—"यतो वा इमानि" (तै० १।१।१) इस वाक्य में वैसी कोई विधि नहीं, अतः उपादान (अर्थापत्ति) प्रमाण से विभक्त्यर्थ और संख्यार्थ का यत् पदार्थ में अन्वय नहीं होगा। इस "यतो वा इमानि" वाक्य में हमारे मत से कोई विधि नहीं मानी जाती ॥ ५०७ ॥

विधि न होने पर भी अनुपपत्ति प्रमाण से ही यहाँ उन दोनों का सम्बन्ध होता है, इस प्रकार गुरु समाधान करता है—

अवितथमिदमेवमेतदस्मिन्
न खलु विधेर्वचनं पठन्ति वाक्ये ।
यत इति घटते तथाऽपि योगो
वचनविभक्तिनिगद्ययोरिहापि ॥ ५०८ ॥

योजना—अवितथमिदम् "यतः" इति अस्मिन् वाक्यविधेर्वचनं न खलु पठन्तीति एवमेवेतत्; तथापि इहापि वचनविभक्तिनिगद्ययोः योगो घटते ॥

योजितार्थ—यह जो कहा (पशुगत एकत्व-करणत्व का उपादानप्रमाण से अन्वय) वह सत्य है। 'यतो वा इमानि'—इस वाक्य में विधि नहीं—यह भी ऐसा ही है, तथापि यहाँ भी वचनार्थ और विभक्त्यर्थ का अन्वय हो जाता है ॥

भावितार्थ—अन्यथानुपपत्ति प्रमाण से 'यतो वा इमानि' यहाँ भी वचनार्थ एकत्व और विभक्त्यर्थ प्रकृतित्व का परस्पर अन्वय होता है। हाँ, वह अन्यथा उपपत्ति विधि की नहीं; क्योंकि यह वाक्य ब्रह्मवस्तुपरक है। विधि की कल्पना में यह उद्देश्य सिद्ध न होगा ॥ ५०८ ॥

तब यहाँ वचनार्थ और विभक्त्यर्थ का अन्वय न मानने पर किसकी अनुपपत्ति है ? इस जिज्ञासा की निवृत्ति करते हैं—

एकत्वमेकवचनेन समर्पितं यत्
यच्छब्दवाच्यनिलयं यत इत्यमुष्मिन् ।
पञ्चम्युपात्तमपि यत्प्रकृतित्वमस्मिन्
संगच्छते तदुभयं पशुवस्तुनीव ॥ ५०९ ॥

योजना—'यतः'—इत्यमुष्मिन् वाक्ये यच्छब्दवाच्यनिलयम् एकवचने समर्पितम् एकत्वम्, पञ्चम्युपात्तमपि प्रकृतित्वम्, तदुभयम् अस्मिन् पशुवस्तुनीव सङ्गच्छते ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—'यतो वा'—इस वाक्य में 'यत्' शब्द-वाच्यगत जो एकवचन से समर्पित एकत्व है और जो पञ्चम्यर्थ प्रकृतित्व है वे दोनों इस (चेतनवस्तु) में पशुवस्तु के समान अन्वित होते हैं ।।

भावितार्थ—"यतो वा इमानि"—यहाँ पर एकवचन तथा पञ्चमी विभक्ति दोनों विशिष्टार्थ के उद्देश्य से प्रयुक्त हुए हैं, विशेष्यान्वय के बिना उसकी अनुपपत्ति होती है, अतः यहाँ भी चेतन वस्तरूप विशेष्य में दोनों अन्वयी होते हैं। अर्थात् वाक्य-शेषादि के द्वारा यह स्थिर हो चुका है कि 'यतो वा इमानि' वाक्य ब्रह्म-लक्षण का बोधक है। वह 'जगत्प्रकृतित्व'—इतने अर्थ से नहीं बनता, क्योंकि अनेक प्रकृतियों का एक ब्रह्म से अभेद बनता नहीं। इसलिए एकत्व का भी सम्बन्ध अपेक्षित है। फलतः 'एका प्रकृतिः' यह बोध सिद्ध हो जाता है ।। ५०९ ।।

सम्बन्धाक्षेप को स्पष्ट करते हैं—

एका या प्रकृतिः समस्तजननी तद् ब्रह्म जिज्ञास्यताम्
इत्यत्रापि हि वस्तुनिष्ठवचने शक्यैव तत्संगतिः ।
विज्ञातुं विधिमन्तरेण च तथानर्थक्यभीत्या न हि
स्वाध्यायाध्ययनैकगोचरविधेरायातमर्थं विना ।। ५१० ।।

योजना—'समस्तजननी या एका प्रकृतिः, तद् ब्रह्म जिज्ञास्यताम्'—इत्यत्र वस्तुनिष्ठ वचनेऽपि विधिमन्तरेणैव हि तत्संगतिः विज्ञातुं शक्या। तथा आनर्थक्यभीत्या च आयातम् अर्थं विना स्वाध्यायाध्ययनैकगोचरविधेः (सार्थक्यं न सम्भवति)।।(शा०वि०छ०)

योजितार्थ—'समस्त प्रपञ्च की जननी जो एक प्रकृति है, वही ब्रह्म समझी जाय'—इस वस्तुपरक वचन में भी विधि के विना ही उस (वचनार्थ) तथा विभक्त्यर्थ की संगति (अन्वय) जानी जा सकती है। वैसे ही आनर्थक्य के भय से भी; क्योंकि लब्धार्थ के विना 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'—इस अध्ययन विधि का सार्थक्य सम्भव नहीं ।।

भावितार्थ—'यतो वा इमानि भूतानि' यहाँ से लेकर 'तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म'—यहाँ तक के दण्डक वाक्य में ब्रह्म के लक्षण और उसकी विजिज्ञास्यता का प्रतिपादन किया गया है। लक्ष्यमाण ब्रह्म ही जगत्-कारणत्व के अनुगुण सम्बन्ध का आक्षेप करता है। जिस प्रकार के लक्षण से पूणतया ब्रह्म लक्षित हो, उस प्रकार के लक्षण की स्थिति के अनुरूप प्रकृतित्व तथा एकत्व का भी परस्पर अन्वय अनिवार्य है। अतः उन दोनों का अधिष्ठातृ चैतन्य के द्वारा 'एका प्रकृति सर्वजननी' इस रूप में अन्वय-बोध विधि के विना ही सम्भवित हो जाता है ।। ५१० ।।

इस प्रकार 'पशुना'—यहाँ पर जैसे विध्यनुपपत्ति से वचनार्थ और विभक्त्यर्थ का अन्वय होता है, वैसे ही यहाँ लक्षण वाक्यगत 'यतः'—इस पद में भी विशिष्ट लक्ष्य बोध की अन्यथानुपपत्ति है—

वचनार्थविभक्तिवाच्ययोः
उपपन्नाऽन्वयबुद्धिरर्थतः ।
पशुनेति पदे यथा तथा
यतः इत्यादिपदेऽपि लक्षणे ।। ५११ ।।

योजना—यथा अर्थतः पशुनेति पदे वचनार्थविभक्तिवाच्ययोः अन्वयबुद्धिः उपपन्ना, तथा लक्षणे यतः इत्यादिपदेऽपि ॥ (सुन्दरीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—जैसे अर्थापत्तिप्रमाण से पशुना यजेत वाक्य के 'पशुना'—इसमें वचनार्थ (एकत्व) और विभक्त्यर्थ (कारणत्व) का अन्वयबोध उपपन्न हो जाता है, वैसे 'यतो वा इमानि'—इस ब्रह्म-लक्षण वाक्य के 'यतः' इस पद में भी एकत्वरूप वचनार्थ तथा प्रकृतित्वरूप विभक्त्यर्थ का अन्वय-बोध हो जाता है ॥ ४११ ॥

ऊपर के पद्य में निविष्ट 'अर्थतः' पद का विवरण करते हैं—

विधिनिष्ठवाक्यमपि बोधयति
स्वमपेक्षितं विषयमर्थवशात् ।
परमात्मनिष्ठमपि तुल्यमिदं
वचसोर्द्वयोरपि तु रूपमतः ॥ ५१२ ॥

योजना—विधिनिष्ठवाक्यम् अपि अर्थवशात् स्वमपेक्षितं विषयं बोधयति । परमात्मनिष्ठमपि । अतः द्वयोरपि वचसोः इदं तु तुल्यं रूपम् ॥ (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—विधिपरक वाक्य भी अर्थापत्ति से अपने अपेक्षित विषय का बोध कराता है। परमात्मपरक वाक्य भी (अर्थापत्ति से अपने अपेक्षित विषय का बोध कराता है) अतः उक्त दोनों प्रकार के वचनों में यह (वचनार्थ विभक्त्यर्थान्वय) समानरूप है ॥

भावितार्थ—यह सब-कुछ प्राभाकर मत से कहा गया है। भाट्ट मत में तो विभक्त्यर्थों का परस्पर समानाभिधानश्रुति से अन्वय होता है और प्रकृत्यर्थ-प्रत्ययार्थ का एकपद श्रुति से। एकपद-श्रुति की अपेक्षा समानाभिधान श्रुति के प्रबल होने से वचनार्थ और विभक्त्यर्थ का प्रथम अन्वय और प्रकृत्यर्थ-प्रत्ययार्थ का पश्चात् अन्वय होता है ॥ ५१२ ॥

लक्ष्यगत प्रसिद्ध स्वरूप या उपाधि को ही लक्षण कहा जाता है। जगत्कारणत्व न तो ब्रह्म का प्रसिद्ध स्वरूप है और न ब्रह्म की उपाधि, अतः यह ब्रह्म का लक्षण कैसे बनेगा ? इस आशंका का समाधान करते हैं—

एकं चेतनमस्य यत्प्रकृतितामापन्नमुत्प्रेक्षते
तद् ब्रह्मेति निशामयेति निपुणं ब्रूते परब्रह्मणः ।
सिद्धं लक्षणमादरेण महता व्यावर्त्तयद् ब्रह्मणः
तत्त्वं तत्त्वमसीतिवाक्यनिलयं तच्छब्दलक्ष्यं वचः ॥५१३॥

योजना—अस्य जगतः प्रकृतिताम् आपन्नं यदेकं चेतनम् उत्प्रेक्ष्यते, तद् ब्रह्मेति निशामय इति वचः तत्त्वमसीतिवाक्यनिलयं तच्छब्दलक्ष्यं ब्रह्मणः तत्त्वं महता आदरेण व्यावर्तयत्, परब्रह्मणः सिद्धं लक्षणं ब्रूते ॥ (शा० वि० छ०) ।

योजितार्थ—'इस जगत् की उपादान कारणता का आश्रय जो एक चेतन उत्प्रेक्षित होता है, उस ब्रह्म का श्रवण कर'—यह वचन महावाक्य-गम्य, 'तत्' शब्द के भूत, ब्रह्मतत्त्व की पूर्ण आदर के साथ (प्रधानादि-अनात्मजगत् से) व्यावृत्ति करते हुए परब्रह्म का सिद्ध लक्षण कहता है ॥

भावितार्थ—जगत् का कारण कोई चेतन तत्त्व है-यह तो अनुमान से ही सिद्ध है। वह एक है ? या अनेक ? इसका निर्णय यद्यपि अनुमान से नहीं होता, तथापि लाघवादि तर्कों से उत्प्रेक्षित एकता भी सिद्ध है। इसी प्रकार लक्ष्य भी महावाक्य-गत ब्रह्मादि पदों के सामर्थ्य से सिद्ध है। महावाक्य से ही ब्रह्म की सिद्धि हो जाती है, लक्षण की क्या आवश्यकता ? इस सन्देह को दूर करने के लिए कहा है—व्यावर्तयत्। अर्थात् 'व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणास्य प्रयोजनम्' इस प्रकार व्यावृत्तिरूप प्रयोजन लक्षण से ही सिद्ध होगा, महावाक्य से नहीं। लक्षण ही अपने लक्ष्य को सजातीय और विजातीय पदार्थों से व्यावृत्त करके दिखाता है।। ५१३।।

[त्रिविधलक्षणनिरूपणम्]

उक्त लक्षण अपने लक्ष्य से सम्बद्ध है ? या असम्बद्ध ? सम्बद्ध होने पर कूटस्थत्वादि की अनुपपत्ति और असम्बद्ध होने पर अपने लक्ष्य का परिचायक कैसे होगा ? इस सन्देह की निवृत्ति के लिए लक्षण-प्रकार दिखाते हैं—

लक्ष्यस्य लक्षणमिह त्रिविधं प्रसिद्धं
लोके स्वलक्षणममुष्य विशेषणं वा।
यद्वोपलक्षणमिमानि च लक्षणेन
व्यावर्णयामि पृथगेव तु तत्प्रतीहि।। ५१४।।

योजना—इह लोके लक्ष्यस्य त्रिविधं लक्षणं प्रसिद्धम्-स्वलक्षणम्, अमुष्य विशेषणं वा यद्वा उपलक्षणम्-इमानि पृथगेव तु लक्षणेन व्यावर्णयामि, तत् प्रतीहि।। (व०ति०छ०)

योजितार्थ—इस लोक में लक्ष्य के त्रिविध लक्षण प्रसिद्ध हैं—(१) स्वलक्षण, (स्वरूप लक्षण)। अथवा (२) इस (लक्ष्य) का विशेषण (विशेषण लक्षण) (३) या उपलक्षण। इनका पृथक्-पृथक् लक्षणों के द्वारा विशेष वर्णन करता हूँ। हे शिष्य ! उसे जानने का यत्न कर।।

भावितार्थ—विशेषरूप से लक्ष्य के परिचायक पदार्थ को लक्षण कहते हैं। लक्ष्य के परिचायक तीन ही पदार्थ होते हैं—स्वरूप, विशेषण और उपाधि अतः इन तीनों को लक्षण कहा जाता है। स्वरूप को स्वरूपलक्षण या स्वलक्षण, विशेषण को विशेष-लक्षण तथा उपाधि को तटस्थलक्षण या उपलक्षण लक्षण।। ५१४।।

विशेष लक्षणों को दिखाने से पूर्व सामान्य लक्षण दिखाना अनिवार्य है, अतः लक्षण किसे कहते हैं ? यह दिखाया जाता है—

लक्ष्यार्थनिष्ठमुपलब्धमतोऽन्यतोऽर्थात्
निःशेषतो यदतिरिच्य तदर्थवस्तु।
लक्ष्यं निवेदयति लक्षणमेतदाहुः
सामान्यलक्षणमिदं त्रिषु लक्षणेषु।। ५१५।।

योजना—यद् अर्थवस्तु लक्ष्यार्थनिष्ठमुपलब्धम् अन्यतोऽर्थात् निःशेषतोऽतिरिच्य लक्ष्यं निवेदयति-एतत् लक्षणमाहुः। इदं त्रिषु लक्षणेषु सामान्यलक्षणम्।। (वसन्तति०)।।

योजितार्थ—जो पदार्थ लक्ष्यवस्तु में उपलब्ध होता है और अलक्ष्य पदार्थों से निःशेषतः लक्ष्य को पृथक्-पृथक् करके बताता है, उस पदार्थ को लक्षण कहते हैं। यह लक्षण तीनों लक्षणों का साधारण लक्षण है ॥

भावितार्थ—'यद् यस्य निःशेषतः सजातीयविजातीयव्यावर्तकं सत् यन्निष्ठमुपलभ्यते, तत् तस्य लक्षणम्' यह लक्षण का लक्षण कहा जाता है। अर्थात् जो धर्म निःशेषतः सजातीय और विजातीय पदार्थों से व्यावर्त्तक होता हुआ जिस धर्मी में उपलब्ध होता है, उसे लक्षण कहा जाता है, जैसे–'सास्नादिमत्त्व' गो का लक्षण है, क्योंकि वह गो का सजातीय महिषी आदि तथा विजातीय घटादि पदार्थों से व्यावर्तक है और गो में रहता पाया जाता है। यद्यपि यह लक्षण स्वरूपलक्षण में नहीं घट सकता, क्योंकि वह लक्ष्य में वृत्ति (लक्ष्य का धर्म) नहीं होता। तथापि लक्षण का निष्कृष्ट स्वरूप यह है-'यत् प्रमितं सत् यस्य सजातीयादिभ्यः सर्वेभ्यो व्यावर्तकम्, तत् तल्लक्षणम्' ॥५१५॥

प्रतिज्ञात प्रथम (स्वरूप-लक्षण) लक्षण का लक्षण दिखाते हैं –

लक्ष्यस्वरूपमपि सद्यदमुष्य साक्षात्
अर्थान्तराद्भवति भेदकमेतदाहुः ।
अस्य स्वलक्षणतयैव तु लक्षणं खं
छिद्रं जलं द्रवमितीदृशमत्र लोके ॥ ५१६ ॥

योजना—यत् लक्ष्यस्वरूपं सद् अपि अमुष्य अर्थान्तरात् साक्षात् भेदकं भवति, एतत् अस्य स्वलक्षणतयैव लक्षणम् आहुः। अत्र लोके खं छिद्रं, जलं द्रवम्—इतीदृशम् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजतार्थ—जो लक्ष्य का स्वरूप होने पर भी इस (लक्ष्य) का लक्ष्येतर निखिल पदार्थों से साक्षात् भेदक होता है, उसे इस लक्ष्य का स्वरूपभूततया ही लक्षण कहते हैं। जैसे कि लोक में आकाश का स्वरूप लक्षण है–खं, छिद्रमादि। जल का–जलं, द्रवम आदि।

द्वितीय विशेषणलक्षण का लक्षण करते हैं—

स्थानुरक्तमतिजन्मकारणं
यत्पुनर्भजति लक्ष्यवस्तुनि ।
तद्विशेषणतयाऽस्य लक्षणं
केसरादिकमिवाश्ववस्तुनः ॥ ५१७ ॥

योजना—यत् लक्ष्यवस्तुनि स्वानुरक्तमतिजन्मकारणं भवति, तत् अस्य विशेषणतया लक्षणम्, अश्ववस्तुनः केशरादिकमिव ॥ (रथोद्धताच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—जो लक्ष्यवस्तु में स्वविशिष्टबुद्धि का जनक होता है, उसे विशेषण-लक्षण कहा जाता है, जैसे अश्व का केसरादि ॥

भावितार्थ—अश्व की गर्दन पर के बाल (आल) केसर कहलाते हैं। केसरादि अश्व में विद्यमान एक ऐसा विशेषण है, जो उसे अन्य पदार्थों से व्यावृत्त करता एवं स्व-विशिष्ट (केसरी इस प्रकार की) विशिष्ट बुद्धि का उत्पादक है, अतः इसे विशेषण लक्षण कहा जाता है ॥ ५१७ ॥

उपलक्षण लक्षण कहते हैं—

स्वानुरक्तमतिजन्महेतुतां
लक्ष्यवस्तुनि निरस्य लक्षणम् ।
अस्वरूपमपि तस्य यद्भवेत्
काकवत्तदुपलक्षणं विदुः ॥ ५१८ ॥

योजना—लक्ष्यवस्तुनि स्वानुरक्तमतिजन्महेतुतां निरस्य तस्य अस्वरूपमपि यत् लक्षणम्, तत् उपलक्षणं विदुः—काकवत् ॥ (रथोद्धताच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—लक्ष्यवस्तु में स्वविशिष्ट-बुद्धि-हेतुता को छोड़कर स्वरूप न होनें पर भी जो लक्ष्य का व्यावर्तक होता है, उसे उपलक्षण लक्षण कहते हैं, जैसे कि काकादि ॥

भावितार्थ—विशेषण लक्षण की निवृत्ति के लिए 'लक्ष्यवस्तुनि स्वानुरक्तमतिजन्महेतुतां निरस्य' कहा तथा स्वरूप लक्षण से अतिव्याप्ति हटाने के लिए कहा-'अस्वरूपमपि' उदाहरण दिया-काक । अर्थात् 'काकवद् देवदत्तस्य गृहम्'-यहाँ पर काक गृह का विशेषण भी नहीं और स्वरूप भी नहीं, फिर भी देवदत्त के गृह का व्यावर्तक है ।५१८।

ब्रह्म का प्रकृत लक्षण इसी उपलक्षण कोटि का है—

विश्वोद्भवस्थितिलयप्रकृतित्वमस्य
चिद्वस्तुनो यदसहायपरिग्रहस्य ।
तद्वर्णनीयमुपलक्षणमेव कस्मात्
ब्रह्मेति लक्ष्यपदशक्त्यविरोधहेतोः ॥ ५१९ ॥

योजना—यस्य असहायपरिग्रहस्य चिद्वस्तुनो यद् विश्वोद्भवस्थितिलयप्रकृतित्वं लक्षणम्, तदुपलक्षणमेव वर्णनीयम् । कस्मात् ? ब्रह्मेतिलक्ष्यपदशक्त्यविरोधहेतोः । व०ति०

योजितार्थ—इस अद्वितीय चिद्वस्तु का जो 'विश्व-उत्पत्तिस्थितिलय-कारणत्व' लक्षण है, उसे उपलक्षण ही कहना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार ब्रह्मरूप लक्ष्य पद की शक्ति का विरोध नहीं होता ॥

भावितार्थ—'जगत्कारणत्व' को यदि उपलक्षण न मानकर विशेषण माना जाय, तब विशेषण यावद्विशेष्यभावी होने के कारण ब्रह्म को परिच्छिन्न बना देगा । तत्पद की वृत्ति से उपस्थापित अपरिच्छिन्न ब्रह्म का विरोध होता है, अतः उसे उपाधि ही मानना उचित है । इस प्रकार 'जगत्कारणत्व' तटस्थ लक्षण ही सिद्ध होता है ॥५१९॥

विशेषण-पक्ष में सूचित विरोध दिखाते हैं—

विश्वोद्भवस्थितिलयप्रकृतिस्वरूपम्
ऐकाकिनो यदिह लक्षणमुच्यमानम् ।
तद्ब्रह्मणो यदि विशेषणरूपमिष्टं
ब्रह्मेति लक्ष्यविषयस्य पदस्य भङ्गः ॥ ५२० ॥

योजना-यद् इह एकाकिनो विश्वोद्भवस्थितिलयप्रकृतित्वरूपम् लक्षणम् उच्यमानम् । तद् यदि ब्रह्मणो विशेषणम् इष्टम्, ब्रह्मेतिलक्ष्यविषयस्य पदस्य भङ्गः । (व०छ०) ।

योजितार्थ—जो यहाँ अद्वितीय ब्रह्म का 'विश्व-प्रकृतित्व' लक्षण किया जाता है। वह यदि ब्रह्म का विशेषण माना जायगा, तब 'ब्रह्म' इस लक्ष्यविषयक पद का विरोध होगा ॥

भावितार्थ—बृहत्यर्थक 'ब्रह्म' पद का लक्ष्य है—अखण्ड ब्रह्म। 'जगत्प्रकृतित्व' यदि उसका विशेषण माना जाय, तब 'ब्रह्म' पद की शक्ति का संकोच करना होगा। इसलिए उक्त लक्षण ब्रह्म का विशेषण नहीं, अपितु उपलक्षण है ॥ ५२० ॥

उपलक्षण पक्ष में लक्ष्य पद की रक्षा तो हो जाती है, किन्तु एक पद की रक्षा में पूरा 'लक्षणवाक्य' ही काल्पनिकार्थक हो जाने से भङ्ग हो जाता है। लक्षणवाक्य होने से असंजात-विरोधी भी है, अतः लक्षण को विशेषण मानना ही उचित है, इस सन्देह का निराकरण करते हैं—

लक्ष्यार्थवाचिपदमत्र हि लक्षणार्थे
वाक्ये प्रधानमितरद् गुणभूतमाहुः।
ब्रह्मेति लक्ष्यविषयं च पदं समर्थं
भूमानमेव वदितुं न तु मर्त्यमल्पम् ॥ ५२१ ॥

योजना-अत्र लक्षणार्थे वाक्यं हि लक्ष्यार्थवाचि पदं प्रधानम् इतरद् गुणभूतमाहुः। ब्रह्मेति लक्ष्यविषयं पदं भूमानमेव वदितुं समर्थम् न तु मर्त्यम् अल्पम् ॥(व० ति० छ०)॥

योजितार्थ—इस लक्षणवाक्य में लक्ष्यार्थ-वाचक पद को प्रधान और दूसरे (लक्षणार्थक) पद को गौण कहते हैं। 'ब्रह्म'—यह लक्ष्यार्थक पद अपरिच्छिन्न तत्त्व को ही कहने में समर्थ है, न कि परिच्छिन्न विनश्वर रूप को ॥

भावितार्थ—लक्षण-वाक्य में पश्चात् उपात्त होन पर भी लक्ष्यार्थक पद प्रधान है, क्योंकि उसका अर्थ ही उद्देश्य है, तथा जिज्ञास्य है। लक्षण तो उसी का अङ्ग होने से गौण है। लक्ष्य के अनुरूप ही लक्षण करना होगा। लक्ष्यार्थक 'ब्रह्म' पद 'बृहि' धातु से निष्पन्न होकर 'यत्र नान्यत् पश्यति' (छां० ७।२४।१) आदि वाक्यों से परिलक्षित भूमरूप को ही कहने में समर्थ है, परिच्छिन्नरूप को नहीं ॥ ५२१ ॥

'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' (जै० सू० ६।३।५) के आधार पर लक्षणवाक्य को ही उपलक्षणार्थक मानना उचित है—

तस्मात्प्रधानपदभङ्गभयाद् गुणानां
युक्तं ग्रहीतुमुपलक्षणगोचरत्वम्।
ब्रह्मेति चैतदुपलक्ष्यसमर्पणार्थम्
एवं समञ्जसमिदं पदजातमस्मिन् ॥ ५२२ ॥

योजना-तस्मात् ब्रह्मेति चैतदुपलक्ष्यसमर्पणार्थं प्रधानपदभङ्गभयाद् गुणानाम् उपलक्षणगोचरत्वं ग्रहीतुं युक्तम्। एवम् इदं पदजातम् अस्मिन् समञ्जसम् ॥ (व० ति० छं०)॥

योजितार्थ—इसलिए 'ब्रह्म'—इस पद के लक्ष्यार्थ का समर्पण करने के लिए तथा प्रधान पद के भङ्ग-भय से गुणभूत पदों को उपलक्षणार्थक ही मानना युक्त है। इस प्रकार सभी पद इस ब्रह्म वस्तु में समञ्जस हो जाते हैं ॥

भावितार्थ-'ब्रह्म'—इस प्रधान पद की शक्ति का संकोच न करना पड़े, इसलिए गुण-

भूत लक्षणपदों को उपलक्षणार्थ ही मानना उचित है। एवं 'ब्रह्म'—इस पद का उपलक्ष्यसमर्पण प्रयोजन सिद्ध हो जाता है ॥ ५२२ ॥

उक्त लक्षण का प्रयोजन दिखाते हैं—

लक्ष्यस्वरूपकथनाय न लक्षणानि
नाप्यस्य वाचकमिदं पदमित्यमुष्मै ।
व्यावृत्तमेतदखिलादितरार्थजातात्
इत्येतदेव वदितुं ननु लक्षणानि ॥ ५२३ ॥

योजना— लक्षणानि न लक्ष्यस्वरूपकथनाय, नापि 'इदं पदम् अस्य वाचकम्'—इत्यमुष्मै । एतत् अखिलात् इतरार्थजातात् व्यावृत्तम्- इत्येतदेव वदितुं लक्षणानि ननु ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।

योजितार्थ—लक्षण न तो लक्ष्यस्वरूप का कथन करने के लिए हैं, और न 'यह पद इस अर्थ का वाचक है'—यह दिखाने के लिए ही। यह (लक्ष्य वस्तु) निखिल इतर (अलक्ष्य) पदार्थ-वर्ग से व्यावृत्त (भिन्न) है—यह कहने के लिए ही लक्षण होते हैं ॥

भावितार्थ —कुछ लोग लक्षण का प्रयोजन मानते हैं–'लक्ष्य स्वरूप का परिचय कराना'। इसीलिए प्रमाणान्तर से अज्ञात ब्रह्मस्वरूप लक्षण से जाना जाता है। दूसरे विद्वानों का कहना है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' आदि श्रुतियाँ ही उसके स्वरूप का बोध कराती हैं। लक्षण वाक्य लक्ष्य-स्वरूप का परिचायक नहीं होता, जैसे कि 'यः पर्यङ्के शेते स राजा'—यहाँ पर्यङ्कशायित्व राजा का स्वरूप नहीं होता । अतः लक्षण का प्रयोजन है—संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध-बोधन । सिद्धान्ती दोनों पक्षों में क्रमशः दोष दिखायेगा ॥ ५२३ ॥

लक्ष्य के अज्ञातस्वरूप का लक्षण ज्ञापक नहीं हो सकता—

लक्ष्यस्वरूपमुपलभ्य तदेकनिष्ठं
दृष्ट्वा च लक्षणमनेन तदेव लक्ष्यम् ।
व्यावर्त्य बोधयितुमुत्सहते जनोऽयं
तत्त्वान्तरादिति यतः प्रतिपन्नमेतत् ॥ ५२४ ॥

योजना—लक्ष्यस्वरूपम् उपलभ्य, तदेकनिष्ठं लक्षणं दृष्ट्वा च अनेन तदेव लक्ष्यं तत्त्वान्तरात् व्यावर्त्य बोधयितुम् अयं जनः उत्सहते । यतः एतत्प्रतिपन्नम् (अतो नाज्ञातज्ञापनं लक्षणकृत्यम्) ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—किसी प्रमाण से लक्ष्य के स्वरूप का निश्चय करके तथा उस लक्ष्यमात्र में वृत्ति लक्षण को देखकर उस लक्षण के द्वारा उसी लक्ष्य को इतरपदार्थों से पृथक् करके दूसरे को जनाने के लिए पुरुष प्रवृत्त होता है—यह निश्चित है, अतः अज्ञातज्ञापन लक्षण का प्रयोजन नहीं बनता ॥

भावितार्थ—ज्ञात लक्षण ही कार्यकारी होता है। लक्षण के ज्ञान से पहले लक्ष्य का ज्ञान आवश्यक है, अन्यथा धर्मी का ज्ञान न होने पर लक्षणरूप धर्म का ज्ञान भी न हो सकेगा। अतः लक्ष्य का स्वरूपज्ञान लक्षण का कृत्य नहीं हो सकता ॥ ५२४ ॥

संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध-बोधन भी लक्षण का प्रयोजन नहीं हो सकता—

संज्ञासंज्ञिसमन्वयावगतये नेष्टं क्वचिल्लक्षणं
व्यावृत्तिप्रतिपत्तिमात्रजनकं लक्ष्ये भवेदन्यतः ।
लक्ष्यं लक्षणवर्त्मना हि जगति व्यावर्तयन्तोऽन्यतः
तत्तल्लक्षणमादरेण महता संगृह्णते वादिनः ॥ ५२५ ॥

योजना—क्वचित् संज्ञासंज्ञिसमन्वयावगतये लक्षणम् इष्टं न। (लक्षणं) लक्ष्ये अन्यतः व्यावृत्तिप्रतिपत्तिमात्रजनकं भवेत्। जगति हि वादिनः लक्षणवर्त्मना अन्यतः लक्ष्यं व्यावर्तयन्त, तत्तल्लक्षणं महता आदरेण संगृह्णते ।। (शा० वि० छ०) ।।

योजितार्थ—कहीं भी संज्ञा-संज्ञी का सम्बन्ध-ज्ञान कराने के लिए लक्षण नहीं माना जाता, किन्तु लक्षण अपने लक्ष्य की इतर पदार्थो से व्यावृत्तिमात्र का ज्ञान करता है। लोक में वादिगण लक्षण के द्वारा इतर पदार्थों से लक्ष्य की व्यावृत्ति करने के लिए ही तत्तत् लक्षणों का सादर संग्रह किया करते हैं ।।

भावितार्थ—'गन्धवत्त्व' पृथिवी का लक्षण है, अर्थात् पृथिवी पद-वाच्य का लक्षण गन्धवत्त्व है—इस प्रकार लक्षण के ज्ञान के पूर्व ही संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है, वह लक्षण का प्रयोजन कैसे बनेगा ? वादिगण केवल एकमात्र प्रयोजन के लिए लक्षणों का आदर किया करते हैं, वह है—इतर-व्यावृत्ति ॥ ५२५ ॥

उक्त न्याय का प्रकृत में उपसंहार करते हैं—

तस्माद् ब्रह्मणि वाच्यवाचकयुजासिध्यै श्रुतिर्नाऽभ्यधात्
जन्माद्यस्य समीक्षितस्य जगतो यद् ब्रह्मणो लक्षणम्।
नापीदं स्वकरूपबोधनपरं संकीर्तितं ब्रह्मणः
किंत्वब्रह्मपदार्थतोऽस्य सकलाद्व्यावृत्तता सिद्धये ॥ ५२६ ॥

योजना—तस्मात् श्रुतिः यद् ब्रह्मणो लक्षणम् अभ्यधात् 'समीक्षितस्य अस्य जगतः जन्मादि'। तत् ब्रह्मणि वाच्यवाचकयुजासिध्यै न। नापि इदं ब्रह्मणः स्वरूपबोधनपरं संकीर्तितम् किन्तु सकलात् अब्रह्मपदार्थतो अस्य व्यावृत्तता सिद्धये ।। (शा० वि० छ०)।।

योजितार्थ—इसलिए श्रुति ने जो ब्रह्म का लक्षण किया है—'इस प्रत्यक्षभूत जगत् का जन्मादि'। वह ब्रह्म में वाच्य-वाचक सम्बन्ध की सिद्धि के लिए नहीं और न ब्रह्म का स्वरूप-बोधन करने के लिए ही लक्षण किया है, किन्तु सकल ब्रह्मेतर पदार्थों से इस (ब्रह्म) की व्यावृत्ति सिद्ध करने के लिए ।। ५२६ ।।

वस्तुतः ब्रह्म से भिन्न कुछ है ही नहीं, तब ब्रह्मेतर से ब्रह्म की व्यावृत्तिरूप लक्षण का प्रयोजन कैसे सिद्ध होगा ? इस शङ्का का समाधान है—

परिच्छिन्नवस्तुव्यवच्छेदसिध्यै
जगाद श्रुतिर्लक्षणं ब्रह्मणस्तत् ।
परिच्छिन्नता प्रापिता पूर्वपक्षे
परब्रह्मणस्तन्निषेधार्थमेतत् ॥ ५२७ ॥

योजना—श्रुतिः ब्रह्मणः तल्लक्षणं परिच्छिन्नवस्तुव्यवच्छेदसिध्यै जगाद। पूर्वपक्षे परब्रह्मणः परिच्छिन्नता प्रापिता, तन्निषेधार्थम् एतत् ॥

योजितार्थ—श्रुति ने ब्रह्म का वह लक्षण परिच्छिन्न पदार्थों से ब्रह्म का व्यवच्छेद सिद्ध करने के लिए किया है। वस्तुतः सांख्यादि के मत से ब्रह्म (जगत्कारण) में परिच्छिन्नता प्राप्त होती है, उसकी निवृत्ति के लिए यह लक्षण है ॥

भावितार्थ—यद्यपि परमार्थ दृष्टि से ब्रह्म-भिन्न कुछ भी नहीं, तथापि अविद्या-कल्पित अनन्त ब्रह्मेतर पदार्थ हैं, जिनसे ब्रह्म की व्यावृत्ति सिद्ध करनी है। वस्तुतः सांख्यादि मतों से जगत् के कारण में जो परिच्छिन्नता प्राप्त होती है, उसे ब्रह्म से हटाना, यहाँ लक्षण का परम ध्येय है ॥ ५२७ ॥

जगत्-कारण में परिच्छिन्नत्व-प्रसञ्जक पूर्वपक्ष दिखाते हुए श्रुति का परम तात्पर्य दिखाते हैं—

कालस्वभावपरमाण्वसुभृत्प्रधान-
स्कन्धप्रतीत्यखिलशून्यकथाप्रसंगे ।
जन्मादिसूत्रमवतीर्णमियं श्रुतिश्च
तस्मादिदं परमिदं द्वितयं प्रवृत्तम् ॥ ५२८ ॥

योजना—कालस्वभावपरमाण्वसुभृत्प्रधानस्कन्धप्रतीत्यखिलशून्यकथाप्रसंगे जन्मादिसूत्रम् अवतीर्णम्, इयं श्रुतिश्च। तस्माद् इदम्परम् इदं द्वितयं प्रवृत्तम् ॥ (व०ति०छ०)॥

योजितार्थ—काल, स्वभाव, परमाणु, जीव, प्रधान, पञ्चस्कन्ध, प्रतीति (विज्ञान) अखिल शून्य—इन वादों के कथा-प्रसङ्ग में 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) यह सूत्र तथा 'यतो वा इमानि भूतानि' (तै० ३।१।१) यह श्रुति प्रवृत हुई है ॥

भावितार्थ—कालवादी काल को, स्वभाववादी (चार्वाक) स्वभाव को, वैशेषिक परमाणुओं को, मीमांसकगण अदृष्ट की सहायता से जीव को, कापिल त्रिगुणात्मक प्रधान को, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक रूप-विज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्काररूप पाँच स्कन्धों को, योगाचार क्षणिकविज्ञान को, माध्यमिक शून्यतत्त्व को जगत् का कारण मानते हैं। इनके मतों से जगत् कारण में परिच्छिन्नत्व प्रसक्त होता है, उसकी निवृत्ति के लिए 'जन्माद्यस्य यतः' यह सूत्र तथा 'यतो वा इमानि' आदि श्रुतियाँ प्रवृत्त हुई हैं। उनका आशय यह कि जगत् का कारण चेतन ही हो सकता है, अचेतन नहीं, अतः समस्त अचेतन कारणवाद निरस्त हो जाते हैं। परमाणु आदि चेतनाधिष्ठित होकर ही कारण बन सकते हैं। उनके अधिष्ठातृ चेतन का संयोग उनसे होना अनिवार्य है, क्योंकि दण्डादि के अधिष्ठाता कुलाल का संयोग दण्डादि से होता है। किन्तु परमाणु निरवयव है, उनमें संयोग सम्भव नहीं। जगत् का निमित्तकारण और उपादानकारण पृथक्-पृथक् मानने में गौरव है, अतः एक ही अपरिच्छिन्न चेतन जगत् का कारण है, यह सिद्ध होता है ॥ ५२८ ॥

अधिष्ठाता का अधिष्ठेय से भेद अनुभवसिद्ध है। इस प्रकार प्रत्यगात्मा में परिच्छिन्नता पुनः सम्भावित है—

अधिष्ठात्रधिष्ठेयभावेन योनिः
निमित्तं च यत्कारणं जन्मभाजाम् ।
परिच्छिन्नताऽस्यापि संभावितैव
प्रतीचोऽस्य भेदे परैरुच्यमाने ॥ ५२९ ॥

योजना—जन्मभाजां योनिः निमित्तं च यत्कारणम् अस्यापि अधिष्ठात्रधिष्ठेय-भावेन अस्य प्रतीचो भेदे परैरुच्यमाने परिच्छिन्नता सम्भावितैव ।। (भु० प्र० छ०) ।।

योजितार्थ—जन्म प्रपञ्च का जो उपादान कारण तथा निमित्त कारण है । उन दोनों का अधिष्ठाता तथा अधिष्ठेयरूप में नैयायिकादि भेद बताते हैं, अतः इसमें परिच्छिन्नता पुनः सम्भावित है ।। ४२९ ।।

उक्त सम्भावना का निराकरण करते हैं—

ततस्तन्निषेधार्थमेतद् बभाषे
श्रुतिर्ब्रह्म तद्भिन्नता तस्य कस्मात् ।
प्रतीचोऽपि हि ब्रह्मता नित्यसिद्धा
दृशो भेदसिद्धिर्निरालम्बनेति ॥ ५३० ॥

योजना—ततः तन्निषेधार्थं श्रुतिः एतद् ब्रह्म बभाषे । तस्य तद्भिन्नता कस्मात् : हि प्रतीचोऽपि ब्रह्मता नित्यसिद्धा । दृशो भेदसिद्धिः निरालम्बनेति ।। (भु० प्र० छ०) ।।

योजितार्थ—इसलिए परिच्छिन्नता का निषेध करने के लिए ('यतो वा इमानि'—) श्रुति ने ब्रह्म का प्रतिपादन किया है । उसी का उससे भेद कैसे होगा ? क्योंकि जीव में भी ब्रह्मरूपता नित्यसिद्ध है; स्वयम्प्रकाश ज्ञानस्वरूप दृगात्मा में भेद-बुद्धि निरालम्बन है ।।

भावितार्थ—तार्किकादि भेदवादियों की दृष्टि से ईश्वर और जीव में जो भेद बताया जाता है, उसकी निवृत्ति करने के लिए श्रुति ने अभिन्ननिमित्तोपादान कारणरूप ब्रह्म का प्रतिपादन किया है । अधिष्ठाता चेतन और अधिष्ठेय चेतन का भेद सम्भव नहीं । दोनों ज्ञानरूप हैं, स्वयम्प्रकाश हैं । अतः जीव ब्रह्म से अत्यन्त अभिन्न है । इस प्रकार एक अखण्ड चेतन ही सिद्ध होता है ।। ५३० ।।

निमित्तकारण, उपादानकारण तथा जीव के आशङ्कित भेद का उच्छेदक है—

जगत्कारणत्वं पुनर्यत्र दृष्टं
न तल्लक्षणं तत्स्वरूपप्रसिद्ध्यै ।
स्वरूपे यतो लक्षणे दृश्यमाने
प्रसिद्धं ततो लक्ष्यवस्तुस्वरूपम् ॥ ५३१ ॥

योजना—यत्र जगत्कारणत्वं लक्षणं दृष्टम्, तल्लक्षणं तत्स्वरूपसिद्धयै न भवति; यतः स्वरूपे दृश्यमाने लक्षणम् । ततः लक्ष्यवस्तुस्वरूपं प्रसिद्धम् ।। (भुजङ्गप्रयातच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—जिस लक्ष्य में जगत्कारणत्वरूप लक्षण देखा गया है, वह लक्षण उस लक्ष्य की स्वरूप-सिद्धि के लिए नहीं होता । क्योंकि दृश्यमान लक्ष्यस्वरूप में ही लक्षण ज्ञात होता है, अतः लक्षणकाल ही में लक्ष्यस्वरूप का निश्चय हो जाता है ।। ५३१ ।।

प्रपञ्च का अभिन्न निमित्तोपादनत्व ब्रह्म का लक्षण किया गया। वहाँ जिज्ञासा होती है कि प्रमाणान्तर से ज्ञात लक्षण का उक्त श्रुति अनुवादमात्र करती है ? या अज्ञातलक्षण का ज्ञापन भी करती है ? द्वितीय पक्ष में श्रुति अखण्डार्थक नहीं रहेगी; क्योंकि उसका लक्षण और लक्ष्य दोनों के प्रतिपादन में तात्पर्य माना जाता है; केवल अखण्ड लक्ष्य के प्रतिपादन में नहीं। अतः प्रथम पक्ष ही मानना होगा किन्तु ऐसा कोई लोक में प्रमाणान्तर नहीं, जो उक्त अभिन्ननिमित्तोपादानत्वरूप लक्षण का प्रतिपादन करता हो, यह शङ्का करते हैं—

निमित्तं च योनिश्च यत्कारणे तत्
परं ब्रह्म सर्वस्य जन्मादिभाजः।
इति स्पष्टमाचष्ट एषा श्रुतिर्नः
कथं सिद्धवल्लक्षणं सिद्धिबाह्यम् ॥ ५३२ ॥

योजना—सर्वस्य जन्मादिभाजः यत् निमित्तं कारणं योनिश्च, तत् परब्रह्म—इति सिद्धवत् लक्षणं नः एषा श्रुतिः स्पष्टम् आचष्टे। सिद्धिबाह्यं कथम् ? (भु० प्र० छ०) ॥

योजितार्थ—'समस्त कार्यप्रपञ्च का जो निमित्त कारण भी है और उपादान भी, वह परब्रह्म है—इस प्रकार का प्रमाणान्तर-सिद्ध जैसा लक्षण हमारे लिए यह श्रुति स्पष्टरूप से कह रही है। अतः उक्त लक्षण लोक-प्रसिद्ध कैसे होगा ?

भावितार्थ—'यतो वा इमानि'—इस श्रुति का एकमात्र तात्पर्य अखण्ड लक्ष्यार्थ के बोधन में ही है, लक्षणादि के बोधन में नहीं। लक्षण का तो केवल अनुवाद मात्र कर देती है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि यह लक्षण और-किसी प्रमाण से सिद्ध होना चाहिए, अन्यथा उक्त श्रुति उसका सिद्ध (ज्ञात) के समान उल्लेख क्यों-कर कर सकेगी ? ॥ ५३२ ॥

किन्तु उक्त लक्षण में और कोई प्रमाण लोक-प्रसिद्ध नहीं—

न खल्वीदृशं कारणं लोकसिद्धं
यतोऽनूद्य तल्लक्षणं तेन लक्ष्यम्।
व्यवस्थापयन्ती प्रवृत्तैवमेषा
विधत्तेऽनुवक्तीति चैतद्विरुद्धम् ॥ ५३३ ॥

योजना—ईदृशं कारणं न खलु लोकसिद्धम्, यतः तल्लक्षणम् अनूद्य तेन लक्ष्यं व्यवस्थापयन्ती एषा एवं प्रवृत्ता। विधत्ते अनुवक्ति च एतद्विरुद्धम् (भु० प्र० छ०) ॥

योजितार्थ—ऐसा कोई प्रमाण निश्चितरूप से लोक में प्रसिद्ध नहीं कि जिससे ज्ञात लक्षण का अनुवाद करके उस (लक्षण) से लक्ष्य की व्यवस्थापना करती हुई यह (श्रुति) प्रवृत्त हुई है। (श्रुति ही उक्त लक्षण का) विधान भी करती है और अनुवाद भी—यह विरुद्ध है ॥

भावितार्थ—कोई ऐसा लौकिक प्रमाण नहीं, जो ब्रह्म में जगज्जन्मादिमत्त्व का विधान करता हो। 'नानुवादोऽपुरोवादः' के आधार पर जिसका पूर्व विधान नहीं हो चुका, उसका अनुवाद नहीं हो सकता। अतः यहाँ इसी (यतो वा इमानि') श्रुति को उक्त लक्षण का विधायक भी मानना होगा। यह अत्यन्त विरुद्ध है कि वही श्रुति लक्षण का विधान भी करे और अनुवाद भी ॥ ५३३ ॥

उक्त आशङ्का का परिहार किया जाता है—

अनुवददिदमेव वाक्यमर्थात्
उपनयतीदृशकारणं प्रसिद्धम् ।
अनुवदनमशक्यमन्यथा स्यात्
अवगतगोचरमेव हीदमिष्टम् ॥ ५३४ ॥

योजना—इदमेव वाक्यम् ईदृशकारणं प्रसिद्धम् अनुवदत् अर्थात् उपनयति । अन्यथा अनुवदनम् अशक्यं स्यात्, हि अवगतगोचरमेव इदम् इष्टम् ॥(पुष्पिताग्राच्छन्द)॥

योजितार्थ—यही ('यतो वा इमानि') वाक्य ऐसे प्रसिद्ध कारण का अनुवाद करता हुआ अर्थात् उसका विधान भी कर देता है। अन्यथा अनुवाद नहीं हो सकेगा, क्योंकि विहित विषय का ही अनुवाद माना जाता है ॥

भावितार्थ—"यतो वा इमानि"—यह वाक्य ही 'जगत् का अधिष्ठाता तथा उपादान कारण जो एक सर्वज्ञ सर्वशक्ति-समन्वित चेतन कारण सम्भावित है, वह ब्रह्म है'—इस प्रकार कारण का ज्ञात विषय के समान अनुवाद करता है। अनुवाद के पूर्व उसका विधान आवश्यक है, अतः यही वाक्य उसका अर्थात् विधायक भी माना जाता है ॥ ५३४ ॥

अनुवाद के बल पर अर्थात् विधि-सिद्धि में दृष्टान्त देते हैं—

तथा विशिष्टस्य विधानतोऽर्थात्
विशेषणानां घटते विधानम् ।
स्थितेऽनुवादेऽपि तथेह योज्यम् ।
अनूद्यमानेऽपि जगन्निदाने ॥ ५३५ ॥

योजना—यथा विशिष्टस्य विधानतः अर्थात् विशेषणानां विधानं घटते, तथा इहापि अनुवादे स्थिते अनूद्यमाने जगन्निदाने विधानं योज्यम् ॥ (उपेन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—जैसे विशिष्ट-विधि को देखकर अर्थात् विशेषण का विधान माना जाता है, वैसे ही यहाँ भी अनुवाद के विद्यमान होने पर अनूद्यमान जगत्कारण का विधान अर्थात् मानना होगा ॥

भावितार्थ—जैसे 'सोमेन यजेत'—इस वाक्य से सोम द्रव्य-विशिष्ट याग का विधान माना जाता है। किन्तु वहाँ विधि प्रत्यय एक ही है, विशेष्य (याग) और विशेषण (सोम) दोनों का शब्दतः विधान सम्भव नहीं, अतः वहाँ विशिष्ट-विधि की अन्यथानुपपत्ति से विशेषण का विधान माना जाता है। वैसे ही प्रकृत में भी अनुवाद के बल पर अर्थात् कारण-विधान सिद्ध हो जाता है ॥ ५३५ ॥

अनुवादक वाक्य को ही विधायक मानने पर (५३३ पद्य में) कथित विरोध उपस्थित होता है—इस आक्षेप का परिहार है—

अथ वाऽनुवादमुपलभ्य ततोऽ-
नुपपद्यमानवपुषः प्रमितेः ।
अपरं निमित्तमिह कल्प्यमिति
प्रवदन्ति केचिदभियुक्ततराः ॥ ५३६ ॥

योजना–अथवा अनुवादम् उपलभ्य ततः अनुपपद्यमानवपुषः प्रमितेः अपरं निमित्तं इह कल्प्यम्—इति केचित् अभियुक्ततराः प्रवदन्ति ।। (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—अथवा अनुवाद को देखकर उससे अनुपपद्यमान अर्थ की प्रमिति के बोधक दूसरे वाक्य की यहाँ कल्पना कर लेनी चाहिए—ऐसा भी कुछ पूज्य आचार्य कहते हैं ।।

भावितार्थ—इस पक्ष में अनुवाद-वाक्य ही विधायक नहीं माना जाता, अपितु, श्रुत वाक्य अनुवाद और अश्रुत कल्पित वाक्य विधायक माना जाता है, अतः उक्त विरोध उपस्थित नहीं होता ।। ५३६ ।।

विशिष्ट-विधि-स्थल पर भी ऐसा समझना चाहिए—

अपि विशिष्टविधौ वचनान्तरात्
अनुपपत्तिबलानुमितादिह ।
विधिरशेषविशेषणगोचरो
न तु पुनस्तत एव विधानतः ॥ ५३७ ॥

योजना- विशिष्टविधौ अपि अनुपपत्तिबलाद् अनुमितात् वचनान्तरात् अशेषगुणगोचरो विधिः, न तु पुनः ततः विधानतः एव ।। (द्रुतविलम्बितम्) ।।

योजितार्थ—'सोमेन यजेत'—आदि विशिष्ट विधि स्थल की विशिष्टविध्यन्यथानुपपत्ति के बल पर कल्पित वाक्यान्तर से ही निखिल सोमादि गुणों का विधान होता है, न कि उसी श्रुत विधि वाक्य से ।। ५३७ ।।

'यतो वा इमानि'—इस वाक्य से उपस्थापित लक्षण के द्वारा जो लोग ब्रह्म का अनुमान किया करते हैं, उनका निराकरण किया जाता है—

जन्मादिलक्षणमिदं जगतो यदुक्तं
सद्ब्रह्मणस्तदिह चिह्नतयोपदिष्टम् ।
नास्मिन् प्रमाणमपरे पुनरेतदेव
ब्रह्मप्रमाणमनुमानमुदीरयन्ति ॥ ५३८ ॥

योजना—इदं जगतो जन्मादि सद्ब्रह्मणो यत् लक्षणम् उक्तम्, तत् इह चिह्नतया उपदिष्टम्, न अस्मिन् प्रमाणम् । अपरे पुनः एतदेव अनुमानं ब्रह्मप्रमाणम् उदीरयन्ति ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—यह जो 'जगज्जन्मादि' सत् ब्रह्म का लक्षण कहा गया है, वह इस ब्रह्म का लक्षक मात्र कहा गया है, न कि इस ब्रह्म में प्रमाण । जैसा कि नैयायिकादि उसे ही ब्रह्म में अनुमान प्रमाण मानते हैं ।।

भावितार्थ—"जगज्जन्मादिकारणत्व"—यह ब्रह्म का लक्षण, ब्रह्म का व्यावर्तक मात्र है—यह कहा जा चुका है । (नैयायिकादि इस लक्षण को हेतु बनाकर जो अनुमान-प्रयोग ईश्वर में किया करते हैं, वह सर्वथा अनुचित है ।। ५३८ ।।

अनुमानवादियों का अभिप्राय प्रकट करते हुए उसमें दोष दिखाते हैं—

कार्यानुमानपरतन्त्रमिदं हि शास्त्रं
शास्त्रस्य नोपकरणं तदितीक्षमाणाः ।
तद् दुर्घटं न खलु कारणमद्वितीयं
चैतन्ययुक्तमिति कार्यवशात्प्रतीमः ॥ ५३९ ॥

योजना—इदं हि शास्त्रं कार्यानुमानपरतन्त्रम्, तत् शास्त्रस्य उपकरणं न—इतीक्षमाणाः । तत् दुर्घटम्, अद्वितीयं चैतन्ययुक्तं कारणं कार्यवशात् न हि प्रतीमः ।(व०ति०)

योजितार्थ—यह ("यतो वा इमानि') शास्त्र कार्यानुमान के अधीन हैं, वह (अनुमान) शास्त्र का उपकरण नहीं—ऐसा मानकर (नैयायिकादिगण अनुमान किया करते हैं) । वह दुर्घट है, क्योंकि उस अद्वितीय चेतनरूप कारण को हम अनुमान से प्रमाणित नहीं करते ॥

भावितार्थ—उक्त स्थल पर अनुमानवादियों का यह दूषित आशय था कि कार्यलिङ्गक अनुमान से अनुमित ईश्वर का ही अनुवादमात्र शास्त्र करता है, अज्ञात-ज्ञापन नहीं । इस प्रकार अनुमान को प्रधानता देकर शास्त्र को गौण बना देना चाहते थे । किन्तु उनका मनोरथ कदापि सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जिस अलौकिक अद्वितीय चिद्‌गगन में मानवीय विचारों का पक्षी कभी उड़ान कस ही नहीं सकता, उसका किसी हेतु से व्याप्ति-दर्शन और अनुमान होगा--यह कभी सम्भव ही नहीं । अपौरुषेय वेद, जो एक महान् समर्थ प्रमाण है, वह भी उस अगम तत्त्व की ओर संकेतमात्र ही कर सकता है ॥ ५३९ ॥

उस सर्वज्ञ स्वयंप्रकाश तत्त्व का व्याप्ति-ग्रह यदि सम्भव नहीं, तब उसमें किसी शब्द का शक्तिग्रह भी कैसे होगा ? इस शंका का समाधान किया जाता है—

वेदान्तवाक्यमिह येन पथा प्रवृत्तं
लोकप्रसिद्धपदशक्तिमुपाददानम् ।
विश्वोद्भवस्थितिलयप्रकृतौ निमित्ते
सच्चित्सुखात्मनि परात्मनि नैवमन्यत् ॥ ५४० ॥

योजना—लोकप्रसिद्धपदशक्तिम् उपाददानं वेदान्तवाक्य इह येन पथा विश्वोद्भवस्थितिलयप्रकृतौ निमित्ते सच्चित्सुखात्मनि परमात्मनि प्रवृत्तम्, एवम् अन्यत् न ।' (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—लोक-प्रसिद्ध पद-शक्ति का अनुसरण करके वेदान्त वाक्य जिस मार्ग से इस जगत् के उपादान तथा निमित्तकारण, सच्चित्सुखरूप परब्रह्म में प्रवृत्त होते हैं, वैसे अन्य कोई (प्रमाण प्रवृत्त) नहीं हो सकता ॥

भावितार्थ—शब्द में अचिन्त्य शक्ति है, वह अपने लक्षणा-मार्ग से सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व तक पहुँचने का सामर्थ्य रखता है । वैसा सामर्थ्य और किसी भी अनुमानादि प्रमाण में नहीं कि उस अप्रमेय तत्त्व की प्रमा उत्पन्न कर सके ॥ ५४० ॥

कणाद-मत में श्रुति वाक्यों की प्रवृत्ति उसी कारणसामान्य में मानी जाती है जो कि कार्यलिङ्गक अनुमान से अनुमित होता है, क्योंकि शब्द स्वतन्त्र प्रमाण नहीं, अनुमानसापेक्ष है । इस मत का निराकरण करते हैं—

भङ्क्त्वा कथञ्चिदनुमानवशेन सिद्धे
सर्वेश्वरे कणभुगादिभिरुच्यमाने ।
वेदान्तवाक्यमपि योज्यमतोऽनुमाने
सापेक्षतोपनिषदां यदि साहसं तत् ॥ ५४१ ॥

योजना—अनुमानवशेन सिद्धे कणभुगादिभिः उच्यमाने परमेश्वरे वेदान्तवाक्यं भङ्क्त्वा कथञ्चित् योज्यम् । अतः उपनिषदाम् अनुमाने सापेक्षतेति यदि, तत् साहसम् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ–अनुमान प्रमाण से अनुमित, कणाद-कथित परमेश्वर में वेदान्त वाक्यों को (अपने मुख्य अर्थ से तोड़कर) किसी न किसी प्रकार जोड़ देना चाहिए । अतः उपनिषद् वाक्यों में अनुमान की सापेक्षता है —यह कहना साहसमात्र है ॥

भावितार्थ–श्रुति का अद्वितीय ब्रह्म के साथ उपक्रमादिप्रमाणों से सिद्ध स्वारसिक सम्बन्ध है, उसे तोड़कर वैशेषिकों-द्वारा अनुमित सद्वितीय चेतन के साथ सम्बन्ध जोड़ना वैसा ही दुःसाहस है, जैसा कि अग्नि के स्वभाव-सिद्ध दाहकत्व का अपलाप करके उसमें शीतलत्व का अनुमान करना ॥ ५४१ ॥

वैशेषिकों के दुःसाहस को प्रकट करते हैं—

निष्कारणं श्रुतिशिरोवचनस्य भङ्गं
ये वर्णयन्ति सहसा स्वमनोरथेन ।
दीप्तस्य दावदहनस्य न ते किमर्थं
ज्वालां पिबन्ति कथनीयमिदं बहुज्ञैः ॥ ५४२ ॥

योजना—ये स्वमनोरथेन श्रुतिशिरोवचनस्य निष्कारणं भङ्गं सहसा वर्णयन्ति, ते दीप्तस्य दावदहनस्य ज्वालां किमर्थं न पिबन्ति ? इदं बहुज्ञैः कथनीयम् ? (व०ति०) ।

योजितार्थ—जो लोग अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए वेदान्तवाक्यों का अकारण भङ्ग सहसा कर देते हैं, वे प्रदीप्त वनाग्नि की ज्वाला को (शीतल मान कर) क्यों नहीं पी जाते ? यह वैशेषिकाचार्य बतावें ?

भावितार्थ—जहाँ पर शब्द का मुख्यार्थ सर्वथा अनुपपन्न होता है, वहाँ मुख्यार्थ को छोड़कर गौण अर्थ किया जाता है । किन्तु बिना किसी प्रकार की अनुपपत्ति के लौकिकवाक्यों का मुख्यार्थ-भङ्ग करना ही साहस है और मानान्तरागोचरार्थक न्यायानुगत श्रुतिवाक्यों के मुख्यार्थ का अकारण भङ्ग तो अति साहस है । जो लोग ऐसा दुःसाहस कर सकते हैं, वे दावाग्नि को भी शीतल मान करके पान करने का साहस क्यों नहीं करते ? यदि अग्नि के स्वाभाविक दाह पक्षपात के समक्ष वे वैसा करने में विवश हैं, तब भगवती श्रुति की नैसर्गिक अद्वयावभासकता के सामने भी उन्हें नतमस्तक होना पड़ेगा ॥ ५४२ ॥

यदि श्रुति से सद्वय ईश्वर का प्रतिपादन नहीं हो सकता, तब जगदुपादानस्वरूप से सच्चित्सुखात्मा का प्रतिपादन नहीं हो सकता, ऐसी शङ्का करते हैं—

योजितार्थ—जैसे विचित्र स्वप्न-सृष्टि की चेतन प्रत्यगात्मा में उपादानता देखी गई है, जैसे सूत्रों की उपादानता ऊर्णनाभ (मकड़ी) में और जैसे केशलोमादि सृष्टि की (उपादानता) पुरुषों में देखी जाती है ॥ ५४५ ॥

वैशेषिकादि-दृष्टिकोण से भी चेतन में उपादानता सिद्ध है—

बुद्ध्यादिकार्येष्वपि चेतनोऽयं
भवेदुपादानमितीष्यते च ।
आत्मा गुणी ते च गुणाः प्रसिद्धा
गुणी गुणानां प्रकृतिश्च सिद्धा ॥ ५४६ ॥

योजना—बुद्ध्यादिकार्येष्वपि अयं चेतनः उपादानं भवेत्—इतीष्यते च आत्मा गुणी, ते च गुणाः प्रसिद्धाः । गुणानां गुणी प्रकृतिः च सिद्धा ॥ ([1]आख्यानकीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—बुद्ध्यादि कार्यों का उपादान कारण आत्मा को वैशेषिक मानते हैं, क्योंकि आत्मा को गुणी और बुद्ध्यादि को गुण माना जाता है। गुणों का उपादान गुणी होता है ॥

भावितार्थ—वैशेषिक आत्मा के बुद्ध्यादि गुण मानते हैं। लोक में गुण-गुणी का उपादानोपादेय भाव देखा जाता है। जसे रूपादि गुणों का समवायिकारण (उपादान-कारण) उनका आश्रय पटादि माना जाता है, वैसे ही बुद्ध्यादि रूप गुणों का उपादान-कारण आत्मा ही माना जाता है ॥ ५४६ ॥

अतः चेतन को जगत् का उपादान मानना उचित ही है—

आकाङ्क्षादिर्विद्यते योग्यतान्ता
यस्मादस्मिन्नागमे जायमाने ।
सामग्री या वैदिकैरस्य दृष्टा
तस्माद्युक्ता योनिता चेतनस्य ॥ ५४७ ॥

योजना—यस्मात् आगमे वैदिकैः या सामग्री दृष्टा, सा आकाङ्क्षादिः योग्यतान्ता अस्मिन् जायमाने विद्यते । तस्मात् चेतनस्य योनिता ॥ (शालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—आगम में (वेद में शाब्दबोध की) वैदिकों ने जो सामग्री देखी है, वह आकाङ्क्षादि योग्यतान्त इस जायमान जगत् के विषय में विद्यमान है, अतः चेतन में उपादानता निश्चित है ॥

भावितार्थ—शाब्दबोध की सामग्री आकाङ्क्षा, सन्निधि और योग्यता है। इस सामग्री का जहाँ अभाव है, वहाँ शब्द से उत्पन्न ज्ञान बाधित होता है। जैसे 'वह्निना सिञ्चति' यहाँ अर्थाबाधरूप योग्यता नहीं, क्योंकि वह्नि सिञ्चन-करणत्वरूप अर्थ का बाध है। प्रकृत ('यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते') में शाब्दबोध की पूर्ण सामग्री विद्यमान

---

[1] 'आख्यानकी तौ जगुरू ग ओजे, जतावनोजे जगुरू गुरुश्चेत्, (वृत्त० ४।६)' अर्थात् जिस पद्य के विषम चरणों में क्रमशः दो तगण, एकजगण और दो गुरु वर्ण हों एवं सम चरणों में जगण, तगण, जगण और दो गुरु वर्ण हों, उसे आख्यानकी कहते हैं।

है—यहाँ पदों में आकांक्षा है, सन्निधि है तथा जायमान भूत-भौतिक जगत् के उपादानतारूप अर्थ का चेतन में बाध न होने से योग्यता भी है, अतः यहाँ उत्पन्न ज्ञान सर्वथा प्रमाणभूत है, इसके आधार पर आत्मा में जगत् की उपादानता सिद्ध होती है ।।५४७।।

[समन्वयोपसंहारः]

जिज्ञास्य ब्रह्म का लक्षण ही 'यतो वा इमानि' वाक्य में किया गया है, अनुमान नहीं—

तस्मादेतल्लक्षणं चिह्नमाहुः
नैतत्तस्मिन् ब्रह्मणि स्यात्प्रमाणम् ।
आम्नायस्य स्वप्रधानत्वहेतोः
लिङ्गस्यास्मिञ्छेषभावाच्च नित्यम् ॥ ५४८ ॥

योजना— तस्मात् एतत् लक्षणं चिह्नम् आहुः, एतत् ब्रह्मणि प्रमाणं न स्यात् आम्नायस्य स्वप्रधानत्वहेतोः अस्मिन् लिङ्गस्य नित्य शेषभावात् च ।। (शालिनीच्छन्दः)

योजितार्थ—अतः यह ('यतो वा इमानि' वाक्य-प्रोक्त) बह्म का लक्षण अर्थात् चिह्नमात्र है, यह ब्रह्म में अनुमान प्रमाण नहीं, क्योंकि वेद स्वतःप्रमाण है (इसे अनुमानादि की अपेक्षा नहीं) एवं इस (वेद) का लिङ्ग नित्य अङ्ग माना जाता है ।।

भावितार्थ– वेद अपौरुषेय है, इसमें अतीन्द्रियादि पदार्थों के बोधन का अपार सामर्थ्य निहित है । महर्षि जैमिनि ने 'अनपेक्षत्वात्' (जै० सू० १।१।५) हेतु से अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है कि वेद स्वतःप्रमाण है, इसे अनुमानादि प्रमाणों की तनिक भी अपेक्षा नहीं । उलटे लिङ्गादि ही इसके अंग माने जाते हैं, क्योंकि कार्यत्वरूप हेतु का उपन्यास उत्पत्त्यर्थवाद की उपपत्ति के लिए ही किया गया है, स्वतन्त्रतया नहीं ।। ५४८ ।।

इस प्रकार 'यतो वा इमानि'—आदि सृष्टि-वाक्यों का उपक्रमादि के अनुसार ब्रह्मबोधन में ही तात्पर्य है, सृष्टि-प्रतिपादन में नहीं—

इत्थं जगत्कारणवादिवाक्यं
समन्वितं ब्रह्मणि तत्पदार्थे ।
तल्लक्षणं तस्य तटस्थभूतम्
आनन्त्यसिद्ध्यै कथयद्यथोक्तम् ॥ ५४९ ॥

योजना—इत्थं जगत्कारणवादिवाक्यं तस्य आनन्त्यसिध्यै तटस्थभूतं तल्लक्षणम् कथयत् तत्पदार्थे ब्रह्मणि समन्वितम् ।। (उपजातिच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—इस प्रकार जगत्-कारण-प्रतिपादक ('यतो वा इमानि') वाक्य उस (ब्रह्म) का आनन्त्य सिद्ध करने के लिए कथित परिच्छिन्नतादि-व्यावर्तक तटस्थ लक्षण का प्रतिपादन करता हुआ 'तत्' पद के लक्ष्यभूत ब्रह्म में समन्वित होता है ।।

भावितार्थ—'यतो वा इमानि' वाक्य के ब्रह्म में समन्वय का प्रकार दिखाने के लिए उक्त वाक्य का विशेषण दिया है–'तटस्थभूतं तल्लक्षणं' अर्थात् '[1]स्वप्रतिपाद्यलक्षणजन्यव्यावृत्याधारत्व' सम्बन्ध से उक्त वाक्य ब्रह्म में समिन्वत होता है ।। ५४९ ।।

---

[1] स्वम् = उक्तं वाक्यम् तत्प्रतिपाद्यं लक्षणम् = जगत्प्रकृतित्वम्, तज्जन्या या परिच्छिन्नत्वादेः व्यावृत्तिः तस्या आधारो ब्रह्मेति व्यस्तम् ।

एक अविचित्र ब्रह्म से अनेकविध विचित्र सृष्टि कैसे होगी ? इस शङ्का का समाधान है—

स्वात्मानमेव जगतः प्रकृतिं यदेकं
सर्गे विवर्त्तयति तत्र निमित्तभूतम् ।
कर्माऽऽकलय्य रमणीयकपूयमिश्रं
पश्यन्नृणां परिवृढं तदितीर्यमाणम् ॥ ५५० ॥

योजना—यदेकं सर्गे तत्र निमित्तभूतं नृणां रमणीयकपूयमिश्रं कर्म पश्यन् आकलय्य स्वात्मानमेव जगतः प्रकृतिं (कृत्वा) विवर्तयति, तत् परिवृढम्—इतीर्यमाणं (वाक्यं ब्रह्मणि समन्वितम्) ॥ (वसन्ततिलकाछन्दः) ॥

योजितार्थ—जो एक (चैतन्य तत्त्व) सर्गारम्भ में सृष्टि के निमित्तभूत प्राणियों के शुभ, अशुभ तथा मिश्रित कर्मों को देख संग्रह कर जो अपने आपको जगत् की प्रकृति के रूप में लाकर विश्व-विवर्त्त की रचना करता है, वह सर्वशक्ति-समन्वित ब्रह्म है—ऐसा प्रतिपादन करता हुआ (उक्त वाक्य ब्रह्म में समन्वित होता है) ॥

भावितार्थ—प्राणियों के विचित्र कर्मों के आधार पर सृष्टि में वैचित्र्य आ जाता है । श्रुति कहती हैं -‘तद्य इह रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन् कपूयचरणाः कपूयां योनिम्’ (छां०उ०५।१०।७) अर्थात् शुभ कर्म वाले शुभ योनि, तथा अशुभ कर्म वाले अशुभ योनि को प्राप्त होते हैं । उन कर्मों को निमित्त लेकर वह चैतन्य स्वयं प्रकृतिरूप में आ जाता है । श्रुति कहती है—‘तदात्मानं स्वयमकुरुत’ (तै० ७।८) । यहाँ ‘प्रकृति’ शब्द का अर्थ है—विवर्तोपादान ॥ ५५० ॥

इस प्रकार ‘जन्मादि’ (ब्रह्म० सू० १।१।२) सूत्र में जगत्कारणवादि-वाक्यों का समन्वय-प्रकार बताया गया । वहाँ शंका होती है कि जैसे समन्वय (ब्र० सू० १।१।४) सूत्र में समस्त वेदान्त-वाक्यों का ब्रह्म में समन्वय सिद्ध हो जाने पर पश्चात् आनन्दमय (ब्र० सू० १।१।१२) सूत्र से आरम्भ करके तत्तत् वाक्यों का समन्वय विशेष-विशेष आशङ्काओं के निराकरणार्थ है—यह विचार किया गया, वैसे ही ‘यतो वा इमानि’—यह वाक्य भी समन्वय-प्रतिज्ञा के अनन्तर ही विचारणीय था, उस (ब्र० सू० १।१।४) से पूर्व ही क्यों इसकी चर्चा की गई ? यह शंका दूर करते हैं—

पदवृत्तिदमन्वयावुभौ
प्रतिपाद्यौ प्रथमे हि लक्षणे ।
तदवान्तरवाक्यवर्त्मना
पदवृत्तिः प्रथमं प्रकीर्तिता ॥ ५५१ ॥

योजना—प्रथमे हि लक्षणे उभौ पदवृत्तिसमन्वयौ प्रतिपाद्यौ, तत् अवान्तरवाक्यवर्त्मना पदवृत्तिः, प्रथमं प्रकीर्तिता ॥ (सुन्दरीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—प्रथम अध्याय में दोनों पद-वृत्तियों के समन्वय प्रतिपादनीय हैं, इसलिए अवान्तर वाक्य के द्वारा पद-वृत्ति का पहले ही निरूपण किया है ॥

भावितार्थ—प्रथम अध्याय में 'तत्त्वमसि' के पदार्थ तथा वाक्यार्थ दोनों निरूपणीय हैं। अतः पद-लक्ष्य-निरूपण के प्रसङ्ग में अवान्तर वाक्य (यतो वा इमानि) के द्वारा पदार्थ का निरूपण किया गया। क्योंकि पदार्थ-ज्ञान-पूर्वक ही वाक्यार्थ-ज्ञान होता है। इसीलिए समन्वयसूत्र से पूर्व जन्मादि सूत्र भी रखा गया है। आनन्दमय (१।१।१२) सूत्र से लेकर जो विचार किया गया है, वह समन्वय-विषयक ही है, पदार्थ-विषयक नहीं ॥ ५५१ ॥

अहं ब्रह्मास्मि—पदों में उद्देश्यार्थक होने से त्वं पद की वृत्ति का इससे भी पूर्व विचार करना चाहिए—इस लिए उसका विचार प्रथम सूत्र में ही कर दिया गया था—

आद्ये सूत्रे त्वंपदस्योदितत्वाद्
वृत्तेरस्मिंस्तत्पदस्योच्यमाना ।
वृत्तिर्ज्ञेया तत्पदार्थेऽद्वितीये
प्रत्यङ्मात्रे त्वंपदस्योदितैव ॥ ५५२ ॥

योजना—आद्ये सूत्रे त्वम्पदस्य वृत्तेः उदितत्वात् तत्पदस्य वृत्तिः उच्यमाना ज्ञेया। त्वम्पदस्य प्रत्यङ्मात्रे उदितैव ॥ (शालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—प्रथम सूत्र में त्वं पद की वृत्ति कही गई, (इस सूत्र में) तत्पद की उच्यमान वृत्ति अद्वैत तत्पदार्थ में समझनी चाहिए। त्वम्पद की तो प्रत्यगात्मामात्र में (वृत्ति) कह ही दी गई है ॥

भावितार्थ—प्रमाता-आदि से विलक्षण अपरोक्ष साक्षिचैतन्यमात्र में त्वम्पद की वृत्ति का निरूपण प्रथम (जिज्ञासा) सूत्र में ही किया गया है। इस (१।२।४) सूत्र में तत्पद की नित्य, शुद्ध, बुद्धस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म में वृत्ति दिखाई है ॥ ५५२ ॥

प्रथम सूत्र में अधिकारी का निरूपण किया गया है, त्वम्पद की वृत्ति प्रत्यगात्मा में कहाँ कही है ? प्रत्यगात्मा में साधन-सम्पत्ति न होने से वह अधिकारी बन भी नहीं सकता, इस जिज्ञासा को निवृत्त करते हैं—

अनधिकारिणि शुद्धचिदात्मके
दृगदृशोरितरेतरविभ्रमात् ।
शमदमादिसमन्विततेष्यते
भवति तेन चितोऽप्यधिकारिता ॥ ५५३ ॥

योजना—अनधिकारिणि शुद्धचिदात्मके दृगदृशोः इतरेतरविभ्रमात् शमदमादि-समन्वितता इष्यते, तेन चितोऽपि अधिकारिता भवति ॥ (द्रुतविलम्बितच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—स्वतः अनधिकारीभूत शुद्ध चिदात्मा में चिज्जड़ का अन्योऽन्याध्यास हो जाने के कारण शमदमादिका समन्वय माना जाता है, इसलिए शुद्ध चिदात्मा भी अधिकारी बन जाता है ॥

भावितार्थ—अधिकारी के रूप में ही त्वम्पदार्थ का निरूपण किया गया है। यद्यपि स्वभावतः त्वम्पदार्थभूत प्रत्यगात्मा में शमादि साधन-सम्पत्ति नहीं, तथापि अन्यो-

ऽन्याध्यास होने के कारण अन्तःकरण के शमादि साधनों का सम्पादन त्वम्पदार्थं में भी हो जाता है, इसलिए वह अधिकारी बन जाता है ॥ ५५३ ॥

प्रत्यगात्मा में परमार्थतः शमादि नहीं माने जा सकते—

अनधिकारितया दृगवस्थिता
स्वरसतः परमेश्वरविग्रहा ।
घनतमःपटलावरणान्वयात्
उपगता श्रवणाद्यधिकारिताम् ॥ ५५४ ॥

योजना—स्वरसतः परमेश्वरविग्रहा दृक् अनधिकारितया अवस्थिता घनतमःपटलावरणान्वयात् श्रवणाद्यधिकारिताम् उपगता ॥ (द्रुतविलम्बितच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—स्वभावतः परमेश्वरस्वरूप प्रत्यगात्मा अनधिकारी ही है । घनीभूत तमःपटल के समान आवरक अज्ञान के सम्बन्ध से श्रवणादि में अधिकारी बना है ॥

भावितार्थ—त्वम्पदार्थ निसर्गतः शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, शमादि का परमार्थतः (अनध्यस्त) सम्बन्ध कभी नहीं बन सकता । अध्यास के द्वारा ही शमादि साधनों की सम्पत्ति उसमें होती है ॥ ५५४ ॥

अध्यस्त अनात्मधर्म-विशिष्ट यदि अधिकारी है, तब वही ज्ञानी और मुक्त भी होगा । फिर तो अध्यास नित्य मानना होगा—इस आक्षेप का निवारण करते हैं—

अज्ञानतज्जघटना चिदधिक्रियायां
द्वारं परं भवति नाधिकृतत्वमस्याः ।
नाचेतनस्य घटतेऽधिकृतिः कदाचित्
कर्तृत्वशक्तिविरहादिति वक्ष्यते हि ॥ ५५५ ॥

योजना—चिदधिक्रियायां अज्ञानतज्जघटना[1] परं द्वारं भवति, अस्याः अधिकृतत्वं न । अचेतनस्य कदाचित् अधिकृतिः न घटते, कर्तृत्वशक्तिविरहाद् इति हि वक्ष्यते ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ–चिन्मात्र को अधिकारी बनाने में अज्ञात तथा अज्ञान-प्रयुक्त आध्यासिक सम्बन्ध केवल द्वारमात्र होता है । उक्त अज्ञानादि को अधिकारी नहीं माना जा सकता, क्योंकि जड़ कभी भी अधिकारी नहीं बन सकता, उसमें कर्तृत्व शक्ति का अभाव है—यह "रचनानुपपत्तेश्च" (ब्र० सू० २।२।१) सूत्र में कहा गया है ॥

भावितार्थ–कर्त्ता ही अधिकारी होता है । जड़ में कर्तृत्व रह नहीं सकता, अतः नित्य मुक्त आत्मा ही अपने में अध्यस्त देहद्वय तथा उनके धर्म वैराग्यादि से सम्पन्न होकर ब्रह्म-विचार में अधिकारी होता है, सूत्रकार ने कहा है–"कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" (ब्र० सू० २।३।३३) । वही ज्ञानी तथा युक्त होता है ॥ ५५५ ॥

प्रत्यङ्मात्र में त्वं पद की वृत्ति का कथन प्रथम सूत्र में हुआ है—यह कैसे जाना गया ? इस प्रश्न का उत्तर है—

---

[1] अज्ञानतज्जभ्यां घटनासमन्वयः ।

उपसत्तिवाक्यमधिकारिणि यत्
कथितं समन्विततया प्रथमम् ।
इदमेव चेतसि निधाय तु तत्
मुनिना प्रकीर्तितमुदारधिया ॥ ५५६ ॥

योजना-प्रथमं यत् उपसत्तिवाक्यं अधिकारिणि समन्विततया कथितम्, तदिदमेव) चेतसि निधाय उदारधिया मुनिना प्रकीर्तितम् ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—प्रथम सूत्र में जो उपसत्तिवाक्य ("तद्विजिज्ञासस्व" तै० ३।१।१ अधिकारी में समन्वित किया है, वह यही (त्वम्पदार्थ ही अधिकारी है—यह) अपने मन में रख उदारचेता मुनिवर ने कहा है ॥

भावितार्थ—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र०सू० १।१।१) में 'अथ' और 'अतः' पदों से अधिकारी का कथन किया। उसी से ही 'तद्विजिज्ञासस्व' (तै० ३।१।१) वाक्य में लोट् लकार के मध्यम पुरुष का योग दिखाया, इससे स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ अधिकारी को त्वम्पदार्थ मानकर ही वैसा किया गया है ॥ ५५६ ॥

उक्तार्थ का ही स्पष्टीकरण करते हैं—

शिष्योपसत्तिवचनानि समन्वितानि
शिष्ये चिदात्मनि परात्मनि नित्यमुक्ते ।
इत्येतदत्र कथितं मुनिना त्वमर्थे
त्वंशब्दवृत्तिकथनाय परे प्रतीचि ॥ ५५७ ॥

योजना—परे प्रतीचि त्वंशब्दवृत्तिकथनाय अत्र नित्यमुक्ते चिदात्मनि परात्मनि शिष्ये शिष्योपसत्तिवचनानि समन्वितानि इत्येतत् मुनिना कथितम् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—त्वमर्थरूप प्रत्यगात्मा में त्वम्पद की वृत्ति का कथन करने के लिए इस नित्यमुक्तरूप परचैतन्यात्मक शिष्य में शिष्योपसत्ति-वचन समन्वित है—यह मुनिवर नें कहा है ॥

भावितार्थ—उपसन्न (गुरु के शरणागत) शिष्य को सामने रखकर 'तत्त्वमसि'—इस महावाक्य का उपदेश सिद्ध करता है कि उपसन्न त्वम्पदार्थरूप है। "तद्विजिज्ञासस्व" (तैत्ति० ३।१।१) इस उपसत्ति-बोधक वाक्य में मध्यमपुरुष से नियुज्यमान साधन-सम्पन्न अधिकारी ही उक्त महावाक्योपदेश का पात्र है। इस प्रकार अधिकारी त्वम्पदार्थ हैं—यह मुनिवर सूत्रकार ने सुव्यक्त कर दिया है ॥ ५५७ ॥

अतः पद-वृत्ति का कथन करने के लिए ही दोनों सूत्र प्रवृत्त हुए हैं—

उपसदनवचोविचारमार्गात्
त्वमितिपदस्य परात्मनीह वृत्तिम् ।
कथयति भगवान् द्वितीयसूत्रे
तदितिपदस्य परमात्मनीति भेदः ॥ ५५८ ॥

योजना—इह उपसदनवचोविचारमार्गात् त्वमिति पदस्य परात्मनि, द्वितीयसूत्रे तदिति पदस्य परात्मनि वृत्ति भगवान् कथयतीति भेदः (पुष्पिताग्राच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इस "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र० स० १।१।१) सूत्र में उपसदन-वाक्य-विचार के द्वारा त्वम्पद की परात्मा में तथा द्वितीय सूत्र में 'तत्' पद की परात्मा में वृत्ति भगवान् सूत्रकार ने बताई है ॥

भावितार्थ—प्रथम सूत्र में 'तद्विजिज्ञासस्व' (तै० ३।१।१) वाक्य-विचार के द्वारा 'त्वम्' पद की साक्षिचेतन में वृत्ति बताई गई और द्वितीय (जन्माद्यस्य यतः) सूत्र में 'तत्' पद की शुद्ध अद्वितीय चेतन में वृत्ति बताई गई है—यह दोनों में भेद है ॥ ५५८ ॥

प्रथम तथा द्वितीय सूत्र में 'त्वं' तथा 'तत्' पदों की वृत्तियों के कथनमात्र से वाक्यार्थ सम्पन्न नहीं होता, अपितु उपयोगी युक्ति का भी द्वितीय सूत्र से निरूपण करना है। दोनों प्रयोजन एक सूत्र से सिद्ध नहीं हो सकते, इस आक्षेप का समाधान है—

आवृत्त्या वा तन्त्रवृत्त्याऽथवेदं
सूत्रं युक्ति वेदवाक्योपयुक्ताम् ।
अप्याचष्टे बृंहणीमन्तरेण
स्वार्थे युक्ति वेदवाक्यं न तुष्टम् ॥ ५५९ ॥

योजना—इदं सूत्रं [1]आवृत्या वा, अथवा तन्त्रवृत्या वेदवाक्योपयुक्तां युक्तिम् अपि आचष्टे, वेदवाक्यं स्वार्थे बृंहणीं युक्तिम् अन्तरेण पुष्टं न ॥ (शालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—यह 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) सूत्र आवृत्ति अथवा तन्त्र वृत्ति से वेदवाक्य में उपयुक्त युक्ति को भी कहता है, क्योंकि वेदवाक्य स्वार्थ-विस्तारिणी युक्ति के बिना स्वार्थ-बोधन में सक्षम नहीं होता ॥

भावितार्थ—'जन्माद्यस्य यतः'— इस एक ही सूत्र से 'तत्' पद का अर्थ भी बताना है और 'यतो वा इमानि' इस वैदिकवाक्य-विचार के द्वारा वाक्यार्थ-सम्पादक युक्ति का निरूपण भी करना है। एक वाक्य से दो अर्थों की प्राप्ति के लिए शास्त्रों में दो मार्ग अपनाये गये हैं—एक आवृत्ति और दूसरा तन्त्रवृत्ति। अर्थान्तर की विवक्षा से उसी वाक्य का फिर उच्चारण कर लेना आवृत्ति कहलाता है, जैसे यहाँ पर ही 'जन्माद्यस्य यतः' 'जन्माद्यस्य यतः'—इस प्रकार दो वाक्यों का लाभ करके एक वाक्य की 'जन्मादि अस्य यतस्तद् ब्रह्म'—ऐसी योजना-पूर्ति से 'तद्' पद का अर्थ माना जाता है और दूसरे वाक्य की 'जन्माद्यस्य यतः सम्भवति'—इस प्रकार की योजना से 'यतो वा इमानि'—इस वैदिक वाक्यार्थ की समर्थक युक्ति का प्रतिपादन किया जाता है। आवृत्ति के बिना ही एक बार के उच्चारण से ही अनेक अर्थों का सम्पादन तन्त्रवृत्ति कहलाता है ॥ ५५९ ॥

कथित दोनों सूत्रों से महावाक्य-घटक पदों के अर्थों का प्रतिपादन करके महा-वाक्यार्थ कहा गया है—

---

१. अर्थान्तरविवक्षया पुनरुच्चारणमावृत्तिः । बह्वर्थविवक्षया सकृदुच्चारणं तन्त्रम् ।

त्वंपदार्थविषयं समन्वयं
तत्पदार्थविषयं ततः क्रमात् ।
तस्य शेषमपरं च वर्णयन्
उक्तवानथ महावचोगतम् ॥ ५६० ॥

योजना—त्वंपदार्थविषयं समन्वयम्, ततः क्रमात् तत्पदार्थविषयम्, तस्य अपरं शेषं च वर्णयन्, अथ महावचोगतम् उक्तवान् ॥ (रथोद्धताच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—त्वं पदार्थ का समन्वय (प्रथम सूत्र में) उसके अनन्तर (द्वितीय सूत्र में) क्रमशः 'तत्' पदार्थ का समन्वय, (तृतीय सूत्र में) तत्पदान्वय में अपेक्षित सर्वज्ञत्वादि-साधक का वर्णन करते हुए महावाक्यगत समन्वय (चतुर्थ सूत्र में) भगवान् सूत्रकार ने किया है ॥ ५६० ॥

पदद्वय-वृत्ति-निरूपण के अनन्तर क्रम-प्राप्त महावाक्य-निरूपण का स्पष्टीकरण करते हैं—

त्वंपदस्य दृशि वृत्तिमद्वये
तत्पदस्य च निवेदयन्मुनिः ।
प्रत्यगद्वयपरं समन्वयं
शेषिणं पुनरथाब्रवीत्तयोः ॥ ५६१ ॥

योजना—दृशि त्वंपदस्य, अद्वये तत्पदस्य च वृत्ति निवेदयन् मुनिः अथ पुनः तयोः शेषिणं प्रत्यगद्वयपरं समन्वयम् अब्रवीत् ॥ (रथोद्धताच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—दृगात्मा में त्वम्पद की, अद्वय ब्रह्म में तत्पद की वृत्ति का कथन करते हुए मुनिवर ने उनके प्रधानभूत प्रत्यगद्वयपरक समन्वय को कहा है ॥

भावितार्थ—आरम्भ के तीन सूत्रों में सपरिकर पदार्थद्वय का समन्वय कर चतुर्थ सूत्र के वाक्यार्थरूप अखण्डाद्वयानन्द में दोनों का समन्वय किया है ॥ ५६१ ॥

समन्वय सूत्र-सिद्ध अर्थों को संक्षेप से दिखाते हैं—

शक्नोति सिद्धमवबोधयितुं च वाक्यं
शक्नोति कार्यरहितं वदितुं च वाक्यम् ।
शक्नोत्यखण्डमवबोधयितुं च वाक्यं
शक्नोति मुक्तिफलमर्पयितुं च वाक्यम् ॥ ५६२ ॥

योजना—वाक्यं सिद्धम् अवबोधयितुं शक्नोति । वाक्यं कार्यरहितं च वदितुं शक्नोति । वाक्यम् अखण्डं च अवबोधयितुं शक्नोति । वाक्यं मुक्तिफलम् अर्पयितुं च शक्नोति ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—वाक्य सिद्धार्थ को कह सकता है। वाक्य कार्य-रहित अर्थ को कह सकता है। वाक्य अखण्ड अर्थ को कह सकता है। वाक्य मुक्तिफलक ज्ञान का समर्पण कर सकता है ॥ ५६२ ॥

समन्वय-निरूपण का फल बताते हैं—

एतत्समन्वयनिरूपणमेवमस्मिन्
बुद्धिस्थतामुपगते सति वाक्यजन्यम् ।
विज्ञानमद्वयगतं न ततोऽन्यदन्यत्
पुंसोऽपराधकृतमित्युदियात्प्रतीचि ॥ ५६३ ॥

इति श्रीसुरेश्वराचार्यपूज्यपादशिष्यश्रीसर्वज्ञात्ममुनेः
कृतौ शारीरकमीमांसाभाष्यप्रकरणवार्तिके
संक्षेपशारीरके प्रथमोऽध्यायः ।

योजना—एतत् समन्वयनिरूपणम् एवम् अस्मिन् बुद्धिस्थतामुपगते सति वाक्यजन्यम् विज्ञानं अद्वयगतम्, ततोऽन्यत् पुरुषापराधकृतमिति प्रतीतिः उदियाद् ।। (वसन्ततिलकाछन्दः) ।।

योजितार्थ—यह समन्वय-निरूपण सम्पन्न हुआ। उक्त विधि से इस (समन्वय) के बुद्धिस्थ हो जाने पर अद्वितीयात्मविषयक ज्ञान ही वेदान्त वाक्य-जन्य होता है और उससे अतिरिक्त द्वैतविषयक विज्ञान पुरुषगत भ्रम प्रमादादि रूप अपराध से जन्य है—यह निश्चय उत्पन्न हो जाता है ।।

भावितार्थ—समन्वय-बोध के पूर्व पुरुष को प्रमाणगत असम्भावना के कारण वेदान्त-जन्य ज्ञान पर विश्वास नहीं होता था। समन्वय-बोध से उस असम्भावना के निवृत्त हो जाने पर उसे यह यथार्थ निश्चय हो जाता है कि अद्वैतविषयक वेदान्तवाक्य-जन्य ज्ञान यथार्थ और द्वैतविषयक ज्ञान पुरुषगत दोष-जन्य है, भ्रम है ।। ५६३ ।।

प्रगे प्रगातव्यसुभव्यवैभवाः
कृतप्रचारप्रचुरान्वया भुवि ।
सदैव नात्मव्यतिरेककीर्तनाः
जयन्ति पूज्याः सनकार्यतायिनः ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीसुन्दरदासोदासीनपूज्यपादशिष्य
श्रीमद्रामानन्दोदासीनविरचितायां संक्षेपशारीरकभाषा-
व्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः ।।

* * *

❀ द्वितीयोऽध्यायः ❀

कृताभया यैरिह भूतसन्ततिः
सुधाभिवर्षैः परिषिञ्चिता धरा ।
येषां समज्ञा सुवितीर्णदिक्तटा
नमामि तान् योगिमुनीन्द्रवन्द्यान् ॥

[समन्वये प्रत्यक्षादिविरोधाक्षेपः]

समन्वय-निरूपण के द्वारा ब्रह्म में मानाभाव-प्रयुक्त असम्भावना का निराकरण किया गया है । द्वैतग्राहि प्रत्यक्षादि-विरोध से मेया सम्भावना को हृदय में रख कर शिष्य कथित समन्वय पर आक्षेप करता है—

एवं समन्वयनिरूपणयाऽवबोधो
जातोऽप्यखण्डविषयो ननु वाक्यजन्यः ।
मानान्तरेण परिपीडित एव जातो
भेदप्रकाशनकृताऽक्षनिबन्धनेन ॥ १ ॥

योजना—ननु एवं समन्वयनिरूपणया जातोऽपि वाक्यजन्यः अखण्डविषयः अवबोधः भेदप्रकाशनकृताक्षनिबन्धनेन मानान्तरेण परिपीडित एव जातः ॥ (व० तिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—प्रथमाध्याय-समागत-समन्वय-निरूपण के द्वारा उत्पन्न वाक्य-जन्य, अखण्डार्थविषयक बोध, भेदग्राहक प्रत्यक्षमूलक प्रमाणान्तर से बाधित विषयक ही है ॥

भावितार्थ—आक्षेप की सङ्गति से द्वितीय अध्याय का आरम्भ होता है—पूर्व अध्याय में सभी वेदान्त वाक्यों का अखण्ड ब्रह्म के बोधन में तात्पर्य बताया गया, वह सम्भव नहीं प्रतीत होता, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रबल प्रमाणों से प्रकाशित द्वैत जगत् है ही नहीं और प्रत्यक्षादि से दूर कोई अद्वैत तत्त्व ही पारमार्थिक है—यह नहीं कहा जा सकता ॥ १ ॥

जैसे स्वर्गादि-प्रकाशक श्रुतियों से स्वर्गाद्यभाव-ग्राहक प्रत्यक्षादि विरोधी प्रमाणों का बाध होता है, वैसे ही अद्वैत श्रुतियों से द्वैतग्राहक प्रत्यक्षादि का बाध क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर देते हैं—

मज्जत्यलाबु सहसाऽप्सु शिलाः प्लवन्ते
इत्यादिकादभिहितादिव वाक्यजातात् ।
जाताऽपि बुद्धिरपबाधितगोचरैवम्
अद्वैतबुद्धिरपि भेदधियाऽऽत्मनि स्यात् ॥ २ ॥

योजना—'अलाबु मज्जति', 'शिलाः अप्सु सहसा प्लवन्ते'—'इत्यादिकात् अभिहितात् वाक्यजातात् जाताऽपि बुद्धिः अपबाधितगोचरा' एवम् भेदधिया आत्मनि अद्वैतबुद्धिरपि स्यात्।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—(जैसे) 'तुम्बी डूब रही है', 'शिलायें जल में सहसा तैर रही हैं'—आदि वाक्यों से उत्पन्न बुद्धि बाधितविषयक होती है, वैसे ही द्वैतप्रत्यक्ष से आत्मविषय अद्वैतबुद्धि भी (बाधितविषयक) होगी ।।

भावितार्थ—यद्यपि शाब्दबोध में कारणीभूत अर्थाबाधरूप योग्यता-ज्ञान उक्त स्थलों पर नहीं रहता, अतः सामग्री के न होने से वहाँ शाब्दबोध ही नहीं हो सकता, तथापि योग्यतादि का विरह शाब्दप्रमा का भले ही प्रतिबन्धक हो, शाब्दज्ञानमात्र का नहीं, इसलिए उक्त स्थलों पर भी शाब्दज्ञान होता ही है । जैसा कि भट्टपाद ने कहा है—'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे शब्दः ज्ञानं करोति हि ।' अर्थात् अत्यन्त असदर्थविषय शाब्दज्ञान भी हो सकता है । उसका विषयापबाध पश्चात् किसी प्रमाणादि से होता है । 'सूखी तुम्बी डूब रही है'—आदि वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान का प्रत्यक्षादि से बाध होता है । वैसे ही अद्वैत-बोध का भी द्वैत-प्रत्यक्षादि से बाध होता है ।। २ ।।

आत्मा एकमात्र श्रुति का विषय है, प्रत्यक्षादि का विषय ही नहीं, फिर प्रत्यक्षादि आत्मविषयक बोध के बाधक ही कैसे होंगे ? इस जिज्ञासा को शान्त करते हैं—

अध्यक्षगोचरमनर्थमवैमि वाक्यं
निर्मुक्तमाह मम रूपमनर्थहेतोः ।
एवं च वेदशिरसोऽक्षनिबन्धनेन
ज्ञानेन बाधनमतीव हि दुर्निवारम् ।। ३ ।।

योजना— अनर्थम् अध्यक्षगोचरम् अवैमि । अनर्थहेतोः निर्मुक्तं मम रूपम् आह । एवं च अक्षनिबन्धनेन ज्ञानेन वेदशिरसो बाधनम् अतीव दुर्निवारम् ।। (व० ति० छ०) ।।

योजितार्थ—(आत्मा में दुःखादि) अनर्थ का मैं प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ । 'न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' (कठ० ५।११) आदि वेदान्त वाक्य अनर्थ हेतु से निर्मुक्त मेरा रूप वताते हैं । इस प्रकार प्रत्यक्षलमूक (मैं दुःखी हूँ आदि) ज्ञान से वेदान्तवाक्य का बाध अत्यन्त दुर्निवार है ।।

भावितार्थ—यद्यपि सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म औपनिषद् मात्र है, प्रत्यक्षादि का विषय नहीं, तथापि प्रपञ्च-सत्यत्व-ग्राही प्रत्यक्षादि के जीते जी उसमें अनन्तत्वादि सिद्ध नहीं हो सकता । एवं लोक-प्रसिद्ध (जीव) आत्मा में प्रत्यक्षतः दुःखादि का अनुभव होता है । सभी प्रमाण-परिवार में प्रत्यक्ष नितान्त वलिष्ठ है । इसके विपरीत 'योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति' (बृह० ३।६।१ आदि) वाक्य आत्मा में दुःखाभाव का बोध कैसे करा सकेंगे ? विरोधास्फुरति-समय वाक्य से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष से बाधितविषयक अवश्य होगा ।। ३ ।।

वेदान्त वाक्यों के प्रत्यक्षादि ही विरोधी नहीं, अपितु कर्मविधि वाक्य भी विरोधी होते हैं, यह दिखाते हैं—

कर्तृत्वमाह मम कर्मविधिर्नियोगः
सम्बन्धपूर्वकमपास्तसमस्तभेदम् ।
मामाह वेदशिरसो वचनं तथा च
सत्यस्य दुःस्थितमिवाऽऽपतति प्रमात्वम् ॥ ४ ॥

योजना—नियोगः कर्मविधिः मम सम्बन्धपूर्वकं कर्तृत्वम् आह । वेदशिरसो वचनं माम् अपास्तसमस्तभेदम् आह । तथा च सति अस्य प्रमात्वं दुःस्थितमिव आपतति ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—नियोगरूप कर्मविधि मुझ में सम्बन्धपूर्वक कर्तृत्व बताती है । वेदान्तवाक्य मुझे समस्त भेदों से रहित बताते हैं । ऐसी परिस्थिति में इस (वेदान्तवाक्य) की प्रमाणता खटाई में पड़ जाती है ॥

भावितार्थ—नियोग सदैव अधिकारी को ही यागादि में नियुक्त करता है, अनधिकारी को नहीं । जिसमें कर्तृत्वादि नहीं, ऐसा पत्थर अधिकारी नहीं बन सकता, अतः 'स्वर्गकामो यजेत्'—आदि विधिवाक्य पुरुष में कर्तृत्वादि धर्म बताते हैं, किन्तु वेदान्तवाक्य 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृह० ४।३।१५) कह कर पुरुष में कर्तृत्वादि भेद का अभाव बताते हैं । विधिवाक्य प्रधान हैं, प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सहायता भी उन्हें मिल रही है, अतः विधिवाक्य अवश्य ही वेदान्तवाक्यों का बाध करेंगे ।

इस श्लोक के 'सत्यस्य' पद का 'सति अस्य'—ऐसा छेद न करके कुछ विद्वानों ने 'सत्यस्य' का अर्थ 'सत्यार्थस्य प्रमाणभूताभेदस्य' किया है । वह उचित नहीं जंचता, क्योंकि शङ्कावादी के लिए 'सत्यस्य' कहना सम्भव सा नहीं, एवं 'प्रमात्वम्' का अन्वय करने के लिए 'अस्य' पद का अध्याहार करना पड़ेगा ॥ ४ ॥

कर्मविधि और वेदान्तवाक्य दोनों समकक्ष हैं, अतः कर्मविधि ही बाधक क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर है—

प्रत्यक्षकर्मवचसोरुभयोः समूहः
सामर्थ्यवानुपनिषद्विषयापहारे ।
एकैकमेव तु न पारयतेऽपहर्तुं
स्वार्थप्रकाशनविधावुभयोः समत्वात् ॥ ५ ॥

योजना—उपनिषद्विषयापहारे प्रत्यक्षकर्मवचसोः उभयोः समूहः सामर्थ्यवान् । एकैकमेव तु अपहर्तुं न पारयते, स्वार्थ-प्रकाशनविधौ उभयोः समत्वात् ॥ (व०छ०) ॥

योजितार्थ—उपनिषद् के विषय का बाध करने में प्रत्यक्ष तथा कर्मवचन—इन दोनों का समूह समर्थ है । एक, एक तो (उपनिषद् के विषय का) बाध नहीं कर सकता, क्योंकि दोनों विरोधी अपने-अपने विषय का प्रकाश करने में समान ही हैं ॥

भावितार्थ—समान बल के तीन पुरुषों में एक, एक को परास्त नहीं कर सकता, किन्तु दो मिलकर एक को पछाड़ देते हैं । प्रत्यक्ष, कर्मविधि तथा वेदान्त तीनों अपने-अपने अर्थों का समान रूप से प्रकाश करते हैं, एक एक का बाध नहीं कर सकता, फिर भी प्रत्यक्ष और कर्मविधि—दोनों मिलकर वेदान्त का विषयापहार कर ही सकते

भावितार्थ–प्रत्यक्षादि प्रमाण केवल व्यवहारोपयुक्त पदार्थों का प्रकाश कर सकते हैं उनमें व्यावहारिक प्रामाण्य ही माना जाता है, तत्वावेदकत्वरूप प्रामाण्य नहीं। अर्थात् प्रत्यक्षादि भेद-जगत् की व्यावहारिक सत्यता का समर्थन करते हैं, किन्तु श्रुति उनकी पारमार्थिक सत्यता का निराकरण। दोनों का विरोध ही नहीं कि बाध्य-बाधकभाव प्राप्त होता ॥ ७ ॥

प्रत्यक्षादि का तत्त्वावेदन में सामर्थ्य नहीं—

अज्ञातमर्थमवबोधयदेव मानं
तच्च प्रकाशकरणक्षममित्यभिज्ञाः ।
न प्रत्यगात्मविषयादपरस्य तच्च
मानस्य संभवति कस्यचिदत्र युक्त्या ॥ ८ ॥

योजना—अज्ञातमर्थम् अवबोधयदेव मानम्। तच्च प्रकाशकरणक्षमम् इत्यभिज्ञाः। तच्च प्रत्यगात्मविषयात् अपरस्य कस्यचित् मानस्य अत्र युक्त्या न सम्भवति॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—अज्ञात अर्थ के बोधक को ही प्रमाण और उस प्रमाण को ही प्रकाशकरण सक्षम जैमिन्यादि मानते हैं। वह (प्रकाशकरणक्षमत्व) प्रत्यगात्मविषयक प्रमाण से भिन्न और किसी प्रमाण में युक्ति से सिद्ध नहीं होता॥

भावितार्थ—अप्रकाशित अर्थ के प्रकाशक को ही प्रमाण माना जाता है। अप्रकाशित या अज्ञानावृत चेतन ही हो सकता है, जड़वर्ग नहीं। अप्रकाशित चैतन्य का प्रकाश वेदान्तवाक्यों से ही होता है, अतः आत्मा में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की गम्यता नहीं। प्रमाण का फल माना जाता है, अज्ञान-निवृत्ति। आत्मवृत्ति अज्ञान की निवृत्ति उपनिषद् वाक्यों से ही होती है, इतर प्रमाण से नहीं॥ ८ ॥

प्रत्यक्षादि में तत्त्वनिवेदनाशक्तत्व ही व्यक्त किया जाता है—

सर्वं पराग्विषयमेव हि मानजातं
वेदावसानवचनानि तु वर्जयित्वा ।
यद्भौतिकं किमपि भौतिकगोचरं तद्
रूपप्रदीपकनिदर्शनतः प्रसिद्धम् ॥ ९ ॥

योजना—वेदावसानवचनानि तु वर्जयित्वा सर्वं मानजातम्, पराग्विषयमेव। यत् किमपि भौतिकम्, तत् रूपप्रदीपकनिदर्शनतः भौतिकगोचरं प्रसिद्धम्॥ (व०ति०छ०)॥

योजितार्थ–वेदान्तवचनों को छोड़कर समस्त प्रमाण बाह्यार्थविषयक ही होते हैं। जो भी कोई भौतिक प्रमाण है, वह रूप-प्रकाशक प्रदीप के दृष्टान्त से भौतिक विषयक ही सिद्ध होता है॥

भावितार्थ—'भेदग्राहकमानजातं अनात्मविषयकं वेदान्तातिरिक्तमानत्वात् घटादिग्राहकप्रमाणवत्'—इस अनुमान के आधार पर प्रत्यक्षादि प्रमाण में अनात्ममात्रविषयकत्व सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'प्रत्यक्षादिकं भौतिकमात्रगोचरं भौतिकत्वे सति प्रकाशकत्वात् रूपप्रकाशप्रदीपवत्'—इस अनुमान से भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों में भौतिकार्थमात्रविषयकत्व ही सिद्ध होता है। अतः प्रत्यक्षादि प्रमाण आत्मा को स्पर्श भी नहीं कर सकते कि वहाँ के अन्य प्रमाणों की प्रवृत्ति में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करें॥ ९ ॥

'यद्भौतिकं किमपि भौतिकगोचरं तत्'—इस मूलस्थ व्याप्ति में व्यभिचार देखा जाता है, क्योंकि घटादि भौतिक हैं, किन्तु भौतिक गोचर नहीं। इसलिए व्याप्त्यन्तर दिखाते हैं—

यद् व्यञ्जकं किमपि लौकिकमीक्षितं तद्
व्यङ्ग्येन तुल्यमवलोकितमत्र जात्या।
दीपः प्रकाशकतया विदितो हि लोके
रूपेण तैजसतया सदृशः प्रसिद्धः ॥ १० ॥

योजना—यत् किमपि लौकिकं व्यञ्जकम्, तत् अत्र जात्या व्यंग्येन तुल्यम् अवलोकितम्। लोके हि प्रकाशकतया विदितो दीपः तैजसतया रूपेण सदृशः प्रसिद्धः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—जो भी कोई लौकिक व्यञ्जक देखा जाता है, वह यहाँ जाति के द्वारा व्यङ्ग्य के सदृश ही होता है। लोक में प्रकाशक रूप से विदित प्रदीप तैजसत्व जाति के द्वारा रूप के सदृश ही होता है ॥

भावितार्थ—'प्रत्यक्षादि प्रमाणं भौतिकम्, भौतिकव्यञ्जकत्वात् यद् व्यञ्जकं तत् व्यङ्ग्यसजातीयं दृष्टं यथा—रूपव्यञ्जकः प्रदीपः रूपजातीयो दृष्टः।' इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों में भौतिकत्व सिद्ध होता है ॥ १० ॥

बुद्धिगत व्यभिचार-आशङ्का को दूर करते हैं—

बुद्धिः समस्तविषयावगमे प्रवृत्ता
साऽपि प्रकाश्यविषयेण समानजातिः।
बुद्धिश्च भौतिकतया श्रुतिषु प्रसिद्धा
तेनास्तु साऽपि खलु भौतिकगोचरैव ॥ ११ ॥

योजना—समस्तविषयावगमे बुद्धिः प्रवृत्ता, सापि प्रकाश्यविषयेण समानजातिः। श्रुतिषु बुद्धिश्च भौतिकतया प्रसिद्धा, तेन सापि भौतिकगोचरैव खलु अस्तु ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—समस्त भौतिक विषय के प्रकाशन में बुद्धि प्रवृत्त है, वह भी अपने प्रकाश्य विषय की समान जाति की है। 'अन्नमयं हि सौम्य मनः' (छां० ६।५।४) आदि श्रुतियों में बुद्धि भौतिकरूप से ही प्रसिद्ध है, इसलिए वह भी भौतिकविषयक हीं है ॥

भावितार्थ—नैयायिकादि बुद्धि को आत्मगोचर मानते हैं। किन्तु उनकी मान्यताएँ तर्कमात्र पर ही आश्रित हैं, 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्र० सू० २।१।११) आदि से महर्षियों ने स्पष्ट घोषित कर दिया है कि तर्क स्वयं अप्रतिष्ठित है, उसके आधार पर किसी तत्त्व की व्यवस्था नहीं की जा सकती। वेदान्त में श्रुतिमूलक तर्कों को ही स्थान दिया गया है। अतः 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' के आदेशानुसार भौतिक होने से बुद्धि को भौतिकमात्रविषयक हीं मानना होगा ॥ ११ ॥

प्रत्यक्षादि में अनात्ममात्रविषयकत्व का उपसंहार करते हैं—

एवं प्रमाणमखिलं बहिरर्थनिष्ठं
वेदान्तवाक्यमपहाय यथोक्तहेतोः ।
न प्रत्यगात्मविषयं श्रुतिरप्युवाच
स्पष्टं पराञ्चि वचसाऽर्थमिमं यथोक्तम् ॥ १२ ॥

योजना—एवं वेदान्तवाक्यं अपहाय यथोक्तहेतोः अखिलं प्रमाणं बहिरर्थनिष्ठम्, प्रत्यगात्मविषयं न । यथोक्तम् इमम् अर्थं श्रुतिरपि पराञ्चिवचसा स्पष्टम् उवाच ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—वेदान्तवाक्यों को छोड़कर कथित हेतु से निखिल प्रमाण बाह्यार्थ-विषयक ही सिद्ध होते हैं, प्रत्यगात्मविषयक नहीं। पूर्वोक्त अर्थ को श्रुति ने भी 'पराञ्चि खानि' (कठ० ४। १) कह कर स्पष्ट कर दिया है ॥

भावितार्थ—'अखिलं प्रत्यक्षादिप्रमाणं बाह्यार्थविषयकं वेदान्तातिरिक्तमानत्वात्'—इस अनुमान के बल पर अनुमित प्रत्यक्षादि में बाह्यार्थमात्रग्राहकत्व श्रुति से भी समर्थित है—'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः' (कठ० ४।१) अर्थात् स्रष्टा ने इन्द्रियों की बाह्यप्रवाह्यता की रचना कर हिंसा-सी कर डाली है ॥ १२ ॥

उक्त श्रुति का पूरा पाठ देते हैं—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः
तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १३ ॥

योजना—स्वयंभूः खानि पराञ्चि व्यतृणत्, तस्मात् पराङ् पश्यति अन्तरात्मन् न । कश्चित् आवृत्तचक्षुः अमृतत्वम् इच्छन् धीरः[1] प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत् ।। (उपजातिच्छन्दः)॥

योजितार्थ—प्रजापति ने इन्द्रियों को बाह्य विषय-प्रवण बनाकर (उनकी) हिंसा कर दी। इसलिए (साधारण पुरुष) बाह्य विषय को ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं (देखता)। कोई ही संयतेन्द्रिय (जिसने इन्द्रियों को बाह्य विषय से लौटा लिया है, ऐसा) मुमुक्षु धीर व्यक्ति प्रत्यगात्मा को देख पाता है ॥

भावितार्थ—उक्त श्रुति से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यगात्मा न तो इन्द्रियों का विषय है और न अनुमेय है, क्योंकि अत्यन्त अतीन्द्रिय अर्थ में व्याप्ति-दर्शन सम्भव नहीं ॥ १३ ॥

इस प्रकार तो शब्दात्मक श्रुति भी भौतिक होने के नाते बाह्यविषयक ही सिद्ध होती है—इस आक्षेप का समाधान करते हैं—

यत् कर्मभावमनपास्य निजप्रमेये
संवित्तिसाधनतया जगति प्रसिद्धम् ।
मानं जडार्थविषयं तदिहाभ्युपेयं
न प्रत्यगात्मविषयं कथितोपपत्तेः ॥ १४ ॥

---

[1] धियमीरयति अन्तरात्मनि प्रेरयीति धीरः ।

योजना—यत् (प्रमाणम्) निजप्रमेये कर्मभावम् अनपास्य संवित्तिसाधनतया जगति प्रसिद्धम्, तत् मानम् इह जडार्थविषयम् अभ्युपेयम्, प्रत्यगात्मविषयं न, कथितोपपत्तेः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—जो प्रमाण अपने प्रमेय में कर्मता का परित्याग न करके संवित्साधनतया जगत् में प्रसिद्ध है, उस प्रमाण को यहाँ जडार्थविषयक ही मानना चाहिए, प्रत्यगात्मविषयक नहीं, क्योंकि व्यञ्जक व्यङ्ग्य-सजातीय होता है—यह कहा जा चुका है ॥

भावितार्थ—जो प्रमाण अपने विषय को कर्म बनाकर प्रकाश में लाता है, वही प्रमाण व्यङ्ग्यार्थ का सजातीय होता है। जड़विषयक प्रमाण ही वैसा होता है, आत्मविषयक श्रुतिप्रमाण नहीं, क्योंकि वह आत्मा को कर्म (फलव्याप्य) नहीं बनाता, अतः श्रुतिप्रमाण पर यह नियम लागू नहीं होता ॥ १४ ॥

[वेदान्तानामेवात्मविषयत्वम्]

आत्मविषयक प्रमाण का उल्लेख करते हैं—

यत्तु प्रमाणमवधीर्य निजप्रमेये
कर्मत्वमर्थमवबोधयितुं प्रवृत्तम् ।
तत्प्रत्यगात्मविषयं भवितुं क्षमेत
तत्त्वमादिवचनं न ततोऽन्यदस्ति ॥ १५ ॥

योजना—यत् तु प्रमाणं निजप्रमेये कर्मत्वम् अवधीर्य अर्थम् अवबोधयितुं प्रवृत्तम्, तत् प्रत्यगात्मविषयं भवितुं क्षमेत। तत् तत्त्वमादिवचनम्, ततो अन्यत् न ॥ (व०छ०) ॥

योजितार्थ—जो प्रमाण अपने प्रमेय पर कर्मत्व न रख कर ही अर्थावबोधन में प्रवृत्त हुआ है; वह प्रत्यगात्मविषयक हो सकता है। वैसा तत्त्वमादि वचन ही है, उससे भिन्न नहीं ॥

भावितार्थ—'तत्त्वमसि'—आदि वेदान्त-वाक्य आत्मविषयक आवरण की निवृत्ति कर देने से आत्मा के बोधक माने जाते हैं, आत्मा को अपने ज्ञान का कर्म नहीं बनाते ॥ १५ ॥

गत (२।८) पद्य में जो कहा था कि जड़ विषय अज्ञात नहीं होता, इसलिए जड़विषयक प्रमाण अज्ञात-बोधक नहीं होते, उसकी उपपत्ति करते हैं—

नाज्ञाततावगतिरस्ति जडेषु पूर्वं
मेयेषु तत्स्फुरणकारणवर्जितत्वात् ।
मानोदयान्न हि पुरा किमपीह मानं
नापि प्रमेयबलतो जडता हि तस्य ॥ १६ ॥

योजना—जडेषु मेयेषु पूर्वम् अज्ञाततावगतिः नास्ति, तत्स्फुरणवर्जितत्वात्। मानोदयात् पुरा किमपि मानं न हि। प्रमेयबलतोऽपि न, हि तस्य जडता ॥ (व०ति०छ०) ॥

योजितार्थ—जड़ प्रमेय पदार्थों में (प्रमाण-वृत्ति से) पूर्व अज्ञातता की अवगति नहीं हो सकती, क्योंकि उस समय प्रमेय का स्फुरण ही नहीं होता। चक्षुरादि प्रमाणों की प्रवृत्ति से पूर्व कोई प्रमाण ही वहाँ नहीं। प्रमेय स्वतः स्फुरित होता है—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रमेय जड़ होता है, स्वयंप्रकाश नहीं होता ॥

भावितार्थ—घटादि जड़पदार्थों में यदि अज्ञातता मान ली जाय, तो उसका ज्ञान कब होगा ? घटादि के ग्राहक चक्षुरादि प्रमाणों की प्रवृत्ति से पूर्व ? या पश्चात् ? चक्षुरादि की प्रवृत्ति के पूर्व घटादि का भान नहीं होता। घटादिरूप अनुयोगी का भान न होने से, घटानुयोगिक अज्ञातत्त्व (ज्ञातत्वात्यन्ताभाव) का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि किसी प्रमाण के बिना ही घटादि का अपने आप स्फुरण हो जाता है, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि घटादि जड़ हैं, स्वयंप्रकाश नहीं ।। १६ ।।

प्रमेय स्वयं अज्ञात रह कर भी स्वगत अज्ञातत्व का बोध करा सकता है—इस आशंका का समाधान है—

नाज्ञाततावगतये स्वयमेव बाह्यं
मेयं समर्थमवबोधविलक्षणत्वात् ।
नापि प्रमाणमवबोधकमस्ति किञ्चित्
मानोदयात्पुर इति स्फुटमभ्युपेयम् ॥ १७ ॥

योजना—बाह्यं मेयं अज्ञाततावगतये स्वयमेव समर्थं न, अवबोधविलक्षणत्वात् । मानोदयात् पुरः किञ्चित् बोधकं प्रमाणं नास्तीति स्फुटम् अभ्युपेयम् ।। (व० ति० छ०) ।।

योजितार्थ—बाह्य प्रमेय स्वगत अज्ञातता का बोध कराने में स्वयं समर्थ नहीं, क्योंकि स्वयंप्रकाशस्वरूप ज्ञान से भिन्न है। प्रमाण-प्रवृत्ति से पूर्व कोई वहाँ अज्ञातत्व का ग्राहक प्रमाण भी नहीं—यह मानना ही होगा ।। १७ ।।

घटादि के ग्रहण में प्रमाणों की प्रवृत्ति ही घटादिगत अज्ञातत्व की सूचना देती है, क्योंकि घटादि में अज्ञातत्व न होने से बुभुत्सितत्व भी नहीं होता। इसके बिना प्रमाणों की प्रवृत्ति ही नहीं होती—इस आक्षेप का निराकरण करते हैं—

नाज्ञातताममवगम्य पुरा प्रवेशात्
मानस्य किंचिदपि मानबलेन बोद्धुम् ।
शक्नोति कश्चिदपि मानबलेन बुद्धं
किं वा स्वभाव इति निश्चयहेत्वभावात् ॥ १८ ॥

योजना—मानस्य प्रवेशात् पुरा अज्ञातताम् अनवगम्य मानबलेन कश्चिदपि किञ्चित् बोद्धुम् न शक्नोति, मानबलेन बुद्धम् ? किं वा स्वभावः इति निश्चयहेत्वभावात् ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः)

योजितार्थ—प्रमाण की प्रवृत्ति के पूर्व अज्ञातता को न जानकर प्रमाण के बल पर कोई भी किञ्चिन्मात्र जान नहीं सकता, क्योंकि प्रमाण के बल से वह ज्ञात हुआ है ? या स्वभावतः ? इसके निर्णय में कोई हेतु नहीं ।।

भावितार्थ—उक्त अर्थापत्ति प्रमाण से घटादि में जिस अज्ञातत्व की कल्पना की गई, उस अज्ञातत्व का ज्ञान प्रमाण-प्रवृत्ति से पूर्व ही होना चाहिए, नहीं तो घटादि-स्फुरण में मान-फलत्व ही सिद्ध न होगा, क्योंकि उसके विषय में यह सन्देह रह जाता है कि वह (घटादि) प्रमाण के बल से जाना गया है। या स्वयंप्रकाश है ? प्रमाण-प्रवृत्ति से पूर्व यदि अज्ञातत्व ज्ञात हो जाय और प्रमाण-प्रवृत्ति के उत्तर घटादि का

स्फुरण हो, तब तो कहा जा सकता है कि प्रमाण-प्रवृत्ति से पूर्व घट अज्ञात था और प्रमाण-प्रवृत्ति से ज्ञात हुआ; अतः प्रमाण के बल पर ज्ञात होता है। किन्तु प्रमाण-प्रवृत्ति से पूर्व घटादि-गत अज्ञातत्व का ज्ञान नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

उक्तार्थ में दृष्टान्त दिखाते हैं—

प्रक्षालनेन धवलं किमिदं बभूव
किंवा पुराऽपि धवलं स्वयमेव वस्त्रम् ।
इत्येवमेष न विवेक्तुमलं कदाचित्
यो दृष्टवान्न मलिनं वसनं पुरस्तात् ॥ १९ ॥

योजना—यः पुरस्तात् वस्त्रं मलिनं वसनं न दृष्टवान्, स 'किमिदं प्रक्षालनेन धवलं बभूव ? किं वा वस्त्रं पुरा अपि स्वयमेव धवलम् ?' इत्येवमेष विवेक्तुं कदाचिदपि नालम्॥

योजितार्थ—जिस व्यक्ति ने पहले वस्त्र को मलिन नहीं देखा था, वह व्यक्ति 'क्या यह धोने से स्वच्छ हुआ है ? या यह वस्त्र पहले से हीं स्वयं स्वच्छ ही है ?'—यह विवेक कभी भी नहीं कर सकता ॥ १९ ॥

दार्ष्टान्त में वही घटाते हैं—

एवं पुरानधिगतं यदि नानुभूतं
मानेन बोधितमिदं प्रतिभाति मेयम् ।
न स्वप्रकाशमिति शक्यमिदं विवेक्तु
केनापि नैव तदवस्थतयैव दृष्टेः ॥ २० ॥

योजना—एवं पुरा यदि अनधिगतं नानुभूतम् तदा 'इदं मेयं मानेन बोधितं प्रतिभाति, स्वप्रकाशं न'–इदं विवेक्तुं केनापि नैव शक्यम्, तदवस्थतयैव दृष्टेः ॥ (व०छ०)।

योजितार्थ—इसी प्रकार पहले यदि अज्ञात (घटादि) अनुभूत नहीं हुआ, तब 'यह प्रमाण से बोधित प्रतीत होता है, स्वयंप्रकाश नहीं'—यह विवेक किसी से भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'यह पहले से ज्ञात ही था'–यह भी दृष्टि में आ सकता है॥२०॥

यद्यपि चक्षुरादि की प्रवृत्ति से पहले घटादिगत अज्ञातत्व का ग्राहक प्रमाण तार्किकादि की दृष्टि से नहीं दिखाया जा सकता, तथापि वेदान्त-सिद्धान्त से वहाँ साक्षी प्रमाण दिखाया जा सकता हैं, क्योंकि अज्ञान को साक्षिभास्य माना जाता है—इस शंका का समाधान है—

अज्ञातमर्थमवबोधयितुं न शक्तम्
एवं प्रमाणमखिलं जडवस्तुनिष्ठम् ।
किं त्वप्रबुद्धपुरुषं व्यवहारकाले
संश्रित्य संजनयति व्यवहारमात्रम् ॥ २१ ॥

योजना—एवं निखिलं प्रमाणं जडवस्तुनिष्ठम् अज्ञातम् अर्थम् अवबोधयितुं शक्तं न, किन्तु व्यवहारकाले अप्रबुद्धं पुरुषं संश्रित्य व्यवहारमात्रं संजनयति ॥ (व० छ०) ॥

योजितार्थ—इस प्रकार समस्त प्रमाण जडवस्तुनिष्ठम् अज्ञानरूप अर्थ का बोध

नहीं करा सकते। किन्तु व्यवहारकाल में अज्ञानाश्रित आत्मा का आश्रय लेकर वैसा व्यवहारमात्र उत्पन्न कर देते हैं ॥

भावितार्थ—अज्ञान साक्षी में अध्यस्त होने से उसी में रहता है, घटादि में नहीं, इसलिए घटादिनिष्ठ अज्ञान का कौन प्रमाणभासक होगा ? हाँ, 'अज्ञातो घटः'—यह व्यवहार आत्मगत अज्ञातता को लेकर निभ सकता है। अर्थात् घटावच्छिन्न साक्षी में अज्ञातत्व है, अतः वह अज्ञातत्व स्वाश्रयावच्छेदकत्वसम्बन्ध से घटादि पर आकर 'अज्ञातो घटः' व्यवहार का जनक हो जाता है। प्रत्यक्षादि प्रमाण भी घटावच्छिन्न आत्मा के अज्ञान की निवृत्ति करते हैं। अनावृत चेतन से घटादि का प्रकाश होता है—इस प्रकार प्रत्यक्षादि 'ज्ञातो घटः'-आदि व्यवहार के जनक होने से प्रमाण माने जाते हैं ॥ २१ ॥

[अध्यस्तत्वेऽपि प्रपञ्चस्य विभागोपपादनम्]

समस्त जड-जगत् मिथ्या है, तब शुक्तिरजतादि तथा उनके ज्ञानों में सत्यत्व, मिथ्यात्व, भ्रान्तित्व, बाध्यत्व, बाधकत्वादि विभाग कैसे होगा ? इस जिज्ञासा का शमन करते हैं—

आबोधतः सकलमेव हि सत्यमिथ्या-
भ्रान्तिप्रमाणविनिवर्त्यनिवर्तकत्वम् ।
स्वप्नेऽपि दृष्टमिदमेवमिहापि जाग्रत्-
काले भवत्वखिलमापरमात्मबोधात् ॥ २२ ॥

योजना—आबोधतः सकलं सत्यमिथ्याभ्रान्तिप्रमाणविनिवर्त्यनिवर्तकत्वम् । स्वप्नेऽपि इदं दृष्टम्, एवम् इह जाग्रत्कालेऽपि आपरमात्मबोधात् अखिलं भवतु ॥ (व० छ०)

योजितार्थ—बोध होने तक समस्त सत्यत्व-मिथ्यात्व, भ्रान्तित्व, प्रमाणत्व, विनिवर्त्य-निवर्तकत्वादि माना जाता है। स्वप्न में भी यह सब कुछ देखा जाता है, वैसे ही इस जाग्रत् काल में भी परमात्माबोध से पूर्व सकल व्यवहार होता है ॥ २२ ॥

उक्त विभाग स्वाप्निक उदाहरण से व्यक्त करते हैं—

स्वप्ने तप्तशिलाधिरोहणगता निःश्रेयसोपायता
मिथ्या ब्राह्मणतर्पणादिनिलया सत्या तथा लौकिकी ।
स्रक् सत्या तदहिर्मृषैव विदितो निद्रानिवृत्तौ पुनः
स्वप्ने दृष्टमशेषमेव वितथं ग्राह्यं तथा जागरे ॥ २३ ॥

योजना—स्वप्ने तप्तशिलाधिरोहणगता निःश्रेयसोपायता मिथ्या, तथा लौकिकी ब्राह्मणतर्पणादिनिलया सत्या, स्रक् सत्या, तदहिः मृषैव विदितः। निद्रानिवृत्तौ पुनः स्वप्ने दृष्टम् अशेषमेव वितथम् तथा जागरे ग्राह्यम् ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—स्वप्न में तप्त शिला-अधिरोहणगत कल्याणोपायता मिथ्या तथा लोक-प्रसिद्ध ब्राह्मण-तर्पणान्तर्गत (अग्निहोत्रादिगत) कल्याणोपायता सत्य समझी जाती है। निद्रा के निवृत्त हो जाने पर स्वप्न-दृष्ट समस्त पदार्थ मिथ्या सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार जाग्रत् में सत्य-मिथ्या विभाग बन जाता है ॥

भावितार्थ—जैसे स्वप्न में निद्रा दोष के कारण अनन्त सत्य-मिथ्या पदार्थ प्रतीत होते हैं, वैसे ही जाग्रत् काल में अविद्या के आधार पर विविध सत्य-मिथ्या व्यवहार प्रवृत्त हो जाता है । ब्रह्मज्ञान होने पर वह समस्त प्रपञ्च मिथ्या सिद्ध होता है ॥ २३ ॥

ऊपर पद्य में कथित 'ग्राह्यन्तथा जागरे' दार्ष्टान्त को स्पष्ट करते हैं—

श्रेयःसाधनताऽग्निहोत्रनिलया सत्येति संगृह्यते
मिथ्या तप्तशिलाधिरोहणगता शिष्टैः परित्यज्यते ।
रज्जुः सत्यतया स्थितैव तदहिर्मिथ्यैव तावद्भवेत्
यावन्मूलतमोविदारणपटुर्विद्योदयो नाऽगमत् ॥ २४ ॥

योजना—यावत् मूलतमोविदारणपटुः विद्योदयः न आगमत्, तावत् अग्निहोत्रनिलया श्रेयःसाधनता सत्येति शिष्टैः संगृह्यते, तप्तशिलाधिरोहणगता परित्यज्यते । रज्जुः सत्यतया स्थितैव, तदहिः मिथ्यैव भवेत् ।। (शा० वि० छ०)

योजितार्थ—जब तक मूलाविद्या के विदारण में दक्ष विद्योदय नहीं होता, तब तक अग्निहोत्रगत श्रेयःसाधनता सत्य समझी जाती है, अत एव शिष्ट पुरुषों के द्वारा उपादेय होती है, तप्तशिला-अधिरोहणगत कल्याणसाधनता मिथ्या समझ कर छोड़ दी जाती है । रज्जु सत्य और उसका सर्प मिथ्या ही होता है ।। २४ ।।

[विज्ञानवादसाम्याक्षेपः]

समस्त प्रपञ्च को स्वप्नोपम मानने पर विज्ञानवाद से आपके मत का भेद नहीं रह जाता, यह शंका करते हैं—

ननु शाक्यभिक्षुसमयेन समः
प्रतिभात्ययं च भगवत्समयः ।
यदि बाह्यवस्तु वितथं नु कथं
समयाविमौ न सदृशौ भवतः ॥ २५ ॥

योजना—ननु अयं भगवत्समयः शाक्यभिक्षुसमयेन समः प्रतिभाति । यदि बाह्यवस्तु वितथम्, इमौ समयौ सदृशौ कथं नु न भवतः ।। (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—शंका होती है कि यह भगवान् शङ्कराचार्य का मत बौद्धों के विज्ञानवाद के समान ही प्रतीत होता है । यदि बाह्य वस्तु (दोनों मतों में) मिथ्या है, तब यह दोनों मत समान क्यों नहीं होते ? ।। २५ ।।

विज्ञानवाद में बाह्य पदार्थों का अत्यन्त अपलाप नहीं होता, अपितु विज्ञान का परिणाम माना जाता है, वैसा ही यह मत भी है—

यदि बोध एव परमार्थवपुः
न तु बोध्यमित्यभिमतं भवति ।
ननु चाऽऽश्रितं भवति बुद्धमुनेः
मतमेव कृत्स्नमिह मस्करिभिः ॥ २६ ॥

योजना—यदि बोध एव परमार्थवपुः बोध्यम् तु न इत्यभिमतम् । तर्हि बुद्धमुनेः कृत्स्नं मतमेव इह मस्करिभिः आश्रितं ननु ॥ (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—यदि बोध ही परमार्थ सत्य है, बोध्य वस्तु नहीं—यह अभिमत है, तब बुद्ध मुनि का पूरा मत ही यहाँ एकदण्डी मुनियों ने अपना लिया है ॥

भावितार्थ—विज्ञानवादियों का कहना है—

आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रदश्यते ।
विज्ञानपरिणामोऽसौ परिणामः स च त्रिधा ॥ (त्रिशिका० १)

अर्थात् बाह्य जगत् में जो विविध (यह आत्मा है, यह शरीर है आदि) व्यवहार देखा जाता है, वस्तुतः वह उपचार है । वस्तु के न होने पर जो व्यवहार होता है, उसे उपचार कहा जाता है । आत्मादि समस्त प्रपञ्च एकमात्र विज्ञान का परिणाम है । वह परिणाम तीन प्रकार का होता—(१) आलयविज्ञान, (२) मनोविज्ञान, (३) प्रवृत्ति-विज्ञान (विषय-विज्ञप्ति) । वैसे ही आपके मत में एकमात्र ज्ञानरूप आत्मा परमार्थ सत् है और उससे भिन्न समस्त अनात्म जगत् उसी में अध्यस्त है, औपचारिक है । इसलिए इस मत में बौद्धमत से कोई भी विशेषता नहीं रह जाती ॥ २६ ॥

[विज्ञानवादसाम्यनिरासः]

उक्त आशंका का समाधान करते हैं—

ननु मातृमानविषयावगतीः
अपरस्परं प्रति विभागवतीः ।
उपयन्भदन्तमुनिना सदृशः
कथमेष वैदिकमुनिर्भवति ॥ २७ ॥

योजना-अपरस्परं विभागवतीः मातृमानविषयावगतीः उपयन् ननु एष वैदिकमुनिः भदन्तमुनिना सदृशः कथम् भवति ? ॥ (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—परस्पर विभक्त (असङ्कीर्ण) प्रमाता, प्रमाण, विषय और ज्ञान को माननेवाला यह वैदिक मुनि (शंकराचार्य) बुद्ध मुनि के सदृश कैसे होगा ?

भावितार्थ—एकदेश की समानतामात्र से पूरे सिद्धान्तों में साम्य-स्थापन सर्वथा असङ्गत है । नहीं तो बाह्यार्थसत्तावादी सौत्रान्तिकों की तार्किकादि के मतों में समानता का अपादान भी होने लगेगा । पूर्णतया विज्ञानवाद की समता हमारे मत में नहीं, क्योंकि विज्ञानवादी ग्राह्य, ग्राहक तथा ग्रह को परस्पर सङ्कीर्ण अभिन्न ही मानते हैं । किन्तु हमारे मत में कर्ता, करण, कर्म और क्रिया का परस्पर विरोध होने से अभेद माना नहीं जाता । 'अहं चक्षुषा घटं पश्यामि' यहाँ प्रमाता (अन्तःकरण-विशिष्ट चेतन), मान (चक्षुरादि), विषय (घटादि) तथा अवगति (अन्तःकरण की घटाकार वृत्ति) इन चारों का धर्मिसमसत्ताक विभाग माना जाता है । अतः इन दोनों मतों में समता नहीं कही जा सकती ॥ २७ ॥

यदि मातृमानादि प्रपञ्च पृथक् माना जाता है, तब आपके आत्मा में निष्प्रपञ्चात्मत्व सिद्ध कैसे होगा ? इस आक्षेप का परिहार करते हैं—

परमात्मसंश्रयतमोजनितं
प्रविभक्तमेव तु परस्परतः ।
स्थिरमभ्युपेतमिह नः समये
ननु मातृमानविषयप्रभृति ॥ २८ ॥

योजना—इह नः समये परमात्मसंश्रयतमोजनितं परस्परतः प्रविभक्तमेव स्थिरम मातृमानविषयप्रभृति अभ्युपेतम् ननु ।। (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—यहाँ हमारे मत में ब्रह्माश्रित अज्ञान से जन्य, परस्पर भिन्न और स्थिर प्रमाता, मान एवं विषयादि माने जाते हैं ।।

भावितार्थ—मातृमानविषय के तीन विशेषण यहाँ रखे हैं । प्रथम (परमात्मसंश्रयतमोजनितम्) विशेषण से प्रमातादि में बौद्ध-मत-सिद्ध ज्ञानरूपता का निरास किया, द्वितीय (परस्परतः प्रविभक्तम्) विशेषण से विज्ञानवादियों के 'स्वयं सैव प्रकाशते' के अनुसार ग्राह्य-ग्राहक का अभेद हटाया तथा तृतीय (स्थिरम्) विशेषण के द्वारा बौद्धों के 'सर्वं क्षणिकम्' सिद्धान्त से अपना महान् अन्तर दिखाया ।। २८ ।।

[प्रपञ्चस्य करणमन्तरा साक्षिभास्यत्वम्]

कथित प्रमाता आदि चार तत्त्वों का ग्रहण उन्हीं से होता है ? या दूसरे प्रमाता आदि से ? प्रथम पक्ष में ग्राह्य-ग्राहक की एकाकारता हो जाने से बौद्धमत-प्रवेश तथा द्वितीय पक्ष में अनवस्था होती है, इस आक्षेप का खण्डन करते हैं—

तमसा विनिर्मितमिदं सकलं
चतुरः स पश्यति परः पुरुषः ।
अविकारिबोधवपुरद्वयकः
करणैर्विना सकलसाक्षितया ॥ २९ ॥

योजना—तमसा विनिर्मितम् इदं सकलम् स अविकारिबोधवपुः अद्वयकः चतुरः परः पुरुषः करणैः विना सकलसाक्षितया पश्यति ।। (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—अज्ञान-विनिर्मित इस (प्रमाता आदि) सकल प्रपञ्च को वह कूटस्थ बोधस्वरूप, अद्वितीय, चतुर, दृश्य-भिन्न पुरुष इन्द्रियों के बिना ही सकलसाक्षिरूप से देखता है ।।

भावितार्थ—प्रमाता आदि का ग्रहण न तो उन्हीं से माना जाता है और न अन्य प्रमाता आदि से । अज्ञान तथा अज्ञान-विनिर्मित तत्त्वों का ग्राहक साक्षी माना जाता है । साक्षिबोध में साधनों की अपेक्षा ही नहीं और साक्षी अपने ग्राह्य प्रमाता आदि से भिन्न भी है, अतः कोई दोष नहीं ।। २९ ।।

प्रमाता से साक्षी का भेद दिखाते हैं—

निजमायया परिगतः पुरुषः
परतन्त्रया तु निजया प्रभया ।
परिकल्पितं सकलमाकलयन्
स हि साक्षितामुपगतो भवति ॥ ३० ॥

योजना—स हि पुरुषः निजमायया परिगतः सन् परिकल्पितं सकलम् निजया परतन्त्रया प्रभया तु आकलयन् साक्षिताम् उपगतो भवति ॥ (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—वह पुरुष अपनी माया से विशिष्ट होकर अपने में परिकल्पित सकल जगत् को अपनी परतन्त्र प्रभा के द्वारा अवभासित करता हुआ साक्षी बना करता है ॥

भावितार्थ—दो साक्षी माने जाते हैं—एक ईश्वरसाक्षी तथा दूसरा जीवसाक्षी। ईश्वरसाक्षी का स्वरूप यहाँ बताया है कि शुद्ध चेतन ही स्वाश्रित माया से आवृत होकर अपने में कल्पित निखिल प्रपञ्च को प्रपञ्चाकार अविद्या-वृत्तिगत अपने आभास के द्वारा प्रकाशित करता हुआ साक्षी कहलाता है ॥ ३० ॥

दृश्य में प्रतिज्ञात स्थिरता का उपपादन करते हैं—

ग्राह्यग्राहकयोः स्थिरत्वगमनी तत्प्रत्यभिज्ञा प्रमा
नोपापत्स्यत चेदसेत्स्यदपि नौ सिद्धान्तयोस्तुल्यता ।
सा निर्वक्ष्यति सिध्यतीति जगतः स्थैर्यं स्वरूपात्मकं
चैतन्यस्य च भंगुरत्वमिव मे सर्वस्य ते दर्शने ॥ ३१ ॥

योजना—चेत् ग्राह्यग्राहकयोः स्थिरत्वगमनी [1]तत्प्रत्यभिज्ञा प्रमा न उपापत्स्यत, तदा नौ सिद्धान्तयोः तुल्यता असेत्स्यत् अपि । सा सिध्यतीति नयता निर्वक्ष्यति । ते दर्शने सर्वस्य भंगुरत्वमिव मे चैतन्यस्य स्थैर्यं स्वरूपात्मकम् ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—यदि ग्राह्य तथा ग्राहक में स्थिरत्व-साधिका वह प्रत्यभिज्ञा प्रमा उपपन्न न होती, तब हम दोनों के सिद्धान्तों में तुल्यता सिद्ध भी हो जाती। वह (प्रत्यभिज्ञा) सिद्ध होगी, अतः न्यायतः (स्थिरत्व का) निर्वाह कर देगी। आप (बौद्ध) के मत में सर्व-क्षणिकत्व के समान ही हमारे मत में चैतन्यादिगत स्थिरता स्वरूपभूत ही है ॥

भावितार्थ—हमारे मत में प्रमाता तथा प्रमेय—दोनों ही स्थिर हैं। स्थिरता की (योऽहं बाल्ये पितरावन्वभूवम्, स एवाहं स्थाविरे प्रणप्तॄन् अनुभवामि, एवं स एवायं घटः आदि रूप) प्रत्यभिज्ञा प्रमाण से सिद्धि होती है। संस्कार-सहित इन्द्रिय से प्रत्यभिज्ञा हो सकती है। तत्तेदन्तोपलक्षित वस्तुस्वरूप ही हमारे मत में स्थिरत्व है। वही स्थिरत्व उक्त प्रत्यभिज्ञा का विषय है। बौद्धमत-सिद्ध क्षणिकत्व वस्तु का स्वरूप ही माना जाता है, अन्यथा स्वलक्षणत्व का व्याघात् होगा। क्षणिकत्व के समान ही हमारा स्थिरत्व भी वस्तु का स्वरूप है ॥ ३१ ॥

[स्वप्नजागरयोः साम्याक्षेपः]

यदि सर्वदृश्य कल्पित मात्र है, तब स्वप्न और जाग्रत् का वैलक्षण्य क्या ? यह शंका करते हैं—

ननु कल्पितं यदि हि जागरितं
वद कीदृशी खलु विलक्षणता ।
स्वप्नादमुष्य भवतोऽभिमता
परिकल्पितत्वमुभयोस्तु समम् ॥ ३२ ॥

---

[1] तयोः प्रत्यभिज्ञा ।

योजना–ननु यदि हि जागरितं कल्पितम्, तदा वद-स्वप्नात् अमुष्य भवतोऽभिमता विलक्षणता खलु कीदृशी ? परिकल्पितत्वं तु उभयोः समम् ॥ (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ–शङ्का होती है कि यदि समस्त जागरित पदार्थ कल्पित हैं, तब कहिए–स्वप्न से इस (जाग्रत्) की आपके मत में विलक्षणता क्या ? परिकल्पितत्व तो दोनों में समान ही है ॥

भावितार्थ—लोक में जाग्रत्-प्रपञ्च सत्य तथा स्वाप्न-प्रपञ्च कल्पित समझा जाता है। यदि जाग्रत् प्रपञ्च भी परिकल्पित ही है, तब तो दोनों में विशेषता क्या ? यदि दोनों में कोई वैलक्षण्य नहीं, तब 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' (ब्र० सू० २।२।२९) इस सूत्र तथा अनुभव का विरोध उपस्थित होता है ॥ ३२ ॥

[स्वप्नजागरयोः साम्यपरिहारः]

उक्त आशङ्का का परिहार करते हैं—

न प्रमातरि सति प्रबाध्यते
जागरः स्वप्नदृष्टवस्तुवत् ।
मातृमानविषयोपलब्धिभिः
साकमेव तमसो निराकृतेः ॥ ३३ ॥

योजना—स्वप्नदृष्टवस्तुवत् जागरः प्रमातरि सति न प्रबाध्यते। मातृमानविषयोपलब्धिभिः साकमेव तमसो निराकृतेः ॥ (रथोद्धताच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—स्वप्न-दृष्ट पदार्थों के समान जाग्रत्प्रपञ्च प्रमाता के रहते-रहते बाधित नहीं होता। (ब्रह्मज्ञान से) प्रमाता, मान, विषयक और प्रतीति—इनके साथ ही अज्ञान का नाश माना जाता है ॥

भावितार्थ–जाग्रत् और स्वप्न में प्रत्यभिज्ञा के बल से प्रमाता एक ही सिद्ध होता है। स्वाप्न प्रपञ्च का बाध प्रमाता के रहते हुए ही होता है। किन्तु जाग्रत्प्रपञ्च का बाध प्रमाता के रहते-रहते नहीं होता, क्योंकि महावाक्य-जन्य ब्रह्माकार ज्ञान का उदय होने पर ही अज्ञान तथा अज्ञान-कार्य (प्रमाता आदि) का नाश माना जाता है ॥ ३३ ॥

जाग्रत्प्रपञ्च को सर्वथा अबाध्य क्यों न मान लिया जाय ? इस सन्देह को दूर करते हैं—

देशकालपुरुषैरवस्थया
जागरस्य खलु कारणं तमः ।
साकमेव सहसा निरस्यते
वेदवाक्यजनितात्मसंविदा ॥ ३४ ॥

योजना—देशकालपुरुषैः अवस्थया साकमेव जागरस्य कारणं तमः खलु वेदवाक्यजनितात्मसंविदा सहसा निरस्यते ॥ (रथोद्धताच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—देश, काल, प्रमाता तथा जागरादि अवस्थाओं के साथ ही जाग्रदवस्था के कारण अज्ञान के वेदान्त-वाक्य-जन्य आत्मज्ञान से सहसा नाश होता है ॥

भावितार्थ--जाग्रत् का कारणीभूत अज्ञान देश, काल, प्रमाता तथा अवस्थाओं के साथ ही जाग्रत्प्रमाण को उत्पन्न करता है, उस अज्ञान से पूर्व देशादि की सत्ता नहीं। वह अज्ञान अपने देशादि जाग्रत्प्रपञ्च के साथ ब्रह्म-विद्या से नष्ट होता है। इसलिए देशादि का आरोप्य कोटि में अन्तर्भाव उचित ही है, मिथ्या रजत और स्वाप्न प्रपञ्च का हेतुभूत अज्ञान देशादि के सत्ता-काल में मिथ्या रजतादि की कल्पना करता है, अतः उनका बाध व्यवहार-काल में ही होना युक्त है ।। ३४ ।।

देशादि के रहते ही स्वप्न का आरोप होता है और जाग्रत्प्रपञ्च देशादि के साथ ही उत्पन्न होता है—इसमें प्रमाण दिखाते हैं—

स्वप्नदृष्टमिह रज्जुसर्पवत्
देशकालपुरुषेषु बाध्यते ।
जागरः पुनरयं तथाविधं
बाधकं न लभतेऽसमीक्षणात् ॥ ३५ ॥

योजना—इह स्वप्नदृष्टं रज्जुसर्पवत् देशकालपुरुषेषु (सत्सु) बाध्यते। अयं पुनः जागरः तथाविधं बाधकं न लभते, असमीक्षणात्।। (रथोद्धताच्छन्दः)

योजितार्थ—स्वप्न-प्रपञ्च रज्जु-सर्प के समान देश, काल, प्रमाता के रहते ही बाधित होता है। किन्तु इस जाग्रत्प्रपञ्च का वैसा बाधक नहीं, क्योंकि अनुभव में नहीं आता।।

भावितार्थ--स्वप्न-दृष्ट पदार्थ देशादि के रहते ही बाधित होता है, इसलिए वह देशादि के रहने पर ही रज्जु-सर्प के समान कल्पित है। किन्तु जाग्रत्प्रपञ्च का वैसा बाध अनुभव में नहीं आता, अतः वह देशादि के साथ ही अज्ञान से कल्पित है—यह जानना अत्यन्त सुगम है ।। ३५ ।।

इसलिए (जाग्रत् तथा स्वप्न) दोनों के मिथ्या होने पर भी उक्त विशेषता के कारण जागरित सत्य और स्वाप्न मिथ्या कहा जाता है—

तेन सत्यमिह जागरं विदुः
स्वप्नविभ्रमविरुद्धधर्मकम् ।
आपरात्मपरमार्थदर्शनात्
तेन बाधितवपुर्न सत्क्वचित् ॥ ३६ ॥

योजना—तेन इह स्वप्नविभ्रमविरुद्धधर्मकं जागरम् आपरात्मपरमार्थदर्शनात् सत्यं विदुः, तेन बाधितवपुः क्वचित् सत् न ।: (रथोद्धताच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—इसलिए स्वप्न-विभ्रम से जागरितप्रपञ्च ब्रह्म-साक्षात्कार-पर्यन्त सत्य ही समझा जाता है। उस (ब्रह्मज्ञान) से बाधित होकर वह कहीं भी सत् नहीं, रहता ।। ३६ ।।

स्वाप्न प्रपञ्च बाधित होकर फिर भी देखा जाता है, किन्तु जाग्रत्प्रपञ्च बाधित होकर फिर क्यों नहीं देखा जाता ? इस सन्देह को दूर करते हैं—

तत्र सत्यमनृतं च भेदतः
प्रत्यगात्मतमसा विकल्पितम् ।
प्रक्षिणोति परमात्मवस्तुगा
बुद्धिवृत्तिरविचालिनी शती ॥ ३७ ॥

योजना –तत्र प्रत्यगात्मतमसा सत्यम् अनन्तं च भेदतः विकल्पितम् तत् परमात्मवस्तुगा बुद्धिवृत्तिः अविचालिनी सती प्रक्षिणोति ।। (रथोद्धताच्छन्द ।।

योजितार्थ सच्चिद्रूप अधिष्ठान में चिन्मात्रगत अज्ञान से सत्य (जागरित) तथा मिथ्या (स्वप्नादि) विभाग से कल्पित है। उसका परमात्मवस्तुविषयणी बुद्धि-वृत्ति दृढ़ होकर नाश कर देती है ।।

भावितार्थ—व्यवहार-दशा में बाध्यमान स्वप्नादि प्रपञ्च के साथ मूलाज्ञान नष्ट नहीं होता, क्योंकि निद्रा के द्वारा ही अज्ञान स्वप्न-सृष्टि का हेतु होता है, स्वरूपतः नहीं, अज्ञान का बाध न होने से बाधित स्वप्न का (बार-बार) होना सम्भव है। किन्तु जाग्रत्प्रपञ्च का नाश मूलाज्ञान के साथ ही होता है, अतः हेतु के न रहने से कार्य कैसे होगा ? ।। ३७ ।।

उक्त बुद्धि-वृत्ति अज्ञान का कार्य है, अज्ञान की विरोधिनी नहीं, फिर उससे सप्रपञ्च अज्ञान की निवृत्ति कैसे होगी ? इस आशङ्का का उत्तर है—

नित्यबोधपरिपीडितं जगत्
विभ्रमं नुदति वाक्यजा मतिः ।
वासुदेवनिहतं धनंजयो
हन्ति कौरवकुलं यथा पुनः ॥ ३८ ॥

योजना—यथा वासुदेवनिहतं कौरवकुलं धनञ्जयः पुनः हन्ति, (तथा) नित्यबोधपरिपीडितं जगद्विभ्रमं वाक्यजा मतिः नुदति ।। (रथोद्धता) ।।

योजितार्थ—जैसे कृष्ण-निहत कौरव कुल को अर्जुन ने पुनः मारा था, वैसे ही नित्य बोध से बाधित जगद्भ्रम को वेदान्त-वाक्य-जन्य बुद्धि-वृत्ति निवृत्त कर देती है ।।

भावितार्थ –अधिष्ठानरूप नित्य बोध ने आरम्भ से ही इस जगत् को निस्तत्त्व बना रखा है, उस निस्तत्त्व जगत् को वाक्य-जन्य ब्रह्माकार वृत्ति नष्ट कर दिया करती है। जैसे कालरूप भगवान् कृष्ण ने कौरववंश का पहले ही विनाश कर दिया था। उनके सङ्कल्प से लोगों को वैसा ही प्रतीत होता रहा। उसी वंश के अर्जुन ने कृष्ण का बल पाकर उस वंश को समाप्त किया। वैसे ही अज्ञानजातीय वृत्ति नित्य चेतन से प्रज्वलित होकर उस निस्तत्त्व जगत् को भस्मसात् कर डालती है। कार्य भी अपने अनादि कारण का नाशक होता है, जैसे कि प्रागभाव से जन्य घटादि प्रागभाव के नाशक होते हैं ।। ३८

[परमते सत्यासत्यविभागासिद्धिः]

लोक-प्रसिद्ध सत्य-असत्य विभाग का सामञ्जस्य वेदान्तमत में जैस किया गया, वैसा और मतों में सम्भव नहीं—

सत्यमेवमनृतं च दुर्लभं
ब्रह्मव दिसमयाद् बहिः पुन ।
सत्यतो यदि मृषा पृथग् भवेत्
सत्यमेव तदपि प्रसज्यते ॥ ३९ ॥

योजना—ब्रह्मवादिसमयात् बहिः पुनः सत्यम् एवम् अनृतं च दुर्लभम्, यदि सत्यतः पृथक् मृषा भवेत्, तदपि सत्यं प्रसज्यते ।। (रथोद्धताच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—ब्रह्मवादिमत से भिन्न (मतों में) सत्य एवं मिथ्या (की व्यवस्था) दुर्लभ है, क्योंकि यदि सत्य से भिन्न असत्य कहा जाय, तब वह भी सत्य ही हो जायगा ।।

भावितार्थ—जो लोग प्रपञ्च को सत्य मानते हैं, उनसे पूछा जा सकता है कि मिथ्या वस्तु सत्य से भिन्न है ? या अभिन्न ? अथवा भिन्न-भिन्न ? प्रथम पक्ष में मिथ्या को भी सत्य ही मानना होगा, क्योंकि सत्यप्रतियोगिक भेद का आश्रय तुच्छ नहीं हो सकता । अर्थात् भेद के प्रत्यक्ष में अनुयोगी का योग्य होना अनिवार्य है । अतः सत्य-भेद के आश्रय मिथ्या को भी सत्य मानना होगा, नहीं तो वह सत्य-भेद का आश्रय न बन सकेगा ।। ३९ ।।

द्वितीय (अभेद) तथा तृतीय (भेदाभेदोभयस्वरूप) पक्ष में दोष दिखाते हैं—

सत्यतो यदि मृषा न भिद्यते
सत्यमेव सुतरां तदिष्यताम् ।
न द्वयात्मकतयाऽनृतं मतं
पक्षयोः कथितदूषणद्वयात् ।। ४० ।।

योजना—मृषा यदि सत्यतो न भिद्यते, तत् सुतरां सत्यमेव इष्यताम् । द्वयात्मकतया अनृतं न मतम्, पक्षयोः कथितदूषणद्वयात् ।। (रथोद्धता) ।।

योजितार्थ—मिथ्या यदि सत्य से भिन्न नहीं, तब उसे निश्चित रूप से सत्य मानना होगा । उभय (भिन्न और अभिन्न) स्वरूप भी मिथ्या नहीं कहा जा तकता, क्योंकि उभयपक्ष-कथित दोनों दोष प्राप्त होंगे ।।

भावितार्थ—मिथ्या को सत्य से भिन्न तथा अभिन्न उभयरूप भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि भेद-पक्ष तथा अभेद-पक्ष में कथित सत्यत्वापत्ति दोष होता ही है । उभयरूप मानना विरुद्ध भी है—जो सत्य से भिन्न है, वह अभिन्न नहीं हो सकता एवं जो अभिन्न है, वह भिन्न नहीं हो सकता ।। ४० ।।

परमत में केवल लोक-व्यवहार ही असिद्ध नहीं, अपितु वैदिक मत का समर्थन तथा अवैदिक मत का निराकरण भी नहीं किया जा सकता—

वेदवाक्यविषयस्य सत्यता
बुद्धवाक्यविषयो मृषा भवेत् ।
इत्यतः कथयितुं न शक्नुयात्
ब्रह्मवादिसमयाद् बहिर्मुखः ।। ४१ ।।

योजना-ब्रह्मवादिसमयात् [1]बहिर्मुखः वेदवाक्यविषयस्य सत्यता, बुद्धवाक्यविषयो मृषा भवेत्—इत्यतः कथयितुं न शक्नुयात् ।। (रथोद्धता) ।।

योजितार्थ—ब्रह्मवादि·सिद्धान्त से बहिर्मुख व्यक्ति वेद-वाक्य-विषय सत्य है और बुद्ध-वाक्य-विषय मिथ्या है—यह कह नहीं सकता ।।

भावितार्थ—ब्रह्मवादी से भिन्न व्यक्ति "अग्निहोत्रं जुह्यात् स्वर्गकामः" आदि

---

[1] अद्वयब्रह्मणोऽन्यत्र मुखमभिनिवेशो यस्य सः प्रपंचसत्यत्ववादीत्यर्थः ।

वैदिक वाक्यों को सत्य तथा 'सब्बे सङ्खारा अनिच्चा' आदि बुद्ध-वाक्यों को असत्य नहीं कह सकता, क्योंकि उसके मत में सत्य-मिथ्या की परिभाषा ही घटित नहीं होती, जैसा कि ऊपर कहा गया है ॥ ४१ ॥

ब्रह्मवाद में सत्यासत्य की व्यवस्था सम्यक् हो जाती है—

सत्यमेवमनृतं च भेदतः
कल्पितं भवतु वर्णितान्नयात् ।
तत्र तद् घटयितुं हि शक्यते
नेतरत्र कथितोपपत्तिभिः ॥ ४२ ॥

योजना— वर्णितात् नयात् सत्यम् अनृतं च भेदतः कल्पितं भवतु । तत्र हि तद् घटयितुं शक्यते, इतरत्र न, कथितोपपत्तिभिः ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—कथित प्रकार से सत्य एवं असत्य की पृथक्शः कल्पना हो जाती है । वहाँ (अनिर्वचनीयवाद में) ही वह (सत्यासत्य) घटाया जा सकता है, दूसरे मत में नहीं, क्योंकि भेदाभेद-पक्ष में सत्यतापत्ति दोष दिखाया जा चुका है ॥ ४२ ॥

अतः प्रत्यक्षादि प्रमाण व्यावहारिकमात्र हैं—

व्यावहारिकमतोऽवगम्यतां
मानजातमखिलं न तात्त्विकम् ।
बाह्यवस्तुविषयं विरोधतोऽ-
बुद्धबोधविधिशक्त्यसंभवात् ॥ ४३ ॥

योजना—अतः बाह्यवस्तुविषयम् अखिलं मानजातं व्यावहारिकम् अवगम्यताम्, विरोधतः अबुद्धबोधविधिशक्त्यसम्भवात् ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—अतः बाह्यवस्तुविषयक निखिल प्रत्यक्षादि प्रमाणों को व्यावहारिकमात्र समझना चाहिए, क्योंकि 'पराञ्चि खानि' आदि वाक्यों का विरोध होने के कारण (उनमें) अज्ञात तत्त्व-बोधन की शक्ति सम्भव नहीं ॥ ४३ ॥

इसलिए प्रत्यक्षादि से वेदान्त का बाध नहीं हो सकता—

एवं न तत्त्वविनिवेदनशक्तियोगः
संभाव्यतेऽनधिगताधिगतेरयोगात् ।
मानान्तरस्य सकलस्य ततश्च तेन
बाधस्त्रयीशिरसि वर्णयितुं न शक्यः ॥ ४४ ॥

योजना— एवं सकलस्य मानान्तरस्य अनधिगताधिगतेरयोगात् तत्त्वनिवेदनशक्तियोगो न । ततश्च तेन त्रयीशिरसि बाधो वर्णयितुं न शक्यः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इस प्रकार समस्त वेदान्त-भिन्न प्रमाणों में अज्ञात-ज्ञापकता न होने के कारण तत्त्व-बोधन का सामर्थ्य नहीं । इसलिए उन प्रमाणों से वेदान्त-वाक्यों का बाध उपस्थित नहीं किया जा सकता ॥

भावितार्थ—'तत्त्वपक्षपातो हि धियां स्वभावः'—इस उक्ति के अनुसार 'इयं शुक्तिः'—यह ज्ञान तात्त्विक होने से बाधक और 'इदं रजतम्'—यह ज्ञान अतात्त्विक होने से बाधित है। वैसे ही प्रकृत में वेदान्तवाक्य-जन्य अभेद-बोध तात्त्विक है और प्रत्यक्षादि-जन्य भेदबोध अतात्त्विक, अतात्त्विक से तात्त्विक का बाध कभी भी नहीं हो सकता।४४।

[अनात्मप्रत्यक्षस्य न तात्त्विकत्वम्]

प्रत्यक्षमात्र को अप्रमाण मानने पर सूत्रकार ने जो 'भावे चोपलब्धेः' (ब्र० सू० २।१।१६) इस विरोध के परिहार में सविकल्पकमात्र को आभास कहा है, निर्विकल्पक को नहीं, उसका विरोध होता है—इस आक्षेप का समाधान करते हैं—

आरम्भणादिवचसा खलु निर्विकल्प-
प्रत्यक्षबुद्धिमनुसृत्य विकल्पबुद्धेः।
आभासतां मुनिरुवाच तदास्य भावो
विज्ञायते स्फुटतरो गुडजिह्विकायाम् ॥ ४५ ॥

योजना—निर्विकल्पप्रत्यक्षबुद्धिम् अनुसृत्य विकल्पबुद्धेः आभासतां (यदा) मुनिः आरम्भणादिवचसा उवाच, तदा अस्य स्फुटतरः भावः गुडजिह्विकायां विज्ञायते ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—निर्विकल्प-प्रत्यक्ष को प्रमाण मानकर सविकल्प-प्रत्यक्ष को आभास (मिथ्या) जो मुनिवर ने 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' (छां० ६।१।४) इस वचन के वल पर कहा है, वहाँ मुनिवर का स्पष्ट आशय गुडजिह्विका-न्याय में प्रतीत होता है ॥

भावितार्थ—'तदनन्यत्वम् आरम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१०) इस सूत्र से बादरायण मुनि ने घटादि-विकल्प-विषयक 'अयं घटः' आदि प्रत्यक्ष को प्रमाणाभास बताते हुए मृदादिकारणविषयक 'इयं मृत्' आदि निर्विकल्प प्रत्यक्ष को प्रमाण माना है। इसी के आधार पर कार्य-कारण का अभेद सिद्ध किया गया है। वहाँ मुनिवर का यह आशय कदापि नहीं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को तात्त्विक मान रहे हैं, अपितु प्रत्यक्षादि के प्राङ्गण में रमे अबोध पुरुष को क्रमशः उससे हटाने के लिए प्रलोभनमात्र दिया है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष को मिथ्या समझ लो, इससे निर्विकल्प प्रत्यक्ष का प्रामाण्य सुस्थिर होगा। माता रुग्ण बालक को कटु औषध पिलाने के लिए प्रलोभन देती है 'यह औषध पी लो, तुरन्त जिह्वा पर गुड़ रख दूँगी।' बालक औषध पीकर गुड़ माँगता है। माता टाल-मटोल कर जाती है, क्योंकि डाक्टर ने गुड़ देना मना कर दिया था। इसी प्रकार एक साथ प्रत्यक्षादि का निराकरण कर देने पर यह जिज्ञासु व्याकुल न हो जाय, इसलिए दयालु मुनिवर ने सविकल्प प्रत्यक्ष से पीछा छोड़ाने के लिए निर्विकल्पक को थोड़ी देर के लिए पकड़ रखा है। उस अवस्था के दृढ़ हो जाने पर वहाँ से आगे बढ़ाया जायगा और पूरे प्र[illegible]ा को अतात्त्विक कह दिया जायगा ॥ ४५ ॥

आचार्य जैमिनि का भी यही आशय है—

सत्संप्रयोग इति जैमिनिरप्युवाच
यल्लक्षणं तदुभयोः सममेव विद्यात्।
आपाततस्तदथ युक्तिनिपीडितं सत्
सन्मात्रसंविदि निषीदति निर्विशङ्कम् ॥ ४६ ॥

योजना—सत्संप्रयोग इति जैमिनिः यत् लक्षणम् उवाच, तत् आपाततः उभयोः सममेव विद्यात्। अथ युक्तिनिपीडितं सत् निर्विशङ्कं सन्मात्रसंविदि निषीदति ॥ (व. छ.)॥

योजितार्थ–'सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्' (जै० सू० १।१।३) इस सूत्र में जैमिनि ने जो लक्षण किया है, वह आपात दृष्टि से दोनों (सविकल्पक और निर्विकल्पक) में समान प्रतीत होता है। किन्तु युक्तियों की कसौटी पर चढ़कर निःशङ्क रूप से सन्मात्रविषयक (निर्विकल्प) ज्ञान में पर्यवसित होता है ॥

भावितार्थ—'सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्'–इस सूत्र का अर्थ यह है—इन्द्रियों का (पदार्थ से) सम्प्रयोग (सम्बन्ध) होने पर पुरुष में जो बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। यहाँ 'सत्संप्रयोग' शब्द का 'सति सम्प्रयोगे'—ऐसा अर्थ करने पर दोनों (सविकल्पक और निर्विकल्पक) प्रत्यक्षों में घट जाता है; क्योंकि दोनों ही विषय के साथ सम्बन्ध होने पर ही उत्पन्न होते हैं, अन्यथा नहीं। किन्तु 'सता सम्प्रयोगः सत्संप्रयोगः, तस्मिन्' ऐसा अर्थ करने पर 'सत् विषय के साथ सम्बन्ध होने पर जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है' यह लक्षण निष्पन्न होता है। महर्षि बादरायण की युक्तियों से घटादि विकल्पमात्र असत् ठहराये जा चुके हैं। सत् वस्तु एकमात्र तत्त्व है, तद्विषयक ज्ञान निर्विकल्पक ही है, अतः आचार्य जैमिनि का भी निर्विकल्प प्रत्यक्ष की प्रमाणता में ही तात्पर्य सिद्ध होता है ॥ ४६ ॥

जैमिनि के ही सूत्रान्तर की पर्यालोचना से भी यही स्थिर होता है—

तत्रापि दुर्घटमवैति यदा तु तत्त्व-
बोधं विवक्षति विसृज्य विकल्पजालम् ।
किं कारणं वदति येन स तत्त्वगामि
विज्ञानमर्थमवबोधयदप्रबुद्धम् ॥ ४७ ॥

योजना—यदा तत्रापि दुर्घटम् अवैति (तदा) विकल्पजालं विसृज्य तत्त्वबोधं विवक्षति। किं कारणम् ? येन स अप्रबुद्धम् अर्थम् अवबोधयत् विज्ञानं तत्त्वगामि वदति ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—जब कि प्रत्यक्षमात्र में इस लक्षण को दुर्घट देखता हैं, तब सकल अनात्म-प्रत्यक्ष-जाल को छोड़कर अज्ञात ब्रह्म विषयक बोध को ही तात्त्विक प्रत्यक्ष कहता है। यह ज्ञान कैसे हुआ ? स्वयं जैमिनि ने कहा है—'अज्ञात विषय का बोधक ज्ञान भी तत्त्वावेदक होता है।'

भावितार्थ—आचार्य जैमिनि ने जब देखा कि 'सत्संप्रयोगे' आदि से कथित लक्षण प्रत्यक्षमात्र में जाता है, केवल तत्त्व-बोध में नहीं, तब 'अज्ञातार्थ-बोधक ज्ञान प्रमाण है'—ऐसा लक्षण औत्पत्तिक सूत्र में किया। इससे प्रतीत होता है आचार्य जैमिनि ने जो प्रत्यक्ष का लक्षण किया है, वह तात्त्विक (निर्विकल्पक) प्रत्यक्ष मात्र का ही करना चाहते थे।४७।

अज्ञातार्थ-बोधक को प्रमाण जैमिनि ने कहाँ कहा है ? इसका उत्तर देते हैं—

औत्पत्तिके हि भगवानयमप्रबुद्धम्
अर्थं प्रमाणविषयं कथयाम्बभूव ।
अत्राऽऽह तत्र ननु धर्मगतं प्रमाणं
तत्त्वार्थगामि कथितं न परात्मगामि ॥ ४८ ॥

योजना–भगवान् औत्पत्तिके हि अप्रबुद्धम्, अर्थं प्रमाणविषयं कथयाम्बभूव। अत्राह–ननु तत्र धर्मगतं तत्त्वार्थगामि प्रमाणं, परात्मगामि न ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—भगवान् जैमिनि ने 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्'(जै० सू० १।१।५)इस सूत्र में अनुपलब्ध अर्थ को प्रमाण का विषय कहा है। वहाँ मीमांसक शङ्का करता है कि औत्पत्तिक सूत्र में धर्मविषयक ही तात्त्विक प्रमाण कहा है, परमात्मविषयक नहीं।।४८।।

उक्त आशंका का परिहार करते हैं—

सत्यं यदाह पितृमान् व्यवहारदृष्टिम्
आश्रित्य तत्कथितवान्प्रकृतोपयोगात् ।
दूरप्रसारितनिसृष्टनिगूढभावः
तद्बादरायणमतानयनात्प्रतीम ॥ ४९ ॥

योजना–सत्यम् यदाह पितृमान्, तत् व्यवहारदृष्टिम् आश्रित्य कथितवान्, प्रकृतोपयोगात्। [1]दूरप्रसारितनिसृष्टनिगूढभावः तत् बादरायणमत्तानयनात् प्रतीमः। (व.ति.छ.)

योजितार्थ— जो पितृमान् ने कहा वह सत्य है, व्यावहारिक दृष्टि से ही वह कहा है, क्योंकि वही प्रकृतोपयोगी है। (किन्तु महर्षि जैमिनि का) दूर उत्तरमीमांसा के निर्णय में नैसर्गिक हृदय था—यह धर्मनिरूपणावसर में वह छिपा गये थे। उक्त सूत्र में बादरायण का खुले शब्दों में उल्लेख देख कर हम यही समझते हैं ॥

भावितार्थ—महर्षि जैमिनि धर्म-निरूपण के अवसर पर यह कैसे कह सकते थे कि धर्मादिविषयक ज्ञान प्रमाण नहीं, ब्रह्मविषयक ज्ञान ही प्रमाण है। उनके हृदय में 'ब्रह्मविषयक ज्ञान ही प्रमाण है'–यह सिद्धान्त अवश्य बैठा था, क्योंकि अननुकूल वातावरण में रह कर भी उन्होंने बादरायण की सम्मत्ति दिखाते हुए अनुपलब्ध अर्थ ही प्रमाण का विषय होता है—यह कह दिया ॥ ४६ ॥

'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' आदि वेदान्तवाक्यों को देखकर यदि किसी को सन्देह हो कि वेदान्त में भी विधिवाक्यों के सद्भाव से विधिवाक्यों को भी तत्त्वावेदक क्यों न मान लिया जाय? उसके सन्देह को दूर किया जाता है—

द्रष्टव्य इत्यपि विधिर्न विधिप्रमेयम्
आत्मानमेव विनियच्छति तत्कुतश्चेत् ।
अज्ञातता च परमात्मन एव यस्मात्
यस्माच्च कर्तृवशवर्ति न दर्शनं तत् ॥ ५० ॥

योजना–'द्रष्टव्यः'—इत्यपि विधिः न। आत्मानमेव [2]विधिप्रमेयम् विनियच्छति। चेत् तत् कुतः? यस्मात् परमात्मन एव अज्ञातता, यस्मात् च तत् दर्शनं कर्तृवशवर्ति न ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

---

[1] दूरे शारीरके प्रसारितः प्रवर्तितो निसृष्टो नैसर्गिको निगूढः तत्काले धर्मविचारविरोधात् न व्यक्तीकृतः श्रुतेः ब्रह्मण्येव तत्त्वावेदकत्वमिति भावो यस्य सः।

[2] विधीयते ज्ञाप्यतेऽज्ञातोऽर्थोऽनेनेति विधिः प्रमाणम् तस्य प्रमेयम्।

योजितार्थ—'द्रष्टव्यः'—यह वाक्य भी विधि नहीं, अपितु आत्मा को ही विधि (प्रमाण) का विषय नियत करता है। यदि कोई कारण की जिज्ञासा करे कि ऐसा क्यों ? तो कारण यह है कि परमात्मतत्त्व ही अज्ञात होता है और उसका दर्शन पुरुष के अधीन नहीं होता ॥

भावितार्थ—'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः'—आदि वाक्यों में प्रमाण के विषय का नियम किया गया है कि प्रमाण का विषय एक मात्र आत्मा होता है, क्योंकि वही अज्ञात होता है और अज्ञात वस्तु ही प्रमाण का विषय होता है। उक्त वाक्यों में आत्मदर्शनादि का विधान सम्भव नहीं, क्योंकि आत्मदर्शन कृति-साध्य पदार्थ नहीं—यह कई बार कहा जा चुका है ॥ ५० ॥

उक्त वाक्य में 'तव्य' प्रत्यय विध्यर्थक नहीं—

अर्हे कृत्यतृचश्च पाणिनिवचः स्पष्टं विधत्ते यतः
तस्माद्दर्शनयोग्यतां वदति नस्तव्यो न तत्त्वान्तरम् ।
तस्मादात्मपदार्थमात्रनियतं मेयत्वमेकान्ततो
द्रष्टव्यादिवचो वदत्यनुभवादज्ञात आत्मा यतः ॥ ५१ ॥

योजना—यतः 'अर्हे कृत्यतृचश्च'- इति पाणिनिवचः स्पष्टं विधत्ते, तस्मात् नः तव्यः तद्दर्शनयोग्यतां वदति, तत्त्वान्तरं न। तस्मात् द्रष्टव्यादिवचः एकान्ततः आत्मपदार्थमात्रनियतं मेयत्वं वदति, यतः अनुभवात् आत्मा अज्ञातः ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—"अर्हे कृत्यतृचश्च" (पा० सू० ३।३।१६९) इस पाणिनि सूत्र ने स्पष्ट अर्हार्थ (योग्यतार्थ) में 'तव्य' प्रत्यय का विधान किया है, अतः हमारे मत में तव्य प्रत्यय आत्मगत दर्शन-योग्यता को कहता है, तत्त्वान्तर को नहीं। इसलिए 'द्रष्टव्यः'-यह वाक्य नियमतः आत्मपदार्थमात्र में प्रमेयत्व कहता है, क्योंकि अनुभव के आधार पर एक आत्मा ही अज्ञात निश्चित होता है।

भावितार्थ—'तव्य'-प्रत्यय की कृत्य संज्ञा है और कृत्यसंज्ञक प्रत्यय का विधान (योग्यता) अर्थ में 'अर्हे कृत्यतृचश्च'--इस सूत्र से पाणिनि ने किया है, अतः यहाँ 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' का अर्थ होता है-'आत्मा दर्शन-योग्य है'। आत्मा में ही दर्शन की योग्यता है, क्योंकि वह अज्ञात है तथा परम पुरुषार्थ भी है। अतः आत्म-बोधक वाक्य ही तात्त्विक प्रमाण है ॥ ५१ ॥

महर्षि जैमिनि ने "अयं धर्मः" आदि लौकिक प्रत्यक्ष का धर्म में प्रामाण्य-निराकरण करने के लिए प्रत्यक्ष का लक्षण किया है, अतः वह लक्षण लौकिकार्थविषयक प्रत्यक्ष में भी घटना चाहिए, नहीं तो उसका धर्म में अप्रामाण्य सिद्ध नहीं होगा। इस आक्षेप का परिहार करते हैं—

रूपादिविभ्रममपेक्ष्य हि शुक्तिकादौ
सत्संप्रयोगजनितैव तु बुद्धिवृत्तिः ।
तामप्यपेक्ष्य सति संहृतसर्वभेदे
सत्संप्रयोगजनिता मतिरभ्युपेया ॥ ५२ ॥

योजना—रूपादिविभ्रमम् अपेक्ष्य हि शुक्तिकादौ बुद्धिवृत्तिः तु सत्संप्रयोगजनितैव । ताम् अपि अपेक्ष्य संहृतसर्वभेदं मतिः सत्संप्रयोगजनिता अभ्युपेया ।। (व० छ०) ।।

योजितार्थ—भ्रमविषय शुक्ति-रजतादि की अपेक्षा शुक्तिकादि पर जो बुद्धि-वृत्ति उत्पन्न होती है, वह सत्संप्रयोगजनित ही है। उस शुक्तिका की अपेक्षा भी समस्तभेद-रहित निर्विकल्प सत् तत्त्व की वृत्ति सत्संप्रयोगजनित माननी चाहिए ।।

भावितार्थ—प्रातिभासिक पदार्थों की अपेक्षा व्यावहारिक पदार्थों को सत् कह दिया जाता है । अतः व्यावहारिक प्रत्यक्ष भी सत्सम्प्रयोग-जनित हो जाता है । व्यावहारिक की अपेक्षा भी पारमार्थिक परमात्मतत्त्व सत् है, अतः उसका ज्ञान ही तात्त्विक [1]सत्संप्रयोगजनित होता है ।। ५२ ।।

व्यावहारिक पदार्थों में आपेक्षिक सत्यता के समान ही परमात्मा में भी आपेक्षिक सत्त्व क्यों नहीं ? यह दिखाते हैं—

वेदान्तवाक्यजनितां परमात्मबुद्धि-
वृत्तिं व्यपेक्ष्य पुनरत्र न काचिदस्ति ।
सत्संप्रयोगजनिता भुवनत्रयेऽपि
बुद्धिस्तमोविरचितं हि जगत्समस्तम् ।। ५३ ।।

योजना—वेदान्तवाक्यजनितां परमात्मबुद्धिवृत्तिं व्यपेक्ष्य पुनः अत्र भुवनत्रयेऽपि सत्संप्रयोगजनिता बुद्धिर्नास्ति, हि समस्तं जगत् तमोविरचितम् ।। (व० छ०) ।।

योजितार्थ—वेदान्त-वाक्य-जन्य परमात्म-बुद्धि की अपेक्षा तो इस त्रिलोकी में भी और कोई सत्संप्रयोग-जनित बुद्धि नहीं, क्योंकि समस्त जगत् अज्ञान-रचित मिथ्यामात्र है।

भावितार्थ—ब्रह्म में आपेक्षिक सत्यता नहीं, अपितु सर्वतः निरपेक्ष सत्यता है अतः ब्रह्मनिष्ठ बुद्धिवृत्ति से बढ़कर और कोई सत्संप्रयोग-जनित बुद्धि नहीं कही जा सकती; क्योंकि ब्रह्म-भिन्न समस्त प्रपञ्च अविद्या-निर्मित असन्मात्र है ।। ५३ ।।

धर्म में भी चोदना-प्रामाण्य व्यावहारिक ही है—

धर्मेऽपि तत्त्वमतिरेव तु चोदनायाः
सत्त्वादिवस्तुनि यथाऽक्षनिबन्धना धीः ।
अज्ञाततापि सदृशी व्यवहारकाले
तत्त्वावबोधसमये न तु तत्त्वबुद्धिः ।। ५४ ।।

योजना—व्यवहारकाले चोदनायाः धर्मेऽपि मतिः तत्त्वमतिरेव, यथा सत्त्वादिवस्तुनि अक्षनिबन्धना धीः । अज्ञाततापि सदृशी तत्त्वावबोधसमये तत्त्वबुद्धिः न ।। (व० छ०) ।।

योजितार्थ—व्यवहार काल में विधिवाक्य से जन्य धर्म-विषयक बुद्धि वैसे ही तात्त्विक मानी जाती है, जैसे सत्त्वादि-विषयक इन्द्रिय-जन्य बुद्धि। धर्मादिगत अज्ञातता भी वैसी ही होती है । किन्तु तत्त्वावबोध (पारमार्थिक दृष्टि) के समय चोदना-जन्य या इन्द्रिय-जन्य कोई भी बुद्धि तात्त्विक नहीं मानी जाती ।।

---

[1] आत्ममतेः सत्सम्प्रयोगजन्यत्वं पररीत्या, आध्यासिकतादात्म्यमादाय वा ।

भावितार्थ–धर्मादि व्यावहारिक पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता और उनके प्रमाणों में व्यावहारिक प्रामाण्य माना जाता है। अर्थात् व्यवहारकाल में पदार्थ तथा उनके ज्ञान तात्त्विक ही हैं, किन्तु तत्त्व-बोध के समय उक्त पदार्थ और उनके ज्ञान सभी मिथ्या होते हैं ॥ ५४ ॥

"सच्च त्यच्चाभवत्" (तै० २।६।१) आदि श्रुतियों में प्रपञ्च को ब्रह्म का परिणाम माना है। परिणाम अपनी प्रकृति ब्रह्म के समान तात्त्विक है, अतः तात्त्विकार्थ-विषयक प्रत्यक्षादि को अतात्त्विक कैसे कहा जा सकता है? इस सन्देह का निवारण करते हैं –

आरम्भणादिवचनं सकलं प्रवृत्तं
प्रत्यक्षबुद्धिविषयादपहर्तुमुच्चैः ।
तत्त्वं यथोदितनयेन विवर्त्तवादम्
आश्रित्य सत्यपरिणामनिवारणेन ॥ ५५ ॥

योजना—सकलं आरम्भणादिवचनं सत्यपरिणामनिवारणेन विवर्त्तवादम् आश्रित्य प्रत्यक्षादि बुद्धिविषयात् यथोदितनयेन तत्त्वम् उच्चैः अपहर्तुं प्रवृत्तम् ॥

योजितार्थ–निखिल आरम्भणादि वचन सत्य परिणाम का निवारण कर विवर्तवाद को अपनाकर प्रत्यक्षादि बुद्धियों के विषय से तत्त्व को कथित न्यायतः हटाने के लिए प्रवृत्त हुए हैं ॥

भावितार्थ—"वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० ६।१।४) आदि वाक्य घटादि विकार को नाममात्र का बताकर एकमात्र कारण की सत्यता प्रमाणित कर रहे हैं। इससे परिणामवाद का निराकरण और विवर्तवाद का स्पष्ट समर्थन होता है। विवर्तवाद में कार्यवर्ग आरोपितमात्र होता है। वही प्रत्यक्षादि का विषय है। प्रत्यक्षादि का विषय कभी भी तात्त्विक नहीं हो सकता ॥ ५५ ॥

[श्रुत्याद्यभिमतपरिणामवादाभ्युपगमस्य तात्पर्यम्]

आरम्भणादि वाक्यों से सूत्रकार ने विवर्तवाद का ही सिद्धान्त-प्रसारित किया है–

वाक्यप्रवृत्तिमनुसृत्य च सूत्रकारः
सिद्धान्ततामनयदत्र विवर्त्तवादम् ।
तत्त्वप्रकाशनविधावपहृत्य शक्तिम्
आरम्भणादिवचनादपरप्रमायाः ॥ ५६ ॥

योजना—आरम्भणादिवचनाद् अपरप्रमायाः तत्त्वप्रकाशनविधौ शक्तिम् अपहृत्य वाक्यप्रवृत्तिम् अनुसृत्य च सूत्रकारः अत्र विवर्तवादं सिद्धान्तताम् आनयत्। (व० छ०)॥

योजितार्थ—आरम्भणादि वचनों के बल पर वेदान्त-भिन्न प्रमा के तत्त्व-प्रकाशन सामर्थ्य का अपहरण करके "येनाश्रुतम्" (छा० ६।१।३) आदि वेदान्त-गत उपक्रमादि वाक्यों का अनुसरण करते हुए सूत्रकार ने यहाँ (वेदान्तसिद्धान्त में) विवर्तवाद का सिद्धान्त स्थिर किया है ॥

भावितार्थ—"तदनन्यत्वमारम्भणा शब्दादिभ्यः"(ब्र० सू० २।१।१४) सूत्र में भगवान्

सूत्रकार ने वाचारम्भणादि वाक्यों के उदाहरण से विकार-वर्ग को मिथ्या बताया है। अतः सूत्रस्थ 'तदनन्यत्व' शब्द का 'तदभिन्नत्व' अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि मिथ्या विकार का अपनी सत्य प्रकृति से अभेद सम्भव नहीं। किन्तु तदभिन्नत्व का अर्थ होता है–"ततः पृथक् सत्त्वाभावः" अर्थात् कारण से भिन्न कार्यजगत् की कोई सत्ता नहीं। यह परिणामवाद में उपपन्न नहीं होता, क्योंकि परिणामवाद में कार्य-कारण का कुछ अभेद होने पर भी पार्थक्य भी होता है। विवर्तवाद में ऐसा नहीं, वहाँ प्रतीयमान भेद मिथ्या ही है, अतः सूत्रकार का हृदय विवर्तवाद में ही प्रतीत होता है ॥ ५६ ॥

सूत्रकार ने "स्याल्लोकवत्' (ब्र० सू० २।३।५३) सूत्र में परिणामवाद का भी उल्लेख किया है, अतः उनका हृदय एकमात्र विवर्तवाद में ही क्योंकर माना जा सकता है ? इस सन्देह का समाधान है—

आरम्भसंहतिविकारविवर्त्तवादान्
आश्रित्य वादिजनता खलु वावदीति ।
आरम्भसंहतिमते परिहृत्य वादौ
द्वावत्र संग्रहपदं नयते मुनीन्द्रः ॥ ५७ ॥

योजना—आरम्भसहंतिविकारविवर्तवादान् आश्रित्य वादिजनता खलु [1]वावदीति। अत्र आरम्भसंहतिमते परिहृत्य मुनीन्द्रः द्वौ वादौ संग्रहपदं नयते ॥ (व० छ०) ॥

योजितार्थ–आरम्भवाद, संघातवाद, विकारवाद और विवर्तवाद का आश्रयण कर वादिगण विवाद किया करते हैं। इस (शास्त्र) में आरम्भवाद तथा संघातवाद की उपेक्षा करके मुनीन्द्र ने परिणामवाद तथा विवर्तवाद को संग्राह्य माना है।

भावितार्थ–उत्तरमीमांसा शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय परिणामवाद या विवर्तवाद नहीं, किन्तु इसका ब्रह्म ही एक प्रतिपाद्य विषय है। अतः श्रौतः अद्वितीय तत्त्व की प्रतिपत्ति में जो भी वाद उपयोगी हो, वही यहाँ संग्राह्य है। आरंभवाद तथा संघातवाद औपनिषदतत्त्व-प्रतिपत्ति के विरुद्ध होने से उपेक्षणीय हैं। शेष परिणामवाद और विवर्तवाद अनुकूल हैं। पूर्वोत्तर भूमिकारूप से दोनों का सामञ्जस्य किया जायगा ॥ ५७ ॥

दोनों वादों का सामञ्जस्य करने के लिए भूमिका-भेद दिखाते हैं—

तत्रापि पूर्वमुपगम्य विकारवादं
भोक्त्रादिसूत्रमवतार्य विरोधनुत्त्यै ।
प्रावर्तत व्यवहृतेः परिरक्षणाय
कर्मादिगोचरविधावुपयोगहेतोः ॥ ५८ ॥

योजना—तत्रापि पूर्वं विकारवादम् उपगम्य भोक्त्रादिसूत्रम् अवतार्य विरोधनुत्त्यै कर्मादिगोचरविधौ उपयोगहेतोः व्यवहृतेः परिरक्षणाय सूत्रकारः प्रावर्तत।(व०ति०छ०)॥

योजितार्थ—उन (दोनों वादों) में भी पहले विकारवाद को मान 'भोक्त्रापत्तेः' (ब्र०सू०२।३।१३) आदि सूत्रों का अवतरण देकर (प्रमाणान्तर) के विरोधों का परि-

---

[1] अतिशयेन वदति मुखरीभवतीति वावदीति ।

हार करने के लिए कर्मादिविषयक विधि में उपयोगी होने के कारण व्यवहार-रक्षा को दृष्टिकोण में रखते हुए भगवान् सूत्रकार प्रवृत्त हुए हैं ॥

भावितार्थ—सर्वप्रथम विवर्तवाद का उल्लेख करने से क्रिया, कारक फल-भेद एवं उपास्योपासकादि भेद का विलोप हो जाने से कर्मोपासनादि सम्भव नहीं रह जाते, अतः उनके विधिवाक्यों में अप्रामाण्य आ जाता है। वह उचित नहीं, क्योंकि उपासना-विधि-वाक्य इसी शास्त्र में विचारणीय है। उनकी निर्वाहिका सामग्री भी यहाँ निरूपणीय हो जाती है। अधिकारि-सिद्धि के द्वारा कर्मविधि-वाक्यों का भी उपयोग है। इसलिए उनके प्रवृत्ति-विषय का प्रदर्शन करने के लिए परिणामवाद का प्रथम सूत्र में उल्लेख किया है ॥ ५८ ॥

प्रथम उल्लिखित होने से परिणामवाद को ही मुख्य सिद्धान्त क्यों न मान लिया जाय ? इस शङ्का का समाधान है—

साक्षादिहाभिमतमेव विवर्त्तवादम्
आहत्य सूचयति पूर्वमपेक्षमाणः ।
आरम्भणादिवचनेन विवर्त्तवादं
शक्नोति वक्तुमुदिते परिणामवादे ॥ ५९ ॥

योजना–इह साक्षात् अभिमतं विवर्तवादम् आहत्य पूर्वमपेक्षमाण। सूचयति, परिणाम-वादे उदिते (सति) आरम्भणादिवचनेन विवर्तवादं वक्तुं शक्नोति ।। (व०ति०छ०) ॥

योजितार्थ—इस शास्त्र में साक्षात् अभिमत विवर्तवाद को पूर्व (परिणामवाद) की अपेक्षा करते हुए सूत्रकार ने सूचित किया है, क्योंकि (पहले) परिणामवाद का कथन होने पर ही आरम्भणादि वचन से विवर्तवाद को (सूत्रकार) कह सकता है।

भावितार्थ– निर्गुण ब्रह्मावगति में विवर्तवाद साक्षात् उपयुक्त है। अतः सूत्रकार ने आरम्भणादि वचनों के बल पर विवर्तवाद को मुख्यतः सूचित किया है। किन्तु जब तक परिणामवाद का निरूपण नहीं हो जाता, कार्यकारणभाव का स्पष्टीकरण नहीं होता, तब तक विवर्तवाद का निरूपण नहीं हो सकता, अतः परिणामवाद का पहले कथन करके विवर्तवाद की स्थापना पश्चात् की है ॥ ५९ ॥

यही बात लौकिक दृष्टान्त से स्पष्ट की जाती है—

आरुह्य भूमिमधरामितराधिरोढुं
शक्येति शास्त्रमपि कारणकार्यभावम् ।
उक्त्वा पुरा परिणतिप्रतिपादनेन
संप्रत्यपोहति विकारमृषात्वसिद्ध्यै ॥ ६० ॥

योजना—अधरां भूमिम् आरुह्य इतरा अधिरोढुं शक्या, इति शास्त्रमपि पुरा परिणतिप्रतिपादनेन कार्यकारणभावम् उक्त्वा विकारमृषात्वसिद्ध्यै सम्प्रति अपोहति ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ–नीचे की भूमिका पर चढ़कर ही ऊपर की भूमिका पर चढ़ा जा सकता है, इसलिए यह शास्त्र (ब्रह्मसूत्र) भी पहले परिणामवाद-प्रतिपादन के द्वारा कार्यकारण-भाव को कहकर विकार जगत् में मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए उसका निराकरण करता है।

भावितार्थ—पहली सीढ़ी पर चढ़ कर ही दूसरी पर चढ़ सकते हैं। इसी क्रम का सहारा लेकर यह शास्त्र भी 'भोक्त्रापत्तेः' (ब्र०सू० २।३।१३) इस सूत्र से परिणामवाद का प्रतिपादन करके 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१४) इस सूत्र से विवर्तवाद का प्रतिपादन किया है। विवर्तवाद का प्रतिपादन, कारण से कार्य भेद-सत्यत्व का विरोध करने पर ही हो सकता है। वह निषेध अपने प्रतियोगीभूत प्रपञ्च-भेद की अपेक्षा करता है, अतः प्रपञ्च-भेद का प्रसञ्जक है—परिणामवाद। इसीलिए परिणामवाद का निरूपण प्रथम तथा विवर्तवाद का पश्चात् किया गया है ॥ ६० ॥

पूर्वोक्त भूमिका के दृष्टान्त का दार्ष्टान्त में संगमन करते हैं—

विवर्त्तवादस्य हि पूर्वभूमिः
वेदान्तवादे परिणामवादः ।
व्यवस्थितेऽस्मिन्परिणामवादे
स्वयं समायाति विवर्तवादः ॥ ६१ ॥

योजना—वेदान्तवादे हि विवर्तवादस्य पूर्वभूमिः परिणामवादः। अस्मिन् परिणामवादे व्यवस्थिते विवर्तवादः स्वयं समायाति॥ (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—वेदान्तशास्त्र में विवर्तवाद की पूर्व भूमि परिणामवाद है। इस परिणामवाद के व्यवस्थित हो जाने पर विवर्तवाद स्वयं आ जाता है।

भावितार्थ—ब्रह्म में जगत्कारणता का सद्भाव बताने के लिए कार्यकारणभाव का प्रतिपादन अनिवार्य है। इस परिणामवाद की व्यवस्था की गई। तब विवर्तवाद स्वयं आ धमकता है; क्योंकि परिणामवाद के द्वारा प्रसक्त कूटस्थब्रह्मगत परिणामिता सर्वथा अनुपपन्न है। इसलिए कथित परिणामवाद का विवर्तवाद में पर्यवसान हो जाता है ॥६१॥

परिणामवाद के प्राथम्याभिधान का उपसंहार करते हैं—

उपायमातिष्ठति पूर्वमुच्चैः
उपेयमाप्तुं जनता यथैव ।
श्रुतिर्मुनीन्द्रश्च विवर्तसिद्ध्यै
विकारवादं वदतस्तथैव ॥ ६२ ॥

योजना—यथैव जनता उपेयमाप्तुम् उपायम् पूर्वम् उच्चैः आतिष्ठति, तथैव श्रुतिः मुनीन्द्रश्च विवर्तसिध्यै विकारवादम् ॥ (उपेन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—जैसे जनवर्ग साध्य की प्राप्ति के लिए उपाय का प्रथम अनुष्ठान किया करता है, वैसे ही श्रुति और सूत्रकार ने विवर्तवाद की सिद्धि के लिए परिणामवाद का प्रथम निरूपण किया है।

भावितार्थ—श्रुतियों में परिणामवाद का प्रथम संकीर्तन उसकी मुख्यता का द्योतक नहीं, अपितु गौणता का सूचक है, क्योंकि मुख्य सिद्धान्त की उपपत्ति के लिए उसके साधक अङ्ग (उपाय) का निर्देश पहले ही किया जाता है ॥ ६२ ॥

किस दार्शनिक का कौन वाद है? यह दिखाते हैं—

आरम्भवादः कणभक्षपक्षः
संघातवादस्तु भदन्तपक्षः ।
सांख्यादिपक्षः परिणामवादो
वेदान्तपक्षस्तु विवर्तवादः ॥ ६२ ॥

योजना—आरम्भवादः कणभक्षपक्षः, संघातवादः तु भदन्तपक्षः, परिणामवादः सांख्यादिपक्षः, विवर्तवादः तु वेदान्तपक्षः ॥ (इन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—आरम्भवाद वैशेषिक-पक्ष, संघातवाद सुगत-पक्ष, परिणामवाद सांख्यादि का पक्ष तथा विवर्तवाद वेदान्त-पक्ष है ।

भावितार्थ—वैशेषिक और तार्किकादि का आरम्भवाद है । वे मानते हैं कि तन्त्वादि कारण से अत्यन्त भिन्न प्रागसत् कार्य अपने समवायी और निमित्त कारणों से आरब्ध (उत्पन्न) होता है । सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक घटादि कार्य को परमाणुओं का संघात (समूह) मात्र मानते हैं, उससे भिन्न वस्त्वन्तर नहीं—यही संघातवाद है । सांख्य तथा योगमत में घटादिकार्य मृदादिकारण का (परिणाम) तात्त्विक (समानसत्ताक) अन्यथाभाव है—इसे परिणामवाद कहते हैं । वेदान्त-सिद्धान्त में यह कार्य जगत् ब्रह्म का (विवर्त) अतात्त्विक अन्यथाभाव अर्थात् विषमसत्ताक अन्यथाभाव है—इसे ही विवर्तवाद कहते हैं ॥ ६३ ॥

परिणामवाद यदि सांख्य-पक्ष है, तब वेदान्त-सूत्रकार ने उसे क्यों माना ? इस जिज्ञासा को दूर करते हैं—

विकारवादं कपिलादिपक्षम्
उपेत्यवादेन तु सूत्रकारः ।
श्रुतिश्च संजल्पति पूर्वभूमौ
स्थित्वा विवर्त्तप्रतिपादनाय ॥ ६४ ॥

योजना—श्रुतिः सूत्रकारश्च पूर्वभूमौ स्थित्वा विवर्तप्रतिपादनाय उपेत्यवादेन कपिलादिपक्षं विकारवादं संजल्पति ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ—श्रुति और सूत्रकार पूर्वभूमि में स्थित होकर विवर्तवाद का प्रतिपादन करने के लिए अभ्युपगमवाद से सांख्य-पक्ष परिणामवाद को कहते हैं ॥ ६४ ॥

विवर्तवाद से भेद दिखाने के लिए परिणामवाद का लक्षण दिखाते हैं—

अभेदिनः सावयवस्य सत्य-
विचित्ररूपान्तरदर्शकत्वम् ।
वदन्ति धीराः परिणाममस्याः
वसुन्धराया इव सस्यसृष्टिम् ॥ ६५ ॥

योजना—अस्याः वसुन्धरायाः सस्यसृष्टिमिव धीराः अभेदिनः सावयवस्य सत्य विचित्ररूपान्तरदर्शकत्वं परिणामं वदन्ति (उपेन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—इस पृथिवी की सस्य-सृष्टि के समान ही धीरगण एक सावयव प्रधान के सत्य, विचित्र तथा रूपान्तर कार्यों का परिणाम कहा करते हैं।

भावितार्थ–सांख्याचार्य जिस प्रकृति का परिणाम यह प्रपञ्च मानते हैं, वह अभेदी (एक) है, सावयव (सत्वादि गुणों का समूह) है। प्रथम विशेषण से आरम्भवाद तथा द्वितीय विशेषण से विवर्तवाद का अन्तर दिखाया है। परिणामभूत कार्यप्रपञ्च के विशेषण हैं–सत्य, विचित्र, रूपान्तर। शुक्तिरजतादि की व्यावृत्ति के लिए सत्य, सङ्घातवाद की व्यावृत्ति के लिए रूपान्तर विशेषण रखा है। संघातवादी घटादिकार्य को परमाणु-समूह से रूपान्तर (भिन्न) नहीं मानते। विचित्र विशेषण से कार्य का स्वरूप दिखाया है ॥ ६५ ॥

विवर्त का स्वरूप दिखाते हैं—

अभेदिनो निर्विकृतेरनेक-
मृषास्वरूपान्तरदर्शकत्वम्।
विवर्तशब्दार्थ इह प्रसिद्धः
तरङ्गभेदादिव चन्द्रभेदः ॥ ६६ ॥

योजना—तरङ्गभेदात् चन्द्रभेद इव इह अभेदिनः, निर्विकृतेः, अनेकमृषास्वरूपान्तरदर्शकत्वं विवर्तशब्दार्थः प्रसिद्धः ॥ (उपेन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—तरङ्गभेद से चन्द्र-भेद के समान इस (वेदान्त सिद्धान्त) में एक कूटस्थ ब्रह्म के अनेक, मिथ्या, रूपान्तर कार्य विवर्त शब्द के अर्थ हैं ॥

भावितार्थ–वेदान्त-सिद्धान्त में जैसे एक ही चन्द्र के तरङ्गभेदरूप उपाधि के भेद से अनेक चन्द्र हो जाते हैं, वैसे एक कूटस्थ ब्रह्म के उपाधि-भेद से अनेक मिथ्या रूपान्तर कार्य देखे जाते हैं। यही विवर्तवाद है। 'पूर्वरूपापरित्यागेन रूपान्तरम्', 'अतात्त्विकरूपान्तरभेदो वा विवर्तवादः'-अर्थात् अपने पूर्व रूप का परित्याग न करके रूपान्तर में प्रतीत होना या अतात्त्विक रूपान्तर का प्रतीत होना ही विवर्त है ॥ ६६ ॥

[विवर्तवादस्यैव शास्त्रसम्मतत्वम्]

विवर्तवाद में श्रुति का हृदय दिखाते हैं—

अहं प्रजायेय बहु स्वयं स्याम्
इत्यादिनाऽऽदौ परिणाममुक्त्वा।
विकारमिथ्यात्वमथ ब्रुवाणा
विवर्त्तवादं श्रुतिरानिनाय ॥ ६७ ॥

योजना—"अहं स्वयं बहु स्यां प्रजायेय"–इत्यादिना आदौ परिणामम् उक्त्वा अथ विकारमिथ्यात्वं ब्रुवाणा श्रुतिः विवर्तवादम् आनिनाय ॥ (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—"बहु स्यां प्रजायेय" (छां० ६।२।३) इत्यादि से आरम्भ में परिणाम दिखाकर अनन्तर विकार को मिथ्या बताते हुए श्रुति ने विवर्तवाद दिखाया है ॥

भावितार्थ-भगवती श्रुति ने "बहु स्याम्" (छां०६।२।३) आदि वचनों से विचित्र परिणामरूप में अपना आना बताया। पश्चात् "यदग्ने रोहितं रूपम्" (छां० ६।२।३) से आरम्भ कर "त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम" (छां० ६।४।१) यहाँ तक के ग्रन्थ से अग्नि

आदि को मिथ्या बताकर यह स्पष्ट कर दिया कि एक सन्मात्र कूटस्थ मिथ्या प्रपञ्चरूप से विवर्तमान हुआ है। अतः श्रुति का निष्कर्ष विवर्तवाद ही है ।। ६७ ।।

विवर्तवाद में ही अन्यान्य श्रुतियों का सामञ्जस्य दिखाते हैं —

मायाश्रुतिस्मृतिवचः सकलं तथा च
वस्तुत्वमर्दनपरं घटते विवर्त्ते ।
सर्वस्य कारणविकारविभागभाजः
प्रागादृतस्य परमार्थतया प्रतीतेः ।। ६८ ।।

योजना—तथाच विवर्ते सकलं मायाश्रुतिस्मृतिवचः वस्तुत्वमर्दनपरं घटते, प्रागादृतस्य कारणविकारविभागभाजः सर्वस्य परमार्थतया प्रतीतेः ।। (व० छ०) ।।

योजितार्थ—इस प्रकार विवर्तवाद के स्थिर हो जाने पर सकल मायाश्रुति ('इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपम्' आदि) तथा "प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय" (गी० ४।६) आदि स्मृति वचन प्रतीत होने के कारण ज्ञान से पूर्व समादृत समस्त कारणकार्यविभाग प्रपञ्च में वस्तुत्व के उपमर्दन में घट जाते हैं ।।

भावितार्थ—विवर्तवाद का आश्रयण कर लेने पर "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपम् ईयते" (बृह० २।५।१९) आदिश्रुति और "सम्भवाम्यात्ममायया" (गी० ४।६) आदि स्मृति-वचन उस प्रपञ्च को निस्तत्व बताने में उपयुक्त होते हैं, जो कि प्रगीति होने के कारण अविचारित दशा में परमार्थरूप से समादृत था और कारणकार्यरूप में सत्य प्रतीत होता था ।। ६८ ।।

[सङ्घातवादखण्डनम्]

संघातवाद में दोष दिखाते हैं —

सघातवादमुपगम्य तु तत्र पक्षे
संहन्त्रभाव इति सूत्रकृदाह दोषम् ।
स्थायी भदन्तसमये न हि कश्चिदत्र
संघातसंजननशक्तिसमन्वितोऽस्ति ।। ६९ ।।

योजना—संघातवादम् उपगम्य तु तत्र पक्षे संहन्त्रभाव इति सूत्रकृत् दोषमाह, अत्र भदन्तसमये हि कश्चित् स्थायी संघातसंजनशक्तिसमन्वितो नास्ति ।। (व० ति० छ०) ।।

योजितार्थ—संघातवाद का अनुवाद करके उस पक्ष में संहनन-कर्त्ता का अभाव—यह दोष दिया है, क्योंकि इस बौद्ध-सिद्धान्त में कोई स्थिर संघात-जनन-शक्ति से समन्वित चेतन नहीं ।।

भावितार्थ—सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक के मत में बाह्य अर्थ क्षणिक हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु—ये चार भूत हैं। चारों भूत परमाणुओं के संघातरूप हैं। परमाणु चार प्रकार के होते हैं—पार्थिव परमाणु कठिन स्वभाव, जलीय स्निग्ध, तैजस उष्ण तथा वायवीय च चलस्वभाव होते हैं। भूत-भौतिक वर्ग रूप स्कन्ध कहा जाता है, चित्त विज्ञान स्कन्ध, भोग वेदना स्कन्ध, विशेषानुभव संज्ञा स्कन्ध तथा

इनसे भिन्न प्रपञ्च संस्कार स्कन्ध माना जाता है। इन पाँचों स्कन्धों के संघात से अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं होती। भगवान् सूत्रकार ने 'समुदाय उभयहेतुके तदप्राप्तिः' (ब्र० सू० २।२।१८) सूत्र से कथित संघात की अनुपपत्ति बताई है कि कोई संघातयिता चेतन के न होने पर जड़वर्ग का स्वयं संघात नहीं बन सकता। यद्यपि चित्त चेतन माना गया है, तथापि देहादि संघात के पूर्व उसमें ज्ञातृत्व नहीं होता। आलय विज्ञान भी प्रवृत्तिविज्ञान से पूर्व समर्थ नहीं होता, प्रवृत्तिविज्ञान संघात के अधीन होता है ॥ ६९ ॥

[वैशेषिकमतखण्डनम्]

आरम्भवाद में दोष दिखाते हैं—

आरम्भवादमुपगम्य तदीययुक्तेः
तत्प्रक्रियामनुसरन्व्यभिचारमाह ।
वैशेषिकं प्रति महद्वदिदं हि योज्यं
यद्वापि दीर्घवदिदं जडमित्यनेन ॥ ७० ॥

योजना—आरम्भवादम् उपगम्य तदीययुक्तेः तत्प्रक्रियाम् अनुसरन् वैशेषिकं प्रति व्यभिचारमाह। महद्वदिदं यद्वा दीर्घवत् इदं जडम् इत्यनेन हि योज्यम् (व०ति०छ०) ॥

योजितार्थ—आरम्भवाद का अनुवाद करके वैशेषिक की युक्ति से उसकी प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए वैशेषिक के प्रति व्यभिचार दिखाया है—'महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्' (ब्र०सू० २।२।११) अर्थात् अणु और ह्रस्व परिणाम के द्व्यणुकों से जैसे महान् दीर्घ त्र्यणुक उत्पन्न होता है, वैसे ही यह जड़ जगत् चेतन से उत्पन्न होता है।

भावितार्थ—'यद्गुणकं द्रव्यम् तद्गुणकं कार्यं जनयति यथा श्वेतगुणास्तन्तवः श्वेतमेव पटम्'—आदि वैशेषिक नियमों में उनकी 'परमाणु से द्व्यणुक, द्व्यणुक से त्र्यणुक की उत्पत्ति क्रमादि प्रक्रिया का सहारा लेकर सूत्रकार ने व्यभिचार दिखाकर अपने पक्ष का समर्थन किया है—'महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्' (ब्र० सू० २।२।११) अर्थात् द्व्यणुकों में अणु और ह्रस्व परिमाण गुण है, किन्तु उनसे उत्पन्न कार्य में महत्त्व तथा दीर्घपरिमाण गुण होता है, अतः कथित नियम में व्यभिचार आ जाता है। इस प्रकार विजातीय कारण से कार्य की उत्पत्ति निभ जाती है ॥ ७० ॥

'महद्वत्'—इसकी व्याख्या करते हैं—

ह्रस्वारब्धं त्र्यणुकमणुभिस्तद्वदारब्धमेतद्
ह्रस्वं नो तन्न च तदणुवत्संमतं तद्वदेतत् ।
सर्वं कार्यं गगनधरणीमध्यगं चेतनोत्थं
निश्चित्कं नो जडिमघटितं युक्तमित्याचचक्षे ॥ ७१ ॥

योजना—त्र्यणुकं ह्रस्वारब्धम् तद्वत् एतत् ह्रस्वम् अणुभिः आरब्धम् तदेतत् अणु न सम्मतम्। तथा नः सर्वं गगनधरणीमध्यगं कार्यं चेतनोत्थं निश्चित्कं जडिमघटितं युक्तम्—इत्याचचक्षे ॥ (मदाक्रान्ता) ॥

योजितार्थ—त्र्यणुक ह्रस्व एवं अणु परिमाण के द्व्यणुकों से आरब्ध है, किन्तु यह (त्र्यणुक) अणु तथा ह्रस्व नहीं माना जाता। वैसे ही हमारे मत में समस्त गगन, पृथिवी वायु आदि कार्य चेतन से उत्पन्न होकर भी अचेतन जड़ता-युक्त ही है ॥ ७१ ॥

सूत्रस्थ 'वा' शब्द से सूचित द्व्यणुक और त्र्यणुक परिमाणों में व्यभिचार दिखाते हैं—

ह्रस्वाणुत्वे कारणद्वित्वहेतोः
जाते नैते पारिमाण्डल्यहेतोः ।
दीर्घत्वं यद्यच्च दीर्घे महत्त्वं
द्रव्ये ते द्वे कारणत्रित्वहेतोः ॥ ७२ ॥

योजना—ह्रस्वाणुत्वे कारणद्वित्वहेतोः जाते, एते पारिमाण्डल्यहेतोः न । दीर्घे द्रव्ये यत् दीर्घत्वं यच्च महत्त्वं ते द्वे कारणत्रित्वहेतोः ॥ (शालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—(द्व्यणुकगत) ह्रस्वत्व और अणुत्व परमाणुरूप कारणगत द्वित्व संख्या से उत्पन्न होते हैं, ये (ह्रस्वत्व और अणुत्व) परमाणुगत परिमाण से नहीं (उत्पन्न होते) । त्र्यणुकरूप दीर्घ द्रव्य में जो दीर्घत्व है और जो महत्त्व है, वे दोनों कारणगत त्रित्व संख्या से उत्पन्न होते हैं ।

भावितार्थ—द्व्यणुकगत ह्रस्वत्वादि तथा त्र्यणुकगत दीर्घत्वादि परिमाण अपने सजातीय परिमाण से उत्पन्न नहीं माने जाते, अपितु कारणगत द्वित्वादि संख्या से ही जन्य माने जाते हैं । इससे भी कार्य-कारणभाव में व्यभिचार स्पष्ट है ॥ ७२ ॥

वैशेषिकों का सिद्धान्त दिखाते हैं—

द्व्यणुकस्य जन्म परमाणुयुगात्
परिमण्डलादिति कणादमतम् ।
द्व्यणुकत्रयात्त्र्यणुकजन्म पुनः
नियमं न कश्यपसुतो वदति ॥ ७३ ॥

योजना—परिमण्डलात् परमाणुयुगात् द्व्यणुकस्य जन्मेति कणादमतम् । द्व्यणुकत्रयात् त्र्यणुकजन्म पुनः । कश्यपसुतो नियमं न वदति ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—अणुपरिमाण के दो परमाणुओं से द्व्यणु का जन्म होता है—यह कणादमत है, एवं तीन द्व्यणुकों से त्र्यणुक का जन्म, अतः कणाद महर्षि कोई नियम नहीं बताते ।

भावितार्थ—महर्षि कणाद यदि दो परमाणुओं से द्व्यणुक और दो द्व्यणुकों से त्र्यणुक की उत्पत्ति मानते तो एक नियम बन जाता कि दो द्रव्यों के मिलने से नया कार्य उत्पन्न होता है, किन्तु वे तो कहते हैं कि दो परमाणुओं से द्व्यणुक और तीन द्व्यणुकों से त्र्यणुक होता है । तब तो कार्य-कारण का कोई नियम ही नहीं रह जाता । ऐसे अनियम-वक्ता हमारे मत में क्या दोष दिखायेंगे ? ॥ ७३ ॥

उक्त व्यभिचार तथा उसका परिणाम दिखाते हैं—

द्व्यणुकत्र्यणुकव्यपाश्रयं
परिमाणं प्रति कारणाश्रयः ।
न तु कारणमिष्यते गुणः
तदवष्टभ्य वयं जिगीषवः ॥ ७४ ॥

योजना—द्व्यणुकत्र्यणुकव्यपाश्रयं परिमाणं प्रति कारणाश्रयः गुणः कारणं न दृश्यते, तदवष्टभ्य वयं जिगीषवः ।। (सुन्दरीच्छन्दः)

योजितार्थ—द्व्यणुक तथा त्र्यणुक के आश्रित परिमाण के प्रति कारणगत परिमाण को कारण नहीं माना जाता, उसके बलपर हम विजयी होते हैं ।।

भावितार्थ—वस्तुतः विजयी वही है, जो उसी के सिद्धान्तों से उसको पराजित करे। हम (वेदान्ती) आप (वैशेषिकों) को आपके सिद्धान्त का सहारा लेकर ही परास्त कर रहे हैं, अतः हम स्पष्ट रूप से विजयी हो रहे हैं ।। ७४ ।।

कारणगत परिमाण से ही कार्यगत परिमाण का आरम्भ मानने पर क्षति दिखाते हैं—

यदि कारणसंश्रयाद् गुणाद्
द्व्यणुकादेः परिमाणमिच्छति ।
द्व्यणुकादिसमाश्रये तदा
परिमाणेऽतिशयो विरुद्ध्यते ।। ७५ ।।

योजना—यदि कारणसंश्रयात् गुणात् द्व्यणुकादेः परिमाणम् इच्छति; तदा द्व्यणुकादिसमाश्रये परिमाणे अतिशेयो विरुध्यते ।। (सुन्दरीच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—यदि कारणाश्रित परिमाण से ही द्व्यणुकादिगत परिमाण माना जाय, तब द्व्यणुकादिगत परिमाणों में उत्कर्ष विरुद्ध पड़ जाता है ।।

भावितार्थ—सजातीय परिमाणारम्भकत्व—नियम यदि माना जाता है, तब द्व्यणुक तथा त्र्यणुकगत परिमाण भी त्र्यणु ही सिद्ध होंगे; क्योंकि परिमाण का स्वभाव है कि अपने कार्य में उत्कर्षाधान करता है, इस प्रकार अणु से उत्पन्न अणुतर और अणुतर से जन्य अणुतम होगा । परमाणुगत अणु से द्व्यणुक में अणुतर तथा द्व्यणुकगत अणुतर से त्र्यणुक में अणुतम उत्पन्न होगा, तब अणुक का प्रत्यक्ष न होगा; क्योंकि द्रव्य के प्रत्यक्ष में महत्त्व परिमाण भी कारण है। यदि उत्कर्षाधान का स्वभाव न मानकर समान परिमाणारम्भकत्व ही माना जाय, तब भी त्र्यणुक में अणु परिमाण ही रह जाता है, अतः उसका प्रत्यक्ष फिर भी न हो सकेगा। इसलिए कारणगत परिमाण से सर्वत्र कार्य में परिमाण का जन्म नहीं मान सकते ।। ७५ ।।

जैसे आरम्भवाद और संघातवाद का पूर्वपक्ष के रूप में उल्लेख किया गया है, वैसे ही दूषणीय होनें के कारण आचार्य बादरायण नें परिणामवाद का उल्लेख किया है—

परिणामवादमुपगम्य तथा
रचनाद्यसंभवमुवाच मुनिः ।
परमेश्वरं न हि विना घटते
जडरूपवस्तुपरिणाम इति ।। ७६ ।।

योजना—तथा परिणामवादम् उपगम्य मुनिः रचनाद्यसंभवम् उवाच; परमेश्वरं बिना हि जडरूपवस्तुपरिणामः न घटते इति ।। (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—वैसे ही परिणामवाद को सामने रखकर मुनिवर ने रचनादि की अनुपपत्ति कही है; क्योंकि परमेश्वर के बिना जड़रूप (प्रधानादि) वस्तुओं का परिणाम नहीं बन सकता ॥

भावितार्थ—भगवान् सूत्रकार ने परिणामवाद में मुख्य दोष दिखाया है–'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्' (ब्र० सू० २।२।१) अर्थात् अनुमीयमान प्रधानादि जड़ पदार्थों को प्रपञ्च का परिणामी उपादान नहीं मान सकते; क्योंकि चेतन अधिष्ठाता के बिना कहीं भी जड़ वस्तु किसी रूप में परिणत होती नहीं देखी गयी। सांख्यमत में ईश्वर माना ही नहीं गया और जो चेतन पुरुष माना भी गया है, वह पुष्करपलाशवत् निर्लिप्त तटस्थ उदासीन। अतः परिणामवाद सर्वथा अनुपपन्न है ॥ ७६ ॥

[आरोपादित्रिविधदृष्टिनिरूपणम्]

आरम्भवादादि तीन पक्षों के निराकरणों में कुछ विशेषता दिखाते हैं—

क्वचिदभ्युपेत्य कथनं न च
परपक्षदूषणकथावसरे ।
निजपक्षदोषपरिहारपरः
क्वचिदभ्युपेत्य वदतीह मुनिः ॥ ७७ ॥

योजना- परपक्षदूषणकथावसरे क्वचित् अभ्युपेत्य कथनं कुरुते। क्वचित् अभ्युपेत्य मुनिः इह निजदोषपरिहारः वदति ॥ (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—परमतों के दूषणावसर पर कहीं मुनिवर ने किसी मत का कथन किया है और कहीं अपने दोषों का परिहार करते हुए परपक्ष का कथन किया है ॥

भावितार्थ—तर्कपाद (ब्र० सू० २।२) में सूत्रकार ने दो प्रकार से परपक्षों का उल्लेख किया है—एक केवल दूषण देने के उद्देश्य से, जैसे कि संघातवाद का। वहाँ केवल इतना ही कह दिया गया कि वह बाद उचित नहीं; क्योंकि उस पक्ष में जगत् रचना की उपपत्ति नहीं होती। दूसरा प्रकार यह है कि उस पक्ष से सिद्ध नियमों के आधार पर अपने पक्ष का समर्थन करना; जैसे कि आरम्भवाद के लिए कहा—'महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्' (ब्र० सू० २।२।११) अर्थात् जैसे आरम्भवाद में ह्रस्व से दीर्घ और अणुपरिमाण से दीर्घ परिमाणरूप विजातीय कार्य देखा जाता है; वैसे ही वेदान्त-सिद्धान्त में चेतन कारण से अचेतन जगत् बन सकता है ॥ ७७ ॥

कथितार्थ का विश्लेषण करते हैं—

परपक्षनिषेधमाचरन्
क्वचिदङ्गीकरणं करोति सः ।
परदर्शितदोषनुत्तये
क्वचिदित्येष विशेष ईरितः ॥ ७८ ॥

योजना—स क्वचित् परपक्षनिषेधम् आचरन् अङ्गीकरणं करोति, क्वचित् परदर्शितदोषनुत्तये; इत्येष विशेषः ईरितः ॥

योजितार्थ—मुनिवर कहीं तो परपक्ष का निषेध करने के लिए ही उल्लेख करता है और कहीं (अपने वेदान्त-सिद्धान्त पर) दूसरे के अरोपित दोषों का निराकरण करने के लिए ॥

भावितार्थ—ब्रह्मसूत्र का तर्कपाद एक सम्यक्‌कथा-प्राङ्गण है। उस वादिचर्चा का नाम कथा हैं–जिसका किसी तथ्य पर पहुंचना पवित्र लक्ष्य होता है कथा में दो क्रियाएं प्रधान होती है–(१) परपक्ष में दोष-दर्शन और (२) स्वपक्ष के दोषों का उद्धार। परिणामवाद के कथा-प्रसंग में मुनिवर ने परपक्ष में दोष-प्रदर्शन और आरम्भवाद की चर्चा में स्वपक्ष के दोषों का उद्धार किया है। यह एक विशेषता वहाँ परिलक्षित होती है ॥७८॥

तर्कपाद की परपक्ष-दूषण प्रक्रिया से यही निष्कर्ष निकलता है—

भोक्त्रादिसूत्रे परिणामवादम्
आश्रित्य तद्वादिभिरुक्तदोषम्।
समादधानो मुनिराह तस्मात्
सिद्धान्तसिद्धिः पुनरुत्तरत्र ॥ ७९ ॥

योजना–तस्मात् भोक्त्रादिसूत्रे परिणामवादम् आश्रित्य तद्वादिभिः उक्तदोषं समादधानः मुनिः आह; सिद्धान्तसिद्धिः पुनः उत्तरम् ॥ (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इसलिए "भोक्त्रापत्तेः" (ब्र० सू० २।३।१३) आदि सूत्रों में परिणामवाद का आश्रयण कर वादि-कथित दोष का समाधान मुनिवर ने किया है, सिद्धान्त की सिद्धि उत्तर 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१४) सूत्र में की गयी है।

भावितार्थ—वेदान्त-सिद्धान्त में भोक्ता और भोग्यादि की साङ्कर्यापत्ति का निराकरण करने के लिए कह दिया है–'लोकवत्' (ब्र० सू० २।१।१३) अर्थात् लोक में जैसे मृत्तिकारूप से अभिन्न घटपटादि का परस्पर भेद होता है, वैसे ही ब्रह्मरूप से अभिन्न भोक्ता आदि का भेद बन जायगा। यहाँ जो भेदाभेद दिखाकर परिणामवाद का अभ्युपगम-सा किया गया है, वह केवल अपने दोषों का उद्धारमात्र करने के लिए, न कि उसे अपना सिद्धान्त घोषित करने के लिए। सिद्धान्त पक्ष की सिद्धि तो उसके उत्तर के 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१४) सूत्र में विवर्तवाद के रूप में की गयी है ॥ ७९ ॥

यदि परिणाम भी निराकरणीय ही है, तब आपकी "द्वावत्र संग्रहपदं नयते मुनीन्द्रः" (२।५७) इस युक्ति का क्या अर्थ ? इस जिज्ञासा की निवृत्ति करते हैं—

प्रत्यासन्ना परिणतिरियं विप्रकृष्टस्तु पूर्वः
संघातादिः सकल उदितो वेदसिद्धान्तसिद्धेः।
एतावत्त्वादियमभिमता सूत्रकारस्य भाति
[1]भ्रान्तिभ्रष्टस्फुटनयमनःकौशलानां नराणाम् ॥ ८० ॥

योजना—वेदसिद्धान्तसिद्धेः इयं परिणतिः प्रत्यासन्ना, पूर्वं उदितः सकलः संघातादिः तु विप्रकृष्टः। एतावत्वात् भ्रान्तिभ्रष्टस्फुटनयमनःकौशलानां नराणाम् इयं सूत्रकारस्य अभिमता भाति ॥ (मन्दाक्रान्ता) ॥

---

१. 'निजमनः' इति पाठान्तरम्।

योजितार्थ—वेदान्त-सिद्धान्त-सिद्धि के लिए यह परिणामवाद समीप है और पूर्व के कथित सकल संघातादि दूर हैं। एतावता कुछ भ्रान्त विवेकशून्य व्यक्तियों को यह (परिणामवाद) सूत्रकार-सम्मत प्रतीत होता है ॥

भावितार्थ—संघातादिवादों की अपेक्षा परिणामवाद में वेदान्तसिद्धान्त की अनुकूलता अवश्य है, इसीलिए सूत्रकार ने परिणामवाद को संग्राह्यरूप में उपस्थित-सा कर दिया है। इसीलिए कुछ भ्रान्त विचार-शून्य व्यक्तियों को यह भ्रम हो गया कि परिणामवाद भी सूत्रकार को सम्मत था ॥ ८० ॥

आपाततः शिष्य को शुद्ध अद्वैततत्त्व का बोध सम्भव नहीं, इसलिए भी परिणामवाद का निरूपण आवश्यक है—यह दिखाने के लिए दृष्टियों का निरूपण करते हैं—

आरोपदृष्टिरपवादकदृष्टिरेवं
व्यामिश्रदृष्टिरिति दृष्टिविभागमेनम् ।
संगृह्य सूत्रकृदयं पुरुषं मुमुक्षुम्
सम्यक्प्रबोधयितुमुत्सहते क्रमेण ॥ ८१ ॥

योजना—आरोपदृष्टिः अपवादकदृष्टिः एव व्यामिश्रदृष्टिः—इति एतत् दृष्टिविभागं क्रमेण संगृह्य अयं सूत्रकृत् मुमुक्षुं पुरुषं सम्यक् बोधयितुम् उत्सहते ॥ (व० छ०) ॥

योजितार्थ-आरोपदृष्टि, अपवादकदृष्टि और व्यामिश्रदृष्टि–इन दृष्टि-विभागों को क्रमशः संग्रह करके ब्रह्मसूत्रकार मुमुक्षु पुरुष को अनायास बोध करानेके लिए समुद्यत हैं ॥

भावितार्थ—"ब्रह्माभिन्नं जगत्"— यह आरोपदृष्टि है। "निष्प्रपञ्चं ब्रह्म"—यह अपवाददृष्टि है। "स्वतो निष्प्रपञ्चं मायया सप्रपञ्चम्"—इसे व्यामिश्रदृष्टि कहते हैं। इन दृष्टियों का क्रमशः निरूपण होने वाला है ॥ ८१ ॥

दृष्टियों का स्वरूप और क्रम दिखाते हैं।

आरोपदृष्टिरुदिता परिणामदृष्टिः
द्वैतोपशान्तिरपवादकदृष्टिरन्त्या ।
मध्ये विवर्त्तविषया द्वयमिश्रदृष्टिः
व्यामिश्रदृष्टिरधरोत्तरभूमिभावात् ॥ ८२ ॥

योजना—आरोपदृष्टिः परिणामदृष्टिः उदिता, (सेह आद्या) द्वैतोपशान्तिः अपवादकदृष्टिः अन्त्या। मध्ये विवर्तविषया द्वयमिश्रदृष्टिः व्यामिश्रदृष्टिः; अधरोत्तरभूमिभावात् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ–आरोपदृष्टि शब्द से परिणामदृष्टि कही गई है, वह आद्या है। द्वैतोपशान्ति अपवाददृष्टि कहलाती है, यह अन्तिम (चरम) दृष्टि है। विवर्तविषयक उभयमिश्रदृष्टि को व्यामिश्रदृष्टि कहते हैं। यह मध्यदृष्टि है, क्योंकि यह आद्यदृष्टि के उतर की भूमिका है ॥

भावितार्थ–शुद्धब्रह्मावगति के दूर-समीप क्रम को लेकर दृष्टियों का क्रम बताया—(१) आरोपदृष्टि, (२) व्यामिश्रदृष्टि तथा (३) अपवाददृष्टि। इनके क्रम का रहस्य स्वयं कहेंगे ॥ ८२ ॥

उक्त तीनों दृष्टियों का पौर्वापर्यभाव दिखाया जाता है—

तत्त्वावेदकमानदृष्टिरधमा तत्त्वक्षतिर्मध्यमा
तत्त्वप्रच्युतिविभ्रमक्षयकरी तत्रान्त्यदृष्टिर्मता ।
जीवैकत्वमुमुक्षुभेदगतितो व्यामिश्रदृष्टिर्द्विधा
भिन्ना तत्र च पूर्वपूर्वविलयादूर्ध्वोर्ध्वलब्धिर्भवेत् ॥ ८३ ॥

योजना—तत्र तत्त्वावेदकमानदृष्टिः अधमा, तत्त्वक्षतिः मध्यमा, तत्त्वप्रच्युतविभ्रमक्षयकरी अन्त्यदृष्टिः मता । जीवैकत्वमुमुक्षुभेदगतितः व्यामिश्रदृष्टिः द्विधा भिन्ना, तत्र च पूर्वपूर्वविलयात् ऊर्ध्वोर्ध्वलब्धिः भवेत् ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—इन दृष्टियों में प्रत्यक्षादिगत तत्त्वावेदकमानत्व की दृष्टि अधम है, प्रपञ्च-क्षयकरी दृष्टि मध्यम तथा तत्त्वप्रच्युतिरूप विभ्रम की नाशिका दृष्टि अन्तिम है । एकानेक जीववाद के भेद से व्यामिश्रदृष्टि द्विधा (भिन्न) होती है । इनमें पूर्व-पूर्व दृष्टि का विलय होने पर उत्तर-उत्तर दृष्टि का लाभ होता है ॥

भावितार्थ—प्रत्यक्षादि प्रमाणों में तत्त्वावेदकत्व दृष्टि अधम है; क्योंकि आरोपित है, अनर्थ की हेतु है, तथा विशुद्ध ब्रह्म की अवगति से बहुत दूर है । प्रत्यक्षादि प्रमाणों में तत्त्वावेदकत्व की अपवादिक दृष्टि मध्यम है, क्योंकि आरोपित न होने पर भी ब्रह्म-विषयिणी नहीं । विभ्रमनाशिका दृष्टि अन्तिम है, उत्तम है, क्योंकि विशुद्ध ब्रह्म में परिनिष्ठित होती है । इनमें मध्यम दृष्टि दो प्रकार की होती है—प्रथम 'जीव अनेक हैं, वे क्रमशः मुक्त होंगे, संसार अनादि और अनन्त हैं'-इस प्रकार की और 'मैं ही एक जीव हूँ, स्वप्नवत् अनेक जीवाभास मुझ में कल्पित हैं, अबोध से जगत् प्रतिभासित होता है और मेरे बोध से निवृत्त होगा'—यह दूसरी दृष्टि है । पूर्व-पूर्व दृष्टि के विलय से उत्तर-उत्तर दृष्टि का उदय होता है ॥ ८३ ॥

संगृहीत विलय-क्रम दिखाते हैं –

परिणामबुद्धिमपमृद्य पुमान्
विनिवर्त्तयत्यथ विवर्त्तमतिम् ।
उपमृद्य तामपि पदार्थधिया
परिपूर्णदृष्टिमुपसर्पति सः ॥ ८४ ॥

योजना—पुमान् परिणामबुद्धिम्-उपमृद्य अथ विवर्तमतिं विनिवर्तयति[1] तामपि पदार्थधिया उपमृद्य स परिपूर्णदृष्टिम् उपसर्पति ॥ (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—अधिकारी पुरुष परिणाम-दृष्टि का उपमर्दन करके पश्चात् विवर्त-दृष्टि का सम्पादन करता है, उसे भी पदार्थ-बोध के द्वारा विनष्ट करके परिपूर्ण दृष्टि को प्राप्त करता है ॥

भावितार्थ—अधिकारी पुरुष कूटस्थ चेतन का परिणाम (अन्यथाभाव) असंभावित जानकर परिणाम दृष्टि का परित्याग करके विवर्त दृष्टि को स्थिर करता है । तत्त्वम्पदार्थ

---

[1] विशेषेण निश्चित्य वर्तयति-उत्पादयति ।

निश्चय हो जाने पर विवर्त दृष्टि का भी परित्याग करके परिपूर्ण प्रत्यगभिन्न ब्रह्माकार दृष्टि प्राप्त करता है ॥ ८४ ॥

ब्रह्मावगति के लिए कथित दृष्टियाँ वैसे ही अनिवार्य हैं, जैसे कि शिखर पर आरोहण के लिए मूलावलम्बन—

अथ शब्दसूचितमुमुक्षुरिमम्
खलु दृष्टिभेदमुदितक्रमतः ।
उपढौकते विगलिताखिलधीः
अवतिष्ठते निजमहिम्नि ततः ॥ ८५ ॥

योजना—अथ शब्दसूचितमुमुक्षुः इमं दृष्टिभेदम् उदितक्रमतः उपढौकते, ततः निजमहिम्नि विगलितनिखिलधीः अवतिष्ठते ॥ (प्रमिताक्षराच्छन्दः)

योजितार्थ—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) के 'अथ' शब्द से सूचित मुमुक्षु पुरुष इन दृष्टियों को कथित क्रम से प्राप्त करता है, तदनन्तर द्वैत-दृष्टि से सर्वथा रहित होकर अपने स्वरूप में अवस्थित होता है ॥

भावितार्थ–इस वेदान्त शास्त्र के श्रवण का जो साधन-चतुष्टय-सम्पन्न अधिकारी 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) सूत्रस्थ 'अथ' और 'अतः' शब्द से सूचित किया गया है, वह कथित दृष्टि-सोपान-परम्परा पर चढ़ता हुआ परमपुरुषार्थ मोक्ष धाम की प्राप्ति कर लेता है ॥ ८५ ॥

उस सोपाना-परम्परा में परिणामादि दृष्टियों के स्थान दिखाते हैं—

परिणाम इत्यथ विवर्त्त इति
बहवोऽहमेव च मुमुक्षुरिति ।
परिपुष्कलं च परमं पदमि-
त्यवगत्य तिष्ठति महिम्नि निजे ॥ ८६ ॥

योजना–परिणामः—इति, अथ विवर्तः—इति, बहवः, अहमेव मुमुक्षुः इति, परमं पदं परिपुष्कलम् इति अवगत्य निजे महिम्नि तिष्ठति । (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—(यह जगत् ब्रह्म का) परिणाम है—ऐसा (पहले समझता है), पश्चात् (यह जगत् ब्रह्म का) विवर्त है—ऐसा (निश्चय करता है), तदनन्तर अनेक मुमुक्षु (जीव होते हैं) यह (जानता है), उसके अन्तर में ही एक मुमुक्षु हूँ—ऐसा बोध होता है, इसके बाद 'परमपद परिपूर्ण है'–यह बोध पा जाने पर वह मुमुक्षु अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है ॥

भावितार्थ—प्रत्येक अधिकारी व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्र में स्थूल से सूक्ष्म की ओर क्रमशः अग्रसर होता पाया जाता है । आचार्यगण अपने नितान्त सूक्ष्म और गहन सिद्धान्तों की ओर ले जाने के लिए अधिकारी को उसी पथ से ले जाया करते हैं । चरम लक्ष्य-भूत अखण्ड तत्त्व तक ले जाने के लिए अध्यारोप और अपवाद का सहारा लेना आवश्यक है । अध्यारोप और अपवाद का समन्वय करने के लिए विवर्तवाद का अवलम्बन किया जाता है । विवर्तवाद को हृदयङ्गम कराने से पूर्व अत्यन्त स्थूल लोक-प्रसिद्ध

परिणामवाद सामने रखा जाता है। फलतः आरम्भिक छात्र परिणामवाद, विवर्तवादादि कक्षाओं को पार करके ही चरम लक्ष्य तक पहुँच सकता है ॥ ८६ ॥

विवर्तदृष्टि में कथित व्यामिश्रत्व की उपपत्ति के लिए मध्यमत्व का उपपादन करते हैं—

परिणामधियो विवर्त्तधीः
अपवादात्मतया व्यवस्थिता ।
सकलद्वयमर्दिनीं धियं
प्रति साऽऽरोपगिराभिधीयते ॥ ८७ ॥
उभयव्यतिमिश्ररूपतां
भजते तेन विवर्त्तधीरियम् ।
प्रथमोत्तमयोर्द्वयोः पुनः
व्यतिमिश्रीभवनं न विद्यते ॥ ८८ ॥

योजना—विवर्तधीः परिणामधियो अपवादकतया अवस्थिता, सकलद्वयमर्दिनीं धियं प्रति सा आरोपगिरा अभिधीयते। तेन द्वयं विवर्तधीः उभयव्यामिश्ररूपतां भजति। प्रथमोत्तमयोः द्वयोः पुनः व्यतिमिश्रीभवनं न विद्यते (सुन्दर्यौ) ॥

योजितार्थ—विवर्तबुद्धि परिणाम बुद्धि की अपवादक होकर अवस्थित है। समस्त द्वैत-विमर्दिनी अद्वयात्म-बुद्धि के प्रति वह (विवर्तबुद्धि) आरोप-दृष्टि कही जाती है। इसलिए यह विवर्तधी उभयरूप मानी जाती है। किन्तु प्रथम (परिणाम) और अन्तिम (अद्वयं) दृष्टि—इन दोनों में उभयरूपता विद्यमान नहीं ॥

भावितार्थ—विवर्त दृष्टि परिणाम की अपेक्षा अपवाद और अद्वय-बुद्धि की अपेक्षा आरोपरूप ही है; क्योंकि विवर्तवाद से परिणाम का निषेध होने पर भी व्यावहारिकत्व सुरक्षित रहने के कारण पारमार्थिकरूप अद्वय दृष्टि की अपेक्षा आरोप ही समझी जाती है। इसलिए विवर्तदृष्टि उभयरूप होने से [1]मध्यम दृष्टि कही गई है ॥ ८७, ८८ ॥

[दृष्टित्रयस्य नानाश्रयत्वम्]

परिणामादि दृष्टियों का एक ही अधिकारी में क्रमिक समुच्चय दिखाया गया, जो लोग उक्त दृष्टियों का आश्रय एक अधिकारी न मानकर नाना अधिकारी मानते हैं; उनका मत दिखाते हैं—

कृपणधीः परिणाममुदीक्षते
क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्त्तताम् ।
स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते
व्यपगतद्वितयं परमं पदम् ॥ ८९ ॥

---

[1] परिणाम दृष्टि में प्रपञ्च-सत्यत्व सहित ब्रह्म-भान होता है, विवर्त-दृष्टि में प्रपञ्च-मिथ्यात्वसहित ब्रह्म-भान और पूर्ण दृष्टि में केवल ब्रह्म का भान होता है, विवर्त-दृष्टि में प्रपञ्च सत्यत्व का अपवाद होने पर भी केवल ब्रह्म का भान नहीं होता, अतः वह मध्यम है।

योजना—कृपणधीः परिणामम् उदीक्षते, क्षपितकल्मषधीः तु विवर्तताम्, पुनः स्थिरमतिः पुरुषः व्यपगतद्वितयं परमं पदम् ईक्षते (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—प्रपञ्चासक्त व्यक्ति अपने को वस्तुतः कर्त्ता भोक्ता तथा प्रपञ्च को (ब्रह्म का) परिणाम मानता है, निष्पाप विवेकी पुरुष (प्रपञ्च को ब्रह्म का) विवर्त समझता है और स्थिरमति पुरुष अद्वितीय शुद्ध परम पद को देखता है ॥

भावितार्थ—अनात्म जगत् को तात्त्विक समझनेवाला व्यक्ति कृपण कहलाता है, श्रुति कहती है—"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मांल्लोकात् प्रैति स कृपणः (बृह० ३।८।१०) अर्थात् जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं हुआ, विवेक-शून्य है, वह लौकिक-दृष्टि के आधार पर परिणामवाद को ही स्थिर करता है। जैसे-जैसे अन्तःकरण की शुद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे विवेक-शक्ति बढ़ती जाती है, विवेकी व्यक्ति प्रथम विवर्त-वाद का निश्चय करता है, तदनन्तर एक अद्वितीय अखण्ड तत्त्व का दर्शन कर लेता है ॥

विवर्त के कथित दो भेद भी विभिन्न पुरुषों में रहते हैं—

पुरुषभेदवशाद् विविधा भवेत्
क्षपितकल्मषधीरपि मध्यमा ।
जगदनेकमुमुक्षुकमीक्षते
पुरुष एकतरो न तथेतरः ॥ ९० ॥

योजना—पुरुषभेदवशात् मध्यमा क्षपितकल्मषधीरपि द्विधा भवेत्—एकतरः पुरुषः अनेकमुमुक्षुकं जगत् ईक्षते तथा इतरो न ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—पुरुष-भेद वश मध्यमा शुद्ध बुद्धि भी दो प्रकार की होती है—एक पुरुष जगत् को अनेकमुमुक्षुसमन्वित देखता है और दूसरा नहीं ॥

भावितार्थ—शुद्धान्तःकरण के मध्यम अधिकारी की दृष्टि में अनेक जीव और उत्तम अधिकारी की दृष्टि में एक जीव ही निश्चित होता है ॥ ९० ॥

[दृष्टित्रयस्यैकपुरुषाश्रयत्वम्]

कथित त्रिविध अधिकारी-पक्ष का निराकरण करते हैं—

इति तु केचिदुशन्ति महाधियः
तदपि संभवतीति न दुष्यति ।
इह तु सूत्रकृताऽथगिरोदितः
पुरुष एकविधस्त्रिविधो न तु ॥ ९१ ॥

योजना—इति तु केचित् महाधियः उशन्ति, तदपि सम्भवति नेति दुष्यति। इह सूत्रकृता अथगिरा उदितः पुरुषः एकविधः, त्रिविधस्तु न ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—उक्त नीति से कुछ महापुरुष (विविध अधिकारी) मानना चाहते हैं, वह सम्भव नहीं; अतः उक्त पक्ष का निराकरण किया जाता है कि सूत्रकार के संकेत से एक ही अधिकारी प्रतीत होता है, तीन मानना सम्प्रदाय-विरुद्ध है ॥

भावितार्थ—कर्मकाण्डशास्त्र में ही नाना अधिकारी होते हैं, वेदान्तशास्त्र में नहीं; क्योंकि इस शास्त्र का परम प्रयोजन मोक्ष एक ही है। परिणाम-विवर्तादि मार्गों के भेद से अधिगन्तव्य में कोई अन्तर नहीं आता; अतः यहाँ अधिकारी एक ही मानना उचित है। भगवान् सूत्रकार ने भी अपने 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' के अथ शब्द से यही सूचित किया है ॥ ९१ ॥

सूत्र-सूचित एक अधिकारी क्रमशः तीनों भूमियों को पार करता है—

तिसृषु भूमिषु तस्य च तिष्ठतः
क्रमवशात्स्वयमुत्तमभूमिका ।
समुपसर्पति तत्र च तिष्ठतः
समुपशाम्यति कारणकार्यधीः ॥ ९२ ॥

योजना—तिसृषु भूमिषु च क्रमवशात् तिष्ठतः तस्य उत्तमभूमिका स्वयम् समुपसर्पति। तत्र च तिष्ठतः कारणकार्यधीः समुपशाम्यति (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—उक्त तीनों भूमियों में क्रमशः विचरणशील पुरुष को उत्तम (अन्तिम) भूमिका स्वयं प्राप्त हो जाती है। उत्तम भूमिका में स्थित पुरुष के लिए कारणकार्यरूप द्वैत प्रपञ्च-बुद्धि शान्त हो जाती है ॥

भावितार्थ—परिणामादि दृष्टि क्रम से प्रवृत्त पुरुष की पूर्व दृष्टियों का परिपाक हो जाने से अनायास ही पूर्णदृष्टि उत्पन्न हो जाती है, तब कार्य-कारणरूप समस्त द्वैत प्रपञ्च स्वयं शान्त हो जाता है। अतः एक ही अधिकारी के उद्देश्य से यह वेदान्तशास्त्र प्रवृत्त हुआ है ॥ ९२ ॥

उक्त अर्थ में हेत्वन्तर दिखाते हैं—

श्रुतिवचांसि मुनिस्मरणानि च
द्वयविशारदगीरपि सर्वशः ।
अयमपेक्ष्य दशात्रितयं विना
न हि घटामुपयाति कदाचन ॥ ९३ ॥

योजना—श्रुतिवचांसि, श्रुतिस्मरणानि, द्वयविशारदगीरपि सर्वशः (एकस्मिन्) दृष्टित्रयम् अपेक्ष्य (घटते) दशात्रितयं विना कदाचन घटां न उपयाति ॥ (द्रुतविलम्बितम्)

योजितार्थ—सृष्ट्यादि श्रुति-वचन, "लोकवत्" (ब्र० सू० २।१।३३), "तदनन्यत्वम्" (ब्र० सू० २।१।१४) आदि तूत्रवचनरूप मुनि-स्मरण तथा श्रुति एवं सूत्र—दोनों के पण्डित भाष्यकार के वचन सर्वशः एक ही अधिकारी में तीन दृष्टियों की अपेक्षा से ही घटते हैं। एक में तीन दशाओं के बिना घटते ही नहीं ॥

भावितार्थ—सृष्टि-प्रतिपादक एवं तन्निषेध-बोधक श्रौत वाक्य, व्यास मुनि के सूत्र तथा श्रुति-सूत्र-व्याख्यानों में परम दक्ष भाष्यकार शङ्कराचार्य के वचन एक ही अधिकारी में उक्त तीन अवस्थाओं की अपेक्षा करके ही प्रवृत्त हुए हैं। अर्थात् परस्पर विरोधी वाक्यों का सामञ्जस्य एक ही अधिकारी के अवस्था-भेद को लेकर ही किया जा सकता है, अन्यथा नहीं ॥ ९३ ॥

परिणामवाद का सहारा लेकर विरोध का परिहारमात्र किया गया था, परिणामवाद को सिद्धान्त मानने के लिए नहीं—

अतोऽनपोह्यैव च तत्त्वसंवित्
उत्पादनेऽध्यक्षमितेः पुरस्तात् ।
सामर्थ्यमक्षादिविरोधमस्य
निवारयामास समन्वयस्य ॥ ९४ ॥

योजना—अतः अध्यक्षमते तत्त्वसंविदुत्पादने सामर्थ्यमनपोह्य एव पुरस्तात् अस्य समन्वयस्य अक्षादिविरोधं निवारयामास ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ—अतः प्रत्यक्षप्रमाण में तत्त्व-बोध-जनन के सामर्थ्य का निराकरण न करके ही पहले इस समन्वय के प्रत्यक्षादि विरोध का निवारण सूत्रकार ने किया ॥

भावितार्थ— परिणाम भी उपकारी है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण में तत्त्वावेदकत्व का निराकरण न करके ही प्रथमतः समन्वय में प्रत्यक्षादि-विरोध का निराकरण सूत्रकार ने किया ॥ ९४ ॥

पश्चात् आरम्भणाधिकरण में सिद्धान्त-दृष्टि से विरोध का परिहार किया गया है—

इहाधुनाऽऽरम्भणशब्दशक्तिं
संश्रित्य तत्त्वावगतिक्षमत्वम् ।
अक्षादिमानस्य निराकरोति
समन्वयस्यापनयन् विरोधम् ॥ ९५ ॥

योजना—अधुना इह समन्वयस्य विरोधम् अपनयन् आरम्भणशब्दशक्तिं संश्रित्य अक्षादिमानस्य तत्त्वागतिक्षमत्वं निराकरोति ॥ (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इस आरम्भणाधिकरण में समन्वय का विरोध हटाने के लिए आरम्भण शब्द की शक्ति का आश्रयण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों में तत्त्व-बोध-क्षमता का निराकरण सूत्रकार ने किया है ।

भावितार्थ— अब अखण्ड वाक्यार्थ के अनुगुण सूत्रकार आरम्भण शक्ति का आश्रय लेकर प्रत्यक्षादि प्रमाणों में तत्त्वावेदन-क्षमता का निराकरण करते हैं ॥ ९५ ॥

अखण्डवाक्यार्थ-समन्वय का साधन होने से विवर्तवाद अवश्य उपादेय है—

अखण्डवाक्यार्थमनुव्रजन्ती
समन्वयोत्थापितबुद्धिवृत्तिः ।
अक्षादिभिस्तत्त्वनिवेदने हि
सद्यः परिम्लायति निर्विशङ्कम् ॥ ९६ ॥

योजना—अक्षादिभिः तत्त्वनिवेदने हि अखण्डवाक्यार्थम् अनुव्रजन्ती समन्वयोत्थापितबुद्धिवृत्तिः निर्विशङ्कं सद्यः परिम्लायति ॥ (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—प्रत्यक्षादि से तत्त्वबोध कराने पर अखण्ड वाक्यार्थविषयक समन्वय-जन्य-बुद्धि-वृत्ति निःसन्दिग्धरूप से शीघ्र ही मुरझा जाती है, अर्थात् बाधित हो जाती है ॥

भावितार्थ—यदि प्रत्यक्षादि का बाध न किया जाय, तब समन्वय-जनित अखण्ड-वाक्यार्थविषयणी बुद्धि-वृत्ति बाधित हो जाती है, अतः प्रत्यक्षादि का बाध करना आवश्यक है ॥ ९६ ॥

समन्वय सूत्रादि से अखण्डैकरस में समन्वय दृढ़ रूप से स्थापित कर दिया गया है, अतः उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती—

अखण्डमेवाद्वयमात्मतत्त्वं
त्रयीशिरोवाक्यमनुप्रविष्टाः ।
वदन्ति शब्दा इति शब्दशक्ति-
निरूपणे पूर्वमुदीरितं हि ॥ ९७ ॥

योजना—त्रयीशिरोवाक्यम् अनुप्रवृष्टाः शब्दाः शब्दशक्तिनिरूपणे अखण्डमेव वदन्तीति पूर्वमेव शब्दशक्तिनिरूपणे उदीरितम् ॥ (उपेन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—वेदान्तवाक्यगत सत्यादि शब्द शब्द-शक्ति का निरूपण करने पर अखण्ड अर्थ को कहते हैं—यह पहले अध्याय में कहा जा चुका है ॥

भावितार्थ—प्रथम अध्याय (श्लोक १४४) में शब्द-शक्ति-निरूपण के प्रसङ्ग में कहा जा चुका है कि वेदान्त-वाक्यगत सत्यादि पद अखण्डार्थ को कहते हैं ॥ ९७ ॥

अतो विरोधस्य निराससिद्ध्यै
निरस्यतेऽक्षादिषु तत्त्वभागः ।
संरक्ष्यतेऽसंव्यवहारशक्ति-
भागः पुनः सर्वमतोऽनवद्यम् ॥ ९८ ॥

योजना—अतः विरोधस्य निरासिसिध्यै अक्षादिषु तत्त्वभागः निरस्यते, संव्यवहार-शक्तिभागः पुनः संरक्ष्यते अतः सर्वम् अनवद्यम् ॥ (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—अतः विरोध-परिहार करने के लिए प्रत्यक्षादि में पारमार्थिकत्व भाग का निरास किया जाता है और सांव्यवहारिकभाग का संरक्षण किया जाता है, इसलिए समस्त प्रतिपादन निर्दुष्ट ठहरता है ।

भावितार्थ—वेदान्त-वाक्य पारमार्थिक भेद का निराकरण करते हैं और प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण व्यावहारिक भेद के साधक हैं । इस प्रकार वेदान्त-वाक्यों से प्रत्यक्षादि का विरोध नहीं रह जाता । यदि प्रत्क्षार्यदि तात्त्विक भेद के बोधक होते तो अवश्य वेदान्त-वाक्यों से विरोध उपस्थित होता । इसीलिए प्रत्यक्षादि की तत्त्वावेदकता का निराकरण किया जाता है ॥ ९८ ॥

विवर्त में व्यावहारिकत्व सिद्ध करते हैं—

चितिवस्तु नः स्वमहिमस्फुरणे
स्वयमेव कारणमिति प्रगतम् ।
प्रतिबध्य तच्चितिगताग्रहणं
विपरीतबुद्धिमुपढौकयति ॥ ९९ ॥

योजना—चिद्वस्तुनः स्वमहिमस्फुरणे स्वयमेव कारणमिति प्रगतम् । तत् प्रतिवध्य चितिगताग्रहणं विपरीतबुद्धिम् उपढौकयति ॥ (प्रमिताक्षरा)

योजितार्थ—चिद्वस्तु अपने स्वरूप-स्फुरण में स्वयं ही कारण है—यह श्रुति से प्रज्ञात है। उस स्फुरण को अवरुद्ध करके चितिगत अज्ञान विपरीत बुद्धि उत्पन्न करता है ॥

भावितार्थ—प्रत्यगात्मा के अज्ञान से जन्य है—समस्त प्रत्यक्षादि प्रमाण और प्रमेय-वर्ग। अविद्या दोष से जन्य होने के कारण प्रत्यक्षादि भ्रमरूप हैं; क्योंकि अज्ञान का स्वभाव है कि अधिष्ठान के विशेष स्फुरण को दबा कर विपरीत बुद्धि को उत्पन्न कर देता है ॥ ९९ ॥

अज्ञान यदि प्रत्यक्षादि में तत्त्वावेदकत्व सिद्ध नहीं होने देता, तब अपने (अज्ञान के) कार्यभूत मन आदि में व्यवहार-क्षमत्व कैसे सिद्ध होने देगा ? इस सन्देह को दूर करते हैं—

व्यवहारनिर्वहणशक्तिमसौ
न चिदग्रहोऽस्य विनिवारयति ।
परमार्थवेदनविधिक्षमताम्
अवखण्डयन्नपि मनःप्रभृतेः ॥ १०० ॥

योजना—असौ चिदग्रहः अस्य मनःप्रभृतेः परमार्थवेदनविधिक्षमताम् अवखण्डयन् अपि व्यवहारनिर्वहणशक्ति न निवारयति ॥ (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—यह प्रत्यगात्मा का अज्ञान अपने इस मन आदि कार्य में तत्त्वावेदन-शक्ति का खण्डन करता हुआ भी व्यवहार निर्वहण शक्ति का निवारण नहीं करता ॥

भावितार्थ—प्रत्येक दोष अपने आश्रय को ही निर्बल बनाता है, अपने कार्य को नहीं, जैसे नेत्रगत काचादि दोष नेत्र को निर्बल (कार्याक्षम) बनाते हैं, अपने कार्यभूत पाकानुमानादि को नहीं। ऐसे ही अविद्या दोष अपने आश्रय प्रत्यगात्मा को अपने विशेष स्फुरण में सक्षम नहीं रहने देता, किन्तु अपने कार्यभूत मन आदि में अक्षमता नहीं लाता, अतः उनमें व्यवहार-निर्वहण-क्षमता बराबर बनी रहती है ॥ १०० ॥

अज्ञान प्रत्यक्षादि के समान वेदान्तवाक्यगत तत्त्वावेदकत्व का अवरोध नहीं करता—

चितिवस्तुबुद्धिजनकस्य पुनः
वचसो न खण्डयति शक्तिमसौ ।
स्वनिबन्धनस्फुरणमेव चितेः
प्रतिबध्य तिष्ठति न वाचनिकम् ॥ १०१ ॥

योजना—असौ चितिवस्तुबुद्धिजनकस्य वचसः पुनः शक्ति न खण्डयति । चितेः स्वनिबन्धनस्फुरणमेव प्रतिबध्य तिष्ठति; वाचनिकं न ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—यह (चैतन्याज्ञान) चैतन्य वस्तु-ज्ञान के जनक वेदान्त-वचन की शक्ति का अवरोध नहीं करता; क्योंकि वह स्वप्रकाशभूत स्फुरण का ही प्रतिबन्धक होता है, वाचनिक स्फुरण का नहीं ॥

भावितार्थ—जैसे दूरत्वादि दोष चाक्षुषज्ञान के ही प्रतिबन्धक हैं; शब्दज्ञान के नहीं। वैसे ही अज्ञान स्वप्रकाशस्फुरण का ही विरोधी होता है; शाब्दस्फुरण का नहीं ॥१०१॥

अज्ञान में यह पक्षपात क्यों ? इसका उत्तर देते हैं—

प्रत्यक्षादेरेष दोषस्ततोऽयं
वेदान्तानां नैव दोषानुबन्धः ।
सत्यं वस्तुच्छादयन्नद्वितीयं
द्वैतं यस्मादानयत्येष दोषः ॥ १०२ ॥

योजना—एष प्रत्यक्षादेः दोषः, ततः अयं वेदान्तानां दोषानुषङ्गो न, यस्मात् एव दोषः सत्यं द्वितीयं वस्तु छादयन् द्वैतम् आनयति ॥ (शालिनी) ।

योजितार्थ—वह (अज्ञान) प्रत्यक्षादि का दोष है, अतः यह वेदान्त वाक्यों में दोष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि यह दोष सत्य अद्वितीय वस्तु का आच्छादन करके असत्य द्वैतविक्षेप को उत्पन्न करता है ॥

भावितार्थ—कार्य को देखकर ही अदृश्य शक्तियों का अनुमान किया जाता है। चैतन्यावच्छिन्न अज्ञान प्रमाणाकार से विवर्तित होता है। चक्षुरादि विवर्त अज्ञानप्रधान होते हैं, तथा वेदरूप विवर्त ज्ञानप्रधान होता है, इसलिए वह प्रत्यक्षादि का ही दोष है, वेदान्त का नहीं ॥ १०२ ॥

प्रत्यक्षादि तथा वेदान्तवाक्यों में समान विषयता न होने से बाध्य-बाधक भाव नहीं हो सकता—

किं च प्रतीचि सकलोपनिषत्प्रवृत्ता
मानान्तरं सकलमेव तु तत्पराचि ।
प्रत्यक्पराग्विषयगोचरयोस्तु बुद्ध्योः
स्पर्धा न संभवति मेयविभागसिद्धेः ॥ १०३ ॥

योजना—किं च सकला उपनिषत् प्रतीचि प्रवृत्ता, सकलमेव मानान्तरं तु पराचि। प्रत्यक्पराग्विषयगोचरयोः बुद्ध्योः स्पर्धाः सम्भवति न, मेयविभागसिद्धेः ॥ (व० छ०) ॥

योजितार्थ–सकल उपनिषत् शास्त्र प्रत्यगात्मा (के बोध) में प्रवृत्त हैं, किन्तु समस्त प्रत्यक्षादि प्रमाण बाह्य विषय (के प्रकाश) में प्रवृत्त हैं। प्रत्यगात्मविषयक तथा पराग्विषयक बुद्धियों का विरोध ही सम्भव नहीं, क्योंकि उनके विषय का भेद है ॥ १०३ ॥

युक्तियों से भी विरोध स्थिर नहीं होता—

अभिन्न एवैष पटः समीक्ष्यते
न भेदगन्धोऽपि पटे समीक्ष्यते ।
पटेऽपि भेदो यदि कल्प्यते तदा
पटो विदीर्येत कुतस्तदा पटः ॥ १०४ ॥

योजना—एष पटः अभिन्न एव समीक्षते, पटे भेदगन्धोऽपि न समीक्ष्यते। यदि पटेऽपि भेदः कल्प्यते, तदा पटो विदीर्येत, तदा पटः कुतः ? ॥ (व० छ०)

योजितार्थ—यह पट अभिन्न ही देखा जाता है, पट में भेद का नाम भी नहीं

देखा जाता। यदि पट में भी भेद की कल्पना की जाय, तो पट विदीर्ण हो जायगा, तब पट कहाँ ?

भावितार्थ—प्रत्यक्षादि भेद विषयक हैं, अतः वे अद्वैत समन्वय के विरोधी माने जाते हैं। यहाँ जिज्ञासा होती है कि पट में स्वयं अपना (उसी पट का) भेद प्रतीत होता है ? या अन्य घटादि का ? प्रथम पक्ष में यह दोष दिया जाता है कि पट में यदि अपना भेद माना जायगा, तब उस पट को अपने से भिन्न होना पड़ेगा। अर्थात् पट विदीर्ण हो जायगा, पट-भाव ही समाप्त हो जायगा ।। १०४ ।।

पट में अन्य (घटादि) का भेद प्रतीत होता है—इस द्वितीय पक्ष में दोष देते हैं—

घटात्पटो भिन्न इतीष्यते यदि
स्फुटं प्रसज्येत विकल्पिता भिदा।
न सत्यमापेक्षिकमीक्षितं क्वचित्
तथा च यत्नेन निवेदयिष्यते ।। १०५ ।।

योजना—यदि पटो घटात् भिन्नः इतीष्यते, स्फुटं भिदा विकल्पिता प्रसज्येत, आपेक्षिकं क्वचित् सत्यं न ईक्षितम्। तथा च यत्नेन निवेदयिष्यते ।। (वंशस्थम्) ।।

योजितार्थ—यदि पट घट से भिन्न है—ऐसा माना जाता है, तब निश्चित रूप से भेद कल्पित ही होगा, क्योंकि आपेक्षिक (पदार्थ) कहीं सत्य नहीं देखा गया। यह बात तृतीय अध्याय (श्लो० १२) में स्पष्ट की जायगी ।।

भावितार्थ—यदि घटादि-निरूपित भेद की प्रतीति पट में मानी जाय, तब वह सत्य न होकर अवश्य कल्पित ही होगा, क्योंकि स्फटिक में जपाकुसुम-निरूपित लालिमा कल्पित ही देखी जाती है। यहाँ यह अनुमान विवक्षित है—"घटापेक्षः पटगतभेदः सत्यो न भवति, अन्यापेक्षस्वभावत्वात्, यथा आलक्तकाद्यपेक्षं स्फटिकगतलौहित्यम्।" सापेक्ष-स्वभाव की असत्यता तृतीय अध्याय में पदार्थ शोधन के अवसर पर विस्तार से कही जायगी ।। १०५ ।।

भेद-बुद्धि का निरूपण भी नहीं हो सकता—

न भेदबुद्धिर्घटते प्रमाणतो
विनाऽपि धर्मिप्रतियोगिसंविदा।
न भेदबुद्धिं विरहय्य कल्प्यते
तथैव धर्मिप्रतियोगिधीरपि ।। १०६ ।।

योजना—धर्मिप्रतियोगिसंविदा विना प्रमाणतो भेदबुद्धिर्न घटते; तथैव भेदबुद्धिं विरहय्य धर्मिप्रतियोगिधीः अपि न कल्पते ।। (वंशस्थम्) ।।

योजितार्थ—अनुयोगी तथा प्रतियोगी के ज्ञान के बिना किसी प्रमाण से भेद-ज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही भेद-ज्ञान के बिना धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान नहीं हो सकता ।।

भावितार्थ–भेद सापेक्ष पदार्थ है, अर्थात् किसी पदार्थ का भेद किसी पदार्थ में रहता है। उसी का भेद उसी वस्तु में नहीं रह सकता–यह कहा जा चुका है; अतः भिन्न पदार्थ का भेद भिन्न पदार्थ में रखना होगा। भेदज्ञान हो जाने पर धर्मी अनुयोगी और प्रति-

योगी का ज्ञान एवं अनुयोगी-प्रतियोगी का ज्ञान हो जाने पर भेद-ज्ञान होगा। इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष आ जाता है ॥ १०६ ॥

वैधर्म्य को भेद मानने पर भी अन्योऽन्याश्रय दोष होता है—

परस्पराभावधिया न भेदधीः
विनोपपन्ना न तया विनेतरा ।
इतीदमन्योन्यसमाश्रयं यतो
मतिद्वयं तेन तदस्तु कल्पितम् ॥ १०७ ॥

योजना—"यतः परस्पराभावधिया विना भेदधीः न, तया विना इतरा उपपन्ना न" इतीदम् अन्योऽन्यसमाश्रयम्, तेन तत् मतिद्वयं कल्पितम् अस्तु ॥ (वंशस्थम्) ॥

योजितार्थ—(वैधर्म्य का स्वरूप है—अन्योऽन्य का भेदाभाव) अन्योऽन्य के भेदाभाव ज्ञान के बिना भेद-ज्ञान और भेद-ज्ञान के अन्योऽन्यभेदाभाव का ज्ञान उपपन्न नहीं, इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष के कारण दोनों बुद्धियों को कल्पित हीं मानना पड़ता है ॥ १०७ ॥

जड़ पदार्थों पर प्रमा का कोई फल भी नहीं, इसलिए भी प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं—

असन्निवृत्तिर्न च सन्निवृत्तिः
न चोपपन्ना सदसन्निवृत्तिः ।
जडप्रमाणस्य फलं ततोऽपि
न तेन वेदान्तजबुद्धिबाधः ॥ १०८ ॥

योजना—जडप्रमाणस्य फलं न, असन्निवृत्तिः उपपन्ना न सन्निवृत्तिः, न च सदसन्निवृत्तिः, ततोऽपि तेन वेदान्तबुद्धिबाधो न ॥ (उपेन्द्रवज्राच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—जड़विषयक (प्रत्यक्षादि) प्रमाणों का फल न तो असत् की निवृत्ति हो सकता है, न सत् की निवृत्ति और न सत्-असत् की निवृत्ति, इसलिए भी उन (प्रत्यक्षादि प्रमाणों) से वेदान्तजन्य बुद्धि का बाध नहीं हो सकता ॥

भावितार्थ—किसी पदार्थ की निवृत्ति या उत्पत्ति ही सर्वत्र प्रमाण का फल देखा जाता है। निवृत्ति-पक्ष में जिज्ञासा होती है कि प्रत्यक्षादि प्रभाणों का फल असत् की निवृत्ति है ? या सत् की निवृत्ति ? या सदसत् की निवृत्ति ? असत् तो नित्य निवृत्त ही है, उसकी निवृत्ति क्या बनेगी ? सत् पदार्थ की किसी भी प्रमाण से निवृत्ति नहीं हो सकती। सदसत् रूप कोई पदार्थ प्रसिद्ध ही नहीं, अतः उसकी निवृत्ति भी नहीं हो सकती। इस प्रकार प्रत्यक्षादि में प्रमाणता ही सिद्ध नहीं होती, उनसे वेदान्त का बाध होता ही कैसे ॥१०८॥

द्वितीय-पक्ष में (किसी की उत्पत्तिको प्रमाण-फल माननेपर) भी उक्त विकल्प अपरिहार्य है—

असत्प्रसूतिर्न च सत्प्रसूतिः
न चोपपन्ना सदसत्प्रसूतिः ।
जडप्रमाणस्य फलं ततोऽपि
न तेन वेदान्तजबुद्धिबाधः ॥ १०९ ॥

योजना—जडप्रमाणस्य फलं न असत्प्रसूतिः उपपन्ना, न सत्प्रसूतिः न च सदसत्प्रसूतिः, ततोऽपि तेन वेदान्तजबुद्धिबाधो न ॥ (उपेन्द्रवज्रा) ।

योजितार्थ—जड़विषयक प्रमाणों का फल न तो असत् की उत्पत्ति सम्भव है, न सत् की उत्पत्ति और न सदसत् की उत्पत्ति, इसलिए भी प्रत्यक्षादि से वेदान्त-जन्य बुद्धि का बाध नहीं हो सकता ॥ १०९ ॥

जड़विषयक संवित् की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं—

जडार्थसंविन्न च कुर्वतः फलं
तदा हि कुर्वत्त्वमपीदृशं भवेत् ।
अकुर्वतस्तत्फलमित्युदीरयन्
विहस्यते दुर्मतिरर्भकैरपि ॥ ११० ॥

योजना—जडार्थसंवित् हि कुर्वतः फलं न तदा हि कुर्वत्वमपि ईदृशं भवेत् । अकुर्वतः तत्फलम् इत्युदीरयन् दुर्मतिः अर्भकैरपि विहस्यते ॥ (वंशस्थम्) ॥

योजितार्थ—जड़विषयक ज्ञान कार्योन्मुख (प्रत्यक्षादि) का फल नहीं हो सकता, क्योंकि उस पक्ष में कार्योन्मुखत्व धर्म भी वैसा ही मानना होगा। कार्योन्मुख (प्रत्यक्षादि) का वह फल है—ऐसा कहनेवाला दुर्मति व्यक्ति बच्चों का भी उपहासास्पद होता है ॥

भावितार्थ—दण्डादि करण कार्योन्मुख (व्याप्रियमाण) होकर ही घटादि कार्य को उत्पन्न कर सकते हैं, कार्यानन्मुख (व्यापार-शून्य) होकर नहीं। इसी प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाण कार्य-कारण में प्रवृत्त होकर ही घटादि-ज्ञान को उत्पन्न कर सकते हैं, अप्रवृत्त प्रत्यक्षादि से कोई फल नहीं हो सकता। प्रथम पक्ष में कार्योन्मुखस्वरूप कुर्वद्रूपत्व भी कार्य है, उसका प्रयोजक अन्य कुर्वद्रूपत्व को मानने पर अनवस्थादि दोष प्राप्त होते हैं और द्वितीय पक्ष तो अत्यन्त उपहासास्पद है, क्योंकि जो दण्ड व्यापार-विशिष्ट नहीं हुआ, वृक्ष में ही लगा है, उससे घटादि की उत्पत्ति कथमपि सम्भावित नहीं ॥ ११० ॥

उत्पादक के स्वरूप की आलाचना से संवित् में प्रमाणफलत्व का निराकरण किया। अब संवित्-स्वरूप की पर्यालोचना से संवित् में प्रमाण-फलत्व का निरास करते हैं—

सती न संवित्क्रियते हि सत्त्वात्
न चासती तद्वदसत्त्वहेतोः ।
न चोपपन्नं सदसत्त्वमस्याः
ततो न कार्यत्वमुपैति संवित् ॥ १११ ॥

योजना—सती संवित् हि क्रियते न; सत्त्वात्। तद्वत् असती न; असत्त्वहेतोः। अस्याः सदसत्त्वम् उपपन्नं न; ततः संवित् कार्यत्वं न उपैति ॥ (उपेन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—सत् ज्ञान उत्पन्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह (पहले से ही) सत् है। वैसे यह असत् ज्ञान भी नहीं (उत्पन्न किया जा सकता), क्योंकि वह असत् (अलीक) है। इस संवित् (ज्ञान) में सदसत् उभयरूपता बनती नहीं, अतः संवित् में कार्यत्व नहीं निभता ॥

भावितार्थ—प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न करना चाहते हैं, वह (कारण

व्यापार से पहले) सत् था ? या असत् ? या सदसत् उभयपरक ? यदि पहले से ही सत् (विद्यमान) था, तब उसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता, इसीलिए बने हुए कार्य को बनाने में कोई प्रवृत्त नहीं होता। असत् नरशृङ्गादि के समान अत्यन्त अलीक है, अतः उसकी भी उत्पत्ति सम्भावित नहीं। सदसत् उभयरूप तो कोई वस्तु लोक में होती नहीं, फिर संवित् को उभयरूप मान कर उसकी उत्पत्ति कैसे की जा सकेगी ? इसलिए संवित् में कार्यत्व ही नहीं बनता, प्रत्यक्षादि की कार्यता क्योंकर रहेगी ॥ १११ ॥

सामान्यतः कार्यत्व का निरास किया जाता है—

न शक्यमुत्पाद्यमिति प्रशस्यते
तदा हि शक्तेरपि जन्यताऽऽपतेत् ।
अशक्यमुत्पाद्यमितीष्यते यदि
द्रुतं नभश्चूर्णय मुद्गरादिना ॥ ११२ ॥

योजना—शक्यम् उत्पाद्यम् इति प्रशस्यते न, तदा हि शक्तेरपि जन्यता आपतेत्। अशक्यम् उत्पाद्यम्—इति यदि इष्यते, तदा द्रुतं मुद्गरादिनाः नभः चूर्णय ॥ (वंशस्थम्)॥

योजितार्थ—शक्य (शक्तिविशिष्ट) पदार्थ उत्पाद्य होता है यह मानना युक्त नहीं, क्योंकि तब तो शक्ति को भी जन्य मानना पड़ेगा। अशक्य पदार्थ उत्पाद्य है—ऐसा यदि मानें, तब मुगरियों से आकाश को शीघ्र चकनाचूर कीजिए (तो देखूं कि आप अशक्य कैसे करते हैं) ॥

भावितार्थ—कार्यभाव के लिए यह पूछा जा सकता है कि अशक्य कार्य की उत्पत्ति मानते हैं ? या शक्य कार्य की ? शक्य अर्थात् शक्ति-विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति मानने पर विशेषणभूत शक्ति की भी उत्पत्ति माननी होगी। शक्ति की उत्पत्ति मानने पर शक्य (शक्ति-विशिष्ट) शक्ति की ही उत्पत्ति माननी होगी—इस प्रकार शक्ति में शक्ति और उसमें शक्ति मानने पर अनवस्था होगी। अशक्य कार्य की तो उत्पत्ति हो नहीं सकती, नहीं तो आकाश को भी चूर-चूर करने लग जायंगे ॥ ११२ ॥

जड़ विषयक प्रमाण के फल का निरूपण न हो सकने से प्रत्यक्षादि में अप्रामाण्य आ जाता है—

जडप्रमाणस्य फलानिरूपणात्
जडस्य तत्त्वं न निरूपणक्षमम् ।
अतो न मानान्तरमर्थतोऽपि नः
त्रयीशिरोवस्तु निराकरिष्यति ॥ ११३ ॥

योजना—जडप्रमाणस्य फलानिरूपणात्, जडस्य तत्त्वं निरूपणक्षमं न। अतः मानान्तरम् अर्थतोऽपि नः त्रयीशिरोवस्तु निराकरिष्यति न ॥ (वंशस्थम्) ॥

योजितार्थ—जड़ विषयक प्रमाण के फल का निरूपण न हो सकने से जड़ विषय में अनेकत्वादि सिद्ध नहीं हो सकते, अतः (प्रत्यक्षादि) प्रमाणान्तर से अर्थ के द्वारा भी वेदान्त-प्रतिपाद्य वस्तु का निराकरण नहीं होगा ॥

भावितार्थ—दो प्रकार का प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव देखा जाता है, १–प्रमाज्ञानों का और २–उनके विषयों का। ज्ञानों में साक्षात् और अर्थों में ज्ञान के द्वारा। प्रकृत में प्रत्यक्षादि प्रमाण ही निष्प्रयोजन निस्तत्व हो जाने से अद्वैतागम का बाध नहीं कर सकते। इसीलिए प्रत्यक्षादि के विषय से औपनिषद विषय का बाध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्षादि जब स्वयं प्रमाण नहीं रहे, तब उनका विषय प्रमाणित कैसे होगा ? और वह किसी और विषय का बाध कैसे करेगा ? ॥ ११३ ॥

यह जो कहा गया था कि प्रत्यक्षादि प्रमाण केवल बाह्यविषयक हैं, आत्मा को विषय नहीं करते; अतः उनका विषय अज्ञान नहीं होता। उस पर यदि प्रत्यक्षादि-सत्यत्ववादी कहे कि प्रत्यक्ष का विषय केवल घट नहीं, अपितु घटावच्छिन्न आत्मा है, अतः प्रत्यक्षादि भी आत्मविषयक ही हैं। वे आत्मा को सावच्छिन्न बताते हैं, अतः निरवच्छिन्न आत्म-बोधक उपनिषद् के विरोधी हैं—

आत्मन्येव समस्तमस्तु यदि वा मानान्तरं तेन च
स्पष्टं वेदशिरोविरुद्धमिति च स्वीकुर्महे कामतः।
एवं सत्यपि पूर्वभाविसकलं मानान्तरं बाधते
पश्चात्कस्यचिदेव वेदशिरसो जाता परब्रह्मधीः॥ ११४ ॥

योजना—यदि वा समस्तं मानान्तरम् आत्मन्येव अस्तु, तेन च स्पष्टं वेदशिरोविरुद्धम् इति कामतः स्वीकुर्महे। एवं सत्यपि पूर्वभाविसकलं मानान्तरं पश्चात् कस्यचिदेव वेदशिरसो जाता पदब्रह्मधीः बाधते॥ (शा० वि० छ०)॥

योजितार्थ अथवा समस्त प्रत्यक्षादि मानान्तर का आत्मा ही विषय मान लिया जाय, उससे स्पष्टतः वेदान्त-वचन विरुद्ध हैं, यह भी हम मान लेते हैं। तथापि पूर्वभावी सकल (प्रत्यक्षादि) मानान्तर का पश्चाद्भावी किसी भी वेदान्तवाक्य-जन्य ब्रह्मविषयक बुद्धि बाध कर देती है॥

भावितार्थ—प्रत्यक्षादि तथा उपनिषत्–इन दोनों प्रमाणों में विरोध मान भी लिया जाय, तब भी वेदान्त-जन्य ज्ञान ही बाधक ठहरता है, क्योंकि प्रत्यक्षादि-जन्य ज्ञान पूर्ववर्ती है और प्रत्यक्षादि से संगति-ग्रहण की अपेक्षा करके वेदान्तवाक्यों से बोध पश्चात् उत्पन्न होगा। पूर्व से पर बलीय होता है॥ ११४॥

[पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यन्यायः]

विपरीत क्यों न मान लिया जाय कि असंजातविरोधी होनें के कारण पूर्वभावी प्रबल तथा पश्चाद्भावी संजातविरोधी होने से दुर्बल है। इस सन्देह का प्रतीकार करते हैं–

पूर्वोत्पन्नमृगाम्बुविभ्रमधियो बाधं विना नोत्तरं
विज्ञानं समुदेतुमप्यलमुतो याथात्म्यमावेदयत्।
शक्नोतीति यथा मृगाम्बुधिषणामुन्मृद्यदुत्पद्यते
तद्वद्वेदशिरोवचोजनितधीर्भेदभ्रमं ब्रह्मणि॥ ११५ ॥

योजना—यथा पूर्वोत्पन्नमृगाम्बुविभ्रमधियो बाधं विना ऊषरभुवो याथात्म्यम् आवेदयत् उत्तरं विज्ञानम् समुदेतुं न शक्नोतीति मृगाम्बुधिषणाम् उन्मृद्यत् उत्पद्यते। तद्वत् वेदशिरोवचोजनितधीः ब्रह्मणि भेदभ्रमम् ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—जैसे पूर्वोत्पन्न मृगतृष्णिका-जल-भ्रम-ज्ञान का बाध किये विना उस भूमि में यथावत् विषय का बोधक उत्तर (नेदं जलम्) ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता, इसलिए वह मृगतृष्णिका-जल-ज्ञान को बाध करता हुआ ही जन्म लेता है। वैसे ही वेदान्तवाक्य-जन्य ब्रह्मधी ब्रह्म में द्वैत भ्रम का बाध करती हुई उत्पन्न होगी ॥

भावितार्थ—अपने देश के पूर्ववर्ती अन्धकार का विनाश करता हुआ ही प्रकाश उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। कुमारिलभट्ट ने स्पष्ट कहा है—"पूर्वाबाधेन नोत्पत्तिरुत्तरस्य हि कर्हिचित्"। इस प्रकार आत्मा में पूर्व विद्यमान द्वैत भ्रम को नाश करता हुआ ही वेदान्तजन्य अद्वैत-ब्रह्म-बोध जन्म ले सकता है, अन्यथा नहीं। अतः यहाँ उत्तर ज्ञान से ही पूर्व का बाध होगा, पूर्व से उत्तर का नहीं ॥ ११५ ॥

यह सिद्धान्त प्रामाणिक है—

पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यमाह
षष्ठेऽध्यायेऽवस्थितो जैमिनिर्यत् ।
वक्ष्यामस्तत्सर्वमानीय तुभ्यं
बुद्धिं स्वीयां सम्यगत्रावधत्स्व ॥ ११६ ॥

योजना—षष्ठे अध्याये अवस्थितो जैमिनिः यत् पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यम् आह, तत् सर्वम् आनीय तुभ्यं वक्ष्यामः। अत्र स्वीयां बुद्धिम् आधत्स्व ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—षष्ठ अध्याय में चलकर महर्षि जैमिनि ने जो कहा है—'पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्' (जै० सू० ६।५।५४) वह सब कुछ यहाँ लाकर तुम्हें सुनाऊँगा। हमारे वचनों में अपनी बुद्धि को स्थिर करो ॥ ११६ ॥

प्रतिज्ञा पूरी कर रहे हैं—

उद्गातृप्रतिहर्तृकर्तृकतया जातौ वियोगौ क्रमात्
यस्मिन्कर्मविधिप्रयोगसमये तत्रैष नः संशयः ।
किं सर्वद्रविणव्ययो भवतु वा संस्थापनं दक्षिणा-
हीनस्येति तदा परं बलवदित्यूचे मुनिर्जैमिनिः ॥ ११७ ॥

योजना—यस्मिन् कर्मविधिप्रयोगविषये उद्गातृप्रतिहर्तृकर्तृकतया क्रमात् वियोगौ जातौ, तत्र नः एष संशयः—किं सर्वद्रविणव्ययो भवतु ? वा दक्षिणाहीनस्य सस्थापनमिति ? तदा परं बलवद् इति जैमिनिः ऊचे ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—जिस कर्म-प्रयोग में उद्गाता और प्रतिहर्ता का क्रमशः अपच्छेद हुआ है, वहाँ यह संशय होता है कि क्या सर्वस्व दक्षिणा देकर (वह प्रयोग पूरा) किया जाय ? अथवा विना दक्षिणा के ही वह प्रयोग समाप्त किया जाय ? वहाँ उत्तरभावी प्रबल होता है—ऐसा महर्षि जैमिनि ने कहा है ॥

भावितार्थ— ज्योतिष्टोम यागमें वहिष्पवमान स्तोत्र के लिए हविर्धान नामक मण्डप से बाहर निकलते समय ऋत्विज एक-दूसरे की कच्छ पकड़ कर इस प्रकार चलते हैं—"अध्वर्युं निष्क्रामन्तं प्रस्तोता सन्तनुयात्, तं प्रतिहर्त्ता, तमुद्गाता, तं ब्रह्मा, तं यजमानः, यजमानं प्रशास्ता" (तां० ब्रा० ६।७।१३) अर्थात् सबसे आगे अध्वर्यु चलता है, उसके पीछे प्रस्तोता, उसके पीछे प्रतिहर्त्ता, उसके पीछे उद्गाता, उसके पीछे ब्रह्मा, उसके पीछे यजमान और यजमान के पीछे प्रशास्ता चलता है। वहाँ "यद्युद्गाताऽपच्छिन्द्याद् अदक्षिणो यज्ञः संतिष्ठते, यदि प्रतिहर्त्ता सर्वस्वं दद्यात्" अर्थात् यदि उद्गाता से अपच्छेद हो (अर्थात् उद्गाता के हाथ से कच्छ छूट जाय) तो उस आरब्ध प्रयोग को विना दक्षिणा के पूरा करके दूसरा प्रयोग विधिपूर्वक करे और यदि प्रतिहर्त्ता से अपच्छेद हो तो उस प्रयोग को सर्वस्व दक्षिणा देकर पूरा करे। यदि दोनों से एक साथ अपच्छेद हो, तब के लिए सूत्रकार ने कहा है—"पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्" (जै० सू० ६।५।५४) अर्थात् ऐसी परिस्थिति में पूर्व निमित्त दुर्बल और पर प्रबल माना जाता है ॥ ११७ ॥

सूत्रस्थ 'प्रकृतिवत्' पद की व्याख्या करते हैं—

तद्वत्प्राकृतवैकृतावतितरामन्योन्यसंस्पर्धिनौ
धर्मौ बाध्यनिवर्तकावभिमतौ बुद्धौ क्रमेणान्वयात् ।
पाठव्यत्ययसम्भवेऽपि हि तयोर्बुद्धिक्रमो विद्यते
पूर्वा प्राकृतधर्मधीरितरधीरन्त्या तथैवोत्थितेः ॥ ११८ ॥

योजना—तद्वत् प्राकृतवैकृतौ अतितराम्, अन्योऽन्यसंस्पर्धिनौ धर्मौ बाध्यनिवर्तकौ अभिमतौ, बुद्धौ क्रमेण अन्वयात् । तयोः पाठव्यत्ययसम्भवेऽपि हि बुद्धिक्रमो विद्यते, प्राकृतधर्मधीः पूर्वा, इतर धीः अन्त्या, तथैवोत्थितेः ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—जैसे कि प्राकृत (प्रकृति में विहित) और वैकृत (विकृति में उपदिष्ट) धर्म परस्पर विरोधी हो जाने पर बाध्यबाधक भावापन्न माने जाते हैं, क्योंकि बुद्धि से पदार्थों का क्रमशः अन्वय होता है। उनके पाठ में व्यत्यय होने पर भी बुद्धि-क्रम यही रहता है—प्राकृत धर्म पूर्व और वैकृत धर्म पर या अन्त्य, क्योंकि इसी क्रम से उनकी उपस्थिति होती है ॥ ११८ ॥

"श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणादि" (जै० सू० ३।१) सूत्र में महर्षि जैमिनि ने पारदौर्बल्य और "पौर्वापर्यं" (जै० सू० ६।५।५४) सूत्र में पूर्वदौर्बल्य कहा है, अतः इनकी व्यवस्था क्या ? यह दिखाते हैं—

सापेक्षावुदितौ यदा तु भवतः पूर्वापरौ प्रत्ययौ
पूर्वस्तत्र निवर्त्तको भवति तत्रान्त्यो निवर्त्यो यथा ।
वेदोपक्रमजा मतिर्बलवती नर्गादिसंहारजा
वेदोपक्रममुख्यभाग्भवति तत्रर्गादिवाणी गुणात् ॥ ११९ ॥

योजना—यदा तु पूर्वापरौ प्रत्ययौ सापेक्षौ उदितौ भवतः, तत्र पूर्वः निवर्तकः, अन्त्यो विवर्त्यो भवति । यथा—वेदोपक्रमजा मतिः बलवती, ऋगादिसंहारजा न । तत्र वेदोपक्रममुख्यभाग् भवति ऋगादिवाणी न, गुणात् ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—जहाँ पूर्व पर ज्ञान परस्पर सापेक्ष होते हैं, वहाँ पूर्वप्रत्यय निवर्तक और पर प्रत्यय विवर्त माना जाता है। जैसे—उपक्रमस्थ वेदवाक्य-जन्य बुद्धि ही बलवती होती है; उपसंहारस्थ ऋगादिवाक्य-जन्य नहीं ॥

भावितार्थ—महर्षि जैमिनि का आशय है कि पूर्व से सापेक्ष पर दुर्बल होता है और प्रथम पक्ष को हृदय में रखकर "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पारदौर्बल्यम्" कहा है और द्वितीय पक्ष को हृदय में रख कर "पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यम्" कहा है ॥११९॥

शारीरिक में भी पूर्व का पर बाध्य बताया है—

ब्रह्मपुच्छमिति वाक्यगामिनोः
ब्रह्मपुच्छमितिशब्दयोर्द्वयोः ।
ब्रह्मशब्दबलवत्तरत्वतः
पुच्छशब्दपरिपीडनं मतम् ॥ १२० ॥

योजना—'ब्रह्मपुच्छम्'—इतिवाक्यगामिनोः 'ब्रह्म' 'पुच्छम्'—इति द्वयोः शब्दयोः ब्रह्मशब्दबलवत्तरत्वतः पुच्छशब्दपरिपीडनं मतम् ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—'ब्रह्मपुच्छम्'—इस वाक्य के ब्रह्म और पुच्छ इन दो शब्दों में ब्रह्मशब्द बलवत् होने के कारण पुच्छ शब्द का बाध माना गया है ॥

भावितार्थ—आनन्दमय वाक्य में 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० २।५।१) यहाँ श्रुत 'ब्रह्म' पद और 'पुच्छ' पदों में पूर्व (ब्रह्म) पद उपक्रमस्थ होने का कारण उपसंहारस्थ पुच्छ पद का बाधक है। अर्थात् 'पुच्छ' पद को अपने वाच्य अवयवार्थ से हटाकर अधिष्ठानार्थ से सम्बन्धित करता है ॥ १२० ॥

उक्त नियम का अपवाद दिखाते हैं—

अथ यद्युपक्रमणमल्पतरं
भवति प्रभूतमुपसंहरणम् ।
बलवत्तदा चरममेव भवेत्
उभयोर्विरोधसमये नितराम् ॥ १२१ ॥

योजना—अथ यदि उपक्रमणम् अल्पतरम् भवति, उपसंहरणं प्रभूतम्, तदा उभयोः विरोधसमये चरममेव नितरां बलवत् भवेत्। (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—यदि उपक्रम अल्प हो और उपसंहार प्रभूत, तब दोनों का विरोध होने पर अन्तिम (उपसंहार) ही प्रबल होता है।

भावितार्थ—उपक्रम यदि स्वल्प निर्देशमात्र है और उपसंहार बहुल, तब उपसंहार ही बाधक होता है और "अस्य लोकस्य का गतिः ? आकाश इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशेह्येवेभ्यः ज्यायानाकाशः परायणम्" (छां० १।९।१) यहाँ आकाश पद उपक्रम में होने पर भी उपसंहारगत ब्रह्मलिङ्ग के वाक्य के अनुसार अपने वाच्य-भूताकाश से हटाकर ब्रह्मपरक ठहराया जाता है। क्योंकि उपक्रम में तो केवल एक आकाश शब्द से भूताकाश का निर्देशमात्र होता है, किन्तु उपसंहार के वाक्य शेष में ब्रह्म-गमक जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय के सूचक लिङ्ग पुष्कल हैं ॥ १२१ ॥

इस न्याय का भी अपवाद दिखाते हैं—

अथ यद्युपक्रमणमल्पमपि
प्रतिपाद्यवस्तुविषयं भवति ।
अविवक्षितार्थविषयं चरमं
भवति प्रभूतमपि बाध्यमदः ॥ १२२ ॥

योजना—अथ यदि उपक्रमणम् अल्पमपि प्रतिपाद्यवस्तुविषयं भवति, चरमम् प्रभूतमपि अविवक्षितार्थविषयं भवति; अदः बाध्यम् ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—यदि उपक्रम अल्प होने पर भी प्रतिपाद्य वस्तुपूरक है और चरम (उपसंहार) बहुल होने पर भी अविवक्षितार्थक है; तब वह बाध्य होता है ॥

भावितार्थ—'आत्मग्रहीतिरितरवदुत्तरात्' (ब्र० सू० ३।३।१६) में बताया गया है कि 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ० १।१) यह आत्मैकत्वप्रतिपादक उपक्रम स्वल्प होने पर भी उपसंहार के 'ताभ्यो गामानयत्' आदि महान् प्रपञ्च का बाध करके पूरे खण्डलक का तात्पर्य आत्मैकत्व के प्रतिपादन में निश्चित करता है ॥ १२२ ॥

आसन्नविषयक होने के कारण भी अद्वैतागम प्रत्यक्षादि का बाधक है—

आसन्नवस्तुविषयेण यथाऽक्षजेन
बाधो भवत्यनुमितेर्व्यवधानयोगात् ।
प्रत्यक्त्वमात्रविषयेण तथाऽऽगमेन
युक्तोऽक्षजादिविषयावगमस्य बाधः ॥ १२३ ॥

योजना—यथा आसन्नवस्तुविषयेण अक्षजेन अनुमितेः बाधो भवति, व्यवधानयोगात् । तथा प्रत्यक्त्वमात्रविषयेण आगमेन अक्षजातिविषयावगमस्य बाधो युक्तः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—जैसे अव्यवहित वस्तु को विषय करने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमिति का बाधक होता है; क्योंकि वह व्यवहित विषयक है । वैसे ही प्रत्यगात्ममात्रविषयक आगम से व्यवहित विषयक प्रत्यक्षादि जन्य विषय-ज्ञान का बाध युक्त है ॥

भावितार्थ—जैसे स्फटिक में श्वेतता साक्षात् अपना रूप है और लालिमा व्यवहित है, क्योंकि वह जपाकुसुमादि उपाधियों के द्वारा प्राप्त हुई है । अतः स्फटिकगत श्वेतत्व-प्रत्यक्ष से लालिमानमान का बाध होता है । वैसे ही आत्मवस्तु में एकत्व आनन्दत्वादि साक्षात् अपने रूप हैं और कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि व्यवहित (औपाधिक) रूप हैं । इसलिए एकत्वादिविषयक आगम से कर्तृत्वादिविषयक प्रत्यक्ष का बाध होता है ॥ १२३ ॥

वेदान्त प्रमाण इतर सभी प्रमाणों का उपजीव्य होने से भी प्रबल है—

किञ्चाऽम्नायवचः प्रमेयबलतः सर्वं प्रमाणान्तरं
स्वार्थं साधयतीति तत्सकलमेवाऽऽयत्तमस्मिन्भवेत् ।
यद् यत्राऽऽयतते विरोधसमये तेनास्य तद् बाधने
सामर्थ्यं न च विद्यते श्रुतिवचोबाधे यथा हि स्मृतेः ॥१२४॥

योजना—किं च आम्नायवचः प्रमेयबलतः सर्वं प्रमाणान्तरं स्वार्थं साधयतीति सकलमेव अस्मिन् आयत्तम्। यद् यत्र आयतते विरोधसमये तद्बाधेन अस्य (उपजीवकस्य) सामर्थ्यं न च विद्यते, यथा श्रुतिवचोबाधे स्मृतेः ।। (शा० वि० छ०) ।।

योजितार्थ—वेदान्त-प्रतिपाद्य (आत्मादि) के बल पर समस्त प्रत्यक्षादि प्रमाण अपने विषय के प्रकाशक होते हैं, इसलिए प्रत्यक्षादि सभी प्रमाण इस (वेदान्त प्रमाण) के अधीन हैं। जो जिसके अधीन होता है, विरोध-समय उस (आश्रय) के बाध करने का इस (आश्रित) में सामर्थ्य नहीं होता। जैसे कि श्रुति-वचन के बाध का स्मृति-वचन में सामर्थ्य नहीं ।।

भावितार्थ—'आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति' (बृह० ४।३।६) आदि वेदान्त-वाक्यों का जो प्रमेय है, स्वयं प्रकाशात्मा, इसके बिना प्रत्यक्षादि अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्यक्षादि से उत्पन्न घटाकार वृत्ति मात्र से घटादि का प्रकाश नहीं होता, किन्तु उक्त वृत्यवच्छिन्न स्वप्रकाश चैतन्य ही से प्रकाश होता है। इस प्रकार प्रत्यक्षादि को अपने प्रमेय-साधन में जिस स्वप्रकाश चिदात्मा एवं प्रमातादि की अपेक्षा है, उनका साधक एकमात्र वेदान्त प्रमाण है, अतः वेदान्त उपजीव्य और प्रत्यक्षादि उपजीवक हैं। उपजीव्य-उपजीवक का विरोध उपस्थित होने पर उपजीव्य ही प्रवल माना जाता है। जैसे श्रुति उपजीव्य और स्मृति (धर्मशास्त्र) उपजीवक है। 'आदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत' इस श्रुति का 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या' इस स्मृति से विरोध उपस्थित होने पर श्रुति की बाधिका होती है। ऐसे ही प्रकृत में वेदान्त प्रमाण से ही प्रत्यक्षादि का बाध होगा, प्रत्यक्षादि से वेदान्त का नहीं ।। १२४ ।।

[संसारस्य ज्ञानैकनिवर्त्यत्वम् ।

सभी बुद्धि-वृत्तियाँ माया-जन्य हैं, तब प्रत्यक्षादि-जन्य बुद्धि-वृत्ति का ही बाध वेदान्त जन्य बुद्धि-वृत्ति से होगा ? इस शंका का समाधान है—

ब्रह्माज्ञानसमुद्भवं ग्रहगणं सातिग्रहं ब्रह्मणः
स्वाकारग्रहणेन वेदशिरसो जाता मतिर्बाधते।
विद्यावस्तुबलेन जन्म लभते माया तु निर्वस्तुका
सा तामुद्भवमात्रतः क्षपयति ध्वान्तं यथा भास्करः ॥१२५॥

योजना—वेदशिरसो जाता मतिः ब्रह्मणः स्वाकारग्रहणेन ब्रह्माज्ञानसमुद्भवं [1]साति-ग्रहं ग्रहगणं[2] बाधते। विद्या वस्तुबलेन जन्म लभते, माया तु निर्वस्तुका। सा उद्भवमात्रतः तां क्षपयति, यथा भास्करो ध्वान्तम् ।। (शा० वि० छ०) ।।

योजितार्थ—वेदान्त-वाक्य-जन्य बुद्धि ब्रह्म का स्वाकार ग्रहण करती है, ब्रह्म के अज्ञान से समुद्भूत विषय सहित इन्द्रियों का बाध करती है। विद्या वस्तुस्वरूप को

---

[1] गृह्णन्ति बध्नन्ति क्षेत्रज्ञमिति ग्रहाः इन्द्रियाणि 'प्राणो वै ग्रहः' (बृह० ३।१।१) 'चक्षुर्वैग्रहः' (बृह० ३।२।५) आदि श्रुतेः।

[2] ग्रहमिन्द्रियमतिक्रम्य वर्तते इति अतिग्रहाः विषयाः 'इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः' इति स्मृतेः सरूपेणानिग्रहणगृहीतः (बृह० ३।२।५) इति श्रुतेः।

स्वप्न-दृष्टान्त को स्पष्ट करते हैं—

सुप्तो जन्तुः स्वल्पमात्रेऽपि काले
कोटीः पश्येद् वृत्तसंवत्सराणाम् ।
पश्येत्कोटीरेवमागामिनां च
जाग्रत्काले योजयेत्सर्वमेतत् ॥ १३० ॥

योजना—सुप्तो जन्तुः स्वल्पमात्रे कालेऽपि वृत्तसंवत्सराणां कोटीः पश्येत्, एवं आगामिनां कोटीः पश्येत् । एतत् सर्वं जाग्रत्काले योजयेत् ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—सोया हुआ जीव थोड़े-से ही समय में अतीत करोड़ों वर्षों एवं आगामी समय के करोड़ों वर्षों के प्रपञ्च को देखता है । यह पूरा न्याय जाग्रत् में समझ लेना चाहिए ॥ १३० ॥

जाग्रत्काल में उक्त न्याय घटाते हैं—

कालोऽनादिस्तत्र मुक्ताः शुकादिः
कालोऽनन्तो मोक्ष्यते तत्र चान्यः ।
इत्येवं ते बन्धमोक्षव्यवस्था-
संसिद्धिः स्यादापरात्मप्रबोधात् ॥ १३१ ॥

योजना—अनादिकालः तत्र शुकादिः मुक्तः, अनन्तः कालः तत्र अन्यः मोक्ष्यते—इत्येवं ते आपरात्मप्रबोधात् बन्धमोक्षव्यवस्थासंसिद्धिः स्यात् ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—अनादि (अतीत) काल है, उसमें शुकादि मुक्त हो चुके हैं । अनन्त (भविष्यत काल है, उसमें भी) कोई और मुक्त होगा—इस प्रकार ब्रह्मज्ञान के पूर्व की सब बन्ध-मोक्ष व्यवस्था सिद्ध हो जाती है ।

भावितार्थ—अविवेकी पुरुष की दृष्टि में बद्ध-मुक्त का भेद प्रतीत होता है । उसके लिए अतीतकाल में शुकदेवादि मुक्त पुरुषों का उदाहरण ही पर्याप्त है ॥ १३१ ॥

बन्ध-मोक्ष के विषय में अपना मत दिखाया, क्रमशः सात अन्य मत दिखाते हैं—

अज्ञानं सकलभ्रमोद्भवनकृत्पिण्डेषु सामान्यवत्
जीवानां प्रतिबिम्बकल्पवपुषां बिम्बोपमे ब्रह्मणि ।
विद्वांसं पुरुषं जहाति भजते विद्याविहीनं नरं
नष्टानष्टमिवाऽऽत्मपिण्डमधुना जातिस्तथैके जगुः ॥ १३२ ॥

योजना—बिम्बोपमे ब्रह्मणि प्रतिबिम्बकल्पवपुषां जीवानाम् सकलभ्रमोद्भवनकृत् अज्ञानम्, पिण्डेषु सामान्यवत् । नष्टानष्टम् आत्मपिंडम्; विद्वासं पुरुषं जहाति विद्याविहीनं नरं भजते, अधुना जातिरिव तथा एके जगुः ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—बिम्बस्थानीय ब्रह्मविषयक तथा प्रतिबिम्बस्थानीय अनेक जीवों के आश्रित सकलप्रपञ्च-जनक एक ही अज्ञान अनन्त व्यक्तियों में एक जाति के समान रहता है । नष्ट व्यक्ति को जाति के समान ही विद्वान् पुरुष को अज्ञान छोड़ देता है और अनष्ट व्यक्ति को जाति के समान ही अविद्वान् पुरुष को अज्ञान आश्रय बनाता है ॥१३२॥

द्वितीय मत दिखाते हैं—

अज्ञानानि बहून्यसंख्यवपुषो जीवान्मुमुक्षूनपि
ज्ञानाज्ञानसमाश्रयाननुयुगं तेषां च निःश्रेयसम् ।
मायामीश्वरसंश्रयामनुगमात्संसारसंवर्तिनीं
केचिद् दैवविघातविघ्नमनसः स्वीचक्रुरल्पश्रुताः ॥ १३३ ॥

योजना–केचित् दैवविघातविघ्नमनसः[1] अल्पश्रुताः बहूनि, असङ्ख्यवपुषो जीवान्, ज्ञानाज्ञानसमाश्रयान् मुमुक्षून्, तेषाम् अनुयुगं निःश्रेयसम्, ईश्वरसंश्रयाम् अनुगमात् संसारसंवर्तिनीं मायां स्वीचक्रुः ॥ (शा० वि० छ०) ।

योजितार्थ—भाग्यहीनता के कारण जिनके मन वश में नहीं, ऐसे कतिपय अल्पश्रुत व्यक्ति अनेक अज्ञान मानते हैं। अनन्त जीव, ज्ञानी अज्ञानी मुमुक्षु और उनकी युगभेद से मुक्ति मानते हैं। जीवाज्ञान में अनुगत होकर संसार प्रवर्तिका माया ईश्वर के आश्रित मानते हैं।

भावितार्थ–जो लोग असङ्ख्य अज्ञान और जीव मानते हैं, युगक्रम से जीवों की मुक्ति सिद्ध करते हैं, माया को संसार का कारण तथा ईश्वर को माया का आश्रय बताते हैं, वे अज्ञानी हैं, अल्पश्रुत हैं, उनका उक्त मत सर्वथा अयुक्त है ॥ १३३ ॥

तृतीय मत दिखाते हैं—

आकाशे विहगोऽस्ति नास्ति च यथा तद्वत्परब्रह्मणि
स्वच्छे चिद्वपुषि स्वभावविमलेऽसंगे शिवे शाश्वते ।
निर्भेदेऽनुदयव्ययेऽनवयवेऽविद्या भवेन्नो भवेत्
इत्येवं निरवद्यमाहुरपरे पक्षव्यवस्थार्थिनः ॥ १३४ ॥

योजना—यथा आकाशे विहगोऽस्ति नास्ति च, तद्वत् स्वच्छे चिद्वपुषि स्वभावविमले असंगे शिवे शाश्वते निर्भेदे अनुदयव्यये अनवयवे ब्रह्मणि अविद्या भवेत् नो भवेत्-इत्येवं पक्षव्यवस्थार्थिनः अपरे निरवद्यमाहुः ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—जैसे एक ही आकाश में पक्षी है भी और नहीं भी, वैसे ही स्वच्छ, चैतन्य, निसर्ग, सुन्दर, असङ्ग, शान्त, शाश्वत्-भेद-रहित, उत्पत्ति-नाश-रहित, निरवयव ब्रह्म में अविद्या है भी और नहीं भी—ऐसे सिद्धान्त की मुक्तामुक्त-व्यवस्थार्थी अन्य विद्वान् निर्दुष्ट मानते हैं ॥

भावितार्थ—आकाश निरवयव है, फिर भी उसमें कहीं पक्षी और कहीं पक्षी का अभाव देखा जाता है, उसी प्रकार निरवयव ब्रह्म में माया और उसका अभाव दोनों क्यों नहीं बन सकते ? ॥ १३४ ॥

एक ही वस्तु में भावाभाव किसी द्वार (उपाधि) के बिना स्वतः नहीं रह सकते—ऐसा मानने वालों का चतुर्थ मत दिखाते हैं—

---

[1] दैवं दुरदृष्टम्, तत्कृतेन विघातेन प्रतिबन्धेन विघ्नं वशीकृतं मनो येषामित्यर्थः, निघ्नमिति पाठान्तरम् ।

शुद्धे वस्तुनि यद्यपि प्रविशति ध्वान्तं मनः कारणम्
स्वीकृत्यैव तथाप्युपाधिमपरं ब्रह्मस्वरूपे विशेत् ।
तच्चान्तःकरणं सुसूक्ष्मवपुषा तिष्ठेद् बहिः सर्वदा
चैतन्ये तमसो नियामकमिति स्वीचक्रुरन्ये पुनः ॥ १३५ ॥

योजना—यद्यपि ध्वान्तं शुद्धे वस्तुनि प्रविशति, तथापि अपरं मनः उपाधिं कारणम् स्वीकृत्यैव ब्रह्मस्वरूपे विशेत् । तच्च अन्तःकरणं सुसूक्ष्मवपुषा सर्वदा चैतन्ये बहिः तिष्ठत् तमो नियामकम्—इति अन्ये पुनः स्वीचक्रुः ।। (शा० वि० छ०) ।।

योजितार्थ—यद्यपि अज्ञान शुद्ध ब्रह्म में प्रविष्ट होता है, तथापि विभिन्न मनोरूप उपाधियों को अपना नियामक मान कर ही ब्रह्म का आश्रय लेता । वह मन सूक्ष्मरूप से सदा चैतन्य में रहता हुआ अज्ञान का नियामक होता है—ऐसा अन्य विद्वान् मानते हैं ।।

भावितार्थ—आकाश में फैला तेजःपुंज सावयव है, उसके एक देश को भाव और दूसरे को अभाव का अवच्छेदक मान कर जैसे एक ही आकाश में भावाभाव का सामञ्जस्य किया जाता है, वैसे ही मनोरूप उपाधियों के भेद से एक ही ब्रह्म में अज्ञान का भावाभाव समर्थित होता है ।। १३५ ।।

पञ्चम मत दिखाते हैं—

अज्ञानि ब्रह्म बुद्धीरनुसरति ततः स्थावरं जङ्गमं च
स्वाज्ञानादेव भूत्वा क्वचिदवगतितो मुक्तमन्यत्र बद्धम् ।
तच्चाज्ञानं विनष्टं स्थितमथ च तदेवांशभेदोपपत्तेः
एवं सर्वव्यवस्था परमपुरुषगा जाघटीतीति केचित् ॥ १३६ ॥

योजना—अज्ञानि ब्रह्म बुद्धीः अनुसरति, ततः स्वाज्ञानात् स्थावरं जङ्गमं च भूत्वा क्वचित् अवगतितो मुक्तम् , अन्यत्र बद्धम् । तच्च अज्ञानं विनष्टम् अथ तदेव स्थितम् । अंशभेदोपपत्तेः—एवं परमपुरुषगा सर्वव्यवस्था जाघटीति इति केचित् ।। (स्रग्धरा) ।।

योजितार्थ—अज्ञानाश्रित ब्रह्म अनेक बुद्धियों में प्रतिबिम्बित होता है, पश्चात् अपने अज्ञान के कारण स्थावर जङ्गमरूप में आकर कहीं (किसी शरीर में) ज्ञान से मुक्त होता और अन्यत्र बद्ध होता है । वह अज्ञान (मुक्त व्यक्ति में) विनष्ट हो जाता है और (बद्ध-व्यक्ति में) अवस्थित रहता है, क्योंकि वह (सांश है) एक अंश से नष्ट अंशांतर से अवस्थित होता है—इस प्रकार परब्रह्म में समस्त व्यवस्था घट जाती है—ऐसा कुछ मानते हैं।

भावितार्थ—बद्ध-मुक्त की व्यवस्था अज्ञान तथा अज्ञान-नाश पर निर्भर है। अज्ञान सावयव है, उसका कुछ अंश जहाँ नष्ट हो जाता है, वह मुक्त और जहाँ नष्ट नहीं होता वह पुरुष बद्ध माना जाता है ।। १३६ ।।

षष्ठ मत दिखाते हैं—

बाह्याध्यात्मिकवस्तुजातजननी माया हरेर्बन्धिनी
शक्तिर्दाशकजालवत्प्रसरणं प्राप्नोत्यविद्यावतः ।
जीवान्संकुचतीच्छया भगवतः सत्याऽस्तु मिथ्याऽथवा
संकोचश्च विलक्षणश्च भवता स्वाभाविकावित्यपि ॥ १३७ ॥

योजना—बाह्याध्यात्मिकवस्तुजातजननी हरेः बन्धिनी शक्तिः माया अविद्यावतः दाशकजालवत् प्रसरणं प्राप्नोति । भगवतः इच्छया संकुचति । सत्या अस्तु अथवा मिथ्या संकोचः विलक्षणश्च भवतः स्वाभाविकौ-इत्यपि ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—बाह्य आध्यात्मिक वस्तु मात्र की जननी भगवान् की बन्धनी शक्ति माया अज्ञानी जीवों के प्रति मछुए के जाल के समान विस्तार को प्राप्त होती है। भगवान् की इच्छा से ही (ज्ञानियों के प्रति संकुचित) हो जाती है। वह सत्य है अथवा मिथ्या। उसका संकोच और विकास करना भगवान् में स्वभाव-सिद्ध है।

भावितार्थ—प्रत्येक जीव में दो प्रपञ्च होते हैं—(१) साधारण और (२) असाधारण। असाधारण प्रपञ्च की निवृत्ति जीव के ज्ञान से होती है, किन्तु साधारण प्रपञ्च की निवृत्ति तभी होती है, जब कि भगवान् की अनुकम्पा से उनकी मोहनी माया निवृत्त हो जाती है ॥ १३७ ॥

सप्तम मत दिखाते हैं—

संस्कारभ्रमसन्ततिं प्रतिनरं भिन्नां परब्रह्मणि
स्वीचक्रुर्विषये प्रवाहवपुषाऽनादिं तमः केचन ।
तामुच्छिद्य समुच्चयेन घटते मोक्षाय कश्चिन्नरः
कश्चित्तद्विरहेण संसरति ना जीवाश्रया सेति च ॥ १३८ ॥

योजना—केचन प्रतिनरं भिन्नं संस्कारभ्रमसंततिं स्वीचक्रुः। ताम् समुच्चयेन उच्छिद्य कश्चित् नरः मोक्षाय घटते, कश्चित् ना तद्विरहेण संसरति। सा जीवाश्रयेति च। (स्रग्धराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—कुछ लोग प्रत्येक जीव में भिन्न संस्कारभ्रमसंततिरूप ब्रह्मविषयक अज्ञान को प्रवाहरूप से अनादि मानते हैं। उस अज्ञान को कर्मसमुच्चित ज्ञान से उच्छिन्न करके कोई व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति के योग्य बनता है, दूसरा व्यक्ति उस समुच्चय के न होने से संसार में पड़ा रहता है। माया जीवाश्रित है—यह भी वे मानते हैं ॥

भावितार्थ—कुछ आचार्य ज्ञान-कर्म-समुच्चय से मुक्ति मिला करती है—ऐसा मानते हैं, और अविद्या को जीवाश्रित मानते हैं ॥ १३८ ॥

ऊपर प्रदर्शित सातों मातों का क्रमशः खण्डन करने के लिए प्रथम (२।१३२ में) कथित मत में दोष दिखाते हैं—

अज्ञस्तावत्प्रत्यगात्माऽहमज्ञः
इत्येवं नः सिद्ध्यति स्वप्रकाशात् ।
अज्ञातं तु ब्रह्म सिद्ध्येत् कुतो वः
सम्यग्ज्ञानाद् भ्रांतितः स्वप्रकाशात् ॥ १३९ ॥

योजना—"अहमज्ञः"—इत्येवं स्वप्रकाशात् तावत् नः प्रत्यगात्मा अज्ञः सिद्ध्यति। वः ब्रह्म अज्ञातं तु कुतः सिध्येत्-? सम्यग्ज्ञानात्? भ्रान्तितः? स्वप्रकाशाद्वा ॥(शा० वा०)॥

योजितार्थ—"अहमज्ञः"—इस प्रकार के स्वयंप्रकाश ज्ञान से हमारा प्रत्यगात्मा तो

अज्ञानी सिद्ध हो जाता है, किन्तु आपका अज्ञात ब्रह्म कैसे सिद्ध होगा ? सम्यग्ज्ञान से ? या भ्रान्ति से ? या स्वप्रकाश होने के कारण ? ।। १३९ ।।

प्रथम (सम्यग्ज्ञानात्) विकल्प में दोष दिखाते हैं—

सम्यग्ज्ञानाद् ब्रह्मणः सिद्धिपक्षे
जाड्यं तस्य स्याद् घटादेर्यथैव ।
सम्यग्ज्ञानाद् ब्रह्मणोऽज्ञानसिद्धौ
तस्यापि स्यात्सत्यता तद्वदेव ॥ १४० ॥

योजना—सम्यग्ज्ञानात् ब्रह्मणः सिद्धिपक्षे तस्य जाड्यं स्यात् यथा घटादेः। सम्यग्ज्ञानात् ब्रह्मणः अज्ञानसिद्धौ तद्वदेव तस्यापि सत्यता स्यात् ।। (शालिनी) ।।

योजितार्थ—सम्यग्ज्ञान से ब्रह्म-सिद्धि-पक्ष में ब्रह्म भी वैसे ही जड़ हो जायगा, जैसे घटादि। एवं सम्यग्ज्ञान से ब्रह्म का अज्ञान सिद्ध होने पर ब्रह्म के समान ही अज्ञान भी सत्य हो जायगा ।।

भावितार्थ–गत (१३२ वें) पद्य में कहा गया है कि ब्रह्म-विषयक एक ही अज्ञान के अनन्त जीव आश्रय माने जाते हैं। वहाँ अज्ञान का आश्रय जीव है—यह अंश तो "अहमज्ञः"—इस अनुभव के आधार पर सिद्ध हो जाता है। किन्तु उस अज्ञान का विषय ब्रह्म है–इस अंश में जिज्ञासा होती है कि अज्ञान के विषय अर्थात् अज्ञात ब्रह्म की सिद्धि क्या "अज्ञात ब्रह्म"–इस प्रकार के सम्यग्ज्ञान से होती है ? या भ्रान्तिज्ञान से ? या ब्रह्म के स्वयंप्रकाश होने से ? सम्यग्ज्ञान से अज्ञात ब्रह्म की सिद्धि मानने पर या तो ब्रह्म जड़ हो जायगा, या ज्ञान भी सत्य, क्योंकि ज्ञान के विषय घटादि जड़ होते हैं। यदि ज्ञान का विषय चेतन भी मान लिया जाय,तब अज्ञान भी ब्रह्म के समान ही पारमार्थिक हो जायगा, क्योंकि ब्रह्मरूप तात्त्विक अर्थ-विषयक ज्ञान का विषय अज्ञान हो जाता है ।। १४० ।।

द्वितीय (भ्रान्तितः) तथा तृतीय (स्वप्रकाशात्) पक्ष में भी दोष दिखाते हैं—

भ्रांतिज्ञानाद् ब्रह्मणः सिद्धिपक्षे
तस्यापि स्यात्कल्पितत्वं तमोवत् ।
अज्ञातं चेद् ब्रह्म नः स्वप्रकाशं
मा भाषिष्ठा नानुभूतिस्तथा नः ॥ १४१ ॥

योजना—भ्रान्तिज्ञानात् ब्रह्मणः सिद्धिपक्षे, तस्यापि तमोवत् कल्पितत्वं स्यात् । चेत् नः स्वप्रकाशं ब्रह्म अज्ञातम्, तथा न अनुभूतिः नेति मा भाषिष्ठाः ।। (शालिनी) ।।

योजितार्थ—भ्रान्ति-ज्ञान से ब्रह्म-सिद्धि-पक्ष में ब्रह्म भी अज्ञान के समान कल्पित ही हो जायगा। यदि स्वप्रकाश होने से ब्रह्म अज्ञात है, तब हमारे मत में कोई (स्वप्रकाशत्व-साधक) अनुभव नहीं—यह आप नहीं कह सकते ।।

भावितार्थ—भ्रान्ति ज्ञान का विषय कल्पित होता है, ऐसे ही ब्रह्म भ्रान्तिज्ञान का विषय है, तब अवश्य कल्पित होगा। तीसरे स्वप्रकाश-पक्ष में जब आप यह मान लेते हैं कि स्वप्रकाश होने से ब्रह्म अज्ञात है, तब यह नहीं कह सकते कि ब्रह्म में स्वयंप्रकाशत्व अनुभव-विरुद्ध है ।। १४१ ।।

द्वितीय (२।१३३ में कथित) मत का निराकरण करते हैं—

अज्ञातत्वे यानवोचाम दोषान्
मायावित्वे ब्रह्मणस्तानवेहि ।
मिथ्याज्ञानात्स्वप्रकाशात्प्रमाणात्
संसिद्धिः स्यात्तस्य तत्कथ्यतां नः ॥ १४२ ॥

योजना—अज्ञातत्वे यान् दोषान् अवोचाम, ब्रह्मणः मायावित्वे तान् अवेहि । तस्य संसिद्धिः मिथ्याज्ञानात् स्यात् ? स्वप्रकाशात् वा ? प्रमाणात् वा ? तत् नः कथ्यताम् । (शालिनी) ॥

योजितार्थ—अज्ञातत्व-पक्ष में जो दोष कहे थे, ब्रह्म के मायित्व-पक्ष में भी उन्हें समझ लो । अर्थात् माया-विशिष्ट ब्रह्म की सिद्धि मिथ्या ज्ञान से होगी ? या स्वयंप्रकाश ज्ञान से ? यह हमें बताइए ॥ १४२ ॥

उक्त दोषों को ही दिखाते हैं—

मिथ्याज्ञानाद् ब्रह्मणः सिद्धिपक्षे
मायेव स्यात्कल्पितं तच्च तद्वत् ।
मानादिष्टं ब्रह्म मायावि चेद्वः
मायायाः स्यात्सत्यता जाड्यमस्य ॥ १४३ ॥

योजना—मिथ्याज्ञानात् ब्रह्मणः सिद्धिपक्षे तच्च मायेव कल्पितं स्यात् । तद्वत् वः मायावि ब्रह्म मानादिष्टं चेत्, मायायाः सत्यता अस्य जाड्यं च स्यात् ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—मिथ्या ज्ञान से ब्रह्म-सिद्धि-पक्ष में माया के समान ही वह कल्पित हो जायगा । वैसे ही यदि माया-विशिष्ट ब्रह्म प्रमाणज्ञान का विषय है, तब माया में सत्यता और इस (ब्रह्म) में जड़ता प्राप्त होती है ॥ १४३ ॥

तृतीय स्वप्रकाश पक्ष में दोष देते हैं—

तन्मायावि ब्रह्म चेत्स्वप्रकाशं
मायाऽपि स्याद् ब्रह्मवत्स्वप्रकाशा ।
मायां पश्येद् ब्रह्म चेत्स्वप्रकाशं
तत्रापि स्यात्स्वानुभूत्या विरोधः ॥ १४४ ॥

योजना—चेत् तत् मायावि ब्रह्म स्वयंप्रकाशम्, मायाऽपि ब्रह्मवत् स्वप्रकाशा स्यात् । चेत् स्वप्रकाशं ब्रह्म मायां पश्येत्, तत्रापि अनुभूत्या विरोधः स्यात् ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—यदि वह मायाविशिष्ट ब्रह्म स्वयंप्रकाश है, तब माया भी ब्रह्म के समान स्वप्रकाश हो जायगी । यदि स्वयंप्रकाश ब्रह्म माया का प्रकाश करता है, तब भी अनुभवविरोध है ॥ १४४ ॥

अनुभव-विरोध ही दिखाते हैं—

आत्मा मूढः स्वप्रकाशो यथायं
नैवं मायि ब्रह्म नः स्वप्रकाशम् ।
अज्ञादन्यद् ब्रह्म चेत्स्वप्रकाशं
द्वे विस्पष्टे स्वप्रकाशे स्फुरेताम् ॥ १४५ ॥

योजना—यथा अयं मूढ़: आत्मा स्वप्रकाशः, एवं नः मायि ब्रह्म स्वप्रकाशं न । चेत् स्वप्रकाशं ब्रह्म अज्ञात् अन्यत् विस्पष्टे द्वे स्वप्रकाशे स्फुरेताम् ।। (शालिनी) ।।

योजितार्थ—जैसे यह अज्ञ आत्मा स्वप्रकाश हैं, वैसे हमारे मत में मायाविशिष्ट ब्रह्म स्वप्रकाश नहीं। यदि स्वप्रकाश ब्रह्म अज्ञात आत्मा से अन्य है, तब स्पष्ट दो स्वप्रकाश पदार्थ परिस्फुरित होंगे ॥

भावितार्थ—"अहमज्ञः"—इस अनुभव के आधार पर अज्ञान-विशिष्ट आत्मा स्वप्रकाश-सिद्ध होता है, वैसे ही माया-विशिष्ट ब्रह्म भी यदि स्वप्रकाश है और अज्ञान-विशिष्ट आत्मा से भिन्न है, तो दो (जीव और ब्रह्म) स्वयंप्रकाश तत्त्व मानने पड़ेंगे ॥ १४५ ॥

ब्रह्म में जीव-भेद का भान मानकर अज्ञातत्व का निराकरण किया गया, अब जीवभेद का भी निरास किया जाता है—

ज्ञायंते चेद् ब्रह्मणा जीवभेदाः
जाड्यं तेषां कुडयवन्निर्विवादम् ।
न ज्ञायन्ते ब्रह्मणा चेत्तदानीं
सर्वज्ञत्वव्याहतिः दुर्निवारा ॥ १४६ ॥

योजना—चेत् जीवभेदाः ब्रह्मणा ज्ञायन्ते, तेषां कुडयवत् निर्विवादम् जाड्यं स्यात् । चेत् (जीवभेदाः) ब्रह्मणा न ज्ञायन्ते, तदानीं सर्वज्ञत्वव्याहतिः दुर्निवारा (शालिनी) ॥

योजितार्थ—यदि जीवों के पारस्परिक भेद तथा जीव-ब्रह्म-भेद ब्रह्म के द्वारा जाने जाते हैं, तब वे कुडय (दीवार) के समान ही जड़ हो जायंगे । यदि जीव और ब्रह्म के द्वारा नहीं जाने जाते, तब ब्रह्म में सर्वज्ञत्व की हानि दुर्निवार हो जाती है ॥ १४६ ॥

भेद-विशिष्ट जीव स्वप्रकाश हैं—यह भी नहीं कह सकते—

जीवा एते स्वप्रकाशस्वभावाः
निर्भासन्ते ब्रह्मणश्चेद्विभक्ताः ।
तेषां भेदः स्वप्रकाशो न वा स्यात्
दोषं ब्रूमो दुर्निवारं द्विधाऽपि ॥ १४७ ॥

योजना—चेत् एते स्वप्रकाशस्वभावा जीवा ब्रह्मणो विभक्ताः निर्भासन्ते, तेषां भेदः स्वप्रकाशः स्यात्? न वा ? द्विधाऽपि दुर्निवारं दोषं ब्रूमः ।। (शालिनी) ।।

योजितार्थ—यदि स्वप्रकाशस्वभाव जीव ब्रह्म-भिन्नत्वरूप से निर्भासित होते हैं, तब उनका भेद स्वप्रकाश है ? या नहीं ? दोनों पक्षों में हम दोष देते हैं ।। १४७ ।।

प्रतिज्ञात दोष दिखाते हैं—

तेषां भेदः स्वप्रकाशो यदीष्टः
सत्यत्वं स्यात्तस्य तेषां तथैव ।
वेद्योऽभीष्टस्तद्विभागो यदि स्यात्
तानज्ञात्वा तद्विभागो न वेद्यः ॥ १४८ ॥

योजना—यदि तेषां भेदः स्वप्रकाशः इष्टः, तस्य तथैव सत्यत्वं स्यात्, तथैव तेषाम् । यदि तद्विभागो वेद्योऽभीष्टः स्यात्, तान् अज्ञात्वा तद्विभागो न वेद्यः (शालिनी) ॥

योजितार्थ—यदि जीवों का भेद स्वप्रकाश माना जाय, तब वह (भेद) सत्य हो जायगा, वैसे ही वे (जीव) भी (सत्य ही हो जायेंगे) । यदि जीव-भेद को वेद्य (प्रमाण-ज्ञान का विषय) माना जाय, तब उन (जीवों) को नजान कर जीव-भेद नहीं जाना जा सकता है ॥

भावितार्थ—जीव स्वप्रकाश है—यहाँ जिज्ञासा होती है कि जीव स्वरूपतः (चैतन्य-रूप से) स्वप्रकाश है ? अथवा भेदविशिष्टत्वरूप से ? स्वरूपतः स्वप्रकाश मानने पर भेद का मान नहीं हो सकता । भेदविशिष्टत्वरूप से स्वप्रकाश मानने पर भेद भी सत्य हो जायगा, क्योंकि स्वप्रकाश तत्त्व को पारमार्थिक सत्य माना जाता है । भेद के सत्य हो जाने से अद्वैतमत हानि तथा की अनिर्मोक्ष-प्रसङ्ग भी होगा, क्योंकि सत्य भेद की ज्ञान से निवृत्ति नहीं हो सकती । भेद को वेद्य मानने पर भेद के अनुभवी और प्रतियोगी जीवों को भी वेद्य मानना होगा, क्योंकि अनुयोगी प्रतियोगी के ज्ञान के बिना भेद का ज्ञान नहीं हो सकता । जीवों को भी वेद्य मानने पर जड़ मानना होगा, क्योंकि वेद्य घटादि सदैव जड़ हुआ करते हैं ॥ १४८ ॥

दूसरे जीव के लिए दूसरे जीव तथा तद्गत भेद की सिद्धि भी नहीं हो सकती—

जीवाः सर्वे त्वां प्रति प्रस्फुरन्तः
सम्यग्ज्ञानात् प्रस्फुरन्ति स्वतो वा ।
यद्वा मिथ्याज्ञानसामर्थ्यतोऽमी
पक्षः कस्ते रोचते ब्रूहि तन्मे ॥ १४९ ॥

योजना—अमी सर्वे जीवाः त्वां प्रति स्फुरन्तः सम्यग्ज्ञानात् स्फुरन्ति ? स्वतो वा ? यद्वा मिथ्याज्ञानसामर्थ्यतः ? कः पक्षः ते रोचते, तत् मे ब्रूहि ? (शालिनी) ।

योजितार्थ—ये सभी जीव आपके लिए स्फुरित होते हुए क्या सम्यग्ज्ञान से प्रतीत होते हैं ? या स्वप्रकाश होने से ? या कि मिथ्याज्ञान से ? कौन पक्ष आपको रुचता है, वह कहिए ॥ १४९ ॥

प्रथम तथा द्वितीय पक्ष में दोष दिखाते हैं—

सम्यग्ज्ञानाज्जीवभेदप्रसिद्धौ
अद्वैतत्वं ब्रह्मणो न प्रसिध्येत् ।
जीवाः सर्वे मां प्रति स्वप्रकाशाः
इत्युक्तिस्ते स्वानुभूत्या विरुद्धा ॥ १५० ॥

योजना—सम्यग्ज्ञानात् जीवभेदप्रसिद्धौ ब्रह्मणाः अद्वैतत्वं न प्रसिध्येत् । सर्वे जीवाः मां प्रति स्वप्रकाशाः इति ते उक्तिः स्वानुभूत्या विरुद्धा ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—सम्यग्ज्ञान से जीव-भेद की सिद्धि मानने पर ब्रह्म में अद्वैतत्व सिद्ध न होगा । सभी जीव मेरे लिए स्वप्रकाश हैं-यह आपकी उक्ति स्वानुभव से विरुद्ध है ॥१५०॥

तृतीय पक्ष (मिथ्याज्ञानसामर्थ्यतः) में दोष दिखाते हैं—

मिथ्याज्ञानाज्जीवभेदप्रसिद्धौ
सम्यग्ज्ञानाद् बाध एवाभ्युपेयः ।
मिथ्याज्ञानाद्रज्जुसर्पः प्रसिद्धः
सम्यग्ज्ञानात्तस्य बाधोऽपि सिद्धः ॥ १५१ ॥

योजना—मिथ्याज्ञानात् जीव-भेदप्रसिद्धौ, सम्यग्ज्ञानात् बाधः अभ्युपेय एव । मिथ्याज्ञानात् रज्जुसर्पः प्रसिद्धः, सम्यग्ज्ञानात् तस्य बाधोऽपि प्रसिद्धः ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—मिथ्याज्ञान से जीवभेद की प्रसिद्धि मानने पर सम्यग्ज्ञान से उनका बाध मानना पड़ेगा, क्योंकि मिथ्याज्ञान से रज्जु सर्प प्रतीत होता है, सम्यग्ज्ञान से उसका बाध भी प्रसिद्ध है ॥

भावितार्थ—मिथ्याज्ञान से जीवों का भान मानने पर रज्जु-सर्प के समान ही जीव भी बाधित तथा मिथ्या हो जायेंगे । उनके मिथ्या हो जाने से बन्ध-मोक्ष व्यवस्थापन निरर्थक हो जाता है । "जीवाः सम्यग्ज्ञानबाध्याः मिथ्याज्ञानसिद्धत्वात् रज्जुसर्पवत्"—इस अनुमान से जीवों में बाध्यत्व सिद्ध हो जायगा ॥ १५१ ॥

तृतीय (२।१३४) मत का निराकरण करते हैं—

एकोपाधावेकवस्तुप्रसिद्धौ
भावाभावौ नेक्षितौ क्वापि लोके ।
पक्ष्यादीनामस्तिता नास्तिता च
व्योम्न्येकस्मिन्नप्यवच्छिन्न एव ॥ १५२ ॥

योजना—एकोपाधौ एकवस्तुप्रसिद्धौ, लोके भावाभावौ क्वापि न ईक्षितौ । पक्ष्यादीनाम् अस्तिता नास्तिता च एकस्मिन् अवच्छिन्ने व्योम्नि एव ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—एक अधिकरण में एक ही वस्तु रहती है, लोक में कहीं भी (एक अधिकरण में) भाव तथा अभाव-दोनों नहीं देखे गये । पक्षियों की अस्तिता तथा नास्तिता विभिन्न उपाधियों से अवच्छिन्न आकाश में ही होती है ॥

भावितार्थ—एक ही आधार मे भाव अभाव कभी नहीं रहा करते । जिस शाखावच्छिन्न वृक्षप्रदेश में पक्ष्यादि का भाव है, वहाँ अभाव नहीं, अपितु मूलावच्छिन्न वृक्षप्रदेश में ही अभाव रहता है । इसी प्रकार गगनादि निर्विभाग वस्तु में भी कल्पित भाग विशेष में प्रतियोगिभूत पक्ष्यादि तथा दूसरे भाग में उसका अभाव रहता है, एक ही उपाधि से अवच्छिन्न प्रदेश में नहीं । अतः एक ही ब्रह्म में अविद्या तथा उसका अभाव—दोनों नहीं रह सकते ॥ १५२ ॥

कल्पित उपाधि के भाव-अभाव भी अन्य कल्पित उपाधि से अवच्छिन्न आकाश में ही रहते हैं—

सोऽवच्छेदोऽप्यस्ति नास्त्यम्बरे च
तत्रान्वेष्यः सोऽप्यवच्छिन्नभावः ।
सोऽवच्छेदोऽप्यस्ति नास्त्यम्बरे चेद्
वाढं तस्मिन् सोऽप्यवच्छिन्न एव ॥ १५३ ॥

योजना—स अवच्छेदोऽपि चेत् अम्बरे अस्ति, नास्ति च, तथापि अवच्छिन्नभावः अन्वेष्यः । स अवच्छेदोऽपि चेत् अम्बरे अस्ति नास्ति च, वाढम्, सोऽपि अवच्छिन्न एव तस्मिन् । (शालिनी) ॥

योजितार्थ—वह अवच्छेद (उपाधि) भी यदि आकाश में है भी और नहीं भी, तब उसके भावाभाव में भी (अन्य) अवच्छिन्नत्व (अवच्छेद या उपाधि) खोजनी चाहिए। वह (द्वितीय) उपाधि भी आकाश में है भी और नहीं भी, यदि ऐसा कहा जाय, तब ठीक है, वह (उपाधि) भी (किसी अन्य उपाधि से) अवछिन्न आकाश में ही रहेगी ॥ १५३ ॥

उपाधि की उपाधि मानने में अनवस्था होती है—

नन्वेवं स्याद् दुर्निवाराऽनवस्था
वाढं का नो हानिरिष्टैव साऽपि ।
कर्मोद्भूतं नः शरीरं शरीरात्
कर्मोद्भूतिस्तत्र किं नेष्यते सा ॥ १५४ ॥

योजना—ननु एवम् अनवस्था दुर्निवारा स्यात्, वाढम्, नो हानिः का ? सा अपि इष्टैव । कर्मोद्भूतं नः शरीरम्, शरीरात् कर्मोद्भूतिः—तत्र सा किं नेष्यते ? । (शालिनी) ।

योजितार्थ—शंका होती है कि ऐसा (उपाधि की उपाधि) मानने पर अनवस्था दुर्निवार होगी ? ठीक है, हमारी क्षति क्या ? वह इष्ट ही है । कर्म से उद्भूत हमारा शरीर है और शरीर से कर्म उद्भूत होता है—वहाँ वह क्या नहीं मानी जाती ? ॥

भावितार्थ—बीज-वृक्ष के समान कुछ अनवस्थाएँ अनिवार्य देखी जाती हैं । कर्म से अदृष्ट और अदृष्ट से कर्म—यह कार्यकारणभाव की अनवस्था भी वैसी ही है । अवच्छेद-प्रवाह की अविश्रान्ति भी अभीष्ट है ॥ १५४ ॥

ब्रह्म में अज्ञान के भावाभाव में कोई प्रमाण भी नहीं—

किञ्चाज्ञानं ब्रह्मणोऽप्यस्ति नास्ती-
त्येतत्कस्मात्त्वं विजानासि हेतोः ।
मूढोऽस्मीति प्रत्ययादस्ति बुद्धिः
मुक्ते दाहान्मोहनास्तित्वबुद्धिः ॥ १५५ ॥

मुक्तेऽज्ञानं दग्धमित्येतदेवं
कस्माद्धेतोर्वेत्सि तत्कथ्यतां नः ।
मिथ्याज्ञानात्स्वप्रकाशात्प्रमाणात्
मुक्तेऽज्ञानं दग्धमित्यस्य सिद्धिः ॥ १५६ ॥

योजना—किं च ब्रह्मणोऽपि अज्ञानम् अस्ति, नास्ति—इत्येतत् त्वं कस्मात् हेतोः विजानासि ? 'मूढोऽस्मि'-इति प्रत्ययात् अस्तित्वबुद्धिः, मुक्ते दाहात् मोहनास्तित्वबुद्धिः । 'मुक्तेऽज्ञानं दग्धम्'-इत्येतदेवं कस्मात् हेतोः वेत्सि ? तत् नः कथ्यताम् ? प्रमाणात् ? मिथ्याज्ञानात् ? स्वप्रकाशात् "मुक्तेऽज्ञानं दग्धम् इत्यस्य सिद्धिः ? ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ–दूसरी बात यह भी है कि अज्ञान है भी और नहीं भी–यह आपने किस हेतु से जाना ? यदि कहें कि "मूढोऽस्मि"–इस प्रतति से अज्ञान के अस्तित्व (होने) का ज्ञान तथा मुक्त पुरुष में भस्मसात् हो जाने से अज्ञान के नास्तित्व का ज्ञान होता है । (तो वह कहना उचित नहीं, क्योंकि) 'मुक्त पुरुष में अज्ञान दग्ध हो गया है'—यह किस हेतु से जाना ? वह हमें बताइए ? प्रमाणज्ञान से ? या मिथ्याज्ञान से ? या स्वप्रकाशज्ञान से "मुक्त में अज्ञान दग्ध हो गया"—इसकी सिद्धि होती है ? ॥ १५५, १५६ ॥

उक्त विकल्पों का क्रमशः निराकरण करते हैं—

सम्यग्ज्ञानान्मुक्तिसिद्धिर्यदीष्टा
नूनं मुक्तः कुड्यवत्ते जडः स्यात् ।
मिथ्याज्ञानान्मुक्तिसिद्धिर्यदीष्टा
स्रक्सर्पादिर्मुख्य एवैष मुक्तः ॥ १५७ ॥
मुक्तो मह्यं स्वप्रकाशश्चकास्ती-
त्येषा वाणी स्वानुभूत्या विरुद्धा ।
न ह्यश्रुत्वा शास्त्रमेतन्मनुष्यः
कश्चिज्जानात्येष मुक्तः शुकादिः ॥ १५८ ॥

योजना–यदि सम्यग्ज्ञानात् मुक्ति सिद्धिः इष्टा, नूनं ते मुक्तः कुडयवत् जडः स्यात् । यदि मिथ्याज्ञानान मुक्तिसिद्धिः इष्टा, एषः स्रक्सर्पादिः मुख्यः मुक्त एव । मह्यं मुक्तः स्वप्रकाशः चकास्ति--इत्येषा वाणी स्वानुभूत्या विरुद्धा, कश्चित् मनुष्यः एतत् शास्त्रम् अश्रुत्वा हि न जानाति—एष शुकादिः मुक्तः ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—सम्यग्ज्ञान से मुक्त (अज्ञान-दाह रूप मुक्ति से युक्त) पुरुष का ज्ञान मानने पर मुक्त आत्मा में कुडयादि के समान वेद्य हो जाने से जड़ता प्राप्त होती है । मुक्त को मिथ्या ज्ञान का विषय मानने पर मिथ्याज्ञान के विषय रज्जुसर्पादि भी मुक्तात्मस्वरूप चैतन्य मानने पड़ेंगे । स्वप्रकाशतः मुक्त का ज्ञान मानना अनुभव-विरुद्ध है, क्योंकि श्रुति-स्मृत्यादि शास्त्रों का श्रवण किये बिना स्वप्रकाशतामात्र से शुकादि मुक्त पुरुषों का ज्ञान नहीं होता ॥ १५७, १५८ ॥

चतुर्थ (२।१३५ में कथित) मत का अनुवाद करते हुए निरास करते हैं—

ताटस्थ्येनोपाधिमादाय मोहः
चैतन्येऽस्मिन्स्वप्रकाशे प्रविष्टः ।
तेनेह स्याद् बन्धमोक्षव्यवस्थे-
त्युक्त यत्प्राग्दूषणं तस्य विद्धि ॥ १५९ ॥
ताटस्थ्येनोपाधिरङ्गं यदि स्यात्
मोहाविष्टे ब्रह्मणि स्वप्रकाशे ।
अग्निक्षेपस्योल्मुकं यद्वदेवं
मोहस्य स्यान्न प्रदेशस्थितत्वम् ॥ १६० ॥

योजना—ताटस्थ्येन उपाधिम् आदाय मोहः अस्मिन् स्वप्रकाशे चैतन्ये प्रविष्टः। तेन इह बन्धमोक्षव्यवस्था स्यात् इति यदुक्तं तस्य प्राग् उक्तं दूषणं विद्धि, यद्वत् अग्निक्षेपस्य उल्मुकम्, एवं यदि स्वप्रकाशे ब्रह्मणि मोहाविष्टेः उपाधिः ताटस्थ्येन अङ्गं स्यात् मोहस्य प्रदेशस्थितत्वं न स्यात् ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—तटस्थ (आश्रय से बहिर्भूत) रूप से मन को उपाधि बनाकर अज्ञान इस स्वप्रकाश चैतन्य में स्थित है। उस (उपाधि) द्वारा बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था होती है–यह जो पहले कहा था, उसमें भी प्रागुक्त दूषण हैं। अर्थात् जैसे अग्नि-प्रवेश में उल्मुक उपाधि है, वैसे ही यदि स्वप्रकाश ब्रह्म में अज्ञान-प्रवेश की उपाधि तटस्थरूप से अङ्ग हैं, तब अज्ञान में परिच्छिन्नत्व न रहेगा ॥

भावितार्थ—स्वप्रकाश ब्रह्म में अज्ञान की आश्रय कोटि अप्रविष्ट (आश्रयतानवच्छेदक) होकर मन उपाधि मानी जाय, तब अज्ञान ब्रह्म के प्रदेश-विशेष में ही न रह कर पूर्ण ब्रह्म में प्रवेश कर जायगा। अर्थात् यदि मन को आश्रयतावच्छेदक मानकर अज्ञान का नियामक माना जाता, तब मनोऽवच्छिन्न ब्रह्म में ही अज्ञान रहता और मन में अनवच्छिन्न ब्रह्मप्रदेश अज्ञान-रहित मुक्तोपसृप्य रहता है, जिसका 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छां० ३।१२।६) श्रुति में प्रतिपादन किया गया है। किन्तु मन को आश्रयता का उपलक्षण मानने पर मन उपलक्षित तो सम्पूर्ण ब्रह्म है, अतः सम्पूर्ण ब्रह्म में अज्ञान छा जायगा। जो कि वेदान्त-सिद्धान्त से अत्यन्त विरुद्ध है। अज्ञान के ब्रह्म-प्रवेश-सम्पादन में दृष्टान्त दिया है—'अग्निक्षेपस्य उल्मुकं यद्वत्'। इसकी व्याख्या अग्रिम पद्य में की जायगी ॥ १५९, १६० ॥

उक्त दृष्टान्त को स्पष्ट करते हुए दार्ष्टान्त में घटाते हैं—

अग्निः क्षिप्तो ह्युल्मुकेन प्रदेश-
मात्रव्याप्ति वर्जयित्वा समस्तम् ।
वेश्म व्याप्नोत्येवमेवेह कृत्स्नं
ब्रह्म व्याप्नोत्याधिनाऽस्तं तमोऽपि ॥ १६१ ॥

योजना—उल्मुकेन हि प्रक्षिप्तः अग्निः प्रदेशमात्रव्याप्तिं वर्जयित्वा समस्तं वेश्म एव व्याप्नोति, एवम् इह आधिना अस्तं तमोऽपि कूटस्थं ब्रह्म व्याप्नोति ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—उल्मुक (अंगार) के द्वारा प्रक्षिप्त अग्नि एकदेशमात्र में सीमित न होकर समस्त घर को ही व्याप्त कर लेती है, वैसे ही प्रकृत में मनोरूप उपाधि के द्वारा प्रक्षिप्त अज्ञान भी संपूर्ण ब्रह्म को व्याप्त कर लेगा ॥

भावितार्थ-कमरे के कोने में एक छोटा-सा अङ्गार (उल्मुक) रखा जाता है, अग्नि का प्रकाश केवल उस अङ्गारेवाले कोने में सीमित न रहकर पूरे कमरे में फैला देखा जाता है। वह अङ्गार प्रकाश की आश्रयता का अवच्छेदक (विशेषण) नहीं, अपितु उपाधिमात्र है, अतः अङ्गारोपहित पूरे कमरे में प्रकाश की आश्रयता होती है, वैसे ही ब्रह्मनिष्ठ अज्ञानाश्रयता में मन केवल उपाधि है, अतः मन उपहित सम्पूर्ण ब्रह्म को अज्ञान अपना आश्रय बनायेगा। सम्पूर्ण ब्रह्म में अज्ञान मानना सम्प्रदाय-विरुद्ध है—यह कहा जा चुका है ॥ १६१ ॥

मतान्तरों में दोष दिखाकर अपने मत का स्मरण दिलाते हैं—

तस्माद् ब्रह्माविद्यया जीवभावं
प्राप्याऽऽसित्वा तावके तु स्वरूपे ।
त्वच्चित्तेन स्पन्दितं जीवजातम्
आकाशादि क्ष्मावसानं च पश्येत् ॥ १६२ ॥

योजना—तस्मात् ब्रह्म अविद्यया जीवभावं प्राप्य तावके स्वरूपे आसित्वा तु त्वच्चितेन स्पन्दितं जीवजातम् आकाशादि क्ष्मावसानं च पश्येत् ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ – इसलिए ब्रह्म अविद्या के द्वारा जीव भाव को प्राप्त कर तेरे स्वरूप में स्थित होकर तेरे चित्त से रचित जीववर्ग तथा आकाश से लेकर पृथिवी पर्यन्त जगत् को देखता है ॥

भावितार्थ—पूर्व (२।१२८) में कथित अपने सिद्धान्त का ही स्मरणमात्र दिलाया है। गत पद्य में 'स्वान्त' पद का अन्तःकरण अर्थ प्रायः सभी व्याख्याताओं ने किया था। यहाँ अग्निचित् पुरुषोत्तम मिश्र तथा रामतीर्थ स्वामी ने 'चित्त' शब्द का अर्थ किया है—'चित्तशब्देन अविद्योच्यते' सम्भव है, यहाँ—अग्रिम (२।१६३) पद्य से सूचित मत की एकवाक्यता-स्थापन करने के लिए ऐसा किया गया है ॥ १६२ ॥

एक जीववाद में गुरु-शिष्यादि मर्यादा तथा विद्योदयादि कैसे होंगे ? विस्मरणशील शिष्य के इस सन्देह को दूर करते हैं—

स्वीयाविद्याकल्पिताचार्यवेद-
न्यायादिभ्यो जायते तस्य विद्या ।
विद्याजन्मध्वस्तमोहस्य तस्य
स्वीये रूपेऽवस्थितिः चित्प्रकाशे ॥ १६३ ॥

योजना—स्वीयाविद्याकल्पिताचार्यवेदन्यादिभ्यो तस्य विद्या जायते। विद्याजन्मध्वस्तमोहस्य तस्य स्वीये चित्प्रकाशे रूपे अवस्थितिः ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—अपनी अविद्या से रचित आचार्य, वेद और उपक्रमादि न्यायों की हसा-

यता से जिज्ञासु में विद्या उत्पन्न होती है। विद्या के जन्ममात्र से जिसकी अविद्या ध्वस्त हो गई है, उस ज्ञानी की अपने चित्प्रकाश स्वरूप में अवस्थिति हो जाती है[1] ॥ १६३ ॥

"कस्येयम् विद्या ? यस्त्वं पृच्छसि"--इस भाष्य से प्रतीयमान जीवाश्रित अज्ञानवाद का रहस्य वताते हैं

अज्ञानि ब्रह्म जीवो भवति भवति च स्पष्टमज्ञानमस्य
प्रागस्पष्टं सदन्तःकरणनिपतितज्योतिराभासयोगात् ।
चैतन्यैकप्रतिष्ठं स्फुरति न हि तमस्तादृशं यादृशं तद्
बुद्धिस्थाभासनिष्ठं स्फुरति तदुचितं जीवमौढ्याभिधानम् ॥१६४॥

योजना— अज्ञानि व्रह्म जीवो भवति। अस्य प्राग् अस्पष्टं सत् अज्ञानं अन्तःकरणनिपतितज्योतिराभासयोगात् स्पष्टं च भवति। यादृशं तत् बुद्धिस्थाभासनिष्ठं स्फुरति, तादृशं चैतन्यैकप्रतिष्ठं न हि स्फुरति। जीवमौढ्यानिधानं तद् उचितम् ॥ (स्रग्धरा) ॥

योजितार्थ—अज्ञान-विशिष्ट व्रह्म ही जीव होता है। इस (जीव) का पहले (सुषुप्ति अवस्था में) अस्पष्ट अज्ञान (जाग्रत्काल में अन्तःकरण का अध्यास हो जाने पर) अन्तःकरणगत चिदाभास के योग से ("अहमज्ञः"—इस प्रकार) स्पष्ट हो जाता है। जैसा वह (अज्ञान) अन्तःकरण-प्रतिबिम्बित चिदाभासनिष्ठ होकर स्फुरित होता है, वैसा चिन्मात्रनिष्ठ नहीं होता। अतः स्पष्टानुभव-निबन्धन ही भाष्यादि में अज्ञान का अभिधान हुआ है ॥

भावितार्थ—अज्ञान के दो आकार होते हैं—आवरणाकार और विक्षेपाकार, ज्ञानापनोद्यत्व आवरण का आकार है तथा सर्वकार्यानुगत जाड्य विक्षेप का आकार है। जब अज्ञान अपने आवरणाकार से चिदात्मत्व का आच्छादन कर लेता है, तब चैतन्य में जीव ईश्वर और जगत् का आभास नहीं होता, जैसा कि सुषुप्ति एवं प्रलय में। जब अज्ञान विक्षेपाकार में आता है, तब अपने अधिष्ठान को ही अन्यथा रूप में प्रथित कर देता है। उस समय जीवजगदादिभेद का अवभास होता है, अतः स्पष्ट अनुभव के आधार पर ही भाष्यादि ग्रन्थों में जीव को मूढ़ बताया गया है ॥ १६४ ॥

अन्तःकरण से अन्यत्र अज्ञान का भाव क्यों नहीं होता ? यह दिखाते हैं—

अज्ञानं जडशक्तिमात्रवपुषा जीवाद्बहिः सिद्ध्यति
जीवारूढमहं न जान इति तु ज्ञानापनोद्यात्मना ।
संसिद्धिं प्रतिपद्यते तदुचितं जीवाज्ञताभाषितं
द्वैरूप्ये सति रूप्यमेकमनिशं भात्येवमन्यन्न हि ॥ १६५ ॥

योजना—अज्ञानं जडशक्तिमात्रवपुषा जीवात् वहिः सिध्यति, जीवारूढं "अहं न

---

[1] १. यद्यपि एक अज्ञान में प्रतिबिम्बित जीव एक ही है, तथापि अविद्या के कार्यभूत अनन्त अन्तःकरणों में अविच्छिन्न जीव प्रमाता आदि अनेक रूपों में प्रतिपन्न होता है। जिस अन्तःकरण से विशिष्ट जीव में श्रवणादि के द्वारा अपरोक्षानुभव हो जाता है, वह आचार्य कहलाता है। वह विद्वान् विभिन्न उपाधियों के कारण उपदेशादि में प्रवृत्त हो जाता है—यह कुछ लोगों का यहाँ कहना है। किन्तु एकजीववादी व्यावहारिक जीव-भेद भी नहीं मानते, अतः यह कहना संगत नहीं।

जानें" इति ज्ञानापनोद्यात्मना संसिद्धि प्रतिपद्येत। तद् जीवाज्ञताभाषितम् उचितम्। द्वैरूप्ये सति एकं रूपम् अनिशं भाति, एवम् अन्यत् नहि ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—अज्ञान सर्व कार्यानुगत जाड्य रूप से जीव के बाहर आकाशादि में सिद्ध होता है और जीवारूढ़ होकर "अहं न जाने"—इस प्रकार ज्ञान-निवर्त्यत्वाकार से सिद्ध होता है। अतः जीवगत अज्ञान का भाष्य-कथन उचित ही है। अज्ञान के उक्त दो रूपों में एक रूप निरन्तर प्रतीत होता है, वैसा दूसरा रूप नहीं ॥

भावितार्थ—यद्यपि अज्ञान जीव और उसके बाहर सर्वत्र है, तथापि उसके दो रूप होते हैं—आकाशादि में जड़त्व रूप से और जीव में ज्ञानविरोधित्वरूप से अज्ञान रहता है। इनमें ज्ञान-बाध्यत्व रूप से विद्यमान जीवगत अज्ञान ही "अहं न जाने" ?-इस रूप में स्पष्टतः प्रतीत होता है, अतः भाष्यकार ने कह दिया कि "जीव में अज्ञान है। वस्तुतः वह ब्रह्मनिष्ठ ही है, उसका वैसा स्फुरण न होने से बहुल प्रचार नहीं" ॥ १६५ ॥

जाड्यरूप का अज्ञान ब्रह्म में ही भासित हो सकता है—

जडशक्तिमात्रवपुषा गगन-
श्वसनादिकार्यजननी भवति।
पुरुषोत्तमस्य वशवर्तितया
प्रकृति परस्य जगदेकगुरोः ॥ १६६ ॥

योजना—जगदेकगुरोः परस्य पुरुषोत्तमस्य वशवर्तितया प्रकृतिः जडशक्तिमात्रवपुषा गगनश्वसनादिकार्यजननी भवति। (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—जगत् के एकमात्र गुरु परमात्मा पुरुषोत्तम की वशवर्ती होकर प्रकृति जड़शक्ति के रूप में गगनादि कार्य-वर्ग की जननी होती है ॥

भावितार्थ—"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" (गी० १५।१७) इस गीता-वाक्य को हृदय में रखकर क्षराक्षर से परे शुद्ध तत्त्व को पुरुषोत्तम पद से कहा है। उसकी प्रकृति जड-प्रधान होकर आकाशादि के रूप में परिणत होती है; क्योंकि आकाशादि में जड़ता स्पष्ट अनुभूत होती है ॥ १६६ ॥

अज्ञान की जड़ता दिखाई, अब ज्ञानविरोधिता दिखाते हैं—

इयमेव सर्वजननी प्रकृतिः
वशिनी शरीरिणमिमं पुरुषम्।
अधिरुह्य जीवमहमज्ञ इति
स्फुरणैकगोचरवपुः स्फुरति ॥ १६७ ॥

योजना—इयं सर्वजननी वशिनी प्रकृतिरेव इमं शरीरिणं जीवं पुरुषं अधिरुह्य 'अहमज्ञः' इति स्फुरणैकगोचरवपुः स्फुरति ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—यह सर्वजननी वशिनी प्रकृति ही इस शरीरधारी जीव पुरुष पर अधिरूढ़ होकर "अहमज्ञः"—इस रूप से स्फुरित होती है ॥

भावितार्थ—"अहमज्ञः"—इस अनुभव के आधार पर जीव को अज्ञान का आश्रय नहीं माना जा सकता; क्योंकि जीव जगत् का उपादान नहीं। अतः यही कहना होगा कि

मूल-प्रकृति इस जीव के स्वतः स्फुरितरूप को तिरोहित कर देती है, जिससे जीव कहता है कि "अहमज्ञः" ॥ १६७ ॥

प्रकृति ज्ञानविरोधित्व रूप से जीव के प्रति ही स्फुरित होती है, ईश्वर के प्रति नहीं—

चितिशक्तिबाधितवपुः परमं
पुरुषं प्रति स्फुरति सा प्रकृतिः ।
चितिशक्तिबाधकवपुः पुरुषं
पुरवर्तिनं प्रति पुनः स्फुरति ॥ १६८ ॥

योजना—परमं पुरुषं प्रति सा प्रकृतिः चितिशक्तिबाधितवपुः स्फुरति । पुरवर्तिनं पुरुषं प्रति पुनः चितिशक्तिबाधकवपुः स्फुरति ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—परम पुरुष ईश्वर के प्रति वह प्रकृति चितिशक्ति से अभिभूतस्वभावा होकर प्रतीत होती है और शरीर-वृत्ति पुरुष (जीव के) प्रति वह चितिशक्तिबाधकत्व रूप से स्फुरित होती है ॥

भावितार्थ—अज्ञान अपने आश्रय चेतन के स्वरूप को अभिभूत नहीं कर सकता, अन्यथा स्वयं उसका भी परिस्फुरणं न हो सकेगा। किन्तु जीव के लिए उसके स्वरूप को अभिभूत कर देता है, जिसके कारण उसे अपने में अज्ञता प्रतीत होने लगती है ॥ १६८ ॥

माया तथा अविद्या का अभेद सिद्ध करते है—

दृश्यत्वजाड्यपरतन्त्रचिदाश्रयत्वैः
मायेश्वरस्य तम आत्मतयानुमेया ।
स्वप्नप्रपञ्चरजतभ्रमलिङ्गदेह-
दिक्चन्द्रविभ्रममरीचिजलोपमानैः ॥ १६९ ॥॥

योजना—ईश्वरस्य माया दृश्यत्वजाड्यपरतन्त्रचिदाश्रयत्वैः स्वप्नप्रपञ्चरजतभ्रम-लिङ्गदेहदिक्चन्द्रविभ्रममरीचिजलोपमानैः तमआत्मतया अनुमेया ॥ (व० छ०) ॥

योजितार्थ—ईश्वर की माया दृश्यत्व, जाड्य, परतन्त्रत्व, चिदाश्रयत्व हेतुओं के द्वारा स्वप्न-प्रपञ्च, रजत-भ्रम, लिङ्गदेह, दिक्चन्द्रविभ्रम, मरीचिजलादि दृष्टान्तों से तमोरूप में अनुमेय है ॥

भावितार्थ—'माया तमसो न भिद्यते, दृश्यत्वात् स्वप्न-प्रपञ्चादिवत्' । स्वप्न प्रपञ्चादि अज्ञान से वस्तुतः भिन्न नहीं होते, अतः दृष्टान्त में साध्य-विकलता नहीं । लिङ्ग-देह में भ्रान्तित्व प्रसिद्ध न होने पर भी माया-अविद्या-भेदवाद में लिङ्गदेह को अविद्या-स्वरूप माना जाता है, अतः दृष्टान्त-पंक्ति में लिङ्गदेह का पाठ भी युक्त ही है ॥१६९॥

कार्य-पक्षक अनुमानान्तर दिखाते हैं —

एकाज्ञानविकल्पितं सकलमेतदाऽऽकाशपूर्वं जगद्-
बाध्यत्वादिह यद्यदीदृशमदस्तादृङ्मतं स्वप्नवत् ।
बाध्यं चेदमभीप्सितं भवति वस्तस्मादिदं तादृशं
शुद्धं धूमवदेव साधनमिदं तत्पाञ्चरूप्यान्वयात् ॥ १७० ॥

योजना—सकलमेव आकाशपूर्वं जगत् एकाज्ञानकल्पितं बाध्यत्वात् । इह यत् ईदृशम् अदः तादृग्मतं स्वप्नवत् । इदमपीप्सितं वः बाध्यं भवति, तस्मात् इदं तादृशं शुद्धं धूमवदेव इदं साधनम्, तत्पाञ्चरूप्यान्वयात् ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—सकल आकाशादि प्रपञ्च एक अज्ञान से कल्पित है, बाध्य होनें से, यहाँ जो ऐसा होता है, वह वैसा होता है, जैसे—स्वप्न । यह (जगत्) बाध्य है, अतः अज्ञान-रचित है । धूम के समान ही यह साधन प्रयोग है, क्योंकि पाँचों रूपों का अन्वय दिखाया गया ॥

भावितार्थ—पूर्व (२।१७० के) अनुमान में माया को पक्ष बनाया था, यहाँ आकाशादि कार्यवर्ग को । यहाँ बाध्यत्व का अर्थ है अधिष्ठानतत्त्वज्ञानापनोद्यत्व । 'शुद्धं धूमवदेव' का आशय यह है कि जैसे धूमहेतु शुद्ध अर्थात् निर्दुष्ट (हेत्वाभास-रहित) तथा पाँच (पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्व, असत्प्रतिपक्षितत्व और अबाधितत्व) रूपों से उपपन्न है, वैसे ही प्रकृत में बाध्यत्व हेतु भी है ॥ १७० ॥

"आत्मनः आकाशः सम्भूतः (तै० २।१।१) आदि श्रुतियों से उक्त (जगत् के अज्ञानहेतुकत्व का) अनुमान विरुद्ध है—यह सन्देह उठाकर हटाया जाता है—

अनुमानमागमविरुद्धमिदं
प्रतिवादिनो यदि मतं तदसत् ।
न तमोऽतिरिच्य जगतो जनक-
प्रतिपादकं वचनमस्ति यतः ॥ १७१ ॥

योजना—यदि प्रतिवादितः इदम् अनुमानम् आगमविरुद्धं मतम्, तत् असत्, यतः तमोऽतिरिच्य जगतो जनकप्रतिपादकं वचनं नास्ति ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—यदि प्रतिवादी इस अनुमान को श्रुति-विरुद्ध मानता है, तो उसका वैसा मानना अयुक्त है, क्योंकि अज्ञान को छोड़कर जगत्कारण-प्रतिपादक कोई वाक्य नहीं ॥

भावितार्थ—कूटस्थ आत्मा का जगत् रूप में परिणाम सम्भव नहीं । अज्ञान के द्वारा ही आत्मा जगत् का कारण बनता है, श्रुति यह कहती है—"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृह० २।५।१९) । एवं "तम आसीत्" (ऋ०सं० ८।७।१७) आदि बहुत से श्रुति-वाक्यों में अज्ञान को जगत् का कारण बताया है । अतः अज्ञान-निरपेक्ष कारणता के प्रतिपादन में किसी भी वाक्य का तात्पर्य नहीं ॥ १७१ ॥

[ब्रह्मण एवाज्ञानाश्रयत्वम्]

अज्ञान को जगत् का कारण मानने में यहाँ लोकदृष्ट विषयादि-दोष की अपेक्षा नहीं—यह पूर्व (१।३० में) कहा जा चुका है, उसी का स्मरण दिलाते हैं—

विषयकरणदोषान्न भ्रमः संविदि स्यात्
अपि तु भवति मोहात्केवलादेवमेव ।
भगवति परमात्मन्यद्वितीये समस्त-
द्वयमतिरियमस्तु भ्रान्तिरज्ञानहेतुः ॥ १७२ ॥

योजना—संविदि भ्रमः विषयकरणदोषात् न, अपि तु केवलात् मोहादेव, एवमेव अद्वितीये भगवति परमात्मनि इयं समस्तद्वयमतिः भ्रान्तिः अज्ञानहेतुरस्ति ॥ (शालिनी)

योजितार्थ—ज्ञान में (वेद्यत्वादि) का भ्रम विषय-दोष (सादृश्यादि) एवं करण दोष (काच, कामलादि) से नहीं होता, अपितु केवल अज्ञान से होता है। इसी प्रकार अद्वितीय परमेश्वर में समस्त द्वैत-बुद्धिरूप भ्रान्ति ही अध्यास की हेतु है[1] ॥ १७२ ॥

एक ही अज्ञान एक ही चेतन में सर्वज्ञत्व-अल्पज्ञत्वादि विरुद्ध धर्मों से युक्त ईश्वर और जीव का धटक कैसे माना जा सकता है? इस शंका का समाधान है—

अज्ञानिनो भवति दुःखमनेन क्लृप्तं
सर्वेश्वरस्य न खलु प्रतिभासतोऽपि ।
सर्वज्ञतादिगुणजातममुष्य नास्य
संसारिणः स्फुरति मोहसमन्वितस्य ॥ १७३ ॥

योजना—अनेन क्लृप्तं दुःखम् अज्ञानिनो भवति, सर्वेश्वरस्य प्रतिभासतोऽपि न खलु अमुष्य सर्वज्ञतादिगुणजातम् अस्य मोहसमन्वितस्य संसारिणो न स्फुरति ।।(व०छ०)

योजितार्थ—इस (अज्ञान) से रचित दुःख अज्ञानी को ही मिलता है, ईश्वर को प्रातिभासिक दुःख भी नहीं। उस (ईश्वर) के सर्वज्ञत्वादि गुण इस मोह-समन्वित, संसारी (जीव) में प्रतीत नहीं होते ।।

भावितार्थ—आवरणप्रधान अज्ञान जीव की उपाधि और विक्षेपप्रधान अज्ञान ईश्वर की उपाधि माना जाता है। "अहं न जाने"-यह आवरण ही दुःख का मूल है। अतः दुःख जीव में ही रहता है ईश्वर में नहीं, क्योंकि ईश्वर में आवरण नहीं। जीव में आवरण रहने के कारण ही ईश्वर के सर्वज्ञत्वादि-गुण भी प्रतीत नहीं होते, नहीं तो यह जीव ईश्वरस्वरूप था, इसमें भी सर्वज्ञत्वादि का भान होना चाहिए था ।। १७३ ।।

'यदा ते मोहकलिलम्' (गी० २।५२) आदि भगवद्वाक्यों से प्रतीयमान जीवाश्रित अज्ञान की भी व्यवस्था करते हैं—

जीवन्मुक्तिगतो यदाह भगवान्सत्संप्रदायप्रभुः
जीवाज्ञानवचस्तदीदृगुचितं पूर्वापरालोचनात् ।
अन्यत्रापि तथा बहुश्रुतवचः पूर्वापरालोचनात्
नेतव्यं परिहृत्य मण्डनवचस्तद्ध्यन्यथा प्रस्थितम् ॥ १७४ ॥

योजना—सत्संप्रदायप्रभुः भगवान् जीवन्मुक्तिगतः यद् जीवाज्ञानवचः आह, तत् पूर्वापरालोचनात् ईदृग् उचितम्। तथा अन्यत्रापि पूर्वापरालोलनात् बहुश्रुतवचः नेतव्यम्। मण्डनवचः परिहृत्य, तत् हि अन्यथा प्रस्थितम् ।। (शा० वि० छ०) ।।

योजितार्थ—साधुसम्प्रदाय-रक्षक भगवान् श्रीकृष्ण ने जीवन्मुक्ति के प्रकरण में चलकर जो जीव को अज्ञान का आश्रय कहा है, वह पूर्वापर की आलोचना से कथितार्थक ही उचित है। इसी प्रकार अन्यत्र भी पूर्वापर की पर्यालोचना से बहुश्रुत (भाष्यकार) के

---

[1] इस श्लोक का विशेष अर्थ १।३० में देखना चाहिए।

वचन संगमनीय हैं । हाँ, मण्डन के वाक्यों को जैसा-का-तैसा छोड़ देना चाहिए, क्योंकि वह प्रस्थान ही भिन्न है ॥

भावितार्थ—यहाँ बहुत से मान्य व्याख्याताओं ने 'भगवान्' पद से भगवान् शंकराचार्य का ग्रहण किया है, "जीवन्मुक्तिगतः" और "सत्सम्प्रदायप्रभुः" दोनों उनके विशेषण माने हैं । 'जीवन्मुक्तिगतः' का अर्थ है—जीवन्मुक्तः, 'सत्सम्प्रदायप्रभुः' विशेषण का झुकाव भी भाष्यकार की ओर है । तब यह अवश्य विचारणीय हो जाता है कि "जीवन्मुक्तिगतः" पद से भाष्यकार के उस समय विद्यमान होने की झलक मिलती है ? भाष्यवाक्य की व्याख्या का प्रसङ्ग भी है । अतः भगवान् शब्द से शंकराचार्य का ही ग्रहण करना उचित प्रतीत होता है ॥ १७४ ॥

[जीवेश्वरयोर्वैलक्षण्यम्]

अन्यस्थलीय भाष्य-वचन का अर्थतः अनुवाद करते हैं—

जीवस्य कार्यकरणाधिपतेरविद्या
दोषान्वितस्य तमसाऽऽवृतमन्ददृष्टेः ।
ज्ञानं निरावरणमैश्वरमित्यपीदं
भाष्याक्षरं कथितनीतिवशेन योज्यम् ॥ १७५ ॥

योजना—कार्यकरणाधिपतेः दोषान्वितस्य तमसा आवृतमन्ददृष्टेः जीवस्य अविद्या । ऐश्वरं ज्ञानं 'निरावरणमित्यपि'—इदं भाष्याक्षरं कथितनीतिवशेन योज्यम् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—स्थूलसूक्ष्मशरीरविशिष्ट, पूर्वपूर्वाध्यास-युक्त, अज्ञानावृतदृष्टिक जीव में अविद्या है । ईश्वर का ज्ञान निरावरण है—आदि भाष्याक्षरों की कथित रीति से योजना कर लेनी चाहिए ॥

भावितार्थ—अक्षरब्राह्मण में (बृह० ३।८।८) भाष्यकार ने कहा है—'अविद्याविशिष्टः कार्यकरणोपाधिरात्मा जीव उच्यते ।' इसी प्रकार गीताभाष्य में भी कहा है—"त्वं न जानीषे धर्माधर्मप्रतिबद्धज्ञानशक्तित्वात्, अहं तु नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वात् अनावरणज्ञानशक्तित्वात्" इन भाष्यवचनों का वही आशय समझ लेना चाहिए कि जीव में "अहं न जाने"—इस प्रकार अभिव्यक्त होने के कारण ही अज्ञान का आश्रय जीव कह दिया है और ईश्वर में स्पष्ट न होने के कारण वहाँ अज्ञान का निषेध कर दिया है ॥ १७५ ॥

कथित नीति का स्पष्टीकरण करते हैं—

स्पष्टं तमःस्फुरणमत्र न तत्र तद्वत्
सर्वेश्वरे तदिति तत्र निषिद्धयते तत् ।
बिम्बे तमोनिपतिते प्रतिबिम्बके वा
देहद्वयावरणवर्जितचित्स्वरूपे ॥ १७६ ॥

योजना—अत्र तमःस्फुरणं स्पष्टम्, तद्वत् तत्र सर्वेश्वरे नेति देहद्वयावरणवर्जितचित्स्वरूपे बिम्बे तमोनिपतिते प्रतिबिम्बके वा तत्र तत् निषिध्यते ॥ (व०छ०) ॥

योजितार्थ—इस (जीव) में अज्ञान का स्फुरण जैसा स्पष्ट है, वैसा उस ईश्वर में

नहीं, अतः स्थूल तथा सक्ष्म शरीर-रहित बिम्बभूत (ईश्वर) या माया-प्रतिबिम्बित प्रतिबिम्बरूप (ईश्वर) में उस (अज्ञान) का निषेध किया जाता है ।।

भावितार्थ—जीव में अहंकार के नियामक शरीरद्वय का समन्वय है, अतः "अहं न जाने" के रूप में अज्ञान की जैसी स्फुट प्रतीति जीव में होती है, वैसी ईश्वर में नहीं; क्योंकि वह स्थूल तथा सूक्ष्म द्विविध शरीरों से रहित है, अतः अहंकार-सम्वलित अज्ञान-स्फुरण उसमें नहीं । इसीलिए ईश्वर में अज्ञान का निषेध किया गया है । ईश्वर के दो प्रकार के स्वरूप माने जाते हैं—बिम्बस्वरूप और माया-फलित प्रतिबिम्बरूप । दोनों में अज्ञान का अस्फुरण समान ही है ।। १७६ ।।

इसी प्रकार जीव में अल्पज्ञता और ईश्वर में सर्वज्ञता के प्रतिपादक भाष्य का भी आशय आवरण-अनावरण में ही है, अज्ञान तथा अज्ञानाभाव में नहीं—

किञ्चिज्ज्ञताऽस्य तमसावृतनित्यदृष्टेः
सर्वज्ञता पुनरमुष्य परस्य पुंसः ।
अज्ञानतज्जकरणादिविवर्जितत्वात्
इत्येतदेवमुपपन्नतरं हि भाष्यम् ॥ १७७ ॥

योजना—अस्य किंचिज्ज्ञता तमसाऽवृतनित्यदृष्टेः । अमुष्य परस्य पुरुषः सर्वज्ञता; अज्ञानतज्जकरणादिविवर्जितत्वात्–इत्येदेवं भाष्यमुपपन्नतरम् ।।(वसन्ततिलकाच्छन्दः)।।

योजितार्थ—इस (जीव) में अल्पज्ञता है; क्योंकि अज्ञान से इसकी नित्यदृष्टि आवृत है । उस परमेश्वर में सर्वज्ञता है; क्योंकि अज्ञान और अज्ञान कार्य करणादि से रहित है । इस प्रकार उक्त भाष्य उपपन्नतर सिद्ध होता है ।।

भावितार्थ—भाष्यकार नें जो कहा है—'न त्वं वेत्थ धर्माधर्मादिप्रतिबद्धज्ञानशक्तित्वात्, अहं पुनर्नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वादनावरणज्ञानशक्तिरिति' (गी० ४।५) इस भाष्य से जो जीव में अल्पज्ञता और ईश्वर में सर्वज्ञता कही गई, उसका भी रहस्य यही है कि जीव की नित्यदृष्टि अज्ञान से आवृत है और ईश्वर की नहीं ।। १७७ ।।

कथित किञ्चिज्ज्ञत्वादि की दृढ़ता करते हैं—

अज्ञोऽहमित्यवगतिर्न परस्य पुंसः
सर्वज्ञतावगतिरात्मनि नास्य पुंसः ।
अत्रापि कारणमहंकृतिवर्जितत्वं
तद्वत्तया च परमेऽल्पतरे च पुंसि ॥ १७८ ॥

योजना—'अज्ञो अहम्'—इति अवगतिः परस्य पुंसः न, अस्य पुंसः आत्मनि सर्वज्ञतावगतिः न । अत्रापि कारणम्—परमे अहंकृतिविर्वजितत्वम्, अल्पतरे पुंसि च तद्वत्तया ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—'अहमज्ञः'—यह भान परमेश्वर को नहीं होता और इस जीव को अपने में सर्वज्ञता की अवगति नहीं होती । इसका कारण है–ईश्वर में अहंकार-राहित्य तथा जीव में अहंकार-साहित्य ।।

भावितार्थ—जीवकोटि में अहंकाररूप उपाधि का प्रवेश होनें से अल्पज्ञत्व का ही भान होता है, सर्वज्ञत्व का नहीं और ईश्वर में उक्त उपाधि के न होनें से सर्वज्ञत्व का ही भान होता है, अल्पज्ञत्व का नहीं ॥ १७८ ॥

ईश्वर के साथ अज्ञान का सम्बन्ध होने पर भी अहंकाराभिमान क्यों नहीं आया? इसका उत्तर है—

बिम्बस्य नापि तमसि प्रतिबिम्बकस्य
संघट्टनं क्वचिदहंकरणेन शक्यम् ।
वक्तुं प्रभोः सकललोकहितावतार-
स्वेच्छाविनिर्मितवपुर्वरमन्तरेण ॥ १७९ ॥

योजना—बिम्बस्य तमसि प्रतिबिम्बकस्यापि सकललोकहितावतारस्वेच्छाविनिर्मितवपुर्वरम् अन्तरेण क्वचित् अहङ्कारेण संघट्टनं न वक्तुं शक्यम् ॥ (व० ति० छ०) ॥

योजितार्थ—बिम्ब अथवा माया-प्रतिफलित प्रतिबिम्बभूत ईश्वर में लोक-हितार्थ स्वेच्छा-निमित्त शरीर के विना कहीं भी अहङ्कार का सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता ॥

भावितार्थ—जिस चेतन में स्वरूपावरण है, उसी में परिच्छेद तथा दुःख का नियामक अहंकाराभिमान होगा। ईश्वर में स्वरूपावरण नहीं, अतः वहाँ अहंकार का सम्बन्ध कदापि सम्भव नहीं। हाँ, भगवान् ने जो 'अहं सर्वस्य प्रभवः' (गी० १०।८) आदि स्थलों पर विचित्र-से उद्गार निकाले हैं, वह दीन-हित-रक्षणार्थ अपनी इच्छा से एक मायिक-शरीर धारण करके ही कहा है। शरीर सम्पर्क-रहित ईश्वर में अहंकार से सम्बन्ध नहीं होता, यह निश्चित है ॥ १७९ ॥

अहंकार-सम्बन्ध न होने पर भी अज्ञान-सम्बन्ध-मात्र से अज्ञानित्व का भान ईश्वर को क्यों नहीं होता? इसका उत्तर है—

नाहंकृतिं च परिहृत्य तमस्विताधीः
सम्भाव्यतेऽपहतपाप्मनि नित्यमुक्ते ।
तामन्तरेण घटते न च मूढभाव-
सम्भावनाऽपि परमेशितरि प्रसन्ने ॥ १८० ॥

योजना—अपहतपाप्मनि नित्यमुक्ते अहंकृतिं परिहृत्य तमस्विताधीः न सम्भाव्यते। तामन्तरेण च प्रसन्ने परमेशितरि मूढभावसम्भावनाऽपि न घटते ॥ (व० ति० छ०) ॥

योजितार्थ—पाप्म-वर्जित नित्यमुक्त (ईश्वर) में अहंकार को छोड़कर अज्ञानित्व-भान सम्भावित नहीं। अज्ञानित्वधी के बिना स्वभावस्वच्छ परमेश्वर में मूढ़भाव की सम्भावना भी नहीं बनती ॥

भावितार्थ—प्रमाणके बिना कोई पदार्थ नहीं माना जा सकता। ईश्वर में अज्ञानित्व के होने में प्रमाण है—अज्ञानित्व का भान। ईश्वर में अहंकाराभिमान न होने से अज्ञानित्व का भान नहीं, अतः परमेश्वर में मूढ़भाव (अज्ञानित्व) की सम्भावना नहीं ॥

स्वेच्छामात्र से शरीर धारण कर लेने पर ईश्वर में अज्ञत्व प्राप्त नहीं होता—

स्वेच्छाविनिर्मितवपुर्भजनेऽपि तस्य
नाज्ञानितावगतिरस्ति वशित्वहेतोः ।
वश्यत्वहेतुकमिदं स्फुरणं नराणां
नाहं विजान इति नास्ति हृदीश्वरस्य ॥ १८१ ॥

योजना—स्वेच्छाविनिर्मितवपुः भजनेऽपि तस्य अज्ञानितावगतिः नास्ति, वशित्वहेतोः । 'नाहं विजाने' इति इदं नराणां स्फुरणं वश्यत्वहेतुकम् । ईश्वरस्य हृदि नास्ति ॥

योजितार्थ—अपनी इच्छामात्र से रचित शरीर का धारण करने पर भी ईश्वर में अज्ञानिता की अगवति नहीं होती; क्योंकि वह वशी (स्वतन्त्र) है । 'नाहं विजाने'—यह जीवों का स्फुरण वश्यत्वहेतुक है, ईश्वर के हृदय में वह नहीं है ॥

भावितार्थ–'अहं न जाने'–यह भान पारतन्त्र्य-प्रयुक्त माना जाता है । जीवों में परतन्त्रता के कारण अज्ञानित्व-भान होता है । ईश्वर अपनी इच्छा से कोई शरीर धारण करता है, अदृष्टादि के अधीन होकर नहीं, अतः ईश्वर में स्वातन्त्र्य सदा विद्यमान है । पारतंत्र्य न होने से अज्ञानित्व का भान नहीं हो सकता ॥ १८१ ॥

भगवान् राम ने कहीं-कहीं जो अज्ञता व्यक्त की है, वह भी अपनी इच्छा से ही-

संकल्पपूर्वकमभूद् रघुनन्दनस्य
नाहं विजान इति कञ्चन कालमेतत् ।
ब्रह्मोपदेशमुपलभ्य निमित्तमात्रं
तच्चोत्ससर्ज स कृते सति देवकार्ये ॥ १८२ ॥

योजना—"अहं कंचन कालं न विजाने"—इत्येतत् रघुनन्दनस्य सङ्कल्पपूर्वकम् अभूत् । देवकार्ये कृते सति निमित्तमात्रं ब्रह्मोपदेशम् उपलभ्य तत् च उत्ससर्ज ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—"मैं कुछ काल न जान सका"—यह भगवान् राम का कहना भी स्वेच्छापूर्वक ही था । देव-कार्य के सम्पन्न हो जाने पर निमित्त-मात्र ब्रह्म का उपदेश पाकर वह अज्ञत्व छोड़ दिया ।

भावितार्थ—भगवान् राम में जो अज्ञता झलकती है, वह उनका ही वैसा सङ्कल्प था । इसीलिए भगवान् राम ने ब्रह्माजी से पूछा था—

आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम् ।
सोऽहं यश्च यतश्चाहं भगवांस्तद् ब्रवीतु मे ॥ (वा० युद्ध० ११७-११)

इस प्रश्न के उत्तर में ब्रह्मा ने उसका पूरा संकल्प सुना दिया । ब्रह्मा एक निमित्तमात्र था, अवधि समाप्त होते भगवान् राम ने वह संकल्प छोड़ दिया था ॥ १८२ ॥

सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्व-व्यवस्था का उपसंहार करते हैं—

अज्ञानवर्जिततया परमेश्वरोऽसौ
सर्वज्ञ एव यदहंकृतिबन्धहीनः ।
ज्ञानं निरावरणमिष्टममुष्य यस्मात्
जीवस्य सावरणमेव ततोऽनभिज्ञः ॥ १८३ ॥

योजना—असौ परमेश्वरः अज्ञानवर्जिततया सर्वज्ञ एव। यद् अहंकृतिबन्धहीनः, अमुष्य ज्ञानं निरावरणम् इष्टम्। यस्मात् जीवस्य सावरणम्, ततोऽनभिज्ञः ।। (व० छ०)

योजितार्थ—वह परमेश्वर अज्ञान-रहित होने से सर्वज्ञ है। वह अहंकाररूप बंधन से रहित है, अतः उसका ज्ञान निरावरण (असीम) है। जीव का ज्ञान सावरण है, अतः यह अनभिज्ञ है ।।

भावितार्थ—बुद्ध्यादि-अध्यास के न होने से ईश्वर स्वगत अज्ञान से आवृत्त नहीं, अतः सर्वज्ञ है। किन्तु जीव में कथित अध्यास विद्यमान है, इसीलिए यह आवृत है, अनभिज्ञ है, अल्पज्ञ है। इससे यही सिद्ध होता है कि अहङ्कार-अध्यास-युक्त आत्मा में अज्ञत्व अल्पज्ञत्व, अनीश्वरत्व होता है ।।१८३।।

चेतनत्व और अज्ञानाश्रयत्व समान होने पर भी जीव और ईश्वर में वैलक्षण्य क्यों? इसका समाधान है—

सर्वप्रमाणफलभूतममस्तसंवि-
ज्ञातं बिभर्ति परम पुरुषो न जीवः।
ज्ञानं निरावरणमैश्वरमस्तु तस्मात्
जैवं च सावरणमस्य विशेषहेतोः ॥ १८४ ॥

योजना – सर्वप्रमाणफलभूतसमस्तसंविज्जातं[1] परमः पुरुष एव बिभर्ति, जीवो न। तस्मात् ऐश्वरं ज्ञानं निरावरणम् अस्तु। अस्य विशेषहेतोः जैवं च सावरणम् ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—सभी चतुरादि प्रमाणों की फलभूत समस्त संवित् (फलचेतन) के समूह को परम पुरुष ही (आत्मरूप से) धारण करता है, जीव नहीं। इसलिए ईश्वरीय ज्ञान निरावरण है और इस विशेष हेतु से जैव ज्ञान सावरण है।

भावितार्थ—समस्त प्रमेयवर्ग ब्रह्म में अध्यस्त है, समस्त विषयों का स्फुरण भी ब्रह्म में ही होता है, अतः वही सर्वज्ञ हो सकता है, जीव नहीं ।। १८४ ।।

"विशेषहेतोः"—में कथित विशेषता दिखाते हैं—

अज्ञानतज्जमखिलं जगदात्मभासा
नित्यं प्रकाशयति सन्निहितः सदात्मा।
जीवस्तु नैवमिति सावरणं तदीयं
ज्ञानं निरावरणमैश्वरमुच्यते हि ॥ १८५ ॥

योजना—सदात्मा सन्निहितः (सन्) आत्मभासा अखिलम् अज्ञानतज्जं नित्यं प्रकाशयति, जीवस्तु एवं न। तदीय ज्ञानं सावरणम्, ऐश्वरं निरावरणं हि उच्यते ।। (व० छ०)

योजितार्थ—परमात्मा अज्ञान तज्जन्य निखिल प्रपञ्च को (अधिष्ठानरूप से) सदा सन्निहित होकर आत्म-प्रकाश से प्रकाशित करता है, जीव ऐसा नहीं। अतः जीव का ज्ञान परिच्छिन्न और ईश्वर का अपरिच्छिन्न कहा जाता है ।।

भावितार्थ—सर्वज्ञ वही हो सकता है, जो सब विषयों से सन्निहित होकर सब का

---

[1] ज्ञानमिति-पाठान्तरम्।

भासक हो। ईश्वर समस्त जगत् का अधिष्ठान है, सब के सन्निहित है, सब का भासक है किन्तु जीव ऐसा नहीं, अतः जीव सर्वज्ञ कैसे हो सकता है ? ॥ १८५ ॥

ईश्वर में सर्वज्ञता की उपपत्ति के लिए अज्ञान का सर्वथा अभाव मानना पड़ेगा, अतः वहाँ किसी प्रकार का भी अज्ञान नहीं बनता—इस आक्षेप का समाधान करते हैं–

ज्ञानात्मकस्यामलसत्त्वराशेः
अपेतदोषस्य सदा स्फुटस्य ।
किं वा जगत्यत्र समस्तपुंसाम्
अज्ञातमस्यास्ति हृदि स्थितस्य ॥ १८६ ॥

योजना—अस्य ज्ञानात्मकस्य, अमलसत्त्वराशेः, अपेतदोषस्य, सदा स्फुटस्य, समस्तपुंसां हृदि स्थितस्य अत्र जगति किम् अज्ञातम् ? ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ—इस ज्ञानस्वरूप शुद्धसत्त्वोपाधिक, दोष-रहित, नित्य स्वयंप्रकाश, समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित परमेश्वर के लिए इस विश्व में अज्ञात क्या ?

भावितार्थ—यह पद्य विष्णुपुराण का है, इसमें ईश्वर की सर्वज्ञता के दृढीकरण में सबसे बड़ी युक्ति यही दी है कि वह सबके हृदय में विराजमान है, अतः सर्वज्ञ है। जीव ऐसा नहीं, अतः अल्पज्ञ है ॥ १८६ ॥

ईश्वर की वशिता और जीव की वश्यता एक पुराण-वचन से प्रमाणित करते हैं–

मायामसौ वितनुते विभुरेवमेनां
सर्वेश्वरः सततमेव वशीकरोति ।
इत्यादिवाक्यमुपपन्नतरं पुराणे
स्वाज्ञानमस्य च वशे [1]चिदधीनभावात् ॥ १८७ ॥

योजना—"असौ विभुः मायां वितनुते एवं सर्वेश्वरः एनां सततमेव वशीकरोति"–इत्यादि पुराणे वाक्यम् उपपन्नतरम् स्वाज्ञानं च अस्य वशे, चिदधीनभावात् ॥ (व० छ०)

योजितार्थ—"वह विभु है, अतः माया का सर्जन करता है एवं सर्वेश्वर है, अतः इस (माया) को निरन्तर अपनें वश में रखता है"—आदि पुराण-वाक्य युक्ततर हैं। अपना अज्ञान भी उसके वश में है, क्योंकि (अज्ञान की सत्ता स्फूर्ति) चैतन्याधीन है ॥

भावितार्थ—पुराणवाक्यों में ईश्वर के साथ माया या अज्ञान का सम्बन्ध भी स्थापित किया गया है तथा ईश्वर में सर्ववशिता एवं सर्वज्ञतादि का समन्वय भी बताया गया है। उसकी उपपत्ति हमारे इस सिद्धान्त से ही हो सकती है कि ईश्वर में अनावृत अज्ञान होनें से सर्वज्ञता है, अज्ञानाभाव के कारण नहीं ॥ १८७ ॥

ईश्वर में अज्ञान-निषेधक भाष्यादि-वाक्यों का समन्वय-प्रकार दिखाते हैं—

जीवाज्ञतावचनमेवमिदं समस्तं
सर्वत्र योज्यमितरत्र च तन्निषेधः ।
तस्मात्समञ्जसमिदं मतमस्मदीयम्
आचार्यवाक्यमुपपन्नतरं हि तत्र ॥ १८८ ॥

---

[1] चिदधीत भावादिति पठान्तरम् ।

योजना–समस्तं जीवाज्ञतावचनं सर्वत्र (उक्तरीत्या) योज्यम्, एवम् इतरत्र तन्निषेधश्च (योज्यः)। तस्मात् इदम् अस्मदीयं मतम् समञ्जसम्, तत्र हि आचार्यवाक्यम् उपपन्नतरम् ॥ (व० छ०) ॥

योजितार्थ—जीवाज्ञता-बोधक समस्त वाक्यों का (उक्त रीति से) समन्वय कर लेना चाहिए एवं अन्यत्र (ईश्वर में) उस (अज्ञान) के निषेध का (सामञ्जस्य भी कर लेना चाहिए)। इसलिए यह हमारा मत युक्तियुक्त है, क्योंकि इसमें आचार्य के वाक्य पूर्णतया समञ्जस हो जाते हैं ॥ १८८)।

अपने कथित मत का फिर स्मरण दिलाते हैं—

चैतन्यमेव तु तमस्वि तदप्रबुद्धं
सर्वज्ञमेतदिह विश्वमिमं विभागम् ।
जीवेश्वरौ च जगदित्यपि निर्मिमीत
इत्येव वेदशिरसः प्रथितः प्रचारः ॥ १८९ ॥

योजना—"चैतन्यमेव तु तमस्वि, तद् अप्रबुद्धं सर्वज्ञम्। एतत् इह इमं विश्वं जीवेश्वरौ जगत् चेति विभागमपि निर्मिमीत"—इत्येव वेदशिरसः प्रथितः प्रचारः ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—चैतन्य ही अज्ञान का आश्रय एवं विषय है, वही अज्ञ भी है और सर्वज्ञ भी। वही इस विश्व तथा जीव, ईश्वर, जगत्-इस विभाग का भी निर्माण करता है-यही प्रसिद्ध वेदान्त सिद्धान्त है ॥

भावितार्थ—शुद्ध चैतन्य ही अज्ञान का आश्रय है, अज्ञानी है। वही कार्योपाधि में प्रविष्ट होकर अप्रबुद्ध जीव तथा करणोपाधि के सम्बन्ध से सर्वज्ञ ईश्वर है। वही इस विश्व एवं जीव, ईश्वरादि विभाग का निर्माण किया करता है—यह हमारा कपोलकल्पित सिद्धान्त नहीं, अपितु समस्त वेदान्त का निचोड़ है ॥ १८९ ॥

जीवगत अज्ञान से ईश्वर की माया को भिन्न मानना पड़ेगा, क्योंकि माया को जीवों की मोहिनी शक्ति बताया है—इस शंका का समाधान करते हैं—

जीवेशानजगद्विभागजननी शक्तिर्जडा वैष्णवी
मायेशानगता सती भवति सा जीवावधिर्मोहगी। ।
जीवानीश्वर एष मोहयति ते जीवा विमुह्यन्त्यतः
शश्वद्विश्वदृगीश्वरो भवति ते जीवा विमूढा मुहुः ॥ १९० ॥

योजना–(या) जीवेशानजगद्विभागजननी जडा शक्तिः सैव ईशानगता सती वैष्णवी माया शक्तिः भवति, जीवावधिः मोहगीः। एष ईश्वरः जीवान् मोहयति, ते जीवाः विमुह्यन्ति, अतः ईश्वरः शश्वत् विश्वदृक् भवति, ते जीवाः मुहुः विमूढाः ॥ (शा०वि०छ०)।

योजितार्थ—जो जीव ईश्वर तथा जगत्-विभाग की जननी जड़ा शक्ति है, वही ईश्वर में स्थित होकर वैष्णवी माया शक्ति कहलाती है और जीव में स्थित होकर मोहपद-वाच्य होती है। वह ईश्वर जीवों को मोहित करता है, वे जीव विमूढ़ होते हैं, अतः ईश्वर सदा विश्व-द्रष्टा होता है और वे जीव विमूढ़ होते हैं ॥ १९० ॥

आकाशादि में मायिकत्व तथा जीवगत दुःखादि में आविद्यिकत्व की प्रसिद्धि माया अविद्या के अभेद पक्ष में भी बन जाती है—

अज्ञानिनो भवति मोहविजृम्भितं तु
दुःखं जगज्जनकता परमेश्वरस्य ।
मायामयी भवति तेन विलक्षणत्वम्
एकान्ततः श्रुतिशिरस्सु तयोः प्रसिद्धम् ॥ १९१ ॥

योजना—अज्ञानिनो दुःखं तु मोहविजृम्भितं भवति । परमेश्वरस्य जगज्जनकता मायामयी भवति । तेन श्रुतिशिरस्सु तयोः एकान्ततो वैलक्षण्यं प्रसिद्धम् ॥ (व० छ०) ॥

योजितार्थ—अज्ञानी (जीव) को दुःख तो मोह-जन्य होता है । परमेश्वर में जगत्-जनकता मायामयी है । इसलिए वेदान्त-वाक्यों में उन (जीव, ईश्वर) दोनों का अत्यन्त वैलक्षण्य प्रसिद्ध है ॥

भावितार्थ—एक ही जलधारा में विभिन्न भूमितलों का विचित्र प्रभाव स्पष्ट देखा जाता है । एक ही अज्ञान बिम्ब से लेकर प्रतिबिम्ब तक व्याप्त है । वही अज्ञान बिम्ब-रूप ईश्वर के आश्रित होने के कारण माया कहलाता है और उसमें आकाशादि की जनकता तथा जीवों की मोहकता मानी जाती है । एवं वही अज्ञान प्रतिबिम्बरूप जीव के आश्रित होकर मोहादि शब्दों से कहा जाता है और उसमें दुःख-जनकता देखी जाती है ॥

अज्ञान वस्तुतः शुद्ध ब्रह्मनिष्ठ है, उसका जीव में अज्ञानाभिमानता के कारण व्यवहारमात्र होता है—

चैतन्यस्याज्ञानशक्तेरनादेः
जीवत्वं तु व्यञ्जकं कल्पयन्तः ।
जीवारूढं व्यक्तमज्ञानमाहुः
जीवो मूढः कथ्यतेऽतो बहुज्ञैः ॥ १९२ ॥

योजना—चैतन्यस्य अनादेः अज्ञानशक्तेः व्यंजकं तु जीवत्वं कल्पयन्ति । जीवा-रूढम् अज्ञानं व्यक्तमाहुः । अतः बहुज्ञैः जीवो मूढः कथ्यते ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—चैतन्यनिष्ठ अनादि अज्ञानशक्ति का व्यंजक जीवत्व को मानते हैं । जीवा-रूढ़ अज्ञान को व्यक्त कहते हैं । इसलिए बहुज्ञ (वृद्धगण) जीव को मूढ (अज्ञानी) कहते हैं ॥

भावितार्थ—शुद्ध चैतन्य में तब तक अज्ञानाभिव्यक्ति नहीं होती, जब तक उसमें जीव-भाव न आ जाय, क्योंकि जीवत्व धर्म को ही अज्ञान का अभिव्यञ्जक माना जाता है । अतः एकमात्र शुद्ध चैतन्य ही जीवभाव में आकर अज्ञानी या मूढ़ बनता है । जीव अज्ञान का आश्रय होता है—इस व्यवहार का यही रहस्य है ॥ १९२ ॥

मुख्य वेदान्त-सिद्धान्त यही है । फिर भी आचार्यों ने प्रौढ़िवाद का सहारा लेकर कहीं कुछ और भी कह दिया है—

अत्रैव वस्तुनि दृढं व्यवतिष्ठमानः
प्रौढिप्रदर्शनपरः पुनरन्यदन्यत् ।
भाषापदं किमपि निक्षिपति स्फुटं तद्
अस्माभिरेवमुपपादितमञ्जसैव ॥ १९३ ॥

योजना—अत्रैव वस्तुनि दृढं व्यवतिष्ठमानः पुनः प्रौढिप्रदर्शनपरः किमपि अन्यत्-अन्यत् भाषापदं स्फुटं निक्षिपति, तत् अस्माभिः एवमञ्जसा उपपादितम् ।(व०ति०छ०)।

योजितार्थ—इस (कथित) सिद्धान्त पर दृढ रहकर भी आचार्यगण ने (प्रौढिवाद) अपना सामर्थ्यातिरेक दिखाने के लिए कुछ अन्यान्य भी सूत्रवाक्य लिख दिये हैं, उनका हमने भली प्रकार संगमन और उपपादन कर दिया है ।।

भावितार्थ-सूत्रकार ने जो 'स्याल्लोकवत्' (ब्र० सू० २।१।१३) इस सूत्र में परिणाम तथा 'नेतरोऽनुपपत्तेः' (ब्र० सू० १।१।१६) आदि सूत्रों में जीव-ईश्वर के विभाग का प्रतिपादन किया है, वह केवल प्रौढ़िवाद दिखाने के लिए है। उनका उसमें तात्पर्य किञ्चिन्मात्र भी नहीं, क्योंकि वे आत्मा की अद्वितीयता, नित्यमुक्तता तथा प्रपञ्च की अनिर्वचनीयता को अपना मुख्य सिद्धान्त मानते हैं।। १९३ ।।

स्वयं सूत्रकार ने भी ऐसा ही कहा है—

विस्पष्टमात्ममतमेव हि सर्वधर्म-
सूत्रेण सूत्रकृदिदं दृढमाचचक्षे ।
सर्वज्ञतादिपरिपालनतत्परः सन्
तत्रैव भाष्यकृदपीदमुवाच यत्नात् ॥ १९४ ॥

योजना—सूत्रकृत सर्वधर्मसूत्रेण विस्पष्टम् इदम् आत्ममतमेव दृढम् आचचक्षे । तत्रैव सर्वज्ञतादिपरिपालनतत्परः सन् भाष्यकृदपि इदं यत्नात् उवाच ।। (व०ति०छ०) ।।

योजितार्थ—सूत्रकार ने 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' (ब्र० सू० २।१।३५) इस सूत्र में स्पष्टरूप से अपने इस मायावाद का उपपादन किया है। उसी सूत्र में ही 'सर्वज्ञं सर्वशक्तिमहामायं ब्रह्म' ऐसा कहकर भाष्यकार भी वही तात्पर्य यत्नतः व्यक्त करते हैं ।।

भावितार्थ—यद्यपि लौकिक कारणों में सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व प्रसिद्ध नहीं, तथापि कुलालादि लौकिक कारणों में स्वकार्याभिज्ञत्व तो प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार परमेश्वर में भी स्वकार्याभिज्ञत्व मानना पड़ेगा। समस्त जगत् उसका कार्य है, अतः उसमें स्वकार्याभिज्ञता ही सर्वज्ञता के रूप में आ जाती है ।। १९४ ।।

जीवाश्रित अज्ञानवाद का निराकरण करते हैं—

अज्ञानित्वं ब्रह्मणो जीवता चेत्
नाज्ञानित्वं तत्र जीवस्य युक्तम् ।
अज्ञानित्वे चान्यदप्यभ्युपेतम्
अज्ञानित्वं यद्यहो कष्टपिष्टिः ॥ १९५ ॥

योजना—अज्ञानित्वं ब्रह्मणो जीवता चेत्, तत्र जीवस्य अज्ञानित्वं न युक्तम् । अज्ञानित्वे च यदि अज्ञानित्वमपि अन्यत् अभ्युपेतम्, अहो कष्टपिष्टिः ।। (शालिनी) ।।

योजितार्थ—अज्ञानित्व को ब्रह्म की जीवता (जीवत्व) यदि माना जाय, तब जीव में अज्ञानित्व कहना युक्त नहीं। अज्ञानित्व में भी यदि (ब्रह्मनिष्ठ अज्ञानत्व की अपेक्षा) अन्य अज्ञानित्व (जीव में) माना जाय, तब क्लिष्टकल्पना तथा पिष्टपेषण होता है ।।

भावितार्थ-ब्रह्म में जीवभाव को स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि श्रुतियों से उसमें ब्रह्मता ही स्वतः प्रमाणित होती है, अतः अज्ञानरूप उपाधि से युक्त होनेके कारण

ही ब्रह्म में जीवभाव कहना होगा। तब तो जीव में अज्ञान कैसे मान सकते हैं ? जीव में अन्य अज्ञान मानने पर क्लिष्ट कल्पना का सामना करना होगा ॥ १९५ ॥

यह अज्ञान शुद्ध ब्रह्म के आश्रित ही सिद्ध होता है—

अज्ञानित्वं ब्रह्मणश्चानभीष्टम्
अस्मिन्पक्षे दुर्निवारं प्रसक्तम् ।
अज्ञानित्वं ब्रह्मणश्चेदभीष्टम्
अस्मत्पक्षस्त्यज्यते कस्य हेतोः ॥ १९६ ॥

योजना—अस्मिन् पक्षे ब्रह्मणः अज्ञानित्वम् अनभीष्टं प्रसक्तम् ब्रह्मणः अज्ञानित्वं चेत् अभीष्टम् अस्मत्पक्षः त्यज्यते कस्य हेतोः ? (शालिनी) ॥

योजितार्थ—इस पक्ष में ब्रह्म में अज्ञानित्व अनभिमत प्रसक्त होता है। यदि ब्रह्म में अज्ञानित्व को अभीष्ट मान लें, तब हमारा पक्ष आप छोड़ते क्यों हैं ?

भावितार्थ—जो लोग ब्रह्म में अज्ञान मानते हुए भी जीव को अज्ञानी मानते हैं, उनसे पूछा जा सकता है कि ब्रह्माश्रित अज्ञान ही जीव में रहता है ? या अज्ञानान्तर ? प्रथम पक्ष में ऊपर दोष दिया गया, द्वितीय पक्ष में यह दोष दिया जाता है कि ब्रह्माश्रित अज्ञान पक्ष मानना पड़ जाता है और दूसरा ज्ञान मानना भी व्यर्थ है ॥ १९६ ॥

ईश्वर को अज्ञानी मानने पर उसमें श्रद्धास्पदत्व अनुपपन्न होता है, अतः जीव में अज्ञान क्यों न माना जाय ? इस शङ्का का समाधान करते हैं—

शुद्धत्वार्थं ब्रह्मणस्त्यज्यते चेद्
अस्मत्पक्षेऽप्यस्ति शुद्धत्वमस्य ।
अस्मत्पक्षे शुद्धता वास्तवी चेद्
युष्मत्पक्षे कल्पिता शुद्धता किम् ॥ १९७ ॥

योजना—ब्रह्मणः शुद्धत्वार्थं चेत् त्यज्यते; अस्मत्पक्षेऽपि अस्य शुद्धत्वम् अस्ति। अस्मत्पक्षे शुद्धता वास्तवी चेत्, युष्मत्पक्षे कल्पिता शुद्धता किम् ? (शालिनी) ॥

योजितार्थ—ब्रह्म में शुद्धत्व की उपपत्ति के लिए हमारा पक्ष क्यों छोड़ दिया ? शुद्धता हमारे मत में भी तो है। हमारे मत में शुद्धता यदि वास्तवी है, तो आपके पक्ष में क्या शुद्धता कल्पित है ? ॥ १९७ ॥

जीवाश्रित अज्ञान के निराकरण का उपसंहार करते हैं—

कष्टः कष्टः कल्पितो ब्रह्मवादः
श्रेयो मार्गाद् भ्रश्यतो भ्रान्तबुद्धेः ।
त्यक्तव्यस्ते सज्जनैरस्मदीयः
श्रेयोमार्गः श्रेयसे चाभ्युपेयः ॥ १९८ ॥

योजना—कष्टः कष्टः ब्रह्मवादः कल्पितः, श्रेयोमार्गात् भ्रश्यते, भ्रान्तबुद्धेः। सज्जनैः ते (पक्षः) त्यक्तव्यः, अस्मदीयः श्रेयोमार्गश्च श्रेयसे अभ्युपेयः ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—अत्यन्त कष्टप्रद (अनुपपन्न) ब्रह्मवाद (जीवाश्रिताज्ञानवाद) की कल्पना की, कल्याणमार्ग से भ्रष्ट हो जायगा; क्योंकि बुद्धि भ्रान्त हो गई है, अतः सज्जनों को तुम्हारा (जीवाज्ञानवाद) छोड़ देना चाहिए और हमारा कल्याण-पथ कल्याणार्थ अपना लेना चाहिए ॥

भावितार्थ—जीवाश्रित अज्ञान ही ब्रह्म में रहकर जीवभाव का कल्पक है, ब्रह्मविद्या से जीवभाव की निवृत्ति होनेपर जीव ब्रह्म बनता है—इस प्रकार का ब्रह्मवाद अत्यन्त अयुक्त है, सर्वथा अनुपादेय है ॥ १९८ ॥

यदि ब्रह्म में अज्ञान है, तब संसरण भी उसी में मान लिया जाय, जीव में क्यों माना जाता है ? यह शंका करते हैं—

एकोपाधावस्तिता नास्तिता च
मूढत्वस्य स्वीकृता चेत्परस्मिन् ।
व्योम्न्येकस्मिन्नस्तिता नास्तिता च
पक्ष्यादीनां यद्वदिष्टा तथैव ॥ १९९ ॥

योजना—चेत् एकस्मिन् व्योम्नि पक्ष्यादीनां अस्तिता नास्तिता च यद्वत् , तथैव परस्मिन् एकोपाधौ मूढत्वस्य अस्तिता नास्तिता च स्वीकृता ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—यदि कहें कि जैसे एक ही आकाश में पक्ष्यादि का अस्तित्व और नास्तित्व दोनों होते हैं, वैसे ही एक ही ब्रह्म में मूढ़त्व की अस्तिता तथा नास्तिता मान ली है ॥

भावितार्थ—जैसे एक ही निरवयव आकाश में पक्षी आदि का भाव और अभाव—दोनों रहते हैं, वैसे ही एक ही चेतन में मूढ़त्व और मूढ़त्वाभाव की उपपत्ति क्यों न होगी ? ॥ १९९ ॥

उक्त शंका का निराकरण करते हैं—

नैतत्सारं सत्त्वमिष्टं यदि स्याद्
अस्तित्वादेरिष्टहानिः प्रसक्ता ।
एकोपाधावस्तिता नास्तिता चेद्
स्यादित्येवं स्वीकृतेऽस्मिन् हि पक्षे ॥ २०० ॥

योजना—नैतत्सारम्, यदि इह अस्तित्वादेः सत्त्वमिष्टम्, तदा इष्टहानिः प्रसक्ता । एकोपाधौ अस्तिता नास्तिता च स्यात् इत्येवमस्मिन् पक्षे स्वीकृते हि ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—उक्त आशंका उचित नहीं, क्योंकि एक ही उपाधि में अस्तिता और नास्तिता होगी—इस पक्ष के स्वीकार कर लेने पर इस शुद्ध तत्त्व में भी अस्तित्वादि की सत्ता माननी पड़ेगी, तब इष्टहानि होती है ॥

भावितार्थ—ब्रह्म में अस्तित्व तथा नास्तित्व दोनों मान लेने पर ब्रह्म की पाक्षिक असत्ता माननी पड़ती है, जो कि अनिष्ट है । एवं अनवच्छिन्न ब्रह्म ही संसारी हो—इस इष्ट की हानि भी होती है ॥ २०० ॥

दूषणान्तर देते हैं—

धूमे सत्ता स्यादसत्ता च तस्मिन्
धूमस्यैवं कारणं कल्प्यते किम् ।
कादाचित्कं कारणं नान्तरेण
स्यादित्येवं तस्य क्लृप्तिः कुतो वः ॥ २०१ ॥

योजना—धूमे सत्ता स्यात्, तस्मिन् असत्ता च, एवं धूमस्य कारणं किं कल्प्यते ? कादाचित्कं कारणमन्तरेण न स्यात् इत्येवं तस्य वः क्लृप्तिः कुतः ? ।। (शालिनी) ।।

योजितार्थ—धूम की (पर्वत में) सत्ता हो, उसकी असत्ता भी, तब धूम के कारण अग्नि की कल्पना क्यों की जाती है ? कादाचित्क कारण के बिना इसकी सिद्धि नहीं होगी —यह आपके यहाँ कब निश्चित हुआ है ?

भावितार्थ— पर्वत में धूम की यदि सत्ता भी है ? और असत्ता भी ? तब तो उससे अग्नि का अनुमान कैसे होगा ? क्योंकि कादाचित्क कारण के बिना कादाचित्क कार्य नहीं होता—यह अन्वय-व्यतिरेक ही आपके मत में सिद्ध नहीं ।। २०१ ।।

इस पक्ष में कार्य-कारणभाव की क्षति होती है—

कादाचित्कात्कल्पनां कारणस्य
प्रत्याचक्षीताविरोधं ब्रुवाणः ।
एकोपाधावस्तिनास्तित्वयोर्हि
तस्मादेषा कष्टक्लृप्तिर्न कार्या ॥ २०२ ॥

योजना—एकोपाधौ अस्तिनास्तित्वयोः अविरोधं ब्रुवाणः कादाचित्कात् कारणस्य कल्पनां प्रत्याचक्षीत तस्मादेषा क्लृप्तिः न कार्या ।। (शालिनी) ।।

योजितार्थ—एक ही उपाधि में अस्तित्व और नास्तित्व का अविरोध मानने पर कादाचित्क (कार्य से) कारण की कल्पना नहीं हो सकेगी, अतः यह मत उचित नहीं ।।

भावितार्थ—एक ही धूम आदि रूप उपाधि से युक्त पर्वत में यदि वह्नि आदि का अस्तित्व तथा नास्तित्व—दोनों अविरुद्ध माने जाते हैं, तब धूम के आधार में भी कदाचित् वह्नि का अभाव मानना होगा, फिर तो धूम से वह्नि का अनुमान कैसे हो सकेगा ? ।। २०२ ।।

जैसे आपके मत से एक ही ब्रह्म में सामान्यरूप से स्फुरण तथा विशेष रूप से अस्फुरण माना जाता है, वैसे ही अज्ञान की सत्ता और असत्ता एकत्र क्यों न होगी—यह सन्देह करते हैं—

ननु चैकरूपचितिवस्तुगतं
स्फुरणं तदस्फुरणमेव च वः ।
अविरुद्धमभ्युपगतं द्वितयं
तदिवास्ति नास्ति युगलं भवतु ॥ २०३ ॥

योजना—ननु च एकरूपचितिवस्तुगतं स्फुरणं तदस्फुरणं च द्वितयं वः अविरुद्धम् अभ्युपगतम्, तदिव अस्तित्वनास्तित्वयुगलं भवतु ।। (प्रमिताक्षरा) ।।

योजितार्थ—शङ्का होती है कि एकरूप चैतन्य वस्तु में स्फुरण और अस्फुरण—दोनों को आपने अविरुद्ध माना है, वैसे ही अस्तित्व तथा नास्तित्व—दोनों होंगे ॥

भावितार्थ—आप जैसे एक ही ब्रह्म में स्फुरण और स्फुरणाभाव दोनों मानते हैं, वैसे ही हम ब्रह्म में ज्ञान का अस्तित्व तथा नास्तित्व क्यों न मान सकेंगे ? ॥ २०३ ॥

उक्त शङ्का का निर्मूलन करते हैं—

न तदात्मनः स्फुरणमेव निजं
परतोऽप्रकाशनमबोधवशात् ।
न च किञ्चिदन्यदनयोरुभयोः
अविरोधसिद्धिकृदुदाहरणम् ॥ २०४ ॥

योजना—तद् न, आत्मनः स्फुरणं निजमेव, अप्रकाशनं परतः (अबोधवशात्) । अनयोः उभयोः अविरोधसिद्धिकृत् अन्यत् किञ्चित् उदाहरणं न च ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—वह (शङ्का) उचित नहीं, आत्मा का स्फुरण स्वाभाविक है, किन्तु अस्फुरण औपाधिक (अज्ञानरूप उपाधि-वश) है। इन दोनों (अस्तित्व तथा नास्तित्व) का अविरोध-साधक अन्य कोई उदाहरण नहीं है ॥

भावितार्थ—विषमसत्ताक भावाभाव का ही अविरोध होता है, समसत्ताक भावाभाव का नहीं। ब्रह्म में स्फुरण स्वभावसिद्ध अर्थात् पारमार्थिक है और अस्फुरण आरोपित, अतः दोनों का विरोध नहीं। किन्तु अज्ञान का अस्तित्व और नास्तित्व-दोनों समानसत्ताक हैं, इनका अविरोध सिद्ध करने के लिए अनुरूप दृष्टान्त नहीं मिल सकता, इसलिए इन दोनों का विरोध निश्चित है ॥ २०४ ॥

स्फुरण और स्फुरणभाव को हम भावाभावरूप नहीं मानते, इसलिए भी दोनों के एकत्र रहने में कोई विरोध उपस्थित नहीं होता—

स्फुरणास्फुरणे च नाऽऽत्मनः
सदसद्भावतया मनीषिते ।
स्फुरणं चितिरात्मवस्तुनः
तदविद्यास्फुरणं च कथ्यते ॥ २०५ ॥

योजना-आत्मनः स्फुरणास्फुरणे सदसद्भावतया न मनीषिते, आत्मवस्तुनः चितिः स्फुरणम् तदविद्या च अस्फुरणं कथ्यते ॥ (सुन्दरीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—आत्मा के स्फुरण और अस्फुरण भावाभावरूप नहीं माने जाते, आत्म वस्तु के चैतन्यस्वरूप को स्फुरण तथा आत्मविषयिणी अविद्या को अस्फुरण कहा जाता है ॥

भावितार्थ—जो लोग आत्मस्फुरण को आत्मवृत्ति भावरूप और अस्फुरण को अभावरूप मानते हैं, उनके मत में अवश्य दो (स्फुरण और अस्फुरण) का एकत्र एक काल में रहना सम्भव नहीं। हमारे सिद्धान्त में स्फुरण आत्मस्वरूप है और अस्फुरण अविद्यारूप, अतः किसी प्रकार का विरोध नहीं ॥ २०५ ॥

अतः अज्ञानित्व ही जीवभाव नहीं कि कथित अनुपपत्ति प्रस्तुत हो, अपितु अविद्या में चित्प्रतिबिम्बत्व ही जीवभाव सिद्ध होता है—

अज्ञानित्वं जीवभावो न तस्मात्
जीवत्वादेः कारणं युक्तमेतत् ।
प्राणोपाधेर्वाचको जीवशब्दः
चैतन्यस्य स्यात्प्रसिद्धो हि तत्र ॥ २०६ ॥

योजना—तस्मात् अज्ञानित्वं जीवभावो न, एतत् जीवत्वादेः कारणं युक्तम्, तत्र हि जीवशब्दः प्राणोपाधेः चैतन्यस्य वाचकः प्रसिद्धः स्यात् ॥ (शालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इसलिए अज्ञानित्व जीवभाव नहीं, यह (अज्ञान) जीवभावादि की उपाधि बन जाता है, क्योंकि शास्त्रों में 'जीव' शब्द प्राणोपाधिक चैतन्य का वाचक प्रसिद्ध है ॥

भावितार्थ—'जीव प्राणधारणे' धातु से 'जीव' शब्द निष्पन्न हुआ है, अतः इसका शब्दार्थ होता है—प्राण-धारक चैतन्य, अर्थात् प्राणोपाधिक चैतन्य ही जीव है अज्ञान-विशिष्ट चेतन नहीं । 'प्राण' पद लिङ्ग शरीर का उपलक्षक है, इस प्रकार लिङ्गशरीरोपाधिक चेतन 'जीव' शब्द का अर्थ ठहरता है ॥ २०६ ॥

यही अर्थ वृद्धजनों में प्रसिद्ध है—

अज्ञानजन्यकरणप्रतिबिम्बवाचि
जीवाभिधानमिह वृद्धजनप्रसिद्धम् ।
अत्रैव निर्वचनमस्ति च तस्य तस्मात्
जीवो भवेत्करणपूगवशीकृता चित् ॥ २०७ ॥

योजना—इह जीवाभिधानम् अज्ञानजन्यकरणप्रतिबिम्बवाचि वृद्धजनप्रसिद्धम्, अत्रैव तस्य निर्वचनम् अस्ति, तस्मात् करणपूगवशीकृता चित् जीवो भवेत् ॥(व०ति०छ०)

योजितार्थ—यहाँ 'जीव' शब्द अज्ञानजन्य अन्तःकरणगत प्रतिबिम्ब का वाचक वृद्धजनों में प्रसिद्ध है, इसी अर्थ में उसका निर्वचन होता है, अन्तःकरण-समूह से उपहित चैतन्य जीव होता है ।

भावितार्थ–अन्तःकरण-प्रतिबिम्बित चैतन्य अर्थ में 'जीव' पद रूढ है और योगशक्ति से भी उसी अर्थ को कहता है, अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि 'जीव' शब्द का अर्थ है—अन्तःकरणोपाधिक चेतन ॥ २०७ ॥

इस प्रकार ब्रह्म ही अज्ञान का आश्रय सिद्ध होता है, जीव नहीं—

ब्रह्मैवाज्ञानि तस्मादिह भवितुमलं नापरं वस्तु किंचित्
तस्याज्ञानात्मकत्वान्न च तमसि तमस्तन्निवृत्तेरयोगात् ।
नाज्ञानोत्थस्य विद्याजनिरिह घटते तां विना तन्न नश्येत्
न ह्यज्ञानं विनश्येदवगतिजनकज्ञानजन्मान्तरेण ॥ २०८ ॥

योजना—तस्मात् इह ब्रह्मैव अज्ञानि भवितुम् अलम्, अपरं किञ्चित् वस्तु न, तस्य अज्ञानात्मकत्वाद्, तमसि तमः न च, तन्निवृत्तेरयोगात् । इह अज्ञानोत्थस्य विद्याजनिः घटते, तां विना तत् नश्येत् न, अज्ञानं हि अवगतिजनकज्ञानजन्म अन्तरेण विनश्येत् न ॥ (स्रग्धरा) ॥

योजितार्थ—अतः इस सिद्धान्त में ब्रह्म ही अज्ञान का आश्रय हो सकता है, अन्य कोई वस्तु नहीं, क्योंकि वह (अनात्मवस्तु) अज्ञानात्मक (जड़) है, अज्ञान पर अज्ञान होता नहीं, क्योंकि (जडवर्ग पर अज्ञान यदि मानें, तब) उसकी निवृत्ति न हो सकेगी। यहाँ अज्ञान-जन्य घटादि पर विद्या का जन्म नहीं हो सकता, उसके विना वह (अज्ञान) नष्ट नहीं होगा, क्योंकि अज्ञान विषयाभिव्यक्तिरूप अवगति के जनक वृत्तिरूप ज्ञान के बिना नष्ट नहीं होता ॥

भावितार्थ—चेतन पर अज्ञान सफल भी है और उस अज्ञान की निवृत्ति भी हो सकती है, किन्तु जड़वर्ग पर अज्ञान का कोई फल भी नहीं और उस अज्ञान की निवृत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि अज्ञान का काम है—स्वतःस्फुरण को अवरुद्ध करना। चेतन ही स्वतः स्फुरित है, घटादि तो स्वतः अस्फुरण स्वरूप हैं ही, उन पर अज्ञान को चढ़ाना कालिमा पर कालिमा पोतनी है, विषय-स्फोरक प्रकाश को अभिव्यञ्जिका वृत्ति ही अज्ञान को नष्ट किया करती है, वह भी घटादि पर असम्भावित ही है, घटादि पर यदि अज्ञान मान भी लें, तब उसकी निवृत्ति कैसे होगी ? अतः चेतन को ही अज्ञान का आश्रय मानना उचित है ॥ २०८ ॥

जीव भी अज्ञानात्मक ही है, अतः वह अज्ञान का आश्रय नहीं बन सकता—

अज्ञानात्मकवस्तु नाऽऽश्रयतयाऽज्ञानस्य संभाव्यते
नाज्ञानात्मकताबहिष्कृतमिदं जीवत्वमङ्गीकृतम् ।
नाज्ञानाश्रयमध्यपाति घटते जीवत्वमेतेन वः
चैतान्याश्रयमेतदस्तु घटते तत्रैव हीदं तमः ॥ २०९ ॥

योजना—अज्ञानात्मकवस्तु अज्ञानस्य आश्रयतया न सम्भाव्यते । इदं जीवत्वम् अज्ञानात्मकताबहिः कृतं न अङ्गीकृतम् जीवत्वं अज्ञानाश्रयमध्यपाति न घटते, एतेन वः एतत् चैतन्याश्रयम् अस्तु, इदं तमः तत्रैव घटते ॥ (शा० वि० छ०)

योजितार्थ—अज्ञानात्मक वस्तु अज्ञान की आश्रय नहीं बन सकती। यह जीवभाव अज्ञानस्वरूपता के बाहर नहीं माना गया, जीवत्व आज्ञानाश्रय का घटक भी नहीं हो सकता, इसलिए आपके मत में भी यह (शुद्ध चेतन) अज्ञान का आश्रय होगा, यह अज्ञान उसी में घटता है ॥

भावितार्थ—'तत्त्वमसि' आदि श्रुतियों से बाधित होनें के कारण जीवभाव वास्तविक नहीं माना जा सकता, अपितु अज्ञानस्वरूप ही मानना पड़ता है। अज्ञानस्वरूप होने से जीवभाव अज्ञान का न तो आश्रय हो सकता है और न आश्रयता का अवच्छेदक, अतः उपपन्नतर यही है कि शुद्ध चेतन को अज्ञान का आश्रय मान लिया जाय ॥२०९॥

अज्ञान को अद्वय ब्रह्म के आश्रित मानना अनुभव-विरुद्ध है, यह शंका करते हैं—

ननु चाद्वयाश्रयतमःस्फुरणं
न कथंचिदत्र न हि तत्स्फुरति ।
स्फुरदाश्रयस्य तमसः स्फुरणं
घटते न चाद्वयमिह स्फुरति ॥ २१० ॥

योजना—ननु च अद्वयाश्रयतमःस्फुरणं कथंचित् न, अत्र हि तत् न स्फुरति । स्फुरदाश्रयस्य तमसः स्फुरणं घटते, इह अद्वयं च स्फुरति न ॥ (प्रमिताक्षराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—शङ्का होती है कि अद्वयात्मा के आश्रित अज्ञान का स्फुरण किसी प्रकार भी नहीं हो सकता, क्योंकि इस अविद्यावस्था में वह (अद्वैत तत्त्व) स्फुरित नहीं होता। आश्रय के स्फुरित होने पर ही अज्ञान का स्फुरण बन सकता है, किन्तु यहाँ अद्वयतत्त्व स्फुरित नहीं होता ॥

भावितार्थ— संसारावस्था में जीव का स्फुरण होता है, अद्वय ब्रह्म का नहीं, अतः अद्वय ब्रह्म के आश्रित अज्ञान का भी स्फुरण नहीं होगा। फिर तो 'अहमज्ञः'—इस रूप से अज्ञान के अनुभव की अनुपपत्ति ही सिद्ध कर रही है कि अद्वय ब्रह्म अज्ञान का आश्रय नहीं बन सकता ॥ २१० ॥

कथित शङ्का का समाधान करते हैं—

नाज्ञानमद्वयसमाश्रयमिष्टमेवं
नाद्वैतवस्तुविषयं निशितेक्षणानाम् ।
नाऽऽनन्दनित्यविषयाश्रयमिष्टमेतत्
प्रत्यक्त्वमात्रविषयाश्रयतानुभूतेः ॥ २११ ॥

योजना–निशितेक्षणानाम् अद्वयसमाश्रयम् अज्ञानं न इष्टम् । एवम् अद्वैतवस्तुविषयं न । एतत् आनन्दनित्यविषयाश्रयं न, प्रत्यक्त्वमात्रविषयाश्रयतानुभूतेः ॥ (व॰ति॰छ॰) ॥

योजितार्थ—दूरदर्शी आचार्यों को अद्वय तत्त्व के आश्रित अज्ञान मानना अभिमत नहीं। इसी प्रकार (अज्ञान) अद्वैत वस्तु को विषय भी नहीं करता। यह (अज्ञान) आनन्द-स्वरूप नित्य वस्तु को न तो विषय बनाता है और न आश्रय, प्रत्यक्तत्त्वमात्र को ही विषय तथा आश्रय बनाता है ॥

भावितार्थ—हमारे सिद्धान्त में चेतन तत्त्व ही अज्ञान का विषय और आश्रय होता है, किन्तु अद्वैतत्व आनन्दत्वादि रूप से नहीं, अपितु प्रत्यक्त्वरूप से ही है। इसीलिए 'अहमज्ञः' यह प्रतीति होती है ॥ २११ ॥

प्रत्यगात्मत्वरूप से अज्ञान की आश्रयता मानी जा सकती है, किन्तु विषयता नहीं, क्योंकि अज्ञान का विषय वही होता है, अज्ञान जिसे आवृत करे। प्रत्यगात्मा आवृत नहीं, स्फुरित होता है, अतः विषय कैसे होगा ? इस शंका का समाधान करते हैं—

प्रत्यक्त्वमात्रविषयाश्रयमोहहेतोः
प्रत्यक् तिरोहित इति प्रतिपादयामः ।
प्रत्यञ्चमेव खलु वेद्मि न वेद्मि चेति
प्रत्यक्षमस्ति ननु वेदनमस्य पुंसः ॥ २१२ ॥

योजना—प्रत्यक्त्वमात्रविषयाश्रयमोहहेतोः प्रत्यक् तिरोहित इति प्रतिपादयामः—प्रत्यञ्चमेव खलु वेद्मि, न वेद्मि चेति अस्य पुंसः प्रत्यक्षं ननु वेदनम् अस्ति ॥ (व०ति०छ०)

योजितार्थ—प्रत्यक्चेतनमात्र को विषय और आश्रय बनानेवाले अज्ञान के कारण प्रत्यगात्मा तिरोहित है, यह हम सिद्ध करते हैं—'प्रत्यगात्मा को ही मैं जानता भी हूँ और नहीं भी, इस प्रकार इस पुरुष को प्रत्यक्ष अनुभव होता है ॥

भावितार्थ—सविषयक ज्ञानादि पदार्थों का विषय और आश्रय अवश्य भिन्न-भिन्न होता है, किन्तु अज्ञान का आश्रय और विषय भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते, नहीं तो जिस कमरे में अन्धकार रहता है, उसे न ढक कर दूसरे कमरे को ढकेगा, जो कि अत्यन्त अनुभव-विरुद्ध है, अतः प्रत्यगात्मा को अज्ञान आवृत भी करता है ॥ २१२ ॥

प्रत्यगात्मा निरवयव है, अतः उसका अज्ञानाश्रयत्वरूप से स्फुरण और अज्ञानविषयत्वरूप से अस्फुरण कैसे बन सकता है ? इस सन्देह को निवृत्त करते हैं—

संवित्परिस्फुरति न स्फुरतीति तस्यां
वैयात्यदूषितधियस्तु विसंवदन्ते ।
अज्ञानतस्तदपि तद्वदिहाद्वयत्वं
भादप्यभादिति विमूढधियो वदन्ति ॥ २१३ ॥

योजना—वैयात्यदूषितधियः तु संवित् स्फुरति, न स्फुरतीति तस्यां विसंवदन्ते, तदपि अज्ञानतः तद्वत् इहापि भादपि अद्वयत्वं अभादिति विमूढधियो वदन्ति ॥ (व० ति० छ०) ॥

योजितार्थ—धृत व्यक्ति 'ज्ञान स्फुरित होता है, नहीं स्फुरित होता है'—इस प्रकार संवित् के विषय में जो विवाद किया करते हैं, वह अपने अज्ञान के कारण, वैसे ही यहाँ भी प्रकाशमान अद्वय तत्त्व प्रतीत नहीं होता, ऐसा विमूढ व्यक्ति कहा करते हैं ॥२१३॥

भ्रान्त व्यक्ति को भी स्फुरणास्फुरणरूप दो भावाभाव पदार्थ एकत्र कैसे प्रतीत होंगे ? इस जिज्ञासा को शान्त करते हैं—

अव्युत्पत्तिं बिभ्रती भाति संवित्
तद्वद् ब्रह्माप्यद्वितीयस्वरूपम् ।
अव्युत्पत्तिं नाशयद्भाति वेद्यं
तस्मादेतच्चोद्यमस्मासु नास्ति ॥ २१४ ॥

योजना—संवित् अव्युत्पत्ति बिभ्रती भाति, तद्वत् अद्वितीयस्वरूपं ब्रह्मादि वेद्यं (सत्) अव्युत्पत्तिं नाशयत् भाति; तस्मात् एतच्चोद्यम् अस्मासु नास्ति ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—संवित् (प्रत्यक्चेतन) आवरणरूप अव्युत्पत्ति को धारण करती हुई प्रस्फुरित होती है, वैसे ही अद्वितीयस्वरूप ब्रह्म भी वेद्य (वृत्ति में अभिव्यक्त) होकर आवरण का नाश करता हुआ प्रतिभात होता है; इसलिए यह आक्षेप हमारे मत में नहीं होता ॥

भावितार्थ—द्वितीय संवित् अस्फुरित होती हुई भी अद्वितीयत्वादिरूप से स्फुरित नहीं होती, अपितु स्वप्रकाशत्वरूप से प्रकाशित होती है । उसमें अनवभासमान आकार भी संवित्स्वरूप ही है, अन्य नहीं । स्वयम्प्रकाश संवित् को आगन्तुक ज्ञान की अपेक्षा है नहीं, अतः अज्ञानाभाव-निबंधन अस्फुरण नहीं होता; अपितु अभावविलक्षण अज्ञान के

अधीन ही है। अज्ञानी व्यक्ति को स्फुरण तथा अस्फुरण दोनों का भान हो सकता है, क्योंकि स्फुरणास्फुरण भावाभावात्मक हमारे मत में नहीं माने जाते ॥ २१४ ॥

[बन्धमोक्षव्यवस्थाशास्त्रप्रामाण्यम्]

इस एकजीववाद में बद्ध-मुक्त की व्यवस्था न बनने से बन्ध-मोक्ष-प्रतिपादक शास्त्र निरर्थक पड़ जाते हैं, यह शङ्का करके परिहार करते हैं—

नन्वेवं चेद् बन्धमोक्षव्यवस्था-
शास्त्रं कुप्येन्नाऽऽप्रबोधात्प्रवृत्तेः ।
बद्धो मुक्तो ज्ञानवानज्ञ इत्य-
प्येतत्सर्वं यावदज्ञानमिष्टम् ॥ २१५ ॥

योजना—ननु एवं चेत् बन्धमोक्षव्यवस्थाशास्त्रं कुप्येत्, न; आप्रबोधात् प्रवृत्तेः। बद्धः, मुक्तः, ज्ञानवान्, अज्ञः—इत्येतत् सर्वं यावत् अज्ञानम् इष्टम् ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ–शङ्का होती है कि ऐसा यदि माना जाय तब बन्ध-मोक्ष-व्यवस्था-शास्त्र विरुद्ध पड़ जाता है ? नहीं; प्रबोध से पहले-पहले प्रवृत्ति हो जाती है। बद्ध, मुक्त, ज्ञानवान्, अज्ञ, यह सब व्यवहार अज्ञान पर्यन्त अभीष्ट ही है ॥

भावितार्थ—एकजीववाद में शङ्का होती है कि वह एक जीव बद्ध है ? या मुक्त ? यदि बद्ध है, तब यह मानना होगा कि अभी तक इस संसार में कोई मुक्त ही नहीं हुआ। इस प्रकार तो वामदेवादि को मुक्त बतानेवाले शास्त्र अप्रमाण हो जाते हैं। यदि वह एक जीव मुक्त है, तब यह वर्तमान संसार अनुपपन्न हो जाता है। किन्तु यह शङ्का उचित नहीं; क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि में वस्तुतः न कोई बद्ध है और न कोई मुक्त। अज्ञानी की दृष्टि में बद्ध-मुक्त-व्यवस्था स्वप्न-प्रपञ्च के समान बन जाती है, यह कहा जा चुका है ॥ २१५ ॥

बद्ध-मुक्त-व्यवस्था-प्रतिपादन अंश में शास्त्र का प्रामाण्य भी नहीं माना जाता, इसलिए भी उक्त शास्त्र का विरोध नहीं होता—

किञ्चैतत्किं बन्धमोक्षव्यवस्था-
शास्त्रं यत्नात्तत्परं सत्प्रवृत्तम् ।
किं वान्यस्मात्प्राप्तमेवानुभाष्य
तस्या रूपं ब्रह्मतत्त्वं विदध्यात् ॥ २१६ ॥

योजना—किं च एतत् बन्धमोक्षव्यवस्थाशास्त्रं किं यत्नात् तत्परं सत् प्रवृत्तम् ? किं वा अन्यस्मात् प्राप्तमेव अनुभाष्य तस्याः रूपं ब्रह्मतत्त्वं विदध्यात् ? (शालिनी) ॥

योजितार्थ—यह भी जिज्ञासा होती है कि यह बन्ध-मोक्ष-व्यवस्था-शास्त्र क्या यत्नपूर्वक उसी (बन्ध-मोक्ष) अर्थ में तात्पर्य रखकर प्रवृत्त हुआ है ? या अन्यतः (अनादिसिद्ध वृद्ध-व्यवहारादि से) प्राप्त (बन्ध-मोक्ष) अर्थ का अनुवाद करके उस (मुक्ति) के स्वरूपभूत ब्रह्मतत्त्व का विधान करता है ? ॥ २१६ ॥

जिज्ञासित प्रथम विकल्प में दोष दिखाते हुए द्वितीय विकल्प में इष्टापत्ति करते हैं-

शास्त्रं यावत्तत्परं नेष्यते तद्
आनर्थक्यात्तत्स्वरूपप्रतीतेः ।
ब्रह्मात्मैक्यप्रत्ययेनार्थवत्त्वं
वक्तुं युक्तं तच्च नोऽभीष्टमेव ॥ २१७ ॥

योजना—तत् शास्त्रं तत्परं तावत् नेष्यते, तत्स्वरूपप्रतीतेः आनर्थक्यात् । ब्रह्मात्मैक्यप्रत्ययेन अर्थवत्त्वं वक्तुं युक्तम्, तच्च नः अभीष्टमेव ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ-वह शास्त्र तत्परक तो नहीं माना जा सकता; क्योंकि उस (बन्ध-मोक्ष) के स्वरूप का बोध अनर्थक है । ब्रह्मात्मैकत्व प्रतीति-जनन के द्वारा सार्थकता कहनी पड़ेगी, वह हमें अभीष्ट ही है ॥

भावितार्थ—वेदान्त शास्त्र का प्रामाण्य केवल ब्रह्मात्मैक्य-प्रतिपादन में निश्चित है, उसमें जो कहीं-कहीं बन्ध-मोक्ष का अतीत इतिहास उपलब्ध होता है, वह केवल ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञान में विश्वास-जननार्थ माना जाता है कि इस अद्वैत ज्ञान से वामदेवादि मुक्त हो गये हैं, आगे भी इसी से ही मुक्ति होगी ॥ २१७ ॥

एकजीववाद में जीव को प्रतीति होनी चाहिए कि मुझसे भिन्न और कोई बद्ध या मुक्त है ही नहीं, किन्तु वह अनुभव-विरुद्ध है, यह शंका करते हैं—

नन्वन्यो मद् बन्धमोक्षादिभागी
भूतो भावी वर्तते वा न कश्चित् ।
इत्युक्तार्थं स्वानुभूत्या विरोधात्
नाहं जातु प्रोत्सहे संग्रहीतुम् ॥ २१८ ॥

योजना-ननु मदन्यः कश्चित् बन्धमोक्षादिभागी भूतो भावी वर्तते वा न इत्युक्तार्थं संग्रहीतुं अहं न जातु प्रोत्सहे, स्वानुभूत्या विरोधात् ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—शङ्का होती है कि 'मुझसे भिन्न कोई बन्ध-मोक्षादि का भागी अतीत, भविष्यत् या वर्तमान नहीं'—इस प्रकार कथित अर्थ का संग्रह करने में मैं कभी भी प्रोत्साहित नहीं होता; क्योंकि वह स्वानुभव-विरुद्ध है ॥ २१८ ॥

कथित व्यवस्था के विरोधी अनुभव पर विकल्प करते हुए उक्त शङ्का का निराकरण करते हैं—

किं द्वैतानुभवो विरोधपदभाक् किंवा परोऽस्मीत्ययं
यद्वा कश्चिदिहापरोऽस्त्यनुभवो यस्ते विरोधावहः ।
नाद्वैतानुभवः क्षतिं वितनुते तस्येति युक्तं वचो
नापि द्वैतमुपोल्लिखन्ननुभवस्तेनास्य बाधो यतः ॥ २१९ ॥

योजना—किं द्वैतानुभवः विरोधपदभाक् ? किं वा परोऽस्मीति अयम् ? यद्वा कश्चित् अपरो अनुभवो अस्ति, यस्ते विरोधावहः ? तस्य अद्वैतानुभवः क्षतिं वितनुते-इति वचः युक्तं न; नापि द्वैतम् उपोल्लिखन् अनुभवः, यतः तेन अस्य बाधः ॥ (शा० वि०) ॥

योजितार्थ—क्या द्वैतानुभव (उक्त व्यवस्था का) विरोधी है ? या 'मैं पर आत्मा

हूँ'—यह अनुभव ? अथवा कोई और अनुभव है, जो आपका विरोध करता है ? उस (व्यवस्था) का अद्वैतानुभव बाध करता है—यह कहना युक्त नहीं और न द्वैतविषयक अनुभव ऐसा है, जिससे इस व्यवस्था का बाध हो ॥

भावितार्थ—उक्त व्यवस्था के विरोधी तीन अनुभव सम्भावित हैं-(१) द्वैतानुभव; (२) अद्वैतानुभव, (३) इनसे भिन्न कोई तीसरा अनुभव । (१) द्वैतानुभव तो उक्त व्यवस्था का बाधक नहीं, प्रत्युत साधक है । (२) अद्वैतानुभव तो विद्वान् की दृष्टि है और वन्ध-मोक्ष-व्यवस्था अविद्वान् की दृष्टि, फिर भला इनका विरोध क्या ? ॥ २१९ ॥

तृतीय विकल्प में दोष दिखाते हैं—

द्वैताद्वैतनिवेशिनोऽनुभवनाद्बाधोद्भवोऽस्येति चेत्
तादृङ् नानुभवोऽस्ति कस्यचिदपि स्थानत्रये जीवतः ।
भास्वच्छार्वरगोचरं ह्यनुभवं बिभ्रज्जनो दृश्यते
नास्मिन्संसृतिमण्डले स न भवेत्कस्मादयं चेद्भवेत् ॥ २२० ॥

योजना—चेत् द्वैताद्वैतनिवेशिनः अनुभवस्य उभयस्य बाधः ? तादृक् अनुभवः स्थानत्रये जीवतः कस्यचिद् अपि नास्ति, अस्मिन् संसृतिमण्डले हि भास्वत् शार्वरगोचरम् अनुभवं बिभ्रत् जनो दृश्यते न । चेत् अयं भवेत् ? स कस्मात् न भवेत् ? (शा० वि० छ०)

योजितार्थ—यदि द्वैताद्वैतावगाही अनुभव से वन्ध-मोक्ष का बाध हो, तो वैसा अनुभव ही त्रिलोकी में विद्यमान किसी व्यक्ति को नहीं होता, क्योंकि इस संसार-मण्डल में 'सूर्य में अन्धकार है'—इस अनुभव का धनी कोई दिखता नहीं । यदि यह (द्वैताद्वैतानुभव) हो ? तब वह (सूर्य अन्धकारमय है) क्यों न होगा ?

भावितार्थ—द्वैतानुभव और अद्वैतानुभव को छोड़कर कोई तीसरा उभयावगाही अनुभव सम्भावित ही नहीं, जो कथित व्यवस्था का विरोध करे, क्योंकि द्वैत और अद्वैत दोनों वैसे ही नितान्त विरोधी तत्त्व हैं, जैसे-प्रकाश और अन्धकार । प्रकाश और अन्धकार है—इस प्रकार का अनुभव यदि नहीं होता, तब द्वैताद्वैतावगाही कोई एक अनुभव कैसे होगा ? ऐसा अप्रसिद्ध अनुभव उक्त व्यवस्था का विरोध नहीं कर सकता ॥२२०॥

किसी प्रकार का विरोध न रहने के कारण हमारा सिद्धान्त सब को मान लेना चाहिए—

यत एवमत्र न विरोधलवोऽ-
प्युपढौकते कथितनीतिवशात् ।
उपगृह्यतां मतमिदं सुदृढं
गुरुसम्प्रदायवचनानुगतम् ॥ २२१ ॥

योजना—एवं (सति) अत्र विरोधलवोऽपि न उपढौकते यतः कथितनीतिवशात् इदं गुरुसम्प्रदायवचनानुगतम् सुदृढम् उपगृह्यताम् ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—इस प्रकार यहाँ विरोध की गन्ध भी नहीं रह जाती, अतः कथित न्याय के आधार पर गुरु-परम्परा-प्राप्त सिद्धान्त सुदृढरूप से मान (उपगृहीत कर) लिया जाना चाहिए ॥ २२१ ॥

उपग्राह्य सिद्धान्त ही दिखाते हैं—

तव गाढमूढ़तमसा रचितं
जगदीशजीववपुषा सकलम् ।
प्रतिभाति तावददृढं दृढवत्
समुदेति यावदवबोधरविः ॥ २२२ ॥

योजना—यावत् अवबोधरविः समुदेति, तावत् तव गाढमूढतमसा रचितं जगदीशजीववपुषा सकलम् अदृढं दृढवत् प्रतिभाति ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—जब तक अज्ञान भास्कर विद्यमान है, तब तक तेरे गाढ मूढ अन्धकार के द्वारा रचित जगत्, ईश्वर, जीवरूप सकल प्रपञ्च अदृढ़ भी दृढ़-जैसा प्रतीत होता है ॥ २२२ ॥

प्रत्येक आस्तिक हृदय की यह दृढ़ धारण है कि मैं अल्पज्ञ हूँ, हमारा ईश्वर प्रभु सर्वज्ञ है, तथा यह अद्‌भुत आकाशादि जगत् उसकी रचना है । इस दृढ़ प्रपञ्च को शुक्ति-रजत के समान अदृढ़ कैसे कहा जा सकता है ? इस सन्देह की निवृत्ति करते हैं—

प्रभुरेष सर्वविदहं कृपणो
जगदेतदद्भुतवितानमिति ।
प्रतिपत्तयस्तिमिरलुप्तदृशो
तदिहोद्भवन्ति न तदद्भुतकम् ॥ २२३ ॥

योजना—"एष प्रभुः सर्ववित्, अहं कृपणः एतत् जगत् अद्‌भुतवितानम्" इति यत् प्रतिपत्तय इह तिमिरलुप्तदृशः उद्भवन्ति, तद् अद्‌भुतकं न ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—"यह ईश्वर सर्वज्ञ है, मैं अज्ञानी हूँ, यह जगत् एक अद्‌भुत रचना है"—इस प्रकार की जो प्रतिपत्तियाँ यहाँ अज्ञानिजनों को होती हैं, वह अद्‌भुत नहीं ॥

भावितार्थ—जैसे स्वप्न में निद्राक्रान्त पुरुष अपने शिरःच्छेदन जैसे अद्‌भुत कृत्यों को देखता है, वैसे ही इस जगत् में अज्ञानाक्रान्त व्यक्ति को जड़ाजड़ पदार्थ तथा उनका विचित्र सामर्थ्य प्रतीत होता है-इसमें कोई आश्चर्य करने की बात ही नहीं ॥ २२३ ॥

जागने पर स्वाप्न प्रतीति जैसे निवृत्त हो जाती है, वैसे ही ज्ञान हो जाने पर अज्ञानप्रयुक्त कथित प्रतीति निवृत्त हो जाती है—

अभयं सनातनमनातुरधीः
अवलोकयन्निजमनन्तसुखम् ।
न मुनिः प्रपश्यति किमप्यसुखं
सकलं जिघत्सति जगत्स्वचिता ॥ २२४ ॥

योजना— अनातुरधीः मुनिः अनन्तसुखम् अभयं सनातनं निजं (रूपम्) अवलोकयन् किमपि असुखं न प्रपश्यति, सकलं जगत् स्वचिता जिघत्सति ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—अविक्षिप्तमनस्क मुनि अनन्तसुखस्वरूप अद्वितीय, सनातन ब्रह्म को अपना रूप देखता हुआ किसी वस्तु को भी असुख (दुःखरूप) अनुभव नहीं करता; क्योंकि

वह सकल जगत् को अपनी ज्ञानाग्नि से खा जाना (भस्मसात् कर देना) चाहता है ॥

भावितार्थ—अधिष्ठान-ज्ञान हो जाने पर अध्यस्त की पृथक् सत्ता नहीं रह जाती, वह अधिष्ठान में ही समा जाया करता है। जगद्भ्रमाधिष्ठान सनातन तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर निखिल जीव, ईश, जगत् की प्रवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं ॥२२४॥

[कल्पितस्यापि तत्त्वबोधकत्वनिरूपणम्]

द्वैत जगत् यदि वस्तुत है ही नहीं, तब आचार्यादि साधन पदार्थों के न होने से ज्ञान का उदय कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—

तव चित्तमात्मतमसा जनितं
परिकल्पयत्यखिलमेव जगत् ।
तव कल्पनाविरचितः स गुरुः
तव रूपमद्वयमुदाहरति ॥ २२५ ॥

योजना—आत्मतमसा जनितं तव चित्तं अखिलमेव जगत् कल्पयति। तव कल्पनारचितः स गुरुः तव अद्वयं रूपम् उदाहरति ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—शिष्य ! स्वाज्ञान-जनित तेरा चित्त निखिल जगत् की कल्पना करता है। तेरी कल्पना से रचित आचार्य तुझको अद्वयरूप का उपदेश देता है।

भावितार्थ—अविद्या ही पुरातन संस्कारों की सहायता से चित्त को रचकर कदाचित् शुद्ध बुद्धि में मुमुक्षा को जन्म देती है। इतना ही नहीं तत्त्वज्ञान के साधन आचार्यादि की कल्पना भी कर देती है। उनकी सहायता से तत्त्व-बोध उत्पन्न हो जाता है ॥ २२५ ॥

सत्य पदार्थों में ही कार्य क्षमता देखी जाती है, मिथ्या पदार्थों में नहीं, अतः ज्ञानसाधक आचार्यादि को सत्य ही मानना चाहिए, मिथ्या नहीं—इस आक्षेप का परिहार करते हैं—

न हि चित्तदृश्यमपि सत्यमिति
प्रतिपन्नमस्ति भुवि किंचिदपि ।
रशनाभुजङ्गसदृशं सकलं
जगदिन्द्रजालमिति सिद्धमतः ॥ २२६ ॥

योजना—भुवि चित्तदृश्यं किञ्चिदपि सत्यं न हि प्रतिपन्नम्, अतः सकलम् इन्द्रजालं जगत् रशनाभुजङ्गसदृशं सिद्धम् ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—पृथिवीतल पर चित्तगोचर कुछ भी सत्य नहीं देखा गया है, अतः यह सकल इन्द्रजालोपम जगत् रज्जु-सर्प के समान कल्पित ही सिद्ध होता है ॥ २२६ ॥

परिकल्पित वस्तु में कार्यक्षमता भी दिखाते हैं—

परिकल्पितोऽपि सकलज्ञतया
गुरुरेव पूर्णमवबोधयति ।
परिकल्पितोऽपि मरणाय भवेत्
उरगो यथा न तु नभो मलिनम् ॥ २२७ ॥

योजना—कल्पितोऽपि गुरुरेव सर्वज्ञतया अवबोधयति, यथा परिकल्पितोऽपि उरगो मरणाय भवेत्, मलिनं नभः न तु (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—कल्पित होनें पर भी गुरु ही सकलज्ञ होनें के कारण पूर्ण स्वरूप का बोध कराता है, (घटादि नहीं), जैसे कि परिकल्पित होनें पर भी सर्प ही मरण का हेतु होता है, नील गगन नहीं ॥

भावितार्थ—सत्य वस्तु ही कार्य-क्षम होती है—यह कोई नियम नहीं, क्योंकि रज्जु में कल्पित सर्प भी कभी इतना भय पैदा कर देता है, कि लोगों की मृत्यु होती देखी गई है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि कल्पित सर्प के समान ही सभी कल्पित पदार्थ मरण के जनक होते हैं। वस्तु की कल्पना के साथ उसके प्रभाव या कार्य-क्षमता की भी कल्पना चिपकी रहती है, अतः कल्पित पदार्थों की अपनी-अपनी क्रिया होती है। वैसे ही कल्पित गुरु ही पूर्ण बोध देता है, रज्जु-सर्पादि नहीं, क्योंकि गुरु की ही कल्पना सर्वज्ञता रूप से की गई है, रज्जु-सर्पादि की नहीं ॥ २२७ ॥

सत्य पदार्थ ही बोधक होता है—इस नियम में व्यभिचार दिखाते हैं—

यदि सत्यमित्यवगतिं कुरुते
घटते पदादपि हुताशनधीः ।
यदि चानृतं न जनयेत्प्रमितिं
ननु चोदनापि जनयेन्न धियम् ॥ २२८ ॥

योजना—यदि सत्यमिति अवगतिं कुरुते घटादौ अपि हुताशनधीः घटते। यदि अनृतं प्रमितिं न जनयेत्, ननु चोदनापि धियं न जनयेत् ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—यदि सत्य पदार्थ ही बोध कराता है, तब (धूमादि के समान) घटादि में अग्न्यनुमिति की जनकता होनी चाहिए। यदि अनृत वस्तु प्रमा ज्ञान नहीं उत्पन्न करती, तब चोदना वाक्य भी धर्मज्ञान उत्पन्न न करेंगे ॥

भावितार्थ—सत्यत्वासत्यत्व प्रामाण्याप्रामाण्य के प्रयोजक नहीं; क्योंकि सत्य वस्तु भी कदाचित् अप्रमा और अनृत वस्तु भी कदाचित् प्रमा को जन्म देती देखी गई है। अतः कल्पित आचार्यादि से सत्य बोध न होगा—इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए ॥२२८॥

कथित दृष्टान्त को स्पष्ट करते हैं—

जनयत्यसाविह मृषा वपुषा
करणीयवस्तुनि मतिं सुदृढाम् ।
ध्वनिधर्मभेदघटितोऽपि मृषा
स्वरसेन सन्नपि तु वर्णगणः ॥ २२९ ॥

योजना—इह असौ मृषा वपुषा करणीयवस्तुनि सुदृढां मतिं जनयति। वर्णगणः स्वरसेन सन्नपि ध्वनिधर्मभेदघटितः मृषा ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—लोक में यह (चोदना) मिथ्यारूप से नियोगादि कर्त्तव्यार्थ का दृढ बोध उत्पन्न कराती है। वर्णगण स्वभावतः सत्य होने पर भी ध्वनि के (उदात्तादि) धर्मों से युक्त मिथ्या ही है ॥

भावितार्थ- वैदिक चोदना वर्ण-समूह है। मीमांसक मत में वर्ण नित्य हैं। ह्रस्वत्व दीर्घत्वादि वर्णों के धर्म नहीं; अपितु वर्णाभिव्यञ्जक ध्वनि के धर्म हैं, आरोपित वर्णों में उनका आरोप हो जाया करता है। आरोपित धर्म-विशिष्ट धर्मी मिथ्या होता है। इस प्रकार चोदना का स्वरूप मिथ्या होने पर भी उससे बोध सत्य ही होता है ॥२२९॥

उदात्तादि धर्म-विशिष्ट धर्मी (शब्द) ही बोधक होता है—इसमें निरुक्त की सम्मति दिखाते हैं—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥ २३० ॥

योजना—स्वरतो वर्णतो हीनः, मिथ्याप्रयुक्तः मन्त्रः तमर्थम् न च आह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथा स्वरतोऽपराधात् इन्द्रशत्रुः ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ—स्वर या वर्ण से हीन, अन्यथा-प्रयुक्त मन्त्र उस (विवक्षित) अर्थ को नहीं कहता। वह वाग्वज्र होकर यजमान का हनन कर डालता है, जैसे स्वर के अपराध से 'इन्द्रशत्रुः' शब्द ॥

भावितार्थ—त्वष्टृदेव के पुत्र विश्वरूप को इन्द्र ने मार डाला। क्रोध में आकर त्वष्टा ने इन्द्र-विजयी पुत्र की कामना से एक आभिचारिक कर्म आरम्भ किया। 'स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' मन्त्र पढ़ कर अग्नि में सोमरस की आहुति डाली। वहाँ 'इन्द्रस्य शत्रुः'- इस अभीष्ट तत्पुरुष समास का अन्तोदात्त स्वर प्रयोग करना चाहिए था। किन्तु आद्युदात्त स्वर का प्रयोग कर दिया। आद्युदात्त स्वर बहुव्रीहि समास का होता है। अतः 'इन्द्रशत्रु' का बहुव्रीहि से अर्थ हो गया—'इन्द्रः शत्रुर्यस्य' अर्थात् 'इन्द्र है हन्ता जिसका' ऐसा पुत्र वृत्तासुर उत्पन्न हुआ। उसका वध उलटे इन्द्र ने कर दिया। यह महान् अनर्थ उस एक छोटे से स्वरापराध का है अतः ध्वनिगत स्वर का आरोप वर्णों में पूर्णतया अर्थ-क्रियाकारी होता है। इस प्रकार मिथ्यारूप होने पर भी जैसे चोदना से प्रमा-बोध होता है, वैसे आचार्यादि से तत्त्व-प्रबोध भी होगा ॥ २३० ॥

ध्वनियों को ही चोदना नहीं माना जाता—

न च वर्णपूगमपहाय भवेत्
इह चोदनेत्यभिमतं विदुषाम्।
यदि सत्यमेव गमकं भवति
स्फुटमप्रमाणमियमत्युदिता ॥ २३१ ॥

योजना—इह वर्णपूगम् अपहाय चोदनेति विदुषाम् अभिमतं न च। यदि सत्यमेव गमकं भवति, स्फुटम् इयम् अप्रमाणम् उदिता ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—मीमांसक मत में वर्णसमूह को छोड़कर (ध्वनि ही) चोदना है-यह विद्वानों को अभिमत नहीं। यदि सत्य वस्तु ही बोधक होगी, तब स्पष्टतः यह (चोदना) अप्रमाण हो जायगी ॥

भावितार्थ—मीमांसा-भाष्यकार शवर स्वामी ने शब्दनिरूपण में कहा है—'गौः' इत्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवान् 'उपवर्षः'। अर्थात् 'गौः' यहाँ पर गकारादि वर्णसमूह को ही शब्द माना जाता है। ह्रस्वत्वादि को स्वयं जैमिनि मुनि ने 'नादवृद्धिपरा' (जै० सू० १।१।१७) कह कर ध्वनि का धर्म माना है! अतः ध्वनि के धर्मों का आरोप वर्णों में किया जाता है—यह निश्चित है इस प्रकार विचार करने पर चोदना का स्वरूप कल्पित ही रहता है। यदि सत्य प्रदार्थ को ही प्रमा-जनक माना जाय, तव इस चोदना में अप्रामाण्य दुर्निवार है ॥ २३१ ॥

वैशेषिकों की दृष्टि में उदात्तादि धर्म वर्णों के ही माने जाते हैं—वाक्य मिथ्या नहीं, अपितु सत्य ही होता है। अतः मिथ्या से सत्यार्थ-प्रतीति में उनके अनुकूल दृष्टान्त देते हैं—

श्रवणेन्द्रियं च किल कर्णगतं
परिकल्पनोपचरितं नभसः।
वलयं प्रकाशयति शब्दगणं
परमार्थमित्यपि कणादमतम् ॥ २३२ ॥

योजना—कर्णगतं नभसः परिकल्पनोपरचितं वलयं किल श्रवणेन्द्रियं परमार्थं शब्दगणं प्रकाशयति इत्यपि कणादमतम् ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—कर्णगत आकाश का कल्पित वलयाकार अंशरूप श्रवण इन्द्रिय पारमार्थिक शब्दगण का ग्रहण कराता है—यह कणाद का मत है ॥

भावितार्थ—कणाद-मत से श्रोत्र इन्द्रिय एक काल्पनिक वस्तु होकर भी जैसे सत्य अर्थ का बोध करता है; वैसे ही काल्पनिक गुर्वादि तत्त्वावबोध करा देंगे ॥२३२॥

इसलिए कल्पित आचार्यादि से तत्त्वावबोध होना विरुद्ध नहीं—

त्वमतः स्वमोहरचितं गहनं
भवसागरं तर परावगते।
परिकल्पितद्वयनिबन्धनतः
परमार्थसंविदुदये सति भोः ॥ २३३ ॥

योजना—अतः भोः ! त्वम् परिकल्पितद्वयनिबंधनतः परमार्थसंविदुदये सति परावगतेः स्वमोहरचितं गहनं भवसागरं तर ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—अतः प्रिय शिष्य ! तू परिकल्पित दोनों (गुरु तथा शास्त्ररूप) साधनों से परमार्थ ज्ञान के उदय हो जाने पर ब्रह्माभिव्यक्ति के द्वारा स्वमोह-रचित गहन भवसागर को तर जा ॥ २३३ ॥

जब दूसरों के मत में भ्रम का विषय-पदार्थ फल का जनक होता है, तब हमारे मत में क्यों न हो सकेगा ?—

भ्रान्तं तथोपचरितं च यथाविभागम्
अङ्गीकृतं कणभुगादिमुनीन्द्रमुख्यैः।
यन्नास्ति तत्फलनिबन्धनमस्मदीये
तन्त्रे तमोविरचितं न फलाय कस्मात् ॥ २३४ ॥

योजना—कणभुगादिमुनीन्द्रमुख्यैः यथाविभागं उपरचितं तथा भ्रान्तं च अङ्गीकृतम्। यत् नास्ति तत् फलनिबन्धनम्, अस्मदीये तन्त्रे तमोविरचितं फलाय कस्मात् न? (व०छ०)

योजितार्थ—कणाद तथा जैमिनि आदि ने अपने-अपने मतों के अनुसार कल्पित (श्रोत्रेन्द्रिय) तथा भ्रान्त (चोदना) पदार्थ को (फल-साधन) माना है। जो (पदार्थ वस्तुतः) नहीं वह भी फल का साधन (जब दूसरों के मतों में) होता है, तब हमारे मत में अज्ञान-रचित गुर्वादि फल क्यों न दे सकेंगे?

भावितार्थ—कणादादि सत् तथा असत् दो ही प्रकार के पदार्थ मानते हैं। उनके मत से श्रोत्रादि सत् नहीं कहे जा सकते, अतः असत् ही मानने होंगे। जबकि असत् वस्तु सत्यफल दे सकती है, तब असत् से विलक्षण (अनिर्वचनीय) गुर्वादि सत्य बोध फल को जन्म क्यों न दे सकेंगे? ॥ २३४ ॥

असत् पदार्थ तो फल का जनक हो सकता है, किन्तु अनिर्वचनीय नहीं-इस प्रकार के आग्रही व्यक्ति को समझाया जाता है—

असदपि फलवत्तामश्नुते युष्मदिच्छाम्
अनुसरदथ कस्मान्मायया निर्मितं सत्।
न भवति फलवत्ताभाजनं चित्रमेतद्
वयमिह न समर्था यूयमत्यन्तशक्ताः ॥ २३५ ॥

योजना—असदपि युष्मदिच्छाम् अनुसरत् फलवत्ताम् अश्नुते, अथ मायया निर्मितं सत् कस्मात् फलवत्ताभाजनं न भवति? इह यूयम् अत्यन्तशक्ताः, वयं न समर्थाः-एतत् चित्रम् ॥ (मालिनी) ॥

योजितार्थ—असत् पदार्थ भी आपकी इच्छा के अनुसार फलवत्ता को प्राप्त होता है, तब माया-निर्मित पदार्थ क्यों फलवत्ता का पात्र न होगा? आप (अत्यन्त असत् पदार्थ का सहारा लेकर) अत्यन्त बलवान् हैं और हम (असत्-विलक्षण पदार्थ का बल पाकर भी) नहीं—यह विचित्र बात है ॥ २३५ ॥

[तत्त्वस्यैव तत्त्वबोधकत्वनिरूपणम्]

हम असत्य से सत्य की उत्पत्ति भी नहीं मानते, अपितु सत्य से ही सत्य की उत्पत्ति मानते हैं—

परमेव तत्त्वमगृहीतमभूद्
अखिलस्य कारणमनर्थकरम्।
परमेव तत्त्वमवबुद्धमतः
परितृप्तये भवति पुष्कलतः ॥ २३६ ॥

योजना—अखिलस्य कारणं परं तत्त्वमेव अगृहीतं (सत्) अनर्थकरम् अभूत्, अतः परं तत्त्वमेव अवबुद्धं (सत्) पुष्कलतः परितृप्तये भवति ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—निखिल प्रपञ्च का अधिष्ठान परम तत्त्व ही अज्ञात होकर अनर्थकारी बना, अतः वही परम तत्त्व ज्ञात होकर पूर्णरूप से तृप्ति (परम पुरुषार्थ) देने में समर्थ होता है ॥

भावितार्थ–सर्वाधिष्ठान सत्य तत्त्व ही अज्ञात होकर निखिल बन्ध का कारण बना। विद्वच्छरीरावच्छिन्न जीवरूप से वही विद्याप्रद होता है। वही स्वकल्पित वाक्य-जन्य वृत्ति में अभिव्यक्त होकर मुक्ति का कारण माना जाता है ॥ २३६ ॥

वह परम तत्त्व सदा एकरस होनेपर भी बन्ध-मोक्ष–जैसे नितान्त विपरीत पदार्थों का हेतु कैसे बना ? इस जिज्ञासा को शान्त करते हैं—

तव रूपमेव तव दुःखकरं
यदि तन्न पश्यसि बहिर्मुखधीः ।
तव रूपमेव तव तृप्तिकरं
यदि तत्प्रपश्यसि निवर्त्य तमः ॥ २३७ ॥

योजना—तव रूपमेव तव दुःखकरम्, यदि तत्र बहिर्मुखधीः (सत्) पश्यसि। तव रूपमेव तव तृप्तिकरम्, यदि तमो निवर्त्य तत् प्रपश्यसि ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—शिष्य ! तेरा रूप ही तेरे दुखों का हेतु होता है, यदि तू उसे बहिर्मुख-बुद्धि (देहात्म बुद्धि) से देखता है। तेरा रूप ही तेरी तृप्ति का साधन होता है, यदि तू अज्ञान की निवृत्ति करके उसे देखता है ॥

भावितार्थ—वह परमतत्त्व तेरे रूप से कथमपि भिन्न नहीं, किन्तु तेरा रूप ही है जैसा कि "तत्त्वमसि" (छां० ६।८।७) आदि श्रुतियाँ कहती हैं। किन्तु वह अन्यथा-दृष्ट (कर्तृत्वादि के रूप में देखा गया) संसार-सम्पादक होता है। भगवान् नें कहा है—'आत्मैव रिपुरात्मनः (भ० गी० ६।५)। जब श्रुति गुर्वादि की कृपा से अनादि तम का निवारण कर आत्मतत्त्व को यथावत् (आनन्दत्वादि रूप से) देखता है, तब वही तत्त्व अपार भवसागर की थपेड़ों से बचा कर नर को नारायण बना दिया करता है। इसी आशय से भगवान् ने कहा है—"आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः" (भ० गी० ६।५) ॥२३७॥

मुमुक्षु के हेयोपादेय का निर्देष करते हैं—

तव बोधमात्रमुपनेयमतः
तव मोहमात्रमपनेयमपि ।
तव बोधमोहजनिहानिकरं
वचनं त्रयीशिरसि तत्त्वमिति ॥ २३८ ॥

योजना—अतः तव बोधमात्रम् उपनेयम् तव मोहमात्रम् अपनेयम् तव बोधमोहजनिहानिकरं त्रयीशिरसि 'तत्त्वमसि'–इतिवचनात् ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—अतः तुझे अपना बोधमात्र उपादेय है, अज्ञानमात्र हेय है। बोध का जन्म और मोह की हानि वेदान्तगत 'तत्त्वमसि'—इस वचन से होती है ॥

भावितार्थ—'तत्त्वमसि'—आदि महावाक्यों से मुमुक्षु को बोधमात्र उत्पन्न करना है एवं उस बोध से अज्ञानमात्र की निवृत्ति करनी है, और कुछ अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं करनी हैं ॥ २३८ ॥

वेदान्तवाक्य-जन्य बोध के द्वारा धर्मादि-प्रयोग के समान यहाँ कुछ और करणीय नहीं—यह दिखाते हैं—

तव बोधजन्मनि पुरा न पुनः
तव कश्चिदप्यतिशयो भवति ।
तम एव पूर्वमभवन्न भव-
त्यवबोधजन्मनि ततो न परम् ॥ २३९ ॥

योजना—तव बोधजन्मनि पुरा तव कश्चित् अतिशयो न भवति। पूर्वं तम एव अभवत्, अवबोधजन्मनि न, ततः परं न ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—तेरे बोध-जन्म के पूर्व (आत्मा में) कोई हेय तत्त्व नहीं था। पहले अज्ञानमात्र था, ज्ञान होने पर वह न रहा, इससे बढ़कर और कोई अतिशय उत्पन्न नहीं होता ॥

भावितार्थ—धर्म के क्षेत्र में 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्णकामः' आदि वाक्य-जन्य ज्ञान मात्र से कृतार्थता नहीं होती, अपितु ज्ञान के अनन्तर अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान करना पड़ता है, जिससे आत्मा या अन्तःकरण में एक अतिशय उत्पन्न होता है, किन्तु यहाँ ब्रह्म के क्षेत्र में 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से उत्पन्न बोधमात्र पर्याप्त है, इसके अनन्तर और कोई कृत्य शेष नहीं रह जाता ॥ २३९ ॥

अज्ञान का ज्ञान से अभिभव एक अतिशय ही है—इस भ्रम को दूर करते हैं—

न तमोऽपि पूर्वमभवन्न भव-
त्यवबोधजन्मनि तमोऽभिभवः ।
तम एव केवलमिदं सकलं
न तमो विनाऽऽत्मनि किमप्यभवत् ॥ २४० ॥

योजना—न पूर्वं तमोऽपि अभवत्, न अवबोधजन्मनि तमोऽभिभवो भवति। इदं सकलं केवलं तम एव, तमो विना आत्मनि किमपि न अभवत् ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—न तो पहले अज्ञान था और न ज्ञान के जन्म से अज्ञान का अभिभव होता है। यह समस्त (व्यवहार) केवल तम ही है, तम के बिना आत्मा में और कुछ हुआ ही नहीं ॥

भावितार्थ—वस्तु-दृष्टि से न तम था और न उसका नाश होता है, 'तमोऽस्ति' तमो नष्टम्'—आदि समस्त व्यवहार मायिक हैं, वास्तविक नहीं, अतः 'तमोनिवृत्ति' को अतिशय कैसे कह सकते हैं ? ॥ २४० ॥

तम की निवृत्ति भी तम है–यह कहना अत्यन्त विरुद्ध है, क्योंकि प्रतियोगी और उसकी निवृत्ति दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? इस शंका का समाधान करते हैं—

न तमः परिहृत्य लभ्यते
तमसो हानिगता निरूपणा ।
इति सा तम इत्युदीरिता
न निवृत्तिस्तमसस्तमोमयी ॥ २४१ ॥

योजना—तमसो हानिगता निरूपणातमः परिहृत्य न लभ्यते इति सा तम इत्युदीरिता, तमसो निवृत्तिः तमोमयी न ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—तम की हानि का निरूपण तम को छोड़ कर नहीं किया जा सकता, इसलिए तमोनिवृत्ति को तम कह दिया गया, वस्तुतः तम की निवृत्ति तमोमयी नहीं होती।

भावितार्थ—अभाव का निरूपण सदा प्रतियोगिनिरूपण के अधीन होता है, प्रतियोगी को छोड़कर अभाव का निरूपण हो ही नहीं सकता। अज्ञान-निवृत्ति का निरूपण भी अपनें अज्ञानरूप प्रतियोगी के निरूपण पर सर्वथा निर्भर है। इसलिए अज्ञान-निवृत्ति को औपचारिक रूप से अज्ञानमात्र कह दिया गया है। वस्तु-दृष्टि से अज्ञान की निवृत्ति अधिष्ठानरूप होती है ॥ २४१ ॥

[यावज्जीवादिश्रुत्यविरोधः]

समन्वयार्थ में प्रत्यक्षादि का विरोध हटाकर कर्मकाण्ड का विरोध दूर करते हैं—

विधयश्च कर्मविषयाः स्वतमः-
पटलावृते त्वयि बहिर्मनसि ।
कुत एव सम्यगवबोधहते
तमसि प्रवृत्तिरिति सम्भवति ॥ २४२ ॥

योजना—कर्मविषया विधयश्च स्वतमः पटलावृते बहिर्मनसि त्वयि (प्रवर्तन्ते) सम्यग्बोधहते तमसि कुत एव प्रवृत्तिः संभवति ? (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—कर्मविषयक विधिवाक्य स्वाज्ञान से आवृत हो बाह्यमनस्कता के कारण तेरे पर लागू होते थे, किन्तु सम्यक् ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर कर्म में प्रवृत्ति ही कैसे संभव होगी ?

भावितार्थ—स्वाज्ञानवश आत्मा में कर्तृत्वादि का अभिमान जब तक था, तब तक उस पर कर्मकाण्ड का अधिकार था। आत्मज्ञान से अज्ञान के साथ-साथ कर्तृत्वादि का अभिमान भी जाता रहा, अब तो कर्मों के अधिकार-क्षेत्र से यह तत्त्वज्ञ बहुत दूर निकल गया। विधिवाक्यों का बन्धन सर्वथा समाप्त हो गया ॥ २४२ ॥

जीवन्मुक्त पुरुष भोजनादि के समान कर्म में प्रवृत्त क्यों नहीं होता ? इस जिज्ञासा को शान्त करते हैं—

विदिते पदे भगवतः परमे
परिपुष्कले परमतृप्तिमतः ।
तव तृष्णया विरहितस्य कथं
विधिषु प्रवृत्तिरपवर्गवतः ॥ २४३ ॥

योजना—भगवतः परिपुष्कले परमे पदे विदिते (सति) परमतृप्तिमतः, तृष्णया विरहितस्य, अपवर्गवतः तव विधिषु प्रवृत्तिः कथम् ? (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—भगवान् के पूर्ण परम पद का ज्ञान हो जाने पर तू परमसन्तुष्ट तृष्णा-रहित जीवन्मुक्त हो गया, अब तेरी विधि-विधानों में प्रवृत्ति क्योंकर होगी ?

भावितार्थ—परमानन्दघन की प्राप्ति हो जाने पर फिर क्षुद्र सुखाभासों के लिए प्रवृत्त होगा ? श्रुति कहती है—

आत्मानं चेद् विजानीयाद् अयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छिन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ (बृह० ४।४।१२)

ज्ञान से पूर्व जिस व्यक्ति पर विधिवाक्य लागू होते थे, उस पर ज्ञान के उत्तर में क्यों न लागू होंगे ? इस सन्देह को दूर करते हैं—

अभिचारकर्मविधयो हि यथा
फलभागबाधमनु बाधयुजः ।
करणादिभागनिरुपाख्यतया
विधयस्तथैव परमात्ममतेः ॥ २४४ ॥

योजना—यथा हि अभिचारकर्मविधयः फलभागबाधम् अनु बाधयुजः, तथैव परमात्ममतेः करणादिभागनिरुपाख्यतया विधयः [1] ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

---

[1] आशय यह है-वैरी की हिंसा के उद्देश्य से जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें अभिचार कर्म कहा जाता है, जैसे कि 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' (षड्विंशब्रा० ३।८), संदंशेनाभिचरन् यजेत' (षड्विंशब्रा०३।१०) आदि वाक्यों से विहित श्येनादिसंज्ञक कर्मों का फल शत्रु-हिंसा कहा गया है। यद्यपि कर्मकाण्ड के वाक्य चक्षुरादि के समान विभ्रम के हेतु नहीं होते, क्योंकि वेदान्तवाक्यों के तुल्य ही वे भ्रम, प्रमाद, कर्णापाटव, लिप्सादि दोषों से सर्वथा असंस्पृष्ट माने जाते हैं, तथापि भ्रान्तिसिद्ध क्रियाकारक फलादि पर अवलम्बित होने के कारण भ्रान्त अर्थ के बोधक माने जाते हैं। वेदान्तवाक्यों के समान सर्वथा बाध-रहित अर्थ के बोधक नहीं होते । क्रिया-कारकादि-भेद का अपवाद करके ही वेदान्त वाक्य अपने क्षेत्र में प्रवृत्त होते हैं, किन्तु कथित भेद पर आधृत होकर ही कर्मकाण्ड के वाक्य प्रवृत्त होते हैं। जब तक भेद-दृष्टि का अपवाद नहीं होता, तब तक उनका प्रामाण्य माना जाता है। जैसे कि श्येनादि अभिचार वाक्यों का वही व्यक्ति अधिकारी माना जाता है, जिसके अन्तस्तल पर 'अमुक शत्रु की हिंसा करूंगा'—ऐसी भावना विद्यमान है। 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' (महाभा० वन० २१२।३४।३०) आदि निषेध शास्त्रों से जब हिंसारूप फलांश का बाध हो जाता है, तब वह व्यक्ति समझ जाता है कि हिंसा महान् अनिष्ट-साधन है और विगतरोष हो जाता है। इस प्रकार फलांश का अपवाद हो जाने पर वह श्येनादि कर्मों में प्रवृत्ति के योग्य नहीं रहता, अतः श्येनादि वाक्यों का अधिकारी नहीं होता। विना अधिकारी के उक्त विधिवाक्यों की प्रवृत्ति अवरुद्ध हो जाती है। जब कि भावना के केवल फलरूप साध्य अंश का बाध हो जाने पर ही विधिवाक्य पङ्गु हो जाते हैं, तब वेदान्त वाक्यों के आधार पर साध्य, साधन, इतिकर्तव्यरूप तीनों अंशों के समाप्त हो जानेपर कर्म-वाक्य प्रवृत्त कैसे होंगे ? जिस पुरुषधौरेय की ब्रह्म-साक्षात्कृति-प्रज्ञा ने समस्त शारीरादि प्रपञ्च ही भस्मसात् कर डाला है, वह भला कर्मकाण्ड के जाल में क्योंकर फंसेगा ? इसी आशय से कहा गया है—'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः ?' भगवान् ने भी संसार-समर पर विजय पाने के लिए अर्जुन को यही मार्ग दिखाया है—'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !' (गी० २।४५) अतः ग्रन्थकार ने अत्यन्त रहस्यपूर्ण बात कही है कि परमात्मसाक्षात्कार हो जाने पर विधिवाक्यों का रङ्ग नहीं चढ़ता।

योजितार्थ—जैसे कि 'श्येनेनाभिचरन् यजेत्' आदि आभिचारिक कर्मों के विधान शत्रु-हिंसारूप फलांश का बाध होनें पर बाधित हो जाते हैं, वैसे ही ब्रह्म-साक्षात्कार के द्वारा देहादि प्रपञ्च का बाध हो जाने पर भावना के करणादि तीनों अंशों का बाध हो जाता है, अतः कर्मविधान बाधित हो जाते हैं।

भावितार्थ—भावना के तीन अंश होते हैं—(१) साध्य, (२) साधन और (३) इतिकर्त्तव्य। जहाँ ये तीनों अंश सम्पन्न होते हैं, वहाँ ही प्रवृत्ति होती है, जैसे कर्म-विधि में वहाँ स्वर्गादि साध्य, अग्निहोत्रादि कर्म साधन तथा आधानादि इतिकर्त्तव्य विद्यमान होते हैं, किन्तु यहाँ ब्रह्मज्ञान के अनन्तर समस्त प्रपञ्च ही बाधित हो जाता है, फिर प्रवृत्ति कैसे होगी ? ॥ २४४ ॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्ति में समता दिखाते हैं—

यदि भाव्यभागविलये न भवेत्
फलभावना कथमिहोत्सहते ।
करणादिभागविलये भवितुं
विधिरन्तरेण घटते न च ताम् ॥ २४५ ॥

योजना—यदि भाव्यभागविलये फलभावना न भवेत्, इह करणादिभागविलये भवितुं कथम् उत्सहते; ताम् अन्तरेण विधिः न च घटते ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—यदि केवल भाव्य (हिंसारूप फल) भाग का विलय हो जाने से ही फल भावना नहीं होती; तब यहाँ करणादि समस्त अंशों का विलय हो जाने पर कैसे हो हो सकती है ? फल भावना के विना विधि नहीं बन सकती ॥

भावितार्थ—भावना के कथित तीनों अंशों में से जब एक भी अंश का नाश हो जाता है, तभी प्रवृत्ति नहीं होती; यहाँ तो सभी अंश बाधित हो जाते हैं, फिर प्रवृत्ति होगी ही कैसे ? ॥ २४५ ॥

जैसे भावना के न रहने से कर्म-विधान सम्भव नहीं, वैसे ही नियोज्यादि के न रहने से नियोग-विधि सम्भव नहीं—

अधिकारिणं च विषयं च विना
न नियोगबुद्धिरुपपत्तिमती ।
न विना तमस्तदुभयं घटते
विदितात्मनश्च न तमो घटते ॥ २४६ ॥

योजना—अधिकारिणं च विषयं च विना नियोगबुद्धिः उपपत्तिमती न। तमो विना तदुभयं न घटते; विदितात्मनश्च तमो न घटते ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—अधिकारी और विषय के बिना नियोग-विधि उपपन्न नहीं होती। अज्ञान के बिना अधिकारी और विषय दोनों नहीं बनते तत्त्वज्ञ पुरुष में अज्ञान नहीं ठहर सकता ॥

भावितार्थ—अज्ञान की भित्ति पर अङ्कित अधिकारी आदि के छाया-चित्र मृदङ्ग की ताल पर थिरक उठते हैं; किन्तु जब अज्ञान की भित्ति ही धराशायी हो जाय; तब छाया-चित्र कहाँ ? ।। २४६ ।।

इस प्रकार तो वेदान्तवाक्यों से पूर्व वेद का प्रामाण्यापहार हो जाता है, स्वतः-प्रमाण को अत्यन्त अप्रमाण कहना उचित नहीं—इस आक्षेप का परिहार करते हैं—

व्यवहारगोचरमतः सकलं
विधिवाक्यमित्यवगतिं मनसि ।
उपनीय वेदशिरसो विधिभिः
न विरोध इत्यपि समाकलय ॥ २४७ ॥

योजना—अतः सकलं विधिवाक्यं व्यवहारगोचरमिति मनसि उपनीय विधिभिः वेदशिरसो न विरोध इत्यपि समाकलय ।। (प्रमिताक्षरा) ।।

योजितार्थ—अतः सकल विधिवाक्य व्यवहार-विषयक हैं—ऐसा निश्चय करके विधिवाक्यों के साथ वेदान्त का कोई विरोध नहीं—यह निर्णय देना चाहिए ।।

भावितार्थ—वेदान्तवाक्य केवल कर्मकाण्ड के पारमार्थिक प्रमाणभाव का बाध करते हैं, व्यावहारिक का नहीं। अतः कर्मकाण्ड में अत्यन्त अप्रामाण्य प्रसक्त नहीं होता ।। २४७ ।।

इस प्रकार वेदान्तवाक्यों से अद्वैततत्त्व की अवगति में किसी भी प्रमाण का विरोध नहीं रह जाता—

एवं वेदान्तवाक्यैरवगतिपदवीमद्वये नीयमाने
प्रत्यक्तत्वे समस्तद्वयकृतितमसि क्षीयमाणे च सद्यः ।
स्वाराज्ये त्वय्यवाप्ते परमसुखभुजि स्वच्छचैतन्यमात्रे
शेषो मानान्तराणामपि दुरवगमस्तत्र दूरे विरोधः ॥ २४८ ॥

इति श्रीसुरेश्वराचार्यपूज्यपादशिष्यश्रीसर्वज्ञात्ममुनेः कृतौ शारीरकमीमांसाभाष्यप्रकरणवार्तिके संक्षेपशारीरके द्वितीयोऽध्यायः ।

योजना—एवं वेदान्तवाक्यैः अद्वये प्रत्यक्तत्वे अवगतिपदवीं नीयमाने (सति) समस्तद्वयकृतितमसि सद्यः क्षीयमाणे च (सति) त्वयि स्वच्छचैतन्यमात्रे परमसुखभुजि स्वाराज्ये अवाप्ते मानान्तराणां शेषोऽपि दुरवगमः, तत्र विरोधो दूरे ।। (स्रग्धरा) ।

योजितार्थ—इस प्रकार वेदान्तवाक्यों के द्वारा अद्वितीय प्रत्यक्तत्व के अभिव्यक्ति-पदवी में आरूढ़ हो जाने पर समस्त द्वैत जगत् का कारणभुत तम शीघ्र ही क्षीण हो जाता है। तब तेरे स्वच्छ चैतन्यमात्र परमानन्दस्वरूप स्वाराज्य की प्राप्ति कर लेने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों का शेष भी नहीं रह जाता, उनसे विरोध की सम्भावना तो दूर रही।।

भावितार्थ—हृदय की अन्धेरी कोठरी में भेद-ग्राहक प्रत्यक्षादि विकराल भूतों ने

डेरा डाल रखा था। महावाक्यों की दिव्य ज्योति से उस कोठरी के भास्वरित होते ही वे कूच कर गये, उनकी राख तक शेष न बची, अद्वैत श्रुति का मार्ग कौन मुआ रोकेगा ? ॥ २४८ ॥

निर्वैरवृन्दारकवृन्दवद्यं
मन्दाकिनीसादितपुष्पपाद्यम् ।
द्यौ नन्दनोद्याननिवेदिताद्यं
वन्दे सनन्दं सदनं मुदां नः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीसुन्दरदासोदासीन-
पूज्यपादशिष्य श्रीमद्रामानन्दोदासीनविरचितायां
संक्षेपशारीरकभाषाव्याख्यायां
द्वितीयोऽध्यायः ॥

* * *

❀ तृतीयोऽध्यायः ❀

[ब्रह्मविद्यासाधननिरूपणम्]

मायामहोदधिः पूर्णः प्रतिबिम्बेन मोदते ।
यस्येशितुस्तमाराध्यं श्रीश्रीचन्द्रं नमाम्यहम् ॥

द्वितीय अध्याय में प्रतिपादित अविरोध के द्वारा प्रथमाध्यायार्थ समन्वय की दृढ़ता सम्पन्न हो जाने पर भी साधन पदार्थों का ज्ञान न होने से बोधादिगम सम्भव नहीं, अतः साधन-वर्ग का निरूपण करने के लिए तृतीय अध्याय प्रस्तुत किया जाता है–

श्रुत्वाऽविरोधमुपपन्नसमन्वयोऽथ
ब्रह्मात्मतामतिरयं पुनरप्युवाच ।
ब्रह्मात्मताफलशिरस्कमतिं प्रसूते
यत्साधनं तदखिलं प्रतिपित्समानः ॥ १ ॥

योजना—अविरोधं श्रुत्वा उपपन्नसमन्वयः ब्रह्मात्मतामतिः (सन्) अथ यत् साधनं ब्रह्मात्मताफलशिरस्कमतिं प्रसूते, तत् अखिलं प्रतिपत्समानः पुनरपि उवाच ॥ (व०छ०) ॥

योजितार्थ—अविरोध को सुनकर जिज्ञासु समन्वयार्थ को युक्तियुक्त जानकर ब्रह्म में आत्मरूपता के निश्चय की ओर अग्रसर होता हुआ, जो साधन ब्रह्मात्मताफलक निश्चय को जन्म देता है, उस समस्त साधन की जिज्ञासा से फिर पूछता है ॥

भावितार्थ—जिज्ञासु शिष्य ने प्रथम अध्याय में समन्वयार्थ को सुना, उस समन्वय के विषय में उद्भावित विरोधों का परिहार द्वितीय अध्याय में पढ़ा, अबाधित समन्वय के द्वारा सम्भावित जीव-ब्रह्म की एकता में विश्वास उत्पन्न हुआ। अब वह जिज्ञासु ऐसे साधन तत्त्वों की जिज्ञासा करता है, जिनसे ब्रह्मात्मता की आविर्भाविका प्रज्ञा उदित होती है[1] ॥ १ ॥

---

[1] वेदान्तदर्शन के प्रथम (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा) सूत्र में संक्षेपतः पाँच जिज्ञासाएँ आबद्ध हैं—(१) किं ब्रह्म ? (२) किं तत्र प्रमाणम् ? (३) का प्रमाणानुग्राहिका युक्तिः ? (४) किं वेदान्तजप्रमायाः साधनम् ? (५) किं तत्प्रमायाः फलम् ? इनमें प्रथम तथा द्वितीय जिज्ञासा को शान्त करने के लिए ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय में ब्रह्म का तटस्थ एवं स्वरूप लक्षण किया गया तथा अद्वय ब्रह्म में वेदान्त-वाक्यों को प्रमाण बताते हुए समन्वित किया गया। इसीलिए प्रथम अध्याय को साम्प्रदायिक समन्वयाध्याय कहा करते हैं। तृतीय जिज्ञासा के शमनार्थं द्वितीय अध्याय में विरोधी (द्वैतग्राही) प्रमाणों का निराकरण करते हुए वेदान्त प्रमाण का अभिरक्षण किया गया। अत एव द्वितीय अध्याय को अविरोधाध्याय कहा जाता है। तृतीय अध्याय में अन्तरंग और बहिरङ्ग साधनों का निरूपण करके चतुर्थ जिज्ञासा की निवृत्ति की गई है। पञ्चम जिज्ञासा को मिटाने के लिए चतुर्थ अध्याय में मुक्तिरूप फल का निरूपण किया गया है। इसी कारण से चतुर्थ अध्याय को फलाध्याय कहते हैं।

द्वितीय और तृतीय अध्याय की हेतु-हेतुमद्भावरूप संगति दिखाते हुए शिष्य-जिज्ञासा का विशदीकरण करते हैं—

ऐदम्पर्यमखण्डवस्तुविषयं वेदान्तवाक्यस्य यत्
पूर्वं वर्णितमस्य भूदपहतिर्मा नाम मानान्तरैः ।
किं त्वस्याः परिनिष्ठितस्वविषयध्वान्तच्छिदो जन्मने
विद्याया वचनादृते किमपरं कृत्यं भवेत्साधनम् ॥ २ ॥

योजना—पूर्वं यत् वेदान्तवाक्यस्य अखण्डवस्तुविषयम् ऐदम्पर्यं वर्णितम्, अस्य मानान्तरैः अपहृतिः नाम मा भूत्; किन्तु [1]परिनिष्ठितस्वविषयध्वान्तच्छिदः अस्याः विद्यायाः जन्मने वचनात् ऋते अपरं किं साधनं कृत्यम् ? (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—पहले जो वेदान्त-वाक्यों का अखण्डवस्तुविषयक तात्पर्य बताया गया, उसका विरोधी प्रमाणों से बाध भले ही न हो; किन्तु अपने सिद्ध ब्रह्मरूप प्रमेयगत अज्ञान की नाशक इस विद्या का उत्पादन करने के लिए वेदान्त-वचन को छोड़कर अन्य कौन साधन अनुष्ठेय है ?

भावितार्थ-शिष्य का कहना है कि इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में जो वेदान्त-वाक्यों का अखण्डैकरस वस्तु में समन्वय किया गया, द्वितीयाध्याय में मानान्तर-विरोध का परिहार कर देने से वह समन्वय यद्यपि दृढ़मूल हो गया और मुझे यह दृढ़ निश्चय हो चुका है कि अखण्डवस्तु-विषयक बोध सम्यक् ज्ञान है, तथापि वह बोध केवल 'तत्त्वमसि'—

पहले ही कहा जा चुका है कि यह 'संक्षेपशारीरक' ग्रन्थ वेदान्त दर्शन का प्रकरण है, अतः इसके भी सभी अध्यायों का उपयोग कथित पंचविध जिज्ञासाओं की निवृत्ति में ही है। इस प्रकार इसके तृतीय अध्याय में साधनों का निरूपण उचित ही है । यद्यपि प्रमामात्र के दो ही मुख्य साधन होते हैं—(१) प्रमाण और (२) प्रमाणानुग्राहक तर्क (युक्ति) । उन दोनों का निरूपण इसके प्रथम तथा द्वितीय अध्याय में हो ही चुका है, अन्य कोई साधन अवशिष्ट नहीं, जिसके लिए यह तृतीय अध्याय सफल होता, तथापि यहाँ तर्कों की विशेष अपेक्षा है, क्योंकि ज्ञान का प्रतिबन्धक पाप अनेक प्रकार का होता है । उस पाप से जिज्ञासु पुरुषों में नाना वासनाएँ और शङ्काएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जैसे—(१) विषय-भोग वासना, (२) वेदान्त में अबोधकत्व-शङ्का (अर्थात् प्रमाणगत असम्भावना), (३) साक्षात्काररूप प्रमा में असाक्षात्कारत्व-शंका (अर्थात् प्रमेयगत असम्भावना), (४) मोक्ष में अपुरुषार्थत्व शङ्का । इनमें (१) विषय-भोग-वासना की निवृत्ति श्रवणाङ्गभूत शमादि सम्पत् से होती है । (२) प्रमाणगत असम्भावना का निरास प्रथमाध्यायार्थ समन्वयात्मक श्रवण से, (३) प्रमेयगत असम्भावना का निराकरण द्वितीयाध्यायार्थ अविरोध रूप मनन से तथा (४) विपरीत भावना की शान्ति तृतीय और चतुर्थ अध्याय में प्रतिपादित साधन-फल विषयक निदिध्यासन से होती है । जब तक 'नाहं ब्रह्म साक्षात्करोमि, परोक्षमेव तन्नः प्रतिभाति'—इस प्रकार की विपरीत भावना बनी है, तब तक ब्रह्मविद्या का समुदय होना ही कठिन है, उसकी निवृत्ति के लिए निदिध्यासन का निरूपण परम आवश्यक है, अतः शिष्य-जिज्ञासा के द्वारा उसी की पातनिका प्रस्तुत की जाती है ॥

[1] परिनिष्ठितः सिद्धरूपो यः स्वस्या विषयः प्रमेयम्, तद्गतध्वान्तमज्ञानलक्षणं छिनत्ति सा तस्याः । यद्वा परिनिष्ठितः सिद्धस्वभावः स्वविषय एव विषयो यस्य ध्वान्तस्य, तच्छिनत्तीति सा, तस्या इति व्यासः ।

आदि वेदान्त-वाक्यों से सर्वत्र समुत्पन्न होता प्रतीत नहीं होता। अतः वेदान्त-वचनों से अतिरिक्त और किस साधन का सम्पादन करना है, जिसके सम्पादन से तत्त्व-बोध का उदय हो जाता है ? ॥ २ ॥

तृतीय अध्याय के चारों पादों के प्रतिपाद्यार्थ का संग्रह करते हुए गुरु शिष्यजिज्ञासित साधनों का क्रमशः निर्देश करता है—

वैराग्यस्य दृढत्वमेकमपरं तत्त्वं पदार्थज्ञता
वाक्ये निर्गुणनिष्ठिते च सकले न्यायादियत्तामतिः ।
सम्यग्ज्ञानसमीपदूरभवयोर्हेत्वोर्विवेकज्ञता
वाक्यार्थप्रतिपत्तिसाधनमिदं यत्नेन कृत्यं यतेः ॥ ३ ॥

योजना—एकं वैरागस्य दृढत्वम्, अपरं तत्त्वम्पदार्थज्ञता, (तृतीयम्) सकले निर्गुणनिष्ठिते वाक्ये च न्यायात् इयत्तामतिः, (चतुर्थम्) सम्यग्ज्ञानसमीपदूरभवयोः हेत्वोः विवेकज्ञता इदं वाक्यार्थप्रतिपत्तिसाधनं यतेः यत्नेन कृत्यम् ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—पहला (साधन) वैराग्य की दृढता; दूसरा तत्त्वम्पदार्थ-शोधन, (तृतीय) सकल निर्गुण-प्रतिपादक वाक्यों में न्यायतः इयत्तावधारण, (चतुर्थ) सम्यक् ज्ञान के सन्निपत्योपकारक तथा आरादुपकारक अङ्गों का विवेकज्ञान—ये वाक्यार्थ प्रतिपत्ति के चारों साधन यति के द्वारा यत्न से सम्पादनीय हैं ॥

भावितार्थ—वेदान्तदर्शन (तृतीयाध्याय) के प्रथम पाद में परलोक-गमनादि-निरूपण के द्वारा वैराग्य को दृढ़ किया गया है, अतः दृढ़ वैराग्य ज्ञान का एक साधन है। द्वितीयपाद में प्रतिपादित तत्त्वम्पदार्थ-शोधन दूसरा साधन है। तृतीय पाद में कथित वाक्यार्थ-निर्णय तीसरा साधन है। चतुर्थ पाद में ज्ञान के अन्तरङ्ग साधन शमादि एवं बहिरङ्ग साधन यज्ञादि का निरूपण किया गया है ॥ ३ ॥

वैराग्य का सम्पादन कैसे होगा ? और वैराग्य का ज्ञानोत्पत्ति में कैसे उपयोग होगा ? इन जिज्ञासाओं को शान्त करते हुए कथित प्रथम साधन का निरूपण करते हैं—

संसारदोषमवधारयतो यथावद्
वैराग्यमुद्भवति चेतसि निष्प्रकम्पम् ।
वैराग्यजन्मनि दृढे च सति प्रवृत्तिः
तत्त्वंपदार्थपरिशोधनकर्मणि स्यात् ॥ ४ ॥

योजना—संसारदोषम् यथावत् अवधारयतः चेतसि निष्प्रकम्पं वैराग्यम् उद्भवति। दृढे वैराग्यजन्मनि च सति तत्त्वम्पदार्थपरिशोधनकर्मणि प्रवृत्तिः स्यात् ॥(व०ति० छ०)।

योजितार्थ—संसार दोषों का यथावत् अवधारण करने वाले के चित्त में निश्चल वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और दृढ़ वैराग्य का जन्म हो जाने पर तत्त्वम्पदार्थ के परिशोधन कर्म में प्रवृत्ति हो जाती है ॥

भावितार्थ—रागाक्रान्त विक्षिप्तचित्त को बाह्यजगत् के रसास्वाद से ही अवकाश नहीं मिलता, तत्त्वम्पदार्थ शोधन में प्रवृत्त ही कैसे होगा ? बाह्य प्रपञ्च के आध्यात्मिक,

आधिदैविक और आधिभौतिक दोषों पर दृष्टिपात करने से ही राग निवृत्त होता है, विषयोपभोग से कदापि राग निवृत्त नहीं होता, प्रत्युत बढ़ता जाता है। भगवान् मनु ने कहा है—

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ (मनु० २।९४)

वाम मार्ग के तान्त्रिकों ने यही सोचा था कि प्रथम यथेष्ट विषयोपसेवन से इन्द्रियों का बाह्य-राग निवृत्त कर लिया जाय, पश्चात् आध्यात्मिक शक्ति की साधना सुकर होगी, किन्तु हुआ उसके विपरीत। वे उसी दलदल में सदैव के लिए फंस कर रह गये। विषयोपभोग से उत्तरोत्तर राग वैसे ही बढ़ता जाता है, जैसे कि घृतादि की आहुति पाकर अग्नि उत्तरोत्तर प्रज्वलित होती जाती है। इसलिए विषयों में दोष-दर्शन से ही वैराग्य उत्पन्न होता है और दृढ़ होता है। विरक्त चित्त की तत्त्वम्पदार्थ-शोधन में प्रवृत्ति होती है। पदार्थज्ञान से महावाक्यार्थ-बोध होता है। इस प्रकार बोध-सम्पादन में परम्परया वैराग्य का उपयोग होता है ॥ ४ ॥

[जीवस्य संसरणनिरूपणम्]

दोष-दर्शन का प्रकार दिखाते हैं—

संसाररूपमवगच्छ विविच्यमानं
यस्मिन् श्रुते भवति तद्विषया जुगुप्सा।
वेदः प्रकाशयति संसरणं यथाऽस्य
जीवस्य जन्ममरणे व्रजतः क्रमेण ॥ ५ ॥

योजना—यथा क्रमेण जन्ममरणे व्रजतः अस्य संसारं वेदः प्रकाशयति, (तथा) विविच्यमानं संसाररूपम् अवगच्छ, यस्मिन् श्रुते तद्विषया जुगुप्सा भवति॥ (व०ति०छ०)।

योजितार्थ—जिस प्रकार क्रमशः जन्म तथा मरण को प्राप्त होता हुआ इस (जीव) का संसरण वेद प्रकाशित करता है, वैसा यह विविच्यमान संसार-रूप समझ ! जिसको समझ लेने पर संसारविषयिणी जुगुप्सा (घृणा) उत्पन्न होती है॥

भावितार्थ—'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छां० ५।९।१) आदि वैदिक वाक्य जीव के जिस जन्म-मरण संसार का चित्रण करते हैं, वह अत्यन्त वीभत्स तथा दुःखमय प्रतीत होता है। उसे गहरी दृष्टि से देखने पर उत्कट घृणा उत्पन्न हो जाती है ॥ ५ ॥

अविद्या का आश्रय शुद्ध चेतन है, अतः जन्म-मरण रूप संसरण भी उसी में होना चाहिए, न कि जीव में, इस सन्देह को हटाते हैं—

शुद्धः परो न खलु वाङ्मनसव्यतीतः
संसारदुःखमतिदुःसहमश्नुवीत।
स्वाविद्यया हि पर एव स जीवभावम्
आगत्य संसरति लिङ्गसमागमेन ॥ ६ ॥

योजना—शुद्धः वाङ्मनसव्यतीतः परः खलु अतिदुःसहं संसारदुःखं न अश्नुवीत। स एव परः स्वाविद्यया लिङ्गसमागमेन जीवभावम् आगत्य संसरति॥ (व० ति० छ०)॥

योजितार्थ—शुद्ध, वाङ्मनसा गोचर परमात्मा अति दुःसह संसारदुःख को नहीं पाता। वही परमात्मा अपनी अविद्या से कल्पित लिङ्ग शरीर के सम्बन्ध से जीवभाव को प्राप्त होकर संसरण करता है ॥

भावितार्थ—जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं, हाँ, शुद्ध ब्रह्म में स्वाभाविक संसरण नहीं होता, अपितु ब्रह्म अपनी अविद्या से जीवरूप में आकर संसरण-भागी बनता है ॥ ६ ॥

यदि सोपाधिक संसरण करता है, तब मुक्त भी वही होगा; क्योंकि बद्ध ही मुक्त हुआ करता है, इस शंका का समाधान करते हैं—

ब्रह्मैव संसरति मुच्यत एतदेव
दौवारिकं भवति संसरणं तु तस्य ।
मुक्तिः पुनर्भवति चिद्वपुषैव तस्य
स्वाज्ञानतः स्वमहिमप्रतिबोधतश्च ॥ ७ ॥

योजना—ब्रह्मैव स्वाज्ञानतः संसरति, एतदेव च स्वमहिमप्रतिबोधतः मुच्यते, तस्य संसरणं तु दौवारिकं भवति, तस्य मुक्तिः पुनः चिद्वषुषा एव भवति ॥ (व० ति० छ०) ॥

योजितार्थ—ब्रह्म ही अपने अज्ञान से संसरण करता है, वही अपने स्वरूप ज्ञान से मुक्त होता है, हाँ, उसका संसरण तो लिङ्ग-शरीर के द्वारा होता है, किन्तु उसकी मुक्ति स्वाभाविक होती है ॥

भावितार्थ —उपाधि-विशिष्ट में हम संसरण नहीं मानते, अपितु उपाधि के योग से शुद्ध ब्रह्म में ही संसरण मानते हैं, मुक्ति भी उसी में है। अन्तर केवल इतना है कि बन्धन औपाधिक और मुक्ति स्वाभाविक होती है ॥ ७ ॥

बन्धन औपाधिक है और मोक्ष स्वाभाविक—यह कहा गया। यहाँ सन्देह होता है कि अज्ञान की बोधकता में जैसे लिङ्ग शरीर-द्वार है, वैसे ज्ञान में अन्तःकरण द्वार नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह वस्तुतंत्र है और स्वाभाविक–इस सन्देह को दूर करते हैं-

स्वाज्ञानान्वयिनी चिदेव भवति स्वाज्ञानमस्याः पुनः
नास्त्यन्तःकरणोपरागशबलीभावं विना युक्तितः ।
कूटस्थे न तमस्विता न घटते नो विक्रिया तत्र नः
तस्मादेष विशेष ईषदुचितः स्वीकर्तुमेते प्रति ॥ ८ ॥

योजना—चिदेव स्वाज्ञानान्वयिनी भवति, अस्याः ज्ञानं पुनः अन्तःकरणोपराग-शबलीभावं विना युक्तितो न, कूटस्थे तमस्विता न घटते इति न, नः तत्र विक्रिया न, तस्मात् एते प्रति एष विशेषः स्वीकर्तुम् उचितः ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—शुद्ध चित् अपने अज्ञान का आश्रय बन जाती है, किन्तु इसका ज्ञान अन्तःकरण सम्बन्धरूप शबलीभाव के विना युक्तितः सिद्ध नहीं होता, क्योंकि कूटस्थ चेतन में अज्ञान की आश्रयता नहीं घटती—यह बात नहीं (आपितु घट जाती है), हाँ, हमें वहाँ (शुद्ध चेतन में) विकार प्रतीत नहीं होता, इसलिए इन (ज्ञान और अज्ञान) दोनों के प्रति यह विशेषता स्वीकार करनी उचित ही है ॥

भावितार्थ—अज्ञान अपने आश्रय में विकार की अपेक्षा नहीं करता, अतः शुद्ध चेतन ही अज्ञान का आश्रय बन जाता है, किन्तु ज्ञान आगन्तुक है, किसी का विकार है, उसे आश्रय के लिए कोई विकारी द्रव्य चाहिए। अन्तःकरण विकारी होता है, शुद्ध चेतन विकारी नहीं, अतः चेतन में जब तक अन्तःकरण का उपराग न हो, ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। ज्ञान को अपनी आश्रयकोटि में ही अन्तःकरण-द्वारत्व की अपेक्षा है, विषयकोटि में नहीं, उसका विषय शुद्ध चेतन ही होता है ॥ ८ ॥

चैतन्य के संसरण की उपाधि दिखाते हुए संसरण का अर्थ करते हैं—

पुर्यष्टकं भवति तस्य परस्य मोहात्
तेनान्वितस्य तु नभोमलवद्व्यलीकम् ।
दुःखं त्रिधा भवति संसरणाभिधानं
नान्यः परादधिकरूपभृदस्ति जीवः ॥ ९ ॥

योजना—तस्य परस्य मोहात् पुर्यष्टकं भवति, तेन अन्वितस्य तु संसरणाभिधानं त्रिविधं दुःखं नभोमलवत् व्यलीकं भवति, परात् अन्यः अधिकरूपभृत् जीवः न ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ।

योजितार्थ—उस पर आत्मा के मोह से (१६ वें पद्य में वक्ष्यमाण) पुर्यष्टक उत्पन्न होता है। उससे अन्वित आत्मा में संसरण नामक त्रिविध दुःख आकाशगत नीलिमा के समान प्रातिभासिकमात्र होता है, पर चेतन से अन्य अधिक रूपधारी कोई जीव नहीं माना जाता ॥

भावितार्थ—चिदात्मा में स्वतः दुःख नहीं, किन्तु अज्ञान-जन्य पुर्यष्टक में तादात्म्याध्यास होने के कारण आत्मा आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक त्रिविध दुःखों का अनुभव करता है। दुःखानुभव के आधार पर जीव को परमात्मा से भिन्न मानने की आवश्यकता नहीं। पुर्यष्टक इसी अध्याय के १६ वें श्लोक में दिखायेंगे ॥ ९ ॥

परमात्मा से जीवात्मा का भेद क्यों नहीं, यह दिखाते हैं—

नांशः परस्य न च तस्य विकार एषः
नात्यन्तमेव च विभिन्नवपुः परस्मात् ।
जीवोऽयमभ्युपगतः कुत एतदेवं
ब्रह्मात्मतावचनजातविरोधहेतोः ॥ १० ॥

योजना—एष जीवः न परस्य अंशः, न च तस्य विकारः, न परस्मात् अत्यन्तम् भिन्नवपु एव अभ्युपगतः, एतत् एवं कुतः ? ब्रह्मात्मतावचनजातविरोधहेतोः ॥ (व० छ०)

योजितार्थ—यह जीव न तो परमात्मा का अंश है, न उसका विकार और न परमेश्वर से अत्यन्त भिन्नस्वरूप ही है, यह ऐसा क्यों ? (भेद मानने पर) ब्रह्म में आत्मत्व के प्रतिपादक वचनों का विरोध होता है ॥

भावितार्थ—भेदवादी से पूछा जा सकता है कि वह जीव को ईश्वर का अंश मानता है ? या विकार ? या सर्वथा भिन्न ? अंश मानने पर परिच्छिन्न होगा, नश्वर हो जायगा। जीव को नश्वर मान लेने पर कृत-हान, अकृत-अभ्यागमादि दोषों की प्रसक्ति होती है।

विकार मानने पर भी भङ्गुरत्व दोष अटल रहता है। सर्वथा भिन्न मानने पर अभेदबोधक 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतियों का विरोध प्राप्त होता है ॥ १० ॥

भेदभाव में प्रवेश-श्रुति का भी विरोध होता है—

अपि च विश्वमनुप्रविवेश तत्
परममेव पदं परमात्मनः।
इति वदत्सु सुहृत्स्विव तत्पर-
श्रुतिवचःसु कथं स ततोऽधिकः ॥ ११ ॥

योजना—अपि च परमात्मनः तत् पदम् एव विश्वम् अनुप्रविवेश—इति वदत्सु इव तत्परश्रुतिवचःसु स ततोऽधिकः ? कथम् ? (द्रु० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—अपि च परमात्मा का वह स्वरूप ही विश्व में प्रविष्ट हो गया ('तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' तै० २।६।१) इस प्रकार के सुहृत् के समान श्रुति-वचनों के न रहने पर वह (जीव) (परमेश्वर) से अधिक कैसे (सिद्ध) होगा ?

भावितार्थ—'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६।१) 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' (छां ६।३।२) आदि श्रुतियों से जब उस परमेश्वर का ही जीवरूप में आना प्रमाणित होता है, तब उसको ईश्वर से भिन्न कैसे मान सकते हैं ? यद्यपि प्रवेशार्थक श्रुतियाँ अर्थवाद हैं, फिर भी उनका स्वार्थ में तात्पर्य मानना पड़ता है, क्योंकि उनका किसी प्रमाणान्तर से विरोध उपस्थित नहीं होता। जैसे सूर्य अपने उत्पादित जल में प्रविष्ट हो जाता है, मेघ अपने बरसाये जल में, पुरुष अपने बनाये दर्पण में प्रतिबिम्ब रूप से प्रविष्ट होता है, वैसे ही ईश्वर भी अपने रचित प्रपञ्च में प्रविष्ट हो जाता है। जल में सूर्य का प्रवेश दो प्रकार से होता है—(१) रश्मियों के द्वारा साक्षात् तथा (२) प्रतिबिम्ब के द्वारा परम्परया। वैसे ही ईश्वर का भी प्रपञ्च में प्रवेश दो प्रकार से होता है-(1) अन्तर्यामीरूप से साक्षात् तथा (२) प्रतिबिम्बरूप से। यहाँ प्रवेश श्रुतियों ने द्वितीय प्रकार का जीवरूप से प्रवेश हीं कहा है, अन्तर्यामीरूप से प्रवेश का प्रतिपादन नहीं किया, क्योंकि 'प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति' आदि श्रुतियाँ उसे प्राणनादि व्यापारवान् कहती हैं, अन्तर्यामी ऐसा नहीं, अतः ईश्वर से जीव का कोई भेद सिद्ध नहीं होता ॥ ११ ॥

युक्ति के आधार पर भी जीव में ब्रह्मता ही सिद्ध होती है—

प्रच्यावि वस्तु यदिहास्ति निजस्वरूपात्
अप्रच्युतैकरससंविदधीनमस्य।
प्रच्यावितास्फुरणमित्यवगत्य तत्र
तत्कल्पितं सकलमाकलयानुमानात् ॥ १२ ॥

योजना—अस्य निजस्वरूपात् यद् प्रच्यावि वस्तु इह अस्ति, तत् अप्रच्युतैकरससंविदधीनम् इति अवगत्य तत् सकलं तत्र कल्पितम् अनुमानात् आकलय ॥(व० ति०छ०)॥

योजितार्थ—इस जीव के अपने स्वरूप से जो भिन्न वस्तु इसमें है, वह स्वयंप्रकाशैकस्वभाव चैतन्य से प्रकाशित होकर अपने स्फुरण को दूर फेंका करती है—यह जान कर वह समस्त (परप्रकाशित प्रपञ्च) उस आत्मा में कल्पित है, यह अनुमान से समझें ॥

भावितार्थ—'विमतं प्रत्यक्चिन्मात्रादधिकं रूपं प्रत्यक्चिदेकरसाधीनं प्रकाशं भवितुमर्हति प्रत्यक्चिदतिरिक्तत्वात् बुद्ध्यादिवत्' इस प्रकार का अनुमान प्रयोग यहाँ विवक्षित है। इसके आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि समस्त दृश्यवर्ग कल्पित है, कल्पित मिथ्या है, अतः जीव को सत् मानने के लिए प्रत्यक्चैतन्य स्वरूप ही मानना होगा, उससे अतिरिक्त नहीं ॥ १२ ॥

जीव और ब्रह्म का अत्यन्त अभेद मानने पर ब्रह्म में भी संसरण मानना होगा, इसका समाधान करते हैं—

चैतन्यवस्तुविषयाश्रय एव मोहो
नाद्वैतवस्तुविषयाश्रयकोऽप्रतीतेः ।
बुद्ध्यादिवेष्टितचितो न तमस्वितेति
ब्रह्माश्रयत्वमुदितं तमसः पुरस्तात् ॥ १३ ॥

योजना—एष मोहः चैतन्यवस्तुविषयाश्रय एव, अद्वैतवस्तुविषयाश्रयकः न अप्रतीतेः। बुद्ध्यादिवेष्टितचितः तमस्विता नेति तमसः ब्रह्माश्रयत्वं पुरस्तात् उदितम् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—यह मोह (अज्ञान) चैतन्य वस्तु को ही विषय और आश्रय बनाता है, अद्वैत वस्तु को विषय और आश्रय नहीं, क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती। बुद्ध्यादि उपाधि से युक्त चेतन में अज्ञानाश्रयता नहीं हो सकती, इसलिए अज्ञान को ब्रह्माश्रित पहले कहा गया है ॥

भावितार्थ—अज्ञान चैतन्यमात्र में है और संसार भी उसी में है। पहले (इसी अध्याय के ७ वें श्लोक में) जो कहा गया है कि ब्रह्म ही अज्ञान का आश्रय है, उसका आशय केवल यही है कि बुद्ध्यादि उपाधि-धारी चेतन अज्ञान का आश्रय नहीं बनता ॥ १३ ॥

अद्वैत वस्तु अज्ञान का आश्रय नहीं—इस प्रतिज्ञा के "अप्रतीतेः" हेतु की व्याख्या करते हैं—

ब्रह्माश्रयं न हि तमोऽनुभवेन लभ्यं
नाप्यागमान्न च किमप्यपरं प्रमाणम् ।
ब्रह्माश्रयत्वविषयं तमसस्ततश्च
प्रत्यक्प्रकाशविषयाश्रयमेतदस्तु ॥ १४ ॥

योजना—तमः ब्रह्माश्रयं हि न अनुभवेन लभ्यम्, नापि आगमात्, न किमपि अपरं च तमसः ब्रह्माश्रयत्वविषयं प्रमाणम्, ततः एतत् प्रत्यक्प्रकाशविषयाश्रयम् अस्तु ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—तम का ब्रह्माश्रित होना न तो अनुभव से प्राप्त है, न आगम से और न कोई अन्य प्रमाण ही तम में ब्रह्माश्रितत्व को सिद्ध करता है, इसलिए यह प्रत्यक्चेतन मात्र को अपना विषय और आश्रय बनायेगा ॥

भावितार्थ—जीव-ब्रह्म-विभाग रहित सर्वाधिष्ठान चेतनतत्त्व को यहाँ प्रत्यक् प्रकाश कहा है। वही अज्ञान का विषय तथा आश्रय विवक्षित है। अर्थात् अज्ञान की आश्रयता का अवच्छेदक चिन्मात्रत्व ही है, जीवत्व और ब्रह्मत्व नहीं ॥ १४ ॥

जीवत्व-विशिष्ट चेतन को अज्ञान का आश्रय नहीं माना जा सकता, यह दिखाते हैं—

जीवत्वमेव तु तदाश्रयमध्यपाति
नेच्छन्ति युक्तिकुशला न हि युज्यते तत् ।
अज्ञानमेव खलु तन्न तमस्तमस्त्रि
चैतन्यवस्तु पुनरस्तु न तद्विरोधः ॥ १५ ॥

योजना—युक्तिकुशलाः जीवत्वं तदाश्रयमध्यपाति न इच्छन्ति, तत् हि न युज्यते। तत् खलु, अज्ञानमेव, तमः तमस्वि न, चैतन्यवस्तु पुनः तत् अस्तु, विरोधो न ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—युक्तिनिपुण आचार्य जीवत्व को अज्ञान की आश्रय कोटि में प्रविष्ट (अज्ञानाश्रयतावच्छेदक) नहीं करना चाहते, क्योंकि वह बनता ही नहीं। वह (जीव) अज्ञानमय ही है, अज्ञान कभी अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता। अतः चैतन्य वस्तु को अज्ञान-आश्रय मानने में कोई विरोध नहीं ॥

भावितार्थ—जीव की सत्ता अज्ञानाधीन है, अतः जीव अज्ञानस्वरूप ही ठहरता है, अज्ञान कभी अज्ञान का आश्रय बनता नहीं, क्योंकि वहाँ अज्ञान की न तो सफलता सिद्ध होती है और न निवृत्ति—यह कहा जा चुका है, इस प्रकार चैतन्य वस्तु को ही अज्ञान का आश्रय माना जाता है, इसमें किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता ॥ १५ ॥

पूर्व (३।९ में) कथित पुर्यष्टक दिखाते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि खलु पञ्च तथाऽपराणि
बुद्धीन्द्रियाणि मन आदिचतुष्टयं च ।
प्राणादिपञ्चकमथो वियदादिकं च
कामश्च कर्म च तमः पुनरष्टमी पूः ॥ १६ ॥

योजना—पञ्च कर्मेन्द्रियाणि तथा अपराणि बुद्धीन्द्रियाणि मन आदिचतुष्टयं च, प्राणादिपञ्चकम् अथ वियदादिकं च कामः कर्म, तमः, पुनः अष्टमी पूः ॥ (व० छं०)

योजितार्थ—(१) पाँच कर्मेन्द्रियाँ, (२) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, (३) अन्तःकरण-चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार), (४) पाँच प्राण, (५) आकाशादि पाँच भूत, (६) काम, (७) कर्म (धर्माधर्मादि) तथा (८) अज्ञान आठवीं पुरी है ॥

भावितार्थ—पैङ्गलोपनिषद् (द्वितीयाध्याय) में कहा है—"अथ ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणादिपञ्चकं वियदादिपञ्चकमन्तःकरणचतुष्टयं कामकर्मतमांस्यष्टपुरम्" अर्थात् जीवरूपी महाराज के आठ नगर (उपयोग के साधन) हैं—(१) ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चक, (२) कर्मेन्द्रिय-पञ्चक, (३) प्राणादि-पञ्चक, (४) आकाशादि-पञ्चक, (५) अन्तःकरण-चतुष्टय, (६) काम, (७) कर्म तथा (८) अज्ञान। इन आठ पुरियों के झमेले में पड़कर जीव दुःखी होता है ॥ १६ ॥

विद्या और पूर्वप्रज्ञा का अन्तर्भाव कर्म में हो जाता है, यह दिखाते हैं—

विद्या च विश्वविषयानुभवोत्थपूर्व-
प्रज्ञा च कर्मवचसैव तु संगृहीते ।
बन्धप्रयोजकतया सदृशत्वहेतो-
रेकत्र च श्रुतिवचस्युपसंग्रहेण ॥ १७ ॥

योजना-विद्या विश्वविषयानुभवोत्थपूर्वप्रज्ञा च कर्मवचसैव तु संगृहीते, बन्धप्रयोजकतया सदृशत्वहेतोः एकत्र श्रुतिवचसि संग्रहेण च ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—विद्या और विश्वविषयक अनुभव से जन्य पूर्वप्रज्ञा (संस्कार) दोनों कर्म पद से संगृहीत हो जाते हैं, क्योंकि बन्ध-प्रयोजकत्वरूप से दोनों सदृश हैं एवं एक ही श्रुति-वाक्य में पठित भी है ॥

भावितार्थ—कर्म के साथ विद्या और पूर्वप्रज्ञा दोनों का सहपाठ है, अतः पदैकवाक्यता के आधार पर विद्या तथा पूर्वप्रज्ञा का 'कर्म' पद से ही संग्रह माना जाता है। यहाँ पर 'विद्या' पद से परब्रह्मविषयक विद्या विवक्षित नहीं, क्योंकि यह विद्या दूसरे प्रकरण में पठित है और ब्रह्मविद्या दूसरे प्रकरण में, अतः यहाँ 'विद्या' पद से प्रपञ्चविषयक ज्ञान लिया गया है। इसलिए उसके फलभूत संसार में अविद्या-हेतुत्व भी संगत हो जाता है। पूर्व के अनेक जन्मों में संचित भोग-वासना ही पूर्वप्रज्ञा है। इन दोनों का 'कर्म' पद ही अजहल्लक्षणा के द्वारा संग्राहक माना जाता है। शक्य-सम्बन्धी पदार्थ में लक्षणा होती है, अतः 'बन्धप्रयोजकत्व' पद से शक्य-सम्बन्ध दिखाया गया है ॥ १७ ॥

जिस एक ही श्रुतिवाक्य में तीनों का सहपाठ है, उसका निर्देश करते हैं—

तं विद्येति हि वाक्यमेकमिह च स्पष्टं त्रयं कीर्तितं
तस्मात्कर्मवचस्तयोरपि भवेत्संग्राहकं कारणात् ।
विद्या चात्र चतुर्विधाऽप्यभिमतैवाऽऽरम्भिका कर्मवत्
संस्कारोऽपि तथा चतुर्विध इति ज्ञेयस्तथा संभवात् ॥ १८ ॥

योजना—"तं विद्येति" एकं वाक्यम्, इह हि त्रयं स्पष्टं कीर्तितं, तस्मात् कारणात् कर्मवचः तयोरपि संग्राहकम्। अत्र च विद्या कर्मवत् चतुर्विधा आरम्भिका अभिमता। तथा संस्कारोऽपि चतुर्विध इति ज्ञेयः तथा संभवात् ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' (बृह० ४।४।२) यह एक वाक्य है, इसमें तीनों ही स्पष्टतः संकीर्तित हैं, इस कारण से ही 'कर्म' पद उन दोनों का भी संग्राहक है। यहाँ विद्या कर्म के ही समान चार प्रकार की समझनी चाहिए। एवं संस्कार भी चार प्रकार का जानना चाहिए, क्योंकि वैसा सम्भव है ॥

भावितार्थ—जिस श्रुति में संसार हेतु कर्म का उल्लेख है, उसी श्रुति में विद्या और पूर्वप्रज्ञा (संसार) का भी है, अतः कर्म के समान ही शेष दोनों को भी संसार का कारण मानना होगा। कर्म चार प्रकार का होता है—(१) विहित, (२) प्रतिषिद्ध, (३) अविहित और (४) अप्रतिषिद्ध। विद्या भी चार प्रकार की होती है—(१) विहित

(उपासनारूप), (२) निषिद्ध, (३) अविहित या विहित के समान (गंगा-दर्शन आदि रूप) तथा (४) निषिद्ध-सम (शव-साधनादि)। इसी प्रकार पूर्वप्रज्ञा के भी कथित चार प्रकार होते हैं, क्योंकि संस्कार सदैव अनुभव के अनुरूप ही होते हैं ।। १८ ।।

'लिङ्ग' शब्द से कहीं-कहीं पुर्यष्टक का ग्रहण होने पर भी लिङ्ग शब्द का मुख्य अर्थ पुर्यष्टक नहीं —

पुर्यष्टकं तदिदमप्यभवद्धि लिङ्गं
तेनोच्यते तदपि लिङ्गगिरा क्वचित्तु ।
पुर्यष्टकं न खलु लिङ्गगिरोऽभिधेयं
मुख्यं तु सप्तदशकं प्रथितं हि लिङ्गम् ।। १९ ।।

योजना—तदिदं हि पुर्यष्टकम् अपि लिङ्गम् अभवत्, तेन तदपि क्वचित् तु लिङ्ग-गिरा उच्यते। पुर्यष्टकं तु लिङ्गगिरः मुख्यम् अभिधेयं न, हि सप्तदशकं लिङ्गं प्रसिद्धिम् ।। (वसन्ततिलकाच्छन्दः)।

योजितार्थ—प्रोक्त पुर्यष्टक भी लिङ्ग होता है, इसलिए वह भी कहीं-कहीं 'लिङ्ग' शब्द से कहा जाता है। पुर्यष्टक तो 'लिङ्ग' शब्द का मुख्य अर्थ नहीं, क्योंकि सप्तदश तत्त्व का लिङ्ग शरीर प्रसिद्ध है ।।

भावितार्थ—वक्ष्यमाण सप्तदश तत्त्वों के पुञ्ज को लिङ्ग शरीर कहा जाता है, क्योंकि वही जीवभाव का लिङ्ग या गमक कहलाता है। अर्थात् जब तक सप्तदश तत्त्व का लिङ्ग शरीर विद्यमान है, तब तक जीवभाव की सत्ता मानी जाती है। लिङ्ग शरीर का नाश होने पर यह जीव जीव नहीं रहता, ब्रह्म हो जाता है। पुर्यष्टक जीवभाव की वैसी उपाधि नहीं कि मोक्ष-पर्यन्त एक ही बना रहे। यह तो प्रत्येक जन्म में परिवर्तित होता रहता है, अतः सूक्ष्म शरीर ही 'लिङ्ग' पद का मुख्य अभिधेय होता है, पुर्यष्टक नहीं ।। १९ ।।

चर्चित सप्तदश तत्त्व दिखाते हैं—

इह तावदक्षदशकं मनसा
सह बुद्धितत्त्वमथ वायुगणः ।
इति लिङ्गमेतदमुना पुरुषः
खलु सङ्गतो भवति जीव इति ।। २० ।।

योजना—इह तावत् अक्षदशकं मनसा सह बुद्धितत्त्वम् अथ वायुगणः इत्येतत् लिङ्गम्, अमुना संगतः पुरुषः खलु जीवः इति भवति ।। (प्रमिताक्षरा) ।।

योजितार्थ—इस (पुर्यष्टक) में कथित दश इन्द्रियाँ, मन के साथ बुद्धितत्त्व और प्राणपंचक—इस पुंज को लिङ्ग शरीर कहते हैं, इससे युक्त होकर चेतन 'जीव' कहलाता है।।

भावितार्थ—पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और पाँच प्राण—ये सत्तरह तत्त्व लिङ्ग या सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। इस लिङ्ग से तादात्म्याध्यास होने के कारण ही प्रत्यगात्मा में जीवत्व का व्यवहार होता है ।। २० ।।

पुर्यष्टक-सम्बन्ध में दुःख-हेतुता अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा दिखाते हैं—

न पुराष्टकेन रहितस्य तव
क्वचिदस्ति संसरणदुःखयुजा ।
न पुराष्टकेन सहितस्य तथा
क्वचिदस्ति दुःखविगमश्च तव ॥ २१ ॥

योजना–पुराष्टकेन रहितस्य तव क्वचित् संसरणदुःखयुजा नास्ति तथा पुरानष्टके सहितस्य तव क्वचित् दुःखविगमश्च नास्ति ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ– (हे शिष्य !) पुर्यष्टक से रहित तेरे स्वरूप में कहीं भी संसार दुःख का योग नहीं एवं पुर्यष्टक से युक्त तेरे रूप में कहीं भी दुःख का वियोग नहीं है ॥

भावितार्थ—श्रुति ने स्पष्ट कहा है—"न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति । अशरीरं वाव सन्तं न प्रियोप्रिये स्पृशतः" (छां० ८।१२।१) अर्थात् पुर्यष्टकात्मक शरीरत्रय का अध्यास रहने पर सुख-दुःखादि रहते हैं और उसकी निवृत्ति हो जाने पर सुख-दुःख नहीं रहते, अतः पुर्यष्टक-सम्बन्ध ही आत्मा में दुःख का हेतु सिद्ध होता है ॥ २१ ॥

यह पुर्यष्टक-सम्बन्ध आध्यासिक है, स्वाभाविक नहीं—

तव नित्यमुक्तसुखचिद्वपुषो
न कदाचिदस्ति पुरसङ्गमनम् ।
तव मायया विरचितं सकलं
पुरसङ्गतिप्रभृतिकं वितथम् ॥ २२ ॥

योजना—नित्यमुक्तसुखवपुषः तव पुरसंगमनं कदाचित् नास्ति, सकलं पुरसंगतिप्रभृतिकं तव मायया विरचितं वितथम् । (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—हे शिष्य नित्य, मुक्त, सुख स्वरूप तेरे में पुर्यष्टक का सम्बन्ध कभी भी नहीं अपितु सकल पुर्यष्टक-सम्बन्धादि तेरी माया से रचित मिथ्यामात्र हैं ॥

भावितार्थ—हे शिष्य तेरे वास्तविक नित्य, मुक्त तथा सुखस्वरूप रूप में पुर्यष्टक का सम्बन्ध सूर्य में अन्धकार-सम्बन्घ के समान ही कभी भी सम्भव नहीं, किन्तु तेरे अज्ञान से कल्पितमात्र हैं ॥ २२ ॥

उक्त भाव को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—

मलिनं नभो न हि कदाचिदभूत्
विमलं कदाचिदभवन्न नभः ।
उभयं नभस्यभवदेवमिह
त्वयि नित्यमुक्तचिति संसरणम् ॥ २३ ॥

योजना—न हि नभः कदाचित् मलिनम् अभूत, न नभः कदाचित् विमलम् अभवत्, उभयं नभसि अभवत एवम् इह त्वयि नित्यमुक्तचिति संसरणम् ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—न तो आकाश कभी मलिन हुआ, न आकाश कभी विमल हुआ, (फिर भी) आकाश में दोनों प्रतीत हुए, इसी प्रकार यहाँ तुझ नित्य-मुक्त चेतन में संसरण प्रतीत होता है ॥

भावितार्थ—यद्यपि आकाश स्वभावतः निःसङ्ग और निरवयव है, अतः मल के साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता, तथापि 'आकाश मलिन है', 'आकाश निर्मल है'—यह प्रतीत होता है, वैसे ही नित्य-मुक्त स्वभाव सदैकरस चिदात्मा में संसरण (बन्ध) और मोक्ष दोनों भ्रान्तिमात्र हैं, स्वभावतः नहीं ॥ २३ ॥

कथित सिद्धान्त की उपपत्ति करते हैं—

न हि कल्पनाविरचितं वितथं
परमार्थवस्त्ववितथं स्पृशति ।
परमार्थवस्तु च तथा तमसा
परिकल्पितं न किमपि स्पृशति ॥ २४ ॥

योजना—कल्पनाविरचितं वितथम् अवितथं परमार्थवस्तु न स्पृशति, तथा परमार्थवस्तु तमसा परिकल्पितं किमपि न स्पृशति ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—कल्पना-रचित पदार्थ मिथ्या है, अतः वह सत्य परमार्थवस्तु का स्पर्श नहीं कर सकता, वैसे ही सत्य वस्तु भी अविद्या-कल्पित किसी पदार्थ को नहीं छूती ॥

भावितार्थ—कल्पना-रचित पदार्थ मिथ्या होता है, अर्थात् वह जहाँ जब प्रतीत होता है, वहीं उस समय उसका अभाव होता है, इसीलिए मिथ्या पदार्थ को अपने आश्रय में त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी माना जाता है, फिर वह अपने आश्रय का स्पर्श कर ही कैसे सकेगा ? जन्म-मरणरूप संसरण मिथ्या होने से अपने चैतन्यरूप सत्य अधिष्ठान में जुड़ नहीं सकता ॥ २४ ॥

इसी बात को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—

न हि भूमिरूषरवती मृगतृड्
जलवाहिनीं सरितमुद्वहति ।
मृगवारिपूरपरिवारवती
न नदी तथोषरभुवं स्पृशति ॥ २५ ॥

योजना—ऊषरवती भूमिः [1]मृगतृड्जलवाहिनीं सरितं न उद्वहति, तथा मृगवारिपूरपरिवारवती नदी ऊषरभुवं न स्पृशति ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—ऊषर भूमि मृगों के द्वारा तृषावश कल्पित जल की नदी को धारण नहीं करती, वैसे ही मृग-कल्पित जल-प्रवाहपूर्ण नदी भी ऊषर भूमि का स्पर्श नहीं करती ॥

भावितार्थ—भ्रम का विषय केवल बुद्धि पर कुछ प्रभाव डाला करता है, बाह्य वस्तुओं पर नहीं, मृगतृष्णिका-जल सामने की भूमि को आर्द्र नहीं बनाता । ठीक इसी प्रकार संसरणरूप दुःख आत्मा में आरोपितमात्र है, आत्मा से कभी भी उसका सम्बन्ध नहीं होता, अतः आत्मा स्वभावतः नित्य-मुक्त और सुखमय है ॥ २५ ॥

आत्मा में संसरण आरोपित ही है, वास्तविक नहीं, इसमें युक्ति देते हैं—

---

[1] मृगैः तृषावशाद् आरोपितजलप्रापणीत्यर्थः ।

न तत्र क्वचिद् गमनमस्ति विभोः
न पुराष्टकस्य जडरूपभृतः ।
न च मध्यवर्त्तिजडचिद्वपुषोः
गमनक्षमं किमपि संभवति ॥ २६ ॥

योजना– न तव विभोः क्वचित् गमनम् अस्ति, न जडरूपभृतः पुराष्टकस्य, न च जडचिद्वपुषोः मध्यवर्ति किमपि गमनक्षमं संभवति ।। (प्रमिताक्षरा) ।।

योजितार्थ–शिष्य ! न तो तेरे विभुरूप का कहीं गमन होता है, न जड़रूप पुर्यष्टक का और न जड़-चेतन के मध्य में स्थित कोई (तीसरा पदार्थ ही) गमन-योग्य सम्भव है ।।

भावितार्थ—जिज्ञासा होती है कि यह गमनादिरूप संसार चिदात्मा में है ? या शरीर में ? या दोनों के समूह में ? चिदात्मा तो विभु है, अतः उसका गमनागमन सम्भव नहीं, देह जड़ है, इसमें भी गमनागमन बनता नहीं और चिज्जड़ात्मक तीसरा पदार्थ कोई है ही नहीं कि गमनागमन करता, अतः गमनागमन रूप संसार कल्पनामात्र है ।। २६ ।।

आत्मा में स्वतः संसरण न होने पर भी पुर्यष्टकरूप उपाधि के योग से संसरण क्यों न बनेगा ? श्रुति कहती – "तमुत्क्रान्तं प्राणोऽनुत्क्रामति" (बृह० ४।४।२) इस शंका का समाधान है—

पुरवेष्टितं न खलु चिद्वलयं
परलोकमार्गमनुसर्तुमलम् ।
घटवेष्टितं न हि नभोवलयं
व्रजति व्रजत्यपि घटेऽवितते ॥ २७ ॥

योजना--तव पुरवेष्टितं [1]चिद्वलयं परलोकमार्गम् अनुसर्तुम् अलं न, अवितते घटे व्रजत्यपि घटवेष्टितं [2]नभोवलयं व्रजति न हि ।। (प्रमिताक्षरा) ।।

योजितार्थ– तेरा पुर्यष्टक-युक्त चैतन्य-रूप भी परलोक-मार्ग का अनुसरण करने में समर्थ नहीं; क्योंकि परिच्छिन्न घट के गमन करने पर भी घट-युक्त आकाश-प्रदेश गमन नहीं किया करता ।।

भावितार्थ– घट दूसरे प्रदेश में ले जाया जाता है, पहला प्रदेश घट-शून्य हो जाता है; इसी प्रकार यदि वहाँ का गगन भी गमन करता, तब वह प्रदेश आकाश-शून्य हो जाता, किन्तु ऐसा होता नहीं. अतः मानना होगा कि उपाधि में क्रिया होने पर भी उपहित में क्रिया नहीं होती, व्यवहारमात्र होता है, उसी व्यवहार का अनुवाद कथित उत्क्रमण-श्रुति में किया गया है ।। २७ ।।

दृष्टान्त को परिपुष्ट करते हैं—

---

[1] चितः परिच्छिन्नप्रदेशः ।

[2] नभसः प्रदेशविशेषः ।

घट एव गच्छति नभस्त्वचलं
व्रजता घटेन तु ततश्च ततः ।
परिवेष्टनेन घटखं क्रियते
घटखानि तत्र सुबहूनि ततः ॥ २८ ॥

योजना—घट एव गच्छति नभस्तु अचलम्, व्रजता घटेन तु ततः ततः परिवेष्टनेन घटखं क्रियते, ततः तत्र घटखानि सुबहूनि ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—घट ही ले जाया जाता है, आकाश तो अचल है, गमनान्वित घट के तत्र-तत्र परिवेष्टन से (नूतन-नूतन) घटाकाश बनाया जाता है, अतः वहाँ घटाकाश बहुत होते जाते हैं ॥

भावितार्थ—घट के ले जाये जाने से घटाकाश नहीं जाता, अपितु घट जहाँ-जहाँ ले जाया जाता है, वहाँ-वहाँ के आकाश को घेर कर घटाकाश नाम देता जाता है, एक ही घटाकाश सर्वत्र नहीं जाता, अपितु घटाकाश अनन्त होते जाते हैं ॥ २८ ॥

दार्ष्टान्त में वैसा नहीं माना जा सकता है—

पुरमेव गच्छति चितिस्त्वचला
व्रजता पुरेण यदि साऽपि चितिः ।
परिवेष्ट्यते तु सुबहूनि तदा
वलयानि पूर्ववदुपाश्रयसे ॥ २९ ॥

योजना—पुरमेव गच्छति, चितिः तु अचला, यदि व्रजता पुरेण सा चितिरपि परिवेष्टचते, तदा तु सुबहूनि बलयानि पूर्ववत् उपाश्रयसे ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—शरीर ही जाता है, चेतन तो अचल है, यदि जाते हुए शरीर से वह चेतन भी परिवेष्टित किया (घेर लिया) जाता है, तब तो बहुत-से चित्प्रदेश पूर्ववत् मानने होंगे ॥

भावितार्थ—घट जहाँ जाता है, वहाँ के आकाश को घेर कर जैसे घटाकाश बना लेता है, वैसे ही यदि यह भी मान लिया जाय कि यह शरीर भी जहाँ-जहाँ जाता है, है, वहाँ-दहाँ व्यापक चेतन को घेर कर जीव बनाता जाता है, तब तो अनन्त नूतन घटकाशों के समान ही अनन्त नूतन जीव मानने पड़ेंगे ॥ २९ ॥

अनन्त घटाकाशों के समान अनन्त जीव-निर्माण क्यों न मान लें ? इस सन्देह को दूर करते हैं—

अकृतागमश्च कृतनिष्फलता
फलतः समापतति कर्तृगते. ।
अपरस्य भोक्तुरुदयाच्च दिवि
व्यसनस्य सन्ततिरहो विषमा ॥ ३० ॥

योजना—अकृतागमः कृतनिष्फलता फलतः समापतति, कर्तृगतेः, दिवि अपरस्य भोक्तुः उदयात्, अहो विषमा व्यसनस्य सन्ततिः ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—अकृतागम और कृतनाश अर्थात् आ पड़ते हैं, क्योंकि कर्ता नष्ट हो गया और स्वर्ग में दूसरा भोक्ता उत्पन्न हो गया, आह। भयङ्कर दुःख परम्परा है ॥

भावितार्थ—कथित क्रम से यदि जीव अनन्त माने जाते हैं, तब कृत-हानि और अकृत-प्राप्ति का महान् दोष उपस्थित होता है, क्योंकि इस शरीर में यहाँ जिसने कर्म किये थे, वह जीव यहीं समाप्त हो गया, स्वर्ग नहीं गया, स्वर्ग में तो इस शरीर ने जाकर नया चेतन प्रदेश घेरा है। जिसने कर्म किये उसे फल नहीं मिला और जिसने कर्म नहीं किये, उसे फल मिल गया, यह तो वैदिक मर्यादा से बाह्य है, अत्यन्त अवैज्ञानिक है ॥३०॥

उपाधि के चलायमान होने पर भी यदि उपहित चैतन्य को अचल एक ही माना जाय, तब भी वही दोष होता है—

चलने ह्युपाध्यभिमतस्य भवेत्
जनितस्य तेन विगमः सुदृढम् ।
ननु कुण्डलापसरणे पुरुषात्
अथ न प्रणश्यति न कुण्डलिता ॥ ३१ ॥

योजना—उपाध्यभिमतस्य हि चलने तेन जनितस्य सुदृढं विगमो भवेत्, अथ पुरुषात् कुण्डलापसरणे कुण्डलिता न प्रणश्यति न ननु ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—अभिमत उपाधि के ही चलने पर उस (उपाधि) से जनित (उपहित चेतन) का विनाश होगा, क्योंकि पुरुष से कुण्डलों के दूर हो जाने पर (उसकी) कुण्डलिता नहीं नष्ट होती-यह बात नहीं ॥

भावितार्थ—जब तक पुरुष ने अपने कानों में कुण्डल पहन रखे हैं, तब तक वह कुण्डली कहलाता है, कुण्डलों को उतार फेंकने पर वह कुण्डली नहीं रहता, वैसे ही इस चेतन-प्रदेश में जब तक शरीर था, तब तक यह जीव था कर्ता था, शरीर के चले जाने पर यह कर्त्ता नहीं रहा, कर्त्ता का विलय हो जाने पर उसके किये कर्मों का फल किसे मिलेगा ? बिना फल दिये कर्मों का नाश ही कृत-प्रणाश कहलाता है ॥ ३१ ॥

चेतन में उपाधि का सम्बन्ध बनता भी नहीं—

न पुरान्वयश्च तव चिद्वपुषः
परमार्थतो भवति तर्कसहः ।
नभसो यथा घटसमागमनं
न ततोऽपि लिङ्गघटितो व्रजसि ॥ ३२ ॥

योजना—तव चिद्वपुषः पुनः पुरान्वयश्च परमार्थतः तर्कसहो न भवति, यथा नभसा घटसमागमनम्, ततो अपि लिङ्गघटितो न व्रजसि ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—शिष्य ! तेरे चैतन्य-रूप का पुर्यष्टक के साथ सम्बन्ध भी परमार्थतः युक्ति-संगत वैसे ही नहीं, जैसे कि आकाश के साथ घट का सम्बन्ध, इसलिए भी लिङ्ग शरीर से युक्त होकर तू गमन नहीं कर सकता ॥

भावितार्थ—आकाश के साथ घट का परमार्थतः कोई सम्बन्ध नहीं बनता, यह

कहा जायगा, उसी प्रकार चेतन के साथ शरीर का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, फिर तो शरीर-सम्बद्ध चेतन संसरण करता है—यह कहना नितान्त असंगत है ।। ३२ ।।

आकाश के साथ घट-सम्बन्ध की अनुपपत्ति दिखाते हैं—

नभसः प्रदेशविरहान्नभसो
न घटः प्रदेशपरिवेष्टनकृत् ।
न नभः समस्तमपि वेष्टयते
नभसोऽविशेषविरहापतनात् । ३३ ॥

योजना—नभसः प्रदेशविरहात् घटः, नभसः प्रदेशपरिवेष्टनकृत् न, समस्तं नभो अपि न वेष्टयते, नभसः अवशेषविरहापतनात् ।। (प्रमिताक्षरा) ।।

योजितार्थ—आकाश अवयव-रहित है, अतः घट आकाश के अवयवविशेष का परिवेष्टन कर नहीं सकता, सम्पूर्ण आकाश को भी परिवेष्टित नहीं कर सकता; क्योंकि फिर तो घट से बाहर आकाश अविशिष्ट ही नहीं रह जायगा ।।

भावितार्थ—जिज्ञासा होती है कि आकाश के किसी भागविशेष को घट घेरता है ? या समूचे आकाश को ? आकाश निरवयव है, अतः उसके भाग या प्रदेश बनते नहीं कि घट किसी भाग को घेर लेता । समूचे आकाश को भी घट नहीं घेर सकता, नहीं तो घट के बाहर अनुभूयमान आकाश का अभाव हो जायगा, अतः आकाश के साथ घट का वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं बनता ।। ३३ ।।

इसी प्रकार शरीर का भी चेतन से कोई सम्बन्ध नहीं बनता—

परमात्मभागपरिवेष्टनकृत्
न पुरं तथाऽनवयवो हि परः ।
न च कृत्स्नमेव परमं पुरुषं
पुरवस्तु वेष्टयितुमुत्सहते ॥ ३४ ॥

योजना—तथा पुरं परमात्मभागपरिवेष्टनकृत् न, परो हि अनवयवः । कृत्स्नमेव परमं पुरुषं वेष्टयितुं पुरवस्तु उत्सहते न ।। (प्रमिताक्षरा) ।।

योजितार्थ—वैसे ही शरीर भी परमात्मा के भागविशेष का परिवेष्टन नहीं कर सकता, क्योंकि परमात्मा निरवयव है, सम्पूर्ण परम पुरुष को वेष्टित करने के लिए भी शरीर समर्थ नहीं ।।

भावितार्थ—जैसे अपरिच्छिन्न आकाश एक छोटे-से घट के परिच्छेद में नहीं आ सकता. वैसे व्यापक चेतन भी छोटे-से शरीर कारागार में कैसे बन्दी बनाया जा सकता है ? अवश्य मानना होगा कि उस व्यापक चैतन्य के साथ शरीर का कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं ।। ३४ ।।

सम्पूर्ण चिदात्मा का शरीर से वेष्टन मानने पर ईश्वर तथा अन्य जीवों का अभाव मानना पड़ेगा—

यदि कृत्स्न एव परमः पुरुषः
पुरवेष्टितो भवति जीवतया ।
न तदेश्वरो भवितुमुत्सहते
न च जीवजातमपरं सकलम् ॥ ३५ ॥

योजना—यदि कृत्स्न एव परमः पुरुष पुरवेष्टितः जीवतया भवति, तदा न ईश्वरो भवितुम् उत्सहते, न अपरं सकलं जीवजातम् ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—यदि सम्पूर्ण ही परम पुरुष शरीर-वेष्टित होकर जीवरूप होता है, तब न ईश्वर ही सिद्ध हो सकेगा और न अन्य सकल जीववर्ग ॥

भावितार्थ—शङ्कावादी का कहना है कि जैसे एक छोटी-सी हाथ की हथेली इतने बड़े सम्पूर्ण सूर्य-मण्डल को आवृत कर लेती है, वैसे ही छोटा-सा शरीर भी सम्पूर्ण महान् आत्मा को क्यों न आवृत कर लेगा ? इस शङ्का में सिद्धान्ती जिज्ञासा करता है कि सम्पूर्ण चेतन शारीरावच्छिन्न होकर जीव माना जाता है ? या ईश्वर ? यदि वह जीव है, तब ईश्वर तथा अन्य जीवों की सिद्धि कैसे होगी ? यदि वह ईश्वर है, तब तो समस्त जीवों का अभाव मानना होगा ॥ ३५ ॥

ईश्वर तथा अन्य जीवों की सत्ता न मानने पर बद्ध-मुक्तादि की व्यवस्था नहीं रहती—

गुरुशिष्यसंगतिरतो न भवेत्
न च बन्धमोक्षनियमो घटते ।
विषयं विना सकलमापतति
स्फुटमत्र वेदवचनं च वृथा ॥ ३६ ॥

योजना—अतः न गुरुशिष्यसंगतिः भवेत् , न च बन्धमोक्षनियमो घटते । विषयं विना सकलं च वेदवचनम् अत्र स्फुटं वृथा आपतति ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—इस प्रकार (ईश्वर तथा अन्य जीवों के न रहने पर) न तो गुरु-शिष्य का सम्बन्ध हो सकेगा और न बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था ही बनेगी। (गुरु-शिष्य-संबंधादि प्रतिपाद्य) विषय के बिना समस्त (गुरु-शिष्य-सम्बन्धादि-प्रतिपादक) वेदवचन को यहाँ अतिस्फुट रूप में व्यर्थ (अप्रमाण) मानना पड़ेगा ।।

भावितार्थ—यदि एक शरीर में ही घिर कर समूचा चेतन जीव बन जाता है, तब ईश्वर की सत्ता सिद्ध न होगी । ईश्वर के बिना ब्रह्मविद्या में अपेक्षित गुरु-शिष्य-सम्प्रदाय कैसे चलेगा; क्योंकि "यो वै वेदांश्च प्रहिणोति" (श्वे० ६।१८) आदि श्रुतियों के अनुसार ईश्वर ही कल्प का आदि गुरु माना जाता है । भगवान् पतंजलि ने भी कहा है— "पूर्वेषामपि गुरुः" (यो०सू० १।२६)। जब गुरु नहीं, तब शिष्य कैसे बनेंगे ? इस प्रकार गुरूपसदन, गुरुसेवा, ज्ञान-दान, कर्मानुष्ठान, एषणा-त्याग, ब्रह्मसंस्थिति आदि विषयों के सिद्ध न होने पर उनके प्रतिपादक समस्त वेदवाक्य ही अप्रमाण हो जायेंगे । अतः एक ही शरीर समूचे चैतन्य को घेर लेता है—यह पक्ष अत्यन्त अनुचित और अनुपादेय है ॥ ३६ ॥

फलितार्थ दिखाते हैं—

न पुरान्वयोऽत्र उपपत्तिसहः
परमार्थतोऽस्ति परमात्मदृशेः ।
वियतो घटान्वयवदेव ततः
परिकल्पितं पुरसमागमनम् ॥ ३७ ॥

योजना—अतः परमात्मदृशेः पुरान्वयः उपपत्तिसहो नास्ति, ततः वियतो घटान्वयवदेव पुरसमागमनं परिकल्पितम् ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—इसलिए परमात्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध वस्तु-दृष्टि से युक्तियुक्त नहीं है, तब तो आकाश के साथ घट के अन्वय के समान ही शरीर-सम्बन्ध परिकल्पितमात्र है ॥

भावितार्थ—यहाँ यह अनुमान-प्रयोग विवक्षित है—"परमात्मदृशेः पुरान्वयो न परमार्थतोऽस्ति; उपपत्त्यसहिष्णुत्वात्, यदुपपत्तिं न सहते, तत् परमार्थतो नास्ति यथा आकाशघटान्वयः" आकाश का घट के साथ अन्वय नहीं बनता यह दिखाया जा चुका है, उसी प्रकार चैतन्य का शरीर के साथ अन्वय भी अनुपपन्न है ॥ ३७ ॥

शरीर-सम्बन्ध के समान ही परलोक-गमन भी कल्पित ही है—

यत एवमेतदुपपत्तिपथं
न तत्र प्रयाति विरहय्य तमः ।
परलोकमार्गगमनं स्वतमः
परिकल्पितं चलनवन्नभसः ॥ ३८ ॥

योजना—एवं यत एतत् तव तमः विरहय्य उपपत्तिपथं न प्रयाति, परलोकमार्गगमनं नभसः चलनवत् परिकल्पितम् ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—इस प्रकार यह (आत्मशरीर-सम्बन्ध) तेरे अज्ञान के सिवा युक्तियुक्त नहीं ठहरता, इसलिए आत्मा का परलोक-गमन आकाश की नीलिमा के समान परिकल्पित ही है ॥

भावितार्थ—आत्मा का परलोक-गमन उसके शरीर-सम्बन्ध पर निर्भर था, शरीर-सम्बन्ध जब काल्पनिक ठहरता है, तब परलोक-गमन को भी काल्पनिक ही मानना पड़ेगा ॥ ३८ ॥

घट तथा आकाश का सम्बन्ध वास्तविक नहीं, अतः घट में आकाश के किसी धर्म का प्रतिभास नहीं होता, उसी प्रकार यदि शरीर और चैतन्य का सम्बन्ध भी परिकल्पित है, तब अहंकारादि में चैतन्य की प्रतीति नहीं होनी चाहिए, इस सन्देह का समाधान करते हैं—

पुरधर्ममात्मनि विकल्प्य तथा
स्वचिदात्मतां च पुरधर्मतया ।
स्वपुरं स्वयं च दृढमेकतया
परिकल्पयन् व्रजसि मूढमतिः ॥ ३९ ॥

योजना—पुरधर्मम् आत्मनि तथा स्वचिदात्मतां च पुरधर्मतया विकल्प्य स्वपुरं स्वयं च एकतया दृढं परिकल्पयन् मूढमतिः व्रजसि ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—शरीर के धर्मों को आत्मा में तथा अपने आत्मा की चैतन्यरूपता को शरीर का धर्म समझ कर अपनें शरीर और अपने में एकरूपता की सुदृढ़ कल्पना करता हुआ मूढ़मति जीव संसरण करता है ॥

भावितार्थ—घट और आकाश का तादात्म्याध्यास न होनें से एक में दूसरे के धर्म प्रतीत नहीं होते, किन्तु शरीर और आत्मा का तादात्म्याध्यास है, अतः शरीर के संसरणादि धर्म आत्मा में एवं आत्मा के चैतन्यादि धर्म शरीर में प्रतिभासित होते हैं ॥३९॥

यदि आत्मा नित्यमुक्त है; तब संसारावस्था में नित्यमुक्तता का भान क्यों नहीं होता ? एवं कथित युक्तियों के आधार पर ही उसका निर्णय हो जाने पर महावाक्यों की क्या आवश्यकता ? इन सन्देहों का समाधान करते हैं—

परिपूर्णचिद्रसघनः सततं
स्वमहिम्नि तिष्ठसि निरस्तमले ।
न तथाऽपि तत्त्वमितिवाक्यकृतां
मतिमन्तरेण तव केवलता ॥ ४० ॥

योजना—परिपूर्णचिद्रसघनः निरस्तमले स्वमहिम्नि सततं तिष्ठसि, तथापि तत्त्वमितिवाक्यकृतां मतिम् अन्तरेण तव केवलता न ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—हे शिष्य ! यद्यपि तू परिपूर्ण केवल चिन्मात्र है, अपने निर्मल स्वरूप में सदैव स्थित रहता है, तथापि "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों से जन्य बोध के बिना तेरी केवलता प्रतीत नहीं होती ॥

भावितार्थ—यद्यपि आत्मा सदैव मुक्त है, केवल है, असङ्ग है; तथापि अज्ञानावरण के कारण संसारावस्था में वह वैसा प्रतीत नहीं होता, शमादि के अनुष्ठान से मुमुक्षु का अन्तःकरण शुद्ध होता है, शुद्ध अन्तस्तल पर महावाक्यों के द्वारा उस अज्ञान का नाशक एक अपरोक्ष साक्षात्कार नाम का प्रकाश-स्तम्भ समुदित होता है, उस प्रकाश में आत्मा की नित्य मुक्तता, केवलता और असङ्गता अभिव्यक्त होती है ॥ ४० ॥

अपेक्षित अपरोक्ष साक्षात्कार इन्द्रियों से क्यों नहीं होता ? इस शंका का समाधान है—

न तव प्रतीचि करणानि बहिः
विषयाणि येन करणानि सदा ।
सहजं च गाढमतिमूढतमं
तम इत्यतः पुरमनुव्रजसि ॥ ४१ ॥

योजना—करणानि तव प्रतीचि न, येन करणानि सदा बहिर्विषयाणि, अतिमूढतमं गाढं सहजं तमः इत्यतः पुरम् अनुव्रजसि ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—इन्द्रियाँ तेरे प्रत्यक्स्वरूप में (प्रवृत्त) नहीं होतीं, क्योंकि इन्द्रियाँ सदैव बाह्य विषय को ही ग्रहण करती हैं, अत्यन्त घन गाढ़ अन्धकार अनादिकाल से आ रहा है, जिसके कारण तू एक शरीर से दूसरे में संसरण करता है ॥

भावितार्थ—"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्"

(कठ० ४।१) आदि श्रुतियों से स्पष्ट प्रमाणित है कि इन्द्रियगण की बाह्य विषय के ग्रहण में ही प्रवृत्ति है, आत्मा के साक्षात्कार में नहीं, अतः महावाक्यों के बिना आत्मसाक्षात्कार का और कोई साधन नहीं ॥ ४१ ॥

आत्मा का संसरण अविद्यामात्र से परिकल्पित है—इस कथित सिद्धान्त को प्रमाणित करते हैं—

स समान इत्युपनिषद्वचनं
प्रतिपादयत्युदितमर्थमतः ।
स्वमनीषिकेति न कदाचिदपि
प्रतिपत्तिरत्र भवतो भवतु ॥ ४२ ॥

योजना—"स समानः" (बृह० ४।३।७) इति उपनिषद्वचनम् उदितम् अर्थं प्रतिपादयति, अतः अत्र स्वमनीषिकेति प्रतिपत्तिः भवतः कदाचित् न भवतु ॥ (प्रमिताक्षरा)॥

योजितार्थ—"स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति" (वह आत्मा बुद्धि के साथ तादात्म्यापन्न होकर इस लोक तथा परलोक दोनों में संसरण करता है) यह उपनिषद्वाक्य कथित सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, अतः हमारे इस वचन में स्वकपोलकल्पना है—ऐसा भ्रम आपको कभी नहीं होना चाहिए ॥

भावितार्थ—कथित वाक्य के "ध्यायतीव लेलायतीव" (बृह० ४।१।७) आदि पदों से यह भी सिद्ध होता है कि आत्मा में वस्तुतः चलन नहीं, आरोपितमात्र है ॥ ४२ ॥

घटाकाश के दृष्टान्त से आत्मा में अवास्तविक चलन की उपपत्ति की गई, अब जलसूर्य दृष्टान्त से उसकी उपपत्ति करते हैं—

पुरहेतुकं यदभवच्च विभोः
परिकल्पितं किमपि चित्सदृशम् ।
जलपात्रहेतुकमिव द्युमणेः
तदसंततं भवति तद् व्रजति ॥ ४३ ॥

योजना—द्युमणेः जलपात्रहेतुकम् इव विभोः परहेतुकं यत् किमपि चित्सदृशं परिकल्पितम् अभवत् तत् असन्ततं भवति, तत् व्रजति ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—सूर्य के जलपात्रहेतुक प्रतिबिम्ब के समान विभु आत्मा का शरीरहेतुक जो कुछ चिदाभास (जीव) रूप कल्पित हुआ, वह अव्यापी है, अतः वह संसरण करता है ॥

भावितार्थ—यद्यपि सूर्य में किसी प्रकार का कम्प नहीं; तथापि जलादिगत प्रतिबिम्ब में जो जलाधार पात्र का कम्पन प्रतीत होता है, उसी का आरोप आकाशस्थ सूर्य में जैसे हो जाया करता है; वैसे ही बुद्धिगत परिच्छिन्न चिदाभास में जो बुद्धि का संसरण परिलक्षित होता है, उसी का आरोप विभु चेतन में किया जाता है ॥ ४३ ॥

पुर्यष्टक एवं चिदाभास दोनों जड़ हैं, परलोक-गमन न स्वतः कर सकते हैं और न चेतन से प्रेरित होकर; क्योंकि चेतन उदासीन है, वह क्यों प्रेरणा देगा ? इस शंका का परिहार करते हैं—

जडशक्तिरस्ति च परस्य विभोः
परमात्मनस्तम इति प्रथिता ।
पुरमष्टकं तव यथा भवति
श्रुतितः प्रसिद्धमिदमप्यखिलम् ॥ ४४ ॥

योजना—यथा तव पुर्यंष्टकं भवति, (तथा) परस्य विभोः परमात्मनः तम इति प्रथिता जडशक्तिः अस्ति—इदम् अखिलं श्रुतितः प्रसिद्धम् ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—जैसे तेरी (जीव की) पुर्यंष्टक उपाधि है, वैसे परम विभु परमेश्वर की प्रसिद्ध माया शक्ति उपाधि है—यह सब कुछ श्रुति से प्रमाणित है ॥

भावितार्थ—जड़ में स्वतः क्रिया न हो सकने पर भी चैतन्य की तादात्म्यापत्ति के कारण वैसे ही क्रिया बन जाती है, जैसे चुम्बक के योग से लोहे में। सूर्य के आकर्षण और विकर्षण का प्रभाव जल पर स्पष्ट अभिलक्षित है। उस क्रियाशील जल में सूर्य का आभास या प्रतिबिम्ब बराबर बना रहता है। चन्द्र के प्रभाव से उद्भूत ज्वार-भाटा की क्रिया से महासागर में समर कोलाहल मचता ही रहता है। इसी प्रकार चैतन्य के आवेश से जड़-वर्ग में क्रिया का होना असम्भव नहीं। हाँ, सूक्ष्म शरीर की गमनागमन क्रिया जिस चैतन्य तत्त्व पर आधृत है, उसे ही क्रियाशील मानना अनृतम्भरा प्रज्ञा को ऊहा है, यह नैसर्गिक ऊहा ऋतम्भरा प्रज्ञा के स्फीतालोक से विलीन हो जाया करती है, ऋतम्भरा प्रज्ञा वैदिकवाक्यों की अद्भुत देन है। इसीलिए श्रुतियों ने 'तदेजति' से उस ऊहा का अनुवाद करके "तन्नैजति' से सत्य का प्रकाश किया है। यह भी बता दिया गया है कि किन उपाधियों के द्वारा चेतन में संसरण-व्यवहार होने लगा—"कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः" (त्रि० म० ना० ४।८) अर्थात् ईश्वर की उपाधि माया है और माया का कार्य शरीर जीव की उपाधि है ॥ ४४ ॥

'जीव' और 'ईश्वर' शब्दों के वाच्यार्थों को दिखाते हैं—

पुरहेतुकं तव यथा च वपुः
भवतीह जीववचसो विषयः ।
जडशक्त्युपाधिकममुष्य तथा
परमेश्वरस्य वपुरुद्भवति ॥ ४५ ॥

योजना—यथा पुरहेतुकं तव जीववचसो विषयः वपुः भवति, तथा अमुष्य परमेश्वरस्य जडशक्त्युपाधिकं वपुः उद्भवति ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—हे शिष्य ! जैसे शरीरोपाधिक तेरा जीव शब्द का वाच्य आकार-विशेष बनता है, वैसे ही उस परमेश्वर का मायोपाधिक आकार-विशेष प्रकट होता है ॥

भावितार्थ—संसरण करनेवाला जीव है, केवल शरीर या केवल चेतन जीव नहीं कहलाता कि उनमें संसरण की अनुपपत्ति हो, अपितु घटाकाश के समान शरीरोपाधिक चेतन को जीव और मायोपाधिक चेतन को ईश्वर कहा जाता है। वह ईश्वर प्रेरक है और जीव प्रेर्य क्रियाशील माना जाता है ॥ ४५ ॥

जीवगत संसरण की प्रेरणा ईश्वर से मिली, इसमें श्रुति-सम्मति दिखाते हैं—

पुरहेतुरूपघटितस्य दृशेः
जडशक्त्युपाधिपरमेश्वरतः ।
भयमुद्भवत्यनवबोधवशात्
इति च त्रयीशिरसि राजपथः ॥ ४६ ॥

योजना—पुरहेतुरूपघटितस्य दृशेः अनबोधवशात् जडशक्त्युपाधिपरमेश्वरतः भयम् उद्भवति इति त्रयीशिरसि राजपथः ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—शरीरोपाधिक चेतन में अज्ञानवश मायोपाधिक परमेश्वर से भय उत्पन्न होता है—यह वेदान्त का राजमार्ग है ॥

भावितार्थ—श्रुतियों ने स्पष्ट कहा है—"यदिदं किं च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतं, महद्भयं वज्रमुद्यतम्" (कठ० २।३।२), 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति" (तै० २।७।१) अर्थात् जीव में जो कुछ संसरण पाया जाता है, वह ईश्वर का भय ही है। जो जीव ईश्वर से अपना कुछ भी भेद समझता है, उसे ही यह भय होता है। संसरण के हेतुभूत शुभाशुभ कर्मों के मूल में भी ईश्वर की प्रेरणा काम करती है—"एष एव साधु कर्म कारयति यमुन्निनीषते, एष ह्येवासाधु कर्म कारयति यमधो निनीषते" (कौषी० ३।८) अर्थात् यह ईश्वर ही उस जीव से पुण्य कर्म कराता है, जिसे ऊर्ध्व लोक में ले जाना चाहता है, यही उससे पाप कर्म कराता है, जिसे अधोनयन कराना चाहता है ॥ ४६ ॥

जो लोग कहते हैं कि जीव के कर्मों का फलोपभोग ही ईश्वर-प्रेरित है, जीव का संसरण नहीं, उन्हें "तद्यथाऽनः" इस श्रुति का स्मरण दिलाते हैं—

परमेश्वरेण विभुना रणयन्
परिबृंहितः शकटवद् व्रजसि ।
शकटं हि शाकटिकयोगवशात्
व्रजति स्वयं न परतन्त्रतया ॥ ४७ ॥

योजना—विभुना परमेश्वरेण परिबृंहितः शकटवत् रणयन् व्रजसि, शकटं हि परतन्त्रया शाकटिकयोगवशाद् व्रजति, स्वयं न व्रजति ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—हे शिष्य विभु परमेश्वर से प्रेरित होकर तू शकट (गाड़ी) के समान चूं-चूँ करता हुआ प्रयाण करता है, शकट परतन्त्र होने से गाड़ीवान् के योग से ही चलता है, स्वयं नहीं चल सकता ॥

भावितार्थ—जैसे पुरानी बैलगाड़ी चूँ-चाँ शब्द करती हुई चलती है, वैसे ही यह जीव रोता-धोता प्रयाण करता है। जैसे गाड़ी बिना गाड़ीवान के नहीं चला करती, वैसे यह जीव ईश्वर की प्रेरणा के बिना संसरण नहीं कर सकता, श्रुति कहती है—"तद् यथाऽनः सुसमाहितम् उत्सृजद् यायाद् एवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः उत्सृजन् याति" (बृह० ४।३।३५) अर्थात् रथ दूर जा रहा है, सारथी दीख नहीं पड़ता, फिर भी रथ की व्यवस्थित गति से अनुमान हो जाता है कि सारथी रथ पर आरूढ़ है,

उसी प्रकार जब जीव अपने-अपने कर्मों के अनुरूप व्यस्थित गति पाते हैं, तब अवश्य अनुमान किया जा सकता है कि ये जीव अपने किसी नियन्ता के तत्त्वावधान में संसरण करते हैं, इस अनुमान को कथित श्रुति का महान् बल प्राप्त है ॥ ४७ ॥

शकट जड़ होने से चेतन सारथी के अधीन हो सकता है, किन्तु जीव चेतन ही है, तब किसी के अधीन क्यों होगा ? एवं जीवों के कर्मानुष्ठान में जब ईश्वर की प्रेरणा है, तब कर्मों को त्याज्य क्यों समझा जाता है ? इन शंकाओं का परिहार करते हैं—

पुरवेष्टितः पुरवशानुगतः
पुरतन्त्रचिन्निभविभिन्नवपुः ।
दिवि यातनाभुवि च कर्मफला-
न्यनुभूय भूय इह संभवति ॥ ४८ ॥

योजना—पुरवेष्टितः पुरवशानुगतः पुरतन्त्रचिन्निभविभिन्नवपुः दिवि यातनाभुवि च कर्मफलानि अनुभूय भूय इह सम्भवति ।। (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—शरीर से युक्त और शरीर-वशवर्ती जीव शरीरगत चिदाभास से अविविक्त होकर स्वर्ग या नरक में अपने कर्मों का फल भोग कर फिर इस लोक में उत्पन्न होता है ॥

भावितार्थ—यद्यपि जीव रथादि के समान जड़ नहीं, चेतन है, फिर भी भ्रम के कारण परतन्त्र बना हुआ है । विविध कर्मों का फल-भोग करके जीव फिर इस लोक में जन्म लता है, अतः कर्म त्याज्य हैं, बिना कर्म-त्याग मोक्षपथ पर अग्रसर नहीं हो सकता ।। ४८ ।।

कर्म ही बन्धन हैं, उनका स्वर्ग या नरक में फलोपभोग हो जाने पर जीव मुक्त क्यों नहीं हो जाता ? इस शंका को दूर करते हैं—

सुकृतदुष्कृतकर्मवशादयं
दिवमथो यमसादनमेव वा ।
अनुभवेन समाप्य पुनर्मही-
तलमबोधवशादवरोहति ॥ ४९ ॥

योजना—अयं सुकृतदुष्कृतकर्मवशात् दिवम् अथ यमसादनम् एव वा अनुभवेन समाप्य अबोधवशात् पुनः महीतलम् अवरोहति ।। (द्रुतविलम्बितच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—यह जीव अपने पुण्य-पाप कर्मों के अनुसार देवलोक या यमलोक में भोग पूरा करके अज्ञानवश पुनः मर्त्यलोक पर उतर आता है ।

भावितार्थ—एक बार स्वर्ग या नरक के उपभोगमात्र से समग्र पुण्य-पाप समाप्त नहीं होते । जब तक अज्ञान विद्यमान है, भोग-लोकों से लौट-लौट कर जीव इस कर्मलोक में आता रहता है, यहाँ किये कर्मों का फलोपभोग करने बार-बार भोग-भूमियों में प्रयाण करता रहता है । ब्रह्मज्ञान से अज्ञान का नाश होने पर ही मुक्त होगा ॥ ४९ ॥

ब्रह्मज्ञान के विना भी कर्म तथा सूत्रादि-उपासना के समुच्चय से प्राप्त ब्रह्मलोकादि से अनावृत्ति बताई गई है—"इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते" (छां० ४।१५।६)। अतः ब्रह्मज्ञान की अनिवार्यता क्यों ? इस सन्देह को मिटाते हैं—

यदि वा समुच्चयवशात्पुरुषः
कमलासनं व्रजति कामुकधीः ।
पुनरेव मानवमिमं तु विना
परिवर्तमाव्रजति मूढमतिः ॥ ५० ॥

योजना—कामुकधीः पुरुषः समुच्चयवशात् कमलासनं व्रजति, यदि वा मूढमतिः, तदा पुनरेव इमं मानवं परिवर्तम् आव्रजति ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—रागवान् पुरुष कर्मज्ञान तथा उपासना के समुच्चय के बल पर ब्रह्मलोक जाता है, यदि वहाँ भी मूढ़ आत्मज्ञान-शून्य अज्ञानी ही रहा, तब फिर यहाँ ही लौट आता है ।

भावितार्थ—अज्ञानी किसी प्रकार के कर्म तथा उपासना के अनुष्ठान से कहीं भी चला जाय, फलोपभोग के अनन्तर उसे फिर यहाँ ही आना पड़ता है, मुक्ति नहीं मिलती, जब तक ब्रह्मज्ञान न हो ॥ ५० ॥

ब्रह्मलोक में आत्मज्ञान हो जाने पर अवश्य मुक्त हो जाता है—

अथ वा स तत्र परमात्ममतिः
परिमुच्यते सकलबन्धनतः ।
क्रमयोगमुक्तिरुदिता श्रुतिषु
प्रतिशाखमेवमुपपन्नतरा ॥ ५१ ॥

योजना—अथवा तत्र परमात्ममतिः सकलबन्धनतः परिमुच्यते, श्रुतिषु प्रतिशाखम् उदिता क्रमयोगमुक्तिः उपपन्नतरा ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—यदि ब्रह्मलोक में परमात्मबोध हो जाता है, तब सकल बन्धनों से मुक्त हो जाता है, वेदों की प्रत्येक शाखा में बताई गई क्रममुक्ति उपपन्नतर है ॥

भावितार्थ—कर्म और उपासना के समुच्चय से ब्रह्मलोक गये जीव को यदि वहाँ परमात्म-साक्षात्कार हो जाता है, तब वह इस लोक में नहीं आता, मुक्त हो जाता है; अतः शास्त्रों में कथित क्रममुक्ति (इस लोक से कार्यब्रह्म तथा कार्यब्रह्म से परब्रह्म की प्राप्ति) युक्ति-युक्त ही है—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

इत्यादि पुराण वचनों के अनुसार ही सूत्रकार ने क्रममुक्ति का सिद्धान्त स्थिर किया है—"अनावृत्तिः शब्दात्" (ब्र० सू० ४।४।२२) "कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिध्यानात्" (ब्र० सू० ४।३।१०) अर्थात् ब्रह्मलोक का नाश होने पर ब्रह्मा के साथ ही वहाँ के जीव परब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं ॥ ५१ ॥

यदि कर्म ही बन्धन का हेतु है, तब कर्म के अनधिकारी पशु-पक्षी तथा स्थावर सृष्टि की मुक्ति हो जानी चाहिए, इस सन्देह को दूर करते हैं—

देवयानपितृयानयोः पथोः
ज्ञानकर्मरहितत्वकारणात् ।
नैकमप्यनुसरन्ति ये पुनः
क्षुद्रजन्तव इहोद्भवन्ति ते ॥ ५२ ॥

योजना—ज्ञानकर्मरहितत्वकारणात् ये देवयानपितृयाणयोः पथोः एकम् अपि अनुसरन्ति न, ते क्षुद्रजन्तवः इह उद्भवन्ति ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—ज्ञान और कर्म से रहित होने के कारण जो जीव देवयान और पितृयाण पथों में से किसी एक का भी अनुसरण नहीं करते, वे क्षुद्र जन्तु इसी संसार में मर-मर कर पैदा होते रहते हैं ।

भावितार्थ—श्रुति कहती है—"अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि" (छां० ५।१०।८) अर्थात् जो क्षुद्र जन्तु ज्ञान तथा कर्म में से किसी के अधिकारी नहीं, उनकी मुक्ति नहीं होती । वे जब कभी अधिकारी-योनियों में उद्भूत होते हैं, तब देवयान या पितृयाण के पथिक बन सकते हैं ॥ ५२ ॥

वर्णित संसारगति का उपसंहार करते हैं—

इति कामुकस्य तव संसरणं
शतशो बभूव बत मूढमतेः ।
इह विप्रजन्मनि विरक्तमतिः
कुरु साधनं यदपवर्गकरम् ॥ ५३ ॥

योजना—इति तव कामुकस्य मूढमतेः शतशः संसरणं बभूव, बत ! इह विप्रजन्मनि विरक्तमतिः यदपवर्गकरं तत्साधनं कुरु ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—इस प्रकार (हे शिष्य !) तुझ रागी और मोही को सैकड़ों बार जन्म-मरण-प्रवाह में पड़ना पड़ा, महान् खेद है !!! इस अधिकारी योनि में विरक्त होकर जो मोक्ष देने वाला मार्ग है, उसका साधन कर ॥

भावितार्थ—जैसे संसार का प्रयोजक राग है, वैसे मोक्ष का प्रयोजक वैराग्य है । केवल वैराग्य से ही कोई कृतकृत्य नहीं हो सकता, उसे विवेक तथा षट् सम्पत्ति की प्राप्ति कर आत्मज्ञान का उपार्जन करना अनिवार्य है ॥ ५३ ॥

[अपवर्गसाधननिरूपणम्]

अपवर्ग-साधन दिखाते हैं—

श्रवणादिकं शमदमादिपरः
परमात्मनः परमभागवतः ।
कुरु तावता परममेव पदं
परमात्मनस्त्वमवलोकयसि ॥ ५४ ॥

योजना—शमदमादिपरः परमभागवतः (सन्) परमात्मनः श्रवणादिकं कुरु, तावता एव त्वं परमात्मनः परमम् पदम् अवलोकयसि ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—(हे शिष्य !) शमदमादि-युक्त परम भागवत होकर परमात्मा का श्रवणादि कर, उतने से ही तू परमात्मा के परम पद का दर्शन कर लेगा ॥

भावितार्थ—सगुण परमात्म-भक्ति भी अन्तरङ्ग साधन है—यह दिखाने के लिए ग्रन्थकार ने 'परमभागवतः' कहा है । श्रवणादि प्रमाण नहीं, अतः इनसे तत्त्वज्ञान कैसे होगा ?

इस सन्देह का उत्तर देने के लिए ग्रन्थकार ने तावता पद दिया है । आशय यह है कि श्रवणादि तो वेदान्त वाक्यों के ही यहाँ विवक्षित हैं, कृतोपास्ति व्यक्ति के लिए वेदान्त के श्रवणादि मात्र से साक्षात्कार हो जाता है, अन्य साधन अपेक्षित नहीं ॥ ५४ ॥

आत्म-दर्शन न होने पर क्षति क्या ? इस प्रश्न का उत्तर है—

यदि तन्न पश्यसि हरेः परमं
पदमम्बुशीतलमिवेद्धशिराः ।
न खलु प्रदीप्तशिरसोऽस्ति सुखं
तव दुःखपावकशिखाभिरहो ॥ ५५ ॥

योजना–यदि हरेः तत् परमं पदम् इद्धशिराः शीतलम् अम्बु इव न पश्यसि अहो !!! दुःखपावकशिखाभिः प्रदीप्तशिरसः तव खलु सुखम् न अस्ति ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—यदि हरि के उस परम पद का जो प्रदीप्तशिरस्क के लिए शीतल जल के समान है, दर्शन न करेगा, तब महान् खेद है !!! दुखाग्नि की ज्वालाओं में तुझ प्रदीप्तशिरस्क को सुख नहीं होगा ॥

भावितार्थ—जन्म-मरणादि दुःखाग्नि की आध्यात्मिकादिक तीन शिखाएँ (ज्वालाएँ) हैं । धधकती ज्वालाएँ जिसके शिर को जला रही हैं, वह यदि दूर से भी शीतल जल को अपनी उत्कट लालसा भरी दृष्टि से देख लेता है, तो भी शान्ति मिलती है, उसका उचित सेवन करने से तो परम शान्ति होती है । वैसे ही संसाराग्नि में जलता हुआ यह जीव परोक्ष-दर्शन मात्र से अद्भुत शान्ति का अनुभव करता है, अपरोक्ष दर्शन की तो बात ही क्या ? ॥ ५५ ॥

सप्रयोजन वैराग्य-निरूपण का उपसंहार करते हैं—

एवं विज्ञाय तापत्रयमतिगहनं मोहमूलं परस्मिन्
आत्मन्यात्मप्रकाशे त्वयि परमसुखे निष्कले निष्कलङ्के ।
सत्ये नित्यस्वभावे परिहृतसकलद्वैतकूटानुषङ्गे
सम्यग्ज्ञानानुरागं कुरु विषयगतं भिन्धि निर्बन्धमेनम् ॥५६॥

योजना–एवम् अतिगहनं तापत्रयं विज्ञाय परस्मिन् आत्मनि आत्मप्रकाशे परमसुखे निष्कले निष्कलङ्के सत्ये नित्यस्वभावे परिहृतसकलद्वैतकूटानुषङ्गे त्वयि सम्यक् ज्ञानानुरागं कुरु, विषयगतम् एनं निर्बन्धं भिन्धि ॥ (स्रग्धराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इस प्रकार अतिगहन तापत्रय को जानकर परमात्मस्वरूप, आत्मप्रकाश, परमसुख, निष्कल, निष्कलङ्क सत्य, नित्यस्वभाव, द्वैतसमूह-राग-रहित अपने स्वरूप में अनुराग कर और विषयगत इस राग को तोड़ दे ॥

भावितार्थ—जीव के संसार-राग और आत्म-वैराग्य ने ही इतना बड़ा अनर्थ खड़ा कर दिया है, उसे धराशायी करने के लिए संसार से रागानुबन्ध को तोड़कर परमात्मरूप से जोड़ देना पर्याप्त है, इस पावन पथ का पथिक एक-न एक दिन अपने गन्तव्य पर पहुँच ही जायगा ॥ ५६ ॥

[तत्त्वम्पदार्थशोधनम्]

वैराग्य के अनन्तर अवसर-प्राप्त पदार्थ-जिज्ञासा दिखाते हैं—

इत्युक्त्वोपरते गुरौ पुनरयं जिज्ञासया प्रेरितः
तत्त्वंशब्दनिगद्यलक्ष्यविषयं शिष्यो गुरुं पृच्छति ।
वैराग्येऽतिदृढीकृते सति यतः प्राज्ञो यतिर्मन्यते
संदीप्तं शिरसीव पावकमिदं संसारदुःखं महत् ॥ ५७ ॥

योजना—इत्युक्त्वा गुरौ उपरते अयं शिष्यः पुनः जिज्ञासया प्रेरितः गुरुं तत्त्वंशब्दनिगद्यलक्ष्यविषयं पृच्छति, यतः वैराग्ये अतिदृढीकृते सति प्राज्ञो यतिः इदं महत् संसारदुःखं शिरसि सन्दीप्तं पावकं मन्यते ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—यह सब कहकर गुरु के चुप हो जाने पर यह शिष्य पुनः जिज्ञासा से प्रेरित होकर गुरु से तत्त्वम्पदार्थ को पूछता है, क्योंकि वैराग्य के अत्यन्त दृढ़ हो जाने पर बुद्धिमान् यति इस महान् संसार-दुःख को मस्तक पर दहकती ज्वाला के समान मानने लगता है ॥

भावितार्थ—संसार से सर्वथा विरक्त व्यक्ति ही संसार से परे किसी शान्त तत्त्व की गवेषणा में निरत हो सकता है । उसके लिए योग्य गुरु से उस तत्त्व की जिज्ञासा करता है ॥ ५७ ॥

तत्त्वम्पदार्थ-जिज्ञासा में वैराग्य-साधन को हेतु बताते हैं—

वैराग्यं विषयेषु पूर्वमपि मे जातं हरेरर्चनात्
यज्ञादिक्रियया निरस्तफलया किं त्वद्य दार्ढ्यं गतम् ।
संसारस्य निरूपणेन धिगिदं कर्मादिजन्यं फलं
विश्वं नश्वरमम्बुबुद्बुदसमं पद्मासनान्तं जगत् ॥ ५८ ॥

योजना—निरस्तफलया यज्ञादिक्रियया हरेः अर्चनात् पूर्वम् अपि मे विषयेषु वैराग्यं जातम्, किन्तु अद्य संसारस्य निरूपणेन दार्ढ्यं गतम्—अम्वुबुद्बुदसमं नश्वरं कर्मादिजन्यं फलं विश्वं पद्मासनान्तं इदं जगत् धिक् ॥ (शा० वि० छ०) ॥

योजितार्थ—निष्काम यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान एवं परमेश्वर की उपासना द्वारा पहले भी मुझे विषयों से वैराग्य हुआ था, किन्तु अब संसार के निरूपण से वह दृढ़ हो गया है—जल बुद्बुद के समान नश्वर कर्मफलभूत समस्त ब्रह्मलोक-पर्यन्त इस जगत् को धिक्कार है ॥

भावितार्थ—वैराग्य दो प्रकार का होता है—अदृढ़ और दृढ़ । अदृढ़ वैराग्य से विषयों में उपादान-प्रवृत्ति न रह कर उपेक्षा हो जाया करती है और दृढ़ वैराग्य के उदय से विषयों की जिज्ञासा उत्पन्न होती है । निष्काम कर्मों के अनुष्ठान एवं प्रभुभक्ति से उत्पन्न अदृढ़ वैराग्य, संसार का वास्तव रूप सामने आते ही दृढ़ हो जाया करता है । उस दृढ़ वैराग्य के प्राप्त होते ही संसार को धिक्कारने लगता है ॥ ५८ ॥

संसार से ऊपर उठकर विरक्त पुरुष त्वंपदार्थ की जिज्ञासा करता है—

किन्तु त्वंपदलक्ष्यमर्थमधुना कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः
जाग्रद्भूगतयोरपोहमुखतो वाञ्छाऽवगन्तुं मम ।
कर्तृत्वादिकमस्य किं निजमभूत्स्वाभाविकं जाग्रतः
किं वा तत्परतः कुतश्चिदभवच्चैतन्यधातोरिति ॥ ५९ ॥

योजना–किंतु अधुना जाग्रद्भूगतयोः कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः अपोहमुखतः त्वंपदलक्ष्यम् अर्थम् अवगन्तुं मम वाञ्छा—अस्य जाग्रतः चैतन्यधातोः कर्तृत्वादिकं किं स्वाभाविकं निजम् अभूत् ? किं वा तत् कुतश्चित् परतः अभवत् इति ॥ (शा० वि० छं०) ॥

योजितार्थ—अब जाग्रदवस्थापन्न कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित त्वम्पद के लक्ष्य अर्थ को जानने के लिए वाञ्छा हुई है कि इस जाग्रदवस्थापन्न चैतन्य वस्तु में कर्तृत्वादि स्वाभाविक अपने धर्म हैं ? या वे किसी अन्य उपाधि के द्वारा प्राप्त हुए हैं—

भावितार्थ—इस चेतन में अनादि-सिद्ध कर्तृत्वादि धर्म स्वाभाविक हैं ? या औपाधिक ? यह जिज्ञासा होती है; क्योंकि जाग्रत् अवस्था में कर्तृत्वादि का भान होता है और सुषुप्त्यादि में भान नहीं होता ॥ ५९ ॥

त्वंपदार्थ-जिज्ञासा की आवश्यकता क्या ? "तत्त्वमसि" आदि वैदिक वाक्यों से अभिमत स्वात्मबोध हो ही जायगा, इस आक्षेप का परिहार करते हैं—

यावत्त्वंपदलक्ष्यवस्तुविषयो बोधो न मे वर्तते
तावन्मे बधिरेषु गीतमिव तच्छ्रौतं वचोऽनर्थकम् ।
तस्मात्त्वंपदलक्ष्यवस्तुविषयः कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः
जाग्रद्भूगतयोरपोहमुखतो बोधो ममोत्पाद्यताम् ॥ ६० ॥

योजना—यावत् त्वम्पदलक्ष्यविषयः बोधो मम न वर्तते, तावत् बधिरेषु गतीम् इव मे तत् श्रौतं वचः अनर्थकम्, तस्मात् जाग्रद्भूगतयोः कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः अपोहमुखतः त्वम्पदलक्ष्य-वस्तुविषयः बोधः मम उत्पाद्यताम् ॥ (शा० वि० छं०) ॥

योजितार्थ—जब तक त्वंपद के लक्ष्य का बोध मुझे नहीं होता, तब तक बधिर के लिए गीत के समान मेरे लिए वह वैदिक (तत्त्वमसि) वचन निरर्थक है, इसलिए जाग्रदवस्था के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का निरास करते हुए त्वंपद के लक्ष्य का बोध मुझे कराइए ॥

भावितार्थ—"यह मैं कर चुका", "यह कर रहा हूँ", "यह करूँगा" आदि प्रत्यक्ष अनुभवों "शास्त्रफलं प्रयोक्तरि" आदि न्यायों तथा "यजेत स्वर्गकामः" आदि वैदिक वाक्यों के आधार पर आत्मा में प्रमाणित त्रैकालिक कर्तृत्वादि का निरास कथमपि नहीं हो सकता—इस भूमि पर आरूढ शिष्य आत्मा में अकर्तृत्वादि के प्रतिपादक वैदिक वाक्यों को निरर्थक समझता हुआ गुरु से प्रार्थना करता है कि गुरुवर ! वेदान्त-वाक्यों का अर्थ मेरी बुद्धि में नहीं बैठता । कृपया यह समझाइए कि मेरी बुद्धि का दोष है ? या वेदान्त-वाक्य ही वैसे हैं ? ॥ ६० ॥

गुरु उत्तर देता है—

कर्त्रादेरवभासकत्वमगमः शुद्धः स्वयं भास्वरः
चैतन्येन निजेन तेन भवतः कर्त्रादिबुद्धिर्भ्रमः ।
कूटस्थस्य चिदात्मनस्तव कुतः कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः
शङ्का जागरितेऽपि कारकगणं कर्त्रादिकं पश्यतः ॥ ६१ ॥

योजना—(त्वम्) शुद्धः स्वयं भास्वरः निजेन चैतन्येन कर्त्रादेः अवभासकत्वम् अगमः, तेन भवतः कर्त्रादिबुद्धिः भ्रमः कर्त्रादिकं कारकगणं पश्यतः, कूटस्थस्य चिदात्मनः तव जागरितेऽपि कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः शङ्का कुतः ? (शा० वि० छं०) ॥

योजितार्थ—(हे शिष्य !) शुद्ध स्वयंप्रकाश स्वरूप तूने अपने चैतन्यरूप से कर्ता आदि की अवभासकता को प्राप्त किया है, अतः अपने में कर्तृत्वादि का भान आपका भ्रम है; क्योंकि कर्ता आदि कारक-वर्ग के साक्षी, चिदात्मस्वरूप तेरे में जाग्रत् काल में भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व की शंका क्योंकर हो सकती है ॥

भावितार्थ—जो शुद्ध = दृश्य-धर्म संसर्ग-रहित है, उसमें कर्तृत्वादि दृश्य धर्मों की सम्भावना नहीं हो सकती । जैसे कि सभा के भासक प्रदीप में सभासदों के विकार नहीं आया करते, वैसे ही कर्ता आदि के भासक साक्षी आत्मा में कर्तृत्वादि धर्म भी सम्भावित नहीं हैं । अतः आत्मा वस्तुतः कर्तृत्वादि-रहित है, उसके बोधक वेदान्त-वाक्य सार्थक हैं, प्रमाण हैं, उनके अर्थों को न समझने में बुद्धि-दोष ही कारण है ॥ ६१ ॥

कथित अर्थ को दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं—

व्यापारं सकलस्य भासयति यो भास्वत्करो भास्करो
नासौ कर्तृतया जनस्य विदितो भूमौ द्युलोकस्थितः ।
एवं स्वे महिमन्यवस्थितवतः संघातमुत्पश्यतः
स्वव्यापारसमन्वितं तव कुतः कर्तृत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ६२ ॥

योजना—द्युलोकस्थितः यो भास्वत्करो भास्करः सकलस्य व्यापारं भासयति, असौ भूमौ जनस्य कर्तृतया न विदितः, एवं संघातम् उत्पश्यतः स्वमहिमनि अवस्थितवतः तव स्वव्यापारसमन्वितं कर्तृत्वं कुतः उत्प्रेक्ष्यते ॥ (शा० वि० छं०) ॥

योजितार्थ—आकाश में स्थित जो देदीप्यमान भास्कर सकल जगत् के व्यापार को प्रकाशित करता है, वह भूमि पर स्थित जनवर्ग के कर्तृत्व से युक्त नहीं समझा जाता, इसीं प्रकार (हे शिष्य !) शरीरादि संघात जगत् के साक्षी, अपनी महिमा में अवस्थित तुझमें अपने व्यापार से समन्वित कर्तृत्व कैसे माना जा सकता है ?

भावितार्थ—यहाँ यह अनुमान विवक्षित है—"आत्मा कर्तृत्वादिशून्यः, तद्भासकत्वात्, यो यद् भासयति, स तद्धर्मा न भवति, यथा लोकव्यापारभासको भास्करः" अर्थात् जैसे सूर्य समस्त जगत् के व्यापार का भासक होने पर भी उस व्यापार से स्वयं लिप्त नहीं होता, वैसे ही कर्तृत्वादि सकल धर्मों का प्रकाशक साक्षी कर्तृत्वादि धर्मों से सम्बद्ध नहीं होता ॥ ६२ ॥

तब कर्तृत्वादि-धर्म किसके हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

भूतानि पञ्च तव मोहसमुद्भवानि
संघातरूपपरिणाममुपागतानि ।
कुर्वन्ति कर्मफलमश्नुवते च तेषां
साक्षी त्वमन्तरविलुप्तचिदेकरूपः ॥ ६३ ॥

योजना—तव मोहसमुद्भवानि पञ्चभूतानि संघातरूपपरिणामम् उपागतानि कर्म कुर्वन्ति, फलम् अश्नुवते च, तेषां अविलुप्तचिदेकरूपः त्वम् अन्तः साक्षी (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—हे शिष्य ! तेरे अज्ञान से जन्य पाँच भूत शरीरात्मक संघातरूप में परिणत होकर कर्म करते हैं और कर्म-फल पाते हैं, उन भूतों का नित्य चिन्मात्र स्वरूप तू अन्तः साक्षी है ॥

भावितार्थ—कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि वस्तुतः पाञ्चभौतिक शरीर के धर्म हैं, शरीर का तादात्म्याध्यास होने के कारण आत्मा में कर्तृत्वादि प्रतिभासित होते हैं, अध्यास की निवृत्ति हो जानें पर सत्य का प्रकाश होता है ॥ ६३ ॥

शरीर जड़ है, अतः इसमें कर्तृत्वादि कैसे बनेंगे ? इसका उत्तर है—

क्षीरस्य पूर्णे चषके निरस्तो
मणिर्यथा मारकतो महार्हः ।
क्षीरं समस्तं क्षणमात्रतस्तत्
करोति तच्छायमनूनतेजाः ॥ ६४ ॥

तथा तमःसंभवमच्छमन्तः
बहिर्जडिम्नाऽन्वितमन्तरात्मा ।
जगच्चिदेकच्छवि चित्स्वरूपः
करोति सान्निध्यवशेन विश्वम् ॥ ६५ ॥

योजना—यथा क्षीरस्य[1] पूर्णे चषके निरस्तः महार्हः अनूनतेजाः, मारकतो मणिः तत् समस्तं क्षीरं क्षणमात्रतः [2]तच्छायं करोति; तथा चित्स्वरूपः अन्तरात्मा सान्निध्यवशेन तमःसम्भवं विश्वं जगद् बहिः जडिम्ना अन्वितम् अन्तः अच्छं चिदेकच्छवि करोति ॥ (उपजातिवृत्ते) ॥

योजितार्थ—जैसे दुग्धपूर्ण प्याले में निक्षिप्त बहुमूल्य उज्ज्वल मरकतमणि उस समस्त दुग्ध को क्षणमात्र में अपने रंग का बना देता है, वैसे ही चित्स्वरूप अन्तरात्मा भी अपवें सान्निध्यमात्र से अज्ञान के कार्यभूत समस्त प्रपञ्च—जो बाहर से जड़ है, को अन्दर से अत्यन्त स्वच्छ चैतन्य-जैसा बना देता है ॥

भावितार्थ—जैसे कि मरकतमणि की छाया पाकर दूध मरकतमणि के समान ही हो जाता है, वैसे ही चैतन्य की छाया पाकर जड़ शरीर भी चैतन्य के समान ही हो जाया करता है ॥ ६४, ६५ ॥

---

[1] तृतीयार्थे षष्ठीः । [2] तस्य मणेः छायेवच्छाया यस्य क्षीरस्य तत् ।

सभी शरीरों में एक ही आत्मा लोक-प्रसिद्ध नहीं, अपितु शरीर के भेद से आत्मा का भेद अनुभव में आता है, तब अभेद-बोधक श्रुतियों का संगमन कैसे होगा ? इस शंका का समाधान है—

तान्येव कार्यकरणानि बहुप्रकारं
भेदं च बिभ्रति भवानपि तत्र लग्नः।
भेदेन भाति जलपात्रनिविष्टमूर्ति-
मार्तण्डमण्डलवदन्वयमन्तरेण ॥ ६६ ॥

योजना—तान्येव कार्यकरणानि बहुप्रकारं भेदं बिभ्रति, भवान् अपि तत्र अन्वयमन्तरेण लग्नः जलपात्र-निविष्टमूर्तिमार्तण्डमण्डलवद् भेदेन भाति ॥ (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—वे ही कार्य-कारणात्मक पञ्चभूत अनेक देव-मनुष्यादि भेदों को धारण करते हैं, आप भी उनमें वास्तविक सम्बन्ध के बिना ही अभिमान करके जल-पात्रों में प्रतिबिम्बित मार्तण्ड-मण्डल के सामान भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत होते हैं ॥

भावितार्थ—सूर्य में औपाधिक भेद के समान ही आत्मा में औपाधिक भेद प्रतीत होता है, वस्तुतः आत्मा एक है, अभिन्न है, श्रुतियों में वर्णित आत्माभेद वास्तविक ही है।

उपाधिगत भेदों का आरोप आत्मा में क्यों हुआ ? यह दिखाते हैं—

अध्यात्ममेवमधिभूतमथाधिदैवं
सूत्रं विराजमपि पश्यसि साक्षिभूतः।
साक्षित्वकारणमशेषजगन्निदानम्
अज्ञानमात्मचिदवज्ज्वलितं सदैव ॥ ६७ ॥

योजना—अध्यात्मम् अधिभूतम् अधिदैवं सूत्रं विराजम् अपि साक्षिभूतः पश्यसि। साक्षित्वकारणं सदैव आत्मचिदवत् ज्वलितं जगन्निदानम् अज्ञानम् ॥ (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—अध्यात्म (देहादि), अधिभूत (आकाशादि), अधिदैव (सूर्यादि), सूत्रात्मा तथा विराट्—इन सब को साक्षिभूत होकर तू देखता है। साक्षित्व का कारण सदैव चिदाभास-युक्त जगत्कारण अज्ञान ही है ॥

भावितार्थ—अध्यात्मादि भेद-भिन्न प्रपञ्च का साक्षी होने के कारण आत्मा में उन भेदों का आरोप हो गया, इसका कारण एकमात्र साभास अज्ञान ही माना जाता है ॥६७॥

भेदों को आरोपित तब कहा जा सकता है, जब कि आत्मा का अभेद प्रमाणित हो, किन्तु आत्मा की एकता में कोई प्रमाण नहीं, इस आक्षेप का निराकरण करते हैं—

देहव्यक्तिर्विप्रतीत्यास्पदत्वं
याता सर्वा तावकी तावकीव।
देहव्यक्तिर्देहताकारणेन
तस्मादात्मा सर्वभूतस्थ एकः ॥ ६८ ॥

योजना—विप्रतीत्यास्पदत्वं याता सर्वा देहव्यक्तिः तावकी देहताकारणेन तावकीव, तस्मात् आत्मा सर्वभूतस्थ एकः ॥ (शालिनीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—(हे शिष्य !) विवादास्पद सभी देह-व्यक्तियाँ तुम्हारी ही (तुम्हारे आत्मा से युक्त) हैं, देहता से युक्त होने के कारण, जैसे कि तुम्हारी देहव्यक्ति, इसलिए आत्मा सर्व भूतों में एक ही है ॥

भावितार्थ—शिष्य की देहव्यक्ति को दृष्टान्त बनाकर अन्य समस्त देह-व्यक्तियों में एक आत्मा का अनुमान किया गया—"अन्यानि शरीराणि त्वदात्मवन्ति, शरीरत्वात्, तावकशरीरवत्" अर्थात् सभी दूसरे शरीर हमारे आत्मा से युक्त हैं, क्योंकि वे भी शरीर ही हैं, जैसे कि हमारा शरीर—इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति समस्त शरीरों में एक आत्मा का अनुमान कर सकता है ॥ ६८ ॥

कोई आक्षेप कर सकता है कि "अन्यानि स्थूलशरीराणि त्वदिन्द्रिययुक्तानि शरीरत्वात् तव शरीरवत्" इस अनुमानाभास के समान ही उक्त अनुमान है, तो इस आक्षेप का परिहार करने के लिए अन्य अनुमान किये जाते हैं—

संविद्व्यक्तिर्विप्रतीत्यास्पदत्वं
यातां सर्वा तावकी तावकीव ।
संविद्व्यक्तिः संविदात्मत्वहेतोः
तस्मादात्मा सर्वभूतस्थ एकः ॥ ६९ ॥

योजना—विप्रतीत्यास्पदत्वं याता सर्वा संविद्व्यक्तिः तावकी संविदात्मत्वहेतोः तावकी संविद्व्यक्तिरिव, तस्माद् आत्मा सर्वभूतस्थः एकः ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—विवादास्पद सर्व ज्ञानव्यक्तियाँ तुम्हारी (तुम्हारे आत्मा से अभिन्न) हैं; क्योंकि उनमें संविद्रूपत्व है, जैसे कि तुम्हारी संविद्व्यक्ति, इसलिए आत्मा सर्वभूतों में एक ही स्थित है ॥

भावितार्थ—यहाँ संवित् पद से अनावृत चिद्व्यक्ति का ग्रहण किया गया है ॥ ६९ ॥

अन्तःकरणादि पक्षों में भी कथित साध्य सिद्ध किया जाता है—

[1]बुद्धिव्यक्तिर्विप्रतीत्यास्पदत्वं
याता सर्वा तावकी तावकीव ।
बुद्धिर्व्यक्तिर्बुद्धिताकारणेन
तस्मादात्मा सर्वभूतस्थ एकः ॥ ७० ॥

अक्षव्यक्तिर्विप्रतीत्यास्पदत्वं
याता सर्वा तावकी तावकीव ।
अक्षव्यक्तिस्त्वक्षताकारणेन
तस्मादात्मा सर्वभूतस्थ एकः ॥ ७१ ॥

---

[1] इन श्लोकों का योजितार्थ गत ६८ और ६९ श्लोकों के समान ही है, केवल पक्षादि व्यक्तियों का परिवर्तन है, जो कि अत्यन्त स्पष्ट है, अतः इनकी योजना पृथक् नहीं की गई है ।

ज्ञानव्यक्तिर्विप्रतीत्यास्पदत्वं
यातः सर्वा तावकी तावकीव ।
ज्ञानव्यक्तिर्ज्ञानताकारणेन
तस्मादात्मा सर्वभूतस्थ एकः ॥ ७२ ॥

रागव्यक्तिर्विप्रतीत्यास्पदत्वं
याता सर्वा तावकी तावकीव ।
रागव्यक्ती रागताकारणेन
तस्मादात्मा सर्वभूतस्थ एकः ॥ ७३ ॥

द्वेषव्यक्तिर्विप्रतीत्यास्पदत्वं
याता सर्वा तावकी तावकीव ।
द्वेषव्यक्तिर्द्वेषताकारणेन
तस्मादात्मा सर्वभूतस्थ एकः ॥ ७४ ॥

भावितार्थ—७० वें पद्य में 'बुद्धि' पद से अन्तःकरण, ७१ वें में 'अक्ष' पद से सभी इन्द्रियाँ, ७२ वें में 'ज्ञान' पद से बुद्धि-वृत्ति, ७३ वें पद्य में 'राग' पद से इच्छा तथा ७४ वें पद्य में 'द्वेष' पद से 'मत्सर' का ग्रहण किया गया है। ग्रन्थकार का यह प्रयोग-प्रयास एक विस्तृत क्षेत्र की ओर संकेतमात्र है, इसी आधार पर प्रत्येक इन्द्रिय प्रत्येक वृत्ति आदि को पक्ष बनाकर अनुमान-प्रयोग रचे जा सकते हैं, जैसे—

चक्षुर्व्यक्तिर्विप्रतीत्यास्पदत्वम् ।
याता सर्वा तावकी तावकीव ।
चक्षुर्व्यक्तिश्चक्षुषात्मत्वहेतोः
तस्मादात्मा सर्वभूतस्थ एकः ॥ १ ॥
श्रोत्रव्यक्तिर्विप्रतीत्यास्पदत्वं
याता सर्वा तावकी तावकीव ।
श्रोत्रव्यक्तिः श्रोत्रताकारणेन
तस्मादात्मा सर्वभूतस्थ एकः ॥ २ ॥
घ्राणव्यक्तिर्विप्रतीत्यास्पदत्वं
याता सर्वा तावकी तावकीव ।
घ्राणव्यक्तिर्घ्राणताकारणेन,
तस्मादात्मा सर्वभूतस्थ एकः ॥ आदि-आदि ॥ ७०-७४ ॥

फलितार्थ दिखाते है—

एवं सतीदमविवेकनिबन्धनं ते
कर्तृत्वमात्मनि विभाति न वस्तुभूतम् ।
बालेन कल्पितमतीव विशुद्धरूपे
व्योम्नीव भम्नि मलिनत्वमबोधहेतोः ॥ ७५ ॥

योजना—एवं सति विशुद्धरूपे व्योम्नि अबोधहेतोः बलेन कल्पितं मलिनत्वमिव भूम्नि आत्मनि ते अविवेकनिबन्धनम् इदं कर्तृत्वं विभाति, वस्तुभूतं न ।। (वसन्ततिलका)

योजितार्थ—इस प्रकार विशुद्ध आकाश में अबोध के कारण बलपूर्वक कल्पित नीलत्व के समान ही भूमरूप आत्मा में तेरे अविवेक से कल्पित यह कर्तृत्व प्रतीत होता है, वास्तविक नहीं है ।।

भावितार्थ—कर्तृत्वादि का भेद अपने आश्रय के भेद की अपेक्षा करता है, किन्तु आश्रयभूत आत्मा सर्वत्र एक ही है—यह ऊपर सिद्ध किया जा चुका है, अतः कर्तृत्व-भेद कथमपि आत्मा में सिद्ध नहीं हो सकता ।। ७५ ।।

यदि कतृत्व-भोक्तृत्वादि धर्म शरीर के ही हैं, तब आत्मा की अपेक्षा क्या ? शरीरादि का प्रकाश तो आदित्यादि बाह्य जोतियों से ही हो सकता है, इस सन्देह को दूर करते हैं—

बाह्यैरसौ रविनिशाकरवह्निवाग्भि।
ज्योतिर्गणैरुपकृतोऽपि हि कर्मजातम् ।
निर्वर्तयन्न खलु तावकमन्तरेण
चैतन्यसन्निधिबलं पुरुषः करोति ।। ७६ ।।

योजना—बाह्यैः रविनिशाकरबह्निवाग्भिः ज्योतिर्गणैः उपकृतोऽपि असौ पुरुषः हि कर्मजातं निर्वर्तयन तावकं चैतन्यसन्निधिबलम् अन्तरेण न करोति खलु ।। (वसन्ततिलका)

योजितार्थ—बाह्य रवि, चन्द्र, वह्नि और वागादि ज्योतिर्गणों से उपकृत होकर भी यह शरीररूपी पुरुष कर्मसमूह का सम्पादन करता हुआ भी तेरे चैतन्याध्यास-बल के बिना नहीं करता ।।

भावितार्थ—श्रुति कहती है कि "अस्तमिते आदित्ये याज्ञवल्क्य ! चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किं ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवाऽस्य ज्योतिर्भवति" (बृह० ४।३।५) अर्थात् याज्ञवल्क्य से जिज्ञासा की गई कि सूर्यादि बाह्य ज्योतियों के अस्त हो जाने पर इस पुरुष का प्रकाशक कौन होता है ? उत्तर मिला कि आत्मा ही प्रकाशक है। अतः सिद्ध होता है कि आत्मज्योति के बिना यह पुरुष कुछ भी नहीं कर सकता ।। ७६ ।।

तब बाह्य ज्योतियों की क्या आवश्यकता ? इस शंका का समाधान है—

ज्योतिर्द्वयान्तरित एव हि कर्मजातं
सर्वं करोति पुरुषोऽन्नमयः सदैव ।
कर्मादिकारणविनिमितमस्य बाह्यं
ज्योतिस्त्वनित्यमनिमित्तकमान्तरं चित् ।। ७७ ।।

योजना—अन्नमयः पुरुषः सदैव ज्योतिर्द्वयान्तरितः एव हि सर्वं कर्मजातं करोति। अस्य बाह्यं ज्योतिस्तु अनित्यम्, आन्तरं चित् अनिमित्तकम् ।। (वसन्ततिलका) ।।

योजितार्थ—स्थूलसंघातस्वरूप पुरुष सदैव जड़ और अजड़ दोनों ज्योतियों से व्याप्त होकर ही समस्त कर्म-समूह को करता है। इसकी बाह्यज्योति तो अनित्य है सुषुप्त्यादि-व्यवहार का साधन नहीं कर सकती और इन्द्रिय-प्रवृत्ति में चिद्रूप आन्तर ज्योति अनिमित्त है ।।

भावितार्थ—स्वप्न, सुषुप्ति आदि के व्यवहारों में बाह्यज्योति निमित्त नहीं हो सकती, क्योंकि वह अनित्य है, सदैव रहती नहीं और आत्मज्योति बाह्य इन्द्रियों के व्यापार में सक्षम नहीं, अतः दोनों ज्योतियों की सिद्धि हो जाती है ॥ ७७ ॥

शब्दादि विषयों का स्फुरण यदि आत्मस्वरूप है, तब आत्मा को जन्य मानना होगा, क्योंकि शब्दादि का स्फुरण जन्य होता है, इस सन्देह का परिहार करते हैं—

श्रोत्रादिजन्यमतिवृत्तिषु बाह्यशब्दा-
द्यर्थाकृतिर्विशति कर्मवशेन कर्त्तुः ।
बोधाकृतिस्तु तव सन्निधिमात्रहेतुः
धीवृत्तिषु प्रविशति स्वरसेन नित्यम् ॥ ७८ ॥

योजना—कर्त्तुः कर्मवशेन श्रोत्रादिजन्यमतिवृत्तिषु बाह्यशब्दाद्यर्थाकृतिः विशति, बोधाकृतिस्तु तव सन्निधिमात्रहेतुः नित्यं स्वरसेन प्रविशति ॥ (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—कर्त्ता के कर्मों से जन्य, श्रोत्रादिद्वारक अन्तःकरणवृत्तियों में बाह्य शब्दादि पदार्थों का आकार प्रविष्ट होता है, किन्तु (उन वृत्तियों में) चैतन्याकार नित्य स्वभावतः प्रविष्ट होता है ॥

भावितार्थ—जाग्रत् के भोग-साधक कर्म श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा अन्तःकरण की वृत्तियों को उत्पन्न किया करते हैं, उन कर्मों के न रहने से स्वप्नादि में बाह्य शब्दादि के आकार की वृत्तियाँ उत्पन्न नहीं होतीं। उन वृत्तियों की उत्पत्ति होने पर भी वृत्तियों में प्रतिफलित चेतन उत्पन्न नहीं होता, अपितु अभिव्यक्त हुआ करता है, अतः वह जन्य क्यों होगा ?[1] ॥ ७८ ॥

कथित अर्थ को दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं—

स्वाभाविकी हि वियदन्वितता घटादेः
क्षीरादिवस्तुघटना पुनरन्यहेतुः ।
एवं धियामपि चिदन्वितताऽनिमित्ता
शब्दादिवस्तुघटना खलु कर्महेतुः ॥ ७९ ॥

योजना—घटादेः वियदन्वितता हि स्वाभाविकी क्षीरादिवस्तुघटना पुनः अन्यहेतुः, एवं धियां चिदन्वितता अपि अनिमित्ता, शब्दादिवस्तुघटना कर्महेतुः खलु ॥ (वसन्तति०)

योजितार्थ—जैसे घटादि के साथ आकाश का सम्बन्ध स्वाभाविक है, किन्तु क्षीर आदि का सम्बन्ध—अन्यहेतुक है, वैसे ही बुद्धिवृत्तियों के साथ चैतन्य का सम्बन्ध भी स्वाभाविक है और शब्दादि विषयों का सम्बन्ध कर्महेतुक है।

---

[1] शबरस्वामी ने कहा—"निराकारा च नो बुद्धिराकारवान् बाह्योऽर्थः" (शाबर भा० जै० सू० १।१।५) अर्थात् बुद्धि स्वतः निराकार और निराभास होती है, उसमें अनुभूयमान (घटादि का) आकार घटादि के सान्निध्य से आता है, घटादि का सान्निध्य कर्मों से जन्य होता है, अतः बुद्धिगत आकार भी जन्य माना जाता है, किन्तु बुद्धिगत आभास जिस चेतन की सन्निधि से प्रयुक्त होता है, वह नित्य सन्निहित होता है, अतः वह आभास जन्य नहीं माना जाता, अपितु नित्य है।

भावितार्थ—कादाचित्क पदार्थ को जन्य माना जाता है, घट के साथ दूध आदि का सम्बन्ध कादाचित्क है, अर्थात् घट के साथ दूध का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं, दूध से शून्य भी घट अनुभव में आता है, किन्तु आकाश से शून्य घट का कभी अनुभव नहीं होता, अतः मानना होगा कि उत्पत्तिकाल से ही घट के साथ आकाश का सम्बन्ध है, आकाश में उत्पन्न होता हुआ घट सदैव आकाश-सम्बन्धी ही बनेगा। इसी प्रकार विभु चैतन्य के साम्राज्य में उत्पन्न होनेवाली बुद्धि भी स्वभावतः चैतन्य-सम्बद्ध ही उत्पन्न होती है, केवल विषय सम्बन्ध कादाचित्क होता है ॥ ७९ ॥

बुद्धि-वृत्तियों में बोधाकार फल चेतन के नाम से प्रसिद्ध है—

संवेदनं यदिह मानफलं प्रसिद्धं
तच्च प्रमातरि विकारिणि निष्ठितं नः ।
तस्य प्रमातुरपि साक्षितयाऽन्तरात्मा
सर्वस्य तिष्ठति भवानविकाररूपः ॥ ८० ॥

योजना—इह यत् संवेदनं मानफलं प्रसिद्धम्, तच्च नः विकारिणि [1]प्रमातरि निष्ठितम्, तस्य सर्वस्यापि प्रमातुः साक्षितया अन्तरात्मा अविकाररूपः भवान् तिष्ठति ॥ (वसन्ततिलकाछन्दः) ॥

योजितार्थ—यहाँ (वेदान्त-सिद्धान्त में) जो 'प्रमा' नाम से प्रमाण-फल प्रसिद्ध है, वह हमारे मत से विकारी प्रमाता में स्थित है, उस समस्त प्रमातृत्वादि के साक्षी होकर अन्तरात्मस्वरूप, निर्विकार आप विराजमान हैं ॥

भावितार्थ-अन्तःकरणावच्छिन्नचेतन प्रमाता कहलाता है, अन्तःकरण की विकारभूत वृत्ति में जो विषय-प्रकाशक चेतन अभिव्यक्त होता है, वह फल कहा जाता है, वही मुख्य संवेदन (ज्ञान) है, उसकी व्यंजिका वृत्ति को भी ज्ञान कह दिया जाता है, "घटमहं जानामि"="घटज्ञानवाहनम्" यहाँ जिस ज्ञान की आश्रयता प्रमाता में प्रतीत होती है, वह संवेदन वही है, इस प्रकार मान-फलरूप संवेदन का आश्रय प्रमाता सिद्ध होता है॥८०॥

इस प्रकार कर्तृत्वादि धर्म अन्तःकरण में सिद्ध होते हैं, आत्मा में नहीं, फिर आत्मा में उनका निषेध कैसे बनेगा ? क्योंकि वहाँ वे प्रसक्त ही नहीं, इस शंका का निराकरण करते हैं—

कर्त्रादिसन्निधिबलेन तवापि कर्तृ-
भोक्तृप्रमातृवपुरापतति क्रमेण ।
तद्बुद्धिसंश्रयमनात्मगतं प्रतीचि
शुद्धेऽपि पश्यसि तमःपटलावृताक्षः ॥ ८१ ॥

योजना—कर्त्रादिसन्निधिबलेन तवापि क्रमेण कर्तृभोक्तृप्रमातृवपुः आपतति, तत् बुद्धिसंश्रयम् अनात्मगतं शुद्धेऽपि प्रतीचि तमःपटलावृताक्षः पश्यति ॥ (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—कर्त्ता आदि की सन्निधि के बल पर तुझ (आत्मा) में भी परम्परा से

---

[1] "प्रमाणात्मकवृत्त्याश्रयो हि प्रमाता, वृत्तिश्च परिणामः प्रमातृविकार एवेति सविकार एव प्रमाता भवति"। अ० टी०

कर्तृत्व भोक्तृत्व आ जाता है। वह (कर्तृत्व-भोक्तृत्व) बुद्धिगत है, अनात्मवृत्ति है, फिर भी शुद्ध प्रत्यगात्मा में (हे शिष्य !) अनावृत्त चक्षु से तू देखता है ॥

भावितार्थ—आत्मा में कर्तृत्वादि की प्रतीति अविवेक-निबन्धन है, वास्तविक नहीं। बुद्धि और बुद्धिगत आभास में कर्तृत्वादि हैं, उनका आत्मा में परम्पर से अनवय होता है। अर्थात् आभास और आत्मा को एक समझकर आत्मा में आभास के धर्मों का व्यवहार होता है ॥ ८१ ॥

आत्मा में पारमार्थिक कर्तृत्वादि नहीं बनते—

कर्तृत्वादि च दृश्यवर्गपतितं द्रष्टुः स्वभावः कथं
संभाव्येत तव प्रसन्नविमलस्वच्छप्रकाशात्मनः ।
यद्यद् दृश्यतया जगत्यभिमतं सर्वस्य तत्तद्भवेद्
दूरं द्रष्टुरिति प्रसिद्धमखिलं भूभृत्समुद्रादिकम् ॥ ८२ ॥

योजना—दृश्यवर्गपतितं कर्तृत्वादि च प्रसन्नविमलस्वच्छप्रकाशात्मनः तव द्रष्टुः कथं संभाव्येत ? जगति यद् यद् दृश्यतया अभिमतं भूभृत्समुद्रादिकम् तद् अखिलं द्रष्टुः दूरे इति प्रसिद्धम् ॥ (शार्दूलविक्रीडितम्) ॥

योजितार्थ—दृश्य-वर्ग प्रविष्ट कर्तृत्वादि, प्रसन्न विमल स्वच्छ प्रकाशस्वरूप तुझ द्रष्टा में कैसे संभावित होंगे ? जगत् में जो-जो दृश्य माना जाता है—पर्वत, समुद्र आदि, वह सब द्रष्टा से दूर हैं—ऐसा प्रसिद्ध है ॥

भावितार्थ—दृश्य कभी भी द्रष्टा या द्रष्टा का धर्म नहीं हो सकता। कर्तृत्वादि समस्त धर्म दृश्य हैं, अतः वे अनात्मवृत्ति ही होंगे, आत्मवृत्ति नहीं ॥ ८२ ॥

स्वप्न के दृष्टान्त से भी यही सिद्ध होता है—

एतस्माच्च न जाग्रतस्तव भवेत्स्वाभाविकी कर्तृता
यद्येषा स्वत एव किं न भवति स्वप्नेऽपि ते तिष्ठतः ।
यत्स्वप्ने परिपश्यसि त्वमखिलं त्वन्मायया निर्मितं
कर्तृत्वादि न सत्यमत्र घटते कार्त्स्न्यानभिव्यक्तितः ॥ ८३ ॥

योजना-एतस्मात् च जाग्रतः तव कर्तृता स्वाभाविकी न भवेत्, यदि एषा स्वतः एव स्वप्नेऽपि तिष्ठतः तत् किं न भवति ? यत् त्वं स्वप्ने पश्यसि, तत् अखिलं मायया निर्मितम्, अत्र कर्तृत्वादि सत्यं न घटते, कार्त्स्न्यानभिव्यक्तितः ॥ (शा० वि० छं०) ॥

योजितार्थ—इसलिए जाग्रदवस्थापन्न तुझमें कर्तृता स्वाभाविक नहीं हो सकती, यदि यह (कर्तृता) स्वाभाविक ही है, तब स्वप्न अवस्था में स्थित तुझमें क्यों नहीं होती ? जो तुम स्वप्न में देखते हो, वह समस्त माया से निर्मित है, आत्मा में कर्तृत्वादि सत्य नहीं बन सकते, क्योंकि सूत्रकार ने कहा है—'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" (ब्र० सू० ३।२।३) अर्थात् निखिल स्वप्न-प्रपञ्च मायामात्र है, क्योंकि स्वप्नदृष्ट पदार्थ सम्पूर्णतया प्राप्त होते नहीं पाये जाते ॥

भावितार्थ—ऐन्द्रजालिक के खेल में नियत सामग्री के विना ही बने पदार्थों को प्रत्येक व्यक्ति मायिक मानता है, स्वप्न में भी अश्व-गज आदि की सृष्टि अपनी उचित

सामग्री के बिना ही बनी होती है, अतः वह भी मायिक है, वैसे ही जाग्रत्काल के कर्तृत्वादि भी आत्मा में आरोपितमात्र हैं, वास्तविक नहीं ॥ ८३ ॥

हेतुरूप से उद्धृत सूत्रार्थ को स्पष्ट करते हैं—

कात्स्न्यं हीष्टमबाधनं न खलु तत्स्वप्नस्य जाग्रद्धिया
बाधाद् बाधितमेव सत्यमिति चेन्नैवं विरोधान्मिथः ।
सत्यत्वे न हि बाधितत्वघटना बाधे च सत्यं कुतः
सत्यं बाधितमित्यतीव पदयोः सम्बन्धिता दुर्घटा ॥ ८४ ॥

योजना—अबाधनं हि कात्स्न्यम् इष्टम्, तत् स्वप्नस्य न खलु; जाग्रद्धिया बाधात् । बाधितमेव सत्यमिति चेत्, न, एवं मिथो विरोधात्—सत्यत्वे बाधितत्वघटना न हि, बाधे च सत्यत्वं कुतः ? सत्यं बाधितम्—इति पदयोः सम्बन्धिता अतीव दुर्घटा ॥ (शार्दूल०) ॥

योजितार्थ—(प्रतीयमान समुचित देश-काल आदि का) बाध न होना ही कात्स्न्य माना जाता है, वह (बाध न होना) स्वप्न में नहीं क्योंकि जाग्रत्काल के ज्ञान से उसका बाध हो जाता है। बाधित भी सत्य है—ऐसा यदि कहें, तो उचित नहीं, क्योंकि परस्पर विरोध है—सत्य होने पर बाधितत्व घटता नही और बाध होने पर सत्यत्व कैसे ? "सत्यं बाधितम्"—इन दो पदों का सम्बन्ध ही अतीव दुर्घट है ॥

भावितार्थ—सत्य और मिथ्या की परिभाषा यही बनाई गई है कि जो किसी प्रमाण से बाधित नहीं, वह सत्य है और जो बाधित होता है, वह मिथ्या है। स्वप्न में जो पदार्थ प्रतीत होते हैं, उनका जाग्रत्काल में बाध होता है, अतः वे मिथ्या हैं। बाधित को सत्य कदापि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बाधित को सत्य कहना उतना ही असम्भव है, जितना कि प्रकाश को अन्धकार कहना ॥ ८४ ॥

सूत्रकार ने स्वप्न को जो मायामात्र कहा, उससे स्वप्न में मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" (श्वेता० ४।१०) आदि श्रुतियों के आधार पर समस्त जाग्रत्प्रपञ्च ही मायामात्र है, फिर भी वह सत्य है, इस आक्षेप का समाधान करते हैं—

मायामेनां जागरे लोकसिद्धाम्
उक्त्वा तद्वत्स्वप्नमायां विविच्य ।
शक्तिव्याप्ती तत्र सिद्धे गृहीत्वा
मायासिद्धं जागरं साधयामः ॥ ८५ ॥

योजना—जागरे लोकसिद्धाम् एनां मायाम् उक्त्वा तद्वत् स्वप्नमायां विविच्य, तत्र सिद्धे शक्तिव्याप्ती गृहीत्वा जागरं मायासिद्धं साधयामः ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—जाग्रत्काल में लोक-प्रसिद्ध इस ऐन्द्रजालिक माया को कहकर, उसके समान स्वप्न-माया का विवेचन करके, वहाँ सिद्ध शब्द-शक्ति तथा व्याप्ति का ग्रहण करके आकाशादि जाग्रत्पदार्थों में माया-रचितत्व सिद्ध करते हैं।

भावितार्थ—वैदिक पदों का अर्थ समझने के लिए लोक-प्रचलित पदों का सहारा लिया जाता है, 'माया' पद का अर्थ जानने के लिए ऐन्द्रजालिक की लोक-प्रसिद्ध माया पर ध्यान जाता है, अर्थात् 'माया' शब्द का अर्थ मिथ्या ही ठहरता है, स्वप्न-प्रपञ्च भी मिथ्या है,

अतः वह भी मायिक है। इस प्रकार मिथ्या प्रपञ्च में माया शब्द की शक्ति तथा माया-मयत्व की मिथ्यात्व के साथ व्याप्ति का ग्रहण करके जाग्रत्प्रपञ्च को माया-रचित मिथ्या सिद्ध किया जाता है ॥ ८५ ॥

साधन-प्रकार दिखाते हैं—

लोके हि मायाधिगता न माया
तमोऽतिरिक्ताऽस्ति निरूप्यमाणा ।
व्याप्तिश्च शक्तिश्च निरूप्यमाणा
भविष्यतीहैव तु नेतरत्र ॥ ८६ ॥

योजना—लोके हि माया अधिगता, निरूप्यमाणा माया तमोऽतिरिक्ता नास्ति, व्याप्तिश्च शक्तिश्च निरूप्यमाणा इहैव भविष्यति, इतरत्र न ॥ (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—लोक में माया प्रसिद्ध है, निरूपण करने पर वह माया अविद्या से अतिरिक्त नहीं ठहरती, व्याप्ति और शक्ति वहीं होगी, अन्यत्र नहीं ॥

भावितार्थ—'माया' शब्द का शक्तिग्रह तथा माया-रचित पदार्थ में मिथ्यात्व की व्याप्ति लोक-प्रसिद्ध ऐन्द्रजालिक माया-स्थल पर ही होती है, अन्यत्र नहीं ॥ ८६ ॥

ऐन्द्रजालिक की मणि-मन्त्र आदि सामग्री को जिसके आधार पर वह खेल दिखाता है माया क्यों न मान लिया जाय? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

मायाविनो न मणिमन्त्रमथौषधं वा
मायेति शक्यमिह वर्णयितुं कुतश्चेत् ।
सत्यं हि तत्सकलमिष्टमियं त्वसत्या
माया ततोऽन्यदिह किंचन वर्णनीयम् ॥ ८७ ॥

योजना—इह मायाविनः मणिमन्त्रम् औषधं वा मायेति वर्णयितुं न शक्यम् । कुतः? चेत्; हि तत्सकलं सत्यम् इष्टम्, इयं माया तु असत्या, ततः इह अन्यत् किंचन वर्णनीयम् ॥

योजितार्थ—मायावी के मणि-मन्त्र या जड़ी-बूटी का 'माया' शब्द से वर्णन नहीं किया जा सकता। क्यों? यदि पूछा जाय, तो वह सकल (मणि-मन्त्र आदि) सत्य देखा जाता है, किन्तु यह माया असत्य होती है, अतः वहाँ मणि आदि से भिन्न ही कुछ माया का अर्थ कहना चाहिए ॥

भावितार्थ—"माया मया दृष्टा"—इस प्रकार लोक में 'माया' शब्द का व्यवहार सदैव मिथ्या पदार्थों में ही हुआ करता है। ऐन्द्रजालिक की सामग्री वैसी नहीं, अतः उससे भिन्न माया का स्वरूप स्थिर करना होगा। उससे अतिरिक्त अज्ञान ही 'माया' पदार्थ निश्चित होता है ॥ ८७ ॥

ऐन्द्रजालिक की शक्ति को भी माया नहीं कह सकते—

सामर्थ्यमस्य मणिमन्त्रनिमित्तमस्ति
माया भविष्यति जनभ्रमहेतुरेषा ।
इत्युच्यते यदि तदप्यतिफल्गु कस्मात्
सामर्थ्यमप्यवितथं हि तदिष्टमस्य ॥ ८८ ॥

योजना—अस्य मणिमन्त्रनिमित्तं सामर्थ्यम्, एषा जनभ्रमहेतुः माया भविष्यतीत्युच्यते यदि, तदपि अति फल्गु, कस्मात् ? अस्य हि तत् सामर्थ्यम् अपि अवितथम्-इष्टम् ।। (वसन्ततिलका) ।।

योजितार्थ—इस (नट) के मणि-मन्त्र आदि के आधार पर प्राप्त शक्ति ही जनभ्रम की हेतुभूत माया होगी—ऐसा यदि कहा जाय, वह भी अत्यन्त निःसार है, क्योंकि इस (नट) की वह शक्ति भी सत्य है ।। ८८ ।।

नट की और किसी शक्ति को भी माया नहीं कह सकते—

न च शक्तिरस्य सहजा यदि वा
जनिताऽस्ति केनचिदिति ब्रुवतः ।
परिपुष्कलं स्वमतनिर्वहणं
भवितुं क्षमं तदनिरूपणतः ।। ८९ ।।

योजना—सहजा शक्तिः अस्ति, यदि वा केनचित् जनिता अस्ति—इति ब्रुवतः परिपुष्कलं स्वमतनिर्वहणं भवितु न क्षमम्, तदनिरूपणतः ।। (प्रमिताक्षरा) ।।

योजितार्थ—(उस नट की) स्वाभाविक शक्ति है अथवा किसी हेतु से जन्य है (वही माया है) ऐसा कहने वाले से सुपुष्टरूप से अपने मत का निर्वहण नहीं हो सकेगा, क्योंकि उसका निरूपण नहीं हो सकता ।। ८९ ।।

कथित विकल्पों में सहज पक्ष को दुर्निरूप बताते हैं—

न च शुक्रशोणितसमागमने
न च गर्भशायिन इयं विदिता ।
न च मातृयोनिविवरादुदरा-
दपसर्पतो बहिरियं घटते ।। ९० ।।

योजना—इयं न च शुक्रशोणितसमागमने, न च गर्भशायिनः विदिता, न इयं मातृयोनिविवराद् उदराद् बहिः अपसर्पतः घटते ।। (प्रमिताक्षरा) ।।

योजितार्थ—यह (वह स्वाभाविक शक्ति) न तो शुक्र-शोणित के समागम में (हो सकती है), न गर्भाशयस्थ पिण्ड में प्रतीत होती है और न यह माता के उदर से बाहर निकलने वाले शरीर में ही बन सकती है ।

भावितार्थ—जिज्ञासा होती है कि पुरुष की वह सहज (स्वाभाविक) शक्ति कब उत्पन्न होती है ? 'सहज' पद का अर्थ होता है—"सह जायते" अर्थात् पुरुष के शरीर की उत्पत्ति के साथ ही वह शक्ति उत्पन्न होती है। शरीर के जन्म की तीन विशेष अवस्थाएँ हैं-(१) माता के उदर में शुक्ररूप से प्रवेश पहला जन्म, (२) माता के उदर में ही पिण्डविशेष का निर्माण दूसरा जन्म और (३) माता के उदरसे बाहर निकलना तीसरा जन्म समझा जा सकता है। इन अवस्थाओं में माया शक्ति के उत्पन्न होने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, अतः वह सहज नहीं मानी जा सकती ।। ९० ।।

द्वितीय नैमित्तिक पक्ष का निराकरण करते हैं—

मणिमन्त्रमौषधमितीदृशकं
विरहय्य नापरमिहार्पयति ।
पुरुषोऽपि कश्चिदत एवमियं
परतोऽपि नास्य घटनामटति ॥ ९१ ॥

योजना—इह कश्चित् पुरुषः मणिमन्त्र औषधम्–इतिदृशकं विरह्य अपरं नार्पयति, अतः एवम् अस्य परतोऽपि इयं घटना न घटते ॥ (प्रमिताक्षरा)

योजितार्थ—यहाँ कोई (उपदेष्टा) पुरुष मणि, मन्त्र तथा औषध-जैसी वस्तुओं को छोड़कर अन्य (कुछ भी शिष्य को) नहीं देता, अतः इस प्रकार इस (पुरुष में माया शक्ति) की अन्य निमित्त से भी उत्पत्ति नहीं बनती ।

भावितार्थ—मायावी गुरु अपने शिष्यों को मणि, मन्त्र आदि का ही प्रदान करता है और किसी शक्ति-तत्त्व का नहीं। मणि, मन्त्र आदि को माया नहीं कह सकते; क्यों कि वे सत्य हैं—यह कहा जा चुका है, अतः माया किसी निमित्त से पुरुष में उत्पन्न हो जाती है—यह पक्ष भी संगत नहीं ॥ ९१ ॥

माया सहजा है ? या नैमित्तिकी ? यह यद्यपि कुछ भी नहीं कहा जा सकता, तथापि मायावी पुरुषों में प्रतीत होने वाली वह शक्ति, जो दूसरों को मोहित करती है, माया कहलाती है—यह क्यों नहीं कह सकते ? इस शंका का समाधान है—

अन्यस्य विभ्रमकरी पुरुषस्य शक्तिः
आकारमन्यमनपेक्ष्य मनीषिता चेत् ।
वाच्येह लौकिकजनव्यवहारभूमौ
मायागिरस्तदपि दुर्घटमिष्टहानेः ॥ ९२ ॥

योजना—इह लौकिकजनव्यवहारभूमौ अन्यम् आकारम् अनपेक्ष्य अन्यस्य विभ्रमकरी पुरुषस्य शक्तिः मायागिरो वाच्या–इति मनीषिता चेत्, तदपि दुर्घटम्, इष्टहानेः ॥ (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—यहाँ लौकिक मनुष्यों के व्यवहार-क्षेत्र में अन्य (सहजत्वादि) आकारों की अपेक्षा न करके अन्य पुरुषों को विभ्रम में डालने वाली (मायावी) पुरुष की शक्ति 'माया' शब्द की वाच्य है—ऐसी कल्पना यदि की जाय, वह भी दुर्घट है, क्योंकि इष्ट की हानि होगी ॥

भावितार्थ—माया का यदि यह लक्षण किया जाय कि मायावी की वह शक्ति-विशेष माया है, जो दर्शकों को विभ्रम में डालती हो, उस शक्ति के लिए सहजत्व या नैमित्तिकत्व कुछ भी विवक्षित नहीं। तो यह लक्षण भी लोक-प्रसिद्ध अज्ञान में घट जाता है, उससे अतिरिक्त माया की सिद्धि, जो आपको अभीष्ट है, नहीं हो सकती ॥ ९२ ॥

भाष्य-वचन से विरोध भी दिखाते हैं—

मायामयत्ववचनादखिलं मृषेति
यद्भाष्यकारवचनं तदसंगतं स्यात् ।
प्रत्यक्षमुत्सृजसि कारणमन्यदन्यत्
यत्किंचिदानयसि कष्टमतः किमन्यत् ॥ ९३ ॥

योजना—"मायामयत्ववचनात् अखिलं मृषा"—इति यद् भाष्यकारवचनम्, तदसंगतं स्यात् । प्रत्यक्षं कारणम् उत्सृजसि अन्यत्-अन्यत् किञ्चिद् आनयसि–अतोऽन्यत् कष्टं किम् ? (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ–"जगत्तदुपादानयोरनिर्वचनीयत्वात् मायाप्रकृतित्वश्रुतेश्चाखिलं मृषा"—यह जो भाष्यकार का वचन है, वह असंगत हो जायगा। लोकप्रसिद्ध तत्त्वाज्ञानस्वरूप प्रत्यक्ष रूप को छोड़कर और-और कुछ कहते जाते हो—इससे बढ़कर और कष्ट क्या होगा ?

भावितार्थ—लोकप्रसिद्ध अज्ञान को छोड़कर और कुछ माया का लक्षण करने पर भाष्यकार के वचनों से भी विरोध होता है, भाष्यकार ने कहा है-'जगतदुपादानयोरनिर्वचनीयत्वात् मायाप्रकृतित्वश्रुतेश्चाखिलं मृषा ।" अर्थात् जगत् और उसका उपादान, दोनों अनिर्वचनीय हैं और श्रुनि ने उसे माया-रचित कहा है, अतः अखिल प्रपञ्च मिथ्या है। इसलिए प्रत्यक्षसिद्ध तत्त्वाज्ञान को छोड़कर मा ा का और कुछ आकार सिद्ध नहीं होता ॥ ९३ ॥

परमेश्वर में अज्ञान नहीं, अतः उसकी माया शक्ति को अज्ञान क्योंकर कह सकते हैं ? यह सन्देह हटाया जाता है—

अज्ञानमेव च भविष्यति शक्तिरेषा
सर्वप्रपञ्चजननी परमेश्वरस्य ।
मायाश्रुतिस्मृतिवचोभिरुदीर्यमाणा
शक्तिग्रहो हि परविभ्रमहेतुशक्तौ ॥ ९४ ॥

योजना—श्रुतिस्मृतिवचोभिः उदीर्यमाणा, सर्वप्रपंचजननी एषा परमेश्वरस्य माया शक्तिः च अज्ञानमेव, शक्तिग्रहो हि परविभ्रमहेतुशक्तौ ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः)

योजितार्थ—श्रुति-स्मृति-वचनों से कथित सर्वप्रपंच की जननी यह ईश्वर की माया शक्ति भी अज्ञान ही है, क्योंकि ('माया' शब्द का) शक्तिग्रह दूसरे के भ्रम की हेतुभूत शक्ति में होता है ॥

भावितार्थ—लोक में देखा गया है कि मायावी अपने मणि-मन्त्र आदि प्रयोगों के द्वारा माया को क्षुब्ध करता है, क्षुब्ध होकर मायाशक्ति दर्शकों को भ्रम में डाल देती है । वे दर्शक अपने अज्ञान-रचित पदार्थों को ही अन्यथा-अन्यथा देखा करते हैं । उसी को वे दर्शक माया मानते हैं, अतः उसी अज्ञान में 'माया' शब्द का शक्तिग्रह होता है । ईश्वर में भी वही है, हाँ, ईश्वर की माया ईश्वर के वश में है और जीव की माया ने जीव को अपने वश में कर रखा है—इतना अन्तर अवश्य है, इसी के आधार पर जीव अज्ञानी कहा जाता है, किन्तु ईश्वर सर्वज्ञ है । ईश्वर की माया को अलौकिक मानने पर उसमें शक्तिग्रह कैसे होगा ? ॥ ९४ ॥

अलौकिक होने पर भी यूपादि पदों के समान ही 'माया' शब्द का शक्तिग्रह प्रसिद्ध-पद-समभिव्याहार के द्वारा क्यों न हो सकेगा ? इस शंका का समाधान है—

न च प्रसिद्धार्थपदान्तराणां
प्रयोगसान्निध्यवशेन शक्तिः ।
ग्रहीष्यतेऽस्येति समञ्जसं स्यात्
अलौकिके शब्द इदं हि युक्तम् ॥ ९५ ॥
अयं तु मायेति न शब्द एवम्
अलौकिको लौकिक एव तस्मात् ।
यदर्थवाची जगति प्रसिद्धः
तमेव वेदेऽपि स वक्ष्यतीह ॥ ९६ ॥

योजना—प्रसिद्धार्थपदान्तराणां प्रयोगसान्निध्यवशेन अस्य शक्तिः ग्रहीष्यते इति समंजसं न; इदं हि अलौकिके शब्दे युक्तम् ॥ एवम् अयं 'माया' इति शब्दस्तु अलौकिको न, तस्मात् लौकिक एव । इह जगति स यदर्थवाची प्रसिद्धः तमेव वेदेऽपि वक्ष्यति ॥ (उपेन्द्रवज्राच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—प्रसिद्धार्थक अन्य पदों के प्रयोग सान्निध्य से इस ('माया' शब्द) की शक्ति गृहीत होगी—यह कहना संगत नहीं, क्योंकि यह रीति अलौकिक शब्द में युक्त होती है ॥ यह 'माया' शब्द तो अलौकिक नहीं, इसलिए लौकिक ही है । इस जगत् में वह ('माया' शब्द) जिस अर्थ का वाचक प्रसिद्ध है, उसी अर्थ को वेद में भी कहेगा ॥

भावितार्थ—लोक में जिन शब्दों का प्रयोग किसी भी अर्थ में नहीं होता, ऐसे ही यूपादि शब्दों का शक्तिग्रह प्रसिद्ध पदों की सन्निधि से किया जाता है, किन्तु "लोक-वेद" अधिकरण (पू० मी० १।३।१०) के अनुसार जो शब्द लोक में जिस अर्थ का वाचक होता है, उसी अर्थ को वेद में कहा करता है । 'माया' शब्द लोक-प्रसिद्ध है, अतः यह उसी अपने (अज्ञान रूप) अर्थ को वेद में भी कहेगा ॥ ९५-९६ ॥

लोकप्रसिद्ध पदों का भी वेद में अलौकिक अर्थ माना जाता है, यह शंका कहते हैं—

ननूद्भिदादेर्यदि नाम लोके
प्रसिद्धमर्थान्तरवाचकत्वम् ।
तथाऽपि भावार्थनिपीडितस्य
विजानते कर्मणि शक्तिमस्य ॥ ९७ ॥

योजना—ननु यदि नाम लोके उद्भिदादेः अर्थान्तरवाचकत्वं प्रसिद्धम्; तथापि भावार्थनिपीडितस्य अस्य शक्ति कर्मणि विजानते ॥ (उपेन्द्रवज्राच्छंदः) ॥

योजितार्थ—शंका होती है कि यद्यपि लोक में "उद्भित्" आदि शब्दों में भिन्नार्थ की वाचकता प्रसिद्ध है; तथापि धात्वर्थ को समानाधिकरणता में जकड़े इस ('माया' शब्द) की शक्ति कर्म में बताते हैं ॥

भावितार्थ—"उद्भिदा यजेत्" (तां० ब्रा० १९।७।२३) "चित्रया यजेत" (तै० सं०

२।४।६।१) आदि वैदिक वाक्यों में आये उद्भित्, चित्रा आदि पदों का लोक में खनित्र (फावड़ा) और चित्र रंग की छागी (बकरी) आदि अर्थों में प्रयोग होने पर भी वेद में वे कर्मविशेष के वाचक (पू० मी० १।४।१,२ में) स्थिर किये गये हैं। इसी प्रकार वैदिक "माया" शब्द का भी कोई अलौकिक अर्थ क्यों न माना जाय ? ॥ ९७ ॥

उक्त शंका का निराकरण करते हैं—

सत्यं न गत्यन्तरमस्ति तत्र
　　ततस्तथा निश्चितमत्र नैवम् ।
मायागिरोऽज्ञाननिवेदनेऽपि
　　न काचिदत्रानुपपत्तिरस्ति ॥ ९८ ॥

योजना—सत्यम्, तत्र गत्यन्तरं नास्ति, एवम् अत्र तथा निश्चितं नास्ति, ततः माया गिरो अज्ञाननिवेदनेऽपि काचित् अनुपपत्तिः नास्ति ॥ (उपजाति)

योजितार्थ—उक्त कथन सत्य है, किन्तु वहाँ अन्य मार्ग नहीं, ऐसे यहाँ वैसा निश्चित नहीं, अतः 'माया' शब्द के अज्ञान को कहने पर भी कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥

भावितार्थ—"उद्भिदा यजेत पशुकामः" इस वाक्य में 'उद्भित्' शब्द का (उद्भिद्यते भूमिरनेनेति) व्युत्पत्तिविशेष में "खनित्र" आदि अर्थ करने पर उक्त वाक्य को या तो "सोमेन यजेत" के समान विशिष्ट विधि मानना होगा, या 'विरुद्धत्रिकद्वयापत्ति'[1] दोष होगा, अतः 'उद्भित्' शब्द को याग का नाम मानकर 'उद्भिन्नामकेन यागेन पशुफलं भावयेत्' यह अन्वय किया जाता है। उसी प्रकार "चित्रया यजेत" वाक्य में 'चित्रा' शब्द को चित्रा छागी का वाचक मानने पर (पू० मी० १।४।२ में कथित) वाक्य-भेदादि दोष होते हैं, इसलिए 'चित्रा' शब्द को भी इष्टि-विशेष का नाम माना जाता है, किन्तु 'माया' शब्द को अज्ञान का वाचक मानने पर किसी प्रकार की आपत्ति या अनुपपत्ति नहीं होती, इसे अपने नियत अर्थ से हटाने पर "लोक-वेद" अधिकरण का विरोध अवश्य उपस्थित होगा, अतः माया शब्द सब कहीं अज्ञान का ही वाचक होता है ॥ ९८ ॥

ईश्वर-शक्ति को अज्ञान मानने पर ईश्वर में सर्वज्ञत्व कैसे बनेगा ? यह सन्देह निवृत्त किया जाता है—

अज्ञानं जडशक्तिमात्रवपुषा सर्वेश्वरस्येष्यते
　　सर्वज्ञत्वविरोधि तन्न च भवेदुक्तप्रकारेण नः ।
सर्वज्ञेश्वरसंश्रया भवति सैवाज्ञानमाया श्रुतौ
　　तस्मादुद्भिदिवेति वर्णनमिदं वैषम्यदुष्टं तव ॥ ९९ ॥

---

[1] विरुद्धत्रिकद्वयापत्ति—'उद्भित्' शब्द को खनित्रादि गुण का वाचक मानने पर 'उद्भिदा यागं भावयेत्' यह अन्वय करना होगा, उद्भित् गुण की अपेक्षा से भाग में उद्देश्यत्व, प्रधानत्व तथा अनुवाद्यत्व तीन धर्म मानने होंगे। उसी समय 'पशुकाम' (पशु-फल) से याग का "यागेन पशुरूपं फलं भावयेत्" इस प्रकार अन्वय करने पर उसी भाग में पशु की अपेक्षा विधेयत्व, गुणत्व और उपादेयत्व तीन धर्म मानने होंगे, जो कि प्रथम त्रिक (उद्देश्यत्व, प्रधानत्व और अनुवाद्यत्व) से अत्यन्त विरुद्ध हैं, अतः उद्भित् पद को गुणवाचक न मानकर कर्म का नाम माना जाता है।

योजना—अज्ञानं जडशक्तिमात्रवपुषा सर्वेश्वरस्य इष्यते, तत् च नः उक्तप्रकारेण् सर्वज्ञत्वविरोधि न भवेत्, सैव श्रुता सर्वज्ञेश्वरसंश्रया अज्ञानमाया भवति, तस्मात् उद्भिद् इवेतीदं तव वर्णनं वैषम्यदुष्टम् ।। (शा० वि० छं) ।।

योजितार्थ–अज्ञान जडशक्तिमात्र रूप से ईश्वर में माना जाता है, वह उक्त प्रकार से सर्वज्ञत्व का विरोधी नहीं होता, वही श्रुति में सर्वज्ञ ईश्वर के आश्रित अज्ञानरूप माया है, इसलिए उद्भित् के समान ('माया' शब्द) है यह आपका वर्णन विषमता दोष से दुष्ट है ।।

भावितार्थ—"माया चाविद्या च स्वयमेव भवति" (नृसिंह० उत्तर० ९) आदि श्रुतियों में प्रसिद्ध अज्ञानात्मक माया ही ईश्वर के आश्रित है । माया और अज्ञान में किसी प्रकार का भेद प्रमाणित नहीं होता । बुद्धि आदि सहकारी सामग्री के न होने से ईश्वर में आवरण नहीं होता, अतः वह सर्वज्ञ होता है ।। ९९ ।।

जादूगर की माया को भी उसका अज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जादूगर को अपनी चीजों का अज्ञान नहीं होता, अतः लोक में भी 'माया' शब्द की अज्ञान में शक्ति कैसे ? इस सन्देह का समाधान है—

मायाऽनिर्वचनीयमेव तु तमो मायाविनो गीयते
द्रष्टॄणां भ्रमकारणं विषयता मायाविता तस्य तु ।
तं हस्त्यादिविकल्पनाघटितवन्मूढाशया जन्तवो
रज्जुं सर्पतयैव तद्द्विरहितं जानन्त्यबुद्धत्ववत् ।। १०० ।।

योजना—द्रष्टॄणां भ्रमकारणम् अनिर्वचनीयं तमः एव मायाविनो माया—इति गीयते तस्य विषयता तु मायाविता, मूढाशयाः जन्तवः रज्जुं सर्पतया इव तं [1]तद्द्विरहितं अबुद्धत्ववत् हस्त्यादिकल्पनाघटितवत् जानन्ति ।। (शार्दूलविक्रीडित) ।।

योजितार्थ —दर्शकों के भ्रम के कारणभूत अनिर्वचनीय अज्ञान को ही मायावी की माया कहा जाता है, उसकी विषयता का नाम मायाविता है, भ्रान्त जीव रज्जु को सर्परूप समझने के समान वस्तुतः अबुद्धत्व तथा हस्त्यादि-घटितत्वसे रहित उस (मायावी) को अबुद्ध तथा हस्ती आदि कल्पना-घटित के समान जानते हैं ।।

भावितार्थ—आचार्य वाचस्पति मिश्र ने अज्ञान का आश्रय जीव तथा विषय ब्रह्म माना है, सम्भवतः उनकी मान्यता का यह पद्य ही आधार रहा हो । वस्तुतः यह सिद्धांत बहुत प्राचीन है । ईश्वर मायावी है, इसका अर्थ यह नहीं कि वह माया का आश्रय है, अपितु माया का विषय है, अथवा विषयता सम्बन्ध से माया का आश्रय भी कहा जा सकता है जैसे कि हस्ती-व्याघ्र आदि के रूपों में वस्तुतः जादूगर नहीं आता, केवल मुग्ध मनुष्य उस जादूगर को हस्ती आदि रूपों में आया देखते हैं, वैसे ही ईश्वर वस्तुतः जगद् रूप में नहीं आया, अनिर्वचनीय माया के वश में पड़कर जीव वैसा देखते हैं ।। १०० ।।

ईश्वर अज्ञान का विषय अर्थात् अज्ञात है, उसके स्वरूपसाक्षात्कार से मायिक प्रपञ्च बाधित होता है, इससे भी यही सिद्ध होता कि अज्ञानस्वरूप ही माया है—

---

[1] ताभ्याम् अबुद्धत्वहस्त्यादिकल्पनाघटितत्वाभ्यां रहितं तं मायाविनम् ।

सम्यग्ज्ञानबलेन तं विरहितं हस्त्यादिभिर्यत्क्षणे
जानीयुस्तदनन्तरं न स भवेद्धस्त्यादियुक्तः पुमान् ।
तेनाऽस्मत्तम एव तत्र विषये मायाऽस्तु मायाविनः
सोऽज्ञातो वयमज्ञकोटिपतिता मायी स तेनोच्यते ॥१०१॥

योजना—सम्यग्ज्ञानबलेन हस्त्यादिभिः विरहितं तं यत्क्षणे जानीयुः, तदनन्तरं स पुमान् हस्त्यादियुक्तो न भवेत्, तेन तत्र विषये अस्मत्तमः एव मायाविनः माया अस्तु, वयम् अज्ञकोटिपतिताः सोऽज्ञातः तेन स मायी उच्यते ।। (शा० वि० छं०)

योजितार्थ—सम्यक् ज्ञान के बल पर हस्ती आदि से रहित उस (मायावी) को जिस क्षण में लोग जान लें, उसके पश्चात् वह (मायावी) पुरुष हस्ती आदि के रूप में प्रतीत नहीं होता, अतः उसके विषय में हमारा अज्ञान ही मायावी की माया है, हम अज्ञकोटि में पड़ जाते हैं, वह (मायावी) अज्ञात है, इसलिए वह मायी कहा जाता है ।।

भावितार्थ—यद्यपि अज्ञान ही माया है और अज्ञान का सम्बन्ध दोनों (दर्शक तथा जादूगर) से है, फिर भी दर्शक मायावी नहीं कहे जा सकते; क्योंकि वे अज्ञान के आश्रय हैं, अज्ञान के आश्रय या अज्ञानीजन कभी जादू करते नहीं देखे जाते। इस प्रकार अज्ञानी और मायी का यह सूक्ष्म अन्तर समझ रखना चाहिए कि 'अज्ञानी' शब्द अधिकतर अज्ञानाश्रय व्यक्ति और 'मायावी' शब्द अज्ञान के विषय व्यक्ति में प्रयुक्त होता है, अतः ईश्वर मायी है, उसके साक्षात्कार से प्रपञ्च-विभ्रम की निवृत्ति होती है ।। १०१ ।।

कथित सिद्धान्त में सन्देह करते हैं—

नन्वेवं सति रज्जुखण्डलकमप्यज्ञातमज्ञानिभिः
मायावीति गिरोच्यतां न तु तथा लोके प्रसिद्धिः क्वचित् ।
तेनाज्ञातविलक्षणत्वमुचितं मायाविनो लौकिका
मायावीति पुमांसमेव निपुणं येनाऽऽहुरत्यादरात् ॥ १०२ ॥

योजना—ननु एवं सति रज्जुखण्डलकम् अपि अज्ञानिभिः अज्ञातम्, मायावीति गिरा उच्यताम्, तथा लोके क्वचित् प्रसिद्धिः न, येन लौकिका मायावीति निपुणं पुमांसमेव अत्यादराद् आहुः, तेन मायाविनः अज्ञातविलक्षणत्वम् उचितम् ।। (शा० वि० छं०)।

योजितार्थ—शंका होती है कि ऐसा (अज्ञान के विषय को मायावी) मानने पर रज्जु-खण्ड भी अज्ञानियों से अज्ञात है, अतः 'मायावी' शब्द से कहा जाय, किन्तु वैसी लोक में कहीं भी प्रसिद्धि नहीं, एवं लौकिकजन भी 'मायावी' शब्द से निपुण पुरुष को ही अत्यन्त आदरपूर्वक कहा करते हैं, अतः 'मायावी' को अज्ञात से विलक्षण कहना उचित है ।

भावितार्थ—जिज्ञासा होती है कि अज्ञान के विषय (अज्ञात) को मायावी क्यों कहा जाता है ? क्या अज्ञातत्व और मायावित्व दोनों अव्यभिचरित हैं ? या लौकिक प्रसिद्धि ही वैसी है ? प्रथम पक्ष उचित नहीं; क्योंकि रज्जु आदि में अज्ञातत्व रहने पर भी मायावित्व नहीं, अतः व्यभिचार स्पष्ट है । दूसरा पक्ष भी संगत नहीं; क्योंकि लोक में अज्ञात व्यक्ति को मायावी नहीं कहा करते, अपितु विशेष रूप से ज्ञात व्यक्ति को ही जादूगर कहा करते हैं ।। १०२ ।।

उक्त शंका का परिहार करते हैं—

नैवं भ्रान्तिनिमित्तकारणमयं संगृह्य पूर्वक्षणे
मन्त्रादिप्रचुरं प्रयत्नजनितं तज्जीवने वर्तते ।
तेनात्रैव तु लोकरूढिरभवन्मायावितागोचरा
यद्वद् ब्राह्मणताप्रसिद्धिरभवन्मुक्त्वा परिव्राजकान् ॥१०३॥

योजना—एवं न, पूर्वक्षणे अयं प्रयत्नजनितं भ्रान्तिनिमित्तकारणं मन्त्रादिप्रचुरं संगृह्य तज्जीवनो वर्तते, तेन अत्रैव मायावितागोचरा लोकरूढिः अभवत्, यद्वत् परिव्राजकान् मुक्त्वा ब्राह्मणताप्रसिद्धिः अभवत् ॥ (शा० वि० छं०) ॥

योजितार्थ—ऐसा (उक्त शंका करनी युक्त) नहीं, क्योंकि (दर्शकों को खेल दिखाने से) पहले ही यह (जादूगर) अपने प्रयत्न-साध्य, दूसरों की भ्रामक, मन्त्रादि प्रचुर सामग्री संगृहीत करके तत्पर हो उद्यत होता है, अतः इस (जादूर) में ही मायावित्वविषयिणी लोक-प्रसिद्धि हो गई, जैसे कि परिव्राजकों को छोड़कर ब्राह्मणता की प्रसिद्धि हुई।

भावितार्थ—यह बात निश्चित है कि दर्शकों का क्षुब्ध अज्ञान ही हस्ती-व्याघ्र आदि रूपों में परिणत हुआ करता है। मायावी-नट केवल ऐसी सामग्री जुटा देता है, जिससे दर्शकों का अज्ञान क्षुब्ध हो उठता है। अतः यह सिद्ध होता है कि दर्शकों के अज्ञान का क्षोभक पुरुष मायावी कहा जाता है। यद्यपि शुक्ति-रज्जु आदि पदार्थ भी अज्ञान के क्षोभक माने जाते हैं, तथापि शुक्ति-रज्जु आदि को छोड़कर 'मायावी' शब्द केवल उस जादूगर में वैसे ही रूढ हो गया है, जैसे कि परिव्राजकों के ब्राह्मण होने पर भी उन्हें छोड़कर 'ब्राह्मण' शब्द केवल गृहस्थ ब्राह्मणों में ही रूढ़ हो गया ॥ १०३ ॥

लौकिक प्रसिद्धि के आधार पर ही शास्त्रीय शब्दों की शक्ति जानी जाती है—

एवं तावल्लोकसिद्धा न माया
मिथ्याज्ञानाद्भिद्यतेऽतश्च तत्र ।
शक्तिव्याप्तिप्रत्ययौ वर्णयित्वा
वेदाल्लिङ्गाच्चान्यमायात्वसिद्धिः ॥ १०४ ॥

योजना—एवं तावत् लोकसिद्धा माया मिथ्या अज्ञानात् भिद्यते न, अतश्च तत्र शक्तिव्याप्तिप्रत्ययौ वर्णयित्वा वेदात् लिङ्गाच्च अन्यमायात्वसिद्धिः ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—इस प्रकार लोक-प्रसिद्ध माया मिथ्या अज्ञान से भिन्न नहीं, अतः उस (लोक-प्रसिद्ध माया और उसके कार्य) में ('माया' शब्द की) शक्ति तथा (जो माया का कार्य है, वह मिथ्या है—ऐसी) व्याप्ति का सम्पादन करके वैदिक 'माया' शब्द एवं कथित लिङ्ग के आधार पर अन्य (आकाश आदि) में मिथ्यात्व की सिद्धि हो जाती है।

भावितार्थ—लोक में जादूगर की माया में 'माया' शब्द की शक्ति गृहीत होती है और वहाँ पर मायिक कार्य मिथ्या होते हैं-यह व्याप्ति भी स्थिर हो जाती है, आकाश आदि समस्त प्रपञ्च को "मायामात्रं जगत् सर्वम्" (जा० द० १०।१२), "मायावी मायया क्रीडति" (शाण्डि० ३।१।३) आदि श्रुतियों से मायिक जानकर मिथ्या जान लेना सुकर हो जाता है ॥ १०४ ॥

आकाशादि प्रपञ्च में मिथ्यात्व स्वप्न-प्रपञ्च के दृष्टान्त से ही नहीं सिद्ध किया जाता अपितु जाग्रत् प्रपञ्च के दृष्टान्त से भी सिद्ध किया जा सकता है—

जाग्रद्भूमौ या प्रसिद्धेह माया।
निर्णीता सा तावदज्ञानमेव ।
तस्यां शक्तिव्याप्तिविज्ञानसिद्धेः
विज्ञातव्या सैव वेदानुमानात् ॥ १०५ ॥

योजना—इह जाग्रद्भूमौ या माया प्रसिद्धा, सा तावत् अज्ञानमेव निर्णीता, तस्यां शक्तिव्याप्तिविज्ञानसिद्धेः सैव वेदानुमानात् वेदितव्या ।। (शालिनी) ।।

योजितार्थ—इस जाग्रत् अवस्था में जो (जादूगर की) माया प्रसिद्ध है, वह तो अज्ञान ही निर्णीत हो चुकी है, उसमें वैदिक 'माया' शब्द की शक्ति और मिथ्यात्व की व्याप्ति सिद्ध हो जाने से वही वेद और अनुमान से समझ लेना चाहिए ।। १०५ ।।

स्वप्न की माया भी अज्ञान से भिन्न नहीं—

स्वप्नेऽप्येवं स्वप्नदृङ्मोहमात्राद्
अन्या काचिन्न प्रसिद्धाऽस्ति माया ।
तत्रैवायं सूत्रकारस्य तस्मात्
मायाशब्दो वर्तते नापरत्र ॥ १०६ ॥

योजना—स्वप्नेऽपि माया स्वप्नदृङ्मोहमात्रात् अन्या काचित् न अस्ति, तस्मात् तत्रैव सूत्रकारस्य अयं मायाशब्दो वर्तते, अपरत्र न (शालिनी) ।।

योजितार्थ—स्वप्न में भी प्रसिद्ध माया स्वप्नद्रष्टा के मोहमात्र से भिन्न और कुछ नहीं है, अतः उसी अर्थ में सूत्रकार का यह ("मायामात्रं तु" ब्र० सू० ३।२।३) माया शब्द प्रयुक्त हुआ है, अन्य अर्थ में नहीं ।।

भावितार्थ—"मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" (ब्र० सू० ३।२।३) इस सूत्र में सूत्रकार ने 'माया' शब्द से अज्ञान ही लिया है, और कुछ नहीं, क्योंकि ऊपर अज्ञान में ही 'माया' शब्द रूढ़ दिखाया जा चुका है ।। १०६ ।।

यदि सूत्रकार को 'माया' शब्द से अज्ञान ही विवक्षित था, तब सूत्र में 'मायामात्रम्' के स्थान पर "अज्ञानमात्रम्" क्यों नहीं कह दिया ? इस सन्देह को मिटाते हैं—

शक्तिव्याप्तिप्रत्ययौ कारयिष्यन्
स्वप्ने स्थित्वा प्रत्यगज्ञानमात्रे ।
मायावाचा लोकवत्सूत्रकारो
वेदे लिङ्गं चोपनेतुं प्रवृत्तः ॥ १०७ ॥

योजिता—सूत्रकारः प्रत्यगज्ञानमात्रे शक्तिव्याप्तिप्रत्ययौ कारयिष्यन् स्वप्ने स्थित्वा लोकवत् वेदे लिङ्गं च उपनेतुं मायावाचा प्रवृत्तः (शालिनी) ।।

योजितार्थ-सूत्रकार (भगवान् बादरायण) ने प्रत्यगात्मा के अज्ञानमात्र में ('माया' शब्द की) शक्ति तथा ('मायामयत्व' लिङ्ग की) व्याप्ति का ग्रहण कराने के लिए स्वप्न

का सहारा लेकर लोकवत् वेद में भी ('माया' शब्द की शक्ति और मायामयत्वरूप) लिङ्ग की उपस्थिति कराने के लिए 'माया' शब्द का प्रयोग किया है ।।

भावितार्थ—"मायामात्रं तु" (ब्र० सू० ३।२।३) सूत्र में 'अज्ञान' शब्द का प्रयोग न करके तदर्थक 'माया' शब्द का प्रयोग करने में सूत्रकार का गूढ़ अभिप्राय यह है कि "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" (श्वेता० ४।१०) आदि वैदिक शब्दों से ही प्रपञ्च का उल्लेख करना था, लोकवत् वेद में भी 'माया' शब्द की शक्ति तथा अभिमत व्याप्ति दिखाना था, अतः 'माया' शब्द का ही प्रयोग किया है ।। १०७ ।।

भगवद्गीता के वाक्यों से भी 'अज्ञान' और 'माया' शब्द समानार्थक सिद्ध होते हैं—

अज्ञानमावरणमावरणं च माया
सर्वेश्वरेण हरिणा दृढमभ्यधायि ।
चैतन्यवस्तुन इति प्रतिपद्यमानाः
तत्त्वं तदेकमिति निश्चयतः प्रतीमः ।। १०८ ।।

योजना—सर्वेश्वरेण हरिणा दृढम् चैतन्यवस्तुनः अज्ञानम् आवरणम्, आवरणं च माया अभ्यधायि—इति प्रतिपद्यमाना तदेकं तत्त्वमिति निश्चयतः प्रतीमः (वसन्ततिलका)।

योजितार्थ—सर्वेश्वर भगवान् कृष्ण ने दृढ़ शब्दों में चैतन्य वस्तु के अज्ञान को आवरण और आवरण को माया कहा है—ऐसा जानकर हम लोग उन दोनों को एकरूप निश्चितरूप से स्थिर करते हैं ।।

भावितार्थ—भगवान् कृष्ण ने अज्ञान को आवरण कहा है—"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" (गी०५।१५) अर्थात् अज्ञानरूप आवरण से आवृत आत्मज्ञान है, अतः जीव मोहित होते हैं । इसी प्रकार आवरण को माया कहा है—"माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः" (गी० ७।१५) अर्थात् मायारूप आवरण से जिनका ज्ञान आवृत हो जाता है, वे असुरभाव से अभिभूत होकर मुझे प्राप्त नहीं कर पाते । भगवान् के इस प्रकार कहने से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि माया और अज्ञान दोनों एक ही तत्त्व हैं ।। १०८ ।।

माया ज्ञान-निवर्त्य होने से भी अज्ञानस्वरूप है—

ज्ञानं निवर्तकमपि द्वितयस्य तस्य
गीतागतः करुणया भगवानुवाच ।
तेनापि तत्त्वमिदमेकमिति प्रतीतिः
आनीयते कथितलक्षणतुल्यभावात् ।। १०९ ।।

योजना—गीतागतः भगवान् करुणया तस्य द्वितयस्यापि ज्ञानं निवर्तकम् उवाच, तेनापि इदम् एकं तत्त्वमिति प्रतीतिःआनीयते, कथितलक्षणतुल्यभावात् (वसन्ततिलका)।

योजितार्थ—गीता में भगवान् ने करुणा से प्रेरित होकर उन (माया और अज्ञान) दोनों के भी ज्ञान को निवर्तक कहा है, इसलिए भी यह (माया और अज्ञान, दोनों) एक ही तत्त्व हैं—ऐसा निश्चय होता है, क्योंकि कथित लक्षण (दोनों में) समान है ।।

भावितार्थ—"तत्त्वज्ञान-निवर्त्यत्व" या "ज्ञानावरकत्व' आदि अज्ञान के सभी

लक्षण माया में भी घटते हैं, अतः माया और अज्ञान—दोनों एक ही तत्त्व स्थिर होते हैं ॥ १०९ ॥

भगवान् का वचन अर्थतः उद्धृत करते हैं—

नाहं प्रकाश इति तावदनेन मायाऽ-
ज्ञानेन चाऽऽवृतमितीतरदप्यभाणि ।
मामेव ये तु परमं पुरुषं प्रपन्ना
ज्ञानेन तु प्रभृतिना च धिया निवृत्तिः ॥ ११० ॥

योजना—"नाहं प्रकाशः" इत्यनेन तावत् माया अभाणि, "अज्ञानेनावृतम्" इति च इतरत् अपि। "ये तु माम् परमं पुरुषम् एव प्रपन्नाः" "ज्ञानेन तु"–इतिप्रभृतिना च धिया निवृत्तिः (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" (गी० ७।२५) इस वचन से तो माया (आवरक रूप से) कही है और "अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्" (गी० ५।१५) इस वचन से दूसरा (अज्ञान) भी (आवरण) कहा गया है। "मामेव ये प्रपद्यन्ते" (गी० ७।१४) इस वचन से (माया में) तथा "ज्ञानेन तु तदज्ञानं नाशितम (गी० ५।१६) इस वचन से (अज्ञान में) ज्ञान-निवर्त्यत्व कहा है ॥

भावितार्थ—"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" (गी० ७।२५) अर्थात् मैं (भगवान्) योगमाया से आवृत होने के कारण सर्वसाधारण को प्रतीत नहीं होता–यहां पर भगवान् ने माया में ज्ञानावरकत्व स्पष्ट कहा है और "अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्" (गी० ५।१५) इस वचन में अज्ञान को आवरक कहा है; इस प्रकार प्रथम (ज्ञानावरकत्व) लक्षण दोनों में घटाया है। "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' (गी० ७।१४) अर्थात् मुझे (भगवान्) को जो जान लेते हैं, वे इस माया को तर जाते हैं—यहाँ माया में द्वितीय "ज्ञाननिवर्त्यत्व" लक्षण घटाया तथा "ज्ञानेन तु तदज्ञानं नाशितम्" (गी० ५।१६) आदि वचनों से अज्ञान में ज्ञान-निवर्त्यत्व कहा है ॥ ११० ॥

अज्ञान अभाव पदार्थ है और माया भावपदार्थ, अतः इन दोनों का अभेद कैसे सिद्ध होगा ? इस सन्देह को दूर करते हैं—

ज्ञानस्य प्रागभावादपरमभिहितं प्रत्यगज्ञानमेतद्
संसारव्याधिबीजं कथितनयवशादेव बुध्यस्व बुद्ध्या ।
ज्ञानेनाज्ञाननाशं कथयति भगवानेष गीतागतः सन्
न ज्ञानात्प्रागभावक्षय इति घटते तत्क्षये तत्प्रसूतेः ॥ १११ ॥

योजना—कथितनयवशात् एव एतत् संसारव्याधिबीजं प्रत्यगज्ञानं ज्ञानस्य प्रागभावाद् अपरम् अभिहितम् बुध्या बुध्यस्व। एष गीतागतः सन् भगवान् ज्ञानेन अज्ञाननाशं कथयति, ज्ञानात् प्रागभावक्षय इति न घटते; तत्क्षये तत्प्रसूतेः (स्रग्धराच्छन्दः) ॥

योजितार्थ–कथित रीति से यह संसार-रोग का बीज आत्मज्ञान ज्ञान के प्रागभाव से भिन्न कहा गया है–ऐसा अपनी बुद्धि से समझो। यह भगवान् गीता में ज्ञान से अज्ञान का

नाश कहता है, ज्ञान से प्रागभाव का नाश हो—यह बनता नहीं; क्योंकि प्रागभाव का क्षय होने से ज्ञान उत्पन्न होता है ॥

भावितार्थ—भगवान् ने "ज्ञानेन तु तदज्ञानं नाशितम् (गी० ५।१६) आदि वाक्यों से ज्ञान को अज्ञान का नाशक कहा है। यदि अज्ञान को ज्ञान का प्रागभाव माना जाय, तब अज्ञान से उसका नाश न हो सकेगा, क्योंकि प्रागभाव के रहते-रहते ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता, वह किसी का नाशक कैसे होगा? प्रागभाव कारण माना जाता है, कोई भावी कार्य अपने पूर्वकाल के कारण का नाश कर दे, यह कभी सम्भव नहीं हो सकता; अतः ज्ञान-प्रागभाव से भिन्न ही अज्ञान को भावरूप मानना होगा, तब तो माया से उसका भेद सम्भव नहीं रह जाता ॥ १११ ॥

प्रासङ्गिक 'माया' पद की व्याख्या पूर्ण करके प्रकृत स्वप्न-मिथ्यात्व-निरूपण का उपसंहार करते हैं—

मायामात्रमतः समस्तमभवत्स्वप्ने प्रसिद्धं दृशः
कर्तृत्वादि तमोमयं वितथमेवाज्ञानमात्रं यतः ।
तस्माज्जागरितेऽपि नैतदभवत्स्वाभाविकं यत्पुनः
तादृक्षं तव सर्वदैव तु भवेत्स्वप्नेऽपि चैतन्यवत् ॥ ११२ ॥

योजना—अतः दृशः स्वप्ने प्रसिद्धं कर्तृत्वादि समस्तं मायामात्रं तमोमयं वितथम् अभवत्, यतो अज्ञानमात्रम्। तस्मात् जागरितेऽपि एतद् अभवत्, यत् पुनः तव तादृक्षं स्वाभाविकम् चैतन्यवत् सर्वदैव स्वप्नेऽपि भवेत् (शा० वि० छं०) ॥

योजितार्थ—अतः चैतन्य के स्वप्न-प्रसिद्ध कर्तृत्व आदि समस्त (धर्म) मायामात्र, तमोमय, मिथ्या सिद्ध हुए; क्योंकि वे अज्ञानमात्र हैं। इसलिए जाग्रत् अवस्था में भी यह कर्तृत्व आदि मिथ्या है, यदि तुम्हारे वे (कर्तृत्वादि) स्वाभाविक होते, तब चैतन्य के समान ही सदैव स्वप्नादि में रहते ॥

भावितार्थ—स्वप्नावस्था में प्रतीत होनेवाले आत्मवृत्ति कर्तृत्वादि जब मायामात्र मिथ्या सिद्ध हो गये, तब उनके दृष्टान्त से जागरण के कर्तृत्वादि धर्म भी मिथ्या ही मानने होंगे, क्योंकि यदि वे धर्म स्वाभाविक होते, तो चैतन्यस्वरूप के समान ही सुषुप्ति-मोक्ष आदि में भी उपलब्ध होते, किन्तु वहाँ उपलब्ध नहीं होते, अतः वे औपाधिक, आरोपित, मिथ्यामात्र ठहरते हैं ॥ ११२ ॥

व्यभिचरित धर्म कभी भी वस्तु के स्वरूप नहीं हो सकते—

सत्यप्यलुप्तचिति यत्त्वयि नास्ति कर्तृ-
भोक्तृप्रमातृमुखमन्यदपीह किंचित् ।
जाग्रद्दशावगतमप्यखिलं न तत्ते
स्वाभाविकं भवितुमुत्सहते विरोधात् ॥ ११३ ॥

योजना—यत् इह अलुप्तचिति त्वयि सति अपि कर्तृभोक्तृप्रमातृमुखम् अन्यत्, किञ्चिदपि नास्ति, तत् ते जाग्रद्दशावगतम् अखिलमपि स्वाभाविकं न भवितुम् उत्सहते विरोधात् (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—सुषुप्ति आदि में (हे शिष्य !) चैतन्यस्वरूप तेरे रहने पर भी कर्तृत्व, भोक्तृत्व, प्रमातृत्व आदि तथा अन्य कुछ भी नहीं, अतः तेरे जाग्रदवस्था में प्रतीयमान निखिल कर्तृत्वादि स्वाभाविक नहीं हो सकते, क्योंकि विरोध है ॥

भावितार्थ—व्यभिचारी धर्मों को धर्मी का स्वरूप नहीं माना जा सकता क्योंकि यहाँ धर्मी सदातन है, अतः तत्स्वरूप धर्म भी सदातन ही होंगे, व्यभिचारी नहीं। आत्मा के कर्तृत्वादि धर्म व्यभिचारी हैं, अतः आत्मस्वरूप कभी नहीं हो सकते ॥ ११३ ॥

स्वाभाविक धर्म कभी धर्मी का व्यभिचारी नहीं होता—

स्वाभाविकी हुतभुजः खलु नोष्णता तं
जातु प्रमुञ्चति न तामपि जातवेदाः ।
एवं भवन्तमपि जागरितोपलब्धं
स्वप्ने भवानपि च जागरितं न मुञ्चेत् ॥ ११४ ॥

योजना—हुतभुजः स्वाभाविकी खलु उष्णता तं जातु न प्रमुञ्चति, तां जातवेदाः अपि न, एवं जागरितोपलब्धं स्वप्ने भवन्तं भवान् अपि जागरितं न मुञ्चेत् (व०ति०)॥

योजितार्थ—अग्नि की स्वाभाविक उष्णता उस (अग्नि) को कभी नहीं छोड़ती, उस (उष्णता) को अग्नि भी नहीं (छोड़ती) इसी प्रकार जाग्रत् के कर्तृत्वादि-स्वप्न में आपको तथा आप भी जाग्रत् के धर्मों को (स्वप्न में) नहीं छोड़ते ॥

भावितार्थ—अग्नि की उष्णता स्वाभाविक है, अतः न तो वह कभी अग्नि को छोड़ती है और न अग्नि उसको, इसी प्रकार यदि कर्तृत्वादि-स्वाभाविक होते, तो आत्मा से उनका कभी व्यभिचार न होता ॥ ११४ ॥

"यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्तः" (बृह० ४।३।१४) आदि श्रुतियों के आधार पर जाग्रत् के ही कर्तृत्वादि धर्म स्वप्न में नहीं माने जा सकते—

स्वप्ने न जागरितमस्ति मृषात्वहेतोः
स्वप्नस्य सत्यमिति जागरितं वदन्ति ।
स्वप्नस्य बाधनबलादनृतत्वमुक्तं
तस्माच्चिदेव तव रूपमतोऽन्यदार्त्तम् ॥ ११५ ॥

योजना—स्वप्ने जागरितं नास्ति स्वप्नस्य मृषात्वहेतोः जागरितं सत्यं वदन्ति। बाधनबलात् स्वप्नस्य अनृतत्वम् उक्तम् तस्मात् चिदेव तव रूपम् , अतोऽन्यद् आर्तम्॥ (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—स्वप्न में जाग्रत (के कर्तृत्वादि) नहीं हैं, क्योंकि स्वप्न के मिथ्या हैं, और जाग्रत् (के कर्तृत्वादि) को सत्य कहते हैं। जाग्रत् में बाध हो जाने के कारण स्वप्न अनृत कहा जा चुका है, इसलिए (हे शिष्य) तेरा एकमात्र चैतन्य स्वरूप है, उससे भिन्न सब बाधित हैं ॥

भावितार्थ-जाग्रत् के धर्मी का व्यभिचार स्वप्नादि में और स्वप्न में धर्मों का बाध जाग्रत् में देखकर यही निश्चित होता है कि कर्तृत्वादि धर्म आत्मा के स्वाभाविक नहीं, अपितु औपाधिकमात्र हैं ॥ ११५ ॥

प्रमाता आदि मिथ्या होने पर भी ब्रह्मज्ञान के साधन बन सकते हैं—

स्वप्नोपलब्धमखिलं वितथं तथापि
तत्सूचयत्यवितथं परमार्थवस्तु ।
जाग्रद्दशावगतमप्यनृतं तथापि
तद्वत्तदप्यवगतिक्षममेव भूम्नः ॥ ११६ ॥

योजना—स्वप्नोपलब्धम् अखिलं वितथम्, तथापि तत् अवितथं परमार्थवस्तु सूचयति, जाग्रद्दशावगतमपि अनृतम्, तथापि तद्वदेव भूम्नः अवगतिक्षमम् (वसन्तति०)।

योजितार्थ—स्वप्न में देखे गये निखिल (मांगलिक पदार्थ) मिथ्या हैं, फिर भी वे सत्य परमार्थ (इष्टलाभ आदि) पदार्थों के सूचक होते हैं, जाग्रद्दशा के प्रमाता आदि भी मिथ्या हैं, तथापि स्वप्नोपलब्ध पदार्थों के समान ही सत्य ब्रह्म के बोधक हो सकते हैं ।।

भावितार्थ—सूत्रकार ने कहा है—"सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः" (ब्र०सू० ३।२।४) अर्थात् स्वप्न में होनेवाले स्त्री-दर्शन आदि कार्य-सिद्धि रूप सत्य अर्थों के सूचक होते हैं, श्रुति कहती है—"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति (छां० ४।२।६) एवं स्वप्न-रहस्याभिज्ञ स्वप्न को शुभाशुभ-सूचक कहा भी करते हैं। इसी सूत्रार्थ को ग्रंथकार ने यहाँ दिखाया है कि सत्य का बोध कराने में साधन पदार्थों का परमार्थ सत् होना अनिवार्य नहीं, अतः प्रमाता आदि मिथ्या होने पर भी आत्मा का यथार्थ बोध उत्पन्न करा सकते हैं ॥ ११६ ॥

यदि स्वप्न और जाग्रत् दोनों समान हैं, तब उनका कथित वैषम्य कैसे उपपन्न होगा ? इस शङ्का का समाधान करते हैं—

स्वप्नभ्रमोऽपि सुकृतादिनिबन्धनत्वात्
तावत्परिस्फुरति यावददृष्टमस्ति ।
क्षीणे तु तत्र लयमेति जगन्निदाने
गाढे तमस्यनुभवावगते प्रतीचः ॥ ११७ ॥

योजना—स्वप्नभ्रमोऽपि सुकृतादिनिबन्धनत्वात् यावत् अदृष्टं तावत् परिस्फुरति, क्षीणे तु तत्र जगन्निदाने प्रतीचोऽनुभवावगते गाढे तमसि [1]लयम् एति (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—स्वप्न-भ्रम भी पुण्यादि-जन्य होने के कारण जब तक अदृष्ट (धर्माधर्मादि) रहता है, तब तक परिस्फुरित होता है, उस अदृष्ट के क्षीण होने पर उस जगत् के कारणभूत, साक्षिभास्य, गाढ़े अज्ञान में लीन हो जाता है ।।

भावितार्थ—जैसे जाग्रत् पुण्य-पाप कर्मों से जन्य है, वैसे स्वप्न भी, इस अंश में समानता होने पर भी जाग्रत भोग-साधक कर्म जैसे एक जीवन स्थायी रहते हैं, वैसे स्वप्न-साधक कर्म स्थायी नहीं, अपितु प्रत्येक स्वप्न के साधक कर्म भिन्न और अस्थिर रहते हैं, इसीलिए स्वप्न का उपरम शीघ्र-शीघ्र होता है, किन्तु जन्म से मरणपर्यन्त जाग्रत् के जनक

---

१. ग्रन्थकार ने यहाँ मूलाज्ञान में स्वप्न का लय बताकर यह व्यक्त किया है कि स्वप्न मूलाविद्या का ही कार्य है तूलाविद्या का नहीं ।

कर्मों का उपरम नहीं होता। इस वैषम्य के आधार पर लोग स्वप्न को मिथ्या और जाग्रत् को सत्य कह दिया करते हैं।। ११७।।

प्रत्येक कर्म क्षणिक, नश्वर प्रतीत होता है, फिर वह मनुष्य के पूरे जीवन में स्थायी कैसे हो सकेगा? एवं जड़ होने से वह जाग्रदादि-जनक कैसे होगा? इस सन्देह को निवृत्त करते हैं—

निष्पादिता सकलकारकवर्गसाध्या
सर्वेण कारकगणेन सहैव तावत्।
तिष्ठेत्क्रिया परमसूक्ष्मतयेक्ष्यमाणा
सर्वेश्वरेण पुरुषः फलमत्ति यावत्॥ ११८॥

योजना–यावत् पुरुषः फलम् अत्ति, तावत् सकलकारकवर्गसाध्या सर्वेण कारकगणेन सहैव निष्पादिता सर्वेश्वरेण ईक्ष्यमाणा क्रिया सूक्ष्मतया तिष्ठेत्।। (वसन्ततिलका)।।

योजितार्थ—जब तक पुरुष फलोपभोग करता है, तब तक सकल कारक-वर्ग-साध्य, समस्त कारकों से एक साथ निष्पादित एवं ईश्वर के संकल्प से समन्वित क्रिया सूक्ष्मरूप से स्थित रहती है।।

भावितार्थ—क्षणिक क्रिया कालान्तरभावी स्थिर फल को जन्म कैसे दे सकेगी? इस प्रश्न के उत्तर में किसी ने कहा था कि यागादि क्रिया ही सूक्ष्म रूप में आकर परमाणु या आत्मा में तब तक रह जायगी, जब तक फल उत्पन्न न हो, उसका खण्डन करके मीमांसकों ने अपूर्व नाम की शक्ति या व्यापृति सिद्ध की है[1]। उसी अपूर्व को ही यहाँ ग्रन्थकार ने क्रिया का सूक्ष्म रूप माना है। वह अदृष्ट या अपूर्व तब तक बराबर स्थित रहता है, तब तक अपना फल न दे डाले।। ११८।।

स्वप्न यदि जाग्रत् के समान कर्म-फल है, तब जाग्रत् के ही समान उसे सत्य भी मानना होगा, भ्रम नहीं कह सकते, इस आक्षेप का समाधान है—

स्वप्नश्च जागरितमप्युभयं तवैव
मोहप्रसूतमपि कर्मफलं विभाति।
कर्मक्षये तदखिलं परमात्ममायाम्
आश्रित्य सूक्ष्ममवतिष्ठत एव लीनम्॥ ११९॥

योजना–स्वप्नः जागरितं च उभयं तवैव मोहप्रसूतं कर्मफलं विभाति, कर्मक्षये तद् अखिलं परमात्ममायाम् आश्रित्य लीनं सूक्ष्मम् अवतिष्ठते एव।। (वसन्ततिलकाच्छंदः)।।

योजितार्थ—(हे शिष्य!) स्वप्न और जाग्रत् दोनों तेरे ही मोह के कार्य, कर्मफल हैं, कर्म का क्षय हो जाने पर वह अखिल प्रपंच परमात्मा की माया में लीन होकर सूक्ष्म रूप में अवस्थित ही रहता है।।

भावितार्थ—स्वप्न तथा जाग्रत् दोनों ही अज्ञान के कार्य हैं, सत्य नहीं। जाग्रत् में

---

[1] यागक्रिया सूक्ष्मरूपा परमाण्वात्मसंश्रिता। यावत्फलं नियोगाख्यं नापूर्वमिति चेन्न तत्।।
ध्यानहीनं क्रियासौक्ष्म्यं नियोगस्तु लिङादिना, अभिधेयः पृथग् यागादपूर्वं कार्यमस्त्यतः।।

सत्यता का व्यवहार केवल कुछ स्थिरता के कारण होता है, स्वप्न-प्रपञ्च की प्रतिदिन भङ्गुरता का अनुभव होता है, अतः वह मिथ्या कहा जाता है ॥ ११९ ॥

जाग्रत् स्वप्न प्रपञ्च अज्ञान में लीन रहता है—इसमें प्रमाण दिखाते हैं—

उत्थानलिङ्गकृतकल्पनयैतदेवं
विज्ञायते न तु तथावगतं तदानीम् ।
अज्ञानलीनमखिलं जगदस्ति सूक्ष्मं
तत्रेति नानुभवनादवगम्यते हि ॥ १२० ॥

योजना—अनया उत्थानलिङ्गकृतकल्पनया एतद् एवं विज्ञायते, न तु तदानीं तथा अवगतम्—अखिलं जगत् अज्ञानलीनं सूक्ष्मम् अस्ति, तत्रैव अनुभवनात् न हि अवगम्यते ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इस (सुषुप्त पुरुष के) उत्थानरूप लिङ्ग से जन्य अनुमिति से यह ऐसा जाना जाता है, न कि उस (सुषुप्ति) समय में वैसा अनुभूत हुआ कि निखिल प्रपञ्च अज्ञान में लीन होकर सूक्ष्म रूप में है, उस समय के अनुभव से वह नहीं जाना जाता ॥

भावितार्थ—सुषुप्ति अवस्था में यदि जीव का समस्त अज्ञानादि प्रपञ्च नष्ट हो जाता, तब इसका उत्थान ही न होता, उत्थान होकर भी यथापूर्व संलग्न व्यवहार चालू न होता अतः यह अनुमान होता है कि निखिल प्रपंच अज्ञान में विलीन होकर रहता है, अज्ञान भी सूक्ष्म रूप में रहता है, उसी में अन्तःकरण अपने उदर में इन्द्रियगण को लिये समाया रहता है, जाग्रत्-जनक संस्कारों के खुलने पर पुनरुत्थान हो जाता है, पुरुष अपने अधूरे कामों को पूरा करने में संलग्न हो जाता है ॥ १२० ॥

सुषुप्ति में अज्ञान सिद्ध करते हैं—

अज्ञानमेव तु तदाऽवगतं त्वदीयं
येनोत्थितो वदसि नावगतं मयाऽद्य ।
सुप्तेन किञ्चिदपि गाढतमस्यभूवं
क्षिप्तः समस्तविषयावगमासमर्थः ॥ १२१ ॥

योजना—तदा त्वदीयम् अज्ञानमेव अवगतम्, येन उत्थितः वदसि—मया सुप्तेन अद्य किंचिदपि न अवगतम् , गाढतमसि क्षिप्तः, समस्तविषयावगमासमर्थः अभूवम् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—(हे शिष्य !) उस (सुषुप्ति) समय तेरा अज्ञान ही अवगत था, जिसके कारण तू उठकर कहता है—मैंने सोते हुए आज कुछ भी नहीं जाना, गाढ निद्रा में पड़ा हुआ समस्त विषयों के जानने में असमर्थ रहा ॥

भावितार्थ—सुषुप्ति समय साक्षी के द्वारा अज्ञानमात्र का भान होता है, विषय-वर्ग का नहीं, अतः सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान में समस्त प्रपंच विलीन होकर स्थित था, यह सिद्ध होता है ॥ १२१ ॥

विपक्ष-बाधक तर्क दिखाते हैं—

अज्ञानमत्र यदि नानुभवात्प्रसिद्धं
नाज्ञासिषं त्विति कुतस्तव निश्चयोऽभूत् ।
अज्ञानमस्त्यवगतं च सुषुप्तिकाले
तेनेति निश्चिनु तवानुभवप्रमाणात् ॥ १२२ ॥

योजना—यदि अत्र अनुभवात् अज्ञानम् न प्रसिद्धम्, “न अज्ञासिषं तु”-इति तव निश्चयः कुतोऽभूत् ? तेन सुषुप्तिकाले अज्ञानम् अवगतमस्तीति निश्चिनु, तव अनुभव-प्रमाणात् ॥ (वसन्ततिलकाच्छंदः) ॥

योजितार्थ—यदि यहाँ (सुषुप्ति काल में) अनुभव से अज्ञान नहीं सिद्ध होता, तब “नहीं जाना”—यह तेरा निश्चय कैसे हुआ ? अतः सुषुप्ति में अज्ञान अवगत था—ऐसा निश्चय कर; क्योंकि तेरा अनुभव ही प्रमाण है ॥ १२२ ॥

सुषुप्ति में अज्ञान का अनुभव मानने पर निखिल ज्ञान-शून्य सुषुप्ति ही उपपन्न न होगी—इस आक्षेप का समाधान करते हैं—

स्पष्टानुभूतिविषयो न तमस्तदानीम्
आसीदहङ्करणहीनतयाऽधुना तु ।
निष्पाद्य कार्यमिदमंशमहं न जाने
मूढोऽस्मि चेत्यवगतेर्विषयत्वमागात् ॥ १२३ ॥

योजना—तदानीं अहंकरणहीनतया तमः स्पष्टानुभूतिविषयो न आसीत्, अधुना तु इदम् अंशं कार्यं निष्पाद्य “अहं न जाने मूढोऽस्मि च”-इत्यवगतेः विषयत्वम् आगात् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—उस समय (=सुषुप्ति में) अहंकार रहित होने के कारण अज्ञान स्पष्ट अनुभूति का विषय नहीं था, इस समय (=जाग्रत् काल में) अपने ‘इदम् अंश’ रूप-कार्य का निष्पादन करके “मैं कुछ नहीं जानता अज्ञानी हूँ-इस प्रतीति की विषयता को प्राप्त हो गया ॥

भावितार्थ—“निखिल ज्ञान-शून्य सुषुप्ति है’—इस प्रकार की प्रसिद्धि का तात्पर्य है कि सुषुप्ति में अहंकार वृत्ति नहीं रहती, अतः “मैं अनुभव कर रहा हूँ”—इस प्रकार का सविकल्प अनुभव नहीं होता। जाग्रत् काल में अज्ञान अपने व्यंजक अहंकार रूप कार्य का निष्पादन करके “मूढोऽस्मि”—इस प्रतीति का विषय बन जाता है। आशय यह है कि सुषुप्ति में अज्ञान का साक्षी अनुभव अवश्य है, नहीं तो जागने पर “नाहमज्ञासिषम्”-इस प्रकार से स्मरण किसका होगा ? हाँ इस स्मरण की ‘अहम्’-यह अंश जाग्रत्काल की मिली हुई है, सुषुप्तिकाल की नहीं ॥ १२३ ॥

अज्ञान का स्पष्ट अनुभव न होने से ही “सुषुप्तौ तमः स्वरूपमपि नानुभूतं मया”—यह प्रतीति भी बन जाती है—

एतावता तव तमोऽपि सुषुप्तिकाले
नास्तीति बुद्धिरुदितं गुरुभिश्च कैश्चित् ।
स्थाने क्वचित्क्वचिदतो द्वयमुच्यमानं
ग्राह्यं विविच्य भवता विषयं विभज्य ॥ १२४ ॥

योजना—एतावता कैश्चिद् गुरुभिः क्वचित् क्वचित् स्थाने उदितम्—"सुषुप्तिकाले तमोऽपि नास्तीति बुद्धिः" अतः उच्यमानं द्वयम् भवता विषयं विभज्य विविच्य ग्राह्यम् ॥ (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ-इसीलिए (=स्पष्ट अनुभव न होने के कारण) कतिपय गुरु लोगों ने किसी-किसी स्थान पर कह दिया है—"सुषुप्तिकाल में अज्ञान भी नहीं था—यह प्रतीति होती है," अतः कथित दोनों (=अज्ञान के सत्त्वासत्त्व-वचनों) को आप विषय विभाग करके विभिन्न विषयक जान रखें।

भावितार्थ—'सुषुप्तिकाले मूढः आसम्' तथा "सुषुप्तौ अज्ञानमपि नानुभूतम्"-इस प्रकार के अज्ञान की सत्ता और असत्ता के बोधक वचनों का सामंजस्य अज्ञान के साक्षो अनुभव और स्पष्ट मानस अननुभव को लेकर कर लेना चाहिए ॥ १२४ ॥

वे दोनों वचन दिखाते हैं—

नाज्ञानमस्ति च सुषुप्तिगतस्य पुंसो
गाढे तमस्ययमभूत्पुरुषः सुषुप्तः ।
इत्युच्यमानमविरुद्धतया विविच्य
ग्राह्यं त्वयाऽनुभवयुक्तिनिरूपणेन ॥ १२५ ॥

योजना—'सुषुप्तिगतस्य पुंसः अज्ञानं नास्ति'' अयं सुषुप्तः पुरुषः गाढे तमसि'—इत्युच्यमानम् त्वया अनुभवयुक्तिनिरूपणेन अविरुद्धतया विचिन्त्य ग्राह्यम् (वसन्तति०) ॥

योजितार्थ—'सुषुप्तिगत पुरुष को अज्ञान अनुभूत नहीं है', 'यह सुषुप्त पुरुष गाढ़ अज्ञान में था'—इस प्रकार के वचन तुझे अनुभव और युक्ति के आधार पर अविरुद्ध जानकर ग्रहण करने चाहिए ॥

भावितार्थ—अज्ञान की सत्ता और असत्ता के अनुभव दिखाये जा चुके हैं और युक्तियाँ भी दी जा चुकी हैं कि यदि सुषुप्ति में अज्ञान का नाश हो जाय, तब उत्थान किसके आधार पर होगा? यदि अज्ञान सुषुप्ति में अनुभूत नहीं तब जाग्रत्काल में "नावेदिषम्" से स्मरण कैसे होगा? यदि अज्ञान का स्पष्ट अनुभव वहाँ माना जाय, तब भी सकल ज्ञानाभाव की उपपत्ति कैसे होगी? ॥ १२५ ॥

परम्परा से अज्ञानाभाव के बोधक वचनों की भी योजना उक्त रीति से कर लेनी चाहिए—

एवं तमोऽपि न बभूव सुषुप्तिकाले
भाषान्तरेण पुरुषः पर एव जीवः ।
निर्वीजतामुपगतः स निरन्वयेन
न स्पष्टमत्र तमसोऽनुभवोऽस्ति यस्मात् ॥ १२६ ॥

योजना—'जीवः पर पुरुषः एव संवृत्तः'—इति भाषान्तरेण सुषुप्तिकाले तमोऽपि न बभूव, एवं 'सः (जीवः) निरन्वयेन निर्वीजताम् उपगतः' यस्मात् अत्र स्पष्टं तमसोऽनुभवो नास्ति (वसन्ततिलका०) ॥

योजितार्थ—'जीव परम पुरुष ही हो गया था' इन शब्दों से अर्थ-सिद्ध 'सुषुप्ति-

काल में तम भी नहीं था'—यह भी वैसा ही है, क्योंकि "वह जीव निरुपाधिक होकर अज्ञानरूप संसार-बीज से रहित हो गया' यहाँ स्पष्ट रूप से कहा है कि तम का अनुभव नहीं होता है ॥

भावितार्थ—जहाँ-जहाँ भी शास्त्रकारों ने सुषुप्तिकाल में अज्ञान का अभाव बताया है, वहाँ सब कहीं अज्ञान के अनुभव का अभाव ही विवक्षित है ॥ १२६ ॥

'सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छां० ६।८।१) आदि श्रुतिवचनों का भी वही तात्पर्य है—

अज्ञानतज्ञमतिहीनतया सुषुप्ते
शुद्धः परोऽसि भगवानसि नित्यमुक्तः ।
कामश्च कर्म सकलं च तदा कुतस्त्यं
चित्सागरेऽनवकरे त्वयि तायमाने ॥ १२७ ॥

योजना—सुषुप्ते अज्ञानतज्जमतिहीनतया परः शुद्धोऽसि, नित्यमुक्तः भगवान् असि, तदा त्वयि तायमाने अनवकरे चित्सागरे कामः कर्म सकलं च कुतस्त्यम् ? (व०) ॥

योजितार्थ—सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान और अज्ञान-जन्य (अहंकारादि प्रपंच) का अनुभव न होने से (हे शिष्य तू) परमात्मरूप शुद्ध है, नित्यमुक्त भगवान् है, उस समय तेरे महान् असीम चित्सागर में काम, कर्म तथा सकल भ्रम की तरंगें कैसे होंगी ?

भावितार्थ—"सुषुप्तिकाल में यह जीव ब्रह्मरूप हो जाता है"—आदि वादों का भी यही तात्पर्य है कि उस समय अज्ञानादि का अनुभव न होने से आत्मा अपने नैसर्गिक रूप में समवस्थित होता है ॥ १२७ ॥

यदि सुषुप्ति में अज्ञान का अभाव नहीं होता, तब वहाँ यह आत्मा शुद्ध और निर्मल कैसे कहा जाता है ? इस शङ्का को दूर करते हैं—

आसीदहंकरणमात्मतमोनिमित्तं
तज्जाग्रतश्च भवतः स्वपतश्च दु खम् ।
आनीय दर्शयति तन्न सुषुप्तिकाले
बीजक्षयादिति भवानतिनिर्मलोऽभूत् ॥ १२८ ॥

योजना—[1]आत्मतमोनिमित्तं यद् अहंकरणम् आसीत्, तत् जाग्रतः स्वपतश्च भवतः दुःखम् आनीय दर्शयति । सुषुप्तिकाले तन्न न, बीजक्षयात् भवान् अतिनिर्मलो अभूत् (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—आत्मा के अज्ञान का कोई जो अहंकार था, वही जाग्रत् और स्वप्न में आपको सुख-दुःख लाकर दिखाता है । सुषुप्ति अवस्था में वह नहीं, (मलों के) बीज का क्षय हो जाने से आप अत्यन्त निर्मल थे ॥

भावितार्थ—जीव में सुख-दुःख का अनुभव महान् मल है, इस मल का बीज है—अहंकार । सुषुप्ति काल में अहंकार नहीं रहता, इसलिए अज्ञान के रहने पर भी आत्मा शुद्ध, बुद्ध और निर्मल कहलाता है ॥ १२८ ॥

---

[1]. आत्मनः तमोऽज्ञानं निमित्तं यस्य, तदिति भावः ।

अहंकार का निमित्तभूत अज्ञान भावरूप है—

सद्रूपमावरणतानुभवादभीष्टम्
अज्ञानमात्मचिति नैशतमोवदेतत् ।
ज्ञानं दिवाकरवदस्य जडप्रकाश-
रूपं निवर्त्तकमिति प्रवदन्ति धीराः ॥ १२९ ॥

योजना—आत्मचिति एतत् अज्ञानम् आवरणतानुभवात् नैशतमोवत् सद्रूपम् अभीष्टम्, अस्य जडप्रकाशरूपं ज्ञानं दिवाकरवत् निवर्त्तकम् इति धीराः प्रवदन्ति।। (वसन्ततिलका०) ।।

योजितार्थ—आत्मा में यह अज्ञान आवरणरूपता के अनुभव के कारण रात्रि के अन्धकार के समान भावरूप ही माना जाता है, इस (अज्ञान) का साभास अन्तःकरण-वृत्तिरूप ज्ञान सूर्य के समान निवर्त्तक है—ऐसा धीरगण कहते हैं ।।

भावितार्थ—अज्ञान को भावरूप मानने में दो प्रबल युक्तियाँ दिखाई जाती हैं-(१) अज्ञान का आवरणरूप में अनुभव और "अज्ञानेनावृतम्" आदि शास्त्रों का कथन यह सिद्ध करता है कि अज्ञान आवरणरूप होने से वैसे ही भावरूप है, जैसे कि रात्रि का अन्धकार। अभावरूप होने पर अज्ञान किसी को आवृत न कर सकेगा। (२) अज्ञान का निवर्तक भावरूप ज्ञान माना जाता है, इसलिए भी अज्ञान को भाव रूप ही मानना होगा ॥१२९॥

वादिगणों को भी ऐसा ही मानना चाहिए—

प्रावादुकैरपि तथैव तदेषितव्यं
संवेदनेऽस्फुरणमभ्युपयद्भिरग्रे ।
संवेदनं न खलु संविदभावरूपम्
अज्ञानमभ्युपगतं न च बुद्ध्यभावः ॥ १३० ॥

योजना—अग्रे संवेदने अस्फुरणम् अभ्युपयद्भिः प्रावादुकैरपि तत् तथैव एषितव्यम्, संवेदने न खलु संविदभावरूपम् अज्ञानम् अभ्युगतम्, न च बुद्ध्यभावः ।। (वसन्तति०) ।।

योजितार्थ—(ज्ञान की उत्पत्ति से) पहले संवेदनरूप आत्मा में अज्ञान माननेवाले वादिगणों को भी वह (अज्ञान) वैसा (भावरूप) ही मानना होगा, क्योंकि आत्मा में न तो संविदभावरूप अज्ञान माना जाता है और न बुद्ध्यभावरूप ।।

भावितार्थ—जिज्ञासा होती है कि संवेदनस्वरूप आत्मा का आवरक अज्ञान संवेदनाभावरूप विवक्षित है ? या बुद्ध्यभावरूप ? दोनों ही संभव नहीं, क्योंकि अभाव से कोई वस्तु कभी आवृत नहीं होती, अतः परिशेषतः अज्ञान को भावरूप ही मानना पड़ेगा ।।

अतः अज्ञान के कार्यभूत अहंकार के न होने से ही सुषुप्ति में संसाराभाव के प्रतिपादक वाक्य संगत हो जाते हैं—

तस्मादशेषजगदेकनिदानभूतम्
अज्ञानमात्मविषयं न विरुद्धमूचु. ।
वेदावसानवचनानि मुनीश्वराश्च
स्थानेषु भूरिषु ततोऽव्यकरो न कश्चित् ॥ १३१ ॥

योजना—तस्माद् वेदावसानवचनानि मुनीश्वराः च भूरिषु स्थानेषु आत्मविषयम् अशेषजगदेकनिदानभूतम् अज्ञानं विरुद्धं न ऊचुः, ततः कश्चित् अवकरो न ॥ (वसन्तति०)

योजितार्थ—इसलिए वेदान्तवाक्य तथा मुनीश्वरगणों ने बहुत स्थलों पर निखिल जगत् के एकमात्र कारण, आत्मविषयक अज्ञान को विरुद्ध नहीं कहा है, अतः कोई विरोध नहीं ॥

भावितार्थ—'एष सम्प्रसादः' (छां० ११२१३) आदि वाक्य यदि अज्ञानाभाव का प्रतिपादन करते, तब "सति संपद्य न विदुः" (छां० ६।९।२) आदि अज्ञान-प्रतिपादक वाक्यों के साथ अवश्य विरोध होता, सुषुप्ति में आत्मा की शुद्धता और निर्मलता के प्रतिपादक वाक्यों का जब तात्पर्य केवल अहंकाराभाव और अज्ञानानुभवाभाव के प्रतिपादन में तात्पर्य माना जाता है, तब किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता ॥ १३१ ॥

सुषुप्ति में अहंकार के न होने से भी अज्ञान का भान साक्षिमात्र से हो जाता है—

साक्षित्वमात्मतमसा मतिकञ्चुकेन
मातृत्वमेतदपि नेह सुषुप्तिकाले ।
यद्धेतुकं भवति यन्न हि तद्विना तत्
संभाव्यते न च तदत्र सुषुप्तिकाले ॥ १३२ ॥

योजना—आत्मतमसा साक्षित्वम् । मतिकञ्चुकेन मातृत्वम्—एतदपि इह सुषुप्तिकाले न, यत् यद्धेतुकं भवति, तत् तद् विना सम्भाव्यते न हि, तद् अत्र सुषुप्तिकाले न च (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—आत्मविषयक अज्ञान मात्र के सम्बन्ध से (आत्मा में) साक्षित्व है । अन्तःकरणरूप उपाधि के सम्बन्ध से प्रमातृत्व होता है—यह भी आत्मा में सुषुप्ति समय नहीं, क्योंकि जो जिस निमित्त से होता है, वह उस (निमित) के बिना सम्भावित नहीं, वह (निमित्त) यहाँ सुषुप्ति काल में है नहीं ॥

भावितार्थ—अज्ञान के सम्बन्धमात्र से आत्मा साक्षी तो हो जाता है, किन्तु प्रमाता नहीं । सुषुप्ति अवस्था के अज्ञान का वही साक्षी भासक होता है । आत्मा में प्रमातृत्व अन्तःकरण के सम्बन्ध से ही आता है, सुषुप्तिकाल में अन्तःकरण नहीं रहता, अतः उस समय आत्मा को प्रमाता भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस उपाधि के सम्बन्ध से जो धर्म माना जाता है, उस उपाधि के बिना, वह धर्म कैसे रहेगा ? ॥ १३२ ॥

अनुभव के आधार पर ही अज्ञान की सत्ता सिद्ध की जाती है; सुषुप्ति में अनुभव न होने से अज्ञान का सद्भाव ही सिद्ध नहीं होता, फिर तो सुषुप्ति और मुक्ति में अन्तर क्या ? इस सन्देह का समाधान करते हैं—

अज्ञानमस्ति सकलं च सुषुप्तिकाले
तत्र प्रलीनमिति यद्यपि नास्ति पुंसः ।
स्पष्टानुभूतिरपवर्गविलक्षणत्वाद्
एष्टव्यमेव तु सुषुप्तिभुवस्तथात्वम् ॥ १३३ ॥

योजना—तत्र सुषुप्तिकाले सकलम् अज्ञानं प्रलीनम् अस्ति । यद्यपि पुंसः स्पष्टानुभूतिः नास्ति, (तथापि) अपवर्गविलक्षणत्वात् तु सुषुप्तिभुवः तथात्वम् एष्टव्यम्, (वसन्तति०)।

योजितार्थ—वहाँ सुषुप्तिकाल में सकल अज्ञान प्रलीन होकर रह रहा है । यद्यपि पुरुष को (उसकी) स्पष्ट अनुभूति नहीं होती, तथापि मोक्ष से विलक्षण होने के कारण सुषुप्ति स्थान को वैसा (प्रलीनाज्ञानक) मानना होगा ।।

भावितार्थ—यदि सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान का अत्यन्ताभाव मान लिया जाय, तब पुनरुत्थान कैसे होगा ? अतः अनुभव न होने पर भी वहाँ अज्ञान की सत्ता माननी होगी । मोक्ष से सुषुप्ति का यह महान् अन्तर है कि सुषुप्ति में अज्ञान है और मोक्ष में नहीं ।। १३३ ।।

यदि सुषुप्ति में भी अज्ञान है, तब अज्ञान से विविक्त आत्मा का अनुभव किस दृष्टान्त में सिद्ध होगा ? इस शंका को दिखाकर दूर करते हैं—

एवं सतीह तमसो न विविच्य वस्तु
साक्षान्निवेदयितुमस्ति निदर्शनं चेत् ।
नैतत्परागवगतेर्विषयो विभाति
गाढं तमो न तु तथाऽवगतिः प्रतीचि ।। १३४ ।।

योजना—एवं सति इह तमसो विविच्य, वस्तु साक्षात् निवेदयितुं निदर्शनं नेति चेत्, नैतत्, गाढं तमः परागवगतेः विषयो विभाति, प्रतीचि तु तथा अवगतिः न (वसन्तति०)

योजितार्थ—ऐसा मानने पर यहाँ अज्ञान से विविक्त आत्मवस्तु को साक्षात् रूप से दिखाने के लिए कोई दृष्टान्त नहीं रह जाता—ऐसा यदि कहा जाय, तो वह कहना उचित न होगा, क्योंकि गाढ़ अन्धकार (सुषुप्ति में) परागरूप से अनुभव का विषय होता है, किन्तु प्रत्यगात्मा में वैसा अनुभव नहीं होता ।।

भावितार्थ-सुषुप्ति में अज्ञान का स्पष्ट भान नहीं और आत्मा का स्पष्ट भान होता है, अतः आत्मा अज्ञान से विविक्त होकर ही सुषुप्ति में अवभासित है । जिन अवस्थाओं में अज्ञान का स्पष्ट अनुभव होता है, वहाँ भी अज्ञान का दृश्यरूप से और आत्मा का द्रष्टारूप से भान होता है, इससे भी अज्ञान से विविक्त आत्मा का अनुभव किया जा सकता है ।। १३४ ।।

यद्यपि सुषुप्ति अवस्था में प्रथमतः विवेचन नहीं हो सकता, फिर भी जाग्रदादि अवस्थाओं में विवेचित आत्मा की वहाँ स्पष्ट अनुभूति दिखाई जा सकती है—

प्रत्यक्पराग्विषयवस्तुविवेचनाय
क्लेशो न संभवति कस्यचिदत्र जन्तोः ।
दृश्यं तमो घटपटादिवदेव तस्य
द्रष्टा सुषुप्तिभुवि चिद्घनविग्रहोऽभूत् ।। १३५ ।।

योजना—अत्र कस्यचित् जन्तोः प्रत्यक्पराग्विषयविवेचनाय क्लेशः सम्भवति न, सुषुप्तिभुवि तमः घटपटादिवत् दृश्यम्, तस्य एव चिद्घनविग्रहो द्रष्टा अभूत् (वसन्तति०)।

योजितार्थ—यहाँ (जाग्रदादि अवस्थाओं में) किसी भी जीव को प्रत्यगात्मा और

पराग् विषय का विवेचन करने के लिए क्लेश की सम्भावना नहीं, क्योंकि सुषुप्ति काल में अज्ञान घट-पट आदि के समान दृश्य था और उसका यह चिद्घनस्वरूप (आत्मा) द्रष्टा था—(ऐसा परामर्श जाग्रद् में हो जाता है) ॥

भावितार्थ—सुषुप्ति से उठकर "अहमेतावन्तं कालं न किञ्चिदेवेदिषम्"–इस प्रकार सौषुप्त अनुभव का स्मरण होता है, उसमें 'अहम्'—यह द्रष्टा का तथा 'नावेदिषम्'–यह अज्ञानरूप दृश्य का उल्लेख होता है, अतः तदनुसार यह कल्पना की जाती है कि सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान दृश्यत्वरूप से और आत्मा द्रष्टृत्व रूप से भासित हुआ था ॥ १३५ ॥

अज्ञान का विवेचन हो जाने पर जाग्रदादि अवस्थाओं का विवेचन सुकर हो जाता है—

तिस्रोऽपि चिद्घनतनोस्तव दृश्यभूताः
दूरे चकासति मतेर्बहिरेव तावत् ।
आविस्तिरोभवनधर्मतया ह्यवस्थाः
कः संकरो विमलचिद्वपुषस्तवाभिः ॥ १३६ ॥

योजना—चिद्घनतनोः तव दृश्यभूताः मतेः तिस्रोऽपि अवस्थाः आविस्तिरोभवनधर्मतया दूरे बहिरेव तावत् चकासति; ताभिः विमलचिद्वपुषः कः सङ्करः ? (वसन्तति०) ॥

योजितार्थ—चिद्घनस्वरूप तेरी दृश्यभूत बुद्धि की तीनों अवस्थाएँ आगमापायी होने के कारण अत्यन्त बाह्य रूप से प्रतीत होती हैं, उन अवस्थाओं से तुझ निर्मल चैतन्य स्वरूप का सम्बन्ध क्या ?

भावितार्थ—कथित अवस्थाएँ बुद्धिरूप उपाधि की होती हैं, आत्मा की नहीं। अविवेक से आत्मा में वे आरोपित हो जाती हैं, विवेक होने पर उनसे कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता ॥ १३६ ॥

यदि वे अवस्थाएँ आत्मा की नहीं, तब किसकी हैं और आत्मा में "अहं जागर्मि" आदि रूप से प्रतीत क्यों होती हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर है—

त्वय्येव कल्पितमहंकरणं बिभर्ति
तिस्रोऽपि ताः सहितमेव तु तच्च ताभिः ।
त्वच्चित्प्रकाशविषयत्वमुपेत्य भाति
स्वाज्ञानवत्तव न रूपमतश्चतुष्कम् ॥ १३७ ॥

योजना—त्वयि कल्पितम् अहंकरणमेव ताः तिस्रोऽपि बिभर्ति, ताभिः सहितमेव तत् च स्वाज्ञानवत् त्वच्चित्प्रकाशविषयत्वम् उपेत्य भाति, रूपचतुष्कं तव न (व० ति०) ॥

योजितार्थ—तेरे में कल्पित अहंकार ही उन अवस्थाओं को धारण करता है, उन अवस्थाओं से युक्त वह (अहंकार) अपने अज्ञान के समान तुझ चित्प्रकाश की विषयता को प्राप्त होकर भासित् होता है, (तीन अवस्थाएँ तथा अहंकार–ये) चारों धर्म तेरे नहीं ।१३७।

कथित चारों पदार्थ आत्मा में कल्पित हैं–इसमें प्रमाण क्या ? इसका उत्तर देते हैं–

नान्वेति तत्तव चिता व्यतिरेकिता च
दूरे न संभवति तस्य चतुष्टयस्य ।
नाभावरूपभजनाय समर्थमेनत्
एवं चिदेव तु चतुष्टयमेतदासीत् ॥ १३८ ॥

योजना–तत् तव चिता अन्वेति न, तस्य चतुष्टयस्य व्यतिरेकिता तु दूरे सम्भवति, न एतत् अभावरूपभजनाय न समर्थम्, एवं एतत् चतुष्टयं चिदेव आसीत् (व० ति०) ॥

योजितार्थ– वे (चारों) तेरे चैतन्यरूप से अन्वित नहीं, उन चारों की व्यतिरेकिता (स्वतन्त्रता) तो कभी भी सम्भावित नहीं, ये (चारों) अभावरूप भी नहीं हो सकते; अतः ये चारों चैतन्यरूप ही हैं ॥

भावितार्थ—तीनों अवस्थाएँ और अहंकार—इन चारों की सिद्धि न तो आत्मा में हो सकती है, न बाहर स्वतन्त्र और न इनको अभावरूप माना जा सकता है, अतः अज्ञान के समान आत्मा में इनकी कल्पना ही सिद्ध होती है ॥ १३८ ॥

आत्मा की सत्यता और अनात्म प्रपञ्च की कल्पितता अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध करते हैं—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छिततनूनिष्क्रान्त्यवस्थासु यत्
चैतन्यं व्यभिचारिणीष्वनुगतं तत्सत्यमेवाऽऽत्मनः ।
यत्किञ्चिद्व्यभिचारि तन्ननु मृषा स्रक्सर्पदण्डादिवत्
नानुस्यूतचिदात्मवस्तु वदितुं शक्यं मृषा रज्जुवत् ॥१३९॥

योजना—व्यभिचारिणीषु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छिततनूनिष्क्रान्त्यवस्थासु यत् चैतन्यम् अनुगतम्, तत् सत्यमेव, स्रक्सर्पदण्डादिवत् आत्मनः यत्किञ्चित् व्यभिचारि, तत् मृषा ननु रज्जवत् अनुस्यूतचिदात्मवस्तु मृषा न वदितुं शक्यम् ॥ (शा० वि० छं०) ॥

योजितार्थ– परस्पर व्यभिचरित जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्ति-मूर्च्छा और मरण आदि अवस्थाओं में जो चैतन्य अनुस्यूत है, वह सत्य ही है, माला-सर्प-दण्ड आदि के समान आत्मा में जो कुछ व्यभिचारी है, वह मिथ्या ही है; रज्जु के समान अनुस्यूत चिदात्मा को मिथ्या नहीं कहा जा सकता ॥

भावितार्थ—जैसे एक ही रज्जु में माला-सर्प-दण्ड आदि विविध पदार्थों का भ्रम होता है, माला आदि परस्पर व्यभिचरित हैं और रज्जु सर्वत्र अव्यभिचरित (अनुगत) है, अतः रज्जु सत्य और माला आदि कल्पित हैं, मिथ्या हैं; वैसे ही एक ही आत्मा परस्पर व्यभिचरित जाग्रत् आदि अनेक अवस्थाओं में अनुगत होने से सत्य और जाग्रत् आदि अवस्थाओं को कल्पितमात्र माना जाता है ॥ १३९ ॥

इस प्रकार अज्ञान और अज्ञान के कार्य से विविक्त त्वम्पद के लक्ष्य आत्मतत्त्व को दिखाते हैं—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिधर्मकमिदं चित्तं त्वदज्ञानतः
प्रादुर्भूतमतस्त्वमेव सततं त्वत्तो न तद्भिद्यते ।
स्वाज्ञानं च तवानुभूतिबलतः सिद्धं मृषा तत्त्वतो
नाऽऽसीदस्ति भविष्यतीति भवतः पूर्णा चितिः शिष्यते ॥१४०॥

योजना—जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिधर्मकम् इदं चित्तं त्वदज्ञानतः प्रादुर्भूतम्, अतः तत् त्वमेव सततम् त्वत्तो भिद्यते न । स्वाज्ञानं च तवानुभूतिबलतः सिद्धम्, मृषा तत्त्वतः न आसीत्, अस्ति, भविष्यतीति भवतः पूर्णा चितिः शिष्यते ॥ (शा० वि० छं०) ॥

योजितार्थ—जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्ति धर्मवाला यह चित्त तेरे अज्ञान से प्रादुर्भूत हुआ है, अतः वह तेरा ही स्वरूप है, तेरे से भिन्न नहीं। अपना अज्ञान भी अनुभव के आधार पर सिद्ध होने से मिथ्या है, परमार्थतः वह न था, न है और न होगा, अतः तुम्हारा पूर्ण चैतन्य रूप ही अवशिष्ट रह जाता है ॥

भावितार्थ—जब अज्ञान की ही स्वतन्त्र सत्ता नहीं, वह आत्मा के आश्रित कल्पितमात्र है, तब अज्ञान के कार्य कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्मों की बात ही क्या ? इस प्रकार आत्मा में किसी प्रकार की अशुद्धि सिद्ध नहीं होती, अतः आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध है, वही त्वम्पद का लक्ष्य हैं ॥ १४० ॥

अपनें इस मत की पुष्टि में प्रमाण उपन्यास करते हैं—

ज्योतिर्ब्राह्मणवाक्यमानबलतः सम्पूर्णरूपा चितिः
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिधर्मरहिता मोक्षाय निश्चीयते ।
तस्मादस्मदुदीरितं स्वकवपुः श्रद्धत्स्व मानं विना
नास्माभिः प्रतिपादिता चितिरियं वाक्यार्थसम्बन्धिनी ॥१४१॥

योजना—ज्योतिर्ब्राह्मणवाक्यमानबलतः संपूर्णरूपा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिधर्मरहिता चितिः मोक्षाय निश्चीयते, तस्माद् अस्मदुदीरितं स्वकवपुः श्रद्धत्स्व, इयं वाक्यार्थसम्बन्धिनी चितिः अस्माभिः मानं विना प्रतिपादिता न ॥ (शा० वि० छं०)

योजितार्थ—ज्योतिर्ब्राह्मण (बृह० ४।३।९) वाक्य रूप प्रमाण के बल पर पूर्ण स्वरूप, जाग्रत्-स्वप्न,सुषुप्ति धर्मों से रहित, चैतन्य को ब्रह्मरूप होने के योग्य ठहराया है, इसलिए हमारे बताये हुए स्वरूप में श्रद्धा करो, इस अखण्ड वाक्यार्थरूप चेतन का हमने प्रमाण के बिना प्रतिपादन नहीं किया ॥

भावितार्थ—बृहदारण्यक (४।३।९) के ज्योतिर्ब्राह्मण में "अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः" रूप से आत्मा को सर्व व्यवहार का साक्षी विशुद्ध चैतन्य ज्योतिः स्वरूप बताया अनन्तर जाग्रदादि अवस्थाओं को आगमापायी ठहराते हुए महामत्स्य के दृष्टान्त से आत्मा को असङ्ग बताया, जिससे आत्मा के नित्य शुद्ध बुद्ध रूपत्व में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता, उसे ही अपना वास्तविक रूप स्थिर करना चाहिए ॥ १४१ ॥

त्वंपदार्थ-शोधन-प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

एवं त्वंपदलक्ष्यवस्तु भवता यत् पृष्टमासीत् पुरा
तन्निर्णीतमतोऽन्यदस्ति यदि ते चित्तस्थितं पृच्छ तत् ।
बुद्धिस्थं कुरु पूर्वमुक्तमखिलं यद्वक्ष्यमाणं च तद्
बोद्धुं धारय ते मनः स्थिरतरं श्रद्धाधनाद्याश्रयः ॥ १४२ ॥

योजना—एवं भवता यत् पुरा त्वंपदलक्ष्यवस्तु पृष्टम् आसीत्, तत् निर्णीतम्, अतः अन्यत् यदि ते चित्तस्थितम् अस्ति, तत् पृच्छ। पूर्वम् उक्तम् अखिलं बुद्धिस्थं कुरु, यद् वक्ष्यमाणं तत् बोद्धुं च श्रद्धाधनाश्रयः (सन्) ते मनः स्थिरतरं धारय ॥(शा० वि० छं०)॥

योजितार्थ—इस प्रकार तुमने जो पहले त्वम्पद की लक्ष्यभूत वस्तु पूछी थी, वह निर्णीत हो गई, अतः अन्य (कोई सन्देह) यदि तुम्हारे मन में है, तो पूछो। पूर्वोक्त

निखिल (पदार्थ) बुद्धि में जमा लो और जो वक्ष्यमाण है, उसे जानने के लिए श्रद्धारूप धन से सम्पन्न होकर अपने मन को स्थिर करो ।। १४२ ।।

तत्पदलक्ष्यार्थजिज्ञासा

शिष्य अवसर-प्राप्त तत् पद के लक्ष्य अर्थ को पूछता है—

इत्युक्ते गुरुणा स पृच्छति पुनस्त्वंशब्दलक्ष्यं मम
ज्ञातं न्यायबलेन पूर्वमुदितावस्थात्रयापोहनात् ।
तच्छब्देन तु लक्ष्यमर्थमधुना बोद्धुं मनो मामकं
धावत्याशु तमप्यपोह्य सकलद्वैतप्रपंचं वद ॥ १४३ ॥

योजना—इति गुरुणा उक्ते, स पुनः पृच्छति—पूर्वम् न्यायबलेन उदितावस्थात्रयापोहनात् त्वम्पदलक्ष्यं मम ज्ञातम् ।। अधुना 'तु तच्छब्देन लक्ष्यम् अर्थं बोद्धुं मामकं मनः आशु धावति, सकलद्वैतप्रपञ्चम् अपोह्य तमपि वद ।। (शा० वि० छं०)

योजितार्थ—इस प्रकार गुरु के कहने पर (शिष्य) पुनः पूछता है—पहले कथित न्याय के बल पर उक्त तीनों अवस्थाओं से विवेक करके त्वम्पद के लक्ष्य का मुझे ज्ञान हो गया । अब तो 'तत्' शब्द के लक्ष्य अर्थ को जानने के लिए मेरा मन शीघ्र उतावला हो रहा है, सकल द्वैत प्रपञ्च का अपोह करके उसे भी कहिए ।। १४३ ।।

जिज्ञासा का विभाग करते हैं—

किं सप्रपंचमिदमस्त्वथ वा समस्त-
द्वैतप्रपञ्चरहितं परिपूर्णरूपम् ।
यद्वोभयात्मकमिदं परमार्थतोऽस्तु
विष्णोः परं पदमितीह विचारणीयम् ॥ १४४ ॥

योजना—इदं विष्णोः परं पदं किं सप्रपञ्चम् अस्तु ? अथवास मस्तद्वैतप्रपञ्चरहितं परिपूर्णरूपम् ? यद्वा इदम् परमार्थतः उभयात्मकम् अस्तु ? इतीह विचारणीयम् ।। (वसन्ततिलका) ।।

योजितार्थ—यह विष्णु का परम पद क्या सप्रपञ्च है ? अथवा समस्त द्वैतप्रपञ्च से रहित परिपूर्ण है ? अथवा यह परमार्थतः उभयरूप है ? यह यहाँ विचारणीय है ।।

भावितार्थ—'तत्' पद का लक्ष्य ब्रह्म है—यह सामान्यतः ज्ञान होने पर भी विशेष रूप में सन्देह है कि वह क्या सप्रपञ्च है ? या निष्प्रपञ्च ? अथवा उभयात्मक ? इससे यह सुव्यक्त कर दिया कि सदैव सामान्यतः ज्ञात और विशेषतः अज्ञात वस्तु ही विचारणीय होती है ।। १४४ ।।

सन्देह का कारण दिखाते हैं—

वेदान्तवाक्यगतिरत्र बहुप्रकारा
काचित् कथंचिदिति संशय उत्थितो मे ।
तत्त्वं प्रकाशय निवर्त्तय मोहमूलं
मत्संशयं मम हिताय भव प्रसीद ॥ १४५ ॥

योजना—अत्र वेदान्तवाक्यगतिः बहुप्रकारा—काचित् कथंचित्, इति में संशयः उत्थितः। मोहमूलं मःसंशयं निवर्त्तय ! तत्त्वं प्रकाशय ! मम हिताय भव ! प्रसीद ! (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—इस (ब्रह्म के विषय) में वेदान्त-वाक्यों की गति बहुत प्रकार की है—कोई कैसी और कोई कैसी, इसलिए मुझे सन्देह हो गया। मोह-जन्य मेरे संशय को निवृत्त कीजिए ! तत्त्व का प्रकाश कीजिए ! मुझ पर उपकार कीजिए ! प्रसन्न हो जाइए ॥

भावितार्थ—यद्यपि "वाचारम्भणम्" (छां० ६।१।४) "नेति नेति" (बृह० २।३।६) आदि वेदान्त-वाक्य ब्रह्म को निष्प्रपञ्च बताते हैं, तथापि "सर्वगन्धः सर्वरसः" (छां० ३।१४।२) आदि वाक्य ब्रह्म को सप्रपञ्च सिद्ध करते हैं, अतः सन्देह हो जाता है कि वस्तु-स्थिति क्या है ? वस्तुतः ब्रह्म सप्रपञ्च है ? या निष्प्रपञ्च ? या उभयरूप ? ॥ १४५ ॥

तत्पदलक्ष्यनिर्णयः

परमार्थतः ब्रह्म निष्प्रपञ्च ही है—यह गुरु निर्णय देता है—

न स्थानतोऽप्यस्ति परस्य कश्चि
द्विशेषयोगः परमार्थरूपः ।
स्वतः पुनर्दूरनिरस्त एव
परस्य तत्त्वस्य विशेषयोगः ॥ १४६ ॥

योजना—परस्य कश्चित् परमार्थरूपः विशेषयोगः स्थानतोऽपि नास्ति, स्वतः पुनः परस्य तत्त्वस्य विशेषयोगः दूरनिरस्तः एव ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ—परब्रह्म में कोई वास्तविक विशेष (प्रपञ्च) का योग उपाधि के द्वारा भी नहीं, स्वतः तो परमेश्वर के साथ प्रपञ्च-सम्बन्ध दूरतः निरस्त ही है ॥

भावितार्थ—ब्रह्म में उपाधि के सम्बन्ध से भी किसी प्रकार का कलङ्क नहीं आता, स्वतः तो वह शुद्ध, शुद्ध, मुक्तस्वभाव है ही ॥ १४६ ॥

तब ब्रह्म को सप्रपञ्च बतानेवाले वचनों की क्या गति होगी ? इसका उत्तर है—

स्वभावतश्चिद्घनविग्रहस्य
मृषा ह्युपाधिप्रभवा विशेषाः ।
यथा जपापुष्पनिबन्धनः स्यात्
मृषा मणेर्लोहितिमा तथैव ॥ १४७ ॥

योजना—यथाहि जपापुष्प-निबन्धनः मणेः लोहितिमा मृषा स्यात्, तथैव स्वभावतः चिद्घनविग्रहस्य उपाधिप्रभवा विशेषाः मृषा ॥ (उपेन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—जैसे कि जपा पुष्प के योग से प्राप्त स्फटिक मणि की लालिमा मिथ्या है, वैसे ही स्वतः चिद्घनस्वरूप ब्रह्म के उपाधिप्रसूत विशेष धर्म मिथ्या हैं ॥

भावितार्थ—स्फटिक मणि के साथ जपा कुसुम का वास्तविक सम्बन्ध होने पर भी स्फटिक की लालिमा आरोपितमात्र है, किन्तु ब्रह्म के साथ तो समस्त उपाधियों

का सम्बन्ध आध्यासिकमात्र है, अतः उनके योग से ब्रह्मगत औपाधिक धर्म अत्यन्त मिथ्या होते हैं ।। १४७ ।।

ब्रह्म में ईश्वरत्व तथा प्रत्यगात्मा में जीवत्व भी काल्पनिक ही है—

मायोपाधेरद्वयस्येश्वरत्वं
कार्योपाधेर्जीवता च प्रतीच ।
मिथ्यैव स्याद् बन्धुजीवप्रसून-
संपर्कोत्था रक्ततेवाभ्रकादेः ।। १४८ ।।

योजना—मायोपाधेः अद्वयस्य ईश्वरत्वं, कार्योपाधेः प्रतीचः जीवता च बन्धुजीवप्रसूनसम्पर्कोत्था अभ्रकादेः रक्तता इव मिथ्यैव ।। (शालिनीच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—माया उपाधि के योग से (कल्पित) अद्वय ब्रह्म में ईश्वरत्व और अन्तःकरणरूप कार्य के योग से (कल्पित) प्रत्यगात्मा में जीवत्व बन्धूक (गुलदुपहरिया) के सम्बन्ध से उत्पन्न अभ्रक आदि में लालिमा के समान मिथ्या ही है ।।

भावितार्थ—"मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वेता० ४।१०) आदि श्रुतियाँ उपास्य अर्थ का बोध कराने के लिए प्रवृत्त हुई हैं, अतः इनका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं, "नेति नेति" (बृह० २।३।६) आदि वस्तुस्वरूप-प्रतिपाद श्रुतियों का ही स्वार्थ में तात्पर्य माना जाता है। इसलिए आत्मा में कल्पित ईश्वरत्व और जीवत्व वैसे ही मिथ्या है, जैसे कि गुलदुपहरिया फूल के योग से अभ्रक आदि में कल्पित रक्तता मिथ्या है ।। १४८ ।।

औपाधिक धर्मों को मिथ्या मान लेते यदि—"यद् औपाधिकम्, तन्मृषा" यह व्याप्ति होती, किन्तु वस्त्र में पड़ा भल्लातक (भिलावा) का धब्बा औपाधिक होने पर भी मिथ्या नहीं, अतः चैतन्यगत ईश्वरत्व, औपाधिक होने पर भी मिथ्या क्यों होगा ? इस शंका को दूर करते हैं—

भल्लातकादिरसयोगनिबन्धनं च
वस्त्रे कलङ्कितमनेन पथा निरस्तम् ।
तस्यापि पक्षपतितत्वमभीष्टमेव
तस्मादसौ न भवति व्यभिचारभूमिः ।। १४९ ।।

योजना-अनेन पथा भल्लातकादिरसंयोगनिबन्धनं वस्त्रे कलङ्कितं निरस्तम्, तस्यापि पक्षपतितत्वम् अभीष्टमेव, तस्माद् असौ व्यभिचारभूमिः न भवति ।। (वसन्त०) ।।

योजितार्थ—इसी न्याय से भल्लातकादि के रस के लगने से वस्त्र में पड़े धब्बे की वास्तविकता निरस्त हो जाती है, क्योंकि उस कलङ्क का भी पक्षकोटि में निवेश अभीष्ट है, अतः यह व्यभिचार-स्थल नहीं ।।

भावितार्थ—औपाधिक धर्मों की स्थिति तभी तक देखी जाती है, जब तक उपाधि का सम्बन्ध है, जैसे स्फटिकगत रक्तिमा जपा कुसुम के सम्बन्ध तक ही होती है, जपा कुसुम के हटा लेने पर वह नहीं रहती। भल्लातक का रस भी उपाधि है, इस उपाधि का योग जब तक है, तब तक वस्त्र की कालिमा दूर नहीं हो सकती, यदि किसी तीक्ष्ण

क्षार-द्रव्य के द्वारा वस्त्र में लगा भिलावे का रस दूर किया जा सके, तब अवश्य वह कालिमा दूर हो सकती है। यह सर्वथा निश्चित है कि उस रस की ही कालिमा वस्त्र में प्रतीत होती है, अतः वह भी आरोपित है, मिथ्या है ॥ १४९ ॥

कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि की औपाधिकता श्रुति और दृष्टान्त के द्वारा प्रमाणित करते हैं—

यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान्
अपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो
देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥ १५० ॥

योजना—यथा हि अयं ज्योतिरात्मा विवस्वान् एकः (सन्) भिन्नाः अपः बहुधा अनुगच्छन् उपाधिना भेदरूपः क्रियते, एवम् अयम् आत्मा देवः अजः (अपि) क्षेत्रेषु (भेदरूपः क्रियते) ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ-जैसे यह प्रकाशस्वरूप सूर्य एक होनें पर भी विभिन्न जलपात्रों में प्रतिबिम्बित होकर उपाधि के द्वारा अनेक बन जाता है, वैसे ही यह आत्मदेव अजन्मा होनें पर भी शरीरों में प्रविष्ट होकर अनेक रूप हो जाता है ॥

भावितार्थ—श्रुतियाँ कहती हैं—"एकैकं जलं बहुधा विकुर्वन् अस्मिन् क्षेत्रे सञ्चरत्येष देवः" (श्वेता० ५।३) "एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" (ब्रह्मबि० १२) अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" (कठो० ५।९) अर्थात् जैसे एक ही आदित्य अनन्त जलों में प्रविष्ट होकर अनेक रूप का प्रतीत होता है, वैसे ही यह अजन्मा, अकर्ता, अभोक्ता आत्मा शरीररूप उपाधियों के योग से अनेक कर्तृत्व आदि धर्मों से समन्वित अनेक प्रतीत होता है, वस्तुतः आत्मा शुद्ध, निर्लिप्त एक है ॥१५०॥

परमात्मा में ऐश्वर्य भी मायोपाधिक ही है—यह स्थिर करने के लिए ६ श्लोकों में मतान्तर दिखाते हैं—

ऐश्वर्यमस्य परमात्मन उक्तमन्यैः
साक्षात्स्वरूपमवबोधसुखादितुल्यम् ।
तेनेशते किल यथायथमीशितव्यान्
भृत्यान्प्रतीश्वरतया जगतीभृतोऽपि ॥ १५१ ॥

योजना—अस्य परमात्मनः ऐश्वर्यम् अवबोधसुखादितुल्यम् अन्यैः साक्षात् स्वरूपम् उक्तम्, तेन जगतीभृतोऽपि ईशितव्यान् भृत्यान् प्रति ईश्वरतया यथायथम् ईशते किल ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इस परमेश्वर के ऐश्वर्य को ज्ञान-सुखादि के समान ही अन्य विद्वानों ने साक्षात् स्वरूप कहा है, उसी (ऐश्वर्य के बल) से नरेशगण अपने अनुशासितव्य भृत्यों के प्रति ईश्वर (शासक) होने के कारण यथाशक्ति शासन करते हैं ॥

भावितार्थ—दूसरे विद्वानों का कहना है कि ज्ञान-सुख आदि के समान ही ऐश्वर्य भी परमेश्वर का स्वरूप ही है। वही ऐश्वर्य लौकिक नरेशों में न्यूनाधिक भाव से

अभिव्यक्त होकर उन्हें अपनी प्रजा का शासक बनाता है। जिसमें स्वल्प ऐश्वर्य है, वह थोड़ी प्रजा पर और जिसमें प्रचुर ऐश्वर्य है, वह अधिक प्रजा पर शासन करता है ॥ १५१ ॥

दृष्टान्त का स्पष्टीकरण करते हैं—

नित्यं प्रियादिषु सुखं प्रतिबिम्बितं सत्
लोके वदन्ति विषयेन्द्रियसंप्रयोगात् ।
उत्पन्नमन्यदिति तद्वदिहेश्वरत्वं
माया तदुत्थमतिषु प्रतिबिम्बितं सत् ॥ १५२ ॥

योजना—(यद्वत्) नित्यं सुखं प्रियादिषु प्रतिबिम्बितं सत् लोके विषयेन्द्रियसम्प्रयोगात् उत्पन्नम् अन्यद् वदन्ति, तद्वत् इह, ईश्वरत्वं मायातदुत्थमतिषु प्रतिबिम्बितं सत् ॥

योजितार्थ—जैसे एक नित्य सुख प्रिय-मोद आदि वृत्तियों में अभिव्यक्त होकर लोक में विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध से जन्य कहा जाता है, वैसे ही यहाँ ऐश्वर्य भी माया एवं माया-जन्य बुद्धियों में अभिव्यक्त होकर अनेक रूपों में प्रतीत होता है ॥

भावितार्थ—जैसे एक ही आत्मरूप सुख विविध एकाग्र वृत्तियों में अभिव्यक्त होता है, किन्तु लोक में एकाग्रता-सम्पादक विषयों से जन्य वह सुख माना जाता है, वैसे ही ऐश्वर्य भी एक ही है, आत्मस्वरूप है, माया में प्रतिफलित होकर मायी ईश्वर को बड़ा ईश्वर और माया-जन्य अन्तःकरणों में न्यूनाधिक रूप में प्रतिफलित होकर जीवों को छोटा ईश्वर बनाता है ॥ १५२ ॥

माया में प्रतिबिम्बित ऐश्वर्य सबकी अपेक्षा निरतिशय तथा हिरण्यगर्भ आदि के अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित ऐश्वर्य सातिशय कहा जाता है—

मायानिविष्टवपुरीश्वरबोध एष
सर्वेश्वरो भवति सर्वमपेक्षमाणः ।
बुद्धिप्रविष्टवपुरेष तथेश्वरः स्याद्
आत्मीयभृत्यजनवर्गमपेक्षमाणः ॥ १५३ ॥

योजना—एषः ईश्वरबोधः मायानिविष्टवपुः सर्वम् अपेक्षमाणः सर्वेश्वरो भवति, तथा एष बुद्धिप्रविष्टवपुः आत्मीय भृत्यजनवर्गम् अपेक्षमाणः ईश्वरः स्यात् ॥ (वसन्तति०) ॥

योजितार्थ—यह ईश्वररूप बोधात्मा माया में प्रतिबिम्बित होकर समस्त विश्व की अपेक्षा से सर्वेश्वर होता है, वैसे यह बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर अपने भृत्यजनों की अपेक्षा से (यथा योग्य) ईश्वर होता है ॥

भावितार्थ—माया उपाधि एक है, तारतम्य-रहित है, अतः उसमें प्रतिबिम्बित चेतन सर्वेश्वर माना जाता है, किन्तुमाया-निर्मित अन्तःकरण अनन्त हैं और तारतम्य-वाले होते हैं, अतः उनमें प्रतिबिम्वित चेतन अपनी-अपनी प्रजा की अपेक्षा छोटा-बड़ा ईश्वर माना जाता है ॥ १५३ ॥

"स स्वराड् भवति" (छां० ७।२५।२) आदि श्रुतियों ने मुक्त आत्मा में परम ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति बताई है, इससे भी यही निश्चित होता है कि आत्मा में ऐश्वर्य स्वतः है—

सम्यग्ज्ञानध्वस्तसर्वप्रपञ्चः
स्वीये रूपे निर्गुणे निर्विशेषे ।
पूर्णैश्वर्ये स्वप्रकाशस्वभावे
स्वाराज्येऽस्मिन्स स्वराडेव तिष्ठेत् ॥ १५४ ॥

योजना—सम्यग्ज्ञानध्वस्तसर्वप्रपञ्चः स स्वराट् (सन्) स्वीये अस्मिन् निर्गुणे निर्विशेषे पूर्णैश्वर्ये स्वप्रकाशस्वभावे स्वाराज्ये रूपे तिष्ठेत् ॥ (शालिनी०) ॥

योजितार्थ—तत्त्वज्ञान से जिसका सर्वप्रपञ्च ध्वस्त हो गया, ऐसा वह (मुक्त पुरुष) स्वराट् होकर अपने इस निर्गुण, निर्विशेष, पूर्ण ऐश्वर्यस्वरूप, स्वप्रकाशात्मक स्वाराज्यरूप में स्थित हो जाता है ॥ १५४ ॥

उक्त अर्थ में श्वेताश्वतर-श्रुति प्रमाण दिखाते हैं—

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे
विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥ १५५ ॥

योजना—तस्य अभिध्यानात् देवं ज्ञात्वा सर्वपाशापहानिः, क्लेशैः क्षीणैः जन्ममृत्युप्रहाणिः, देहभेदे तृतीयं विश्वैश्वर्यं (प्राप्तः) केवलः आप्तकामः भवति ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—उस (परमेश्वर) के अभिध्यान से उस देव को जानकर सर्व पाशों से छूट जाता है, क्लेशों के क्षीण हो जाने पर जन्म-मृत्यु की निवृत्ति हो जाती है, इस शरीर के छूटने पर तृतीय पूर्णैश्वर्य को प्राप्त होकर (मुक्त पुरुष) केवल और आप्तकाम हो जाता है ॥

भावितार्थ—इस (श्वेता० १।११) श्रुति ने स्पष्ट कह दिया है कि विद्वान् सर्वथा विदेह अवस्था में अपने पूर्ण ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेता है, अतः वह ऐश्वर्य आत्मा का स्वाभाविक रूप सिद्ध होता है, औपाधिक नहीं । उस विश्वैश्वर्य को क्लेश-निवृत्ति और जन्म-मृत्यु-प्रहाणि की अपेक्षा अथवा देहद्वय की अपेक्षा तृतीय कहा गया है ॥ १५५ ॥

उक्त अर्थ में छान्दोग्य-वाक्य का प्रमाण देते हैं—

स स्वराडिति च विद्यते श्रुतिः
वर्णितेश्वरवपुःप्रकाशिनी ।
तेन सत्यसुखबोधवद्भवेत्
ईश्वरत्वमिति केचिदूचिरे ॥ १५६ ॥

योजना—स स्वराडिति श्रुतिश्च वर्णितेश्वरवपुःप्रकाशिनी विद्यते, तेन ईश्वरत्वं सत्यसुखबोधवत् भवेत्—इति केचित् ऊचिरे (रथोद्धताच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—"स स्वराड् भवति" (छां० ७।२५।२) यह श्रुति भी कथित ईश्वर स्वरूप की प्रकाशिनी विद्यमान है, इसलिए ऐश्वर्य सत्य सुख के समान (स्वाभाविक) है—ऐसा कुछ आचार्यों ने कहा है ॥ १५६ ॥

उक्त मत का निराकरण करते हैं—

तन्न भाति चतुरस्रमुच्चकै:
तत्प्रमाणविरहादिह श्रुतौ ।
सत्यबोधसुखवन्न तत्परा
सत्युवाच यत ईश्वरश्रुति: ॥ १५७ ॥

योजना—तत् उच्चकै: चतुरस्रं न भाति, तत्प्रमाणविरहात् यत: इह श्रुतौ सत्य-बोध-सुखवत् तत्परा सती ईश्वरश्रुति: न उवाच ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—वह (कथित मत) बहुत सुन्दर नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उसमें प्रमाण का विरह है, श्रुति में सत्य बोध और सुख के समान तत्परक होकर कोई ऐश्वर्य बोधक श्रुति नहीं है ॥

भावितार्थ—जैसे "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २।१।१) आदि श्रुतियाँ ब्रह्म के सत्यत्वादि स्वभावों का मुख्यत: प्रतिपादन करती हैं, वैसे ऐश्वर्य स्वभाव को कोई भी श्रुति प्रमाणित नहीं करती ॥ १५७ ॥

"एष सर्वेश्वर:" (माण्डू० ६) आदि श्रुतियों का तात्पर्य ऐश्वर्यस्वरूप के प्रतिपादन में नहीं—

तत्परश्रुतिवच:प्रमाणकं
सत्यबोधसुखविग्रहं परम् ।
ब्रह्म तद्वदिह नेश्वरत्वभाक्
तत्परश्रुतिवच:प्रमाणकम् ॥ १५८ ॥

योजना—तत्परश्रुतिवच:प्रमाणकं परं ब्रह्म सत्यबोधसुखविग्रहम्, तद्वत् इह ईश्वर-त्वभाक् तत्परश्रुतिवच:प्रमाणकं न ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—जैसे तत्परक श्रुतिवचनों से प्रमाणित परब्रह्म सत्यबोध सुखस्वरूप है, वैसे यहाँ ईश्वरत्वाश्रय ब्रह्म श्रुतिवचनों से प्रमाणित नहीं होता ॥

भावितार्थ—"एष सर्वेश्वर:" आदि श्रुतियों का तात्पर्य व्यापकत्व मात्र में है, ऐश्वर्य के प्रतिपादन में नहीं ॥ १५८ ॥

वेदान्तगत निखिल वाक्यों का तात्पर्य महावाक्यार्थ के बोधनमात्र में है—

या फलश्रुतिरिहोपवर्णिता
सा न तत्परतयावगम्यते ।
तत्त्वमादिवचनं हि तत्परं
तत्परा नतु फलश्रुति: क्वचित् ॥ १५९ ॥

योजना—इह या फलश्रुति उपवर्णित:, सा तत्परतया न अवगम्यते । तत्त्वमादि-वचनं हि तत्परम्, फलश्रुति: तु क्वचित् तत्परा न ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—ऊपर जो फलश्रुति ("स स्वराड् भवति") दिखाई गई, वह तत्परक नहीं मानी जाती। "तत्त्वमसि" आदि वचन ही तत्परक हैं, फलश्रुति तो कहीं भी तत्परक नहीं होती ॥

भावितार्थ—वेदान्त-वाक्यों का मुख्य प्रतिपाद्य जीव-ब्रह्म का अभेदमात्र है, अतः तत्त्वमादि वचनों का ही स्वार्थ में तात्पर्य निश्चित होता है, मुक्त अवस्था में जीव के आवरण सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं, उसी आवरण-निवृत्ति का विभिन्न फलों के रूप में अनुवादमात्र किया गया है। ऐश्वर्य भी अविद्यिक है, अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर उसका टिक सकना सम्भव नहीं, अतः ऐश्वर्यरूप फल के प्रतिपादन में श्रुतियों का मुख्य तात्पर्य सिद्ध नहीं हो सकता ॥ १५६ ॥

फलश्रुतिगत ऐश्वर्य को ब्रह्मस्वरूप मानने पर अतिप्रसङ्ग भी है—

सामगानमपि तत्स्वरूपतां
जक्षणं च जगतश्च सर्जनम् ।
अश्नुवीत फलवाक्यतः श्रुतं
तत्स्वरूपमिति यद्युपेयते ॥ १६० ॥

योजना—यदि फलवाक्यतः श्रुतं तत्स्वरूपमिति उपेयते, (तदा) सामगानम्, जक्षणम्, जगतः सर्जनम् अपि अश्नुवीत (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—यदि फलवाक्यों में श्रुत (ऐश्वर्य) ब्रह्मस्वरूप है—ऐसा स्वीकार किया जाता है, तब साम-गान, विनोद, जगत्-सर्जन आदि भी (ब्रह्मस्वरूप) प्राप्त होंगे ॥

भावितार्थ—"स स्वराड् भवति" (छां० ७।२५।२) आदि श्रुतियों में श्रुत स्वाराज्य को यदि ब्रह्मरूप माना जाता है, तब "साम गायन्नास्ते" (तै० ३।१०।५) इस श्रुति में श्रुत साम-गान "जक्षत् क्रीडन्" (छां० ८।१२।३) इस श्रुदि के प्रतिपाद्य हँसना-खेलना आदि तथा "सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति" (छां० ८।२।१०) आदि श्रुतियों से कथित जगत्सर्जन भी ब्रह्म का स्वरूप ही मानना होगा ॥ १६० ॥

श्रुत्यन्तर से अविरुद्ध अर्थवाद वाक्यों का ही स्वार्थ-प्रतिपादन में तात्पर्य माना जाता है—

अर्थवादगतमभ्युपेयते
न प्रमान्तरविरोधि यन्मतम् ।
सामगानमथ जक्षणादि वा
तत्परश्रुतिविरुद्धमुच्यते ॥ १६१ ॥

योजना—यत् प्रमान्तरविरोधि न मतम्, अर्थवादगतम् अपि (तत्) अभ्युपेयते, सामगानम् अथवा जक्षणादि तत्परश्रुतिविरुद्धम् उच्यते ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—जो प्रमाणान्तर से विरुद्ध नहीं माना जाता, अर्थवाद वाक्य से प्रतिपादित होने पर भी (वह) स्वीकार कर लिया जाता है, साम-गान अथवा प्रहसन आदि स्वार्थपरक महावाक्यों से विरुद्ध कहे जाते हैं ॥

भावितार्थ—देवताधिकरण (वे० द० १।३।८) में अर्थवाद वाक्यों का देवता-स्वरूप आदि के प्रतिपादन में तात्पर्य स्थिर किया जाता है, क्योंकि देवता-स्वरूप-

प्रतिपादन किसी दूसरी श्रुति से विरुद्ध नहीं पड़ता, किन्तु मुक्त अवस्था में ऐश्वर्य-प्रतिपादन "नेति नेति" आदि श्रुतियों से विरुद्ध है, अतः उसमें किसी भी वाक्य का तात्पर्य सिद्ध नहीं हो सकता ॥ १६१ ॥

ऐश्वर्य की सत्ता का श्रुत्यन्तर से निषेध किया गया है—

ईश्वरत्वमपि तत्परश्रुतिः
नेति नेति परिदुःखिता सती ।
वारयत्यवशिनष्टि केवलं
चित्स्वरूपमनवद्यविग्रहम् ॥ १६२ ॥

योजना—"नेति नेति" इति परिदुःखिता सती ईश्वरत्वमपि वारयति, केवलं चित्स्वरूपम् अनवद्यविग्रहम् अवशिनष्टि ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—स्वार्थपरक "नेति नेति" यह श्रुति (संसार में फँसे जीव को देख) अति दुःखित होकर ईश्वरत्व का भी निषेध करती है, केवल चित्स्वरूप निर्दुष्ट वस्तु को अवशिष्ट रखती है ॥

भावितार्थ—मूर्तामूर्त-ब्राह्मण में ब्रह्म के निखिल ऐश्वर्य का वर्णन करके "अथात आदेशो नेति नेति" (बृह० २।३।६) यह श्रुति पुत्र के दुःख से दुःखित माता के समान हितैषिणी होकर समस्त आविद्यिक धर्मों का निषेध करती हुई ऐश्वर्य का भी निषेध कर डालती है, मुक्त अवस्था में "सत्यस्य सत्यम्" आदि रूप से केवल शुद्ध तत्त्व को अवशिष्ट बताती है, अतः शून्यवाद का प्रसङ्ग भी नहीं होता ॥ १६२ ॥

सोपाधिक ऐश्वर्य का निषेध हो जाने पर भी निरुपाधिक ऐश्वर्य मान लेना चाहिए, यह शङ्का करते हैं—

सोपाधीश्वरतानिषेधनपरा सा नेति नेति श्रुतिः
साक्षाद्भागवतं निरस्तनिखिलोपाधिस्वरूपं पुनः ।
विश्वैश्वर्यमिहोच्यमानमधुना मोक्षे ततस्तत्परैः
वाक्यैरस्य विरुद्धतानवसरो मुख्यं ततो गृह्यताम् ॥ १६३ ॥

योजना-सा "नेति नेति" सोपाधीश्वरतानिषेधनपरा, इह मोक्षे अधुना उच्यमानं विश्वैश्वर्यं निरस्तनिखिलोपाधिस्वरूपं भागवतम् अस्ति, ततः तत्परैः वाक्यैः अस्य विरुद्धतानवसरः, ततः मुख्यं गृह्यताम् ॥ (शा० वि० छं०) ॥

योजितार्थ—वह "नेति नेति" श्रुति सोपाधिक विश्वैश्वर्य का निषेध करती है, इस मोक्ष अवस्था में कथित निखिल उपाधि-विनिर्मुक्त साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है, फिर तो तत्परक वाक्यों से इसकी विरुद्धता का कोई अवसर ही नहीं, अतः उसे मुख्य ही मानना चाहिए ॥

भावितार्थ—जैसे दो प्रकार का ज्ञान होता है—(१) मुख्य (आत्मस्वरूप) तथा (२) गौण (वृत्तिरूप) । मोक्ष अवस्था में गौण ज्ञान का निषेध होने पर भी मुख्य ज्ञान का निषेध न होता है और न हो ही सकता है, वैसे ही ऐश्वर्य भी दो प्रकार का होता

है—मुख्य और गौण। मोक्ष अवस्था में गौण ऐश्वर्य का निषेध हो सकता है, किन्तु मुख्य ऐश्वर्य का नहीं, मुख्य ऐश्वर्य आत्मस्वरूप है।। १६३ ।।

उक्त शङ्का का निराकरण किया जाता है—

सामगानमथ जक्षणं जगत्-
सर्जनं च निरुपाधि गृह्यताम् ।
नेति नेति वचसा निषिध्यते
जक्षणादिकमुपाधिसंश्रयम् ॥ १६४ ॥

योजना-- सामगानम् अथ जक्षणम, जगत्सर्जनं च निरुपाधि गृह्यताम्, उपाधिसंश्रयं जक्षणादिकं नेति नेति वचसा निषिध्यते ।। (रथोद्धता) ।।

योजितार्थ—साम-गान, हंसना और जगत् का सर्जन भी निरुपाधि मानना होगा; औपाधिक जक्षणादि का "नेति नेति" वचन से निषेध होता हैं ।।

भावितार्थ—ऐश्वर्य दो प्रकार का नहीं होता, किन्तु एक ही प्रकार का होता है, उसका "नेति नेति" से निषेध हो जाता है, अतः आत्मस्वरूप कोई ऐश्वर्य सिद्ध नहीं होता। अन्यथा ऐश्वर्य के समान ही सामगान आदि के भी दो विभाग मानकर मुख्य सामगान आदि को भी आत्मरूप कहा जायगा और "नेति नेति" वाक्य से गौण सामगान आदि का ही निषेध होता है—इस कथन को भी कौन रोक सकेगा ? ।। १६४ ।।

यदि कहा जाय कि सामगान आदि के दो भेद नहीं होते, तब ऐश्वर्य के भी दो भेद क्योंकर सिद्ध होंगे ?

सामगानमथ जक्षणं जगत्-
सर्जनं न च खलु द्विधेष्यते ।
तत्प्रमाणविरहादिहेति चेद्
ईश्वरत्वमपि न द्विधा भवेत् ॥ १६५ ॥

योजना—सामगानम् अथ जक्षणं जगत्सर्जनं च द्विधा न इष्यते खलु, तत्प्रमाणविरहात्—इति चेत्; ईश्वरत्वम् अपि द्विधा न भवेत् ।। (रथोद्धता) ।।

योजितार्थ—साम-गान हँसना और जगत्सर्जन दो प्रकार के नहीं माने जाते, क्योंकि उनके द्विविध होने में कोई भी प्रमाण नहीं—ऐसा यदि कहें, तो ऐश्वर्य भी दो प्रकार का न हो सकेगा ।। १६५ ।।

तब ज्ञान आदि ब्रह्मरूप न हो सकेंगे, यह नहीं कह सकते—

ज्ञानमस्ति खलु बाह्यगोचरं
निर्विशेषमविनाशि च द्विधा ।
बाह्यगोचरमपोह्य केवला
स्वापमोक्षसमये चितिः स्थिता ॥ १६६ ॥

योजना—ज्ञानं खलु द्विधा अस्ति-बाह्यगोचरम् निर्विशेषम् अविनाशि च, बाह्यगोचरम् अपोह्य स्वापमोक्षसमये केवला चितिः स्थिता ।। (रथोद्धता) ।।

योजितार्थ—ज्ञान तो दो प्रकार का होता है–(१) बाह्यविषयक तथा (२) निर्विशेष अविनाशिस्वरूप, बाह्यविषयक ज्ञान को छोड़कर सुषुप्ति और मुक्ति में केवल चैतन्यस्वरूप ज्ञान स्थित होता है ।। १६६ ।।

ज्ञान की द्विविधता में श्रुति प्रमाण है—

पश्यन्न पश्यति गिरा कथयाम्बभूव
साक्षादनश्वरविनश्वरचिद्विभागम् ।
तात्पर्यतः श्रुतिवचः स्फुटमेव नैवम्
ऐश्वर्यवस्तुनि विभागवचः श्रुतिर्नः ।। १६७ ।।

योजना—"पश्यन्वै तन्न पश्यति गिरा" (बृह० ४।३।२३) श्रुतिवचः साक्षात् अनश्वरविनश्वरचिद्विभागं तात्पर्यतः स्फुटमेव कथयाम्बभूव, एवम् ऐश्वर्यवस्तुनि विभागवचः श्रुतिः न ।। (वसन्ततिलका) ।।

योजितार्थ—"पश्यन् वै तन्न पश्यति गिरा" (बृह० ४।३।२३) इस श्रुतिवचन ने ज्ञान के अनश्वर और विनश्वर विभागों को मुख्यतः स्फुटरूप से कहा है, इस प्रकार ऐश्वर्य वस्तु के विभाग की वाचक कोई श्रुति नहीं ।।

भावितार्थ-"पश्यन् वै तन्न पश्यति गिरा' अर्थात् वह आत्मा सुषुप्ति में अपने स्वयंप्रकाशरूप ज्ञान से प्रकाशमान होता हुआ भी बुद्धि-वृत्ति के द्वारा कुछ नहीं देखता । इससे नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) आत्मस्वरूप ज्ञान और (२) वृत्तिरूप ज्ञान । सुषुप्ति अवस्था में वृत्तिरूप ज्ञान के न होने पर भी आत्मस्वरूप ज्ञान बराबर विद्यमान रहता है, इसी भाव को "न हि द्रष्टुः दृष्टेः विपरिलोपो विद्यते" (बृह० ४।३।२३) आदि वाक्यों से भी कहा गया है । किन्तु ऐश्वर्य की द्विविधता सिद्ध करनेवाला कोई श्रुति-वचन उपलब्ध नहीं होता ।। १६७ ।।

सुख भी दो प्रकार का श्रुतिसिद्ध है—

एवं न वा अर इति श्रुतमेव तावत्
पुत्राद्युपाधि पुरुषस्य सुखं निवाशि ।
नित्यं निरन्तरमनन्तमपारमुक्तं
ब्राह्मं सुखं वचनकोटिशतैश्च यत्नात् ।। १६८ ।।

योजना—एवं "न वा अरे" (बृह० २।४।५) इति पुरुषस्य पुत्राद्युपाधि सुखं विनाशि तावत् श्रुतमेव, नित्यं निरन्तरम् अनन्तम् अपारं ब्राह्मं सुखं वचनकोटिशतैः यत्नात् उक्तम् ।। (वसन्ततिलका) ।।

योजितार्थ—इसी प्रकार "न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति" (बृह० २।४।५) इन (वचनों) में पुरुप को पुत्रादि उपाधियों के द्वारा होनेवाला सुख नश्वर कहा गया है और नित्य, निरन्तर अनन्त अपार ब्रह्म-सुख अनन्त वचनों में तात्पर्यतः कहा गया है ।।

भावितार्थ-श्रुतियों में सुख दो प्रकार का प्रतिपादित है—विषय-सुख और आत्म-

सुख। विषय-सुख को नश्वर और आत्मसुख को "एष एव परम आनन्द" (बृह०४।३।३३) आदि अनन्त श्रुतियों ने प्रमाणित किया है, अतः सुख की द्विविधता भी सिद्ध है ॥१६८॥

द्विविध ऐश्वर्य का वर्णन कहीं नहीं मिलता—

ऐश्वर्यवर्णनमिह द्विविधं न वेदे
नित्यं क्वचित् क्वचिदनित्यमिति प्रतीमः।
ऐश्वर्यमात्रकथनं पुनरस्ति मोक्षाद्
अर्वाक्षु मोक्षसमये च न तत्परं तत् ॥ १६९ ॥

योजना—इह वेदे द्विविधं ऐश्वर्यवर्णनम्—क्वचित् नित्यं न क्वचिद् अनित्यमिति प्रतीमः, ऐश्वर्यमात्र कथनं पुनः वेदे अस्ति, तच्च मोक्षात् अर्वाक्षु, मोक्षसमये तत् तत्परं न ॥ (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—वेद में दो प्रकार का ऐश्वर्य-वर्णन अर्थात् किसी वाक्य में नित्य और किसी वाक्य में अनित्य नहीं देखते, ऐश्वर्यमात्र का कथन तो वेद में है, वह मोक्ष की पूर्व भूमियों में, मोक्ष समय में वह (ऐश्वर्य-वर्णन) तत्परक नहीं, (अपितु स्तुतिपरक है) ॥

भावितार्थ—ज्ञान-सुखादि के समान ऐश्वर्य का द्विविध वर्णन उपलब्ध नहीं होता, अर्थात् किसी वाक्य में नित्य और किसी वाक्य में अनित्य ऐश्वर्य का स्पष्ट उल्लेख नहीं। मोक्ष अवस्था की पूर्व भूमियों में जो ऐश्वर्य श्रुत हैं, वह व्यावहारिक है और मोक्ष अवस्था में जो "एष सर्वेश्वरः" आदि रूप से ऐश्वर्य-वर्णन है, उसका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं—यह कहा जा चुका है ॥ १६९ ॥

उक्त अर्थ का ही उपपादन करते हैं—

प्रियशिरस्त्वकथा खलु यादृशी
भवति तादृशमेव तदीरणम्।
तदनु नेति च नेति वचःश्रुतेः
यदपि मोक्षगतं स्तुतये हि तत् ॥ १७० ॥

योजना—प्रियशिरस्त्वकथा खलु यादृशी, तादृशमेव तदीरणं भवति, तदनु नेति नेति वचःश्रुतेः। यदपि मोक्षगतम्, तत् हि स्तुतये ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—प्रियशिरस्त्व-कथा जैसी है, वैसा ही ऐश्वर्य-वर्णन भी है, क्योंकि उसके अनन्तर "नेति नेति" वचत श्रुत है। जो मोक्ष अवस्था में ऐश्वर्य-वर्णन है। वह स्तुति के लिए है ॥

भावितार्थ—जैसे कि "तस्य प्रियमेव शिरः मोदो दक्षिणः पक्षः" (तै० २।५।१) इस श्रुति में ब्रह्म के प्रिय मोद आदि अवयवों का कथन व्यावहारिक मात्र है, वैसे ही ऐश्वर्य-वर्णन भी व्यावहारिक ही है, पारमार्थिक नहीं। मोक्ष-समय के ऐश्वर्य-वर्णन का विद्या की स्तुति में उपयोग है ॥ १७० ॥

[1]भाष्यकारादि ने जो ब्रह्म के लिए 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग किया है, वह गौणी वृत्ति से—

---

१. वेदान्त दर्शन (१।४।१४) में सूत्रस्थ "यथाव्यपदिष्टोक्तेः" शब्द की व्याख्या में कहा है—"यथाभूतो ह्येकस्मिन् वेदान्ते सर्वेश्वरः सर्वात्मकोऽद्वितीयः कारणत्वेन व्यपदिष्टस्तथा वेदान्तान्तरेष्वपि"।

कह दिया है, वस्तुतः स्वाभाविक ऐश्वर्य माना ही नहीं जा सकता, क्योंकि उसका मोक्ष अवस्था में "नेति नेति" से निषेध कर दिया गया है ॥ १७५ ॥

स्वाभाविक ऐश्वर्य का समर्थक कोई हेतु उपलब्ध नहीं—

अथ वा चितिवत्प्रतीयतां
पुरुषस्येश्वरताऽपि वास्तवी ।
यदि किंचन कारणं भवेत्
न विना सा तदिहाभ्युपेयते ॥ १७६ ॥

योजना—अथवा पुरुषस्य ईश्वरता अपि चितिवत् वास्तवी प्रतीयताम्, यदि किंचन कारणं भवेत्; तद् विना सा इह न अभ्युपेयते ॥ (सुन्दरीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—तभी जीव का ऐश्वर्य भी चैतन्य के समान वास्तव माना जा सकता था, यदि कोई प्रमाण होता; प्रमाण के बिना वह (ईश्वरता) यहाँ नहीं मानी जा सकती ॥

सूत्रकार का कथन अभ्युगमवाद ही है—

कामादि तत्र च भवेदितरत्र चेति
यत्सूत्रकारवचनं तदुदीक्षमाणाः ।
कामादिकेन दहरस्थगुणेन तुल्यं
सर्वेश्वरादिगुणजातमिति प्रतीमः ॥ १७७ ॥

योजना—कामादीतरत्र तत्र न भवेत्—इति यत् सूत्रकारवचनम्, तद् उदीक्षमाणाः दहरस्थगुणेन कामादिकेन तुल्यं सर्वेश्वरतादि गुणजातम्—इति प्रतीमः ॥ (वसन्त०) ॥

योजितार्थ—सत्यकामत्वादि का अन्यत्र (बृहदारण्यकगत निर्गुण विद्या में) तथा (सर्वंवशित्वादि का) वहाँ (छान्दोग्यगत सगुण विद्या में उपसंहार कर लेना चाहिए) यह जो सूत्रकार का कहना है, उसे ध्यान में रखकर दहरविद्या के प्रकरण में स्थित सत्यकामत्वादि के समान ही ऐश्वर्य आदि गुण हैं—ऐसा हम निश्चय करते हैं ॥

भावितार्थ—भगवान् सूत्रकार ने कहा है—"कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः" (ब्र०सू० ३।३।३९) अर्थात् छान्दोग्य और बृहदारण्यक की विद्याओं का भेद होने पर भी बृहदारण्यकगत निर्गुण विद्या में सगुण विद्या के सत्यकामत्वादि "एतांश्च सत्यकामान्" (छां० ८।१।६) गुणों का उपसंहार कर लेना चाहिए, क्योंकि उभयत्र गुणवान् (आत्मा) एक ही है, जैसा कि आत्मा के हृदयायतनत्व तथा सेतुत्वादि के व्यवहार से नितान्त स्पष्ट है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि सत्यकामत्वादि के समान ही ऐश्वर्य को भी अवास्तविक ही माना गया है ॥ १७७ ॥

सगुण विद्या के सत्यकामत्वादि गुणों का निर्गुण विद्या में उपसंहार केवल स्तुति के लिए ही होता है—

दहरस्थगुणोपसंहृतेः
स्तुतिमात्रं विरहय्य नापरम् ।
फलमस्ति परात्मनिष्ठिते
वचने वाजिभिरादृते महत् ॥ १७८ ॥

योजना—वाजिभिः आहृते परमात्मनिष्ठिते वचने दहरस्थगुणोपसंहृतेः स्तुतिमात्रं विरहय्य अपरं महत् फलं नास्ति ।। (सुन्दरीच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—वाजसनेयिशाखा में पठित निर्गुणपरक "स एष महानज आत्मा" (बृह० ४।४।२२) वचन में दहरविद्या के सत्यकामत्वादि गुणों के उपसंहार का स्तुतिमात्र को छोड़कर अन्य कोई महान् प्रयोजन नहीं है ।। १७८ ।।

सत्यकामत्वादि गुणों के सदृश पदार्थ को परमात्मरूप नहीं कह सकते—

दहरादुपसंहृतैर्गुणैः
सदृशाश्चेद्वशितादिलक्षणाः ।
न तदा परमात्मरूपतां
प्रतिपत्तुं कलयाऽपि शक्नुमः ।। १७९ ।।

योजना—चेत् दहराद् उपसंहृतैः गुणैः सदृशाः वशितादिलक्षणाः, तदा परमात्मरूपतां प्रतिपत्तुं कलया अपि न शक्नुमः ।। (सुन्दरी) ।।

योजितार्थ—यदि दहरविद्या के उपसंहृत गुणों के सदृश ही वशितादि हैं, तब (उन्हें) परमात्मरूप स्थिर करना किसी प्रकार भी नहीं हो सकता ।। १७९ ।।

उसी प्रकार प्रकृत में—

परमेश्वरतागुणोऽप्यतः
स्तुतये तस्य परस्य वस्तुनः ।
परिकीर्तित इत्युपेयताम्
अविशेषाद्वशितादिलक्षणैः ।। १८० ।।

योजना—अतः परमेश्वरतागुणः अपि तस्य परस्य वस्तुनः स्तुतये परिकीर्तितः—इत्युपेयताम्; वशितादिलक्षणैः अविशेषात् ।। (सुन्दरीच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—इसलिए परमैश्वर्य गुण भी उस परमात्मवस्तु की स्तुति के लिए ही कथित है—ऐसा मानना चाहिए, क्योंकि वशितादि गुणों से इसकी कोई विशेषता नहीं ।। १८० ।।

ऐश्वर्य को परमात्मरूप मानने पर कारणत्वादि को भी वैसा ही मानना होगा—

कारणत्वमपि चित्सुखादिवत्
तत्स्वरूपमिति किं न गृह्यते ।
ईश्वरत्वविषये विपश्चितां
पक्षपातकरणे न कारणम् ।। १८१ ।।

योजना—चित्सुखादिवत् कारणत्वम् अपि तत्स्वरूपम्—इति किं न गृह्यते, ईश्वरत्व विषये विपश्चितां पक्षपातकरणे करणं न ।। (रथोद्धता) ।।

योजितार्थ—चित्, सुख आदि (गुणों) के समान ही जगत्-कारणत्व को भी परमात्मस्वरूप क्यों नहीं मानते, ऐश्वर्य के विषय में विद्वानों का पक्षपात अकारण है ।१८१।

इसी प्रकार साक्षित्व को भी परमात्मरूप मानना होगा—

साक्षितापि परमात्मनो भवेद्
ईश्वरत्ववदियं न संशयः।
नित्यसिद्धनिजबोधरूपवत्
रूपमेव निरुपाधिकं विभोः ॥ १८२ ॥

योजना—ईश्वरत्ववद् इयं साक्षिता अपि विभोः परमात्मनः निरुपाधिकं रूपं भवेत् नित्यसिद्धनिजबोधरूपवत् ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—ऐश्वर्य के समान ही यह साक्षिता भी विभु परमात्मा का वैसे ही निरुपाधिक रूप हो जायगी, (जैसे कि) नित्य सिद्ध निज बोध ॥

भावितार्थ—ऐश्वर्य को आत्मरूप मानने पर साक्षित्वादि को भी चैतन्यादि के समान ही आत्मस्वरूप मानना होगा, किन्तु साक्षित्वादि को औपाधिक ही माना जाता है, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

ऐश्वर्यं कारणत्वं च साक्षित्वमपि चात्मनः।
सदेशितव्यकार्यार्थसाक्ष्यार्थेनास्य संगतेः॥
आत्माज्ञानमतः प्रत्यक्चैतन्याभासवत् सदा।
आत्मनः कारणत्वादेः प्रयोजकमिहेष्यते ॥ (बृह०वा०पृ० १४३६)

अर्थात् आत्मगत ऐश्वर्य ईशितव्य से, कारणत्व कार्य से, और साक्षित्व साक्ष्य पदार्थों से निरूपित है, अतः आत्मा का अज्ञान ही आत्मगत ऐश्वर्य आदि का प्रयोजक होता है, ऐश्वर्य आदि औपाधिक ही हैं, अनौपाधिक नहीं ॥ १८२ ॥

ऐश्वर्य के समान ही साक्षित्व को भी आत्मधर्म श्रुति कहती है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ १८३ ॥

योजना—एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापी, सर्वभूतान्तरात्मा, कर्माध्यक्षः, सर्वभूताधिवासः, साक्षी, चेताः, केवलः, निर्गुणः च ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—एक ही देव समस्त चराचर में छिपा है, सर्वव्यापी है, सब प्राणियों का अन्तरात्मा है, कर्म का अधिष्ठाता है, सब भूतों का आश्रय है, साक्षी है, चैतन्य है केवल और निर्गुण है ॥

भावितार्थ—श्वेताश्वर उपनिषत् की (३।११) उक्त श्रुति में स्पष्ट कहा गया है कि साक्षित्वादि आत्मा के धर्म हैं ॥ १८३ ॥

वैसे ही कारणत्व और ईश्वरत्व को भी धर्म बताया गया है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ १८४ ॥

योजना—तस्य कार्यं करणं च न विद्यते, तत्समः अभ्यधिकश्च अपि न दृश्यते, अस्य परा शक्तिः विविधा श्रूयते, ज्ञानबलक्रिया च स्वाभाविकी ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ—उस (परमात्मा) का कोई कार्य और करण विद्यमान नहीं है, उसके समान और उससे अधिक भी कोई नहीं देखा जाता, इसकी परा शक्ति अनेकरूपा सुनी जाती है, (उसका) ज्ञानरूप बल तथा क्रिया भी स्वाभाविक है ॥

भावितार्थ—उक्त (श्वेता० ६।८) श्रुति में 'कार्य' पद से स्थूल शरीर और 'करण' पद से सूक्ष्म शरीर विवक्षित है। परमात्मा की परा शक्ति जगत् का सर्जन और शासन करती है, अतः वह सबका कारण और सबका ईश्वर है ॥ १८४ ॥

कारणत्व और ईश्वर का ही प्रतिपादन श्रुत्यन्तर से करते हैं—

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणं वै करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥ १८५ ॥

योजना—न तस्य लोके कश्चित् पतिः अस्ति, न च ईशिता, न च तस्य लिङ्गमेव । स वै कारणं करणाधिपाधिपः, अस्य कश्चित् न च जनिता, न च अधिपः (उपेन्द्रवज्रा)॥

योजितार्थ—न तो उसका लोक में कोई पति है, न नियन्ता और न उसका कोई लिङ्ग (शरीर) ही है। वही सबका कारण है, करणाधिप जीवों का स्वामी है, इसका कोई न जनक है और न शासक ॥

भावितार्थ—श्वेताश्वतर उपनिषत् के इस (६।९) मन्त्र में स्पष्ट कह दिया गया है कि उस ईश्वर में जनकत्व और नियन्तृत्व समाप्त हो जाता है, अर्थात् वही समस्त विश्व का कारण और ईश्वर है, उसका अन्य कोई कारण और ईश्वर नहीं ॥ १८५ ॥

उदाहृत श्रुतियों का तात्पर्य दिखाते हैं—

उक्तश्रुतिः कारणसाक्षिभावम्
ऐश्वर्यवद्वक्ति परस्य पुंसः ।
अतत्परत्वान्न तदिष्यते चेद्
द्वयं तृतीयं न तथैषितव्यम् ॥ १८६ ॥

योजना—इति श्रुतिः परस्य पुंसः ऐश्वर्यवत् कारणसाक्षिभावं वक्ति, चेत् अतत्परत्वात् तत् द्वयं न इष्यते, तथैव तृतीयं न एषितव्यम् ॥ (उपजातिच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—उक्त श्रुतियाँ परमेश्वर में ऐश्वर्य के समान कारणत्व और साक्षित्व बताती हैं, यदि तत्परक न होने के कारण वे (कारणत्व और साक्षित्व) दोनों स्वाभाविक नहीं माने जाते, तब उसी प्रकार तृतीय (ऐश्वर्य) को भी स्वाभाविक नहीं मानना चाहिए ॥

भावितार्थ—कथित श्रुतियों ने कारणत्व, साक्षित्व और ऐश्वर्य—तीनों धर्मों को समानरूप से कहा है, अब यदि श्रुतियों का वास्तविक कारणत्व तथा साक्षित्व के प्रति-

पादन में तात्पर्य नहीं बताया जाता, तब ऐश्वर्य के प्रतिपादन में भी श्रुति का तात्पर्य कैसे ठहराया जा सकता है ? अतः ऐश्वर्य को स्वाभाविक कदापि नहीं माना जा सकता ॥ १८६ ॥

उक्त तीनों धर्मों के प्रतिपादन में श्रुतियों का एक-जैसा तात्पर्य कहना होगा—

अतत्परत्वं श्रवणस्य तुल्यं
त्रिषु त्रयं तेन विवर्जनीयम् ।
अथेष्टमेकं त्रयमेषितव्यम्
विशेषहेतोरनिरूपणेन ॥ १८७ ॥

योजना—त्रिषु श्रवणस्य अतत्परत्वं तुल्यम्, तेन त्रयं विवर्जनीयम् । अथ एकम् इष्टम्, त्रयम् एषितव्यम् ; विशेषहेतोः अनिरूपणेन ॥ (उपेन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ–तीनों (कारणत्व, साक्षित्व और ईश्वरत्व) में श्रुति की तत्परता का न होना समान है, अतः तीनों धर्मों को छोड़ देना चाहिए। यदि उनमें एक (ऐश्वर्य) माना जाता है, तब तीनों मान लेने चाहिये, क्योंकि उसमें कोई विशेष हेतु का निरूपण नहीं किया जा सकता ॥ १८७ ॥

सापेक्ष होने के कारण भी ऐश्वर्य को मिथ्या मानना होगा—

ईशितव्यमनपेक्ष्य नेश्वरो
नेशितव्यमपि तद्वदीश्वरम् ।
अन्तरेण घटते ततो मृषा
मोहमात्रपरिकल्पितं द्वयम् ॥ १८८ ॥

योजना—ईशितव्यम् अनपेक्ष्य ईश्वरो न घटते, तद्वत् ईश्वरम् अन्तरेण ईशितव्यम् अपि न, ततो द्वयं मोहमात्रपरिकल्पितं मृषा ॥ (रथोद्धताच्छन्द) ॥

योजितार्थ—ईशितव्य की अपेक्षा के बिना ईश्वर नहीं बनता, उसी प्रकार ईश्वर के बिना ईशितव्य भी नहीं बनता। इसलिए दोनों (ईश्वरत्व और ईशितव्यत्व) मोहमात्रकल्पित मिथ्या हैं ॥ १८८ ॥

कारणत्व भी ऐसा ही है—

कार्यवस्तु विरहय्य कारणं
न क्वचिद् घटयितुं क्षमेमहि ।
नापि कारणमपोह्य केवलं
कार्यवस्तु परिकल्पयेमहि ॥ १८९ ॥

योजना—कार्यवस्तु विरहय्य क्वचित् कारणं घटयितुं न क्षमेमहि, कारणम् अपोह्य केवलं कार्यवस्तु न परिकल्पयेमहि ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—कार्यवस्तु की उपेक्षा करके कहीं कारण (का स्वरूप) बताने में हम समर्थ नहीं, कारण को दूर करके कार्यवस्तु नहीं बना सकते ॥ १८९ ॥

साक्षित्व भी सापेक्ष ही है—

साक्ष्यवस्तु परिहृत्य साक्षिता
साक्षिणं च परिहृत्य साक्ष्यता ।
नेष्यते न घटते च तेन तत्
सव्यपेक्षमुभयं परस्परम् ॥ १९० ॥

योजना—साक्ष्यवस्तु परिहृत्य साक्षिता, साक्षिणं परिहृत्य साक्ष्यता च न इष्यते, न घटते च, तेन तत् उभयं परस्परं सव्यपेक्षम् (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—साक्ष्यवस्तु को छोड़कर साक्षिता और साक्षिवस्तु को छोड़कर साक्ष्यता न मानी ही जाती है और न घटती ही है, अतः वे (साक्षिता और साक्ष्यता) दोनों परस्पर सापेक्ष हैं ॥ १९० ॥

प्रमातृत्व आदि में भी यही न्याय समान है—

न प्रमेयमपहाय मातृता
नापि मातृविरहे प्रमेयता ।
मातृमेयरहिता न च प्रमा
न प्रमाणरहितं प्रमाफलम् ॥ १९१ ॥

योजना--प्रमेयम् अपहाय मातृता न, मातृविरहे प्रमेयता अपि न, मातृमेयरहिता प्रमा च न, प्रमाणरहितं प्रमाफलं न ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—प्रमेय को त्यागकर मातृता नहीं बनती, प्रमाता के बिना प्रमेयता भी नहीं बनती, प्रमाता और प्रमेय के बिना प्रमा नहीं बनती, प्रमाण के बिना प्रमारूप फल नहीं बनता ॥

भावितार्थ—पुरुषगत प्रमातृत्व सदैव विषय-सापेक्ष होता है, विषयगत प्रमेयत्व प्रमासापेक्ष होता है एवं प्रमा को उक्त दोनों की अपेक्षा है । इस प्रकार प्रमातृत्व, प्रमेयत्व तथा प्रमा—ये तीनों परस्पर सापेक्ष होने के कारण आरोपितमात्र होते हैं ॥१९१॥

कर्तृत्व भी सापेक्ष है—

कर्तृ कर्म परिहृत्य नेष्यते
कर्म कर्तृरहितं न च क्वचित् ।
कर्तृकर्मरहिता न च क्रिया
न क्रियाविरहितं क्रियाफलम् ॥ १९२ ॥

योजना—कर्मपरिहृत्य कर्तृ न इष्यते, कर्तृरहितं क्वचित् कर्म न, कर्तृकर्मरहिता क्रिया न च, क्रियारहितं क्रियाफलं न ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—कर्म के बिना कर्त्ता नहीं माना जाता, कर्त्ता से रहित कहीं कर्म नहीं होता, कर्त्ता और कर्म से रहित क्रिया नहीं होती और क्रिया से रहित क्रिया-फल नहीं हो सकता ॥ १९२ ॥

इतना ही नहीं, समस्त सामान्य-विशेषस्वरूप प्रपञ्च वैसा ही है—

सामान्यं न विशेषवस्तुविरहे तस्माद्विना तन्न च
स्वातन्त्र्येण घटामुपाश्नुति ,ततः सापेक्षमेतद्द्वयम् ।
यत्सापेक्षमिहेक्षितं भवति तन्मायामयं स्वप्नवत्
तस्मादीश्वरतादिकल्पितवपुः स्वीकुर्महे न्यायतः ॥ १९३ ॥

योजना—विशेषवस्तुविरहे सामान्यं स्वातन्त्र्येण न घटाम् उपाश्नुति, तस्माद् विना तत् न, ततः एतद् द्वयं सापेक्षम् । इह यत् सापेक्षम् ईक्षितम्, तत् मायामयं स्वप्नवत् , तस्माद् न्यायतः ईश्वरतादि कल्पितवपुः स्वीकुर्महे ।। (शार्दूलविक्रीडितम्) ।।

योजितार्थ-विशेषवस्तु को छोड़कर सामान्यवस्तु स्वतन्त्र रूप से नहीं घट सकती, उस (सामान्य) के बिना वह (विशेषवस्तु) भी नहीं बनती, अतः ये दोनों सापेक्ष हैं। यहाँ जो सापेक्ष देखा जाता है, वह मायामय होता है, जैसे स्वप्न, इसलिए कथित न्याय के बल पर ईश्वरता आदि को काल्पनिक हम मानते हैं ।। १९३ ।।

ब्रह्म सप्रपञ्च है ? या निष्प्रपञ्च ? या उभयात्मक ? इन कल्पों में प्रथम कल्प का निराकरण करके द्वितीय का समर्थन किया गया, अब तृतीय का निराकरण किया जाता है—

अभिन्नता भिन्नतया विरुद्धा
विभिन्नताऽभिन्नतया तथैव ।
उपाधिभेदे परिकल्पितेऽपि
विना पुनस्तं किमुदीरणीयम् ॥ १९४ ॥

योजना—अभिन्नता भिन्नतया विरुद्धा, विभिन्नता अभिन्नतया तथैव, उपाधिभेदे परिकल्पिते अपि तं विना किम् उदारणीयम् ? (उपेन्द्रवज्रा) ।।

योजितार्थ—अभिन्नता भिन्नता से विरुद्ध है, भिन्नता भी अभिन्नता से वैसी ही (विरुद्ध) है, उपाधिभेद की कल्पना करने पर भी उस (उपाधिभेद) के बिना क्या कहना होगा ?

भावितार्थ—ब्रह्म को भिन्नाभिन्नरूप मानकर जो उभयरूप (सप्रपञ्च-निष्प्रपञ्च-रूप) कहा करते हैं, उनसे पूछा जा सकता है कि ब्रह्म में प्रपञ्च का वास्तविक भेदाभेद है ? या औपाधिक ? वास्तविक भेद और अभेद—जैसे दो नितान्त विरुद्ध धर्मों का एकत्र रहना सम्भव नहीं। हाँ, उपाधियों के द्वारा कथंचित् विरुद्ध धर्मों का एकत्र समावेश किया जाता है, वह भी यहाँ सम्भव नहीं; क्योंकि ब्रह्म में किसी प्रकार का औपाधिक भेदाभेद भी स्थिर नहीं होता ।। १९४ ।।

निर्भेद आकाश का घटादि उपाधियों से भी भेद नहीं होता—

स्वभावतो यन्मिथुनं विरुद्धं
न तन्निमित्तान्तरतः कदाचित् ।
उपैति सख्यं परमार्थवृत्त्या
भ्रमादलभ्यं न च किंचिदस्ति ॥ १९५ ॥

योजना—यत् मिथुनं स्वभावतः विरुद्धम्, तत् निमित्तान्तरतः परमार्थवृत्त्या कदाचित् सख्यं न उपैति; भ्रमात् किञ्चिद् अलभ्यं न च अस्ति ।। (उपेन्द्रवज्रा) ।।

योजितार्थ—जो युग्म स्वभावतः विरुद्ध है, वह किसी उपाधि के द्वारा भी पारमार्थिक रूप में कभी मित्रता को नहीं प्राप्त होता; भ्रम से कोई वस्तु अलभ्य नहीं होती ।।

भावितार्थ—स्वभावतः निर्भेद वस्तु में भेद पारमार्थिक सम्भव नहीं, आकाशादि में उपाधिकृत भेद भ्रममात्र है, परमार्थ नहीं; क्योंकि निरवयव आकाश का उपाधियों से भेदन कदापि सम्भव नहीं होता ।। १९५ ।।

उक्त अर्थ में दृष्टान्त दिखाते हैं—

न रविशार्वरसख्यकृदीक्ष्यते
जगति कश्चिदुपाधिरमोहतः ।
यदि भवेत्स भवेद्भवतो मतः
स न भवेद्यदि सोऽपि न संभवेत् ।। १९६ ।।

योजना—जगति कश्चित् अमोहतः रविशार्वरसख्यकृत् न ईक्ष्यते, यदि स भवेत्, भवतो मतः भवेत्, यदि स न भवेत्, सो अपि न सम्भवेत् ।। (द्रुतविलम्बितम्) ।।

योजितार्थ—लोक में कोई परमार्थतः तेज-तिमिर की मित्रता करनेंवाला नहीं देखा जाता, यदि वह हो, तब आपका अभीष्ट भी हो सकेगा, यदि वह न होगा, तब वह भी न हो सकेगा ।।

भावितार्थ-यदि तेज और तिमिर—दोनों अभिन्न हो जायँ, तब अवश्य भिन्न और अभिन्न पदार्थों का भी अभेद हो सकेगा, किन्तु तेज-तिमिर का अभेद सम्भावित नहीं, फिर भिन्न और अभिन्न का भी अभेद कैसे बन सकेगा ? ।। १९६ ।।

पूर्व (१९५वें) पद्य में कथित "भ्रमादलभ्यं न" को स्पष्ट करते हैं—

खमपि खादति खण्डितमीक्षते
निजशिरो नयनेन करार्पितम् ।
किमपि दुर्घटमस्य न विद्यते
यदि विमूढमतिर्भवति स्वयम् ।। १९७ ।।

योजना—यदि विमूढमतिः भवति, अस्य किमपि दुर्घटं न विद्यते—खम् अपि खादति, स्वयं खण्डितं करार्पितं निजशिरः नयनेन ईक्षते ।। (द्रुतविलम्बितम्) ।।

योजितार्थ-यदि कोई भ्रान्त हो गया है, तब इसके लिए कुछ भी दुर्घट नहीं रह गया—आकाश को भी खा सकता है, स्वयं अपने कटे शिर को हाथ पर रखा हुआ नेत्रों से देख सकता है ।। १९७ ।।

आरम्भणाधिकरणोक्त न्याय से भी ब्रह्म निर्विशेष ही सिद्ध होता है—

इतश्च निर्भेदकमात्मतत्त्वं
निरूपणे कारणकार्यतादेः ।
अनादिमायैकनिबन्धनत्वात्
असंभवादस्य तु वस्तुवृत्त्या ।। १९८ ।।

योजना—इतश्च आत्मतत्त्वं निर्भेदकम्—निरूपणे कारणकार्यतादेः अनादिमात्रैकनिबन्धनत्वात्, अस्य वस्तुवृत्त्या असम्भवात् ॥ (उपेन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—इसलिए भी आत्मतत्त्व निर्विशेष ही है कि निरूपण करने पर कार्यकारणभाव अनादि मायामात्र के आधार पर ही आधृत है, यह (कार्यकारणभाव) वस्तु दृष्टि से सम्भावित नहीं ॥

भावितार्थ—"तस्माद्वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः संभूतः" आदि श्रुतियों में प्रतिपादित आत्मनिष्ठ जगत् की कारणता वस्तु दृष्टि से बनती नहीं, इसलिए भी आत्मा निष्प्रपञ्च निर्विशेष सिद्ध होता है ॥ १९८ ॥

कार्यकारणभाव की असम्भावना ही दिखाते हैं—

असन्न कार्यं गगनप्रसून-
वन्ध्यासुतादेः करणाप्रसिद्धेः ।
न प्रागसत्कार्यमिति प्रवादः
प्रशस्यते तस्य विरोधहेतोः ॥ १९९ ॥

योजना—असत् कार्यं न, गगनप्रसूनवन्ध्यासुतादेः कारणप्रसिद्धेः, प्राक् कार्यम् असिदिति प्रवादः न प्रशस्यते, तस्य विरोधहेतोः ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ—असत् कार्यं नहीं बनता, क्योंकि गगन-कुसुम वन्ध्या-पुत्र आदि का कोई करण प्रसिद्ध नहीं, (उत्पत्ति से) पूर्व कार्य असत् होता है—यह प्रवाद प्रशस्त नहीं; क्योंकि उसका विरोध है ॥

भावितार्थ—गगनादि आत्मा के कार्य हैं—यहाँ जिज्ञासा होती है कि गगनादि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व क्या असत् हैं ? या सत् ? असत् कार्य को किसी कारण से उत्पन्न करना युक्ति-विरुद्ध है ॥ १९९ ॥

युक्ति-विरोध ही दिखाते हैं—

विशेषणानामसति प्रवृत्तिः
न दृश्यते क्वापि न युज्यते च ।
युधिष्ठिरात्प्रागभवन्नरेन्द्रो
वन्ध्यासुतः शूर इतीह यद्वत् ॥ २०० ॥

योजना—विशेषणानाम् असति प्रवृत्तिः न क्वापि दृश्यते, न युज्यते च, यद्वत् युधिष्ठिरात् प्राक् नरेन्द्रो अभवत् , वन्ध्यासुतः शूरः इति ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ—विशेषणों की असत् विशेष्य में प्रवृत्ति न कहीं देखी जाती है और न युक्त ही है, जैसे कि युधिष्ठिर के पहले वह नरेन्द्र था, वन्ध्या-सुत शूर है आदि में ॥

भावितार्थ—असत् वस्तु निःस्वभाव है, उसकी व्यावृत्ति किसी से सम्भव नहीं, अतः असत् वस्तु के विशेषण नहीं हो सकते । जैसे कि युधिष्ठिर के होते हुए तो युधिष्ठिर को नरेन्द्र कहा जा सकता है, किन्तु युधिष्ठिर के पहले युधिष्ठिर को नरेन्द्र नहीं कहा जा सकता, विद्यमान पुत्र को शूर कहा जा सकता है, किन्तु अविद्यमान या बन्ध्या के पुत्र को शूर नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार सत् वस्तु को ही कार्य या अकार्य कहा जा सकता ॥ २०० ॥

असत् की उत्पत्ति भी नहीं बनती—

उत्पत्तिरप्यस्य निरूप्यमाणा
न काचिदागच्छति युक्तिमार्गम् ।
स्वसत्तया स्वैः समवायिकारणैः
अपीह या स्यात्समवायिताऽस्य ॥ २०१ ॥
असज्जनिः सेत्युपवर्ण्यमानं
सुदुर्घटं न ह्यसतो युजैभिः ।
सदेव सद्भिः सह सर्ववस्तु
संगच्छते न त्वसदेव सद्भिः ॥ २०२ ॥

योजना–अस्य उत्पत्तिः अपि निरूप्यमाणा, कदाचित् युक्तिमार्गं न आगच्छति, अस्य या स्वसत्तया स्वैः समवायिकारणैः अपि समवायिता, सा असज्जनिः—इति उपवर्ण्यमानं सुदुर्घटम्—असतः हि एभिः युजा न, सदेव सर्ववस्तु सद्भिः सह संगच्छते, न तु असदेव सद्भिः ॥ (उपजातिवृत्ते) ॥

योजितार्थ—इस (असत् कार्य) की उत्पत्ति, निरूपण करने पर कभी युक्ति-मार्ग में नहीं आती, क्योंकि इस (कार्य) की जो अपनी सत्ता से या अपने समवायिकारणों से समवायिता है, वह असत् कार्य की उत्पत्ति है—ऐसा वर्णन दुर्घट है, क्योंकि असत् का इन (सत्तादि के) साथ सम्बन्ध नहीं बनता, सदैव सत् वस्तु का ही सत् कारणों के साथ सम्बन्ध होता है, न कि असत् का सत् के साथ ॥

भावितार्थ–घट आदि की उत्पत्ति के दो ही स्वरूप लोक में प्रसिद्ध हैं—अपनी सत्ता का अपने में समवाय या अपने समवायिकारणों में समवाय। कारण सत् है, सत् कारणों का सत् कार्य से ही सम्बन्ध हो सकता है, असत् का सत् से कहीं सम्बन्ध देखा नहीं जाता, अतः असत् गगनादि का सत् ब्रह्म से कोई सम्बन्ध ही सम्भावित नहीं ॥ २०१, २०२ ॥

सत्पदार्थों का ही सर्वत्र सम्बन्ध देखा जाता है—

सती ह सत्ताऽस्य पटस्य दृष्टा
तथैव सन्तः पटतन्तवोऽपि ।
तथा च तैश्चास्य कथं पटस्य
सम्बन्धिता स्यादसतो वदैतत् ॥ २०३ ॥

योजना—अस्य पटस्य सत्ता सती दृष्टा, तथैव पटतन्तवः सन्तः, तथा च तैः अस्य असतः पटस्य कथं सम्बन्धिता ? एतत् वद ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ—इस पद की सत्ता सत् वस्तु देखी गई है, वैसे ही पट के आश्रयभूत तन्तु भी सत् हैं, फिर तो उन (सत्ता आदि) के साथ इस असत् पट का कैसे सम्बन्ध होगा ? यह तो बताइए ॥ २०३ ॥

सत्ता या तन्तुओं के साथ पट का संबंध न होने पर क्षति क्या ? इसका उत्तर है—

स्वकारणैस्तन्तुभिरेवमस्य
स्वसत्तया चान्वय एव जन्म ।
तवेष्टमेवं सति जन्म तस्य
न शक्यते वर्णयितुं पटस्य ॥ २०४ ॥

योजना—स्वकारणैः तन्तुभिः एवं स्वसत्तया च अस्य अन्वयः एव जन्म तव इष्टम्, एवं सति तस्य पटस्य जन्म वर्णयितुं न शक्यते ॥ (उपेन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—अपने कारणभूत तन्तुओं एवं अपनी सत्ता से इस (पट) का अन्वय ही जन्म तुम्हें अभीष्ट है, ऐसा होने पर (सत्ता आदि के साथ पट का सम्बन्ध न हो सकने पर) पट के जन्म का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ २०४ ॥

पट को अत्यन्त असत् नहीं माना जाता, अपितु उत्पत्ति से पूर्व असत् और पश्चात् सत्—इस कथन का भी निराकरण करते हैं—

तदन्वयात्प्रागसतः कथं स्यात्
तदन्वयो न ह्यसदन्वयाय ।
सता समर्थं न हि वन्ध्यया तत्
पुत्रः समन्वेति कदाचिदत्र ॥ २०५ ॥

योजना—तदन्वयात् प्राक् असतः तदन्वयः कथं स्यात् ? असत् हि सता अन्वयाय समर्थं न, अत्र वन्ध्यया तत्पुत्रः कदाचित् न समन्वेति ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ—सत्ता-समन्वयरूप उत्पत्ति से पूर्व असत् (पट) का सत्तादि के साथ अन्वय कैसे होगा ? क्योंकि असत् पदार्थ सत् के साथ अन्वय की क्षमता नहीं रखता, यहाँ वन्ध्या के साथ उसका पुत्र कदापि नहीं समन्वित होता ॥ २०५ ॥

जन्म का और कोई निर्वचन सम्भव नहीं—

न च किंचिदन्यदसतो वदितुं
पटवस्तुनोऽत्र शकनीयमतः ।
जनिशब्दवाच्यमनवद्यतया
तदयुक्तमेवमसदुद्भवनम् ॥ २०६ ॥

योजना—असतः पटवस्तुनः जनिशब्दवाच्यम् इतः अन्यत् किंचित् अत्र वदितुं न शकनीयम्, तद् एवम् असदुद्भवनम् अयुक्तम् ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—असत् पटवस्तु का जन्म इससे भिन्न कुछ भी यहाँ (वैशेषिक-सिद्धान्त में) कहा नहीं जा सकता, इसलिए कथित रीति से असत् का जन्म अयुक्त ही है ॥२०६॥

जन्म का कुछ और निर्वचन मानने पर अपसिद्धान्त होगा—

न च वर्णितादपरमत्र भवान्
अनुमन्यते जनिवचोऽर्थमितः ।
यदि वर्ण्यते किमपि तत्र भवेत्
स्वमतप्रहाणमलिनीकरणम् ॥ २०७ ॥

योजना—इतः वर्णितात् अपरम् अत्र जनिवचोऽर्थं भवान् ननु मन्यते न, यदि किमपि वर्ण्यते, तत्र स्वमतप्रहाणमलिनीकरणं भवेत् ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—इस कथित प्रकार से भिन्न यहाँ 'जन्म' शब्द का अर्थ आप मानते ही नहीं, यदि कुछ और कहा जाता है, तब अपने मत के परित्याग का कलङ्क लगता है ॥ २०७ ॥

कणाद सूत्र में वही जन्म पदार्थ माना गया है, उससे भिन्न नहीं—

समवायिकारणगणेन तथा
सह सत्तया च पटवस्त्विह यत् ।
समवैति तत्कणभुगिच्छति तत्
जनिशब्दवाच्यमिति नान्यदितः ॥ २०८ ॥

योजना—इह यत् पटवस्तु समवायिकारणेन तथा सतया सह समवैति, तत् जनिशब्दवाच्यमिति कणभुक् इच्छति, इतः अन्यत् न ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—यहाँ जो पटवस्तु अपने समवायिकारणों और अपनी सत्ता के साथ सम्बन्धित होता है, वही 'जन्म' शब्द का वाच्य अर्थ है—ऐसा कणाद ऋषि मानते हैं, इससे अन्य नहीं ॥

भावितार्थ—महर्षि कणाद नें सत्ता-समवाय या समवायिकारण-समवाय को ही जन्म पदार्थ माना है, उससे अतिरिक्त माननें पर अवश्य अपसिद्धान्त होगा ॥ २०८ ॥

इसका निर्वाह होता नहीं—

न तदत्र संभवति युक्तिवशाद्
उपवर्णितं तदतिविस्तरतः ।
न च किञ्चिदन्यदुचितं भवतो
वदितुं स्वपक्षमपरित्यजतः ॥ २०९ ॥

योजना—तत् अत्र न सम्भवति, तद् युक्तिवशात् अतिविस्तरतः उपवर्णितम्, स्वपक्षम् अपरित्यजतः भवतः किञ्चिद् अन्यत् वदितुम् उचितं न ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—वह (कथित जन्मपदार्थ) यहाँ नहीं बनता—यह युक्तियों के द्वारा अत्यन्त विस्तार से कह चुके हैं, अपना पक्ष न छोड़कर आपको कुछ और कहना उचित नहीं ॥ २०९ ॥

असत्कार्य-निराकरण का उपसंहार करते हैं—

निरूपणायां न यतोऽस्ति कश्चिद्
उत्पत्तिशब्दार्थ इह त्वदीये ।
पक्षे ततो दुर्घटनाप्रसिद्धिः
असज्जैरुक्तनयेन तावत् ॥ २१० ॥

योजना—यतः इह त्वदीये पक्षे निरूपणायां कश्चित् उत्पत्तिशब्दार्थः नास्ति, ततः उक्तनयेन तावत् असज्जनैः दुर्घटनाप्रसिद्धिः ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ—आपके इस (वैशेषिक) मत में निरूपण करनें पर कोई उत्पत्ति पदार्थ नहीं ठहरता, इसलिए उक्त रीति से असत् की उत्पत्ति का दुर्घटत्व प्रसिद्ध है ॥२१०॥

द्वितीय (सत्कार्य) पक्ष का भी निराकरण करते हैं—

सतोऽपि कार्यत्वमयुक्तमेव
निरूपणे कारणकृत्यहानेः ।
न कारणव्यापृतिरत्र शक्या
सतः स्वरूपे वदितुं फलाय ॥ २११ ॥

योजना—सतोऽपि कार्यत्वम् अयुक्तमेव, निरूपणे कारणकृत्यहानेः, अत्र सतः स्वरूपे फलाय कारणव्यापृतिः वदितुं न शक्या ॥ (उपेन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—सत् को भी कार्य कहना अयुक्त ही है, क्योंकि निरूपण करने पर कारणकार्य की हानि हो जाती है—इस पक्ष में सत् पदार्थ के स्वरूप-निष्पादनरूप फल के लिए कारणों का प्रयोग कहा नहीं जा सकता ॥

भावितार्थ—यदि घटादि कार्य पहले से ही सत् हैं, तब चक्रभ्रमण आदि कारण-व्यापार किसलिए ? घटादि का स्वरूप सम्पादन करने के लिए ? या घटादि कार्य में गुणाधान करने के लिए ? या घटादि की अभिव्यक्ति के लिए ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि इस पक्ष में घटादि का स्वरूप पहले ही सिद्ध है, तब उसका साधन कैसे होगा ॥ २११ ॥

द्वितीय गुणाधान पक्ष भी युक्त नहीं—

गुणं क्षिपत्कारणमर्थवत्त्वं
लभेत चेन्नात्र गुणस्य भावात् ।
न चेद् गुणोऽसत्करणं प्रसक्तम्
निरर्थकं कारणकर्म तस्मात् ॥ २१२ ॥

योजना-गुणं क्षिपत् कारणम् अर्थवत्त्वं लभेत चेत्, न; अत्र गुणस्य भावात् । चेत् गुणो न, असत्करणं प्रसक्तम्; तस्मात् कारणकर्म निरर्थकम् ।। (उपेन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—गुण का आधान करता हुआ कारणव्यापार, सार्थकता का लाभ करेगा—(यह भी) नहीं (कह सकते) क्योंकि इस पक्ष में गुण भी सत् है । यदि गुण सत् नहीं, तब असत् कार्यवाद प्राप्त होता है, इसलिए कारण-व्यापार निरर्थक ही है ॥

भावितार्थ—जब समस्त कार्यवर्ग को सत् माना जाता है, तब गुणादि को भी सत् ही मानना होगा, फिर गुणादि की भी उत्पत्ति कारण-व्यापार से कैसे बनेगी ? यदि गुणादि को असत् माना जाता है, तब असत्कार्यवाद आ जाता है, जिसका पहले विस्तार से निराकरण कर आये हैं ॥ २१२ ॥

तृतीय (अभिव्यक्ति) पक्ष का भी निरास करते हैं—

मलं निरस्यार्थवदिष्यते चेत्
मलोऽपि सन्नैव निरस्य इष्टः ।
सतोऽविनाशादसतोऽजनेश्च
वृथा ततः कारणमत्र पक्षे ॥ २१३ ॥

योजना—चेत् मलं निरस्य अर्थवद् इष्यते, मलोऽपि सन् निरस्यः नैव इष्टः, सतोऽविनाशात्, असतोऽजनेश्च, ततः अत्र पक्षे कारणं वृथा। (उपेन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—यदि (अनभिव्यक्ति आदि) मल का निरास करके कारण को अर्थवान् माना जाय, तब मल भी सत् है, निरसनीय नहीं हो सकता, क्योंकि सत् का विनाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए इस पक्ष में कारण-व्यापार निरर्थक है।

भावितार्थ—कारण-व्यापार से कार्य का आवरण दूर हो जाता है और कार्य अभिव्यक्त हो जाता है—ऐसा कहने पर भी आवरण के विषय में पूछा जायगा कि वह सत् है ? या असत् ? सत् मल की निवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि भगवान् ने स्पष्ट कहा है—"नाभावो विद्यते सतः" (गी० २।१६) और असत् अभिव्यक्ति का उत्पादन नहीं हो सकता—यह कहा जा चुका है, इसलिए इस पक्ष में भी कारण-व्यापार की कोई सार्थकता सिद्ध नहीं होती ॥ २१३ ॥

कथित तृतीय पक्ष का निराकरण स्पष्ट करते हैं—

तस्मादभिव्यक्तिकरी न हेतु-
प्रवृत्तिरत्रार्थवती घटेत।
न चानभिव्यक्तिनिराससृत्या
तस्मान्न सत्कार्यवचः प्रशस्तम् ॥ २१४ ॥

योजना-तस्मात् अनभिव्यक्तिनिराससृत्या अभिव्यक्तिकरी हेतुप्रवृत्तिः अत्र अर्थवती न घटेत, तस्मात् सत्कार्यवचः प्रशस्तं न ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ—अनभिव्यक्ति-निरास के द्वारा कार्य की अभिव्यक्ति करनेवाली हेतु-प्रवृत्ति यहाँ सार्थक नहीं बनती, इसलिए सत्कार्यवाद प्रशस्त नहीं ॥ २१४॥

अधिक क्या ? सत्कार्यवाद में कार्य-कारण भाव ही सिद्ध नहीं होता और सुषुप्ति आदि का अभाव भी प्रसक्त होता है—

नित्या च कारकगणस्य सती प्रवृत्तिः
नित्यं व्यनक्ति सकलं फलमित्यवश्यम्।
वक्तव्यमत्र न लयो न सुषुप्तिमूर्छे
नो चेन्न सृष्टिरिति कष्टमुपस्थितं वः ॥ २१५ ॥

योजना—अत्र कारकगणस्य प्रवृत्तिश्च नित्या सती सकलं फलं नित्यं व्यनक्ति—इति अवश्यं वक्तव्यम् अत्र न लयः न सुषुप्तिमूर्च्छे। नो चेत् सृष्टिः न—इति वः कष्टम् उपस्थितम् ॥ (वसन्ततिलकाच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—इस मत में कारण गणों की प्रवृत्ति भी नित्य होकर ही सकल कार्य को नित्य ही अभिव्यक्त करती है—यह अवश्य कहना होगा, इस प्रकार न तो प्रलय सिद्ध होगा, न सुषुप्ति और मूर्छा। यदि कारण—प्रवृत्ति नहीं होती, तब सृष्टि न हो सकेगी—इस प्रकार आपके लिए महान् कष्ट उपस्थित हो गया ॥

भावितार्थ—सत्कार्यवाद में कारण-प्रवृत्ति रूप कार्य को भी सत् ही मानना होगा, तब तो उसके द्वारा कार्य की अभिव्यक्ति भी नित्य ही होगी, न तो कभी प्रलय होगा, न

सुषुप्ति होगी और न कभी किसी को मूर्छा होगी । यदि कारण-प्रवृत्ति को असत् माना जाय, तब तो किसी प्रकार भी सृष्टि न होगी—इस प्रकार इस वाद में उभयतःपाशा रज्जु उपस्थित हो जाती ॥ २१५ ॥

वेदान्त-मत पर उक्त आपत्तियाँ नहीं आतीं—

वेदान्तवादिसमयेऽपि समानमेतत्
चोद्यं परैर्न खलु वाच्यमिहाप्रसक्तेः ।
अस्मन्मते न खलु संव्यवहारमात्रे
मायमये किमपि दूषणमस्ति यस्मात् ॥ २१६ ॥

योजना—वेदान्तवादिसमयेऽपि एतत् चोद्यं समानमिति परैः न वाच्यम् यस्मात् इह अप्रसक्तेः, अस्मिन् संव्यवहारमात्रे मायामये किमपि दूषणं नास्ति खलु ॥ (वसन्त०)।

योजितार्थ—वेदान्त-मत में भी यह आक्षेप समान ही है—ऐसा वादिगण नहीं कह सकते, क्योंकि इस मत में वह आक्षेप प्रसक्त नहीं होता अर्थात् इस व्यावहारिकमात्र मायारूप सिद्धान्त में कोई भी दूषण नहीं आता ॥

भावितार्थ—और मतों से वेदान्त की यह विशेषता है कि वह सत् और असत्—दो कोटियों से अतिरिक्त एक तीसरी अनिर्वचनीय कोटि मानता है, अतः सत् और असत् कोटि के कथित दोष यहाँ प्रसक्त नहीं होते ॥ २१६ ॥

सत्कार्य के दोष यहाँ प्राप्त नहीं होते—

आत्रेयवाक्यमपि संव्यवहारमात्रं
कार्यं समस्तमिति नः कथयांबभूव ।
सत्कार्यवादविषयो न हि दोषराशिः
मायामये भवितुमुत्सहते विरोधात् ॥ २१७ ॥

योजना-आत्रेयवाक्यमपि समस्तं कार्यं संव्यवहारमात्रम्-इति कथयाम्बभूव, मायामये सत्कार्यवादविषयः दोषराशिः भवितुं न हि उत्सहते, विरोधात् ॥ (वसन्ततिलका)।

योजितार्थ-आत्रेयवाक्य ने भी समस्त कार्य को संव्यवहारमात्र है—ऐसा कहा है, मायामय प्रपञ्च में सत्कार्यवाद की उक्त दोष-राशि हो नहीं सकती, क्योंकि विरोध है ॥

भावितार्थ—"सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्" (छां० ६।२।१) आदि वाक्य भी प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता अर्थात् अनिर्वचनीयता को ही कहते हैं, अतः सत्कार्य-पक्ष में कथित दोष यहाँ प्रसक्त नहीं होते ॥ २१७ ॥

असत्कार्य-पक्ष के दोष भी यहाँ प्राप्त नहीं होते—

काणाददर्शनसमाश्रयदोषराशिः
दूरान्निरस्त इह संव्यवहारमात्रे ।
वेदान्तभूमिकुशलो मुनिरत्रिवंश्यः
तेनाऽऽह कार्यमिह संव्यवहारमात्रम् ॥ २१८ ॥

योजना—इह संव्यवहारमात्रे काणादर्शनसमाश्रयदोषराशिः दूरात् निरस्तः, तेन वेदान्तभूमिकुशलः अत्रिवंश्यः मुनिः इह कार्यं संव्यवहारमात्रम् आह ॥ (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—इस प्रकार के व्यावहारिक पक्ष में वैशेषिकपक्षोक्त दोष-राशि दूरतः निरस्त हो गई है, अतः वेदान्तभूमि में कुशल, अत्रिवंशज मुनि (ब्रह्मानन्दी) ने यहाँ कार्य को संव्यवहारमात्र ही कहा है ॥ २१८ ॥

सांव्यवहारिक पक्ष को दृष्टान्तादि से पुष्ट किया गया है—

षष्ठप्रपाठकनिबद्धमुदीरितं यत्
तत्सत्यमेव खलु सत्यसमाश्रयत्वात् ।
अत्रैव यत्पुनरुवाच समुद्रफेन-
दृष्टान्तपूर्वकमदो व्यवहारदृष्ट्या ॥ २१९ ॥

योजना—षष्ठप्रपाठकनिबद्धं यत्तेन उदीरितम्, तत् सत्यमेव खलु, सत्यसमाश्रयत्वात् अत्रैव यत् पुनः समुद्रफेनदृष्टान्तपूर्वकम्, उवाच, अदः व्यावहारदृष्ट्या ॥ (वसन्तति०) ॥

योजितार्थ—छान्दोग्य के षष्ठ प्रपाठक में जो उस (ब्रह्मानन्दी आचार्य) ने कहा है, वह सत्य ही है; क्योंकि सत्य वस्तु पर वह आधृत है । इसी स्थल पर जो समुद्र-फेन का दृष्टान्त देते हुए कहा है, वह व्यवहार-दृष्टि से (ही कहा है) ॥ २१९ ॥

वहाँ परिणामवाद के कथन का तात्पर्य भी विवर्तवाद में ही है—

पूर्वं विकारमुपवर्ण्य शनैः शनैस्तद्-
दृष्टिं विसृज्य निकटं परिगृह्य तस्मात् ।
सर्वं विकारमथ संव्यवहारमात्रम्
अद्वैतमेव परिरक्षति वाक्यकारः ॥ २२० ॥

योजना—तस्मात् वाक्यकारः पूर्वं विकारम् उपवर्ण्य शनैः शनैः तद्दृष्टिं विसृज्य निकटं परिगृह्य अथ सर्वं विकारं संव्यवहारमात्रम् (उपवर्ण्य) अद्वैतमेव परिरक्षति ॥ (वसन्तति०) ॥

योजितार्थ—इसलिए वाक्यकार ने पहले विकारवाद का कथन करके शनैः-शनैः उस दृष्टि का त्याग करके निकट (विवर्त) दृष्टि को ग्रहण करके समस्त प्रपञ्च को व्यावहारिक कहते हुए अद्वैत का परिरक्षण किया है ॥

भावितार्थ—आचार्य ब्रह्मनन्दी ने पहले विकारवाद का सुगमता की दृष्टि से उल्लेख किया, अनन्तर उस दृष्टि को धीरे-धीरे छोड़ते हुए अनिर्वचनीयवाद का सिद्धान्त सामने रखा, इससे अद्वैत का सम्यक् परिरक्षण किया है ॥ २२० ॥

भाष्यकार के वचन से भी ऐसा ही निर्णय होता है—

अन्तर्गुणा भगवती परदेवतेति
प्रत्यग्गुणेति भगवानपि भाष्यकारः ।
आह स्म यत्तदिह निर्गुणवस्तुवादे
संगच्छते न तु पुनः सगुणप्रवादे ॥ २२१ ॥

योजना—भगवान् भाष्यकारोऽपि यत् अन्तर्गुणा भगवती परदेवतेति प्रत्यग्गुणेति आह स्म, तत् इह निर्गुणवस्तुवादे संगच्छते, न तु पुनः सगुणप्रवादे ॥ (वसन्त०) ॥

योजितार्थ—भगवान् भाष्यकार ने भी जो अन्तर्गुणा शब्द का प्रत्यग्गुणा (प्रत्यग्रूपा अर्थ) करते हुए कहा है, वह इस निर्गुणवाद में संगत होता है, न कि सगुणवाद में ॥

भावितार्थ- आचार्य ब्रह्मनन्दी के सूत्ररूप वाक्यों का भाष्य करते हुए द्रविड़ाचार्य ने 'सेयं देवतैक्षत' (छां०६।३।२) इस श्रुति का सहारा लेकर 'अन्तर्गुणा' शब्द का अर्थ प्रत्यग्गुणा प्रत्यग्रूपा किया है, वह भी इसी निर्गुणवाद में ही सुसंगत होता है; सगुणवाद में नहीं; क्योंकि ब्रह्मरूप परदेवता को प्रत्यग्रूप इसी वाद में कहा जा सकता है, अन्यत्र नहीं ॥ २२१ ॥

मायावाद की दृढ़ता में और भी युक्ति देते हैं—

न खलु कारणकार्यसमन्वयो
भवतु जातु चिदत्र विभिन्नयोः ।
किमिह सागरसह्यसमाश्रयो
भवति कारणकार्यसमन्वयः ॥ २२२ ॥

योजना—अत्र विभिन्नयोः कारणकार्यसमन्वयः जातु न भवति खलु, किम् इह सागरसह्यसमाश्रयः कारणकार्यसमन्वयः भवति ? (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—इस लोक में विभिन्न पदार्थों का कार्यकारणभाव कभी नहीं होता, क्या लोक में सागर और सह्याद्रि का कार्यकारणभाव होता है ?

भावितार्थ—अत्यन्त भिन्न पदार्थों का कार्यकारणभाव नहीं बनता, जैसे सागर और सह्याद्रि का कभी कार्यकारणभाव नहीं देखा जाता ॥ २२२ ॥

अत्यन्त अभिन्न पदार्थों का भी कार्यकारणभाव नहीं बनता—

न च तथाऽयमभिन्नसमाश्रयो
भवितुमुत्सहतेऽनभिवीक्षणात् ।
न हि घटो विदधाति घटं क्वचित्
न च पटः पटमित्थमनीक्षणात् ॥ २२३ ॥

योजना—तथा अयम् अभिन्नसमाश्रयः न भवितुम् उत्सहते च, अनभिवीक्षणात्, न घटो हि क्वचित् घटं विदधाति, न पटः पटं च, इत्थम् अनीक्षणात् ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—(जैसे अत्यन्त भिन्न पदार्थों का कार्यकारणभाव नहीं होता) वैसे ही यह (कार्यकारणभाव) अभिन्न पदार्थों का भी नहीं हो सकता, क्योंकि वैसा देखा नहीं जाता, अर्थात् न तो घट कहीं घट को जन्म देता है और न पट पट को; क्योंकि ऐसा लोक में अनुभव नहीं होता ॥ २२३ ॥

कारण वस्तु क्या कुर्वद्रूप अर्थात् सव्यापार होकर कार्य की जनक होती है ? या कुर्वद्रूप न होकर उदासीन ही कार्यारम्भक होती है ? प्रथम पक्ष में अनवस्था दोष देते हैं—

कुर्वत्कारणपक्षमाश्रितवतः कुर्वंश्च कुर्वत्कृतं
तत्कुर्वंच्च तथाविधान्यकृतमित्येषाऽनवस्था भवेत् ।
कुर्वद्रूपमकार्यमिष्टमिति चेन्नित्यं जगज्जायतां
नित्यं मा जनि वा विशेषविरहादेतत्समस्तं जगत् ॥ २२४ ॥

योजना—कुर्वत्कारणपक्षम् आश्रितवतः कुर्वत् च कुर्वत्कृतम्–इत्येषा अनवस्था भवेत्। कुर्वद्रूपम् अकार्यम् इष्टमिति चेत्, जगत् नित्यं जायताम्, एतत् समस्तं जगत् नित्यं वा मा जनि, विशेषविरहात् ॥ (शार्दूलविक्रीडितम्) ॥

योजितार्थ—कुर्वत्कारण पक्ष माननेवाले के मत में कुर्वद्रूप भी कार्य होने से अन्य कुर्वत् कारण से जन्य होकर ही कारण बनेगा, वह कुर्वत् कारण भी वैसे ही अन्य कुर्वद्रूप से जन्य होगा, इस प्रकार यह अनवस्था होगी। कुर्वद्रूप को अकार्य मानना इष्ट है यदि कहें, तब यह जगत् या तो नित्य ही होता रहेगा या यह समस्त जगत् कभी भी नहीं होगा; क्योंकि कोई विशेषता नहीं ॥

भावितार्थ–जिस कुर्वद्रूप को कारण माना जाता है, वह कार्य है ? या नहीं ? यदि कार्य है, तब उसका भी कोई कुर्वद्रूप ही कारण मानना होगा, वह कुर्वद्रूप भी दूसरे कुर्वद्रूप से जन्य होगा—इस प्रकार जनक कुर्वद्रूप-परम्परा की कल्पना में अनवस्था दोष उपस्थित होता है। उक्त कुर्वद्रूप को अकार्य (नित्य) मानने पर उससे जन्य कार्य भी सदा हो रहेगा, फिर तो सुषुप्त्यादि का अभाव प्राप्त होता है, जो कि कहा जा चुका है ॥२२४॥

कुर्वद्रूप के अकार्य-पक्ष में दोष देते हैं—

सर्वं सर्वसमुद्भवाय घटते कुर्वन्न चेत्कारणं
न ह्यस्मिन्क्वचिदस्ति कस्यचिदपि व्यापारवत्ता यतः।
तस्मात्कारणकार्यतादि सकलं मायामयं तत्त्वतो
नाऽऽसीदस्ति भविष्यतीति सकलं चैतन्यशेषं जगत् ॥ २२५ ॥

योजना—चेत् कारणं कुर्वत् न, (तदा) सर्वं सर्वसमुद्भवाय घटते, यतः अस्मिन् कस्यचिदपि क्वचित् व्यापारवत्ता नास्ति, तस्मात् सकलं कारणकार्यतादि तत्त्वतः मायामयः-न आसीद् अस्ति भविष्यतीति जगत् चैतन्यशेषम् ॥ (शार्दूलविक्रीडितम्) ॥

योजितार्थ—यदि कारण कुर्वद्रूप कोई नहीं, तब सब पदार्थ सब कार्य के जनक हो जायेंगे, क्योंकि इस पक्ष में किसी ही पदार्थ की किसी ही पदार्थ में शक्ति नहीं (कि किसी कारण से कोई ही वस्तु उत्पन्न हो)। इसलिए सकल कार्य-कारणभाव तत्त्वतः मायामय है अर्थात् न कभी था, न है और न होगा, जगत् चैतन्य से भिन्न कुछ भी नहीं।

भावितार्थ—कोई ही कारण किसी ही कार्य को जन्म देता है—यह व्यवस्था तभी सुरक्षित रह सकती है, जब कि कारण में कोई कुर्वद्रूप-जैसी विशेषता मानी जाय, अन्यथा सभी कारण सभी कार्य को उत्पन्न करने लग जायेंगे। इस प्रकार कारण और कार्य की कोई व्यवस्था नहीं बनती, यही कहना पड़ता है कि यह समस्त प्रपञ्च मायामात्र है, तत्त्वतः तीनों कालों में इसका अभाव है, चैतन्य से भिन्न इसकी कुछ भी सत्ता नहीं ॥२२५॥

शक्ति-कल्पना के द्वारा भी कोई कारण और कार्य की व्यवस्था नहीं की जा सकती—

सकलशक्तिविकल्पनयाऽन्वये
सकलशक्यविकल्पनयाऽन्वयः।
सकलशक्यविकल्पनयाऽन्वये
सकलशक्तिविकल्पनयाऽन्वयः ॥ २२६ ॥

इतिपरस्परसंश्रयता यदा
वद कथं जगतः परमार्थता ।
यदि पुनर्जगतोऽपरमार्थता
परममस्ति पदं परमात्मनः ॥ २२७ ॥

योजना—सकलशक्तिविकलपनया अन्वये, सकलशक्यविकलपनया अन्वयः । सकलशक्यविकलपनया अन्वये सकलशक्तिविकलपनया अन्वयः—इति यदा परस्परसंश्रयता, वद ! जगतः परमार्थंता कथम् ? यदि पुनः जगतोऽपरमार्थंता, परमात्मनः पदं परमम् अस्ति ॥ (द्रुतविलम्बितवृत्तं) ॥

योजितार्थं—सकल (कारणवर्ग) में शक्ति-कल्पना के द्वारा (कारण कार्य का) अन्वय स्थिर होने पर सकल (कार्यवर्ग की) शक्यता का अन्वय-बोध होता है । इसी प्रकार सकल शक्य पदार्थों की शक्ति-कल्पना के द्वारा अन्वय हो जाने पर सकल कारण में शक्तता का बोध होता है—इस प्रकार जब अन्योऽन्याश्रयता होती है, तब कहिए ! जगत् की परमार्थंता कैसे ? यदि जगत् परमार्थं नहीं, तब एक परमात्मपद परमार्थं है ।

भावितार्थं—शक्ति सदैव शक्य से निरूपित होती है, अतः 'यह अमुक शक्य है'—इस प्रकार शक्य-नियम सिद्ध हो जाने पर शक्ति-नियम सिद्ध होगा, अकुर्वंत्पक्ष में "इस कारण की इस कार्यं में शक्ति है"—यह नियम सिद्ध नहीं होता, अतः शक्ति नियम के अधीन ही शक्य-नियम स्थापित करना होगा, तब तो परस्पराश्रयता दोष है ।२२६-२२७।

अतः पूर्वोक्त जगत् की मायामयता ही शेष रह जाती है—

चिच्छक्तिः परमेश्वरस्य विमला चैतन्यमेवोच्यते
सत्यैवास्य जडा परा भगवतः शक्तिस्त्वविद्योच्यते ।
संसर्गाच्च मिथस्तयोर्भगवतः शक्त्योर्जगज्जयतेऽ-
सच्छक्त्या सविकारया भगवतश्चिच्छक्तिरुद्रिच्यते ॥ २२८ ॥

योजना–परमेश्वरस्य विमला सत्या चिच्छक्तिरेव चैतन्यम् उच्यते, अस्य भगवतः परा जडा शक्तिस्तु अविद्या उच्यते, भगवतः तयोः शक्त्योः मिथः संसर्गात् जगत् जायते, भगवतः सविकारया असच्छक्त्या चिच्छक्तिः उद्रिच्यते ॥ (शार्दूल०) ॥

योजितार्थ—परमेश्वर की विमल सत्य चिच्छक्ति ही चैतन्य कहलाती है, इस भगवान की दूसरी जड़ शक्ति अविद्या कही जाती है, भगवान् की उन दोनों शक्तियों के परस्पर संसर्ग से जगत् उत्पन्न होता है, भगवान् की विकृत असत् जड़ शक्ति के द्वारा चिच्छक्ति विक्षुब्ध की जाती है ॥

भावितार्थं–परमेश्वर की दो शक्तियाँ हैं—(१) चिद्रूप शक्ति, (२) जड़रूप शक्ति। प्रथम शक्ति को चैतन्य और दूसरी को जड़ या प्रकृति या अविद्या कहा जाता है । अविद्या शक्ति विकृत होकर चिच्छक्ति को भी प्रभावित करती है जिससे वह भी कार्यंवर्ग के आकार में विवर्तित हो जाती है । इस पद्य के द्वितीय चरण का 'सत्या' पद 'असत्या' भी अकार-प्रश्लेष के द्वारा पढ़ा जा सकता है, 'सत्या' पद का चिच्छक्ति से तथा 'असत्या' पद का जड़ शक्ति से अन्वय करना चाहिए ॥ २२८ ॥

उक्त सिद्धान्त में सब विद्वान् सहमत नहीं—

इत्येवं कथयन्ति केचिदपरे श्रद्धालवस्तत्पुनः
कस्यांचिद्भुवि संमतं च विदुषां नेष्टं तु भूम्यन्तरे ।
कर्मोपास्तिविधानभूमिषु तथा तत्संमतं निर्गुणे
तत्त्वे तत्परवेदवाक्यविषये त्वालोचिते नेष्यते ॥ २२९ ॥

योजना—इत्येवं केचित् श्रद्धालवः कथयन्ति, तत् पुनः विदुषां कस्यांचित् भुवि सम्मतम्, भूम्यन्तरे तु नेष्टम्—कर्मोपास्तिविधानभूमिषु तत् तथा सम्मतम्, परदेववाक्यविषये निर्गुणे तत्त्वे आलोचिते तत् नेष्यते ॥ (शार्दूलविक्रीडितम्) ॥

योजितार्थ—इस प्रकार कुछ श्रद्धालु विद्वान् कहते हैं, वह अन्य विद्वानों को किसी भूमि में सम्मत है, भूम्यन्तर में इष्ट नहीं, अर्थात् कर्म और उपसना की विधियों में वह वैसा ही इष्ट है किन्तु परदेवता-वाक्य (छां ६।३।२) के विषयीभूत निर्गूण तत्त्व की आलोचना करने पर वह अभीष्ट नहीं ॥

भावितार्थ—जब तक वेदान्त की आलोचना न की हो, केवल कर्मकाण्ड का ही अध्ययन किया हो, तब तक श्रद्धालुगण परिणामवाद माना करते हैं, किन्तु वेदान्त का मनन कर लेनें पर विद्वान् परिणाम दृष्टि त्याग कर विवर्त दृष्टि अपनाया करते हैं ॥२२६॥

वेदान्त की आलोचना का प्रकार दिखाते हैं—

मूर्त्तामूर्त्ततदुत्थलिङ्गपुरुषव्यामिश्रभूता चितिः
वीप्सापूर्वकनेतिनेतिवचनप्रध्वस्तसर्वद्वया ।
संपूर्णे परमे सुखे परिहृताशेषाशिवे शाश्वते
सत्ये शुद्धमहिम्नि तायिने परे भूम्न्यक्षरे तिष्ठति ॥ २३० ॥

योजना—मूर्तामूर्त्ततदुत्थलिङ्गपुरुषव्यामिश्रभूता चितिः वीप्सापूर्वकनेति नेति वचनप्रध्वस्तसर्वद्वया (सती) संपूर्णे परमे सुखे परिहृताशेषाशिवे शाश्वते सत्ये शुद्धमहिम्नि तायिनी परे भूम्नि अक्षरे तिष्ठति ॥ (शार्दूलविक्रीडितम्) ॥

योजितार्थ—मूर्त अमूर्त भूतों से जन्य लिङ्ग पुरुष (लिङ्ग शरीर) से तादात्म्यान्न चेतन का जब वीप्सा घटित नेति-नेति वाक्यों से समस्त द्वैत प्रध्वस्त हो जाता है, तब वह अपने संपूर्ण, परम, सुख, निर्विशेष, शाश्वत, सत्य, शुद्धमहिम, व्यापक, परभूमा, अक्षरस्वरूप में स्थित हो जाता है ॥

भावितार्थ—पृथिवी, जल, तेज और वायु—इन भूतों को मूर्त कहा जाता है एवं आकाश को अमूर्त, इन दोनों भूतों से लिङ्ग शरीर उत्पन्न होता है, उस लिङ्ग शरीर से तादात्म्याध्यास होने के कारण चेतन में कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि का भान होने लगता है। जब वह अपने "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छां० ३।१४।१) आदि विधिमुख तथा "नेति नेति" (बृह० २।३।६) आदि निषेधमुख वाक्यों की आलोचना करता है, तब अपने को शुद्ध-बुद्ध-मुक्त समझ कर अपने निर्विशेषस्वरूप में स्थित हो जाता है ॥ २३० ॥

जगत्प्रकाशकनिरूपणम्

जगत् की मायामयता में और युक्तियाँ देते हैं—

जगन्महिम्ना न जगत्प्रसिद्धिः
न चिन्महिम्नाऽपि जगत्प्रसिद्धिः ।
न च प्रमाणाज्जगतः प्रसिद्धिः
ततोऽस्य मायामयताप्रसिद्धिः ॥ २३१ ॥

योजना—न जगन्महिम्ना जगत्प्रसिद्धिः, न चिन्महिम्ना अपि जगत्प्रसिद्धिः, न च प्रमाणात् जगतः प्रसिद्धिः, ततः अस्य मायामयताप्रसिद्धिः ॥ (उपेन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—न जगत् की महिमा से जगत् की प्रसिद्धि हो सकती है, न चेतन की महिमा से जगत् की प्रसिद्धि होती है और न किसी प्रमाण से जगत् की प्रसिद्धि होती है, अतः इस (जगत्) की मायामयता सिद्ध होती है ॥ २३१ ॥

तीनों से जगत् का प्रकाश न होने में हेतु दिखाते हैं—

जडत्वहेतोर्न जगन्महिम्ना
न चिन्महिम्ना तदसङ्गभावात् ।
न च प्रमाणात्तदकारकत्वात्
कृतस्य जाड्यादजडाजनेश्च ॥ २३२ ॥

योजना—जडत्वहेतोः जगन्महिम्ना न । चिन्महिम्ना न, असङ्गभावात् । प्रमाणात् च न, तदकारकत्वात्, कृतस्य जाड्यात्, अजडाजनेश्च ॥ (उपेन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—जड़त्व के कारण जगत् की महिमा से (जगत् का प्रकाश) नहीं हो सकता । चिन्महिमा से (भी जगत् का प्रकाश) नहीं होता, क्योंकि चेतन असङ्ग है । प्रमाण से भी (जगत् का प्रकाश) नहीं होता; क्योंकि प्रमाण कारक नहीं होता, जन्य वस्तु जड़ होती है और अजड़ वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती ॥

भावितार्थ—जगत् के प्रकाश में जिज्ञासा होती है कि जगत् का प्रकाश अपने से ही होता है ? या चेतन से ? या किसी प्रमाण से ? स्वयं जड़ है, जड़ से जड़ का प्रकाश होता नहीं, अतः प्रथम पक्ष तो सर्वथा अयुक्त है । द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि चेतन असङ्ग है, उसका जगत् से कोई सम्बन्ध ही नहीं, बिना सम्बन्ध के कोई प्रकाशक किसी का प्रकाश नहीं किया करता । तीसरा पक्ष अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जगत् का प्रकाश होना भी सम्भव नहीं, क्योंकि कोई प्रमाण जड़विषयक संवित् (प्रकाश) का कारण (उत्पादक) नहीं हो सकता, आशय यह है कि जगत् की प्रकाशरूप संवित् नित्य आत्मस्वरूप होती है, उसे प्रत्यक्षादि प्रमाण उत्पन्न नहीं कर सकते और जो जन्य पदार्थ है, वह जड़ होता है, उसे प्रकाश या संवित् मानना सम्भव नहीं ॥ २३२ ॥

चेतन की असङ्गतता स्पष्ट करते हैं—

न संकरो नापि च संयुतिस्तयोः
न चास्ति तद्वत्समवायसंभवः ।
ततो न चिच्चेत्यसमन्वयं प्रति
प्रतीयते काचन मूलसंगतिः ॥ २३३ ॥

योजना—तयोः न संकरः नापि संयुतिः, तद्वत् समवायसम्भवः न च अस्ति, ततः चिच्चेत्यसमन्वयं प्रति काचन मूलसंगतिः न प्रतीयते ।। (वंशस्थवृत्तम्) ।।

योजितार्थ—उन दोनों (चेतन और जड़ जगत् का) न तो सांकर्य (तादात्म्य) बन सकता है, न संयोग, वैसे ही समवाय भी सम्भव नहीं है, अतः चित् और चेत्य (जगत्) के समन्वय (सम्बन्ध) के प्रति कोई मूलसंगति नहीं प्रतीत होती ।।

भावितार्थ—चेतन और जड़—दोनों अत्यन्त विरुद्ध स्वभाव के हैं, अतः उनमें तादात्म्य सम्बन्ध कभी नहीं हो सकता । संयोग सम्बन्ध सदैव दो द्रव्यों या सगुण तत्त्वों का ही होता है, चेतन निर्गुण है, अतः उसका संयोग भी नहीं बनता । समवाय सम्बन्ध तो अयुतसिद्ध पदार्थों का ही माना जाता है, असङ्ग चेतन में वह भी नहीं बनता । अतः यही स्थिर होता है कि चेतन और जगत् का कोई सम्बन्ध ही नहीं ।। २३३ ।।

विषय-विषयिभाव की योग्यता के आधार पर भी अन्वय नहीं हो सकता—

न योग्यतामात्रनिबन्धनो भवेत्
जडात्मनोरत्र विवक्षितोऽन्वयः ।
तदा हि तस्या अनपायरूपतः
सदाऽऽत्मनः स्यादनपायसंसृतिः ।। २३४ ।।

योजना—अत्र योग्यतामात्रनिबन्धनः जडात्मनोः विवक्षितः अन्वयः न भवेत्, तदा तस्या अनपायरूपतः आत्मनः सदा अनपायसंसृतिः स्यात् ।। (वंशस्थवृत्तम्) ।।

योजितार्थ—यहाँ योग्यतामात्र के आधार पर भी जड़ और आत्मा का विवक्षित अन्वय नहीं हो सकता, क्योंकि तब तो उस (योग्यता) के नित्य होने के कारण आत्मा में सदा संसार ही बना रहेगा ।।

भावितार्थ—आत्मा में विषयित्व की तथा प्रपञ्च में विषयत्व की योग्यता सदा विद्यमान है, फिर तो उन दोनों का सदा सम्बन्ध ही बना रहेगा, आत्मा की कभी मुक्ति न होगी, फिर तो मोक्ष शास्त्र अत्यन्त अप्रमाण हो जायगा ।। २३४ ।।

वेदान्त-सिद्धान्त में तो आध्यासिक सम्बन्ध बन जाता है—

ततो वियन्मुख्यमदो जगज्जडं
चिदात्मनोऽस्यैव विवर्त्त इष्यताम् ।
अनाद्यविद्यापटसंवृतात्मनः
तदोपलभ्यत्वममुष्य कल्प्यते ।। २३५ ।।

योजना—अतः अदः वियन्मुख्यं जडं जगत् अस्य चिदात्मनः एव विवर्तः इष्यताम्, तदा अमुष्य उपलभ्यत्वं कल्प्यते ।। (वंशस्थम्) ।।

योजितार्थ—अतः यह वियदादि जड़ जगत् इस अनादि अविद्यारूप पट से आवृत चैतन्य का ही विवर्त मान लिया जाय, तब इस (जगत्) की उपलब्धि बन जाती है ।।

भावितार्थ–वेदान्त-सिद्धान्त में अज्ञानावृत चेतन का जगत् विवर्त है, अतः आध्यासिक तादात्म्य सम्बन्ध होने के कारण चैतन्य से जगत् का प्रकाश बन जाता है ।।२३५।।

जगत् का प्रकाश (ज्ञान) विभिन्न तथा उत्पत्ति-विनाशवाला प्रतीत होता है, वह आत्मस्वरूप नहीं हो सकता, इस आक्षेप का समाधान है—

संवित्तिभेदतदभावतदीयजन्म-
नाशादयो न खलु मानबलेन लभ्याः ।
न ह्यस्ति मानमिह किंचन तद्यदस्या
धर्मस्वरूपविषयीकरणे समर्थम् ॥ २३६ ॥

योजना—संवित्तिभेदतदभावतदीयजन्मनाशादयः खलु मानबलेन न लभ्याः, इह हि तत् किंचन मानं नास्ति, यत् अस्याः धर्मस्वरूपविषयीकरणे समर्थम् ॥ (वसन्ततिलका)॥

योजितार्थ—संवेदन का भेद, उसका अभाव, उसके जन्म-नाश आदि तो किसी प्रमाण के बल पर नहीं उपलब्ध होते, क्योंकि लोक में ऐसा कोई प्रमाण ही नहीं, जो इस (संवित्ति) के धर्म और स्वरूप को विषय करने में समर्थ हो ॥

भावितार्थ—संवित् के भेद आदि न तो स्वयं उस संवित् से प्रमाणित हो सकते हैं और न अन्य प्रमाण से; क्योंकि अपने स्वरूप या अपने धर्मों का ग्रहण स्वयं अपने से नहीं हो सकता। उससे भिन्न वस्तु जड़ है, जड़भूत प्रमाण से किसी का प्रकाश नहीं हो सकता, अतः यह मानना होगा कि संवित् वस्तुतः कूटस्थ और एक है, उसमें उत्पत्त्यादि धर्मों की प्रतीति बुद्धि के अविवेक से निभ जाती है ॥ २३६ ॥

कूटस्थ संवित् में प्रमाण-जन्यत्व भी परमार्थतः नहीं—

तस्मान्न मानफलता निरुपाधिकस्य
संवेदनस्य घटतेऽविषयत्वहेतोः ।
एवं च मानफलसिद्धिसमन्वयेन
सिद्धिर्जडस्य जगतो न कदाचिदस्ति ॥ २३७ ॥

योजना—तस्मात् निरुपाधिकस्य संवेदनस्य मानफलता न घटते, अविषयत्वहेतोः एवं मानफलसिद्धिसमन्वयेन जडस्य जगतः कदाचित् सिद्धिः नास्ति ॥ (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—अतः निरुपाधिक ज्ञान (चेतन) में प्रमाण-जन्यत्व नहीं घटता, क्योंकि वह किसी प्रमाण का विषय नहीं, इसी प्रकार प्रमाण-जन्य सिद्धि (ज्ञान) के सम्बन्ध से भी जड़ जगत् की सिद्धि नहीं होती ॥

भावितार्थ–जगत् का प्रकाशक चेतन नित्य है, उसमें प्रमाण-जन्यता कभी नहीं बन सकती, हाँ प्रमाण-जन्य बुद्धि-वृत्तिगत जन्यत्व का वहाँ भानमात्र हो जाता है ॥ २३७ ॥

इतरेतराध्यासः

अध्यास सम्बन्ध के द्वारा ही संवित् जगत् की साधक है—

इतरेतराध्यसनमस्त्वनयोः
उभयोस्ततो दृगदृशोरनिशम् ।
अपरस्परव्यतिकरानुभवात्
इह शुक्तिकारजतविभ्रमवत् ॥ २३८ ॥

योजना–अतः अनयोः उभयोः दृगदृशोः अनिशम् इतरेतराध्यसनम् अस्तु, अपरस्पररव्यतिकरानुभवात्, इह शुक्तिकारजतविभ्रमवत् ॥ (प्रमिताक्षरा) ॥

योजितार्थ—अतः इन दोनों चेतन और जड़ का सदा अन्योऽन्याध्यास ही है, क्योंकि (उनमें) अन्योऽन्याध्यास का अनुभव होता है, जैसे कि लोक में शुक्तिका-रजत-भ्रम में ॥

भावितार्थ—शुक्ति-रजत-विभ्रम में जैसे "इदं रजतम्"—इस प्रकार शुक्ति और रजत का अन्योऽन्याध्यास प्रतीत होता है, वैसे ही "घटः स्फुरति" आदि प्रतीतियों के आधार पर संवित् और घटादि का अन्योऽन्याध्यास सिद्ध होता है ॥ २३८ ॥

अन्योऽन्याध्यास में आत्मा का भी अध्यास मानना होगा, फिर तो आत्मा का भी अभाव हो जाने से शून्यवाद आ जाता है, इस आक्षेप का समाधान है—

संसिद्धा सविलासमोहविषये वस्तुन्यधिष्ठानगीः
नाऽऽधारेऽध्यसनस्य वस्तुनि ततोऽस्थाने महान्संभ्रमः ।
केषांचिन्महतामनूनतमसां पाण्डित्यगर्वादयम्
अन्योन्याध्यसने निरास्पदमिदं शून्यं जगत्स्यादिति ॥ २३९ ॥

योजना—सविलासमोहविषये वस्तुनि अधिष्ठानगीः संसिद्धा, अध्यसनस्य आधारे वस्तुनि न, ततः केषांचित् महतां अनूनतमसां पाण्डित्यगर्वाद् "अन्योऽन्याध्यसने इदं जगत् निरास्पदं शून्यं स्यात्" अयं महान् संभ्रमः अस्थाने ॥ (शार्दूल०) ॥

योजितार्थ—कार्य-सहित अज्ञान की विषयीभूत वस्तु में ही 'अधिष्ठान' शब्द संसिद्ध है, अध्यास की आधारभूत वस्तु में नहीं, अतः कुछ महान् तमस्वी व्यक्तियों को पाण्डित्य का गर्व होने से "अन्योऽन्याध्यास मानने पर यह जगत् निरास्पदं शून्य मात्र हो जायगा"—यह घोर भ्रम होता है, जो अयुक्त है[1] ॥ २३९ ॥

शून्यता-प्रसक्ति का निवारण और-रीति से भी करते हैं—

कृपणमध्यमपक्वधियां नृणां
मतिविलासविधात्रितयं क्रमात् ।
परिणतिर्बहुजीवतमस्विता
परमपुंसि तमः परिकल्पना ॥ २४० ॥

योजना—कृपणमध्यमपक्वधियां नृणां मतिविलासविधात्रितयं क्रमात्—परिणतिः बहुजीवतमस्विता, परमपुंसि तमःपरिकल्पना ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—निकृष्ट, मध्यम तथा उत्तम बुद्धिवाले अधिकारी पुरुषों के बुद्धिगत तारतम्य की ये क्रमशः तीन कल्पनाएँ हैं—(१) परिणामवाद, (२) अनेक अज्ञानी जीव, (३) ब्रह्म में अज्ञान की कल्पना ॥

भावितार्थ –द्वितीय अध्याय (श्लोक ८६-८९) में कथित अधिकारियों के भेद से विभिन्न दृष्टियों का समन्वय यहाँ भी दिखाया है। भेदवाद में अत्यन्त अभिनिविष्ट व्यक्ति कहता है–"मैं ईश्वर के अधीन हूँ, संसारी हूँ, यह प्रपञ्च सत्य है" यह कृपण (निकृष्ट)

---

[1] इस श्लोक का विशेष अर्थ जानने के लिए प्रथम अध्याय का २१ वाँ श्लोक देखें।

अधिकारी है, इसे ऊपर उठाने के लिए प्रथम परिणामवाद सुनाना होगा। जो अज्ञान का आश्रय एक तत्त्व सहसा नहीं समझ सकता, वह मध्यम अधिकारी है, उसे बोध कराने के लिए "जीव अनेक हैं, अज्ञानी हैं"—यह उपदेश देना होगा। केवल व्यवहार की संकरता का सन्देह जिसके मन में बैठा हुआ है, वह उत्तम अधिकारी है, उसे विवर्तवाद के उपदेश से बोध कराया जा सकता है कि एक ब्रह्मतत्त्व में एक अज्ञान की कल्पना है और उस अज्ञान का विविध व्यवस्थित व्यवहार कल्पा हुआ है। इसकी विशेष व्यवस्था द्वितीय अध्याय (श्लोक ८६-८९) में देखनी चाहिए ॥ २४० ॥

कथित क्रम को प्रमाणित करते हैं—

श्रुतिवचांसि मुनिस्मरणानि च
द्वयविशारदगीरपि सर्वशः।
त्रयमपेक्ष्य विधात्रितयं विना
न हि घटामुपयान्ति कदाचन ॥ २४१ ॥

इस श्लोक की योजना, योजितार्थ और भावितार्थ के लिए द्वितीय अध्याय का ९३ वाँ पद्य देखें ॥ २४१ ॥

कथित दृष्टियाँ एक पुरुष में भी बन जाती हैं—

पुरुषमेकमपेक्ष्य च भूमिका-
त्रितयमस्ति पुरोदितमेव तत्।
तदनुसारवशादखिलश्रुति-
स्मृतिवचांसि वयं घटयामहे ॥ २४२ ॥

योजना—एकं पुरुषम् अपेक्ष्य च पुरोदितं तत् भूमिकात्रितयम् अस्ति, तदनुसारवशात् वयम् अखिलश्रुतिस्मृतिवचांसि घटयामहे ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—एक पुरुष की अपेक्षा भी पूर्वोक्त वे तीनों भूमियाँ हो सकती हैं, उसके अनुसार हम अखिल श्रुतियों और स्मृतियों के वचनों को घटाते हैं ॥ २४२ ॥

सूत्रकार की गति-विधि को देखते हुए भी यही निश्चित होता है—

परिणतिं च विवर्तदशाद्वयं
स्थितमनुक्रमतः श्रुतिशासने।
अनुशशास मुनिप्रवरः सुधीः
पुरुषबुद्धिमपेक्ष्य यथाक्रमम् ॥ २४३ ॥

योजना—यथाक्रमं पुरुषबुद्धिम् अपेक्ष्य सुधीः मुनिप्रवरः श्रुतिशासने स्थितं परिणतिं विवर्तदशाद्वयम् अनुक्रमतः अनुशशास (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—क्रमशः एक ही पुरुष में प्राप्त विविध धारणाओं को दृष्टि में रख कर मुनिप्रवर (व्यासदेव) ने श्रुति शासन में विद्यमान परिणामवाद तथा द्विविध विवर्तवाद का यथाक्रम उपदेश दिया है[1] ॥ २४३ ॥

---

[1] इसका विशेष अर्थ गत द्वितीय अध्याय (८६–९०) में देखिए।

वेदस्य कृतत्वाक्षेपः

परिणामवाद या विवर्तवाद मानने पर वेदों पर आंच आती है—

यदि परिणतिरेषा चिद्विवर्त्तोऽथवा स्याद
भवति ननु तदानीं वेदशास्त्रे विरोधः ।
न हि खलु कृतकत्वे पौरुषेयत्वहेतोः
भवितुमलमियं नो मानता स्वप्रयुक्ता ॥ २४४ ॥

योजना—यदि एषा परिणतिः अथवा चिद्विवर्तः स्यात्, तदानीं वेदशास्त्रे ननु विरोधः, कृतकत्वे हि पौरुषेयत्वहेतोः इयं स्वप्रयुक्ता मानता खलु भवितुं न अलम् ॥ (मालिनी) ॥

योजितार्थ—यदि यह परिणाम अथवा चेतन का विवर्त होगा, तब वेदशास्त्र में अवश्य विरोध उपस्थित होगा, क्योंकि (वेद के) कृतक होनें पर पौरुषेय हो जाने के कारण यह स्वतः प्रमाणता कभी हो न सकेगी ।

भावितार्थ—परिणामवाद या विवर्तवाद को अपना लेने से वेद भी दधि आदि के समान परिणामरूप या रज्जु-सर्प आदि के समान विवर्तस्वरूप ही सिद्ध होगा, तब तो वह अवश्य पुरुष की रचना या कल्पनामात्र ठहरेगा, अतः उसकी स्वतःप्रमाणता, जो कि अपौरुषेयत्व के बल पर टिकी थी, समाप्त हो जाती है ॥ २४४ ॥

वेद को पौरुषेय मान लेने पर दो ही मार्ग शेष रह जाते हैं—

कणभुगभिमतिर्वा कल्पनीया तदानीं
सुरगुरुमतमेवोपास्यमाहोस्विदुच्चैः ।
इति निपतति चोद्यं ब्रह्मणो विश्वसृष्टिः
यदि भवति न चेद्वो नित्यमायाति विश्वम् ॥ २४५ ॥

योजना—तदानीं कणभुगभिमतिः वा कल्पनीया आहोस्वित् सुरगुरुमतम् उच्चैः उपास्यमेव—इति चोद्यं निपतति यदि ब्रह्मणः विश्वसृष्टिः भवति, चेत् न, वः विश्वं नित्यम् आयाति ॥ (मालिनी) ॥

योजितार्थ—तब या तो महर्षि कणाद का मत मानना होगा, अथवा बृहस्पति का मत सादर स्वीकार करना होगा—यह आक्षेप आता है, यदि ब्रह्म से विश्व की सृष्टि होती है, यदि नहीं, तब आपका विश्व नित्य हो जाता है ॥

भावितार्थ—ब्रह्म से यदि विश्व की उत्पत्ति मानी जाती है, तब वेद भी जन्य ही होगा । जन्य वेद को या तो वैशेषिकों की मान्यता के समान परतःप्रमाण मानना होगा, या चार्वाक-मत के समान वेद को अप्रमाण ही मानना होगा । परतःप्रमाण-पक्ष में तो अद्वैतवाद स्वरसतः सिद्ध नहीं होता किन्तु चार्वाक मत से तो कथमपि अद्वैत-सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जा सकता ॥ २४५ ॥

वेदस्य कृतत्वाक्षेपसमाधानम्

वेद की कार्यता का आक्षेप वेदान्तियों या मीमांसकों को नहीं करना चाहिए—

ननु सदृशमिदं वश्चोद्यमस्मासु कस्मात्
विनिहितमुभयेषां पूर्वमीमांसकानाम् ।
अवगतिकृतमेतद्वाचकत्वं पदानाम्
अवगतिरियमिष्टा नश्वरी तत्क्षणेन ॥ २४६ ॥

योजना—वः उभयेषां पूर्वमीमांसकानाम् इदं सदृशम्, अस्मासु कस्माद् विनिहितम् ? पदानाम् एतद्वाचकत्वम्, इयम् अवगतिः क्षणेन नश्वरी ॥ (मालिनी) ॥

योजितार्थ—आप दोनों (प्राभाकर और भाट्ट) मीमांसकों के मत में यह (आक्षेप) समान है । फिर हमारे ऊपर ही क्यों मढ़ा गया ? अर्थात् पदों में यह वाचकत्व अवगति प्रयुक्त है, यह अवगति क्षण-प्रध्वंसिनी है ॥

भावितार्थ—वेद को कार्य मान लेने पर स्वतःप्रमाण न माना जा सकेगा—यह आक्षेप यदि पूर्वमीमांसक करते हैं, तब उन्हें हमारा उत्तर यह है—

तस्माद्यत्रोभयोर्दोषः परिहारोऽपि वा समः ।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यः तादृगर्थविचारणे ॥ (श्लोक० वा० शून्य० २५२)

अर्थात् वादी और प्रतिवादी—दोनों के मतों में जो आक्षेप तथा समाधान समान होते हैं, उनका उद्भावन उन दोनों में कोई नहीं कर सकता । प्रकृत में भी सभी मीमांसक यह मानते हैं कि क्रम-विशेष-युक्त वर्णों को पद और पद को वाचक माना जाता है । वर्ण विभु हैं, उनमें प्रतीयमान क्रम अपना नहीं, अपितु प्रतीतिगत क्रम का आरोप वहाँ होता है, प्रतीति क्षणभङ्गुर होती है; अतः इस प्रकार की परम्परा-प्राप्त जन्यता तो वेद में सभी मानते हैं, फिर इसका आक्षेप वेदान्तियों पर ही क्यों ? ॥ २४६ ॥

आनुपूर्वी की अनित्यता से भी वेद अनित्य है—

अवगतिगतमेवापेक्ष्य पूर्वापरत्व-
प्रतिनियममियं वो वेदता वेदराशेः ।
क्षणिकमभवदित्थं वेदशास्त्रं समस्तं
कथमिव तदिदानीं वेदशास्त्रं प्रमाणम् ॥ २४७ ॥

योजना—अवगतिगतम् एव पूर्वापरत्वप्रतिनियमम् अपेक्ष्य वः वेदराशेः इयं वेदता, इत्थं वेदशास्त्रं समस्तं क्षणिकम् अभवत् । इदानीं वेदशास्त्रं कथं प्रमाणम् ? (शालिनी) ॥

योजितार्थ—प्रतीतिगत पूर्वापरत्वरूप आनुपूर्वी की अपेक्षा से ही आपके वेदों में यह वेदना मानी जाती है, इस प्रकार तो समस्त वेद-शास्त्र क्षणिक ही हो गये, अब वेद कैसे प्रमाण होंगे ?

भावितार्थ—जैसे क्रम-विशेष-युक्त वर्णों में वाचकता मानी जाती है, वैसे ही क्रम-विशेष-युक्त वर्णों या पदों में वेदता मानी जाती है । वह क्रम-विशेष वस्तुतः प्रतीतिगत है, उसका ही आरोप वर्णों में किया जाता है । प्रतीति तो क्षणिक है ही, अतः उसकी आनुपूर्वी भी क्षणिक है, उस क्षणिक आनुपूर्वी से युक्त सभी वेद-शास्त्र हैं, तब तो उनमें प्रमाणता का समर्थन पूर्वमीमांसक भी कैसे करेंगे ? ॥ २४७ ॥

वाक्यार्थ में पुरुष-बुद्धि का प्रवेश न होने से स्वतःप्रमाणता भी समान ही है—

पुरुषमतिनिवेशो नास्ति वेदप्रमेये
विषय इति यदीष्टा मानता स्वप्रयुक्ता ।
सदृशमिदमिदानीं कारणं मानतायां
परमपुरुषसृष्टे वेदशास्त्रेऽप्यभीष्टम् ॥ २४८ ॥

योजना—वेदप्रमेये विषये पुरुषमतिनिवेशो नास्ति—इति यदि स्वप्रयुक्ता मानता इष्टा, इदानीं परमपुरुषसृष्टे वेदशास्त्रे अपि मानतायाम् इदं कारणं सदृशम्॥ (मालिनी)॥

योजितार्थ—एकमात्र वेद के प्रतिपाद्य (साध्य-साधन भाव आदि) धर्मों में किसी साधारण पुरुष की बुद्धि का प्रवेश नहीं—इसलिए यदि स्वतःप्रमाणता अभीष्ट है, तब भी परमपुरुष-रचित वेद की प्रमाणता में यह कारण समान ही है ॥

भावितार्थ—वेदों में किसी प्रकार कृतकता आने पर भी बुद्धिपूर्वक रचितत्व न होने से यदि पूर्वमीमांसकों के मत में अप्रमाण्य की आशङ्का नहीं हो सकती, तब हम वेदान्तियों के मत में भी समाधान समान है ॥ २४८ ॥

समाधान की समानता दिखाते हैं—

न हि खलु मतिपूर्वा ब्रह्मणः सृष्टिरिष्टा
निगदितुरिव सृष्टिर्वेदविद्यासु नित्यम् ।
भवति तु पुनरेषा तस्य निःश्वासकल्पा
श्रुतिवचनमपीदं वस्तु वक्ति स्फुटं नः ॥ २४९ ॥

योजना—वेदविद्यासु नित्यं निगदितुः इव ब्रह्मणः सृष्टिः मतिपूर्वा खलु नैव इष्टा। श्रुतिवचनम् अपि इदं वस्तुः नः स्फुटं वक्ति—एषा तु पुनः तस्य निःश्वासकल्पा भवति ॥ (मालिनी) ॥

योजितार्थ—वेदविद्या में अध्यापक को नित्य अध्यापन सृष्टि के समान ही ब्रह्म की सृष्टि भी बुद्धिपूर्वक नहीं जानी जाती । श्रुति-वचन भी यह बात हमें स्फुट सुनाता है कि यह (ईश्वर-सृष्टि) उस (ईश्वर) के निःश्वास के समान अबुद्धिपूर्वक ही है ॥

भावितार्थ—जैसे अध्यापक नित्य ही वेद पढ़ाता है, किन्तु उसने अपने अध्यापक से जैसा सुना है, वैसा ही सुना देता है, अपनी बुद्धि से अर्थों की कल्पना करके वाक्य-रचना नहीं करता, अतः अध्यापक की वेद-वाक्य रचना बुद्धिपूर्वक नहीं मानी जाती । वैसे ही वेदान्तसिद्धान्त में ब्रह्म के द्वारा वेद-रचना भी अबुद्धिपूर्वक है । यद्यपि सृष्टि के पूर्व "तदैक्षत" (छां० ६।२।३) आदि वाक्यों ने आलोचना का प्रतिपादन किया है, तथापि वह आलोचना भूत-सृष्टि के प्रकरण में होने से भूत-सृष्टि को ही बुद्धिपूर्वक प्रमाणित कर सकती है, वेदसृष्टि को नहीं, क्योंकि वेद सृष्टि के लिए कहा है-"अस्य महतो भूतस्य निःश्वासितमेतद् यदृग्वेदः" (बृ० १।४।१०) अर्थात् ऋग्वेदादि की सृष्टि ब्रह्म के निःश्वास के समान अयत्नसाध्य अबुद्धिपूर्वक ही है ॥ २४९ ॥

केवल पुरुष-रचितत्व अप्रमाण्य का कारण नहीं होता—

अपि च पुरुषकर्मोद्भूतिकानीन्द्रियाणि ।
स्फुटमवगमयन्ति स्वं स्वमन्यानपेक्षम् ।
विषयमिति हि दृष्टं तद्वदिष्टं च तस्माद्
इह किमपि न चोद्यं वाच्यमेतद्भवद्भिः ॥ २५० ॥

योजना—अपि च पुरुषकर्मोद्भूतिकानि इन्द्रियाणि स्वं स्वं विषयम् अन्यानपेक्षं स्फुटमवगमयन्ति—इति हि दृष्टम्, तद्वद् इष्टम्, तस्माद् इह भवद्भिः किमपि चोद्यं न वाच्यम् ॥ (मालिनी)

योजितार्थ—पुरुष के कर्मों (धर्माधर्मों) के द्वारा उद्भूत इन्द्रिय अपने-अपने विषय का स्वतन्त्ररूप से स्फुट बोध कराते हैं—यह जैसे देखा गया है, वैसे ही यह (पुरुष रचित वेद की स्वतःप्रामाण्य भी) इष्ट है, अतः यहाँ आपको कुछ भी आक्षेप नहीं करना चाहिए ॥

भावितार्थ—प्रामाण्य के विषय में कुमारिल भट्ट ने कहा है—"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्" (श्लो० वा० २।४७) अर्थात् सभी प्रमाणों में प्रामाण्य स्वतः (निरपेक्ष) माना जाता है, इस प्रकार इन्द्रियों का प्रामाण्य भी अनपेक्ष बोधकत्वरूप कहना होगा। इन्द्रियों का भी घटक पुरुष ही है, क्योंकि अपने किये कर्मों के द्वारा पुरुष उनका निर्माता होता है। अतः पुरुष-रचित इन्द्रियों का जैसे स्वतःप्रामाण्य सुरक्षित है, वैसे पुरुष-रचित वेद-शास्त्र का स्वतःप्रामाण्य क्यों न सुस्थिर होगा ? ॥ २५० ॥

"तदैक्षत" (छां० ६।२।३) आदि वाक्यों से ज्ञान होता है कि ईश्वर में भी वेदादि की रचना से पूर्व एक आलोचना या बुद्धि उत्पन्न हुई, अतः वेद में बुद्धिपूर्वकत्व आ जाने से अप्रामाण्य अवश्य होगा—यह शंका करके दूर करते हैं—

श्रुतिवचनमनेकं वक्ति तस्येक्षितृत्वं
मतिमदिति ततस्तन्नेष्यते कस्य हेतोः ।
इति यदि मनुषे तन्मैव मंस्थाः कुतश्चेत्
सकलकरणहीनं ब्रह्म नः शास्ति शास्त्रम् ॥ २५१ ॥

योजना—अनेकं श्रुतिवचनं तस्य ईक्षितृत्वं वक्ति, ततः मतिमत् कस्य हेतोः न इष्यते ? इति यदि मनुषे, तत् मा एव मंस्थाः। चेत् कुतः ? नः शास्त्रं ब्रह्म सकलकरणहीनं शास्ति ॥ (मालिनी) ॥

योजितार्थ—अनेक श्रुतिवचन उस (ब्रह्म) को ईक्षिता (ईक्षणकर्त्ता) बताते हैं, तब वह मतिमान् क्यों नहीं माना जाता ? ऐसी यदि शंका हो, तो उसे ठीक नहीं मानना चाहिए। यदि कहें कि क्यों ? (तो उसका उत्तर है कि) हमार शास्त्र ब्रह्म को सकल करणों से हीन बताता है ॥

भावितार्थ—"तदैक्षत" (छां० ६।२।३) आदि श्रुतियों के आधार पर ब्रह्म में बुद्धि और उसकी सृष्टि में बुद्धिपूर्वकत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि "अपाणिपादः" (श्वे० १।३।१९) आदि श्रुतियाँ ब्रह्म को सकल करण-हीन बताती हैं, तब भला ब्रह्म में बुद्धि और उसकी रचना में बुद्धिपूर्वकत्व कैसे कहा जा सकता है ? ॥ २५१ ॥

तब श्रूयमाण ईक्षण क्या है ?

चितिगतजडशक्तेराद्य इष्टो विवर्त्तः
चितिनिकटनिवेशाल्लब्धदीप्तिर्जडोऽपि ।
श्रुतिशिरसि निषण्णैरीक्षणं कथ्यते तत्
न तु परमपदस्यापीक्षणं बुद्धिवृत्तिः ॥ २५२ ॥

योजना—चितिगतजडशक्तेः आद्यः विवर्तः जडोऽपि चितिनिकटनिवेशात् लब्धदीप्तिः इष्टः, श्रुतिशिरसि निषण्णैः तत् ईक्षणं दृश्यते, न तु परमपदस्य ईक्षणम् अपि बुद्धिवृत्तिः ॥ (मालिनी) ॥

योजितार्थ—चैतन्यगत (मायारूप) जड़ शक्ति का प्रथम (वृत्तिरूप) परिणाम, जो कि जड़ होने पर भी चैतन्य के तादात्म्याध्यास के कारण चेतन-जैसा हो जाता है, वेदान्त-निपुण आचार्यों के द्वारा वह ईक्षण कहा जाता है, न कि ब्रह्म का ईक्षण भी बुद्धि की वृत्ति होती है ।

भावितार्थ—ईक्षण नाम है माया की प्रथम वृत्ति का, वह अवश्य समस्त सृष्टि से पूर्व होती है, किन्तु उसे बुद्धि या प्रमाण नहीं माना जाता कि सृष्टि में बुद्धिपूर्वकत्व या अन्य प्रमाण-सापेक्षत्व आ जाय ॥ २५२ ॥

वैशेषिक बुद्धिपूर्वकत्व की आशंका और रीति से करता है—

ननु च डित्थडवित्थपदादिवत्
सकलमेव तु सामयिकं पदम् ।
अनुमिमीमहि पूर्वनिदर्शनाद्
अनुमितिर्भवतीति किमद्भुतम् ॥ २५३ ॥

योजना—ननु च डित्थडवित्थपदादिवत् सकलमेव तु पदं सामयिकं अनुमिमीमहि, पूर्वनिदर्शनाद् अनुमितिः भवतीति किम् अद्भुतम् ? (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—शंका होती है कि डित्थ डवित्थ आदि पदों के समान समस्त पदों में सामयिकत्व (सांकेतिकत्व) का अनुमान कर सकते हैं; पूर्वसिद्ध दृष्टान्त के आधार पर अनुमिति हो जायगी, इसमें आश्चर्य क्या ?

भावितार्थ—"विमतानि वैदिक पदानि पुरुषसंकेतितार्थानि पदत्वाद् डित्थादिपदवत्"—इस अनुमान के द्वारा-वेद-प्रमेय में भी पुरुष का प्रवेश सिद्ध होता है, क्योंकि किसी अर्थ को सामने रख कर ही वक्ता उसकी वाचकता का संकेत किसी पद में किया करता है कि 'इस अर्थ का वाचक यह पद है' ॥ २५३ ॥

उक्त अनुमान का बाध दिखाते हैं—

अनादिवृद्धव्यवहारलक्षणे
कथं प्रमाणे परिपन्थिनि स्थिते ।
गवादिशब्दे समयोऽनुमास्यते
डवित्थशब्दादिवदेतदुच्यताम् ॥ २५४ ॥

योजना—अनादिवृद्धव्यवहारलक्षणे परिपन्थिनि प्रमाणे स्थिते (सति) डवित्थशब्दादिवत् गवादिशब्दे कथं समयोऽनुमास्यते ? एतदुच्यताम् ।। (वंशस्थवृत्तम्) ।।

योजितार्थ—अनादि वृद्ध-व्यवहार से लक्षित (अन्वयव्यतिरेकरूप) विरोधी प्रमाण के रहने पर डवित्थ आदि शब्दों के दृष्टान्त से 'गो' आदि शब्दों में संकेत का अनुमान कैसे होगा ? यह बताया जाय ।।

भावितार्थ-लोक में जिस वृद्ध-व्यवहार के अधीन शब्दों का शक्ति-ग्रह हुआ करता है, वह वृद्ध-व्यवहार भी अपने पूर्व के वृद्ध-व्यवहार पर आधृत है, वह पूर्व का वृद्ध-व्यवहार भी उससे पूर्व के वृद्ध-व्यवहार पर निर्भर है—इस प्रकार वृद्ध-व्यवहार अनादि सिद्ध होता है, वह अनादि वृद्ध-व्यवहार लक्षण (गमक) है जिसका, ऐसा अन्वयव्यतिरेकरूप प्रमाण ही उक्त अनुमान का बाधक है । आशय यह है कि संकेतयिता पुरुष यदि अपनी ऊहामात्र से वैदिक अर्थों को बुद्धि में रखकर शब्द-रचना करता तो अवश्य वेद में पौरुषेयत्व और अन्यप्रमाण सापेक्षत्व आ जाता, किन्तु जब संकेतयिता पुरुष अपने पूर्व के पुरुषों पर शब्दार्थ-ज्ञान करने के लिए निर्भर होता आया है, उसकी अपनी ऊहा बिल्कुल नहीं; तब वेद में सापेक्षत्व क्यों आयेगा ? ।। २५४ ।।

वैदिक शब्दों के आद्य संकेतयिता पुरुष की सत्ता सिद्ध नहीं होती—

सतः प्रमाणाभिमतेषु पञ्चसु
प्रमाणमक्षादिषु किंचिदीक्ष्यते ।
नहीह सम्बन्धरि तेन तस्य वः
खपुष्पकल्पत्वमभावमानतः ॥ २५५ ॥

योजना—सतः प्रमाणाभिमतेषु अज्ञादिषु पञ्चसु इह सम्बन्धरि किञ्चित् प्रमाणं न ईक्ष्यते, तेन वः तस्य अभावमानतः खपुष्पतुल्यत्वम् ।। (वंशस्थवृत्तम्) ।।

योजितार्थ—भाव पदार्थ के उपलम्भक प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों में से इस संकेतयिता पुरुष में कोई भी प्रमाण नहीं दीखता, अतः आपका वह (संकेतयिता पुरुष) अभाव-गमक प्रमाण के आधार पर खपुष्प-तुल्य हो जाता है ।।

भावितार्थ—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और शब्द—ये पाँच प्रमाण भावोपलम्भक और अनुपलब्धि को अभावोपलम्भक माना जाता है । वेद में आद्य संकेतयिता पुरुष की सिद्धि जब प्रत्यक्षादि पाँचों प्रमाणों से नहीं होती, तब उसका अभाव ही मानना पड़ेगा ।। २५५ ।।

किसी वस्तु की असत्ता प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अप्रवृत्तिमात्र से स्थिर नहीं होती, अपितु किसी प्रतिबन्धक के आ जाने से सत् वस्तु भी उपलब्ध नहीं होती, अतः प्रकृत में भी प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों से उपलब्ध न होने पर भी संकेतयिता (ईश्वर) सिद्ध क्यों न होगा ? इस शंका का समाधान है—

पुरोपलब्धो विषयो न दृश्यते
यदा प्रमाणैरिह भावगोचरैः ।
तदा तु तत्रानुपलब्धिकारणं
किमप्यभावादपरं हि मृग्यते ॥ २५६ ॥

योजना—यदा इह भावगोचरैः प्रमाणैः पुरोपलब्धो विषयो न दृश्यते, तदा हि तत्र अभावाद् अपरम् किमपि अनुपलब्धिकारणं मृग्यते ।। (वंशस्थवृत्तम्) ।।

योजितार्थ—जब लोक में भावोपलम्भक प्रमाणों से कोई प्रामाणिक वस्तु नहीं उपलब्ध होती, तभी उस विषय में अभाव (असत्ता) से भिन्न कोई दूसरा अनुपलब्धि का कारण खोजा जाता है ।।

भावितार्थ—जो वस्तु किसी प्रमाण से सिद्ध हो जाती है, वह यदि किसी समय उपलब्ध न हो, तब यह कल्पना किया करते हैं कि वह वस्तु है अवश्य, किन्तु किसी प्रतिबन्धक के आ जाने से उपलब्ध नहीं होती, जैसे कि आकाश में उड़ता-उड़ता दूर निकल गया पक्षी आँखों से ओझल हो जाता है, आकाश में वहाँ पक्षी का अभाव नहीं, अपितु भाव ही है; हाँ दूरत्व दोष प्रतिबन्धक होने से उपलब्ध नहीं होता। किन्तु प्रकृत में संकेतयिता पुरुष किसी प्रकार भी प्रमाणित नहीं कि उसकी उपलब्धि में कोई प्रतिबन्धक मानते। यहाँ तो यही कहना होगा कि संकेतयिता पुरुष का अभाव ही है ।। २५६ ।।

यही दिखाते हैं—

अत्यन्तानुपलब्धवस्तुनि पुनर्यः पञ्चकानुद्भवः
तस्याभावनिमित्तकः स न पुनस्तत्रापरं कारणम् ।
अन्विच्छन्ति मनीषिणो न हि शशेऽदृष्टे विषाणाऽस्तितां
तत्रादर्शनकारणान्तरपरा हेत्वन्तरान्वेषिणः ।। २५७ ।।

योजना—अत्यन्तानुपलब्धवस्तुनि पुनः यः पञ्चकानुद्भवः, स तस्याभावनिमित्तकः तत्र पुनः अपरं कारणं मनीषिणः न इच्छन्ति, शशे विषाणे अदृष्टे (सति) विषाणाऽस्तितां (प्रति) अदर्शनकारणपराः (सन्त) हेत्वन्तरान्वेषिणः न हि ।। (शार्दूल०) ।।।

योजितार्थ—अत्यन्त अनुपलब्ध वस्तु के विषय में जो प्रमाण-पञ्चक का अनुदय है, वह उस (अत्यन्त अनुपलब्ध वस्तु) के अत्यन्ताभाव का कारण है, वहाँ दूसरा कारण मनीषिगण नहीं मानते, जैसे कि शश के मस्तक पर सीगों के अनुपलब्ध होने पर सीगों की अस्तिता के प्रति अनुपलब्धि के निमित्त का अन्वेषण करनेवाले दूसरे (अभाव से भिन्न) निमित्त की कल्पना नहीं किया करते ।। २५७ ।।

सम्बन्ध-करण शक्य भी नहीं, इसलिए भी संकेतयिता की सिद्धि नहीं होती—

विषमदुर्गमदेशसहस्रगः
कथमिवैष नरः समयक्रियाम् ।
सकलशब्दतदर्थनिवेशिनीं
वद विधातुमलं स्वयमेकलः ।। २५८ ।।

योजना—एष सकलः नरः स्वयं विषमदुर्गमदेशसहस्रगः सकलशब्दतदर्थनिवेशिनीं समयक्रियां विधातुम् अलं कथम् ? वद ! (द्रुतविलम्बितम्) ।।

योजितार्थ—यह अकेला पुरुष स्वयं विषम और दुर्गम अनन्त देशों में जाकर समस्त शब्दों और अर्थों का संकेत करने में समर्थ कैसे होगा ? यह तो बताइए ।।

भावितार्थ—शब्दराशि अनन्त हैं, उनके अर्थ भी अनन्त हैं, फिर वे समस्त ब्रह्माण्ड के अपार अगम उदर में फैले पड़े हैं, ऐसे शब्दार्थों का कौन सम्बन्ध-करण कर सकता है ? अनन्त जन्मों में भी कोई एक पुरुष उन विषम तथा दुर्गम स्थानों में पहुँच नहीं सकता, फिर वह उनका संकेतयिता कैसे बनेगा ? ॥ २५८ ॥

प्रथम संकेत करने के लिए साधन का भी अभाव है—

अपि च किंचिदपि प्रतिपादकं
न हि यदा पदमस्ति जगन्मुखे ।
अनभिधाय पदेन तदा कथं
समयमेव करिष्यति शंकरः ॥ २५९ ॥

योजना—अपि च जगन्मुखे यदा किञ्चिद् अपि पदं प्रतिपादकं नास्ति, तदा पदेन अनभिधाय एष शंकरः कथं समयं करिष्यति ? (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—दूसरी बात यह भी है कि सृष्टि के आरम्भ में जब कोई भी पद (किसी भी अर्थ का) प्रतिपादक नहीं है, तब (किसी) पद के द्वारा (किसी) अर्थ का अभिधान न करके यह ईश्वर कैसे संकेत करेगा ?

भावितार्थ—ईश्वर भी प्रथम संकेत किन शब्दों की सहायता से करेगा ? उस समय कोई भी शब्द किसी भी अर्थ का वाचक निश्चित नहीं हुआ होता । अतः साधन शब्दों का अभाव होने के कारण भी संकेत-करण सम्भव नहीं ॥ २५९ ॥

अँगुली आदि के इशारे से भी संकेत करना दुष्कर है—

अभिनयेन करिष्यति चेदयं
समयमेतदतीव हि दुर्घटम् ।
न हि पदार्थसहस्रविमिश्रिते
गवि तदाभिनयात्समयो भवेत् ॥ २६० ॥

योजना—चेत् अयम् अभिनयेन समयं करिष्यति, एतद् हि अतीव दुर्घटम्, तदा हि पदार्थसहस्रविमिश्रिते गवि अभिनयात् समयो न भवेत् ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—यदि यह (ईश्वर) अभिनय के द्वारा संकेत करेगा ? तो यह अत्यन्त दुष्कर है, क्योंकि उस (सृष्टि के आरम्भ) समय अनन्त (द्रव्यगुणादि) पदार्थों से संकीर्ण गोरूप अर्थ में अभिनय के आधार पर संकेत नहीं हो सकेगा ॥

भावितार्थ—यदि संकेतयिता अँगुली के इशारे से गो-पिण्ड को दिखाकर उसे गौ कहे, तो समझनेवाला किसे 'गो' शब्द का अर्थ समझेगा ? अर्थात् गो-पिण्ड में तो अनेक द्रव्य गुण आदि पदार्थ संकीर्ण (मिलित) प्रतीत होते हैं, 'गो' शब्द का अर्थ द्रव्य समझेगा ? या गुणादि ? इशारा तो एक ऐसे पिण्ड की ओर किया जाता है कि जिसमें अनेक पदार्थ मिले हुए हैं ॥ २६० ॥

अनुपलब्ध अर्थों में भी शक्तिग्रह कैसे होगा ?

अपि च लौकिकमानबलाश्रयाद्
अधिगते विषये समयो भवेत् ।
अनुपलब्धसतत्त्वकदेवता-
प्रभृतिकार्थगतः समयः कुतः ॥ २६१ ॥

योजना—अपि च लौकिकमानबलाश्रयाद् अधिगते विषये समयो भवेत्, अनुपलब्धसतत्त्वकदेवताप्रभृतिकार्थगतः समयः कुतः ? (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ-लौकिक प्रमाण के बल पर अधिगत विषय में शक्तिग्रह तो हो जायगा, किन्तु अत्यन्त अनुपलब्ध देवता आदि अर्थों में संकेत-ग्रह कैसे होगा ? ॥ २६१ ॥

संकेतयिता का स्मरण न होने से भी शब्दार्थ-सम्बन्ध सांकेतिक नहीं कहा जा सकता—

अपि च कर्त्तुरनुस्मरणं भवेद्
यदि चकार पुमान् समयं गिराम् ।
न खलु कर्तृगबुद्धिबलं विना
व्यवहृतिर्भवति व्यवहर्त्तरि ॥ २६२ ॥

योजना—अपि च यदि पुमान् गिरां समयं चकार, कर्त्तुः अनुस्मणं भवेत्, व्यवहर्त्तरि व्यवहृतिः कर्तृगबुद्धिबलं विना न खलु भवति ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—यदि किसी पुरुष ने शब्दों का संकेत किया होता, तो उस कर्ता का अनुस्मरण होता, क्योंकि व्यवहर्त्ता व्यक्ति का व्यवहार कर्तृ विषक स्मरण के बिना नहीं होता ॥ २६२ ॥

इसी भाव को दृष्टान्त के द्वारा स्फुट करते हैं—

न खलु पाणिनिपिङ्गलसंज्ञया
व्यवहरन्ति तयोः स्मरणं विना ।
पदपदार्थपरस्परसंगतिं
निरमिमीत ततो न जगद्गुरुः ॥ २६३ ॥

योजना—पाणिनिपिङ्गलसंज्ञया तयोः स्मरणं विना व्यवहरन्ति न खलु, ततः जगद्गुरुः पदपदार्थसंगतिं निरमिमीत न ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—पाणिनि-कृत (वृद्धि गुण आदि) तथा पिङ्गलकृत (मगण आदि) संज्ञाओं के द्वारा उनका स्मरण किये विना व्यवहार नहीं किया करते, अतः परमेश्वर ने पद-पदार्थ की संगति का निर्माण नहीं किया

भावितार्थ—शबरस्वामी ने कहा है—"यदा हि पुरुषः कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारयेत्, व्यवहारकाले अवश्यं स्मर्त्तव्यो भवति, संप्रतिपत्तौ हि कर्तृव्यवहर्त्रोरर्थः सिद्धयति न विप्रतिपत्तौ, न हि वृद्धिशब्देन अपाणिनेर्व्यवहारतः आदैचः प्रतीयेरन्, तथा मकारेणापिङ्गलस्य सर्वगुरुस्त्रिकः प्रतीयते" (शा० भा० १।१।५) अर्थात् यदि कोई संकेतयिता पुरुष शब्दार्थ-सम्बन्ध की रचना करता, तो उन शब्दों के व्यवहार-काल में अवश्य स्मर्तव्य होता । 'वृद्धि' शब्द से 'आत्' और 'ऐच्' का व्यवहार करते समय पाणिनि का

स्मरण करना अनिवार्य है, सर्वगुरु वर्णों के त्रिक में मगण व्यवहार करते समय पिङ्गल का स्मरण आवश्यक है। ऐसे ही कोई वैदिक शब्दार्थ का कर्त्ता होता, तो अवश्य वैदिक व्यवहार के समय स्मर्तव्य होता, किन्तु ऐसा स्मरण कभी होता नहीं, अतः आद्य संकेतयिता पुरुष का अभाव मानना पड़ता है ॥ २६३ ॥

वैशेषिक-सम्मत ईश्वरानुमान की शंका करते हैं—

मतिमतां प्रवरो वृषभध्वजः
कणभुगादिमुनिप्रवरप्रभुः ।
ननु धरादिजगद्रचनाबलाद्
अनुमितोऽनवखण्डितशक्तिकः ॥ २६४ ॥

योजना—ननु मतिमतां प्रवरः, कणभुगादिमुनिप्रवरप्रभुः, अनवखण्डितशक्तिकः वृषभध्वजः धरादिजगद्रचनाबलाद् अनुमितः ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—शंका होती है कि बुद्धिमानों का शिरमौर (सर्वज्ञ), कणाद आदि मुनिवरों का उपास्य, अखण्डशक्ति-समन्वित भगवान् वृषभध्वज (शंकर) पृथिवी आदि जगत् की रचना के बल पर अनुमित होता है (फिर उसका अभाव क्योंकर सिद्ध होगा ? वही शब्दार्थों का संकेतयिता है) ॥ २६४ ॥

उक्त अनुमान-साधन में इष्टापत्ति करते हैं—

अपि तु वैदिकवाङ्मनसातिगा-
नुदितलुप्तचिदेकरसात्प्रभोः ।
अभवदानकदुन्दुभिनन्दनात्
अमतिपूर्वमिदं सकलं जगत् ॥ २६५ ॥

योजना—(तस्मादीश्वरादपि न बुद्धिपूर्वं जगद्रचना जाता) अपितु वैदिकवाङ्मनसातिगानुदितलुप्तचिदेकरसात् प्रभोः आनकदुन्दुभिनन्दनात् अमतिपूर्वम् इदं सकलं जगत् अभवत् ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—उस ईश्वर से भी बुद्धिपूर्वक जगद्रचना नहीं हुई, अपितु वैदिक वाक् और मन के अविषयभूत, उदय-अस्त-रहित चैतन्यैकरस, प्रभुवर वसुदेव-नन्दन से अबुद्धिपूर्वक यह सकल जगत् हुआ है ॥

भावितार्थ—उक्त ईश्वरानुमान हमें भी इष्ट है किन्तु उस ईश्वर से जगत् की रचना बुद्धिपूर्वक नहीं हुई, यह हम कह चुके हैं, अतः वेद में पौरुषेयत्व सम्भावित नहीं ॥२६५॥

वेद में वाक्यत्व लिङ्ग के द्वारा पौरुषेयत्व के अनुमान का सन्देह किया जाता है—

ननु लौकिकवचसां नरमतिपूर्वकरचना
परिदृश्यत इति वैदिकवचसामनुमिनुमः ।
वचनं श्रुतिशिरसामपि नरधीकृतरचनं
वचनत्वत इव लौकिकजननिर्मितवचनम् ॥ २६६ ॥

योजना—ननु लौकिकवचसां नरमतिपूर्वकरचना परिदृश्यते इति वैदिकवचसाम् अनुमिनुमः श्रुतिशिरसां वचनम् अपि नरधीकृतरचनं वचनत्वतः लौकिकजननिर्मितवचनं इव।।

योजितार्थ—लौकिक वचनों की पुरुष-बुद्धिपूर्वक रचना देखी जाती है, इसलिए वैदिक वचनों में भी (उसका) अनुमान कर लेते हैं—वेदान्त-वचन पुरुष-बुद्धि-रचित हैं, वचन होने के कारण, जैसे लौकिक वचन ।। २६६ ।।

उक्त अनुमान से विवक्षित ईश्वर-सिद्धि का अनुवाद करके निराकरण करते हैं —

न च मादृशजनधीकृतरचनं श्रुतिवचनं
भवितुं क्षममिति वैदिकरचनाबलमिषतः ।
अनुमीयत इह शूलभृदिति चेदिदमशुभं
नहि वैदिकवचसामभिभवनास्पदमनुमा ॥ २६७ ॥

योजना—श्रुतिवचनं मादृशजनधीकृतरचनं च न भवितुं क्षमम्, इति इह वैदिकरचनामिषतः शूलभृत् अनुमीयते इति चेत्, इदम् अति अशुभम्, हि अनुमा वैदिकवचसाम् अभिभवनास्पदं न ।।

योजितार्थ—श्रुतिवचन हमारे जैसे साधारण मनुष्यों की बुद्धि से रचित नहीं हो सकता, इसलिए यहाँ वैदिक रचना के व्याज से (बहाने) त्रिशूल-धारी (शकर) का अनुमान किया जाता है—ऐसा यदि कहें, तो यह अति अशुभ होगा, क्योंकि अनुमान (कभी) वैदिक वचनों का अभिभावक (बाधक) नहीं होता ।।

भावितार्थ—प्रत्यक्षादि के आधार पर व्याप्ति का निश्चय हो जाने के अनन्तर ही अनुमान प्रवृत्त होता है, अतः सापेक्ष प्रवृत्तिक है और वैदिक वचन सदैव अन्य प्रमाणों से अनधिगत अर्थ का बोधक होने से निरपेक्ष प्रवृत्तिक हैं, इसलिए अनुमान कभी भी वैदिक वचन का बाधक नहीं हो सकता ।। २६७ ।।

अनुमान से अबाधित होकर वैदिक वचन अनुमान का बाधक हो जाता है—

ब्रह्म स्वयम्भु परमात्मपदस्य वेदो
निःश्वासकल्प इति चापरमामनन्ति ।
वाक्यं तदस्य मतिपूर्वकतानुमानं
सद्यो निरस्यति न चेदपबाधितं स्यात् ॥ २६८ ॥

योजना—ब्रह्म स्वयंभु, वेदः परमात्मपदस्य निःश्वासकल्पः, इति च अपरं वाक्यम् आमनन्ति, तत् चेत् अपबाधितं न स्यात् अस्य मतिपूर्वकतानुमानं सद्यः निरस्यति ।। (वसन्ततिलका) ।।

योजितार्थ—"ब्रह्म स्वयंभु" (बृह० २।६।३) अर्थात् वेद स्वयंभु है तथा "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्" (बृह० २।४।१०) अर्थात् वेद इस महान् ईश्वर के निःश्वास हैं—यह दूसरा वैदिक वाक्य है वह यदि अनुमान से बाधित नहीं, तब इस (वेद) में प्रसक्त बुद्धिपूर्वकता का निरास अवश्य कर देगा ।।

भावितार्थ—वैदिक वाक्य वेद को स्वयंभु आदि शब्दों से कहा करते हैं, इससे यह अत्यन्त स्पष्ट होजाता है कि वेदों की रचना पुरुष-बुद्धि-कृत नहीं, फिर तो यही वैदिक

वचन उक्त अनुमान के बाधक हो जाते हैं, आगम से बाधित अनुमान अपनें अर्थ का कदापि साधक नहीं हो सकता ॥ २६८ ॥

केवल वेद ही नहीं, समस्त जगत् की रचना अबुद्धिपूर्वक है—

सृजति रक्षति संहरति प्रभुः
सकलमेव निविश्य नियच्छति ।
अमतिपूर्वमिति श्रुतिशासने
वद कथं मतिपूर्वकतानुमा ॥ २६९ ॥

योजना-प्रभुः मतिपूर्वं सकलम् एव सृजति, रक्षति, संहरति, निविश्य नियच्छति-इति श्रुतिशासने, वद मतिपूर्वकतानुमा कथम् ?

योजितार्थ—ईश्वर अबुद्धिपूर्वक ही सकल जगत् का सर्जन, रक्षण, संहार करता एवं सब में प्रविष्ट होकर नियमन करता है—ऐसे श्रुति शासन के रहने पर बताइए (वेद में) बुद्धिपूर्वकता का अनुमान कैसे होगा ?

भावितार्थ—वेदान्त सिद्धान्त में कूटस्थ चैतन्यस्वरूप ईश्वर स्वतः ही जगत् की रचना कर सकता है, किसी अन्य आगन्तुक कारण की अपेक्षा नहीं "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृह० २।५।१९) आदि श्रुतियों तथा "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" (गी० ९।१०) आदि स्मृतियों में केवल माया या अविद्या या प्रकृति को ही जगत् की रचना में द्वार माना है, अतः बुद्धिपूर्वकत्व जगत्-रचना में सिद्ध नहीं होता ॥२६९॥

आप्त-रचितत्व भी वेदगत प्रामाण्य का प्रयोजक नहीं हो सकता—

आप्तोक्तत्वप्रत्यये मानभावो
वेदस्यास्य ज्ञायते मानभावे ।
विज्ञाते सत्याप्तपूर्वत्वसिद्धिः
इत्यन्योन्यापाश्रयत्वप्रसङ्गः ॥ २७० ॥

योजना-आप्तोक्तत्वप्रत्यये अस्य वेदस्य मानभावो ज्ञायते, मानभावे विज्ञाते सति आप्तपूर्वत्वसिद्धिः अन्योऽन्यापाश्रयत्वप्रसङ्गः ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—(वेद में) आप्तोक्तत्व का निश्चय हो जाने पर प्रामाण्य का ज्ञान होगा, प्रामाण्य का ज्ञान हो जाने पर आप्तोक्तत्व प्रसक्त होता है ॥ २७० ॥

अतः वेद में प्रामाण्य निश्चय स्वतः ही मानना चाहिए—

तस्मादेषा स्वप्रयुक्तप्रमाण-
भावज्ञाना वेदविद्याभ्युपेया ।
प्रामाण्यं स्यात्स्वप्रयुक्तं च तस्या
वस्तुस्थित्या ज्ञप्तिवन्नान्यतस्तत् ॥ २७१ ॥

योजना—तस्मात एषा वेदविद्या स्वप्रयुक्तप्रमाणभावज्ञाना अभ्युपेया, तस्याः प्रामाण्यं वस्तुस्थित्या स्वप्रयुक्तं च स्यात् ज्ञप्तिवत्, अन्यतः तत् न ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—इसलिए यह वेद विद्या का स्वतः प्रामाण्य-स्फुरण मानना चाहिए,

उसका प्रामाण्य वस्तुतः स्वतः उत्पन्न भी होता है, जैसे कि ज्ञान स्वतः होता है, परतः नहीं।

भावितार्थ—वेद-वाक्य-जन्य ज्ञान में प्रमात्व जैसे स्वतः ज्ञात होता है, वैसे स्वतः उत्पन्न भी होता है, अर्थात् ज्ञान की उत्पादक सामग्री से ही ज्ञानगत प्रमात्व उत्पन्न होता है और ज्ञान की ग्राहक सामग्री से ही ज्ञानगत प्रमात्व गृहीत (प्रकाशित) होता है प्रमात्व की उत्पत्ति और ज्ञप्ति (प्रकाश) में और-सामग्री की अपेक्षा नहीं ॥ २७१ ॥

प्रमात्व की उत्पत्ति और ज्ञप्ति के समान ही व्यवहृति भी स्वतः ही होती है—

ज्ञप्त्युत्पत्त्योर्यद्वदेव प्रवृत्तौ
अस्या युक्ता मानता स्वप्रयुक्ता ।
वेदोत्थाया बुद्धिवृत्तेर्न हीयम्
उत्पत्त्यन्यत् संविदे काङ्क्षतीति ॥ २७२ ॥

योजना—अस्याः वेदोत्थायाः बुद्धिवृत्तेः यद्वत् ज्ञप्त्युत्पत्त्योः, एवम् प्रवृत्तौ मानता स्वप्रयुक्ता युक्ता, इयम् उत्पत्त्यन्यत् संविदे न हि काङ्क्षति ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—इस वेद-जन्य बुद्धि-वृत्ति की जैसे ज्ञप्ति और उत्पत्ति में (स्वतः मानता है) वैसे ही प्रवृत्ति में भी मानता स्वाधीन ही युक्तियुक्त है, यह (वेदविद्या) अपनी उत्पत्ति से भिन्न को अपने संवेदनादि में नहीं चाहती ॥

भावितार्थ—जैसे घटादि उत्पन्न होते हैं ज्ञात होते हैं और जलादि के आनयनादि व्यवहार में उपयुक्त होते हैं, वैसे ही ज्ञानगत प्रमात्व उत्पन्न होता है, ज्ञात होता है और प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि व्यवहार में उपयुक्त होता है। प्रमात्व न तो अपनी उत्पत्ति में ज्ञानोत्पादक से अन्य हेतु की अपेक्षा करता है, न अपने प्रकाश में ज्ञानप्रकाशक से अन्य, और न अपने व्यवहार में ज्ञान-व्यवहारक से भिन्न किसी हेतु की अपेक्षा करता है, अतः उसकी उत्पत्ति, ज्ञप्ति और व्यवहृति में सर्वथा स्वतस्त्व ही माना जाता है ॥ २७२ ॥

वेद-रचना में बुद्धिपूर्वकत्व-अनुमान के निराकरण का उपसंहार करते हैं—

विश्वं विष्णोरुत्थितं नामरूपं
निःश्वासादिप्रख्यमित्याह वेदः ।
यत्तत्तथ्यं वर्त्मना वर्णितेन
तस्मान्मिथ्या पौरुषेयानुमानम् ॥ २७३ ॥

योजना—नामरूपं विश्वं निःश्वासादिप्रख्यं विष्णोः उत्थितम् इति यद् वेदः आह, तत् वर्णितेन वर्त्मना तथ्यम्, तस्मात् पौरुषेयानुमानं मिथ्या ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ–नामरूपात्मक विश्व निःश्वास के समान विष्णु से उत्पन्न हुआ–यह जो वेद कहता है, वह पूर्वोक्त रीति से सत्य ही है, अतः पौरुषेयता का अनुमान मिथ्या है ।२७३।

अतः हमारे मत में स्वतः प्रामाण्य का विरोध किसी प्रकार नहीं होता—

परिणामविवर्तयोरतः
परिक्लृप्तावपि वेदगोचरः ।
न च चोद्यरवोऽपि विद्यते
कथितेनैव पथाऽनपेक्षितः ॥ २७४ ॥

योजना—अतः परिणामविवर्त्तयोः परिक्लृप्तौ अपि वेदगोचरः चोद्यलवोऽपि न विद्यते, कथितेन एव पथा अनपेक्षितः ।। (सुन्दरीच्छन्दः) ।।

योजितार्थ—अतः परिणाम और विवर्त्त के सिद्धान्त में वेद के विषय में आक्षेप की गन्ध भी नहीं रही, क्योंकि कथित रीति से वह निराकृत हो गया है ।। २७४।।

तत्त्वंपदार्थशोधनम्

प्रासङ्गिक आक्षेप का परिहार करके तत्त्वंपदार्थों में हेयोपादेय का विवेक करने के लिए चार विभाग करते हैं—

उपाधिमौपाधिकमान्तरं चि-
दाभासनं चित्प्रतिबिम्बकं च ।
चिद्बिम्बमेवं चतुरः पदार्थान्
विविच्य जानीहि तदर्थभाजः ॥ २७५ ॥

योजना—उपाधिम्, आन्तरम् औपाधिकं चिदाभासनम्, चित्प्रतिबिम्बकम्, चिद्बिम्बम् एवं चतुरः तदर्थभाजः पदार्थान् विविच्य जानीहि ।। (उपजाति) ।।

योजितार्थ—उपाधि, औपाधिक चिदाभास, चित्प्रतिबिम्ब तथा चिद्बिम्ब–ये चार तत्पदार्थ-सम्बन्धी पदार्थों को विवक्तरूप से जानो ।।

भावितार्थ–तत्पदार्थ वस्तुस्वरूप को समझने के लिए उपाधि, औपाधिक अभासन, प्रतिबिम्ब एवं बिम्ब के स्वरूपों का जानना आवश्यक है ।। २७५ ।।

त्वम्पदार्थ में भी वैसे ही चार विभाग हैं—

तथा त्वमर्थेऽपि चतुष्टयं तद्
विवेचनीयं निपुणेन भूत्वा ।
मतिश्चिदाभासनमेवमस्यां
बिम्बं तदीयं प्रतिबिम्बकं च ॥ २७६ ॥

योजना—तथा त्वमर्थेऽपि तत् चतुष्टयं निपुणेन भूत्वा विवेचनीयम्–मतिः अस्यां चिदाभासनम्, बिम्बम्, तदीयं प्रतिबिम्बकं च ।। (उपजाति) ।।

योजितार्थ–उसी प्रकार त्वम्पदार्थ में भी वे चार विभाग सावधानता से विवेचनीय हैं—मति (उपाधि), इसमें चिदाभास, बिम्ब तथा उसका प्रतिबिम्ब ।। २७६ ।।

तत्पदार्थगत विभाग दिखाते हैं—

उपाधिरज्ञानमनादिसिद्धम्
अस्मिश्चिदाभासनमीश्वरत्वम् ।
तदन्विता चित्प्रतिबिम्बकं स्याद्
उदीर्यते शुद्धचिदेव बिम्बम् ॥ २७७ ॥

योजना—अनादिसिद्धम् अज्ञानम् उपाधिः, अस्मिन् चिदाभासनम् ईश्वरत्वम्, तदन्विता चित् च प्रतिबिम्बकं स्यात्, शुद्धचित् एव बिम्बम् उदीर्यते ।। (उपजाति) ।।

योजितार्थ—(तत्पदार्थ में) अनादि सिद्ध अज्ञान ही उपाधि है, इस (उपाधि) में चिदाभासन ही 'ईश्वर' पद का प्रवृत्ति-निमित्त है, आभास-युक्त चेतन ईश्वररूप प्रतिबिम्ब तथा शुद्ध चेतन बिम्ब कहा जाता है ॥ २७७ ॥

त्वम्पदार्थ में चारों दिखाते हैं—

उपाधिरन्त:करणं त्वमर्थे
जीवत्वमाभासनमत्र तद्वत् ।
तदन्विता चित्प्रतिबिम्बमेवम्
अनन्वितां तामिह बिम्बमाहुः ॥ २७८ ॥

योजना—त्वमर्थे अन्तःकरणम् उपाधिः, तद्वत् अत्र आभासनं जीवत्वम्, तदन्विता चित् प्रतिबिम्बम्, एवम् इह अनन्वितां तां बिम्बम् आहुः ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ—त्वंपदार्थ में अन्तःकरण उपाधि है, वैसे ही इसमें आभासन जीवत्व है, उससे युक्त चेतन जीवरूप प्रतिबिम्ब हैऔरइसमेंअनन्वित चेतन कोबिम्ब कहते हैं ॥२७८॥

कथित विभागों में हेय-उपादेय बताते हैं—

उपाधिना सार्धमुपाधिजन्यम्
औपाधिकं सर्वमवेहि मिथ्या ।
भागं मृषा चित्प्रतिबिम्बकेऽपि
बिम्बं पुनः सत्यमशेषमेव ॥ २७९ ॥

योजना—उपाधिना सार्धम् उपाधिजन्यम् औपाधिकं सर्वं मिथ्या अवेहि, चित्प्रतिबिम्बके अपि भागं मृषा, बिम्बं पुनः अशेषमेव सत्यम् (अवेहि) ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ—उपाधि के साथ उपाधि-जन्य औपाधिक को पूर्णतया मिथ्या समझो, चित्प्रतिबिम्ब में भी (आभास) भाग को मिथ्या तथा बिम्ब को पूर्णतया सत्य जानो ॥

भावितार्थ—उक्त चतुर्विध भेदों में उपाधि (अज्ञान या अन्तःकरण) सर्वथा मिथ्या ही है। उपाधिगत चिदाभास भी उपाधि-जन्य होने से मिथ्या है। प्रतिबिम्ब में चेतन भाग सत्य और आभास भाग मिथ्या है। बिम्ब चेतन तो पूर्णशः सत्य है ॥ २७९ ॥

लौकिक दृष्टान्त में भी चारों विभाग घटाते हैं—

अप्पात्रमप्पात्रगतत्वमेवम्
अप्पात्रगोऽप्पात्रगताद्बहिष्ठ ।
दिवाकरो दिव्यवतिष्ठमानो
न शक्यतेऽपोहितुमिद्धतेजाः ॥ २८० ॥

योजना—अप्पात्रम्, अप्पात्रगतत्वम्, अप्पात्रगः, एवम् अप्पात्रगताद् बहिष्ठः दिवि अवतिष्ठमानः इद्धतेजाः दिवाकरः अपोहितुं न शक्यते ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ—जल-पात्र, जलपात्रगतत्व, जलपात्रगत (प्रतिबिम्ब) एवं जलपात्र के बाहर आकाश में अवस्थित प्रचण्ड मार्तण्ड का अपलाप नहीं किया जा सकता ॥

भावितार्थ—सजल घट उपाधि है, प्रतिबिम्ब में प्रतीयमान सजलघटगतत्व आभास है, उससे युक्त सूर्य प्रतिबिम्ब होता, आकाशस्थ रवि बिम्ब है, यह सर्वथा अबाधित और सत्य है ।। २८० ।।

दार्ष्टान्तिक में भी वैसा ही है—

पुरं पुरःस्थत्वमथो पुरःस्थं
पुराद्बहिः शुद्धमवस्थितं च ।
तथा परं ब्रह्म सुसूक्ष्मयाऽपि
धिया निराकर्त्तुमशक्यमेव ॥ १८१ ॥

योजना—पुरम्, पुरस्थत्वम् अथो पुरस्थं तथा पुराद् बहिः अविस्थितं शुद्धं परं ब्रह्म सुसूक्ष्मया धिया अपि निराकर्त्तुम् अशक्यमेव ।। (उपेन्द्रवज्रा) ।।

योजितार्थ—शरीरादि (उपाधि) शरीरस्थत्व (आभासन) शरीरस्थ (प्रतिबिम्ब) तथा शरीर से बाहर स्थित शुद्ध परब्रह्मरूप बिम्ब अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से भी निराकरण के अयोग्य है ।। २८१ ।।

ब्रह्म की निर्विशेषता का निरूपण उपसंहृत करते हैं—

न स्थानतोऽप्यस्ति परस्य तस्माद्
विशेषयोगः परमार्थरूपः ।
स्वतः पुनर्दूरनिरस्तमेव
परस्य तत्त्वस्य विशेषवत्त्वम् ॥ २८२ ॥

इस पद्य की योजना योजितार्थ और भावितार्थ के लिए इसी अध्याय का १४६ वाँ पद्य देखें ।। २८२ ।।

ब्रह्म की निर्विशेषरूपता में अन्य युक्ति देते हैं—

श्रुतेश्च तात्पर्यमखण्डरूपे
पुरे पुरस्तादुपपादितं च ।
ततोऽपि तस्याद्वयरूपतोऽन्यद्
रूपान्तरं कल्पयितुं न शक्यम् ॥ २८३ ॥

योजना—श्रुतेः च तात्पर्यं परे अखण्डरूपे पुरस्ताद् उपपादितम्, ततोऽपि तस्य अद्वयरूपतः अन्यद् रूपान्तरं कल्पयितुं न शक्यम् ।। (उपजाति) ।।

योजितार्थ—श्रुति का तात्पर्य परम निर्विशेष तत्त्व में पहले कहा गया है, इसलिए भी उस अद्वयरूप से भिन्न रूप की कल्पना नहीं की जा सकती ।।

भावितार्थ—"अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्" (ब्र० सू० ३।२।१४) इस सूत्र में सूत्रकार ने जिन श्रुतियों की ओर संकेत किया है, उनके आधार पर समस्त वेदान्त का तात्पर्य निर्विशेष ब्रह्म में जब स्थिर होता है, तब उसमें रूपान्तर की कल्पना कर ही कैसे सकते हैं ? ।। २८३ ।।

भेद-प्रतिपादक श्रुतियों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं—

भेदश्रुतिस्त्वन्यपरा समस्ता
समस्तवेदेषु न तत्पराऽसौ ।
अतत्परा तत्परवेदवाक्यैः
विरुध्यमाना गुणवाद एव ॥ २८४ ॥

योजना—समस्तवेदेषु समस्ता भेदश्रुतिः तु अन्यपरा, असौ तत्परा न, अतत्परा तत्परवेदवाक्यैः विरुध्यमाना गुणवाद एव ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ—समस्त वेदों में समग्र भेद-प्रतिपादक वाक्य तो (स्तुति आदि) अन्य अर्थ के सूचक हैं, वे स्वार्थपरक नहीं, ऐसे अतत्परक वाक्य स्वार्थपरक अद्वैत-बोधक श्रुतियों से विरुद्ध होने के कारण गुणवाद (अर्थवाद) ही माने जाते हैं ॥ २८४ ॥

भेद-बोधक वाक्यों से अभेद-बोधक वाक्यों का बाध नहीं हो सकता—

न ह्यर्थवादा विधिभिर्विरुद्धा
विध्यर्थसंकोचकरा भवन्ति ।
किन्तु प्रधानानुगुणं यदेषाम्
आलम्बनं तत्खलु कल्पनीयम् ॥ २८५ ॥

योजना—विधिभिः विरुद्धा अर्थवादा विध्यर्थसंकोचपरा न हि भवन्ति, किन्तु यद् एषां प्रधानानुगुणम्, तद् आलम्बनम्, खलु कल्प्यताम् ॥ (इन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—विधि वाक्यों के साथ विरोध रखनेवाले अर्थवाद कभी विध्यर्थ के संकोचक नहीं होते, किन्तु जो इन (अर्थवादों) का विध्यर्थ के अनुगुण (विषय) है, वह आलम्बन (प्रतिपाद्य) कल्पनीय होता है ॥

भावितार्थ—विधिवाक्य शेषी (अङ्गी) और अर्थवाद वाक्य शेष (अङ्ग) कहलाते हैं, सदैव शेषी के अनुकूल ही शेष का अर्थ किया जाता है। इसलिए जो अर्थ विधिवाक्यों का विरोधी नहीं, वही अर्थ लक्षणादि वृत्ति के द्वारा अर्थवादों का निकालना होगा। प्रकृत में "द्वा सुपर्णा" आदि भेद-बोधक वाक्यों का भी वही अर्थ निकालना होगा, जो अभेद-बोधक वाक्यों के अनुकूल हो ॥ २८५ ॥

इस अर्थ में पूर्वमीमांसा का दृष्टान्त देते हैं—

यथा ह्यजक्षीरविधेः समीपे
यज्जर्तिलादेः परिकीर्त्तनं तत् ।
प्रधानसंकोचभयादपास्य
स्वमर्थमासीद् गुणवाद एव ॥ २८६ ॥

योजना—यथा हि अजक्षीरविधेः समीपे यत् जर्तिलादेः संकीर्तनम्, तत् प्रधानसंकोचभयात् स्वम् अर्थम् अपास्य स्तुत्यर्थं गुणवाद एव आसीत् ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ— जैसे कि अजा-क्षीर की विधि के समीप जो जर्तिलादि का संकीर्तन है,

वह प्रधान विधि के संकोच के भय से स्वार्थपरक न मानकर स्तुति के लिए अर्थवाद ही माना गया है ॥

भावितार्थ–"न चेदन्यं प्रकल्पयेत् प्रक्लृप्तार्थवादः स्यादानर्थक्यात् परसामर्थ्याच्च" (जै० सू० १०।८।७) इस सूत्र में विचार किया गया है कि "जर्तिलयवाग्वा वा जुह्याद् गवेधुकयवाग्वा वा, अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवेधुकाश्चेत्यजक्षीरेण जुह्यात्" यहाँ पर एक ही कर्म में जर्तिल (जंगली तिल), गवेधुक (जंगली गेहूँ) का संकीर्तन करके अजा-क्षीर का विधान किया है। यहाँ सन्देह होता है कि जर्तिलादि का प्रतिपादक वाक्य विधि है ? या अर्थवाद ? पूर्वपक्षी नें कहा है कि जर्तिल-वाक्यों में भी 'जुह्यात्' विधि-प्रत्यय का उल्लेख है, अतः यह वाक्य भी विधि है। इस पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती ने कहा है कि उसी कर्म में जर्तिलादि का भी विधान करने से अजा-क्षीर रूप मुख्य द्रव्य के साथ उनका विकल्प मानना होगा, विकल्प में आठ दोष होते हैं एवं अजा-क्षीर-विधि का भी संकोच (पाक्षिक विधान) करना पड़ेगा, अतः जर्तिलादि वाक्य अर्थवाद मात्र हैं ॥ २८६ ॥

वैसे ही प्रकृत में भी मानना होगा—

एवं सतीहापि विरुद्ध्यमानं
वचो यदद्वैतपरैर्वचोभिः ।
तदस्तु गौणं यदि वा परस्य
मायाप्रसूतद्वयवादिमुख्यम् ॥ २८७ ॥

योजना—एवं सति इहापि यद् अद्वैतपरैः वचोभिः विरुध्यमानम्, तद् गौणम् अस्तु यदि वा परस्य मायाप्रसूतद्वयवादिमुख्यम् ॥ (उपजातिवृत्तम्) ॥

योजितार्थ—ऐसा (अर्थवाद वाक्यों से प्रधान के अनुगुण अर्थ का प्रतिपादन) मानने पर यहाँ भी जो अद्वैत-परक वाक्यों से विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करता है, वह गौण माना जाय, या परब्रह्म-सम्बन्धी माया-जन्य द्वैत का बोधक होकर मुख्य ही रहे ॥

भावितार्थ—अद्वैतार्थक वाक्यों के विरोधी द्वैतावगाही वाक्यों की दो अवस्थाएँ हो सकती हैं—(१) उनका मुख्य वृत्ति से स्वार्थ में तात्पर्य न मानकर गौणी वृत्ति से स्तुत्यादि अर्थों में तात्पर्य माना जाय, या कि (२) यदि उन्हें मुख्यार्थक ही रखना है, तब मायिक द्वैतभाव का प्रतिपादन उनसे माना जा सकता है ॥ २८७ ॥

भेद-श्रुति वास्तविक भेद को विषय नहीं कर सकती—

भेदश्रुतिः कल्पितमेव भेदम्
आलम्ब्य मुख्यार्थवती भवित्री ।
अतत्परा तत्परवाक्यभङ्ग-
स्त्वितोऽन्यथा याति विना निमित्तम् ॥ २८८ ॥

योजना—भेदश्रुतिः अतत्परा कल्पितं भेदम् एव आलम्ब्य मुख्यार्थवती भवित्री, इतो अन्यथा तत्परवाक्यभङ्गः विना निमित्तं याति ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ-भेद-श्रुति तत्परक नहीं, अतः कल्पित भेद को ही विषय करके मुख्यार्थक होती है, अन्यथा तत्परक वाक्यों का बिना किसी निमित्त के ही बाध हो जाता है ॥२८८॥

उपासना-विधि-बोधित सविशेष तत्त्व मिथ्या क्यों ? इसका उत्तर है—

यदपि किंचिदुपासननिष्ठिताद्
वचनतः प्रतिभाति परात्मनः ।
सकलगन्धरसादिमयं वपुः
तदपि कल्पितभेदसमाश्रयम् ॥ २८९ ॥

योजना—उपासननिष्ठितात् वचनात् यत् परमात्मनः किञ्चित् सकलगन्धरसादिमयं वपुः प्रतिभाति, तदपि कल्पितभेदसमाश्रयम् ।। (द्रुतविलम्बितम्) ।।

योजितार्थ—उपासना-परक वचन से जो परब्रह्म का कुछ सकल गन्धादिमय स्वरूप प्रतीत होता है, वह भी कल्पित भेद पर ही आधृत है ।।

भावितार्थ—"सर्वगन्धः सर्वरसः" आदि उपासना-परक वाक्य भी कल्पित भेद को ही विषय करते हैं, वास्तविक भेद को नहीं, क्योंकि वह अत्यन्त असम्भावित है ।। २८९ ।।

सगुण-वाक्यों के अनुरोध से निर्गुण वाक्यों का अन्यथा नयन सम्भव नहीं—

न खलु निर्गुणवस्तुपरं वचः
सगुणवाक्यविरोधनिमित्ततः ।
स्वविषयादपसारयितुं बलाद्
अतिबलिष्ठपदान्वयमिष्यते ॥ २९० ॥

योजना—अतिबलिष्ठपदान्वयं निर्गुणवस्तुपरं वचः सगुणवाक्यविरोधनिमित्ततः स्वविषयाद् बलाद् न अपसारयितुम् इष्यते (द्रुतविलम्बितम्) ।।

योजितार्थ-अति बलिष्ठ पदों से समन्वित, निर्गुण वस्तु के बोधक वचन सगुणवाक्यों के विरोधरूप निमित्त के आधार पर अपने विषय से बलपूर्वक नहीं हटाये जा सकते ।।

भावितार्थ—तात्पर्य-ग्राहक षड्विध लिङ्गों से समस्त वेदान्त का तात्पर्य एक निर्गुण वस्तु के प्रतिपादन में अवसित होता है, अतः निर्गुणार्थक पद अत्यन्त बलिष्ठ माने जाते हैं, उन पदों से अन्वित वाक्य भी सबल तथा मुख्यार्थक होते हैं, इसलिए गौणार्थक भेदवादी वाक्यों के विरोध में निर्गण वाक्यों का अन्यथा अर्थ करना सर्वथा अन्याय्य है ।। २९० ।।

तत्पदार्थ-शोधन का उपसंहार करते हैं—

तस्मात्तत्परवेदवाक्यगतिभिर्न्यायेन चाऽऽत्मप्रभं
सर्वद्वैतविवर्जितं विगलितध्वान्तं शिवं शाश्वतम् ।
प्रत्यग्रूपमरूपमरूपगन्धरसकं तच्छब्दवाच्यं स्थितं
वाक्यार्थान्वयि लक्षितं भगवतो विष्णोः पदं गृह्यताम् ॥२९१॥

योजना-तस्मात् तत्परवेदवाक्यगतिभिः न्यायेन च आत्मप्रभम्, सर्वद्वैतविवर्जितम्, विगलितध्वान्तम्, शाश्वतम्, प्रत्यग्रूपम्, अरूपगन्धरसकम्, शिवं तच्छब्दवाच्यं स्थितम् वाक्यार्थान्वयी भगवतः विष्णोः पदं लक्षितं गृह्यताम् ।। (शार्दूलविक्रीडितम्) ।।

योजितार्थ—इसलिए तत्परक वेदवाक्यों के अर्थबोधन-प्रकारों के द्वारा मिथ्यात्व-साधक न्यायों की सहायता से स्वयंप्रकाश, सर्वद्वैत-रहित, अनावृत, शाश्वतः, प्रत्यगात्मा, रूपगन्धरस से रहित, शिव 'तत्' शब्द का वाच्य निर्णीत होता है ॥

भावितार्थ—'तत्' शब्द का वाच्य अर्थ विशिष्ट है और 'तत्' पद का लक्ष्य है—शुद्ध ब्रह्म, वह शुद्ध ब्रह्म महावाक्यों के द्वारा ही अभिलक्षित होता है ॥ २९१ ॥

शोधित 'तत्' पद के लक्ष्यार्थ में प्रमाण देते हैं—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महदः परं ध्रुवं
निचायनीयं वदमीदृशं हरेः ॥ २९२ ॥

योजना—यत् नित्यम् अशब्दम्, अस्पर्शम्, अरूपम्, अव्ययं तथा अरसम्, अगन्धवत् च, ईदृशम् अनाद्यनन्तम् महतः परं हरेः ध्रुवं पदं निचायनीयम् ॥ (वंशस्थम्) ॥

योजितार्थ-जो नित्य, शब्दादि-रहित, अव्यय तथा रसगन्ध आदि से शून्य है, ऐसा आदि-अन्त-रहित महत्तत्त्व से परे भगवान् का ध्रुव पद निश्चेतव्य है ।

भावितार्थ-कठोपनिषत् (१।१५) में 'तत्' पद के लक्ष्य तत्त्व का स्पष्ट उल्लेख हुआ है । वहाँ अव्यय का अर्थ गुणावयवनिमित्तक व्यय से रहित निर्गुण निरवयव है । शब्दाद्युपलक्षित पञ्चभूतों से व्यावृत्त करने में हेतु अनाद्यनन्त है, आदि और अन्तरूप दो विकारों का निषेध हो जाने से मध्यपाती 'अस्ति' आदि शेष चार विकारों का भी निराकरण हो जाता है । 'महान्' का शब्दार्थ होता है—बुद्धितत्त्व, यहाँ बुद्ध्युपाधिक जीव को महान् कहा गया है, उससे पर तत्पद-लक्ष्य है । अथवा "महतः परम्" । का अव्यक्त-व्यावृत्त अर्थ में भी तात्पर्य हो सकता है । 'ध्रुवम्' से कूटस्थ नित्यता अभिहित है। उस परमतत्त्व को अपना रूप निश्चय करके ही जीव मृत्यु-मुख से छूट सकता है ॥ २९२ ॥

दूसरा मन्त्र दिखाते हैं—

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मे तत् ।
जीवेशानौ सृज्यमानं जगच्च
शुद्धं ब्रह्मेत्याह वेदान्तवाक्यम् ॥ २९३ ॥

योजना—भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं तत् त्रिविधं ब्रह्म मे प्रोक्तम् । जीवेशानौ सृज्यमानं जगत् शुद्धं ब्रह्म च—इति वेदान्तवाक्यम् आह ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—भोक्ता, भोग्य और प्रेरक का मनन करके सब-कुछ त्रिविध ब्रह्म मैंने कहा है । जीव, ईश्वर, सृज्यमान जगत् और शुद्ध ब्रह्म—इस प्रकार वेदान्त-वाक्य ने कहा है॥

भावितार्थ—श्वेताश्वतरोपनिषत् के उक्त (१।१२) मन्त्र के 'भोक्ता' पद की प्रथमा विभक्ति द्वितीयार्थ में प्रयुक्त हुई है, अर्थात् जीव, जगत् और ईश्वर के स्वरूपों का विचार करने से यही स्थिर होता है कि वे सब ब्रह्मस्वरूप हैं, उससे भिन्न कुछ भी नहीं ॥२९३॥

केवल पदार्थ-बोध पर्याप्त नहीं—

पदार्थबोधेन कृतार्थता न ते
मतिः परोक्षा हि पदार्थगोचरा ।
अतो महावाक्यनिबन्धनैव धीः
अबोधविच्छेदकरी भविष्यति ॥ २९४ ॥

योजना—पदार्थबोधेन हि ते कृतार्थता न, हि पदार्थगोचरा मतिः परोक्षा; अतः महावाक्यनिबन्धना धीः एव अबोधविच्छेदकरी भविष्यति ॥ (वंसस्थवृत्तम्) ॥

योजितार्थ—(हे शिष्य !) केवल पदार्थ-बोध से ही तेरी कृतार्थता नहीं होती, क्योंकि पदार्थविषयक बुद्धि परोक्ष होती है, अतः महावाक्य-जन्य बोध ही अज्ञान का विच्छेदकारी होगा ॥

भावितार्थ—यद्यपि शोधित तत्पदार्थ ब्रह्म की प्रत्यक्स्वरूपता का निश्चय पहले हो जाता है, तथापि 'तत्' और 'त्वम्' पदों में नपुंसक और पुंलिङ्ग का प्रयोग होने से उक्त निश्चय परोक्ष ही होता है, वाक्यार्थ-बोध ही अपरोक्ष होता है, वही अज्ञान का निवर्तक होगा ॥२९४॥

महावाक्य से भी सहसा अपरोक्ष बोध नहीं होता—

स्वाध्यायधर्मपठितं निजवेदशाखा-
वेदान्तभूमिगतमादरपालितं च ।
संन्यासिना परदृशा गुरुणोपदिष्टं
साक्षान्महावचनमेव विमुक्तिहेतुः ॥ २९५ ॥

योजना—निजवेदशाखावेदान्तभूमिगतं स्वाध्यायधर्मपठितम् आदरपालितं च सन्यासिना परदृशा गुरुणा उपदिष्टं महावचनम् एव साक्षात् मुक्तिहेतुः ॥ (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—अपनी वेद-शाखा के वेदान्त भाग में आया हुआ, स्वाध्याय-मर्यादा से पठित और सादर परिपालित, सन्यासी तत्त्वदर्शी गुरु के द्वारा उपदिष्ट महावाक्य ही साक्षात् मोक्ष का हेतु होता है ॥

भावितार्थ—जो महावाक्य अपनी शाखा में आया हो, विधिपूर्वक स्वाध्याय के द्वारा प्राप्त किया हो, श्रद्धापूर्वक दीर्घ समय तक आराधित हो, फिर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के द्वारा उपदिष्ट हो, वही साक्षात् अपरोक्ष-बोध उत्पन्न करता है, सामान्य महावाक्य नहीं ॥

महावाक्य से मुक्तिफलक साक्षात्कार उत्पन्न होने में प्रमाण दिखाते हैं—

नावेदविद्धि मनुते पुरुषं बृहन्तम्
इत्याह वेदवचनं कथमन्यथैतत् ।
वाक्यान्तरं च कथमाह पुमांसमेनं
साटोपमौपनिषदत्वविशेषणेन ॥ २९६ ॥

योजना—बृहन्तं पुरुषम् हि अवेदवित् न मनुते—इति वेद वचनम् आह, एतत् अन्यथा कथम् ? वाक्यान्तरं च साटोपम् औपनिषदत्वविशेषणेन एनं पुमांसं कथम् आह ? (वसन्त०)

योजितार्थ—बृहत् पुरुष को वेदान्तवाक्यार्थानभिज्ञ नहीं जान सकता—इस प्रकार वेद-वचन कहता है, यह अन्यथा कैसे होगा ? दूसरा वाक्य भी गर्वपूर्वक औपनिषदत्व विशेषण लगाकर इस पुरुष को कैसे कहेगा ?

भावितार्थ—भगवान् वेद कहता है–"नावेदवित् मनुते तं बृहन्तम्" (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) अर्थात् वेदान्तवाक्य के अर्थ से अनभिज्ञ व्यक्ति उस ब्रह्मतत्त्व को हृदयङ्गम नहीं कर सकता। इसी प्रकार दूसरे स्थान पर भी कहा है–"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृह० ३।९।२६)। अर्थात् उस औपनिषद् पुरुष को पूछता हूँ, यहाँ ब्रह्म का विशेषण औपनिषद् रखा है, औपनिषद का अर्थ होता है—केवल उपनिषत्-वाक्य के द्वारा ज्ञायमान, फिर तो वह तत्त्व और किसी प्रकार ज्ञात ही कैसे होगा ? ॥ २९६ ॥

उक्त वचनों में वेद और उपनिषत् पदों से महावाक्य ही विवक्षित है—

उपनिषदिति वेद इत्यपीदं
समभिवदन्ति महावचो महान्तः।
फलवदवगतिः स्यादन्तरेणैतदेकं
वचनमिति न शक्यं वक्तुमित्यादरोऽस्मिन् ॥ २९७ ॥

योजना—महान्तः उपनिषदिति वेद इत्यपि इदं महावचः समभिवदन्ति, एतत् एकं वचनम् अन्तरेण फलवदवगतिरिति कथं वक्तुं शक्यम् ? इति अस्मिन् आदरः ॥ (पुष्पिताग्रा) ॥

योजितार्थ—आचार्यगण 'उपनिषत्' और 'वेद' पदों से इस महावाक्य को ही कहा करते हैं; क्योंकि इस एक वाक्य को छोड़कर सफल साक्षात्कार होगा, यह कैसे कहा जा सकता है, इसलिए इस महावाक्य में इतना आदर है ॥

भावितार्थ—उक्त वाक्यों में 'उपनिषत्' तथा 'वेद' पदों से बाध्य होकर महावाक्यों का ग्रहण करना पड़ता है, क्योंकि महावाक्यों के बिना और किसी प्रकार भी ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता ॥ २९७ ॥

अतः 'उपनिषत्' और 'वेद' शब्द ही यहाँ प्रधान है—

उपनिषदिति शब्दो वेदशब्दश्च तस्मात्
श्रुतिशिरसि निविष्टो योज्यतामत्र वाक्ये।
अपरमखिलमस्यैवाङ्गभूतत्वहेतोः
इह समभिनिविष्टं तद्गिरो वाच्यमासीत् ॥ २९८ ॥

योजना—तस्मात् श्रुतिशिरसि निविष्टः उपनिषदिति शब्दः वेदशब्दश्च अत्र वाक्ये योज्यताम्, अस्यैव अङ्गभूतत्वहेतोः इह समभिनिविष्टम् अपरम् अखिलम् अस्यैव तद्गिरः वाच्यम् आसीत् ॥ (मालिनी) ॥

योजितार्थ—इसलिए वेदान्तगत 'उपनिषत्' और 'वेद' शब्द इस महावाक्य के अर्थ में जोड़ लेने चाहिए, इस (महावाक्य) का अङ्ग होने के कारण वेदान्त-निविष्ट और भी समस्त अर्थ इसी शब्द का वाच्य है ॥

भावितार्थ–"उप=समीपे प्रत्यगात्मानम् अव्यवधानेन गमयति" तथा "ब्रह्म प्रत्यगात्मत्वेन वेदयति"–इन व्युत्पत्तियों से 'उपनिषत्' और 'वेद' दोनों शब्द महावाक्य के ही बोधक होते हैं, अभेद से अतिरिक्त अर्थों में भी 'वेद' 'उपनिषत्' शब्दों का व्यवहार इसलिए हो जाता है कि वह अर्थ इसी अभेद का अङ्ग होता है ॥ २९८ ॥

"तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों की साक्षात् तत्त्व-बोधकता में लिङ्ग दिखाते हैं—

पित्रा तत्त्वमसीति बोधनमनु स्पष्टं विजज्ञाविति
च्छान्दोग्ये यदवोचदेतदिह नो लिङ्गं भवेज्ज्ञापकम् ।
सर्वत्रैव महागिरामुपनिषच्छब्दो भवेद्ग्राहको
वेदश्चायमतोऽन्यदस्य निकटे तेनात्र वेदादिगीः ॥ २९९ ॥

योजना—पित्रा तत्त्वमसीति बोधनम् अनु "विजज्ञौ"—इति स्पष्टं छान्दोग्ये यद् अवोचत्, एतद् इह नो ज्ञापकं लिङ्गं भवेत् । सर्वत्रैव महागिरां ग्राहकः 'उपनिषत्' शब्दो भवेत्, अयं वेदश्च । अतोऽन्यद् अस्य निकटम्, तेन अत्र वेदादिगीः ।। (शार्दूलविक्रीडितम्) ॥

योजितार्थ—पिता के द्वारा "तत्त्वमसि"—ऐसा बोध देने के अनन्तर "तद्धाऽस्य विजज्ञौ" (छां० ६।७।६) ऐसा स्पष्टरूप से छान्दोग्य में जो कहा है, यही इस (महावाक्य की तत्त्व-बोधकता) में हमारा ज्ञापक हेतु है । सर्वत्र महावाक्य का ग्राहक 'उपनिषत्' शब्द है और 'वेद' शब्द भी । इस (महावाक्य) से अन्य वेद-भाग इसके निकट है, इसलिए उसमें भी 'वेद' आदि शब्दों का प्रयोग हो जाता है ॥

भावितार्थ—'उपनिषत्', 'वेद'—दोनों शब्दों का अर्थ होता है – तत्त्व-बोधक, "तत्त्वमसि" आदि महावाक्य ही वस्तुतः तत्त्व के बोधक होते हैं; क्योंकि छान्दोग्य उपनिषत् के छठे अध्याय में श्वेतकेतु के पिता ने जब "तत्त्वमसि"—इस महावाक्य का उपदेश किया, उसके अनन्तर श्रुति कहती है–"तद्धादस्य विजज्ञौ (छां० ६।७।६) अर्थात् उस तत्त्व का बोध श्वेतकेतु को हो गया । इससे यह अत्यन्त दृढ़ हो जाता है कि महावाक्य ही तत्त्व के बोधक होते हैं, अतः 'उपनिषत्' और 'वेद' शब्द मुख्यरूप से महावाक्यों को ही कहते हैं, अन्य भाग उसके निकट है, अतः वेदादि शब्दों का प्रयोग उसमें भी हो जाता है ।। २९९ ॥

'उपनिषत्' शब्द का महावाक्य में प्रवृत्ति-प्रकार दिखाते हैं—

उपनिषद्वचसा परमात्मधीः
सहजशक्तिवशेन निगद्यते ।
तदुपचर्यं महागिरि वर्तते
निकटभावमपेक्ष्य तु मुख्यगीः ॥ ३०० ॥

योजना—उपनिषद् वचसा सहजशक्तिवशेन परमात्मधीः निगद्यते, महागिरि तु निकटभावम् अपेक्ष्य उपचर्यं मुख्यगीः वर्तते ।। (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—'उपनिषत्' शब्द अपनी स्वाभाविक शक्ति के द्वारा ब्रह्मज्ञान को कहता है, महावाक्य में तो निकटता के कारण उपचार से प्रवृत्त होता है ॥

भावितार्थ—'उपनिषत्' शब्द अपनी अवयवगत शक्ति से ब्रह्मज्ञान को कहता है, ब्रह्मज्ञान का बोधक होने से महावाक्य भी 'उपनिषत्' शब्द का लक्षणा आदि से अर्थ माना जाता है, अर्थात् ब्रह्मज्ञान के वाचक महावाक्य को भी ब्रह्मज्ञान समझकर उपनिषत् शब्द की प्रवृत्ति बन जाती है ।। ३०० ॥

उक्त अर्थ को ही विशद करते हैं—

उपनिषद्वचसाऽभिहिताऽऽत्मधी।
निकटवर्तिमहागिरि मुख्यवत् ।
उपनिषद्वचनं तदवान्तरे
वचसि गौणवदत्र विवक्ष्यते ॥ ३०१ ॥

योजना—उपनिषद्वचसा अभिहिता आत्मधीः निकटवर्तिमहागिरि मुख्यवत्, तदवान्तरे वचसि उपनिषद्वचनं गौणवद् अत्र विवक्ष्यते ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—'उपनिषत्' शब्द से अभिहित आत्मज्ञान अपने निकटवर्ती महावाक्य में मुख्यरूप से, अवान्तर वाक्य में 'उपनिषत् शब्द गौणरूप से यहाँ विवक्षित है ॥

भावितार्थ—यद्यपि महावाक्य में 'उपनिषत्' शब्द औपचारिकरूप से ही प्रवृत्त है, तथापि बहुतर प्रयोग से उपचार भी मुख्य के समान ही हो जाता है, अतः यह कहा जानें लगा कि 'उपनिषत्' शब्द का महावाक्य मुख्य अर्थ है, अवान्तर वाक्य गौण अर्थ ॥३०१॥

पूर्वोक्त लिङ्ग का ही स्मरण दिलाते हैं—

यतो महावाक्यत एव पुत्रो
विजज्ञिवानस्य पितुः सकाशात् ।
इति श्रुतं तेन स एव वेदः
तथा च सैवोपनिषच्च सिद्धा ॥ ३०२ ॥

योजना—यत् पुत्रः अस्य पितुः सकाशात् महावाक्यतः एव विजज्ञिवान्—इति श्रुतम्, तेन स एव वेदः तथैव सैव उपनिषत् च सिद्धा ॥ (उपेन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—पुत्र (श्वेतकेतु) ने अपने पिता के मुख से महावाक्य को सुनकर ही आत्मबोध प्राप्त किया—ऐसा श्रुति ने कहा है, इसलिए वही वेद है और वही उपनिषत् भी सिद्ध होता है ॥ ३०२ ॥

व्यतिरेक मुख से भी उक्तार्थ को दृढ़ करते हैं—

विना महावाक्यमतो न कश्चित्
पुमांसमद्वैतमवैति जन्तुः ।
ततः पदार्थावगमान्न मुक्तिः
घटिष्यते तस्य परोक्षभावात् ॥ ३०३ ॥

योजना—अतः कश्चित् जन्तुः महावाक्यं विना अद्वैतं पुमांसं न अवैति, ततः पदार्थावगमात् मुक्तिः न घटिष्यते, परोक्षभावात् ॥ (उपेन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—इसलिए कोई जीव महावाक्य के बिना अद्वैत पुरुष को नहीं जान सकता, अतः पदार्थ के ज्ञानमात्र से मुक्ति नहीं घटती, क्योंकि वह परोक्ष हैं ॥

भावितार्थ—महावाक्य के घटक पदों को सुनकर परोक्ष बोध होता हैं, अतः उससे मुक्ति नहीं होती, अपितु महावाक्य-श्रवण के अनन्तर ही अपरोक्ष बोध होता है, जिससे मुक्ति होती है ॥ ३०३ ॥

तब पदार्थ-शोधन किस लिए ? इसका उत्तर है—

पदार्थबोधं परिहृत्य वाक्यं
न शक्तमात्मानुभवावसानाम् ।
धियं समानेतुमपेक्षितत्वाद्
अतः स यत्नेन निरूपितोऽभूत् ॥ ३०४ ॥

योजना—पदार्थबोधं परिहृत्य वाक्यम् आत्मानुभवावसानां धियं समानेतुं न शक्तम्, अपेक्षितत्वात्, अतः स यत्नेन निरूपितोऽभूत् ॥ (उपेन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—पदार्थ-बोध को छोड़कर वाक्य आत्मसाक्षात्कार-विषयिणी बुद्धि को जन्म नहीं दे सकता, क्योंकि वह अपेक्षित है, अतः वह (पदार्थ) यत्न से निरूपित हुआ है ॥

भावितार्थ—वाक्यार्थ-बोध में पदार्थ-बोध कारण होता है, अतः वाक्यार्थ-बोध के लिए पदार्थों का पहले ही निरूपण परम आवश्यक था, इसलिए पदार्थ-शोधन पूर्व किया गया है ॥ ३०४ ॥

वाक्यार्थ-ज्ञान में अपेक्षित पदार्थ दिखाते हैं—

तच्छब्दादवगतमद्वितीयमासीत्
प्रत्यक्त्वं समधिगतं त्वमित्यनेन ।
प्रत्यक्त्वं न खलु विनाऽद्वितीयमेवं
नाद्वैतं भवितुमलं विना प्रतीचा ॥ ३०५ ॥

योजना—'तत्' शब्दात् अद्वितीयम् अवगतम् आसीत्, 'त्वम्'—इत्यनेन प्रत्यक्त्वं समधिगतम् । न अद्वितीयं विना प्रत्यक्त्वम्, न विना प्रतीचा अद्वैतम् भवितुम् अलम् ॥ (प्रहर्षिणी) ॥

योजितार्थ—'तत्' शब्द से अद्वितीय ब्रह्म अवगत हुआ और 'त्वम्'—इस पद से प्रत्यक्त्व ज्ञात हुआ । न तो अद्वितीयत्व के विना प्रत्यक्त्व और न प्रत्यक्त्व के विना अद्वितीयत्व हो सकता है ॥

भावितार्थ—पदार्थों का शोधन कर लेने पर पदार्थों (वाच्यार्थों) में से विरोधी अंशों का त्याग कर अवशिष्ट अर्थों का तादात्म्य सम्यक् सम्पन्न हो जाता है ॥ ३०५ ॥

तर्क के समय प्रतीयमान पदार्थभेद वाक्य से स्फुट होता है—

तर्कप्रतीतिसमयेऽपि तदद्वितीयं
प्रत्यक् परिस्फुरति तत्प्रतिबिम्बितं सत् ।
वेदान्तवाक्यजनिताऽद्वयबुद्धिभूमि-
निष्ठं पुनः स्फुटतरं भवतीति भेदः ॥ ३०६ ॥

योजना-तर्कप्रतीतिसमयेऽपि तत् अद्वितीयं प्रत्यक् तत्प्रतिबिम्बितं सत् परिस्फुरति, वेदान्तवाक्यजनिताऽद्वयबुद्धिभूमिनिष्ठं पुनः स्फुटतरं भवतीति भेदः ॥ (वसन्त०) ॥

योजितार्थ—तर्क-प्रतीति के समय भी वह अद्वितीय प्रत्यक् आत्मा उस (प्रतीति) में प्रतिबिम्बित होकर परिस्फुरित होता है, किन्तु वेदान्त-वाक्य-जन्य बुद्धि में तो अत्यन्त स्फुट हो जाता है—यह उनमें भेद है ॥

भावितार्थ—अपनी ऊहा से समस्त अनात्म जगत् का निरास कर देने पर भी अद्वितीय आत्मतत्त्व का स्फुरण हो जाता है, किन्तु वह परोक्षमात्र होता है, महावाक्य-जन्य वृत्ति में वह अद्वितीय अखण्ड तत्त्व प्रत्यक्ष हो जाता है ॥ ३०६ ॥

तर्क-जन्य और वाक्य-जन्य बुद्धियों का वैलक्षण्य दिखाते हैं—

अधममध्यमशुद्धिनि दर्पणे
परमशुद्धिनि चाऽऽननमात्मनः ।
तरतमक्रमतः प्रतिभासते
तदिव तत्त्वमिह प्रतिपत्तिषु ॥ ३०७ ॥

योजना—यद्वत् अधममध्यमशुद्धिनि परमशुद्धिनि च दर्पणे आत्मनः आननं तरतम-क्रमतः प्रतिभासते, तदिव इह प्रतिपत्तिषु तत्त्वम् ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—जैसे अधम, मध्यम और उत्तम शुद्धिवाले दर्पण में अपना मुख तरतम-क्रम से प्रतिभासित होता है, वैसे ही यहाँ बुद्धि-वृत्तियों में तत्त्व ॥

भावितार्थ—जैसे मलिन दर्पण में अपना मुख मलिन, स्वच्छ दर्पण में स्वच्छ और स्वच्छतम दर्पण में मुख अत्यन्त स्वच्छ दीखता है, वैसे ही बुद्धि-वृत्तियों के तारतम्य से आत्मतत्त्व के प्रतिभान में अन्तर पड़ जाता है, अर्थात् वृत्ति जितनी ही स्वच्छ होगी, उसमें उतना ही स्वच्छ आत्मतत्त्व प्रतीत होगा ॥ ३०७ ॥

बुद्धिगत तारतम्य का कारण दिखाते हैं—

एकदेशमुपलभ्य धर्मिणः
चैकदेशमपरं विजानते ।
धर्मिधीव्यवधिकारणादतो
नानुमा ह्यनुभवाय वस्तुनः ॥ ३०८ ॥

योजना—धर्मिणः एकदेशम् उपलभ्य अपरम् एकदेशं विजानते, अतः धर्मिधीव्यव-धिकारणात् अनुमा वस्तुनः अनुभवाय न (प्रभवति) ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—पक्ष के एक (व्याप्यावच्छिन्न) देश को देखकर दूसरे एक (व्यापकाव-च्छिन्न) देश का अनुमान किया करते हैं, अतः पक्ष-धी का व्यवधान होने के कारण अनु-मान वस्तु का साक्षात्कार कराने में नहीं समर्थ होता ॥

भावितार्थ—शबरस्वामी ने अनुमान का लक्षण किया है—"ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेश-दर्शनाद् एकदेशान्तरे बुद्धिरनुमानम् ।" अर्थात् ज्ञात है हेतु का सम्बन्ध जिसमें, ऐसे पक्ष-रूप धर्मी के एक धूम-विशिष्ट देश को देख कर उसी के अग्नि-विशिष्ट देश की कल्पना का नाम अनुमान है। यहाँ अनुमेय अग्नि या अग्नि-विशिष्ट देश इन्द्रिय-सन्निकृष्ट नहीं, अतः व्यवहित है, व्यवहित वस्तु का ज्ञान कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि तर्क या अनुमान के आधार पर किसी वस्तु का साक्षात्कार नहीं हो सकता, तत्त्वसाक्षात्कार के लिए महावाक्य की उपासना अनिवार्य है ॥ ३०८ ॥

गुरु अपने शिष्य की पूर्व जिज्ञासा को पूर्णतया शान्त करके दूसरी जिज्ञासा उठाता है—

एवं तावत्तत्त्वमर्थौ विशुद्धौ
बोद्धव्यं चेदन्यदप्यस्ति पृच्छ ।
यद्यद् बुद्धं तत्तदादाय तिष्ठेः
यच्चाबुद्धं तत्र चाऽऽधत्स्व चेतः ॥ ३०९ ॥

योजना--एवं तावत् तत्त्वमर्थौ विशुद्धौ । अन्यत् चेद बौद्धव्यम् अस्ति, इति पृच्छ ! यद् यद् बुद्धम्, तत तत् आदाय तिष्ठेः, यत् च अबुद्धम्, तत्र चेतः आधत्स्व ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—इस प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' के अर्थों का शोधन किया गया । और यदि कुछ बोद्धव्य है, तो पूछो ! जो जान गये, वह ध्यान में रक्खो, जो नहीं समझे, उसके लिए चित्त को समाहित करो ॥ ३०९ ॥

शिष्य की प्रवृत्ति दिखाते हैं—

बुद्ध्वा तत्त्वम्पदार्थानुभवविषयं कर्त्तुकामस्तदैक्यं
वाक्याद् वाक्यार्थनिष्ठात् श्रुतिशिरसि गतादञ्जसा तत्त्वमादेः ।
तच्छेषापन्नमस्मिन् श्रुतिशिरमि वचोजातमन्यद् यदस्ति
तस्येयत्ताबुभुत्साकुलितनिजमतिः पृच्छति स्मैष भूयः ॥३१०॥

योजना—एवं तत्त्वम्पदार्थौ बुध्वा वाक्यार्थनिष्ठात् श्रुतिशिरसि गतात् तत्त्वमादेः वाक्यात् तदैक्यं अञ्जसा अनुभवविषयं कर्त्तुकामः अस्मिन् श्रुतिशिरसि तच्छेषापन्नं यत् अन्यद् वचोजातम् अस्ति, तस्येयत्ताबुभुत्साकुलितनिजमतिः भूयः पृच्छति ॥ (स्रग्धरा) ॥

योजितार्थ—यह शिष्य तत्त्वम्पदार्थों को जानकर वाक्यार्थ-बोधक, वेदान्तगत, 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से उन दोनों पदार्थों की एकता को भली प्रकार अनुभव में लाने की कामना से इस वेदान्त में उस (महावाक्य) के शेषभूत जो अन्य वचन हैं, उनकी इयत्ता (परिमाण) की जिज्ञासा से व्याकुल होकर फिर पूछता है ॥

भावितार्थ—महावाक्यार्थ का बोध तत्त्वम्पदार्थ-शोधन पर निर्भर है, तत्त्वम्पदार्थ-शोधन अवान्तर वाक्यों पर आश्रित है, अतः अवान्तर वाक्यों के प्रकार की जिज्ञासा उठाई जाती है ॥ ३१० ॥

अवान्तरवाक्येयत्ताजिज्ञासा

प्रश्न दिखाया जाता है—

अद्याप्यवान्तरवचः परिमाणबोध-
वैकल्यमस्ति मम तेन महावचोऽपि ।
वाक्यार्थबुद्धिमनुभूतिफलावसानां
नोत्पादयत्यहरहः श्रुतमप्यशक्तेः ॥ ३११ ॥

योजना-अद्यापि मम अवान्तरवचः परिमाणबोधवैकल्यम् अस्ति, तेन अहरहः श्रुतो महावचोऽपि अनुभूतिफलावसानां वाक्यार्थबुद्धि न उत्पादयति, अशक्तेः ॥ (वसन्त०) ॥

योजितार्थ-अभी भी मेरे अन्दर अवान्तर वाक्यों के इयत्ता-बोध का अभाव है, इसलिए प्रतिदिन श्रुत भी महावाक्य अनुभवरूप फल तक पहुँचनेवाली वाक्यार्थ-बुद्धि को नहीं उत्पन्न करता, क्योंकि उसकी शक्ति नहीं ॥ ३११ ॥

उक्त प्रश्न का ही स्पष्टीकरण करते हैं—

विधिमुखेन परस्य निवेदकं
वचनजातमवान्तरसंज्ञितम् ।
यदपि भेदनिषेधमुखेन तत्
परिमितिं प्रतिपादय मे प्रभो ॥ ३१२ ॥

योजना—प्रभो ! विधिमुखेन परस्य निवेदकम् अवान्तरसंज्ञितं वचनजातम्, यदपि भेदनिषेधमुखेन (परस्य निवेदकम्); तत्परिमितिं मे अद्य प्रतिपादय ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—गुरो ! जो विधिमुख से परब्रह्म के बोधक अवान्तरसंज्ञक वाक्य हैं और जो निषेधमुख से ब्रह्म के बोधक हैं, उनकी इयत्ता मुझे आज सुनाइए ॥ ३१२ ॥

अवान्तरवाक्येयत्तानिरूपणम्

गुरु उक्त जिज्ञासा को शान्त करता है—

सकलवेदशिरःसु परात्मधी-
परवचःसु परापरबोधतः ।
अपुनरुक्तपदान्युपसंहरन्
परिमितिं स्वयमेव तु वेत्स्यति ॥ ३१३ ॥

योजना—सकलवेदशिरःसु परात्मधीपरवचःसु अपुनरुक्तपदानि परापरबोधतः उपसंहरन् स्वयमेव परिमितिं वेत्स्यसि ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ-(हे शिष्य ;) सकल वेदान्त ग्रन्थों में परमात्मपरक वाक्यों के अपुनरुक्त पदों का परापर-बोध के भेद से उपसंहार करके स्वयं ही परिमाण का ज्ञान तुम करलोगे ॥

भावितार्थ-परमात्मबोधक समस्त अपुनरुक्त पदों को दो विभागों में बांट देना चाहिए—(१) सगुणपरक और (२) निर्गुणपरक । इस प्रकार इयत्ता का स्वयं अवधारण हो सकता है ॥ ३१३ ॥

उपसंहार की आवश्यकता बताते हैं—

अपुनरुक्तपदानि विना यतो
न परिपुष्कलबुद्धिसमुद्भवः ।
अपुनरुक्तपदानि ततस्ततः
त्वमुपसंहर तत्त्वबुभुत्सया ॥ ३१४ ॥

योजना—यतः अपुनरुक्तपदानि विना परिपुष्कलबुद्धिसमुद्भवो नास्ति, ततः तत्त्वबुभुत्सया त्वम् अपुनरुक्त पदानि उपसंहर ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—अपुनरुक्त पदों के (उपसंहार के) बिना पूर्ण बोध नहीं होता, अतः तत्त्व-बोध की इच्छा से तुम अपुनरुक्त पदों का उपसंहार करो ॥

भावितार्थ—समस्त शाखाओं के समस्त निर्गुणपरक अपुनरुक्त पदों का जब तक संकलन नहीं किया जाता, तब तक अभीष्ट तत्त्व का पूर्ण परिचय प्राप्त नहीं हो सकता, अतः सभी उपयोगी विशेषणों को उपयुक्त विशेष्य की परिधि में केन्द्रित कर देना चाहिए ॥ ३१४ ॥

उपसंहार में किसी प्रकार का प्रमाद नहीं आने देना चाहिए—

कुरु परापरवाक्यविवेचनं
तदनुशब्दसमाहरणं कुरु ।
प्रियशिरःप्रभृतीनि च यत्नवान्
उपचितापचितानि परित्यज ॥ ३१५ ॥

योजना—परापरवाक्यविवेचनं कुरु, तदनु शब्दसमाहरणं कुरु, उपचितापचितानि प्रियशिरःप्रभृतीनि यत्नवान् परित्यज ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—परब्रह्म-बोधक और अपरब्रह्म-बोधक वाक्यों का पहले विवेचन करो, तदनन्तर विशेषण पदों का उपसंहार करो, हाँ उपचित-अपचितरूप प्रियं शिरः आदि (असंगत) विशेषणों का यत्नपूर्वक परित्याग कर देना चाहिए ॥

भावितार्थ—निर्गुण के प्रकरण में स्थित अनुपयुक्त विशेषणों का परित्याग आवश्यक है, जैसे "तस्य प्रियमेव शिरः" (तै० २।५।१) यहाँ वर्णित प्रिय, मोद और प्रमोद-रूप वृत्तियाँ व्यवस्थित नहीं, क्योंकि प्राणियों के भेद से उक्त वृत्तियों में न्यूनाधिकभाव होता है, ऐसे अव्यवस्थित विशेषण नित्यैकरस कूटस्थ के साथ संगत नहीं होते, अतः इनका सम्बन्ध निर्गुण तत्त्व के साथ कदापि स्थिर नहीं किया जा सकता ॥ ३१५ ॥

उक्त विशेषणों की परित्यज्यता में हेतु दिखाते हैं—

उपचितापचितानि न निर्गुणे
प्रियशिरःप्रभृतीनि कदाचन ।
निपुणधीरपि कश्चन योजयेद्
अपि तु कोशगुणाः कथिता अमी ॥ ३१६ ॥

योजना—उपचितापचितानि प्रियशिरःप्रभृतीनि निर्गुणे कश्चन निपुणधीः अपि कदाचन न योजयेत्, अपितु अमी कोशगुणाः कथिताः (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—उपचित अपचितरूप प्रियशिरः आदि विशेषणों को निर्गुण तत्त्व में कोई निपुण व्यक्ति भी कदापि नहीं जोड़ सकता, (वे निर्गुण के विशेषण नहीं) अपितु वे पाँच कोशों के धर्म हैं ॥

भावितार्थ—प्रियशिरस्त्व आदि वस्तुतः कोशों के धर्म हैं, कोशों के द्वारा निर्गुण ब्रह्म के अभिलक्षक होने में निर्गुण के प्रकरण में उनका पाठ समीचीन हो जाता है ॥३१६॥

विधिवाक्यों की इयत्ता दिखाकर निषेधवाक्यों की इयत्ता दिखाते हैं—

इति वचः परिमाणमुदीरितं
विधिवचःसु निषेधगिरां शृणु ।
बहुनिषेध्यममूष्वपि तेन ता-
स्वपि समाहर पूर्ववदेव तत् ॥ ३१७ ॥

योजना—इति विधिवचःसु परिमाणम् उदीरितम्, निषेधगिरां शृणु, अमूषु बहुनिषेध्यम् अस्ति, तेन तासु अपि पूर्ववदेव तत् समाहर ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजना—यद् किञ्चिद् इह अबोधसमुद्भवम्, तद् अखिलं निषधगीः केवलं प्रतिषेधति, न तु किमपि उपगृह्य भगवतः परे पदे निविशेत ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—जो कुछ इस (आत्मा) में अबोध-जनित रूप है, उस समस्त रूप का निषेधवाक्य केवल प्रतिषेध कर देता है, न कि कुछ विधेयरूप लेकर भगवान् के परम पद में समर्पित करता है ॥ ३२० ॥

विधि-निषेध के वैलक्षण्य-निरूपण का उपसंहार करते हैं—

इति विशेष इह प्रतिपादितो
विधिनिषेधगिरोरुभयोरपि ।
अपुनरुक्तपदाहरणं पुनः
विधिनिषेधवचःस्वविशेषितः ॥ ३२१ ॥

योजना—इति उभयोः विधिनिषेधगिरोः इह विशेषः प्रतिपादितः, अपुनरुक्तपदाहरणं पुनः विधिनिषेधवचःसु अविशेषितम् ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—इस प्रकार दोनों विधि-निषेध वाक्यों की यहाँ विशेषता कह दी है, अपुनरुक्त पदों का उपसंहार तो विधि-निषेध वाक्यों में समान ही है ॥ ३२१ ॥

विधि और निषेध वाक्यों में यह भी एक अन्तर है कि निषेध वाक्य अपने घटक निषेध्य से अतिरिक्त निषेध्य के भी अजहल्लक्षणा के द्वारा निषेधक हैं, किन्तु विधिवाक्य ऐसे नहीं, वे केवल श्रुत अर्थ के ही विधायक होते हैं, अश्रुत के नहीं—

श्रुतिपदैरुपसंहृतिशालिभिः
यदवशिष्टनिषेध्यनिषेधनम् ।
तदपि पूर्वमिहाभिमतं श्रुतेः
श्रुतपदान्युपलक्षणमेव हि ॥ ३२२ ॥
समुपसंहृतशब्दसमन्वितैः
श्रुतिपदैर्विधिवाक्यगतैः पुनः
समुपलक्ष्यतया न परात्मनः
किमपि रूपमिहाऽभ्यधिकं मतम् ॥ ३२३ ॥

योजना—उपसंहृतशालिभिः श्रुतपदैः यद् अवशिष्टनिषेध्यनिषेधनम्, तद् अपि इह पूर्वम् अभिमतम्; श्रुतेः हि श्रुतपदानि उपलक्षणमेव समुपसंहृतशब्दसमन्वितैः विधिवाक्यगतैः श्रुतपदैः पुनः परात्मनः किमपि अधिकं रूपम् इह समुपलक्षणया न मतम् ॥ (द्रुत०)॥

योजितार्थ—उपसंहृत पदों से युक्त श्रुत पदों के द्वारा जो अवशिष्ट (अश्रुत) निषेध्य का निषेधन है, वह भी यहाँ अभीष्ट है, क्योंकि निषेध श्रुति के श्रुत पद (अश्रुत के भी) उपलक्षक होते हैं। उपसंहृत पदों से समन्वित विधिवाक्यगत श्रुत पदों के द्वारा वो परमात्मा का कोई अधिक (अश्रुत) रूप उपलक्षित नहीं माना जाता ॥

भावितार्थ—निषेध वाक्य कल्पित अनात्मरूप के निषेधक होते हैं, कल्पित रूप अनन्त है, उनका कुछ परिगणित निषेध वाक्यों के द्वारा अभिधा वृत्ति से निषेध संभावित

नहीं, अतः इन पदों को उपलक्षण मानना पड़ता है, किन्तु विधिवाक्य केवल आत्मस्वरूप के समर्पक होते हैं, वह विधिवाक्य के श्रुत पदों से ही अवगत कराया जा सकता है, अतः विधिवाक्य-घटक पद किसी अश्रुत के उपलक्षक नहीं माने जाते ॥ ३२२-३२३ ॥

विधिवाक्यगत पद अश्रुत के लक्षक क्यों नहीं ? इसका उत्तर है—

न खलु संश्रुतसंहृतशब्दयोः
अविषयः परमात्मन इष्यते ।
किमपि रूपममुत्र हि नास्ति नः
किमपि मानमतो न तदस्ति नः ॥ ३२४ ॥

योजना—परमात्मः किमपि रूपं संश्रुतसंहृतशब्दयोः अविषयो न खलु इष्यते, अमुत्र हि किमपि नः मानं नास्ति, अतः नः तत् नास्ति ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—ब्रह्म का कोई भी रूप श्रुत तथा उपसंहृत शब्दों का अविषय माना जाता क्योंकि उसमें कोई हमारे मत से प्रमाण नहीं, अतः वह है ही नहीं ॥

भावितार्थ—ब्रह्म का कोई अंश यदि विधि-शब्दों का विषय न होता, तब अवश्य विधिवाक्यों को उसका उपलक्षक मानते, किन्तु उसके होने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, अतः विधिवाक्य को उपलक्षण मानने की आवश्यकता नहीं ॥ ३२४ ॥

उपसंहार में युक्ति दिखाते हैं—

गुणतया हि पदानि परात्मनो
विधिनिषेधवचस्स्ववतस्थिरे ।
गुणगणो गुणितन्त्रतया गुणी
भवति यत्र हि तत्र भवत्यसौ ॥ ३२५ ॥

योजना—विधिनिषेधवचःसु पदानि परात्मनः गुणतया अवतस्थिरे, गुणगणो हि गुणितन्त्रतया, यत्र गुणी भवति, तत्र हि असौ भवति ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—विधि-निषेध वाक्यों के पद ब्रह्म के गुण होकर अवस्थित हैं, गुण-गण अपने गुणी के अधीन होने के कारण जहाँ गुणी होता है, वहाँ ही यह होता है ॥

भावितार्थ—गुण और प्रधान का नित्य सम्बन्ध होता है, विशेषण गुण तथा विशेष्य प्रधान माना जाता है। समस्त वाक्यों के पद विशेषण हैं, उनका विशेष्य एक मात्र ब्रह्म है, अतः सभी पदों का अपने विशेष्य के चरणों में एकत्र हो जाना नितान्त स्वाभाविक है ॥ ३२५ ॥

पदोपसंहार-प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

विधिनिषेधवचः परिमाणतः
तव मया कथितं नयवर्त्मना ।
यदपरं तव वस्तु बुभुत्सितं
तदिह नः पुरतः प्रकटीकुरु ॥ ३२६ ॥

योजना—मया नयवर्त्मना परिमाणतः विधिनिषेधवचः कथितम्, यद् अपरं वस्तु तव बुभुत्सितम्, तद् इह नः पुरतः प्रकटीकुरु ॥ (द्रुतविलम्बितम्) ॥

योजितार्थ—मैं (गुरु) नें युक्ति-युक्त परिमाण की दृष्टि से विधि-निषेध वाक्य कह दिये, जो और कोई वस्तु तुम्हें जिज्ञासित हो, वह भी यहाँ हमारे सामनें प्रकट करो ॥३२६॥

अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधननिरूपणम्

गुरु की आज्ञा पाकर शिष्य पूछता है—

अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधने
भेदतः कथय तद् बुभुत्सितम् ।
ज्ञानजन्मन इदं जिघृक्षितं
हेयमेतदिति चोपपत्तिभिः ॥ ३२७ ॥

योजना—अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनं ज्ञानजन्मने इदं जिघृक्षितम्, इदं हेयम्—इति उपपत्तिभिः भेदतः कथय, तत् बुभुत्सितम् ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ-अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग साधनों का ज्ञान की उत्पत्ति में यह उपादेय है, यह हेय है—इस प्रकार भेद-निदर्शनपूर्वक कथन कीजिए, यही जिज्ञासित है ॥३२७॥

उक्त साधनों का उपयोग-स्थल दिखाते हैं—

अन्तरङ्गमपवर्गकाङ्क्षिभिः
कार्यमेव यतिभिः प्रयत्नतः ।
त्याज्यमेव बहिरङ्गसाधनं
यत्नतः पतनभीरुभिर्भवेत् ॥ ३२८ ॥

योजना—अपवर्गकांक्षिभिः यतिभिः अन्तरङ्गं प्रयत्नतः कार्यमेव पतनभीरुभिः बहिरङ्गसाधनं यत्नतः त्याज्यमेव ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—मोक्ष के लिप्सु यतियों के लिए अन्तरङ्ग साधन बड़े यत्न से सम्पादनीय हैं, पतन भय से भीरु पुरुषों को बहिरङ्ग साधनों का यत्नतः त्याग कर देना चाहिए ॥ ३२८ ॥

गुरु उक्त जिज्ञासा को शान्त करता है—

उच्यते शृणु विविच्य साधनं
ज्ञानजन्मनि यदूचिवान्गुरुः ।
अन्तरङ्गबहिरङ्गभेदतः
शब्दशक्तिमनुसृत्य वैदिकीम् ॥ ३२९ ॥

योजना—वैदिकीं शब्दशक्तिम् अनुसृत्य अन्तरङ्गबहिरङ्गभेदतः विविच्य यत् साधनं गुरुः ऊचिवान्, तत् उच्यते, शृणु ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—वैदिक शब्दशक्ति का अनुसरण कर अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग भेद से विवेचन करके जिन साधनों को हमारे गुरुवर नें कहा है, वे कहे जा रहे हैं, तुम सुनों !

भावितार्थ—ज्ञान के साधनों में सम्प्रदाय-सिद्धता व्यक्त करने के लिए कहा है—"यदूचिवान् गुरुः" । अर्थात् ये साधन वैदिक आचार्यों की उपदेश-परम्परा में आ रहे हैं, अतः प्रमाणिक हैं ॥ ३२९ ॥

बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग की परिभाषा करते हैं—

यत् श्रुतं विविदिषोदयाय तत्
सर्वमेव बहिरङ्गसाधनम् ।
अन्तरङ्गमवगच्छ तत्पुनः
यत्परावगतिसाधनं श्रुतम् ॥ ३३० ॥

योजना—यत् विविदिषोदयाय श्रुतम्, तत् सर्वमेव बहिरङ्गसाधनम्, यत् पुनः परावगतिसाधनं श्रुतम् , तद् अन्तरङ्गम् आवगच्छ ॥

योजितार्थ—जो विविदिषा (जिज्ञासा) के लिए श्रुत है, वह समस्त बहिरङ्ग साधन है और जो ब्रह्म-ज्ञान का साधन कहा गया है, उसे अन्तरङ्ग समझो ॥

भावितार्थ—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" (बृह० ४।४।२२) आदि श्रुतियों में जो यज्ञ-दान आदि कर्म विविदिषा (ज्ञान की इच्छा) के द्वारा श्रवणादि अङ्गों में प्रवर्तक देखे जाते हैं, वे सब बहिरङ्ग साधन माने जाते हैं। "तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति" (बृह० ४।४।२३) आदि श्रुतियों में श्रुत शम-दम एवं श्रवण-मनन आदि ज्ञान के साक्षात् साधन अङ्गों को अन्तरङ्ग साधन कहते हैं। आशय यह है कि ज्ञान के साक्षात् उत्पादक और पोषक अङ्गों को अन्तरङ्ग तथा उन अङ्गों के साधन तत्त्वों को बहिरङ्ग साधन कहा जाता है ॥ ३३० ॥

दूसरा लक्षण भी दिखाते हैं—

यद्धि कारकतयाऽवगम्यते
दूरतस्तदिह साधनं धियः ।
अन्तरङ्गमखिलं तु तत्पुनः
व्यञ्जकं भवति यत्परात्मनः ॥ ३३१ ॥

योजना—यद् हि कारकतया अवगम्यते, तद् इह धियः दूरतः साधनम्, यत् पुनः परात्मनः व्यंजकं भवति तत् अखिलम् अन्तरङ्गम् ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—जो (श्रुतियों में) कारक (जनक) रूप से श्रुत है और जो परमात्मा का व्यंजक होता है, वह सब अन्तरङ्ग साधन माना जाता है ॥

भावितार्थ—अदृष्ट के द्वारा फल के उत्पादक यज्ञादि को कारक कहते हैं। दृष्ट उपकार के द्वारा तत्त्वज्ञान के हेतु श्रवणादि को अभिव्यंजक कहते हैं। कारक बहिरङ्ग तथा व्यंजक अन्तरङ्ग माना जाता है ॥ ३३१ ॥

उक्त अङ्गों में संन्यासी के लिए हेय-उपादेय बताते हैं—

कारकस्य करणेन तत्क्षणाद्
भिक्षुरेष पतितो भवेद्यथा ।
व्यञ्जकस्य परिवर्जनात्तथा
सद्य एव पतितो भवेदसौ ॥ ३३२ ॥

योजना—यथा एष भिक्षुः कारकस्य करणेन तत्क्षणात् पतितो भवेत्, तथा असौ व्यञ्जकस्य परिवर्जनात् सद्य एव पतितो भवेत् ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—जैसे यह संन्यासी (यज्ञादि) कारक अङ्गों का अनुष्ठान करने से तुरन्त पतित हो जाता है, वैसे ही यह श्रवणादि व्यञ्जक अङ्गों का परित्याग करके शीघ्र ही पतित हो जाता है ॥ ३३२ ॥

"विविदिषन्ति यज्ञेन" (बृह० ४।४।२२) आदि श्रुतियों से यज्ञादि का विधान प्रकृत्यर्थ वेदन में नहीं, अपितु सन् प्रत्ययार्थ इच्छा में ही है—

प्रत्ययार्थविषयं हि कर्मणाम्
उच्यते विविदिषेयुरित्यतः ।
न प्रकृत्यभिहितार्थवेदने
वेदवाचि विनियोगशासनम् ॥ ३३३ ॥

योजना—वेदवाचि विविदिषेयुः—इत्यतः कर्मणां विनियोगशासनं प्रत्ययार्थविषयम् उच्यते, प्रकृत्यभिहितार्थवेदने न ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—वेद में "विविदिषेयुः" आदि वाक्यों से कर्मों का विनियोग 'सन्' प्रत्यय के अर्थ (इच्छा) में किया जाता है, प्रकृति (विद्) के अर्थ (वेदन) में नहीं ॥

भावितार्थ—"यज्ञेन विविदिषन्ति" आदि स्थलों पर यज्ञ आदि कर्मों का विधान वेदन (ज्ञान) में नहीं कि यज्ञ आदि कर्म बहिरङ्ग न होकर अन्तरङ्ग हो जाते । यहाँ वेदन प्रकृत्यर्थ है और इच्छा 'सन्' प्रत्ययार्थ, अतः वेदन से प्रधान होने के कारण इच्छा में ही यज्ञ आदि का विधान माना जाता है ॥ ३३३ ॥

यहाँ वेदन को प्रधान नहीं माना जा सकता—

न प्रधानमपहाय वेदनेन
अन्वयं व्रजति कर्मसाधनम् ।
संगतिर्भवति वेदनेच्छया
वेदनेन न तु कर्मणां क्वचित् ॥ ३३४ ॥

न प्रधानमिह वेदनं भवेत्
प्रत्ययार्थविषयां प्रधानताम् ।
उत्ससर्ज भगवान्निरङ्कुशं
येन पाणिनिरलंघ्यशासनः ॥ ३३५ ॥

योजना—कर्मसाधनं प्रधानम् अपहाय वेदनेन अन्वयं न व्रजति, कर्मणां वेदनेच्छया संगतिः भवति, वेदनेन क्वचित् न । येन अलंघ्यशासनः भगवान् पाणिनिः प्रत्ययार्थविषयां प्रधानतां निरंकुशम् उत्ससर्ज ॥ (रथोद्धतावृत्ते) ॥

योजितार्थ—कर्मरूप साधन अपने प्रधान (इच्छा) को छोड़कर वेदनरूप गुण पदार्थ के साथ अन्वित नहीं हो सकता, कर्मों की वेदनेच्छा के साथ संगति होती है, वेदन के साथ कहीं भी नहीं । अलंघ्यशासन भगवान् पाणिनि ने प्रत्ययार्थ की प्रधानता का निरंकुशरूप से विधान किया है ॥

भावितार्थ—वैयाकरण आचार्यों ने प्रकृत्यर्थ को गुण और प्रत्ययार्थ को सर्वत्र प्रधान माना है, अतः यहाँ वेदनरूप प्रकृत्यर्थ की अपेक्षा सन् प्रत्ययार्थ इच्छा को ही प्रधान मानना होगा ॥ ३३४, ३३५ ॥

जहाँ सन् प्रत्ययार्थ की प्रधानता का कोई बाधक होता है, वहाँ प्रकृत्यर्थ को भी प्रधान मान लिया जाता है, किन्तु यहाँ कोई बाधक नहीं—

प्रत्यये सनि न चापवादकं
किंचिदप्युदितवानसौ मुनिः ।
येन तत्र गुणभावमुद्वहेत्
प्रत्ययाभिहितमर्थवस्तु नः ॥ ३३६ ॥

योजना—असौ मुनिः सनि प्रत्यये न किञ्चिद् अपि अपवादकं च उदितवान्, येन तत्र प्रत्ययाभिहितम् अर्थवस्तु गुणभावम् उद्वहेत् ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—महामुनि पाणिनि ने सन् प्रत्यय में हमें कोई अपवादक नहीं दिखाया कि यहाँ प्रत्ययार्थ गुण हो जाता ॥

भावितार्थ—"प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येन" यह नियम औत्सर्गिक है, जब तक इसका बाध न हो, तब तक प्रकृत्यर्थ को प्रधान नहीं माना जा सकता, प्रकृत में कोई ऐसा अपवादक उपलब्ध नहीं होता कि सन् प्रत्ययार्थ को प्रधान न मानकर प्रकृत्यर्थ वेदन को प्रधान मान लिया जाता ॥ ३३६ ॥

यदि शंका की जाय कि भगवान् पाणिनि ने "धातोः कर्मणः"–इस सूत्र में धात्वर्थ को सन् प्रत्ययार्थ का कर्म कहा है, कर्म प्रधान होता है, अतः धात्वर्थरूप वेदन को ही यहाँ प्रधान मानना चाहिए, तो उसका समाधान करते हैं—

धातोः कर्मण इत्युवाच भगवान्यत्पाणिनिस्तत्पुनः
धात्वर्थस्य निवेदयत्यभिमतं प्राधान्यमायुष्मतः ।
किन्त्वार्थं न तु शब्दगम्यमवदत्तेनापि तद्योक्ष्यते
नोत्सर्गस्य विना निमित्तमपरं संकोचनं युज्यते ॥ ३३७ ॥

योजना—यत् पुनः भगवान् पाणिनिः "धातोः कर्मणः" इति उवाच, तत् आयुष्मतः अभिमतं धात्वर्थस्य प्राधान्यं निवेदयति, किन्तु आर्थम्, न तु शब्दगम्यम् अवदत्, तेन अपि तत् योक्ष्यते, निमित्तं बिना अपरम् उत्सर्गस्य संकोचनं न युज्यते ॥ (शार्दूलवि०) ॥

योजितार्थ—जो भगवान् पाणिनि ने "धातोः कर्मणः" यहाँ कहा है, वह आपका अभीष्ट धात्वर्थगत प्राधान्य अवश्य सूचित करता है, किन्तु आर्थिक (प्राधान्य) ही कहा है, शाब्द नहीं, उससे भी वह युक्त (संगत) हो जायगा, अपवादक के बिना और कोई औत्सर्गिक नियम का संकोचक नहीं हो सकता ॥

भावितार्थ—शाब्दबोध में सभी पदार्थों का अपने प्रधान पदार्थ के साथ अन्वय हुआ करता है, हाँ, यह प्रधानत्व शाब्द विवक्षित है, आर्थिक नहीं, जैसे "राजपुरुषम् आनय"—यहाँ अर्थतः राजा प्रधान है और पुरुष गौण (अमुख्य) हैं, फिर भी आनयन आदि का राजा के साथ अन्वय नहीं होता, क्योंकि वहाँ शब्दतः प्राधान्य पुरुष का ही है,

अतः उसके साथ ही और पदार्थों का अन्वय होता है। "धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा"-इस सूत्र में धात्वर्थ को जो प्रधान बताया गया है, वह प्राधान्य आर्थिक है, शाब्द नहीं, अतः यज्ञ आदि पदार्थों का वेदनरूप धात्वर्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता, सन् प्रत्ययार्थ इच्छा ही शब्दतः प्रधान है, उसी के साथ यज्ञ आदि का अन्वय न्यायसंगत है ॥ ३३७ ॥

कथित अर्थ का ही स्पष्टीकरण करते हैं—

धातोः कर्मण इत्युदीरणमिदं साधारणं दृश्यते
शाब्दार्थत्वविशेषसूचकतया न ह्यत्र सूत्रे पदम् ।
धात्वर्थस्य तु कर्मतावचनमत्रोच्चारितं केवलं
तच्चार्थेऽप्युपपद्यमानमधुना नोत्सर्गपीडाकरम् ॥ ३३८ ॥

योजना—"धातोः कर्मणः"—इति साधारणम् उदीरणं दृश्यते, अत्र हि सूत्रे शब्दार्थत्वविशेषसूचकतया पदं न, अत्र केवलं धात्वर्थस्य कर्मतावचनम् उच्चारितम्, तत्तु आर्थेऽपि अधुना उपपद्यमानम्, उत्सर्गस्य पीडाकरं न ॥ (शार्दूल०) ॥

योजितार्थ—"धातोः कर्मणः" यह साधारण कथनमात्र देखा जाता है, इस सूत्र में शब्दार्थत्वविशेष का सूचक कोई पद नहीं अर्थात् इसमें केवल धात्वर्थ को कर्म कहा गया है, वह अर्थ-दृष्टि से भी बन जाता है, औत्सर्गिक धर्म का बाधक नहीं होता ॥ ३३८ ॥

शब्दतः इच्छा का ही प्राधान्य प्रकट होता है—

इच्छायामिति सूत्रकारवचनं प्राधान्यपक्षे भवेद्
इच्छार्थस्य समञ्जसं न खलु तत्सन्प्रत्ययार्थे गुणे ।
धात्वर्थे ननु सन् भवेदिति वदेदिच्छा गुणश्चेद्भवेद्
इच्छायामिति वक्ति तेन वदति प्राधान्यमिच्छागतम् ॥३३९॥

योजना—"इच्छायां सन्"-इति सूत्रकारवचनम् इच्छार्थस्य प्राधान्यपक्षे समञ्जसं भवेत्, सन् प्रत्ययार्थे गुणे खलु न। चेत् इच्छा गुणः भवेत्, "धात्वर्थे सन् भवेत्"—इति वदेत् ननु, इच्छायामिति वक्ति; तेन इच्छागतं प्राधान्यं वदति ॥ (शार्दूल०) ॥

योजितार्थ—"इच्छायां सन्" (पा० सू०)—यह सूत्रकार का वचन इच्छारूप अर्थ के प्राधान्य पक्ष में समञ्जस होता है, सन् प्रत्ययार्थ के गुण (अप्रधान) होनें पर नहीं। यदि इच्छा धात्वर्थ का गुण होती, तब "धात्वर्थे सन् भवेत्"—ऐसा सूत्रकार कहता, किन्तु "इच्छायाम्"—ऐसा कहता है; अतः इच्छा की प्रधानता बताता है ॥

भावितार्थ—प्रकृति और प्रत्यय मिलकर गुणभूत अर्थ से युक्त प्रधान अर्थ को कहते हैं, गुणभूत अर्थ को पृथक् नहीं, "इच्छायां सन्"—इस कथन से इच्छा में वाच्यत्व के कथन से शब्दतः उसी का प्राधान्य झलकता है। यदि इच्छा में गुणत्व और धात्वर्थ में प्रधानत्व सूत्रकार को अभिमत होता, तब सूत्रकार "धात्वर्थे सन्"—ऐसा सूत्र बनाता, किन्तु वह "इच्छायां सन्" कहता है, अतः इच्छा का प्राधान्य निर्विवाद सिद्ध है ॥३३९॥

अतः यज्ञादि बहिरंग ही सिद्ध होते हैं—

तस्मात्कर्म समस्तमेव तु भवेदिच्छाजनेः साधनं
शास्त्रेणोक्तमतः समस्तमपि तद्यत्नेन हेयं यतेः ।
द्रष्टव्यत्वमनूद्य साधनतया यत्तत्प्रतीचः श्रुतं
वेदान्तश्रवणादिकं भवति तत्कर्त्तव्यमावश्यकम् ॥ ३४० ॥

योजना—तस्मात् समस्तमेव कर्म इच्छाजनेः साधनं शास्त्रेण उक्तं भवेत्, अतः तत् समस्तमपि यतेः यत्नेन हेयम् । प्रतीचः द्रष्टव्यत्वम् अनूद्य यत् यत् साधनतया श्रुतं वेदान्तश्रवणादिकम्, तत् आवश्यकं कर्त्तव्यं भवति ॥ (शार्दूलवि०) ॥

योजितार्थ—समस्त कर्म इच्छा की उत्पत्ति का साधन शास्त्र में कहा गया है, अतः वह समस्त कर्म यति के लिए यत्नतः त्याज्य है। प्रत्यगात्मा की द्रष्टव्यता का अनुवाद करके जो-जो साधन श्रुत है—वेदान्त-श्रवणादि, वह अवश्य कर्त्तव्य होता है ॥

भावितार्थ—समस्त कर्मों का त्याग करके यति श्रवणादि अन्तरंग अंगों का अनुष्ठान करे, क्योंकि आत्मा "वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः" (बृह० २।४।५) आदि श्रुतियों में आत्मा की द्रष्टव्यता का अनुवाद करके दर्शन के साधनों के रूप में श्रवण आदि का विधान किया गया है, अतः शम-दम आदि निवृत्ति-धर्म का पालन करता हुआ संन्यासी ज्ञान के विरोधी यज्ञ आदि व्यापारों का परित्याग करे—यही समुचित और शास्त्र-सम्मत मार्ग है ॥ ३४० ॥

सभी साधनों का उपयोग बताते हैं—

वेदान्तवाक्यमिह कारणमात्मबोधे
हेत्वन्तराणि परिपन्थिनिवर्हणानि ।
यज्ञादिकानि दुरितं क्षपयन्ति बुद्धेः
तत्त्वंपदार्थविषयं तम उत्तराणि ॥ ३४१ ॥

योजना—इह वेदान्तवाक्यम् आत्मबोधे कारणम्, हेत्वन्तराणि परिपन्थिनिवर्हणानि यज्ञादिकानि बुद्धेः दुरितं क्षपयन्ति उत्तराणि तत्त्वंपदार्थविषयं तमः ॥ (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—इस (वेदान्त-सिद्धान्त) में वेदान्त-वाक्य आत्मज्ञान के उत्पादक माने जाते हैं और अन्य साधन प्रतिबन्धक के निवारक होते हैं—यज्ञादि (बहिरंग) अन्तःकरणगत पाप का नाश करते हैं तथा उत्तर (श्रवण आदि) अंग तत्त्वंपदार्थविषयक अज्ञान का ॥ ३४१ ॥

तत्त्वंपदार्थविषयक अज्ञान पर प्रकाश डालते हैं—

तत्त्वंपदार्थविषयं तम इत्यपीदम्
अर्वागवस्थजनदृष्टिमपेक्ष्य गीतम् ।
अज्ञानमुत्तमदृशां पुनरेकमेव
संसारमूलमपवर्गफला च विद्या ॥ ३४२ ॥

योजना—तत्त्वंपदार्थविषयं तमः—इतीदमपि अर्वागवस्थजनदृष्टिम् अपेक्ष्य गीतम्, उत्तमदृशां पुनः संसारमूलम् अज्ञानम् एकमेव, विद्या च अपवर्गफला ॥ (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—तत्त्वंपदार्थविषयक अज्ञान—यह स्थूल दृष्टि की अपेक्षा कहा है, सूक्ष्मदर्शी व्यक्तियों के लिए संसार का मूलभूत अज्ञान एक ही है और विद्या अपवर्गफलक होती है ॥

भावितार्थ—गत (३४१ वें) पद्य में जिन दो अज्ञानों का उल्लेख आता है, अर्थात् महावाक्य के द्वारा निरसनीय एक अज्ञान और श्रवणादि अन्तरंग साधनों से निराकरणीय दूसरा अज्ञान। वे दोनों वस्तुतः भिन्न नहीं, क्योंकि वेदान्त-सिद्धान्त में एक ही अज्ञान माना जाता है और उसका निवर्तक ज्ञान भी एक ही माना जाता है ॥ ३४२ ॥

यदि अज्ञान एक ही है, तब उसकी निवृत्ति महावाक्य से ही हो जायगी, श्रवण आदि का उपयोग क्या ? इस प्रश्न का उत्तर है—

अज्ञानसंशयविपर्ययरूपकाणि
ब्रह्मात्मबुद्धिजननप्रतिबन्धकानि ।
तत्त्वंपदार्थविषयाणि निवर्तयन्ति
ह्यावृत्तिमन्ति मननश्रवणादिकानि ॥ ३४३ ॥

योजना—आवृत्तिमन्ति मननश्रवणादिकानि तत्त्वंपदार्थविषयाणि अज्ञानसंशयविपर्ययरूपाणि ब्रह्मात्मबुद्धिजनकप्रतिबन्धकानि निवर्तयन्ति ॥ (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—बार-बार अनुष्ठित श्रवण-मनन आदि (अन्तरंग साधन) तत्त्वंपदार्थ-विषयक अज्ञान-संशय-विपर्ययरूप आत्मज्ञान-जनक के प्रतिबन्धकों को निवृत्त करते हैं ॥

भावितार्थ—वेदान्त-तात्पर्य विषयक अज्ञान तथा संशय आदि रूप प्रतिबन्धकों को श्रवण, प्रमेयादिगत असम्भावना को मनन और चित्त-चाञ्चल्यरूप प्रतिबन्धक को निदिध्यासन निवृत्त करता है ॥ ३४३ ॥

श्रवण और मनन का स्वरूप दिखाते हैं—

शब्दशक्तिविषयं निरूपणं
युक्तितः श्रवणमुच्यते बुधैः ।
वस्तुवृत्तविषयं निरूपणं
युक्तितो मननमित्युदीर्यते ॥ ३४४ ॥

योजना—युक्तितः शब्दशक्तिविषयं निरूपणं बुधैः श्रवणम् उच्यते, युक्तितः वस्तुवृत्तविषयं निरूपणं मननम्—इति उदीर्यते ॥ (रथोद्धता) ।

योजितार्थ–युक्तियों से शब्द-शक्ति विषयक निरूपण को विद्वान् श्रवण और युक्तियों के द्वारा (तत्त्वंपद-लक्ष्य) वस्तु के एकतारूप वृत्त के निरूपण को मनन कहा करते हैं ॥

भावितार्थ–युक्तियों के द्वारा ब्रह्म में श्रुतियों के तात्पर्य का अवधारण श्रवण कहलाता है एवं ब्रह्मात्माभेदरूप वस्तु का युक्तियों से स्थिरीकरण मनन कहलाता है ॥ ३४४ ॥

निदिध्यासन का स्वरूप दिखाते हैं—

चेतसस्तु चितिमात्रशेषता
ध्यानमित्यभिवदन्ति वैदिकाः ।
अन्तरङ्गमिदमित्थमीरितं
तत्कुरुष्व परमात्मबुद्धये ॥ ३४५ ॥

योजना—चेतसः चितिमात्रशेषता तु वैदिकाः ध्यानम्—इति अभिवदन्ति । इत्थम् इदम् अन्तरंगम्, उदीरितम् तत् परमात्मबुद्धये कुरुष्व ।। (रथोद्धता) ।।

योजितार्थ—चित्त की चैतन्यैकरसता के रूप में स्थिति को वैदिकगण ध्यान कहा करते हैं। इस प्रकार यह अन्तरंग साधन-वर्ग कहा गया, हे शिष्य ! उसका परमात्म-बोध के लिए अनुष्ठान कर ।। ३४५ ।।

निदिध्यासन का ही रूपान्तर दिखाते हैं—

श्रवणमननबुद्ध्योर्जातयोर्यत्फलं तत्
निपुणमतिभिरुच्चैरुच्यते दर्शनाय ।
अनुभवनविहीना यैवमेवेति बुद्धिः
श्रुतिमननसमाप्तौ तन्निदिध्यासनं हि ।। ३४६ ।।

योजना-श्रवणमननबुद्ध्योः जातयोः यत् फलम्, तत् निपुणमतिभिः दर्शनाय उच्चैः उच्यते, श्रुतमननसमाप्तौ या इयम् एव अनुभवनविहीना बुद्धिः, तत् हि निदिध्यासनम् ।। (मालिनी) ।।

योजितार्थ—श्रवण-मनन बुद्धियों के उत्पन्न होने पर जो फल होता है, उसे निपुण आचार्य आत्मदर्शन का निमित्त उद्घोषित करते हैं अर्थात् श्रवण और मनन के समाप्त होने पर जो यह आत्मसाक्षात्कार से भिन्न बुद्धि उत्पन्न होती है, वही निदिध्यासन है ।।

भावितार्थ–"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः" (बृह० २।४।५) इस श्रुति में श्रवण से मनन, मनन से निदिध्यासन और निदिध्यासन से आत्मदर्शन बताया गया है, अतः निदिध्यासन उस बुद्धि का नाम स्थिर होता है, जो श्रवण और मनन से उत्पन्न होकर आत्मदर्शन को जन्म दे ।। ३४६ ।।

फलित अर्थ दिखाते हैं—

पूर्वाण्यदृष्टपरिपन्थिनिबर्हणानि
दृष्टं हरन्ति च विरोधिनमुत्तराणि ।
वाक्यं निरस्तसकलप्रतिबन्धकं सद्
आत्मानमद्वयमखण्डमबुद्धमाह ।। ३४७ ।।

योजना-पूर्वाणि अदृष्टपरिपन्थिनिबर्हणानि, उत्तराणि च दृष्टं विरोधिनं हरन्ति वाक्यं निरस्तसकलप्रतिबन्धकं सत् अद्वयम् अखण्डम् अबुद्धम् आत्मानम् आह ।। (वसन्त०) ।।

योजितार्थ—पूर्व (बहिरंग) साधन अदृष्टरूप प्रतिबन्धक के निवारक होवे हैं, उत्तर (अन्तरंग) साधन दृष्ट प्रतिबन्धक का अपहरण करते हैं और महावाक्य समस्त प्रतिबन्धकों से रहित होकर अद्वय, अखण्ड, अज्ञात आत्मा को कहता है ।। ३४७ ।।

ज्ञान इसी जन्म में होता है ? या जन्मान्तर में ? इस सन्देह का समाधान है—

यज्ञादिक्षपितसमस्तकल्मषाणां
पुत्रादित्रयगतसंगवर्जितानाम् ।
संशुद्धे पदयुगलार्थतत्त्वमार्गे
प्रायेणोद्भवति हि जन्मनीह विद्या ।। ३४८ ।।

योजना—यज्ञादिक्षपितसमस्तकल्मषाणां पुत्रादित्रयगतसंगविवर्जितानां पदयुगलार्थतत्त्वमार्गे संशुद्धे प्रायेण इह हि जन्मनि विद्या उद्भवति ॥ (प्रहर्षिणी) ॥

योजितार्थ—यज्ञादि के द्वारा जिनके पाप निवृत्त हो गये हैं, पुत्रैषणादि एषणात्रय से जो रहित हैं, ऐसे पुरुषों को तत्त्वम्पदार्थों का शोधन कर लेने पर प्रायः इसी जन्म में ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥ ३४८ ॥

प्रायः कथन को स्पष्ट करते हैं—

अत्रैव जन्मनि भवेदपवर्गदायि
वाक्यप्रसूतमनुभूतिफलावसानम् ।
ज्ञानं निवारकनिमित्तवशादमुष्मिन्
जन्मन्यपीति वचनादवगम्यते हि ॥ ३४९ ॥

योजना—अत्रैव जन्मनि वाक्यप्रसूतम् अनुभूतिफलावसानम् अपवर्गदायि ज्ञानं भवेत्, निवारकनिमित्तवशात् अमुष्मिन् जन्मनि अपि—इति वचनात् अवगम्यते हि ॥ (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—इसी जन्म में महावाक्य-प्रसूत, अनुभूतिफलक, अपवर्गदायक ज्ञान होता है, प्रतिबन्धकरूप निमित्त के वश दूसरे जन्म में भी होता है—ऐसा (वक्ष्यमाण) वचन से जाना जाता है ॥ ३४९ ॥

वह वचन ही दिखाते हैं—

ज्ञानोत्पत्तिं वामदेवस्य गर्भे
श्रुत्वा विद्मः साधनं प्राच्यमस्य ।
योगभ्रष्टस्मृत्यवष्टम्भतोऽपि
विज्ञातव्यं साधनं प्राच्यमस्य ॥ ३५० ॥

योजना—गर्भे वामदेवस्य ज्ञानोत्पत्तिं श्रुत्वा अस्य प्राच्यं साधनं विद्मः, योगभ्रष्टस्मृत्यवष्टम्भतोऽपि अस्य प्राच्यं साधनं विज्ञातव्यम् ॥ (शालिनी) ॥

योजितार्थ—गर्भ में ही वामदेव को ज्ञानोत्पत्ति की श्रुति में चर्चा सुनकर इस (वामदेव) के पूर्व जन्म में सम्पादित साधनों की कल्पना हम कर लेते हैं, योग-भ्रष्ट विषयक (गी० ६।४१) स्मृति के आधार पर भी इस (वामदेव) के पूर्वजन्म के साधनों को जान लेना चाहिए ॥

भावितार्थ—श्रुति कहती है–"गर्भे एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच" (ऐत० ५।४) अर्थात् गर्भ में ही लेटे-लेटे वामदेव ने यह कहा कि मैं ही सब कुछ हूँ। गर्भ में तो ज्ञान के साधनों का अनुष्ठान हो नहीं सकता, अतः गर्भ में वामदेव को उसके पूर्वजन्म के साधनों के बल पर ही ज्ञान हुआ—यह मानना पड़ेगा। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि किसी प्रबल प्रतिबन्धक के आ जाने पर उसी जन्म में ज्ञान न होकर जन्मान्तर में भी होता है। भगवद्गीता (६।४१) का "योगभ्रष्टोऽभिजायते"—यह वाक्य भी उसी सिद्धान्त को पुष्ट करता है ॥ ३५० ॥

जैसे दृष्टफलक "कारीरी" आदि कर्मों का फल इस जन्म में ही होता है, वैसे ही श्रवण आदि भी दृष्टफलक हैं, तब इनका भी जन्मान्तर में फल कैसे हो सकेगा ? इस सन्देह का समाधान है—

चित्रादिवद्भवति साधनजातमस्य
ज्ञानप्रसूतिकरमित्यवगच्छ सर्वम् ।
अभ्यग्रशुष्यदखिलौषधिकस्य पुंसो
वृष्टिप्रदेष्टिरधिकारवशादिहैव ॥ ३५१ ॥

योजना-अस्य ज्ञानप्रसूतिकरं सर्वं साधनजातं चित्रदिवत् भवति—इति अवगच्छ, *अभ्यग्रशुष्यदखिलौषधिकस्य पुंसः इष्टिः अधिकारवशात् इहैव वृष्टिप्रदा ॥ (वसन्त०) ॥

योजितार्थ—इस (ज्ञान के अधिकारी पुरुष) का समस्त साधन-समूह "चित्रा" इष्टि के समान (अनियतफलक) होता है—ऐसा समझो, इसी समय जिसकी खेती सूख रही है, उस पुरुष की कारीरी इष्टि तो अधिकार-वश इसी समय वृष्टिरूप फल को देती है।

भावितार्थ—'कारीरी' इष्टि भी दृष्टफलक है और श्रवण आदि भी, किन्तु दोनों में यह महान् अन्तर है कि कारीरी तो इसी जन्म में वृष्टि फल को कामना से की जाती है, परन्तु श्रवण आदि इसी जन्म में ज्ञान की कामना से विहित नहीं, अपितु केवल ज्ञान के उद्देश्य से वैसे ही उनका विधान है, जैसे पशुरूप फल के उद्देश्य से "चित्रा" इष्टि का, अतः "कारीरी" इष्टि का फल इसी जन्म में होना उचित है, परन्तु श्रवण आदि के लिए ऐसा नियम नहीं हो सकता। जैसे "चित्रा" इष्टि का फल इस जन्म में भी होता है, किसी प्रतिबन्धक के आ जाने पर जन्मान्तर में, वैसे ही "श्रवण" आदि का भी फल होता है ॥ ३५१ ॥

अन्तरंग, बहिरंग साधनों की एक और विशेषता दिखाते हैं—

बहिरंगसाधनमशेषगुरोः
परमेश्वरस्य चरणाम्बुजयोः ।
नियमात्समर्पितमशेषमघं
विनिहन्ति बुद्धिनिलयं सुमहत् ॥ ३५२ ॥
न तथान्तरंगमुपलब्धिजनेः
उपकारकं शमदमप्रभृति ।
तदनुष्ठितं परमहंसजनैः
परमात्मतत्त्वमुपलम्भयति ॥ ३५३ ॥

योजना—अशेषगुरोः परमेश्वरस्य चरणाम्बुजयोः नियमात् समर्पितं बहिरंगसाधनं बुद्धिनिलयम् सुमहत् अशेषम् अघं विनिहन्ति। तथा उपलब्धिजनेः उपकारकं शमदमप्रभृति अन्तरंगं न, तत् परमहंसैः अनुष्ठितं परमात्मतत्त्वम् उपलम्भयति ॥ (प्रमिताक्षरावृत्ते) ॥

योजितार्थ-अशेषगुरु परमेश्वर के चरणकमलों में नियमतः समर्पित (यज्ञादि) बहिरंग साधन बुद्धिगत महान् पाप को विनष्ट कर देता है। वैसा ज्ञान-जन्म के उपकारक

---

* अभ्यग्रं साम्प्रतं शुष्यन्त्यखिलौषधयो यस्य तथोक्तस्य पुंस इत्यर्थः।

शम-दम आदि अन्तरंग नहीं, वे तो विरक्तजनों से अनुष्ठित होकर ही परमात्मतत्त्व के बोधक होते हैं ।।

भावितार्थ—विविदिषा के साधनभूत यज्ञ आदि के लिए ईश्वरार्पण आवश्यक है, ज्ञान के साधन श्रवण आदि के लिए नहीं—यह दोनों अंगों में महान् अन्तर है ।।३५२-३५३।।

उक्त अन्तर-दर्शन में प्रमाण दिखाते हैं—

भगवाननादिनिधनः कृपया
हरिरेतदाह जगदेकहितः ।
सकलं समर्प्य मयि युक्तमनाः
कुरु कर्म शुद्धिकरमित्यसकृत् ।। ३५४ ।।

न तथान्तरंगफलसंन्यसनं
क्वचिदूचिवानत इदं विदितम् ।
अनपेक्ष्य तत्फलपरित्यजनं
परमात्मनिश्चयफलं तदिति ।। ३५५ ।।

योजना—अनादिनिधनः जगदेकहितः भगवान् हरिरेव कृपया असकृत् आह—"शुद्धिकरं तत् सकलं कर्म मयि युक्तमनाः समर्प्य कुरु"। तथा अन्तरङ्ग-फल-संन्यसनं क्वचित् न ऊचिवान्, अत. इति विदितम्—तत्फलपरित्यजनम् अनपेक्ष्य तत् परमात्मनिश्चयफलमिति ।। (प्रमिताक्षरावृत्ते) ।।

योजितार्थ—आदि-अन्त से रहित, जगत् के एकमात्र हितैषी भगवान् हरि ने ही कृपा करके बार-बार कहा है कि अन्तःकरण-शुद्धि के साधन उन निखिल कर्मों का मेरे चरणों में युक्तमनस्क होकर समर्पण करते हुए अनुष्ठान करो । वैसा अन्तरङ्ग साधनों के फल का परित्याग कहीं नहीं कहा है, अतः यह जाना जाता है कि वह (अन्तरङ्ग साधन) अपने फल के परित्याग की अपेक्षा न करके ही ब्रह्म-ज्ञान रूप फल को जन्म देता है ।।

भावितार्थ—भगवान् ने गीता में "मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य" (गी० ३।३०) आदि वाक्यों से बहिरङ्ग साधनों का समर्पण जैसा कहा है, वैसा श्रवण आदि के लिए कहीं नहीं कहा, अतः उक्त अन्तर सुस्थिर किया गया है ।। ३५४-३५५ ।।

युक्ति से भी वही सिद्ध होता है—

अपि च बन्धनहेतुतया श्रुतं
समसमीक्षणकौशलशालिनः ।
भवति शुद्धिकरं न च बन्धकृद्
भवति कर्म तथा घटते हि तत् ।। ३५६ ।।

यदिह साधनमात्मधियः श्रुतं
न च फलान्तरहेतुतया श्रुतम् ।
शमदमादिकमत्र तु कौशलं
किमपि काङ्क्षितमस्ति न सिद्धये ।। ३५७ ।।

योजना—अपि च बन्धनहेतुतया श्रुतं कर्म [1]समसमीक्षणकौशलशालिनः शुद्धिकरं भवति, बन्धकृत् न च भवति, तत् तथा घटते। यत् इह आत्मधियः साधनं श्रुतम्, फलान्तरहेतुतया न श्रुतं शमदमादिकम्, अत्र तु सिद्धये किमपि कौशलं न कांक्षितम् अस्ति ॥ (द्रुतविलम्बिते) ॥

योजितार्थ—दूसरी बात यह है कि बन्धन-हेतुत्व रूप से श्रुत यज्ञादि कर्म ब्रह्म-दर्श में कुशल व्यक्ति के अन्तःकरण का शुद्धिकर होता है, बन्धकर नहीं होता, वह वैसा घट जाता है। किन्तु जो यहाँ आत्मज्ञान का साधन सुना गया है, फलान्तर का हेतु नहीं सुना गया शम दम आदि, इसमें फलोत्पत्ति के लिए किसी भी कौशल की अपेक्षा नहीं है ॥

भावितार्थ—यज्ञादि कर्म स्वभावतः बन्धन के हेतु हैं, भगवान् के चरणों में समर्पित होकर ही शुद्धि के जनक होते हैं, किन्तु श्रवणादि स्वभावतः ही ज्ञान के सम्पादक हैं, उन्हें ईश्वरार्पण की अपेक्षा क्यों होगी ? ॥ ३५६-३५७ ॥

साधन-निरूपण का उपसंहार करते हैं—

उक्तं साधनजातमत्र सकलं विद्यासमुत्पत्तये
यस्मिन् कर्मणि वैदिकेन विधिना नुन्नः परिव्राजकः ।
कर्तृत्वाद्युपमर्दनेन भवता विद्यानुकूलात्मना
कर्त्तव्यं तदशेषतस्तदनु ते विद्या विपाकं व्रजेत् ॥ ३५८ ॥

योजना—अत्र विद्यासमुत्पत्तये सकलं साधनजातम् उक्तम्, यस्मिन् कर्मणि वैदिकेन विधिना परिव्राजकः नुन्नः, तत् कर्तृत्वाद्युपमर्दनेन विद्यानुकूलात्मना भवता अशेषतः कर्त्तव्यम्, तदनु ते विद्या विपाकं व्रजेत् ॥ (शार्दूलविक्रीडितम्) ॥

योजितार्थ—इस (तृतीय अध्याय) में ज्ञान की उत्पत्ति के लिए सकल साधन-समूह कह दिया गया है, जिस (अन्तरंग साधनरूप) कर्म में वैदिक विधि के द्वारा परिव्राजक प्रवृत्त किया गया है, वह कर्तृत्वादि का उपमर्दन और ज्ञान के अनुकूल अधिकार का लाभ करते हुए आपका सर्वथा कर्त्तव्य है, तदनन्तर तुम्हें विद्या का फल मिलेगा ॥ ३५८ ॥

श्रवणादि में केवल परिव्राजक का ही अधिकार नहीं, अपितु औरों का भी है—

वानप्रस्थगृहस्थनैष्ठिकजनैरन्यैश्च वर्णाश्रमैः
कर्मव्यध्वनिषेवितं भवति वै जन्मान्तरे पाचकम् ।
विद्यायाः श्रवणादिलक्षणमिदं न ह्येतदेषां क्वचित्
शास्त्रेण प्रतिषिद्धमीक्षितमिदं शूद्रस्य दृष्टं यथा ॥ ३५९ ॥

योजना—वानप्रस्थगृहस्थनैष्ठिकजनैः अन्यैः, वर्णाश्रमैः च [2]कर्मव्यध्वनिषेवितम् इदं श्रवणादिलक्षणम् जन्मान्तरे विद्यायाः पाचकं भवति वै, एषां हि एतत् क्वचित् शास्त्रेण प्रतिषिद्धं न ईक्षितम्, यथा इदं शूद्रस्य दृष्टम् ॥ (शार्दूल०) ॥

योजितार्थ—वानप्रस्थ, गृहस्थ, नैष्ठिकजनों एवं अन्य वर्णाश्रमस्थ पुरुषों के द्वारा

---

[1] समस्य ब्रह्मणः समीक्षणं ज्ञानम्, तस्मिन् यत् कौशलम् ईश्वरार्पणम्, तच्छालिनः पुंस इत्यर्थः ।

[2] कर्मव्यध्वेषु कर्मच्छिद्रेषु आवश्यककर्मरहितावकाशेपु निषेवितमित्यर्थः ।

कर्म के अवकाश काल में अनुष्ठित वे श्रवणादि साधन जन्मान्तर में ज्ञान के पाचक होते हैं, क्योंकि इनके लिए यह (श्रवणादि) कहीं भी शास्त्र के द्वारा प्रतिषिद्ध नहीं देखे जाते, जैसे कि यह प्रतिषेध शूद्र के लिए देखा गया है ॥

भावितार्थ—श्रवणादि अन्तरंग साधनों के अनुष्ठान में केवल परिव्राजक का ही अधिकार नहीं, अपितु त्रैवर्णिकमात्र का अधिकार है, केवल शूद्र को अधिकार नहीं; क्योंकि उसके लिए पूर्ण वेद-श्रवण का ही निषेध किया गया है। यद्यपि गृहस्थादि अपने-अपने आश्रम धर्मों के करने में व्यस्त रहते हैं, तथापि जब कभी अवकाश मिले; तब श्रवणादि का अनुष्ठान किया जा सकता है, इससे जन्मान्तर में विद्या सुलभ हो जाती है ॥३५९॥

संन्यासी प्रायः इसी जन्म में मुक्त हो जाता है—

सर्वश्रुतिस्मृतिवचोभिरयं परिव्राड्
मुण्डः शुचिः परमहंस इति प्रसिद्धः ।
ज्ञानाय साधनधनेषु नियुज्यमानः
प्रायेण बुद्धिपरिपाकमवाप्स्यतीह ॥ ३६० ॥

योजना—सर्वश्रुतिस्मृतिवचोभिः ज्ञानाय साधनधनेषु नियुज्यमानः अयं परिव्राट्, मुण्डः, शुचिः, परमहंसः इति प्रसिद्धः प्रायेण इह बुद्धिपरिपाकम् अवाप्स्यति ॥ (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—समस्त श्रुति-स्मृति-वचनों के द्वारा ज्ञान के लिए साधनानुष्ठान में नियुज्यमान यह परिव्राट्, मुण्ड, शुचि, परमहंस आदि नामों से प्रसिद्ध संन्यासी प्रायः इसी जन्म में ज्ञान का फल (मुक्ति) प्राप्त कर लेता है ॥ ३६० ॥

पूर्वजन्म में संन्यासी रह कर यदि श्रवणादि का अनुष्ठान कर चुका है, किसी प्रबल प्रतिबन्धक के कारण तत्त्वज्ञान का लाभ नहीं कर सका था, तब वह दूसरा जन्म लेकर किसी भी आश्रम में ज्ञान प्राप्त कर लेता है—

जन्मान्तरेषु यदि साधनजातमासीत्
संन्यासपूर्वकमिदं श्रवणादिरूपम् ।
विद्यामवाप्स्यति जनः सकलोऽपि यत्र
तत्राऽऽश्रमादिषु वसन्न निवारयामः ॥ ३६१ ॥

योजना—यदि जन्मान्तरेषु संन्यासपूर्वकम् इदं श्रवणादिरूपं साधनजातम् आसीत्, (तदा) सकलोऽपि जनः यत्र तत्र आश्रमादिषु वसन् विद्याम् अवाप्स्यति, न निवारयामः ॥ (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—यदि जन्मान्तर में संन्यास लेकर यह श्रवण आदि साधनवर्ग सम्पादित कर लिया गया था, तब तो ऐसे सभी मनुष्य जिस-किसी भी आश्रम में रहकर ज्ञान की अवाप्ति कर लेंगे, उसे हम नहीं हटाते ॥ ३६१ ॥

ज्ञान के साधनानुष्ठान में संन्यास का नियम दिखाने के लिए मुण्डक (३।२।६) श्रुति का प्रमाण देते हैं—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ३६२ ॥

योजना—(ये) शुद्धसत्त्वाः संन्यासयोगात् वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः यतयः, ते सर्वे परान्तकाले ब्रह्मलोकेषु परामृताः परिमुच्यन्ति ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ—शुद्ध हृदय के जिन पुरुषों ने संन्यास लेकर वेदान्त-विचार के द्वारा परमार्थ तत्त्व का निश्चय कर लिया है, वे सभी यतिगण महाप्रलय के समय ब्रह्मलोक में ही परम अमृत (कैवल्य) का लाभ करके विदेह मुक्त हो जाते हैं ॥ ३६२ ॥

इसी अर्थ में इतिहास-प्रमाण देते हैं—

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं
यथैकता समता सत्यता च ।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं
ततः ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥ ३६३ ॥

योजना—एतादृशं ब्रह्मणस्य वित्तं नास्ति, यथा एकता, समता, सत्यता, शीलम्, स्थितिः, दण्डनिधानम्, आर्जवम्, ततस्ततः क्रियाभ्यः उपरमश्च ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ—ऐसा ब्राह्मण का और धन नहीं, जैसा कि एकता (निःसहायता), समता, सत्यता, सदाचरण, मर्यादापालन, अभय-दान, आर्जव और काम्यादि कर्मों से उपरति ॥ ३६३ ॥

सर्वक्रिया-उपरति का फल दिखाते हैं—

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते ।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥ ३६४ ॥

योजना—यतो यतो निवर्तते, ततः ततो विमुच्यते, सर्वतः निवर्तनात् हि अणु अपि दुःखं न वेत्ति ॥ (अनुष्टुप्) ॥

योजितार्थ—जिस-जिस क्रिया से निवृत्त होता जाता है, उस-उस से विमुक्त हो जाता है, समस्त क्रियाओं से निवृत्त हो जाने पर अणुमात्र भी दुःख का अनुभव नहीं करता ॥ ३६४ ॥

वैराग्य-जनक वचन उद्धृत करते हैं—

किं ते धनेन किमु बन्धुभिरेव वा ते
किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि ।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं
पितामहास्ते क्व गताः पिता च ॥ ३६५ ॥

योजना—ब्राह्मण ! यो मरिष्यसि ते धनेन किम् ? ते बन्धुभिः वा किमु ? ते दारैः किम् ? गुहां प्रविष्टम् आत्मानम अन्विच्छ, ते पितामाहः क्व गताः ? पिता च ॥ (उपजाति) ॥

योजितार्थ—हे ब्राह्मण ! तू शीघ्र ही मर जायगा, तेरे धन से क्या होगा ? तेरे बन्धवर्ग से क्या लाभ ? तेरी स्त्रियाँ क्या करेंगी ? बुद्धिरूप गुहा में छिपे उस आत्म-तत्त्व की खोज कर, देख ! तेरे पितामह कहाँ गये ? पिता कहां गया ? ॥ ३६५ ॥

चतुर्विध पुरुषार्थ का कारण दिखाते हैं—

अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च
कामस्य रूपं च वयो वपुश्च ।
धर्मस्य यागादि दया दमश्च
मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियाभ्यः ॥ ३६६ ॥

इति श्रीसुरेश्वराचार्यपूज्यपादशिष्यश्रीसर्वज्ञात्ममुनेः
कृतौ शारीरकमीमांसाभाष्यप्रकरण-
वार्तिके संक्षेपशारीरके
तृतीयोऽध्यायः

योजना—अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च, कामस्य रूपं वयो वपुश्च, धर्मस्य यागादि दया दमश्च, मोक्षस्य क्रियाभ्यः सर्वोपरमः ॥ (इन्द्रवज्रा) ॥

योजितार्थ—अर्थ का मूल छल और सहिष्णुता, काम का रूप यौवन और सुन्दर शरीर, धर्म का यागादि, दया और दम, मोक्ष का समस्त क्रियाओं से उपरति ॥

भावितार्थ—अर्थ का उपार्जन करने के लिए छल-बल और सहिष्णुता का सहारा लेना पड़ता है । काम की पूर्ति के लिए सुन्दर रूप, भरी जवानी तथा कांचन कलेवर चाहिए । धर्म कमाने के लिए यागादि, दया एवं दम का अनुष्ठान करना अपेक्षित है । मोक्ष के लिए एक ही मार्ग है, वह है—समस्त क्रियाओं से निवृत्ति ॥ ३६६ ॥

तृतीयनेत्रप्रतिपन्नमञ्जसा
विनाशितस्वान्तगकामकिल्बिषम् ।
नमामि मे मञ्जुलमंगलप्रदं
सनातनं ज्योतिरजिह्मजीवितम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीसुन्दरदासोदासीन-
पूज्यपादशिष्यश्रीमद्रामानन्दोदासीनविरचितायां
संक्षेपशारीरकभाषाव्याख्यायां
तृतीयोऽध्यायः ॥

◆

❀ चतुर्थोऽध्यायः ❀

सद्यःसमुत्सारितभस्मघस्मरं
समस्तसाधनसाध्यमद्भुतम् ।
तुरीयतत्त्वं चिरलिप्सितं सितं
प्रपद्यते सम्प्रति साम्बशाम्भवम् ॥

[फलजिज्ञासा]

पूर्व अध्याय में कथित समस्त साधनों से संसिद्ध महावाक्य-जन्य बोध से कैसी फल-निष्पत्ति होती है, यह शिष्य पूछता है—

उक्तसाधनसमुद्भवा सती
किं प्रयच्छति फलं मुमुक्षवे ।
प्रत्यगात्ममतिरत्र मे मन-
स्यर्थिता समुपजायतेऽधुना ॥ १ ॥

योजना—उक्तसाधनसमुद्भवा सती प्रत्यगात्ममतिः मुमुक्षवे किं फलं प्रयच्छति, अत्र अधुना मे मनसि अर्थिता समुपजायते ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—उक्त साधनों से समुद्भूत होकर प्रत्यगात्म-बुद्धि मुमुक्षु को क्या फल देती है, इस विषय की मेरे मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई है ॥

भावितार्थ— श्रवण आदि साधनों का जो फल बताया गया--ब्रह्मज्ञान, उसके विषय में जिज्ञासा होती है कि ब्रह्मज्ञानरूप फल क्या और फलों के समान जन्य है ? या कूटस्थरूप ? ॥ १ ॥

सहकारी कारण के विषय में भी जिज्ञासा होती है—

किं निरस्तसहकारिकारणा
केवलैव फलमर्पयेन्मतिः ।
बाह्यसाधनसहायसंपदा
वान्विता फलविधायिनी भवेत् ॥ २ ॥

योजना—किं निरस्तसहकारिकारणा केवला एव मतिः फलम् अर्पयेत् ? वा बाह्यसाधनसहायसम्पदा अन्विता फलदायिनी भवेत् ? (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—क्या समस्त सहकारी कारणों से रहित होकर अकेली ही प्रत्यगात्मबुद्धि फल देगी ? या बाह्य साधनों की सहायतारूप सम्पत्ति से युक्त होकर फलदायिनी होगी ? ॥ २ ॥

आचार्य अधिक प्रश्नों से ऊब न जाय, इसलिए शिष्य नम्र निवेदन करता है—

एतदप्यहमवैतुमुत्सहे निर्णयं कुरु कृपाविधेयधीः ।
एतदेव हि दयालुलक्षणं यद्विनेयजनबुद्धिवर्धनम् ॥ ३ ॥

योजना–एतदपि अवैतुम् अहम् उत्सहे, कृपाविधेयधीः निर्णय कुरु । एतदेव दयालुलक्षणम्, यद् विनेयजनबुद्धिवर्धनम् ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ–इसे भी जानने के लिए मैं उत्सुक हूँ, कृपया निर्णय कीजिए । यही दयालुओं का लक्षण है कि शिष्य जनों के बोध को बढ़ाना ॥ ३ ॥

गुरु प्रथम प्रश्न का उत्तर देता है—

उच्यते न तमसो निवृत्तितः
किंचिदस्ति परमात्मधीफलम् ।
अन्यदल्पमपि साधनान्तरं
न व्यपेक्ष्य फलदायिनी च धीः ॥ ४ ॥

योजना—उच्यते तमसो निवृत्तितः अन्यत् किञ्चिद् अल्पम् अपि परमात्मधीफलं नास्ति, धीः हि साधनान्तरं व्यपेक्ष्य च फलदायिनी न ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ–अज्ञान की निवृत्ति से भिन्न कुछ भी परमात्मज्ञान का फल नहीं, क्योंकि आत्मज्ञान अन्य साधन की सहायता से फल नहीं देता ॥

भावितार्थ–अविद्या-निवृत्तिमात्र ही विद्या का फल प्रसिद्ध है, अतः अज्ञान-बाधन के अतिरिक्त कुछ भी उत्पाद्य, आप्य, संस्कार्य या विकार्य फल यहाँ नहीं माना जाता ॥ ४ ॥

द्वितीय प्रश्न का उत्तर है—

शुक्तिकाविषयबुद्धिजन्मनः
शुक्तिकागततमोनिवृत्तितः ।
नापरं किमपि दृश्यते फलं
नापरं च सहकारि कारणम् ॥ ५ ॥

योजना—शुक्तिकाविषयबुद्धिजन्मतः शुक्तिकागततमोनिवृत्तितः अपरं किमपि फलं न दृश्यते, अपरं सहकारि कारणं च न (दृश्यते) ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—शुक्तिकाविषयक बुद्धि-जन्म से शुक्तिकागत तम की निवृत्ति को छोड़ कर अन्य कुछ भी फल नहीं देखा जाता और न अन्य कोई सहकारी कारण ही देखा जाता है ।

भावितार्थ—शुक्तिगत अज्ञानमात्र की निवृत्ति शुक्ति के ज्ञान से देखी जाती है, वहाँ शुक्ति के ज्ञान का और कोई सहायक कारण भी नहीं देखा जाता, अतः अकेला ज्ञान ही अज्ञान का निवर्त्तक माना जाता है ॥ ५ ॥

लौकिक दृष्टान्त में व्याप्ति दिखाकर अभिमत पक्ष में साध्य सिद्ध करते हैं—

एवमात्मनि तमोनिवृत्तितो
नान्यदस्ति परमात्मधीफलम् ।
नाप्यपेक्ष्य सहकारि कारणं
किंचिदात्ममतिरर्पयेत्फलम् ॥ ६ ॥

योजना—एवम् आत्मनि तमोनिवृत्तितः अन्यत् परमात्मधीफलं नास्ति, नापि किञ्चित् सहकारिकारणम् अपेक्ष्य आत्ममतिः फलम् अर्पयेत् ।। (रथोद्धता) ।।

योजितार्थ—इसी प्रकार आत्मा में अज्ञान-निवृत्ति से भिन्न परमात्मबोध का और फल नहीं है और न किसी सहकारी कारण की अपेक्षा करके ही आत्मज्ञान अपने फल का समर्पण करता है ।। ६ ।।

प्राणादि-विद्या के समान ही ब्रह्मविद्या को प्रमाण रूप नहीं माना जा सकता, फिर उससे अज्ञान की निवृत्ति कैसे होगी ? इस शंका का समाधान है—

ब्रह्मज्ञानं प्रमाणं भवति दृढमिदं नात्र कश्चिद्विवादो
ब्रह्मात्मा चैकरूपो न च बहुरसकस्तत्परत्वात् श्रुतीनाम् ।
एवं सत्यद्वयात्मप्रमितिफलमिह द्वैतमूलापनुत्तिः
न ह्यज्ञानापनुत्तेरधिकमपि फलं किंचिदस्ति प्रमाणात् ॥ ७ ॥

योजना—ब्रह्मज्ञानं प्रमाणं भवति—इदं दृढम्, अत्र कश्चित् विवदो न । ब्रह्मात्मा च एकरूपः बहुरसकः न, श्रुतीनां तत्परत्वात्, एवं सति इह अद्वयात्मप्रतीतिफलं द्वैतमूलापनुत्तिः, प्रमाणात् अज्ञानापनुतेः अधिकं किञ्चित् फलं नास्ति ।। (स्रग्धरा) ।।

योजितार्थ—ब्रह्मज्ञान प्रमाण होता है—यह सुदृढ़ है, इसमें कोई विवाद नहीं । ब्रह्मात्मा एक रूप होता है, बहुरूप नहीं, क्योंकि सभी श्रुतियाँ तत्परक हैं, इस प्रकार यहाँ अद्वयात्मबोध का फल द्वैत के मूलभूत अज्ञान का नाश ही है, प्रमाणज्ञान से अज्ञानापनोदन से अधिक कुछ भी फल नहीं होता ।।

भावितार्थ—प्राणादि-विद्या में प्राणादि के अनेक रूपों में उपासना बताई गई है, किन्तु ब्रह्म के विषय में ऐसा नहीं, वह सदा एकरस कूटस्थ है, अतः प्राणादि-विद्या पुरुष-तन्त्र होने से प्रमाण नहीं, अपितु मानसक्रियामात्र है, किन्तु ब्रह्मविद्या वस्तुतन्त्र होने से प्रमाण है, इससे अज्ञान की निवृत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता ।। ७ ।।

ब्रह्म-ज्ञान को सापेक्ष भी नहीं कह सकते—

निरभिसन्धिसमर्पितमच्युते
विहितमिष्टफलादपि निर्गतम् ।
यदपि कर्म तदप्यवधीरितं
यदि धिया न तया परमर्थ्यते ॥ ८ ॥

योजना—यदपि विहितं कर्म अच्युते निरभिसन्धिसमर्पितम्, इष्टफलाद् अपि निर्गतम् तदपि धिया यदि अवधीरितम्, तया परं न अर्थ्यते ।। (द्रुतविलम्बितम्) ।।

योजितार्थ—जो विहित कर्म ईश-चरणों में फलेच्छा-रहित (निष्काम) भाव से समर्पित होता है अर्थात् अपने नियत फल से निर्गत हो जाता है, वह भी जिस बुद्धि (ब्रह्मज्ञान) से अवधीरित (त्यक्त) है, उस बुद्धि को और किसकी अपेक्षा होगी ?

भावितार्थ—ब्रह्मज्ञान का यदि कोई सहकारी कारण माना जाय, तो वह क्या ईश्वरार्पित कर्म होगा ? या और कुछ ? ईश्वरार्पित कर्म की ज्ञान को अपनी उत्पत्ति के समय कथंचित् अपेक्षा हो सकती है, किन्तु फल देते समय उसकी अपेक्षा नहीं; क्योंकि

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" (गी० ४।३३) आदि शास्त्र उस कर्म की अनपेक्षता उद्घोषित करते हैं। दूसरा विकल्प भी उचित नहीं, क्योंकि ज्ञान को और किसी की अपेक्षा किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होती ॥ ८ ॥

समुच्चयवादनिरासः

ज्ञान का कर्म के साथ समसमुच्चय या विषमसमुच्चय कुछ भी नहीं बनता—

समविषमसमुच्चयो न युक्तो
न हि जगदस्ति धियः प्रसूतिकाले ।
क्व नु बत विहितक्रियासमूहः
कथमिव तत्र समुच्चयोपपत्तिः ॥ ९ ॥

योजना—समविषमसमुच्चयो न युक्तः, धियः प्रसूतिकाले हि जगत् नास्ति, विहितक्रियासमूहः बत क्व नु ? तत्र समुच्चयोपपत्तिः कथमिव ? (पुष्पिताग्रा) ॥

योजितार्थ—सम और विषम समुच्चय (कुछ भी) नहीं बनता, क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति के समय जगत् है ही नहीं, विहित क्रिया-वर्ग तो कहाँ ? ऐसी परिस्थिति में समुच्चय की उपपत्ति हो ही कैसे सकती है ?

भावितार्थ—मोक्ष की प्राप्ति में ज्ञान और कर्म दोनों का समान प्राधान्य मानना समसमुच्चयवाद है, ज्ञान को प्रधान और कर्म को अप्रधान अथवा कर्म को प्रधान और ज्ञान को अप्रधान मानना विषमसमुच्चयवाद कहलाता है। ज्ञान तथा कर्म का किसी प्रकार का भी समुच्चय नहीं बनता; क्योंकि ज्ञान के जन्म लेते ही समस्त जगत् ही समाप्त हो जाता है, उस समय कर्म की सत्ता ही नहीं रह जाती कि किसी प्रकार उसका समुच्चय ज्ञान के साथ बन सके ॥ ९ ॥

अज्ञानी में ज्ञान और ज्ञानी में कर्म नहीं, अतः भी ज्ञान-कर्म का समुच्चय नहीं—

अपि च परमहंसस्त्यक्तसर्वैषणः सन्
अनुभवफलविद्यां साधनैर्यद्यवाप ।
कथमिव पुनरत्र प्राप्तिरस्ति क्रियाया
भवतु तदपवर्गो विद्ययैवैकयाऽस्य ॥ १० ॥

योजना—अपि च परमहंसः त्यक्तसर्वैषणः सन् यदि साधनैः अनुभवफलविद्याम् अवाप; अत्र पुनः क्रियायाः कथमिव प्राप्तिः अस्ति, तत् अपवर्गः एकया विद्यया एव भवतु ॥ (मालिनी) ॥

योजितार्थ—परिव्राट् ने समस्त एषणाओं का त्याग कर यदि निवृत्ति-साधनों से ब्रह्मात्म-साक्षात्कारफलक विद्या प्राप्त की, तो इस (परिव्राजक) में कर्म की प्राप्ति ही कैसे होगी, अतः अपवर्ग एकमात्र ज्ञान से ही होगा ॥

भावितार्थ—जैसे एक ही स्थान पर एक समय अन्धकार और प्रकाश-जैसे दो विरोधी तत्त्वों का समुच्चय नहीं होता, वैसे ही एक ही व्यक्ति में एक समय ज्ञान और कर्म का समुच्चय सम्भावित नहीं, क्योंकि ज्ञान के होने पर कर्तृत्वादि का अभिमान

समाप्त हो जाता है, उसके बिना कर्म का रहना सम्भव नहीं, जो व्यक्ति पुत्र, वित्त और लोक की एषणाओं (कामनाओं) से बहुत ऊपर ज्ञान की कक्षा में पहुँच चुका है, उसमें भला वे क्षुद्र कामनाएँ रह ही कैसे सकती हैं ? उनके न होने से कर्म का अधिकार ही समाप्त हो जाता है ।। १० ।।

ज्ञान को कर्म का अङ्ग मानने में कोई प्रमाण नहीं—

यस्य प्रयोगविधिरस्ति परिग्रहीता
द्वारैदमर्थ्यविनिवेदकमस्य सर्वम् ।
श्रुत्यादिमानमिह नास्ति तदात्मबुद्धौ
तस्मादियं भवतु नः पुरुषार्थभूता ।। ११ ।।

योजना—यस्य प्रयोगविधिः परिग्रहीता अस्ति, अस्य सर्वस्य श्रुत्यादिमानं द्वारैदमर्थ्यविनिवेदकम्, इह आत्मबुद्धौ तत् नास्ति, तस्माद् इयं नः पुरुषार्थभूता भवतु ।। (वसन्ततिलका) ।।

योजितार्थ—जिस (पदार्थ) की प्रयोग-विधि ग्राहक होता है, उस पदार्थ का श्रुति आदि प्रमाण अङ्गत्व-बोध कराते हैं, इस आत्मज्ञान (की अङ्गता) में कोई प्रमाण नहीं, अतः यह (आत्मबुद्धि) हमारे मत में पुरुषार्थभूत सिद्ध हो जाती है ।।

भावितार्थ—श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या—इन छह प्रमाणों से विनियुक्त पदार्थ ही कर्म का अङ्ग माना जाता है, आत्मज्ञान के अङ्ग होने में कोई भी प्रमाण नहीं, अतः आत्मज्ञान स्वतन्त्र पुरुषार्थभुत है, कर्म का अङ्ग नहीं, कर्म के साथ इसका समुच्चय कैसे होगा ? ।। ११ ।।

अविद्यानिवृत्तिस्वरूपवर्णनम्

अविद्या-निवृत्ति का स्वरूप दिखाते हैं—

सदसत्सदसद्विकल्पित-
प्रतिपक्षैकवपुर्निवर्त्तनम् ।
तमसोऽभ्युपगम्यतेऽन्यथा-
नुपपत्त्यापतनैकहेतुतः ।। १२ ।।

योजना—तमसो निवर्तनं सदसत् सदसद्विकल्पितप्रतिपक्षैकवपुः अन्यथानुपपत्यापतनैकहेतुतः अभ्युपगम्यते ।। (सुन्दरी) ।।

योजितार्थ—अज्ञान की निवृत्ति सत्, असत्, उभय और अनुभय—इन विकल्पों से भिन्न (पञ्चम प्रकार) अन्यथानुपपत्ति के आधार पर मानी जाती है ।।

भावितार्थ—अविद्या-निवृत्ति को न सत् माना जा सकता है, न असत्, न सदसत् उभयरूप और न सदसत् उभय-विलक्षण, अपितु इन चारों प्रकारों से भिन्न पञ्चम प्रकार ही संगत है, क्योंकि सत् मानने पर द्वैतापत्ति होती है, असत् मानने पर ज्ञान ही व्यर्थ हो जाता है, सदसत् उभय पक्ष तो परस्पर विरुद्ध होने से सम्भव ही नहीं, उभय-विलक्षण मानने पर अज्ञान को सत्य मानना पड़ेगा ।। १२ ।।

पञ्चम प्रकार मानने में कोई आपत्ति नहीं—

सदसत्सदसद्विकल्पित-
प्रतिबद्धा न भवन्ति वर्णिते ।
परमात्मतमोनिवर्तनेऽ-
नुपपत्तिप्रतिभासवृत्तयः ॥ १३ ॥

योजना—वर्णिते परमात्मतमोनिवर्तने सदसत्सदसद्विकल्पितप्रतिबद्धाः अनुपपत्तिप्रतिभासवृत्तयः न भवन्ति ॥ (सुन्दरीच्छन्दः) ॥

योजितार्थ—कथित अज्ञान-निवृत्ति के (पञ्चम प्रकार) पक्ष में सत् आदि चार पक्षों से सम्बन्ध रखनेवाले अनुपपत्तिरूप दोष नहीं होते ॥

भावितार्थ-कथित चार पक्षों के दोषों से बचने के लिए ही उनका निषेधमात्र कर दिया जाता है, पञ्चम प्रकार का और कोई वैध स्वरूप स्थिर नहीं किया जाता ॥१३॥

पञ्चम प्रकार मानने में वृद्ध-सम्मति भी दिखाते हैं—

चितिभेदमभेदमेव वा
द्वयरूपत्वमथो मृषात्मताम् ।
परिहृत्य तमोनिवर्तनं
प्रथयन्ते खलु मुक्तिकोविदाः ॥ १४ ॥

योजना—मुक्तिकोविदाः चितिभेदम्, अभेदमेव वा द्वयरूपत्वम, अथो मृषात्मतां परिहृत्य तमोनिवर्तनं प्रथयन्ते ॥ (सुन्दरी) ॥

योजितार्थ—मुक्ति-विचार के पण्डितगण चैतन्य-भेद, चैतन्याभेद, भेदाभेद, और मिथ्यारूपता का परिहार करके अज्ञान-निवृत्ति को (पञ्चम प्रकार) कहा करते हैं ॥

भावितार्थ—अज्ञान-निवृत्ति चैतन्य से न भिन्न है न अभिन्न, न भिन्नाभिन्न और न उभय-विलक्षण—इस रीति से पञ्चम प्रकार ही पूर्वाचार्य मानते आये हैं ॥ १४ ॥

निवृत्ति के दो अर्थ वेदान्त-सिद्धान्त में प्रचलित हैं—(१) नाश और (२) बाध। प्रथम अर्थ को दृष्टि में रखकर अविद्या-निवृत्ति को पञ्चम प्रकार बताया। दूसरे अर्थ को सामने रखकर सिद्धान्त स्थिर किया जाता है—

अथवा चितिरेव केवला
वचनोत्पादितबुद्धिवर्त्मना ।
परमात्मतमोनिवृत्तिगी-
र्विषयत्वं समुपैत्युपाधिना ॥ १५ ॥

योजना—अथवा केवला चितिरेव वचनोत्पादितवर्त्मना उपाधिना परमात्मतमोनिवृत्तिगीर्विषयत्वं समुपैति ॥ (सुन्दरी) ॥

योजितार्थ—अथवा केवल (निर्विशेष) चेतन ही वाक्योत्थ बुद्धिवृत्तिरूप उपाधि के द्वारा "तमोनिवृत्तिः" इस शब्द की विषयता को प्राप्त करती है ॥

भावितार्थ—सर्व बाधावधिभूत ब्रह्म ही अज्ञान का बाधस्वरूप है। प्रत्येक वस्तु के अज्ञान का बाध अधिष्ठानज्ञान से होता है, अतः प्रपञ्च-सहित अज्ञान का बाध ब्रह्मज्ञान होने के कारण, ब्रह्मज्ञान या ब्रह्म को ही अविद्या की निवृत्ति कहा जाता है ॥ १५ ॥

लौकिक दृष्टान्त से उक्त सिद्धान्त स्थिर करते हैं—

शुक्तिकाविषयबुद्धिजन्मना
प्रत्यगात्मचितिरेव केवला ।
शुक्तिकागततमोनिवृत्तिरि-
त्युच्यते दृतिहरिः पशुर्यथा ॥ १६ ॥

योजना—शुक्तिकाविषयबुद्धिजन्मना केवला प्रत्यगात्मचितिः एव शुक्तिकागतमोनिवृत्तिः—इत्युच्यते, यथा दृतिहरिः पशुः ॥ (सुन्दरी) ॥

योजितार्थ—शुक्तिविषयक बुद्धिवृत्तिरूप उपाधि के द्वारा शुद्ध चेतन ही शुक्ति-विषयक अज्ञान की निवृत्ति कहा जाता है, जैसे कि 'दृतिहरि' शब्द (पशुत्वरूप उपाधि के द्वारा पशु को ही कहता है) ॥

भावितार्थ—शुक्ति आदि जड़ पदार्थ रजत आदि के अधिष्ठान नहीं बन सकते, अतः शुक्ति-उपहित चेतन को ही उसका अधिष्ठान मानना होगा, वही शुक्तिविषयक प्रमावृत्तिरूप उपाधि के द्वारा शुक्तिविषयक अज्ञान की निवृत्तिरूप है ॥ १६ ॥

कथित 'दृतिहरि' दृष्टान्त को स्पष्ट करते हैं—

वाचको हरणकर्त्तुरिष्यते
शब्द एष हि दृतेर्मनीषिभिः ।
केवलं तु पशुता निमित्ततां
बाह्यतः स्थितवती व्रजेदियम् ॥ १७ ॥

योजना—मनीषिभिः एष (दृतिहरिः) शब्दः दृतेः हरणकर्त्तुः वाचकः इष्यते, इयं पशुता तु बाह्यतः स्थितवती केवलं निमित्तितां व्रजेत् ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—मनीषिगण इस "दृतिहरि" शब्द को दृति (चमड़े की थैली) के ढोने-वाले का वाचक मानते हैं, यह 'पशुता' तो (वाच्यकोटि के) बाहर ही स्थित रह कर केवल निमित्त ही होती है ॥

भावितार्थ—दृति (चमड़े के थैले) को जो भी मनुष्य या अश्व या और कोई वहन करता है, वही यौगिक वृत्ति से 'दृतिहरि' शब्द का वाच्य होता है, किन्तु मनीषिगण इस 'दृतिहरि' शब्द का प्रयोग केवल अश्व आदि पशु अर्थ में ही किया करते हैं, अतः 'पशुत्व' यहाँ ऐसी उपाधि है, जो वाच्य-कोटि में किसी प्रकार भी प्रविष्ट नहीं, इसी प्रकार प्रकृत में भी ॥ १७ ॥

दृष्टान्त में वही घटाते हैं—

एवमेव तु तमोनिवृत्तिगीः
शुक्तिकाविषयबुद्धिजन्मना ।
बाह्यतः स्थितवतैव हेतुना
प्रत्यगात्मचिति वर्त्ततेऽञ्जसा ॥ १८ ॥

योजना—एवमेव तमोनिवृत्तिगीः शुक्तिकाविषयबुद्धिजन्मना बाह्यतः स्थितवता हेतुना एव प्रत्यगात्मचिति अञ्जसा वर्तते ॥ (रथोद्धता) ॥

योजितार्थ—इसी प्रकार शुक्ति में 'अज्ञान-निवृत्ति' शब्द शुक्तिविषयक बुद्धि-वृत्तिरूप बहिष्ठ निमित्त के द्वारा चैतन्य में मुख्यवृत्ति से ही प्रवृत्त होता है ॥ १८ ॥

प्रकृत में वही सिद्ध करते हैं—

उत्पन्नशुक्तिमतिरात्मचितिर्यथैव
शुक्तेस्तमोहतिरिति प्रतिपन्नमेवम् ।
आत्माऽपि जातनिजबुद्धिरबोधहानि-
रित्युच्यतेऽमलचिदेकरसो न पूर्वम् ॥ १९ ॥

योजना—यथा उत्पन्नशुक्तिमतिः चितिः शुक्तेः तमोऽपहृतिः—इति प्रतिपन्नम्, एवम् अमलचिदेकरसः आत्मा अपि जातनिजबुद्धिः अबोधहानिः—इत्युच्यते, पूर्वो न ॥ (वसन्ततिलका) ॥

योजितार्थ—जैसे उत्पन्न शुक्तिविषयक बुद्धिवृत्तिरूप उपाधिवाला चेतन शुक्ति के अज्ञान की निवृत्ति कहा जाता है, वैसे ही निर्मल, चिदेकरस आत्मा ही स्वविषयक बुद्धिवृत्तिरूप उपाधि के द्वारा अज्ञान-निवृत्त कहा जाता है, बुद्धि-जन्म के पूर्व का आत्मा नहीं ॥

भावितार्थ—महावाक्य-जन्य बुद्धि-वृत्ति के होने से पूर्व चेतन को अज्ञान-निवृत्तिरूप नहीं माना जा सकता अपितु पश्चात्, इसीलिए उक्त वृत्ति को उपाधि माना जाता है, वह तटस्थ रहकर उक्त चेतन की परिचायक मानी जाती है ॥ १९ ॥

'दृतिहरि' शब्द के प्रयोग की कथित पशुत्व उपाधि में युक्ति देते हैं—

दृतिहरणकर्तृत्वं पुंसि चान्यत्र चेदं
दृतिहरिरिति लोके नोच्यते वर्तमानम् ।
अनधिकविकलं सत्कथ्यते तत्पशुस्थं
दृतिहरिरिति शिष्टैर्बाह्यहेतोः पशुत्वात् ॥ २० ॥

योजना—पुंसि अन्यत्र च वर्तमानम् इदं दृतिहरणकर्तृत्वं 'दृतिहरिः'—इति लोके न उच्यते, पशुत्वात् बाह्यहेतोः पशुस्थं तत् अनधिकविकलं सत् 'दृतिहरिः'—इति शिष्टैः कथ्यते ॥ (मालिनी) ॥

योजितार्थ—पुरुष में (तथा रथ आदि में) वर्तमान यह दृति-हरण-कर्तृत्व 'दृतिहरि' शब्द से लोक में नहीं कहा जाता, किन्तु पशुत्वरूप बाह्य निमित्त के कारण पशुमात्र में वर्तमान वह (दृतिहरणकर्तृत्व) अन्यूनानतिरिक्त होकर 'दृतिहरि' शब्द से शिष्ट पुरुषों के द्वारा कहा जाता है ॥

भावितार्थ—शिष्ट पुरुषों के प्रामाणिक प्रयोगों के आधार पर शब्द का स्वभाव स्थिर किया जाता है । 'दृतिहरि' शब्द का प्रयोग शिष्टगण पशु में ही किया करते हैं, अतः पशुवृत्ति दृतिहरण-कर्तृत्व ही 'दृतिहरि' शब्द का वाच्य होता है, सामान्यतः दृतिहरण-कर्तृत्व नहीं, क्योंकि "हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ" (पा० सू० ३।२।२५) इस सूत्र में वैसा स्पष्ट कर दिया है ॥ २० ॥

प्रकृत में भी वही युक्ति है—

अयमपि परमात्मा प्रत्यगात्मस्वभावो
वचनजनितबुद्धेः प्राक्स्वरूपे स्थितोऽपि ।
न खलु विषयभावं ध्वान्तविच्छेदवाचो
व्रजति हि तदुपाधेर्बुद्धिवृत्तेरभावात् ॥ २१ ॥

योजना—वचनजनितर्बुद्धेः प्राक् स्वरूपे स्थितोऽपि अयं प्रत्यक्स्वभावः परमात्मा ध्वान्तविच्छेदवाचः विषयभावं न व्रजति, हि बुद्धिवृत्तेः तदुपाधेः अभावात् ॥ (मालिनी)॥

योजितार्थ—महावाक्य-जन्य बुद्धि-वृत्ति के पूर्व स्वरूपतः स्थित होने पर भी यह प्रत्यगात्मस्वरूप परमात्मा 'अज्ञान-निवृत्ति' शब्द का विषय नहीं होता, क्योंकि बुद्धि-वृत्तिरूप उपाधि का अभाव है ॥

भावितार्थ—उपाधि की उत्पत्ति से पूर्व उपधेय में कोई भी उपाधि-प्रयुक्त व्यवहार नहीं होता, अतः जब तक महावाक्य-जन्य बुद्धि-वृत्ति उत्पन्न नहीं होती, तब तक उस अधिष्ठान चेतन को 'अज्ञान-निवृत्ति' शब्द से नहीं कहा जा सकता, अपितु उस उपाधि के जन्म के पश्चात् ही ब्रह्म को अज्ञान-हानि माना जाता है ॥ २१ ॥

'अज्ञान' आदि शब्दों के साथ समस्यमान 'नाश, निवृत्ति' आदि शब्द अभाव के वाचक नहीं होते—

अज्ञानदाह इति नैकपदं समासात्
पूर्वोत्तरे खलु पदे पदतामुपेतः ।
ज्ञानोदयं तटगतं समुपाददानः
तस्मात्तमोहतिरवोऽत्र चिति प्रवृत्तः ॥ २२ ॥

योजना—'अज्ञानदाहः' इति एकपदं न, समासात् खलु पूर्वोत्तरे पदे पदताम् उपेतः, तस्मात् ज्ञानोदयम् तटगतं समुपाददानः अत्र तमोहतिरवः चिति प्रवृत्तः ॥ (वसन्तति०)॥

योजितार्थ–'अज्ञानदाह' यहाँ एक पद नहीं, अपितु समास होने से ही पूर्व (अज्ञान) तथा उत्तर (दाह) पद मिलकर पदभाव को प्राप्त हुए हैं, इसलिए ज्ञानोदयरूप तटस्थ उपाधि को लेकर यहाँ 'तमोहति' शब्द चेतन में प्रवृत्त हुआ है ॥

भावितार्थ—"अज्ञानस्य दाहः, अज्ञानदाहः, अज्ञानस्य दाहो यत्र स अज्ञानदाहः" आदि समास वृत्तियों के कारण शब्दों की अन्य अर्थ में भी प्रवृत्ति देखी जाती है, इसी प्रकार यद्यपि 'नाश' शब्द अभाव का ही वाचक होता है, तथापि 'अज्ञान' शब्द से समस्त हो जाने के कारण अभाव अर्थ को न कहकर यहाँ चैतन्यरूप भाव अर्थ को कहने लगा है ॥ २२ ॥

'दृतिहरि' शब्द का भी समास के कारण ही उक्त विशेष अर्थ माना जाता है—

अत्राप्यसौ दृतिहरिः पशुरित्यखण्डः
शब्दो न खल्वभिमतोऽवयवार्थयोगात् ।
धातुश्च वाचकतया हरतिः प्रसिद्धो
हीन्प्रत्ययश्च हरतेः परतः प्रसिद्धः ॥ २३ ॥

योजना—अत्रापि असौ दृतिहरिः पशुः—इति अखण्डशब्दो न खलु अभिमतः, अवयवार्थयोगात्, हरति धातुः हि (हरतेः) वाचकतया प्रसिद्धः हरतेः परतः इन् प्रत्ययश्च (कर्तृवाचकतया) प्रसिद्धः ।। (वसन्ततिलका) ।।

योजितार्थ—यहाँ भी 'दृतिहरि' शब्द अखण्ड (पद) नहीं माना जाता, क्योंकि अवयवों के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं, अर्थात् 'हृञ्' धातु हरण की वाचक प्रसिद्ध है और 'हृञ्' धातु के उत्तर 'इन्' प्रत्यय कर्तृवाचक प्रसिद्ध है ॥ २३ ॥

अज्ञाननिवृत्तिसमयनिर्णयः

ज्ञान की उत्पत्ति के समय ही अज्ञान की निवृत्ति होती है ? या उत्तर काल में ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

उद्यन्निरस्यति तमश्च तदुद्भवं च
वेदावसानवचनादथ वोधितः सन् ।
ऐकात्म्यवस्तुविषयोऽनुभवतोऽत एव
कंचित्सहायमनपेक्ष्य निवर्त्तकोऽसौ ॥ २४ ॥

योजना—ऐकात्म्यवस्तुविषयः अनुभवः वेदावसानवचनात् उद्यन् एव अथवा उदितः सन् तमः तदुद्भवं च निरस्यति, असौ किञ्चित् सहायम् अनपेक्ष्य निवर्तकः ।। (वसन्त०)।।

योजितार्थ—एकात्मतावस्तुविषयक अनुभव वेदान्त-वाक्य से उत्पन्न होते ही अथवा उत्पन्न होकर अज्ञान और अज्ञानोद्भूत प्रपञ्च का नाश करता है, यह (अनुभव) किसी सहायक की अपेक्षा न करके ही (अज्ञान का) निवर्तक होता है ।।

भावितार्थ—ज्ञान अपने उदय-काल में अथवा उत्तर क्षण में अज्ञान का नाशक होता है, सर्वथा ज्ञान के उत्तर क्षण में अज्ञान नहीं टिक सकता, क्योंकि ज्ञान अपने विरोधी अज्ञान को नष्ट करने में और किसी को अपेक्षा या प्रतीक्षा नहीं करता कि अज्ञान का नाश होने में विलम्ब हो ।। २४ ।।

यही बात दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—

दीपस्तमस्तिरयतीह भवत्कुतश्चिद्
भूत्वा क्षणव्यवधिमात्रमपेक्ष्य नात्र ।
कश्चिद्विवादपदवीमुपयाति वादी
तद्वत्प्रतीच्यवगतौ तमसोऽपहन्त्र्याम् ॥ २५ ॥

योजन—दीपः भवत् कुतश्चित् भूत्वा क्षणव्यवधिमात्रम् अपेक्ष्य तमः तिरयति–अत्र कश्चित् वादी विवादपदवीं न उपयाति, तद्वत् तमोऽपहन्त्र्यां प्रतीच्यवगतौ ।। (वसन्त०)।।

भावितार्थ—दीपक उत्पन्न होते ही या किसी प्रतिबन्ध के कारण उत्पन्न होकर एक क्षण के व्यवधान मात्र से अन्धकार को नष्ट करता है–इसमें कोई भी वादी विवाद नहीं करता, वैसे ही अज्ञान-नाशक प्रत्यगात्मावगति (के विषय में जोड़ लेना चाहिए) ।।२५।।

मुख्य सिद्धान्त दिखाते हैं—